ॐ

परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवद् अमितगति-आचार्य-कृत

अमितगति-श्रावकाचार

की पंडित भागचंद्र-कृत वचनिका का खड़ी बोली हिंदी में अनुवाद

भाषा वचनिका का हिंदी अनुवाद एवं पद्यानुवाद :

बालब्रह्मचारिणी कल्पना जैन

जयपुर

प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट

302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.

वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056

फोन : (022) 26130820

विक्रम संवत
2077

वीर संवत
2548

ई. सन
2021

—: प्रकाशन :—

भगवत कुन्दकुन्दाचार्यदेव की साधनास्थली पौन्नूर हिल
में स्थापित जिनमन्दिर के वार्षिकोत्सव के उपलक्ष्य में
दिनांक 26 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 2021

प्राप्ति स्थान :

— श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820
Email - vitragva@vsnl.com

— श्री आदिनाथ कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट
तीर्थधाम मङ्गलायतन, आगरा रोड़, अलीगढ़-202001 (उत्तरप्रदेश)

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

प्रकाशकीय

आचार्य अमितगति द्वारा रचित श्रावकाचार का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अमितगति श्रावकाचार' का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस ग्रन्थ की भाषा वचनिका करके सुलभ बनानेवाले पण्डित भागचन्दजी छाजेड़ हैं, जिन्होंने सत्तास्वरूप आदि ग्रन्थों की रचना की है। मूल ग्रन्थकार आचार्य अमितगति एवं भाषा टीकाकार का परिचय इसी ग्रन्थ में अन्यत्र प्रकाशित है।

इस ग्रन्थ की उपयोगिता को लक्ष्यगत करके पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियां ने इसके हिन्दी अनुवाद कार्य हेतु इस ग्रन्थ की दो प्रतियाँ बालब्रह्मचारिणी कल्पनाबेन को प्रदान कीं, जिसे उन्होंने मनोयोगपूर्वक हिन्दी अनुवाद, पद्यानुवाद एवं सम्पादन कार्य पूर्ण कर हमें उपलब्ध करायी है। साथ ही आचार्य अमितगति एवं भाषा वचनिकाकार पण्डित भागचन्दजी का शोध खोज पूर्ण व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व भी आलेख के रूप में उपलब्ध कराया। तदर्थ हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

जिनागम चार अनुयोग में विभक्त है – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इस ग्रन्थ का समावेश चरणानुयोग में होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन श्रावक के अन्तर-बाह्य आचार-विचार को विशदरूप से प्रतिपादित किया गया है। जिसका परिज्ञान प्रत्येक आत्मसाधक के लिए उपयोगी है।

सभी जीव इस ग्रन्थ का अध्ययन कर अपने जीवन में सम्यग्दर्शनपूर्वक श्रावकाचार की दिशा में आगे बढ़े इसी भावना के साथ विराम लेते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ vitragvani.com के अन्तर्गत शास्त्र भण्डार-आचार्यदेव द्वारा रचित शास्त्र के अन्तर्गत उपलब्ध है एवं vitragvani app पर भी यह ग्रन्थ उपलब्ध है।

ट्रस्टीगण,
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विलेपार्ला, मुम्बई

मनोगत

सन् २०१३ में अध्यापन-कार्य हेतु तीर्थधाम मंगलायतन प्रवास-काल के मई माह में अध्यात्म-रसिक भाईश्री देवेंद्रकुमारजी बिजौलियाँ ने वचनिका-सहित उपासकाचार/अमितगति-श्रावकाचार को खड़ी बोली हिंदी में परिवर्तित करने का कार्य मुझे दिया था; परिणाम-स्वरूप आज यह आपके समक्ष प्रस्तुत है।

इसमें उत्थानिका, संस्कृत पद्य के छंद में ही हिंदी पद्यानुवाद, शब्दश: अर्थ, अन्वय, वचनिका का अनुवाद प्रस्तुत हुआ है। प्रारंभ में विस्तृत विषयानुक्रमणिका मूल-ग्रंथकार-ग्रंथ-परिचय, वचनिकाकार-परिचय और अंत में मूल-पद्यों की वर्णानुक्रमणिका भी इसमें संलग्न है।

इस अनुवाद हेतु आदरणीय भाईश्री से मुनिश्री अनंतकीर्ति दि० जैन ग्रंथमाला से श्रावण, वि. सं. १९७९ में प्रकाशित अमितगति श्रावकाचार ग्रंथ प्राप्त हुआ था। कार्य उसी को आधार बनाकर प्रारंभ हुआ था; परंतु कार्य करते समय अन्यत्र भी देखने की आवश्यकता प्रतीत होने से प्रयास करने पर अनेकांत ज्ञान मंदिर, बीना (म.प्र.) से चैत्र सुदी १, मंगलवार, सं. १९६८ में लिखी गई एक हस्त-लिखित प्रतिलिपि और सन् १९७६ में आचार्य शांतिसागर दि० जैन जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था फलटण (महाराष्ट्र) से प्रकाशित श्रावकाचार संग्रह भाग १ में संकलित अमितगति श्रावकाचार प्राप्त हो गया; जिससे कार्य सरलता से संपन्न हो गया।

इसमें १५वें परिच्छेद में पदस्थ ध्यान के अंतर्गत आए मंत्रों का ज्ञान मुझे नहीं होने से श्रावकाचार संग्रह भाग १ में संकलित पंडित हीरालाल सिद्धांतालंकार द्वारा अनुवादित-संपादित अमितगति श्रावकाचार से साभार लेकर उन्हीं की भाषा में यहाँ रख दिया है।

को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे के अनुसार इसमें भी स्खलन की संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है; अत: जिनवाणी-संरक्षक-भावना से ओत-प्रोत विज्ञ-जनों, साधु-वृंदों से परोक्षरूप में ही विनम्र निवेदन है कि उस पर मेरा ध्यान आकर्षित करने की महती कृपा करें; जिससे आगामी संस्करण में उसका उपयोग किया जा सके।

सभी इस ग्रंथ का अध्ययनकर आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ पूर्वक आत्माश्रय से सम्यक् रत्नत्रय-संपन्न जीवन बनाकर परम सुखी हों—इसी पावन भावना के साथ प्रस्तुत ग्रंथ आपके कर-कमलों में सादर समर्पित है।

भगवान शीतलनाथ ज्ञान कल्याणक — कल्पना जैन

३१ दिसम्बर, २०१३

आचार्य अमितगति व्यक्तित्व-कर्तृत्व

उज्जयिनी नगरी के राजा वाक्पतिराज मुंज की राज-सभा में प्रतिष्ठा-प्राप्त आचार्य अमितगति प्रथित-यश सारस्वताचार्यों में से एक हैं। आप विक्रम-संवत् ग्यारहवीं शती के बहु-श्रुत विद्वान और विविध विषयों के ग्रंथकार आचार्य हैं। आपने अपनी धर्म-परीक्षा, श्रावकाचार आदि कृतिओं की प्रशस्ति में अपनी गुरु-परंपरा और अमरकीर्ति ने अपनी कृति 'छक्कम्मोवएस' में आपकी शिष्य-परंपरा को इसप्रकार स्पष्ट किया है—

गुरुणांगुरु वीरसेन के शिष्य देवसेन, इन देवसेन के शिष्य योगसार प्राभृतकार अमितगति-प्रथम, इनके शिष्य नेमिषेण, नेमिषेण के शिष्य माधवसेन और माधवसेन के शिष्य प्रस्तुत अमितगति-द्वितीय; इनके शिष्य शांतिषेण, शांतिषेण के शिष्य अमरसेन, अमरसेन के शिष्य श्रीसेन, श्रीसेन के शिष्य चंद्रकीर्ति और उनके शिष्य छक्कम्मोवएस के कर्ता अमरकीर्ति हैं।

आप माथुर संघ के प्रसिद्धतम आचार्य हैं। आपने अपने मनुष्य-जीवन और उपयोग आदि प्राप्त संसाधनों को आत्म-प्रभावना, धर्म-प्रभावना, साहित्य-साधना आदि में लगाकर सार्थक किया है। अध्ययन-शील, बहु-मुखी प्रतिभा-संपन्न आपका शब्द-कोश अथाह है। रस, छंद, अलंकार, संस्कृत-भाषा आपकी सहचरी-वत् प्रवृत्ति करती है।

आपने अपनी सभी कृतिओं के प्रत्येक अध्याय, परिच्छेद आदि के अंत में किसी न किसी रूप में अपने नाम का उल्लेख किया है। इस आधार पर आपकी अनेकानेक कृतिआँ मानी जाती हैं। जिनमें से कुछ कृतिआँ इसप्रकार हैं—

१. सुभाषित रत्न-संदोह : विक्रम संवत् १०५० की पौष शुक्ल पंचमी को मुंज राजा के राज्य-काल में रचा गया यह ग्रंथ, सुभाषितरूपी रत्नों का रत्नाकर है। ३२ प्रकरण और ९२२ पद्यों में निबद्ध, आध्यात्मिक, आचारात्मक, नैतिक आदि तथ्यों की अभिव्यंजना सुभाषित-शैली में करनेवाला यह ग्रंथ सुभाषित नीति-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

२. धर्म-परीक्षा : व्यंग्य प्रधान-शैली में रचे गए संस्कृत-साहित्य में यह अपने ढंग की अद्भुत रचना है। इसमें पौराणिक ऊटपटांग कथाओं और मान्यताओं को बड़े ही मनोरंजकरूप में अविश्वसनीय सिद्ध किया गया है। १९४५ पद्यों में निबद्ध इस ग्रंथ में आक्रमणात्मक-शैली न अपनाते हुए सुझावात्मक शैली द्वारा व्यंग्य और संकेतों के आधार पर सृष्टि-उत्पत्तिवाद, सृष्टि-प्रलयवाद आदि असंभव और मनगढंत बातों की कथाओं द्वारा समीक्षा की गई है।

३. उपासकाचार : १५ परिच्छेद और १४५७ पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ अमितगति श्रावकाचार नाम से भी प्रसिद्ध है। विशद, सुगम और विस्तृत इस श्रावकाचार में मिथ्यात्व-सम्यक्त्व का अंतर, सप्त तत्त्व, तीन शल्य, ध्यान आदि का विस्तृत वर्णन है। आगे इस पर स्वतंत्र चर्चा की जा रही है।

४. पंच-संग्रह : १३७५ पद्यों में निबद्ध यह ग्रंथ, प्राकृत पंच-संग्रह के समान करणानुयोग के विषयों को अत्यंत सरल और मधुर शैली में स्पष्ट करता है। इसमें जीव-समास, प्रकृति-स्तव, कर्म-बंध, शतक और सप्तति—इन पाँच प्रकरणों द्वारा कर्म-सिद्धांत को अवगत कराया गया है।

५. आराधना : आचार्य शिवार्य-कृत भगवती आराधना का यह संस्कृत रूपांतर है। इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपरूप चारों आराधनाओं के विवेचन के साथ ही प्रसंग-वश जैन-धर्म के अन्यान्य प्रमेय भी समाविष्ट हैं।

६. भावना द्वात्रिंशतिका : ३३ पद्यों का यह छोटा-सा प्रकरण सांसारिक भावों से भिन्न अपने आत्मा की शुद्धता को पर्याय में व्यक्त करने का मार्ग प्रशस्त करनेवाला, अत्यंत सरस और हृदय को पावन करनेवाला ग्रंथ है।

इनके अतिरिक्त लघु और वृहत् सामायिक पाठ, जम्बु-द्वीप-प्रज्ञप्ति, सार्ध-द्वय-द्वीप-प्रज्ञप्ति, चंद्र-प्रज्ञप्ति, व्याख्या-प्रज्ञप्ति ग्रंथ भी आपकी रचनाएं माने जाते हैं।

इसप्रकार आपने अपनी लेखनी द्वारा जिनवाणी माँ के अक्षय-कोश को समृद्ध करने में अनुकरणीय, अनुमोदनीय सहयोग प्रदान किया है।

प्रस्तुत ग्रंथ उपासकाचार/अमितगति-श्रावकाचार

श्रावकाचार प्रतिपादक अनेकानेक ग्रंथों में से प्रस्तुत ग्रंथ विविध दृष्टिओं से श्रावकों को सत्पथ-दर्शन में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। माथुर संघीय प्रसिद्धतम आचार्य अमितगति (द्वितीय) द्वारा रचित यह ग्रंथ विषय-वस्तु की अपेक्षा १५ परिच्छेदों में विभक्त है। जिनका क्रमश: संक्षिप्त-सार इसप्रकार है —

१. प्रथम परिच्छेद : ७२ पद्यवाले इसमें सर्व-प्रथम ८ पद्यों द्वारा क्रमश: पंच-परमेष्ठी, सम्यक्-रत्नत्रय, जिनवाणी और अपने गुरु पर्यंत गुरु-जनों का गुण-स्मरणकर अपनी धर्म-निष्ठा को सुदृढ करने की भावना भाई गई है। इसके बाद ९वें पद्य में ग्रंथ करने की प्रतिज्ञा करते हुए १०वें पद्य द्वारा नीति स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जैसे — यूका के भय से साड़ी का त्याग नहीं किया जाता है; उसीप्रकार निंदा आदि के भय से महान पुरुष अपने कार्य को छोड़ते नहीं हैं।

तत्पश्चात् सोदाहरण अनेक प्रकार से मनुष्य-भव की दुर्लभता बताते हुए १५वें पद्य में लिखा है कि जैसे शम-भाव के विना नीति, विनय के विना विद्या, निर्लोभता के विना कीर्ति और तप के विना पूजा प्राप्त नहीं होती है; उसीप्रकार मनुष्यता के विना हितरूप धर्म की सिद्धि नहीं होती है। इसके बाद २ पद्यों में अनेक उदाहरणों द्वारा धर्म से ही मनुष्य-भव की शोभा को स्पष्ट किया है। तदुपरांत अनेकानेक उदाहरणों द्वारा अस्ति-नास्ति पद्धति से यह सिद्ध किया है कि कभी भी धर्म-सेवन के विना सुख-प्राप्ति संभव नहीं है।

तदनंतर धर्मात्मा जीव को सहज ही सभी संपत्तिआँ उपलब्ध हो जाती हैं — यह सिद्धकर पंचेंद्रिय विषय-भोगों में मनुष्य-भव को व्यतीत करनेवाले व्यक्तिओं की अज्ञानता को विविध उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। तत्पश्चात् २८वें पद्य से परीक्षा पूर्वक ही धर्म को स्वीकार करने की प्रेरणा देते हुए हिंसादि में धर्म की असंभवता को स्पष्ट किया है। वीतरागता, सर्वज्ञता से देव का परीक्षणकर; तप, संयम, शील और ज्ञान द्वारा गुरु का परीक्षणकर; गुरु के असीम उपकारों को स्पष्टकर सोदाहरण, सहेतुक उनकी महत्ता को स्पष्ट किया गया है।

५७वें पद्य से लक्ष्मी, जीवन, जवानी आदि सभी संयोगों की क्षणिकता, असारता स्पष्टकर धर्म

को स्वीकार करने की प्रेरणा देते हैं। धर्म से इस-लोक, पर-लोक के सभी सुखों की सहज-प्राप्ति होना बताकर लौकिक सभी अनुकूलताएं पुण्य के विना प्राप्त नहीं होती हैं; अत: प्राणी को धर्म में प्रवृत्त होना चाहिए—यह बताकर विवेक जागृतकर वंश परंपरागत अधर्म का त्यागकर सद्धर्म की स्वीकृति का लाभ बता धर्म-धारण करने की प्रेरणा देते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

२. द्वितीय परिच्छेद : ९० पद्यों में निबद्ध इसके प्रारंभ में मिथ्यात्व की भयंकरता बताते हुए, जिनदेव द्वारा प्ररूपित पदार्थों का श्रद्धान नहीं करना, मिथ्यात्व बताकर उसके ऐकांतिक, सांशयिक, वैनयिक, गृहीत, विपरीत, निसर्ग, मूढ—स्वरूप-सहित ये सात भेद बताए हैं।

इसके बाद पुन: मिथ्यात्व की भयंकरता स्पष्टकर सम्यक् पुरुषार्थ द्वारा कर्मों का अभाव होना सोदाहरण सिद्ध किया है। तत्पश्चात् षट्-अनायतन-सेवन की दु:खरूपता स्पष्टकर; सम्यक् रत्नत्रय को नहीं मानने की अपेक्षा सात प्रकार के मिथ्यादृष्टि प्ररूपित हैं। इसके बाद पुन: ३८ वें पद्य पर्यंत मिथ्यात्व की सर्वांगीण दु:ख-करता को हृदय-स्पर्शी शब्दों द्वारा स्पष्टकर उसे छोड़ने की प्रेरणा दी है।

३९वें पद्य से सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए सम्यक्त्व-प्राप्ति-योग्य-पात्रता, पाँच लब्धिआँ बताते हुए कर्म की अपेक्षा सम्यक्त्व के तीन भेद, स्वरूप और गुणस्थान वर्णित हैं।

तदनंतर सम्यक्त्व के साध्य और साधन की अपेक्षा भेदकर किस गति में कौन-कौन-से सम्यक्त्व होते हैं? सम्यग्दृष्टि जीव मरणकर कहाँ-कहाँ नहीं जाता है? इत्यादि विषयों का प्ररूपण है।

इसके बाद ६४वें पद्य से परिभाषा-सहित वीतराग-सराग सम्यक्त्व, निसर्गज-अधिगमज सम्यक्त्व का वर्णनकर सम्यक्त्व की सुख-करता और मिथ्यात्व की दु:ख-करता को तुलनात्मक विधि से स्पष्ट किया है।

तदुपरांत ७४वें पद्य से सम्यक्त्व के वर्धक संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, कारुण्य—इन आठ गुणों का परिभाषा-सहित वर्णन कर सम्यक्त्व को श्रेष्ठ सकल संपदाओं को वशीभूत करनेवाला बताया है।

८४वें पद्य से सम्यक्त्व की महिमा बताते हुए उसे धारण करने की प्रेरणा देते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

३. तृतीय परिच्छेद : ८६ पद्यवाले इसके प्रारंभ में सम्यक्त्व को तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप बताकर २८वें पद्य पर्यंत अनेकरूपों में जीव-तत्त्व का वर्णन किया है। इसके बाद ३७वें पद्य पर्यंत अजीव के भेद, स्वरूप, प्रदेश, पारस्परिक कार्य, पुद्गल के छह भेद बताकर अजीव-तत्त्व का प्ररूपण किया है।

३८वें पद्य से आस्रव-तत्त्व का वर्णन प्रारंभकर स्वरूप, कारण, आठ कर्मों के आस्रव के कारण तत्त्वार्थ-सूत्र के छठवें अध्याय का अनुकरण करते हुए प्रतिपादित हैं।

५४वें पद्य से बंध-तत्त्व का वर्णन करते हुए उसकी परिभाषा, कारण, भेद के हेतु आदि स्पष्ट किए हैं। ५९वें पद्य से संवर-तत्त्व का वर्णन प्रारंभकर स्वरूप, भेद, हेतु बताते हुए सम्यक्त्व से मिथ्यात्व का, व्रत से अव्रत का, कषाय-निग्रह से कषाय का और योग-निरोध से योग को दूर करने का प्रतिपादन है।

६३वें पद्य से निर्जरा-तत्त्व का वर्णन करते हुए स्वरूप, भेद बताते हुए उसका महत्त्व प्रतिपादित

है। ६८वें पद्य से मोक्ष-तत्त्व का प्ररूपण करते हुए स्वरूप, मुक्त-जीवों का निवास-स्थल, महत्त्व निरूपित है।

तदनंतर ७२वें पद्य द्वारा तत्त्व-श्रद्धान का फल बता एक-एक पद्य द्वारा निश्शंकित आदि आठ अंगों का निरूपण है। अंत में सम्यक्त्व की श्रेष्ठता, महत्ता बताते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

४. चतुर्थ परिच्छेद : १०० पद्यवाले इसमें सर्व-प्रथम नास्तिक-मति चार्वाक की मान्यता स्पष्टकर सहेतुक आत्मा आदि का अस्तित्व सिद्ध किया गया है। इसके बाद २४वें पद्य में ज्ञानाद्वैत-वादी की मान्यता का निषेधकर २५वें पद्य से ब्रह्माद्वैत-वादी की मान्यता बताते हुए उसका निषेध किया है। २९वें पद्य से इसीप्रकार अणुमात्र-वादी, मीमांसक, सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध आदि की मान्यताओं का निराकरण करते हुए आत्मा की अनादि-अनंत, अनंत धर्मात्मक, स्वतंत्र सत्ता को स्पष्ट किया है।

सर्वज्ञता का अभाव माननेवालों के लिए ४८वें पद्य से सहेतुक सर्वज्ञता की सिद्धिकर ५९वें पद्य से अपौरुषेय-वेद की प्रामाणिकता का निषेधकर वीतराग, सर्वज्ञ-प्रणीत आगम की प्रामाणिकता सिद्ध की है। इसके बाद ७५वें पद्य से पुरुषाद्वैत-वादी आदि का खंडन करते हुए ७७वें पद्य से सहेतुक ईश्वर-कर्तृत्व का निषेध प्ररूपित है।

तदनंतर बौद्ध की सर्वज्ञता का निराकरण करते हुए क्षणिकता के पोषक उनके आगम की अप्रामाणिकता सिद्ध की है। ९३वें पद्य से कपिल आदि अन्य मतिओं की सर्वज्ञता का निषेध करते हुए अंत में जिनेंद्र-देव को ही वीतरागी, सर्वज्ञ सिद्धकर उन्हें ही स्वीकार करनेरूप सम्यक्त्व को धारण करने की प्रेरणा देते हुए प्रकरण समाप्त हुआ है।

५. पंचम परिच्छेद : ७४ पद्यवाले इसके प्रारंभ में व्रत-ग्रहण के इच्छुक मद्य, मांस, रात्रि-भोजन और क्षीरी वृक्षों के फल-भक्षण का सर्वथा त्याग करते हैं—इसे सहेतुक पुष्टकर मद्य-पान के दोषों का सविस्तृत वर्णनकर उसके त्याग की प्रेरणा दी है।

तदुपरांत १३वें पद्य से मांस-भक्षण के दोषों का सविस्तृत वर्णनकर उसे छोड़ने की प्रेरणा दी है। तत्पश्चात् २७वें पद्य से मधु-सेवन के दोषों का सविस्तृत वर्णनकर उसके त्याग की प्रेरणा दी है। तदनंतर ३४वें पद्य से नवनीत (मक्खन)-भक्षण का निषेध करते हुए निष्कर्षरूप में इन चारों के सर्वथा त्याग की हृदय-स्पर्शी प्रेरणा दी है।

इसके बाद ४३वें पद्य से रात्रि-भोजन में विस्तार पूर्वक दोष बताते हुए उसकी हानिआँ और त्याग से होनेवाले लाभों का सहेतुक प्ररूपणकर ६८वें पद्य से पंच उदुंबर फलों के भक्षण का निषेध विस्तृत-शैली में किया है। अंत में इनके त्याग को भव्य-भवन-निर्माण हेतु सुदृढ पाषाणों से भरी गई अति दृढ नींव की उपमा देते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

६. षष्ठ परिच्छेद : १०० पद्यवाले इसके प्रारंभ में पूर्वोक्त मद्यादि का पूर्णतया त्यागी व्यक्ति संसाररूपी वृक्ष को शीघ्र नष्ट करने हेतु तीक्ष्ण शस्त्र-सम व्रत को धारण करें—इसप्रकार व्रत-ग्रहण की प्रेरणा देने के बाद व्रतों के बारह भेद बताकर विस्तार से अहिंसा-अणुव्रत का वर्णन करते हुए हिंसा के भेद-

प्रभेदों का भी विस्तृत वर्णन किया है। तत्पश्चात् अन्य-मतों में मान्य हिंसा को सर्वथा त्याज्य बताकर धर्म हेतु भी हिंसा का सर्वथा त्याग करने को प्रेरित किया है।

तत्पश्चात् ४५वें पद्य से सत्याणुव्रत को स्पष्ट करते हुए असत्य-भाषण के भेद-प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है। इसके बाद सोदाहरण, सहेतुक सत्य बोलने के लाभ और असत्य बोलने की हानिआँ प्ररूपित हैं। तदनंतर ५९वें पद्य से अचौर्याणुव्रत को स्पष्ट करते हुए चोर को बाघ, धीवर आदि से भी अधिक पापी घोषित किया है।

तदुपरांत ६४वें पद्य से ब्रम्हचर्याणुव्रत का वर्णन करते हुए काम-वासना की भयंकरता बताकर उससे हटने की प्रेरणा दी है। इसके बाद ७३वें पद्य से परिग्रह-परिमाण व्रत को स्पष्ट करते हुए परिग्रह के भेद-प्रभेद बताकर उसे समस्त आरंभों का मूल समझकर कम करने को प्रेरित किया है।

इसके बाद ७६वें पद्य से गुणव्रत का वर्णन करते हुए दिग्विरति, देशविरति के प्ररूपण के बाद अनर्थदंड के पाँच भेदों को स्पष्ट करते हुए अभक्ष्य पदार्थों को बता उनके त्याग की प्रेरणा दी है।

तदनंतर ८६वें पद्य से चार शिक्षाव्रतों का विवेचन प्रारंभ हुआ है। वहाँ दो पद्यों द्वारा सामायिक का वर्णनकर चार पद्यों द्वारा करणीय-अकरणीय कार्यों के साथ प्रोषधोपवास के स्वरूप-सहित उपवास, अनुपवास और एकाशन—ये तीन भेद वर्णित हैं। तदुपरांत भोगोपभोग-परिमाण और अतिथि-संविभाग व्रत का विवेचनकर संक्षेप में सल्लेखना का वर्णन करते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

७. सप्तम परिच्छेद : ७९ पद्योंवाले इसके प्रारंभ में तत्त्वार्थ-सूत्र का अनुसरण करते हुए क्रमश: बारह व्रत, सल्लेखना और सम्यक्त्व—इन चौदह में से प्रत्येक के पाँच-पाँच अतिचार वर्णित हैं।

इसके बाद १८वें पद्य से शल्य का विवेचन करते हुए निदान शल्य के प्रशस्त-अप्रशस्त भेदकर विस्तार पूर्वक उनका स्वरूप, हानि बताते हुए किसी भी प्रकार का निदान नहीं करने की प्रेरणा दी है। तदनंतर ४७वें पद्य से माया शल्य का स्वरूप बताते हुए धर्म-विध्वंसकता आदि रूप में उसकी भयंकरता बताते हुए त्याग करने को प्रेरित किया है। तदुपरांत मिथ्या शल्य का स्वरूप बता त्यागने की प्रेरणा दे कर्म की सत्ता को अस्वीकार करनेवाले को समझाने हेतु प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से सिद्धकर जीव के साथ बननेवाले निमित्त-नैमित्तिक संबंध को स्पष्टकर यथार्थ तत्त्व ज्ञान-नाशक मिथ्या शल्य का पूर्णतया त्याग करने की प्रेरणा दी है।

इसके बाद ६६वें पद्य से मोक्ष-महल पर आरोहण हेतु सोपान-मार्ग-सम ग्यारह प्रतिमाओं का अति संक्षिप्त वर्णन करते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

८. अष्टम परिच्छेद : १०९ पद्यवाले इसके प्रारंभ में छह आवश्यकों को कहने की प्रतिज्ञाकर विस्तार से कहने की असमर्थता व्यक्त करते हुए अपनी बुद्धि-अनुसार उन्हें कहने का भाव व्यक्त किया है। तत्पश्चात् आवश्यक करने की आवश्यकता, फल, महत्त्व आदि बताते हुए भली-भाँति करने के लिए स्वाध्याय करने को प्रेरित किया है।

तदनंतर १०वें से २६वें पर्यंत १७ पद्यों द्वारा विस्तार से आवश्यक करने के योग्य व्यक्ति का स्वरूप प्ररूपित है। तदुपरांत दो पद्यों द्वारा आवश्यक करनेवाले के चिन्ह बताकर २९वें से ३६वें पर्यंत ८ पद्यों द्वारा

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा छह-छह भेदवाले सामायिक, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग—इन छह आवश्यकों का स्वरूप वर्णित है।

इसके बाद ३७वें पद्य से छह आवश्यक करनेवालों को आसन, स्थान, काल, मुद्रा, कायोत्सर्ग, प्रणाम, आवर्त, प्रमाण—ये आठ जानने-योग्य हैं—ऐसा निर्देश दे आगे विस्तार से इनका वर्णन हुआ है।

उत्कृष्ट श्रावक को प्रतिदिन दो बार प्रतिक्रमण, चार बार स्वाध्याय, तीन बार वंदना और दो बार योगभक्ति करना चाहिए—७०वें पद्य द्वारा यह निर्देश दे आगे ७५वें पद्य पर्यंत इन उत्कृष्ट श्रावकों की प्रवृत्ति वर्णित है। इससे आगे निर्दोष वंदना हेतु उस वंदना के ३२ दोष, ८७वें पद्य पर्यंत वर्णित हैं।

तदुपरांत निर्दोष कायोत्सर्ग हेतु उस कायोत्सर्ग के ३२ दोष, ९८ पद्य पर्यंत प्ररूपित हैं। इसके बाद १०५वें पद्य पर्यंत आवश्यक करने की प्रायोगिक प्रक्रिया प्ररूपित है। इसके बाद क्षमा-याचना का महत्त्व बताते हुए निर्दोष विधि पूर्वक किए गए आवश्यक कर्म का फल मोक्ष बता परिच्छेद समाप्त हुआ है।

९. नवम परिच्छेद : १०९ पद्यवाले इसके प्रारंभ में भव-वन को भस्म करने में अग्नि-समान दान, पूजा, शील, उपवासरूप चार प्रकार के धर्म का निर्देश दे; दान देने और उसका फल पाने हेतु दाता, दान-योग्य वस्तु, पात्र, विधि, बुद्धि—इन पाँच की यथार्थ जानकारी आवश्यक बता विस्तार से दाता का स्वरूप प्रतिपादित है। तदुपरांत २१वें पद्य से दान-सहित और दान-रहित गृहस्थ की तुलना करते हुए २६वें पद्य में लिखा है कि योगी, ध्यान से; तपोधन, संयम से; राजा, सत्य वचन से और गृहस्थ, सुंदर दान से शोभा पाता है। तत्पश्चात् दान देने के भाव का माहात्म्य बताते हुए परिभाषा-सहित दाता के भेद प्ररूपित हैं।

४४वें पद्य से दान नहीं देने-योग्य वस्तुओं का विस्तार से निरूपणकर ८१वें पद्य से दान-देने-योग्य वस्तुओं में अभय, आहार, औषध, ज्ञान—इन चार प्रकार के दानों का निर्देश दे ८७वें पद्य पर्यंत अभय-दान की महत्ता प्ररूपित है। ८८वें पद्य से आहार-दान की महत्ता बताते हुए लिखा है कि आहार-दान देनेवाले ने शम, दम, दया, धर्म, संयम, विनय, नीति, तप, यश, वचन की दक्षता आदि सभी गुण दिए हैं। यहाँ क्षुधा की भयंकरता और आहार की उपयोगिता को हृदय-स्पर्शी शैली में प्रस्तुत किया है।

इसके बाद १००वें पद्य से औषधि-दान की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता प्ररूपितकर १०३वें पद्य से ज्ञान-दान की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता बताते हुए वात्सल्य, नीति, विनय-संपन्न सम्यग्दृष्टि के दान का क्रमशः मोक्ष पर्यंत फल बताते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

दशम परिच्छेद : ७४ पद्यवाले इसके प्रारंभ में सोदाहरण पात्र-भेद सिद्धकर स्वरूप और नाम-सहित तीन प्रकार के पात्र बताए हैं। इसके बाद पाँचवें पद्य से २६वें पद्य पर्यंत विस्तार पूर्वक उत्तम पात्र की विशेषताएं प्ररूपित हैं। तदनंतर २७वें से ३०वें पर्यंत मध्यम पात्र और ३१वें से ३३वें पर्यंत पद्यों द्वारा जघन्य पात्र का स्वरूप प्ररूपित है।

तदुपरांत दो पद्यों द्वारा कुपात्र और तीन पद्यों द्वारा अपात्र का स्वरूप बताकर मोक्ष हेतु पात्र के लिए दान-देने का निर्देश है। तत्पश्चात् ३९वें पद्य से उत्तम पात्र को आहार देने की प्रायोगिक प्रक्रिया

विस्तार से प्ररूपित है। ४५वें पद्य से विधि पूर्वक पात्र को दिए गए दान का फल; दान में विनय, मधुर वचन, विवेक की आवश्यकता, उपयोगिता बताते हुए पात्र-भेद से दान के फल में भेद प्ररूपित है। इसके बाद दान-देते समय दाता के श्रद्धा, भक्ति, निर्लोभता आदि गुणों से फल में अंतर का निरूपण करते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

११. एकादश परिच्छेद : १२६ पद्यवाले इसके प्रारंभ में वर्णनातीत अभय-दान का माहात्म्य सोदाहरण विविध रूपों में निरूपित है। तदुपरांत १४वें पद्य से इसीप्रकार आहार-दान का माहात्म्य वर्णित है। यहाँ प्राषुक आहार-दान देने का फल बताते हुए लिखा है कि समस्त पृथ्वी के दान का और प्राषुक भोजन के दान का जो फल है; इनमें मैं तृण की नोंक पर रखे जल-बिंदु और समुद्र-जल के समान महान अंतर मानता हूँ। ३१वें पद्य द्वारा तो ऐसा निरूपण है कि इस विषय में अधिक कहने से क्या लाभ है? आहार-दान के फल को सर्वज्ञ के विना अन्य कोई कहने में समर्थ नहीं हैं।

३२वें पद्य से इसीप्रकार सातिशयरूप में औषधि-दान का माहात्म्य वर्णित है। ४१वें पद्य में तो यहाँ तक घोषित है कि जिसने सज्जनों को औषधि-दान दिया; उसने उन्हें चारित्र, दर्शन, ज्ञान, स्वाध्याय, विनय, नीति आदि सभी कुछ दिया—ऐसा समझना चाहिए।

४२वें पद्य से इसीप्रकार सातिशयता से शास्त्र-दान का माहात्म्य प्ररूपित है। इसके दाता ने वास्तव में इससे चारों पुरुषार्थरूप चतुरंग फल दिया है; अत: उसे भी यह फल कैसे नहीं मिलेगा? इत्यादि रूप में उसका विशाल फल वर्णित है। इसके बाद क्रमश: ५१, ५२वें पद्य द्वारा वसतिका, वस्त्र-दान का फल वर्णित है। तदनंतर व्रती पुरुषों को रत्नत्रय-वर्धक दान देने, उनकी सेवा-शुश्रूषा करने आदि का फल विस्तार से वर्णित है।

तदुपरांत ६२वें पद्य से मिथ्यादृष्टि द्वारा उत्कृष्टादि पात्रों को दिए गए दान का फल उत्कृष्ट भोगभूमि आदि बताकर प्रसंग पा भोगभूमि की व्यवस्थाओं का वर्णन भी ज्ञान-वर्धक है। कुपात्रों को दिए गए दान का फल कुभोगभूमि आदि की प्राप्ति बताकर अपात्रों को दिए गए दान की निरर्थकता को अग्नि में बीज डालने, बालू को पेलने आदि उदाहरणों द्वारा स्पष्टकर उन अपात्रों को दान देने का निषेध किया है।

१००वें पद्य से सम्यग्दृष्टि द्वारा पात्र-दान के फल को बताते हुए प्रसंग पा स्वर्गों की व्यवस्थाओं का वर्णन भी ज्ञान-वर्धक है। वहाँ से आकर वे जीव मनुष्य-गति में भी चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त करते हैं। इसके बाद आत्माराधना पूर्णकर वे सिद्ध पद प्राप्त करते हैं—यह बताते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

१२. द्वादश परिच्छेद : १३९ पद्यवाले इसमें सर्व-प्रथम ११ पद्यों द्वारा त्रिलोक-पूज्य, द्रव्य-भाव पूजन द्वारा पूजनीय अरहंत भगवान का स्वरूप वर्णित है। पूजन का स्वरूप बताते हुए १२वें पद्य में लिखा है कि वचन और शरीर का संकोच करना अर्थात् अन्य क्रियाएं रोककर जिनेंद्र-देव के सम्मुख करना, द्रव्य-पूजा है और मन का संकोच करना अर्थात् मन को अन्य ओर से हटाकर जिन-भक्ति में लगाना, भाव-पूजा है। इसके बाद १३वें-१४वें पद्य द्वारा पुन: इन्हें परिभाषित करते हुए लिखा है—'अथवा गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षत आदि से विधि पूर्वक की जानेवाली पूजन, द्रव्य-पूजा और जिनेंद्र-देवों

के व्यापक विशुद्ध गुणों का परम अनुराग से बार-बार चिंतन करना, भाव-पूजा है।' जिनेंद्र भगवान इन दोनों से ही पूज्य हैं।

तदनंतर १६वें से २४वें पद्य द्वारा परम-पूज्य सिद्ध भगवान का स्वरूप प्ररूपित है। इसीप्रकार आगे २५वें पद्य से क्रमशः आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठी का स्वरूप प्रतिपादितकर ३४वें पद्य से इनकी पूजन का फल विस्तार से वर्णित है।

तदुपरांत ४१वें पद्य से शील का वर्णन प्रारंभ करते हुए शील की परिभाषा, पंच-परमेष्ठी की साक्षी पूर्वक गृहीत व्रत को दूषित करने का फल महा दुःख बता शील-पालन की आवश्यकता, उपयोगिता, महत्ता बताते हुए इसके संरक्षण हेतु सतत सावधान रहने की प्रेरणा दी गई है।

तदनंतर ५४वें पद्य से शील के नाशक द्यूत/जुआ खेलने के भयंकर महा दुःख-दाई महा दोषों को बताकर उसके त्याग की प्रेरणा दी है। इसीप्रकार ६३वें पद्य से ७६ पद्य पर्यंत वेश्या-व्यसन, ७७वें से ९१वें पद्य पर्यंत पर-स्त्री-सेवन और ९२वें से १००वें पद्य पर्यंत मृगया/शिकार व्यसन की भयंकर घोर दुःख-दायकता, विविध दोष-संपन्नता बताकर इनके त्याग की प्रेरणा देते हैं।

इसके बाद १०१वें पद्य से मौन के गुणों का वर्णन करते हुए सदा मौन-योग्य स्थल-कार्य, मौन में सावधानिआँ, भेद, पालन की विधि और उपलब्धिओं का प्ररूपण ११६वें पद्य पर्यंत है।

तदुपरांत ११७वें पद्य से उपवास का वर्णन करते हुए उसकी आवश्यकता, स्वरूप, भेद-प्रभेदों का स्वरूप, समग्र विधि और फल बताते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

१३. त्रयोदश परिच्छेद : १०१ पद्य वाले इसके प्रारंभ में श्रावक के सात गुणों का वर्णनकर अन्य विशेष गुण बताते हुए दर्शन आदि चार विनयों का स्वरूप वर्णित है। तदनंतर दर्शनादि चार आराधनाओं की उपयोगिता, माहात्म्य बताते हुए मानसिक विनय का स्वरूप और लाभ प्ररूपित हैं। इसके बाद २७वें से ३४वें पद्य पर्यंत वाचनिक विनय का प्ररूपणकर ३५वें पद्य से कायिक विनय का विवेचन करते हुए करने-योग्य और नहीं करने-योग्य चेष्टाओं का विशद प्ररूपण करते हुए हाथ से हाथ ताड़ना अर्थात् ताली बजाने का भी निषेध किया है। तत्पश्चात् इन तीनों को प्रत्यक्ष विनय कहकर परोक्ष विनय भी बताकर विस्तार से अविनय की हानिआँ और विनय की उपलब्धिआँ बताते हुए विनीत रहने को प्रेरित किया है।

तदुपरांत ६१वें पद्य से वैयावृत्त्य तप का वर्णन करते हुए उसके स्वरूप, करने-कराने वाले की पात्रता, साधन, आवश्यकता, उपयोगिता महत्ता का विस्तार से विवेचन है। इसके बाद ७५वें पद्य से प्रायश्चित्त तप का वर्णन करते हुए आवश्यकता, उपयोगिता, विधि और माहात्म्य वर्णित है।

इसके बाद ८१वें पद्य से स्वाध्याय तप का वर्णन है। यहाँ तत्त्वार्थसूत्र की अपेक्षा स्वाध्याय करने की पद्धति के क्रम में अंतर है। यहाँ वाचना, पृच्छना के बाद आम्नाय लिया है। इसके बाद अनुप्रेक्षा और धर्म-देशना को रखा है। 'इस चंचल स्वभाववाले मन को नियंत्रित करने के लिए स्वाध्याय को छोड़कर अन्य कोई तप समर्थ नहीं है' इत्यादि रूपों में इसका विशेष माहात्म्य बताते हुए अज्ञान की भयंकरता, दुःख-दायकता प्ररूपित है।

९१वें पद्य से मिथ्यादृष्टिओं के वचनों को प्रलय-काल की अग्नि या कालकूट विष-सम महा कष्ट-कारक समझ उनका त्यागकर जिनागम का अभ्यास करने को प्रेरित किया है। अंत में क्रोधादि विकारों को शमित करने की और मैत्री भाव आदि भावनाओं को भाने की प्रेरणा देते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

१४. चतुर्दश परिच्छेद : ८४ पद्य वाले इसमें वैराग्य-उत्पादक, पोषक, वर्धक शैली में क्रमश: अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म—इन बारह अनुप्रेक्षाओं का विवेचनकर इनके चिंतन का फल बताते हुए परिच्छेद समाप्त हुआ है।

१५. पंचदश परिच्छेद : ११४ पद्यवाले इसके प्रारंभ में ध्यान की आवश्यकता, उपयोगिता बताकर ५वें पद्य से ध्यान का स्वरूप, पात्र, साधक, साधन आदि का वर्णन है। ९वें पद्य से ध्यान के ४ भेद और उनमें फल के आधार पर हेय-उपादेय का निरूपणकर ११ से १५ पर्यंत ५ पद्यों द्वारा उसके प्रभेद और फल प्ररूपित हैं। इसके बाद १६वें पद्य से उनके स्वामी बताए गए हैं। तदुपरांत १९वें पद्य से ध्यान की अस्ति-नास्ति-शैली में फल को स्पष्ट किया गया है।

तदनंतर २४ से २९ पद्यों पर्यंत मोक्ष हेतु ध्यान करनेवाले ध्याता का स्वरूप बताकर ३०वें पद्य में ध्येय का स्वरूप बताते हुए उसके पदस्थादि ४ भेद बताए हैं। ३१वें से ४९वें पद्य पर्यंत पदस्थ का स्वरूप स्पष्टकर विविध मंत्र-पद, उनकी यंत्राकार रचना, जाप की विधि और फल प्ररूपित है।

तदुपरांत पिंडस्थ ध्यान का वर्णन करते हुए ५०वें से ५३वें पद्य पर्यंत अरहंत परमेष्ठी और पिंडस्थ का स्वरूप निरूपित है। तत्पश्चात् परमेष्ठी के स्वरूप को प्रतिमा में आरोपितकर ध्यान करने को रूपस्थ कहकर अरूपस्थ/रूपातीत ध्यान में अशरीरी सिद्ध भगवान का स्वरूप प्ररूपित है।

इसके बाद ५७वें पद्य से आत्मा के बहिरात्मा आदि तीन भेद बताकर अंतरात्मा को भी हेय बताकर परमात्मा का चिंतन करने की प्रेरणा दी है। तदनंतर ५९वें पद्य से विस्तार पूर्वक बहिरात्मा की मान्यता बताते हुए लिखा है कि प्राणी की शरीर में आत्म-बुद्धि, संसार को बड़ाती है और आत्मा में आत्म-बुद्धि, शीघ्र ही मुक्ति को ले जाती है। ६९वें पद्य में लिखते हैं कि 'मैं किसी का नहीं हूँ और कोई भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है'—ऐसी बुद्धि प्रकट होने पर ही शुद्ध-ध्यान होता है।

आगे परमात्मा के ध्यान की प्रेरणा देते हुए लिखा है कि उससे कर्मों की निर्जरा होती है। आत्मा द्वारा आत्मा को ध्याता हुआ आत्मा स्वयं सिद्ध परमात्मा हो जाता है। पुन: शरीर को अपना मानने की भयंकरता बताते हुए लिखा है कि आत्मा की देह में एकत्व-बुद्धि संसार में डुबाती है और देह से भिन्नत्व-बुद्धि निर्वाण को प्राप्त कराती है।

तत्पश्चात् पुन: विविध उदाहरणों द्वारा, शरीर को अपना मानने को घोर मूर्खता सिद्ध करते हुए बताया है कि आत्म-तत्त्व को अपना जाननेवाला, कर्म-जनित धनादि-संपदा को अपनी नहीं मानता है। यह सचेतन आत्माराम को शरीररूपी यंत्रमय गुप्त बंधन से बँधा हुआ मानकर शीघ्र ही उससे छुड़ाने का, अशरीरी दशा प्राप्त करने का पुरुषार्थ करता है।

तदुपरांत ९१वें पद्य से ध्यान की बहिरंग स्थिति बता अंतरंग स्थिति का वर्णन करते हुए आत्म-

ध्यान के सातिशय विशद काल को विविधरूपों में स्पष्ट किया है। तदनंतर ध्याता व्यक्ति की पात्रता का विस्तार से प्ररूपण करते हुए चारों ध्यान का फल बताकर मात्र मुक्ति हेतु ध्यान करने की प्रेरणा दी है।

अंत में परम शुद्ध-ध्यान के ध्याता की प्रशंसा करते हुए इसका फल मुक्ति की प्राप्ति बता परिच्छेद की समाप्ति के साथ ही प्रशस्ति के उल्लेख पूर्वक ग्रंथ भी समाप्त हुआ है।

इसप्रकार इस श्रावकाचार में श्रावक की समग्र-चर्या निबद्ध है। इसमें प्रत्येक विषय माधुर्य पूर्ण प्रांजल शैली में निरूपित है; अत: आत्म-कल्याण-इच्छुक गृहस्थ के लिए अत्यंत उपयोगी है।

विषय-वस्तु/भाव-पक्ष के समान इसका कला-पक्ष भी चित्ताकर्षक है। सुसभ्य, सुशिक्षित महिला द्वारा धारण किए गए अलंकारों के समान यह विविध रस, छंद, अलंकारों से मंडित है। इसका प्रमुख रस शांत होने पर भी द्यूत आदि दुष्कृत्यों की भयंकरता बताने में वीभत्स-रस, पूजन आदि के प्रकरण में भक्ति-रस, ध्यान के प्रकरण में वीर-रस, मैत्री आदि भावनाओं के प्रकरण में वात्सल्य-रस आदि का भी परिपाक हुआ है।

छंदों की दृष्टि से भी इसमें रोचकता है। भावानुसार छंदों का चयन कवि की अपनी विशेषता है। मुख्यरूप से अनुष्टुभ् छंद का प्रयोग होने के साथ ही उपजाति, शालिनी, भुजंग-प्रयात, वसंत-तिलका, शिखरिणी, शार्दूल-विक्रीडित, पुष्पिताग्रा आदि बहु-प्रचलित, अल्प-प्रचलित छंदों का प्रयोग हुआ है।

अलंकारों की छटा तो इसमें सर्वत्र व्याप्त है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, व्याजोक्ति, मानवीय आदि अनेक अलंकारों से मंडित यह स्वतंत्रता से विचार की अपेक्षा रखता है; परंतु विस्तार-भय से यहाँ विचार नहीं कर रहे हैं।

अनेकानेक सुभाषित वाक्यों, सूक्तिओं से समृद्ध प्रस्तुत कृति की भाषा शुद्ध संस्कृत, भावानुगामी, प्रौढ़ता-संपन्न है। नवीन-नवीन शब्दों, धातुरूपों के प्रयोग से इसका अध्ययन, शब्द-कोश की वृद्धि में भी सक्षम है। हम सभी इसके अध्ययन में प्रवृत्तिकर तदनुसार परिणति बना मनुष्य-भव को सार्थक करने के साथ ही आचार्यश्री की भावना को भी सफल करें—इसी पुनीत भावना के साथ विषय को विराम देती हूँ।

वचनिकाकार पण्डित भागचंद छाजेड़

साहित्य-सेवी, श्रुत-आराधक, आत्म-साधक विक्रम संवत् १९वीं शताब्दी के अंतिम चरण और २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण संबंधी स्वनाम-धन्य विद्वद्-परंपरा में कविवर पंडित भागचंदजी का प्रमुख स्थान है। ग्वालियर राज्य के अंतर्गत ईसागढ़ के निवासी आप दिगंबर जैन-धर्म के अनुयायी, ओसवाल जाति के छाजेड़ गोत्रीय नर-रत्न थे।

कविवर वृद्धिचंदजी-कृत क्षमा-भावाष्टक के अनुसार आपका जन्म विक्रम संवत् १८७७ की कार्तिक कृष्णा तृतीया को हुआ था। वह मूल छंद इसप्रकार है—

अष्टादश सित्योत्तरे कार्तिक वदि शुभ तीज।
ईसागढ को जन्म थो भागचंद गुनि बीज।।

संस्कृत-प्राकृत-हिंदी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान आप, दर्शन-शास्त्र के विशिष्ट अभ्यासी थे। संस्कृत और हिंदी—दोनों ही भाषाओं में काव्य-रचना की अपूर्व क्षमता-संपन्न आपको शास्त्र-प्रवचन और तत्त्व-चर्चा में विशेष रस आता था। अपने जीवन पर्यंत आप प्रतिवर्ष सिद्ध-क्षेत्र सोनागिरी के वार्षिक मेले पर विशेषरूप से शास्त्र-प्रवचन द्वारा जिज्ञासु-जनों को विशेष लाभान्वित करते रहे हैं।

आर्थिक-विपन्नता के कारण आपके जीवन का कुछ काल जयपुर में भी व्यतीत हुआ था।

आपके द्वारा रचित पदों से आपके जीवन और व्यक्तित्व के संबंध में अनेक प्रकार की जानकारी प्राप्त होती है। जिन-भक्त होने के साथ ही आत्म-साधक होने से सांसारिक-भोगों को निस्सार समझनेवाले आपका जीवन प्रति-दिन सामायिक आदि क्रियाओं, अनुष्ठानों से अनुप्राणित रहा है।

आप 'भाईजी' शब्द से संबोधित किए जाते थे। इस मनुष्य भव में आप ५६ वर्ष पर्यंत रहे। वि. सं. १९३३, आषाढ कृष्णा द्वादशी, दोपहर, दो बजे आपने समाधि-पूर्वक देह का त्याग किया।

क्षमा-भावाष्टक में लिखित कविवर वृद्धिचंद्रजी के शब्दों में आपके समाधि-मरण का दृश्य इस प्रकार है—

**''रात रही दो पहर जब यम ने डाला जाल।
ता बंधन कूँ काटवै दियो परिग्रह डाल।
धर्मी कूँ बुलाई आप आयु की चेताई।
काल आन पहुँचो भाई हम सिद्ध सरण पाई है।।
वस्त्र दूरि डारी केस हाथ से उपारी।
पद्मासन कूँ धारी बैठे तृण को बिछाई है।।
अब साँस की चढाई पहर चार तक पाई।
तबै नवकार सुनाई पास बैठे सबै भाई है।।
बारस की तिथि पाई दुपैरी पै दो बजाई।
भाईजी पधारे पर-गति शुभ पाई है।।''**

मंदसौर (म.प्र.) निवासी सेठ हजारीलालजी वाकलीवाल के पितामह सेठ जोधराजजी की हवेली

में आपका समाधि-मरण हुआ था।

आपकी साहित्यिक प्रतिभा का परिचय मूलतया आपके पद्यात्मक साहित्य से प्राप्त होता है। आपके पदों में तर्क और चिंतन की प्रधानता है। रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से अलंकृत आपके पद्य-साहित्य में विराट कल्पना, अगाध दार्शनिकता, सूक्ष्म मनो-वैज्ञानिकता आदि विशेषताएं विद्यमान हैं। ज्ञानी जीव संसार में किस प्रकार निर्भय होकर विचरण करते हैं; उनका अपना आचार-व्यवहार कैसा होता है? इत्यादि विषयों का विश्लेषण करनेवाले आपके पदों में चिंतन की अथाह गहराइआँ विद्यमान होते हुए भी भावुकता रंच-मात्र नहीं है।

वर्तमान में आपकी निम्न-लिखित रचनाएं उपलब्ध हैं—

१. महावीराष्टक स्तोत्र : इसमें शिखरिणी छंद में निबद्ध आठ पद्यों द्वारा इस युग के अंतिम तीर्थ-नायक, वर्तमान शासन-प्रवर्तक भगवान महावीर स्वामी की आलंकारिक संस्कृत भाषा में स्तुति की गई है।

इस स्तोत्र के माध्यम से आप सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं।

२. अमितगति श्रावकाचार भाषा वचनिका : आचार्य अमितगति (द्वितीय) द्वारा रचित प्रस्तुत उपासकाचार ग्रंथ के पद्यों का गद्य में अर्थ स्पष्ट करनेवाली यह ब्रज-भाषा में की गई वचनिका है।

३. उपदेश-सिद्धांत-रत्न-माला वचनिका : आचार्य धर्मदास के सदुपदेश से भट्टारक नेमिचंद्र द्वारा लिखे गए; महा-भयंकर पाप गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व की भयंकरता बताकर उसके त्याग का उपदेश देनेवाले इस ग्रंथ की यह वचनिका है।

४. प्रमाण-परीक्षा वचनिका : आचार्य विद्यानंद द्वारा रचित प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण और मत-मतांतर-सहित उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन करनेवाले प्रमाण-परीक्षा ग्रंथ की यह वचनिका है।

५. नेमिनाथ पुराण : आचार्य जिनसेन-विरचित हरिवंश पुराण का सार लेकर बाईसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ का समग्र जीवन-दर्शन इसमें उपलब्ध है।

६. ज्ञान-सूर्योदय नाटक वचनिका : आचार्य वादिचंद्रसूरी द्वारा नाट्य शैली में रचित, केवलज्ञानरूपी सूर्य के उदय की प्रायोगिक-प्रक्रिया अर्थात् भगवान बनने की विधि बतानेवाले इस ग्रंथ की यह वचनिका है।

७. सत्ता-स्वरूप : इसमें संबोधन शैली द्वारा गृहीत मिथ्यात्व छुड़ाने के लिए प्रमाण, नय, निक्षेप आदि के माध्यम से वीतरागी, सर्वज्ञता-संपन्न सच्चे देव की सत्ता सिद्ध की गई है। गद्य-शैली में लिखी गई यह आपकी मौलिक कृति है।

८. पद संग्रह : इसमें भक्ति-परक, वैराग्य-परक, सैद्धांतिक आदि विषयोंमय ८६ पदों का संग्रह है।

उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि ये सभी कृतिआँ वि. सं. १९०७ से १९१३ पर्यंत के काल में रचित हैं; अत: इस समय को आपकी साहित्य-साधना का स्वर्ण-काल कहा जा सकता है।

इसप्रकार आपने आत्माराधना से अपने जीवन का सदुपयोग करने के साथ-साथ जिनवाणी माँ के अक्षय-कोश को भी अपनी साहित्य-साधना से समृद्ध किया है।

अमितगति श्रावकाचार : विषयानुक्रमणिका

अमितगति श्रावकाचार विषय-वस्तु	पद्य क्रमांक	पृष्ठांक
प्रथम परिच्छेद	**१-७२ पर्यंत ७२ पद्य**	**१**
पंच परमेष्ठी स्मरणरूप मंगलाचरण	१-५	
भावनाभिव्यक्ति	६	
जिनवाणी स्मरण-परक	७	
साक्षात् गुरु-स्मरण	८	
ग्रंथ-प्रतिज्ञा	९-१०	
मनुष्य-भव की महत्ता का प्ररूपण	११-१५	
धर्म-माहात्म्य, धारण की प्रेरणा	१६-२८	
धर्म-धारण में परीक्षा की प्रधानता-पात्रता	२९-३८	
ग्रंथ-प्रामाणिकता हेतु वीतरागता-सर्वज्ञता	३९-४१	
धर्म-हेतु गुरु का महत्त्व	४२-५६	
धर्म-धारण हेतु उत्कृष्ट प्रेरणा	५७-७२	
द्वितीय परिच्छेद	**७३-१६२ पर्यंत ९० पद्य**	**४५**
मिथ्यात्व के सात भेद; छोड़ने की प्रेरणा	१-२३/७३-९७	
षट्अनायतन; भेद-प्रभेद-युक्त		
मिथ्यात्व की भयंकरता	२४-३९/९७-११३	
सम्यक्त्व-प्राप्ति की पात्रता; करण-क्रम; भेद	४०-५८/११३-१३१	
सम्यक्त्व-क्षेत्र-काल-माहात्म्य	५९-६४/१३२-१३७	
सम्यक्त्व-लाभ	६८-७३/१४१-१४६	
सम्यक्त्व के संवेगादि आठ गुण	७४-८१/१४७-१५३	
सम्यक्त्व-फल	८२-९०/१५४-१६२	
तृतीय परिच्छेद	**१६३-२४९ पर्यंत ८६ पद्य**	**८८**
सात तत्त्वों में जीव तत्त्व का विवेचन	१-२८/१६३-१९०	
अजीव तत्त्व का विवेचन	२९-३७/१९१-१९९	
आस्रवतत्त्व का विवेचन	३८-५३/२००-२१५	
बंधतत्त्व का विवेचन	५४-५८/२१६-२२०	
संवर तत्त्व का विवेचन	५९-६२/२२१-२२४	
निर्जरा तत्त्व का विवेचन	६३-६७/२२५-२२९	
मोक्ष तत्त्व का विवेचन	६८-७२/२३०-२३४	
निश्शंकितादि आठ अंग	७३-८०/२३५-२४२	
सम्यक्त्व की महिमा	८१-८६/२४३-२४८	
चतुर्थ परिच्छेद	**२४९-३४८ पर्यंत १०० पद्य**	**१३८**
आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि	१-४७/२४९-२९५	
सर्वज्ञ-सिद्धि	४८-५८/२९६-३०६	

अपौरुषेय वेद का खंडन	५९-७४/३०७-३२२	
पुरुषाद्वैत-वाद का खंडन	७५-७६/३२३-३२४	
ईश्वर के जगत-कर्तृत्व का खंडन	७७-८४/३२५-३३२	
बौद्ध का निराकरण	८५-९२/३३३-३४०	
कपिल का निराकरण	९३/३४१	
अन्य कुदेवादि का निराकरण	९४-१००/३४२-३४८	
पंचम परिच्छेद	**३४९-४२२ पर्यंत ७४ पद्य**	**१९०**
सर्वथा त्याज्य पदार्थ	१/३४९	
मदिरा-पान का निषेध	२-१२/३५०-३६०	
मांस-भक्षण का निषेध	१३-२६/३६१-३७४	
मधु-सेवन का निषेध	२७-३३/३७५-३८१	
नवनीत-सेवन का निषेध	३४-३९/३८२-३८७	
रात्रि-भोजन का निषेध	४०-६७/३८८-४१५	
पंच उदंबर फलों का निषेध	६८-७४/४१६-४२२	
षष्ठ परिच्छेद	**४२३-५२२ पर्यंत १०० पद्य**	**२२९**
बारह व्रत : महत्त्व-भेद	१-३/४२३-४२५	
अहिंसा-अणुव्रत	४-४४/४२६-४६६	
सत्य-अणुव्रत	४५-५८/४६७-४८०	
अचौर्य-अणुव्रत	५९-६३/४८१-४८५	
पर-दारा त्याग-अणुव्रत	३४-७२/४८६-४९४	
परिग्रह-परिमाण-व्रत	७३-७५/४९५-४९७	
दिग्विरति गुणव्रत	७६-७७/४९८-४९९	
देशविरति गुणव्रत	७८-७९/५००-५०१	
अनर्थ-दंड-विरति गुणव्रत	८०-८४/५०२-५०६	
सामायिक व्रत	८५-८७/५०७-५०९	
प्रोषधोपवास व्रत	८८-९१/५१०-५१३	
भोगोपभोग-परिमाण व्रत	९२-९३/५१४-५१५	
अतिथि-संविभाग व्रत	९४-९७/५१६-५१९	
सल्लेखना व्रत	९८-१००/५२०-५२२	
सप्तम परिच्छेद	**५२३-६०१ पर्यंत ७९ पद्य**	**२८१**
व्रत-महिमा, अतिचार, त्याग-प्रेरणा	१-२/५२३-५२४	
व्रत, सल्लेखना, सम्यक्त्व के अतिचार	३-१७/५२५-५३९	
शल्य प्ररूपण-भेद, निदान शल्य	१८-४६/५४०-५६८	
माया शल्य	४७-५०/५६९-५७२	
मिथ्या शल्य	५१-६५/५७३-५८७	
ग्यारह प्रतिमा	६६-७९/५८८-६०१	

अष्टम परिच्छेद	**६०२–७१० पर्यंत १०९ पद्य**	**३२६**
आवश्यक करने की पात्रता	१–२८/६०२–६२९	
षडावश्यक	२९–३६/६३०–६३७	
आवश्यकों में आसनादि का विधान	३७/६३८	
आसन का वर्णन	३८–४९/६३९–६५०	
स्थान–काल का वर्णन	५०–५१/६५१–६५२	
मुद्रा का वर्णन	५२–५६/६५३–६५७	
कायोत्सर्ग का वर्णन	५७–६१/६५८–६६२	
प्रणाम–वर्णन	६२–६४/६६३–६६५	
आवर्त–वर्णन	६५/६६६	
कायोत्सर्ग में उच्छ्वास का प्रमाण	६६–७०/६६७–६७१	
उत्कृष्ट श्रावक का वर्णन	७१–७५/६७२–६७६	
वंदना के बत्तीस दोष	७६–८७/६७७–६८८	
कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष	८८–९८/६८९–६९९	
आवश्यक करने की विधि	९९–१०९/७००–७१०	
नवम परिच्छेद	**७११–८१९ पर्यंत १०९ पद्य**	**३७३**
दान, पूजा, शील, उपवासरूप श्रावक धर्म	१/७११	
दान, दाता, पात्रादि प्ररूपण	२–४३/७१२–७५३	
दान के अयोग्य पदार्थ	४४–८०/७५४–७९०	
दान–देने–योग्य पदार्थ	८१–८३/७९१–७९३	
अभय–दान	८४–८७/७९४–७९७	
आहार–दान	८८–९९/७९८–८०९	
औषधि–दान	१००–१०२/८१०–८१२	
शास्त्र–दान	१०३–१०५/८१३–८१५	
दान–देने–योग्य अन्य वस्तुएं	१०६–१०९/८१६–८१९	
दशम परिच्छेद	**८२०–८९३ पर्यंत ७४ पद्य**	**४२४**
पात्र : भेद–स्वरूप	१–४/८२०–८२३	
उत्तम पात्र का स्वरूप	५–२६/८२४–८४५	
मध्यम पात्र का स्वरूप	२७–३०/८४६–८४९	
जघन्य पात्र का स्वरूप	३१–३३/८५०–८५२	
कुपात्र का स्वरूप	३४–३५/८५३–८५४	
अपात्र का स्वरूप	३६–३८/८५४–८५७	
समापन और प्रतिज्ञा परक	३९/८५८	
उत्तम पात्रों को आहार देने की विधि	४०–४४/८५९–८६३	
विधि और विवेक विना दान का फल	४५–७४/८६४–८९३	

एकादश परिच्छेद	**८९४–१०१९ पर्यंत १२६ पद्य**	**४६२**
अभय-दान की महिमा	१-१३/८९४-९०६	
आहार-दान की महिमा	१४-३१/९०७-९२४	
औषधि-दान का माहात्म्य	३२-४१/९२५-९३५	
शास्त्र-दान का माहात्म्य	४२-५०/९३५-९४३	
वसतिका आदि अन्य दानों की महिमा	५१-६१/९४४-९५४	
दाता और पात्र की अपेक्षा दान का फल और भोगभूमिजों-देवों का वर्णन	६२-१२६/९५५-१०१९	
द्वादश परिच्छेद	**१०२०/११५८ पर्यंत १३९ पद्य**	**५१८**
तीर्थंकर अरहंत का स्वरूप-वर्णन	१-११/१०२०-१०३०	
पूजा : भेद-स्वरूप-फल	१२-१५/१०३१-१०३४	
सिद्ध भगवान का स्वरूप-वर्णन, पूजन-फल	१६-२४/१०३५-१०४३	
आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप-वर्णन	२५-२७/१०४४-१०४६	
उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप-वर्णन	२८-३०/१०४७-१०४९	
साधु परमेष्ठी का स्वरूप-वर्णन	३१-३३/१०५०-१०५२	
पंच परमेष्ठी की पूजन का फल	३४-४०/१०५३-१०५९	
शील का प्ररूपण	४१-५३/१०६०-१०७२	
शील भंग के कारणभूत द्यूत का निषेध	५४-६२/१०७३-१०८१	
वेश्या का निषेध	६३-७६/१०८२-१०९५	
पर-स्त्री-सेवन का निषेध	७७-९१/१०९६-१११०	
शिकार का निषेध	९२-१००/११११-१११९	
मौन-माहात्म्य	१०१-११६/११२०-११३५	
उपवास-प्ररूपण	११७-१३९/११३६-११५८	
त्रयोदश परिच्छेद	**११५९-१२५९ पर्यंत १०१ पद्य**	**५८०**
श्रावक की विशेषताएं	१-६/११५९-११६४	
विनय-विवेचन	७-६०/११६५-१२१८	
वैयावृत्त्य-विवेचन	६१-७४/१२१९-१२३२	
प्रायश्चित्त-प्ररूपण	७५-८०/१२३३-१२३८	
स्वाध्याय-विश्लेषण	८१-९३/१२३९-१२५१	
तप करने की प्रेरणा	९४/१२५२	
संतोष-माहात्म्य	९५-९८/१२५३-१२५६	
मैत्री आदि भावनाएं	९९-१०१/१२५७-१२५९	
चतुर्दश परिच्छेद	**१२६०-१३४३ पर्यंत ८४ पद्य**	**६२८**
अनित्य-अनुप्रेक्षा	१-६/१२६०-१२६५	
अशरण-अनुप्रेक्षा	७-१२/१२६६-१२७१	
संसार-अनुप्रेक्षा	१३-१९/१२७२-१२७८	

एकत्व-अनुप्रेक्षा	२०-२५/१२७९-१२८४	
अन्यत्व-अनुप्रेक्षा	२६-३२/१२८५-१२९१	
अशुचित्व-अनुप्रेक्षा	३३-४०/१२९२-१२९९	
आस्रव-अनुप्रेक्षा	४१-४७/१३००-१३०६	
संवर-अनुप्रेक्षा	४८-५४/१३०७-१३१३	
निर्जरा-अनुप्रेक्षा	५५-६०/१३१४-१३१९	
लोक-अनुप्रेक्षा	६१-६८/१३२०-१३२७	
बोधिदुर्लभ-अनुप्रेक्षा	६९-७४/१३२८-१३३३	
धर्म-अनुप्रेक्षा	७५-८१/१३३४-१३४०	
अनुप्रेक्षा-चिंतन का फल	८२-८४/१३४१-१३४३	
पंचदश परिच्छेद	**१३४४-१४५७ पर्यंत ११४ पद्य**	**६७५**
ध्यान की आवश्यकता	१-४/१३४४-१३४७	
ध्यान : सामान्य-निरूपण	५-८/१३४८-१३५१	
ध्यान के भेद	९-१५/१३५२-१३५८	
ध्यान के स्वामी-फल	१६-२२/१३५९-१३६५	
जानने-योग्य ध्याता आदि चार भेद	२३/१३६६	
ध्याता का स्वरूप	२४-२९/१३३७-१३७२	
ध्येय का स्वरूप, पदस्थ ध्यान में मंत्र-विधान	३०-४९/१३७३-१३९२	
पिंडस्थ ध्यान	५०-५३/१३९३-१३९६	
रूपस्थ ध्यान	५४/१३९७	
अरूपस्थ/रूपातीत ध्यान	५५-५६/१३९८-१३९९	
आत्मा के बहिरात्मा आदि भेद-स्वरूप	५७-६६/१४००-१४०९	
ध्यान करने की पात्रता, फल, प्रेरणा	६७-११४/१४१०-१४५७	
ग्रंथ-कर्ता की प्रशस्ति	१-९ पद्य	७३१
वचनिकाकार की प्रशस्ति	१-६ पद्य	७३६

ॐ

卐 श्री सर्वज्ञ-वीतरागाय नमः 卐

॥ शास्त्र-स्वाध्याय का प्रारम्भिक मङ्गलाचरण ॥

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमो नमः॥ १॥

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालित-सकलभूतलमलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती ! हरतु नो दुरितान्॥ २॥

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः॥ ३॥

卐 卐 卐

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यश्रीगुरवे नमः

सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं श्री'अमितगति श्रावकाचार' नामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तर-ग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारमासाद्य श्रीमद्भगवद्कुन्दकुन्दाचार्य आम्नाय श्रीअमतिगतिआचार्यविरचित।

श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमौ गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥ १॥

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्॥ २॥

ॐ

श्रीमद् भगवद् अमितगति–आचार्य–कृत

अमितगति–श्रावकाचार

की पंडित भागचंद्र–कृत वचनिका का
खड़ी बोली हिंदी में अनुवाद

प्रथम परिच्छेद

वचनिकाकार–कृत मंगलाचरण—

दोहा : **सिद्धारथ प्रियकारिणी नंदन वीर जिनेस।**
सिवकर बंदूँ अमितगति कर्ता वृष उपदेस।।१।।

अर्थ : प्रस्तुत छंद के अनेक अर्थ हो सकते हैं; जिनमें से कुछ इसप्रकार हैं—

१. वर्तमान शासननायक भगवान महावीरस्वामी को नमस्कार–परक अर्थ : पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी त्रिशला के सुपुत्र, कल्याण करनेवाले, अमितगति/अनंत–ज्ञानादि–संपन्न सिद्धदशा–युक्त, धर्म का उपदेश करनेवाले वीर जिनेश/भगवान महावीरस्वामी की मैं वंदना करता हूँ।

२. चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार–परक अर्थ : सभी प्रयोजनों की सिद्धि–संपन्न, प्रिय करनेवाले, आनंद–दायी, कल्याण–कारी, अमितगति/अनंत–ज्ञानादि–संपन्न सिद्धदशा–युक्त, धर्म का उपदेश करनेवाले वीर/चौबीस तीर्थंकर जिनेंद्रों की मैं वंदना करता हूँ।

३. ग्रंथकर्ता आचार्य अमितगति को नमस्कार–परक अर्थ : सभी प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले, प्रिय–कारी, भगवान महावीर जिनेंद्र के उत्तराधिकारी आनंद–दायी, कल्याण–कारी, धर्म का उपदेश करनेवाले आचार्य अमितगति की मैं वंदना करता हूँ।

विशेषण–विशेष्य के स्थान–परिवर्तन से इसीप्रकार और भी अनेक–अनेक अर्थ हो सकते हैं।।१।।

पंच परमेष्ठी की स्तुति

अब, सर्व-प्रथम अरहंत परमेष्ठी की वंदना करते हैं—

गीता : **मनुज-नाग-सुरेंद्र जाके उपरि छत्रत्रय धरैं,**
कल्याण पंचक मोदमाला पाय भवभ्रमतम हरैं।
दरसन अनंत अनंत ग्यान अनंत सुख वीरज भरै,
जयवंत ते अरहंत सिवतियकंत मो उर संचरैं।।२।।

अर्थ : जिनके ऊपर मनुजेंद्र/चक्रवर्ती, नागेंद्र, सुरेंद्र, तीन छत्र को धारण करते हैं; अत्यधिक प्रसन्नता-संपन्न पाँच कल्याणकों को प्राप्तकर जो संसार संबंधी भ्रमरूपी अंधकार का हरण करते हैं; अनंत-दर्शन, अनंत-ज्ञान, अनंत-सुख, अनंत-वीर्य से परिपूर्ण; मोक्ष-लक्ष्मी के स्वामी वे अरहंत परमेष्ठी जयवंत वर्तें और मेरे हृदय में विचरण करें।।२।।

अब, सिद्ध-परमेष्ठी की स्तुति करते हैं—

गीता : **जिन परम-ध्यान कृसानुवान सुतान तुरत जला दए,**
युत मान जन्म जरा मरण मय त्रिपुर फेर नहीं भए।
अविचल सिवालय धाम पायो स्वगुण तैं न चलैं कदा
ते सिद्धप्रभु अविरुद्ध मेरे सुद्ध ग्यान करौ सदा।।३।।

अर्थ : जिन्होंने परम-ध्यान/सर्वोत्कृष्ट आत्म-ध्यानरूपी खींचे गए अग्नि-बाण द्वारा मान से सहित जन्म-जरा/बुढापा-मरणमय त्रिपुर/तीन नगरों को अति-शीघ्र इसप्रकार जला दिया; जिससे वे पुन: प्रकट नहीं हो सके; अविचल, कल्याण के घर, मोक्ष-स्थान को प्राप्त कर लिया है; जो कभी भी अपने गुणों से विचलित नहीं होते हैं; वे अविरुद्ध सिद्ध-भगवान सदा मेरे लिए शुद्ध ज्ञान को करें अथवा मेरे ज्ञान को शुद्ध करें।।३।।

अब, आचार्य परमेष्ठी का स्तवन करते हैं—

गीता : **जे पंच-विध आचार निर्मल पंच अग्नि सु साधते,**
पुनि द्वादसांग समुद्र अवगाहत सकल भ्रम बाधते।
वर सूरि संत महंत विधि-गण हरण कौं अति दक्ष हैं,
ते मोक्ष लक्ष्मी देहु हमकौं जहाँ नाँहि विपक्ष हैं।।४।।

अर्थ : जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचारमय पाँच प्रकार के पवित्र आचाररूपी अग्नि को साधते हैं; द्वादशांगरूपी समुद्र में अवगाहन कर/संपूर्ण जिनागम का स्वाध्याय कर सभी प्रकार के भ्रमों/संदेहों को समाप्त कर देते हैं; कर्मों के समूह का हरण

करने में अति चतुर हैं; वे उत्कृष्ट संत, महंत, आचार्य परमेष्ठी हमें वह मोक्ष-लक्ष्मी प्रदान करें; जहाँ विपक्ष/विरोध/विपरीतता नहीं है।।४।।

अब, उपाध्याय परमेष्ठी को नमन करते हैं—

गीता : जो घोर भव कानन कुअटवी पाप-पंचानन जहाँ,
तीक्षण सकल जन दु:ख-कारी जासकौ नख-गण महा।
तहँ भ्रमत भूले जीव कौं सिव-मग बतावैं जे सदा,
तिन उपाध्याय मुनींद्र के चरणारविंद नमूँ सदा।।५।।

अर्थ : इस घोर संसाररूप जंगलमय कुअटवी में सभी प्राणिओं को दु:खी करनेवाले तीक्ष्ण, विशाल नख-गण/नाखूनों के समूह-युक्त पापरूपी पंचानन/सिंह विद्यमान हैं। भ्रम से भूलकर यहाँ भटकते हुए जीवों के लिए जो सदा मोक्ष का मार्ग बताते रहते हैं; उन मुनींद्र उपाध्याय परमेष्ठी के चरण-कमलों में मैं सदा नमन करता हूँ।।५।।

अब, साधु परमेष्ठी की स्तुति करते हैं—

गीता : **बिन संग उग्र अभंग तपतैं अंग में अति खीन हैं,**
नहिं हीन ग्यानानंद ध्यावत धर्म-सुक्ल प्रवीन हैं।
अति-तपो-कमला-कलित भासुर सिद्धपद साधन करैं,
ते साधु जयवंतौ सदा जे जगत के पातिक हरैं।।६।।

अर्थ : परिग्रह या साथ/सहयोगी से रहित; उग्र, अखंडित तपस्या के कारण अति क्षीण-कायवाले, उत्कृष्ट ज्ञान-आनंद से संपन्न, धर्म्य और शुक्ल-ध्यान को ध्याने में प्रवीण/कुशल, अत्यधिक तपश्चरणरूपी लक्ष्मी से संपन्न हो जो देदीप्यमान सिद्ध-पद की साधना करते हैं; जगत के पातकों का हरण करनेवाले वे साधु परमेष्ठी सदा जयवंत वर्तें।।६।।

अब, पंच परमेष्ठिओं को एक साथ नमन करते हैं—

दोहा : **जिनवर सिद्धाचार्य पुन उपाध्याय मुनिराय।**
नमस्कार गुरु पंच कौं होउ सदा सुख-दाय।।७।।

अर्थ : जिनवर/अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनिराज—इन पाँच गुरुओं को नमस्कार है; ये हमारे लिए सदा सुख-दायक हों।।७।।

अब, जिन-धर्म का गुण-गान करते हैं—

दोहा : **जयवंतौ जिनधर्म सो वीतराग परिनाम।**
कुगतिपात तैं जीव कौं काढि धरै सिव-धाम।।८।।

अर्थ : जो जीव को कुगति-पतन से निकालकर मोक्ष-स्थान में धर देता है; वह वीतराग-परिणाममय जिनधर्म, जयवंत वर्तो।।८।।

अब, जिनवाणी को वंदन करते हैं—

दोहा : **बंदूँ पुन जिनवचन कौं जाकै स्यात्पद केतु।**
स्वपर प्रकासै भ्रम हरै सब जग कौं सुख हेतु।।९।।

अर्थ : और अब 'स्यात्' पद से चिन्हित/स्याद्वाद शैली में निरूपित, स्व-पर-प्रकाशक, भ्रम का हरण करनेवाले, समस्त जगत को सुख में कारणभूत जिन-वचनों को वंदन करता हूँ।।९।।

अब, जिन-प्रतिमा को प्रणाम करते हैं—

दोहा : **भूषन वसन गदादि विन जिन-प्रतिमा अभिराम।**
तीन लोक में हैं जहाँ तहँ नित करूँ प्रनाम।।१०।।

अर्थ : आभूषण, वस्त्र, गदा आदि से रहित; सुंदर, तीन लोक में जहाँ-तहाँ विराजमान जिन-प्रतिमाओं को मैं सदा प्रणाम करता हूँ।।१०।।

अब, जिन-चैत्यालयों की वंदना करते हैं—

दोहा : **सुर-नर-नाग-समूह नित पूजित पावन-द्वार।**
चैत्यालय जिनचंद्र के बंदूँ मंगल-कार।।११।।

अर्थ : देवों, मनुष्यों, धरणेंद्रों के समूह द्वारा सदा पूजित; पवित्र-स्थान, मंगल-कारी, जिनेंद्र भगवान के चैत्यालयों की मैं वंदना करता हूँ।।११।।

अब, वचनिकाकार 'पंडित भागचंद्रजी छाजेड़' 'अमितगति-श्रावकाचार' नामक ग्रंथ की वचनिका लिखने का संकल्प व्यक्त करते हैं—

दोहा : **इम नव देव प्रणाम करि निज मति के अनुसार।**
ग्रंथ श्रावकाचार की रचूँ वचनिका सार।।१२।।

अर्थ : इसप्रकार नव देवों को प्रणामकर अपनी बुद्धि के अनुसार संक्षिप्तरूप में इस श्रावकाचार ग्रंथ की वचनिका मैं लिखता हूँ।।१२।।

इसप्रकार मंगल करके श्री अमितगति-आचार्य-कृत श्रावकाचार की वचनिका करते हैं। ज्ञान की मंदता/अल्पता के कारण इसमें यदि हीनाधिक अर्थ हो जाए तो विशेष ज्ञानी उसे सुधार लें। मुझे मंद-बुद्धि जानकर हास्य नहीं करें—विशेष ज्ञानिओं से यह मेरी प्रार्थना है।

ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलाचरण करते हुए आचार्यश्री अमितगति सर्व-प्रथम इष्ट-देव का स्मरण करते हैं—

उपजाति : **नापाकृतानि प्रभवन्ति भूयस्तमान्सि यैर्दृष्टि-हराणि सद्य:।**
ते शाश्वतीमस्तमयानभिज्ञा जिनेन्दवो वो वितरन्तु लक्ष्मीम्।।१।।

दृष्टि विघातक अति मोह-तम को जड़ मूल से नष्ट किया जिन्होंने।
सर्वज्ञ जिननाथ सदा सभी को शिव सौख्य श्री को वितरित करें वे।।१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; अपाकृतानि=समाप्त कर दिया गया है; प्रभवन्ति=उत्पन्न होते हैं; भूय:=पुन:; तमान्सि=अंधकार; यै:=जिनके द्वारा; दृष्टि-हराणि=दृष्टि का हरण करनेवाले; सद्य:=शीघ्र; ते=वे; शाश्वतीं=स्थाई; अस्तमय+अनभिज्ञा:=अज्ञानता से पूर्णतया रहित/सर्वज्ञ; जिन+इन्दव:=जिनरूपी चंद्रमा; व:=आप सभी के लिए; वितरन्तु=विस्तृत करें; लक्ष्मीं=वैभव को।

अन्वय : यै: दृष्टि-हराणि तमान्सि सद्य: अपाकृतानि भूय: न प्रभवन्ति ते अस्तमय-अनभिज्ञा: जिन-इन्दव: व: शाश्वतीं लक्ष्मीं वितरन्तु।

वचनिका : वे श्री जिनरूपी चंद्रमा तुम्हारे लिए शाश्वत मोक्ष-लक्ष्मी का विस्तार करें। वे जिनरूपी चंद्रमा/जिनेंद्र भगवान कैसे हैं? जिन्होंने अज्ञानी पर-वादिओं का अस्त किया/सभी प्रकार की अज्ञानताएं समाप्त कर दी हैं और जिन्होंने समीचीन दृष्टि का हरण करनेवाले मोहरूपी अंधकार को शीघ्र ही इसप्रकार से समाप्त कर दिया है, जिससे वह पुन: प्रकट नहीं हो सके।।१।।

अब, इस पद्य द्वारा सिद्ध-भगवान का स्मरण करते हैं-

उपजाति : **विभिद्य कर्माष्टकशृङ्खलां ये, गुणाष्टकैश्वर्यमुपेत्य पूतम्।**
प्राप्तास्त्रिलोकाग्रशिखामणित्वं भवन्तु सिद्धा मम सिद्धये ते।।२।।

कर्माष्ट साँकल को नष्ट करके पावन गुणाष्टक पा जो हुए हैं।
त्रैलोक्य चूड़ामणि सिद्ध प्रभु वे सब सिद्धि हेतु मेरे लिए हैं।।२।।

शब्दश: अर्थ : विभिद्य=विशेषरूप से छेदकर; कर्म+अष्टक-शृङ्खलां=आठ कर्मरूपी शृंखला को; ये=जो; गुण+अष्टक+ऐश्वर्यं=आठ गुणोंरूपी वैभव को; पूतं=पवित्र; प्राप्ता:=प्राप्त हुए हैं; त्रि-लोक+अग्र-शिखामणित्वं=तीन लोक के अग्र भाग में शिखामणिपने को; भवन्तु=हों; सिद्धा:=सिद्ध परमेष्ठी; मम=मेरी; सिद्धये=सिद्धि के लिए; ते=वे।

अन्वय : कर्माष्टक-शृङ्खलां विभिद्य गुणाष्टक-पूतं ऐश्वर्यं उपेत्य ये त्रिलोकाग्र-शिखामणित्वं प्राप्ता: ते सिद्धा: मम सिद्धये भवन्तु।

वचनिका : जो भगवान ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंरूपी साँकल का छेदकर, सम्यक्त्व आदि आठ गुणरूपी पवित्र ऐश्वर्य को प्राप्त होकर तीन लोक के चूड़ामणिपने को प्राप्त हुए हैं; वे श्री सिद्ध-भगवान मेरी सिद्धि के लिए हों।।२।।

अब, इस पद्य द्वारा आचार्य परमेष्ठी का गुणानुवाद करते हैं–

उपजाति : **ये चारयन्ते चरितं विचित्रं, स्वयं चरन्तो जनमर्चनीयाः।**

आचार्यवर्या विचरन्तु ते मे, प्रमोदमाने हृदयारविन्दे।।३।।

आचरण बहु विध करते स्वयं जो पर से कराते जन पूज्य हैं नित।

विचरण करें वे आचार्यवर्य मेरे प्रमोदी हृदयारविंद।।३।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; चारयन्ते=कराते हैं; चरितं=आचरण; विचित्रं=अनेक प्रकार का; स्वयं=खुद; चरन्तः=करते हुए; जनं=प्राणी को; अर्चनीयाः=पूजित हैं; आचार्यवर्याः=श्रेष्ठ आचार्य; विचरन्तु=विचरण करें; ते=वे; मे=मेरे; प्रमोदमाने=प्रसन्न रहनेवाले; हृदय+अरविन्दे=हृदयरूपी कमल में।

अन्वय : विचित्रं चरित्रं स्वयं चरन्तः ये जनं चारयन्ते जनं अर्चनीयाः ते आचार्यवर्याः मे प्रमोदमाने हृदयारविन्दे विचरन्तु।

वचनिका : वे आचार्यवर्य अर्थात् आचार्यों में प्रधान आचार्य, आनंद को देनेवाले मेरे हृदयरूपी कमल में विचरण करें। वे आचार्य कैसे हैं? जो अनेक प्रकार के चारित्र का आचरण करते हुए लोक से आचरण कराते हैं, इसीकारण पूज्य हैं।

भावार्थ : जो वीतरागरूप धर्म का आचरण करते हैं और दयालु होकर दूसरों से आचरण कराते हैं; वीतराग भावों के वांक्षकों द्वारा वे ही पूज्य हैं; वे ही ज्ञान-आनंद के कारण हैं।

इनसे विपरीत राग-द्वेष भावों से सहित दूसरे, आचार्य नहीं हैं।।३।।

अब, इस पद्य द्वारा उपाध्याय परमेष्ठी का यशोगान करते हैं–

उपजाति : **येषां तपः-श्रीरनघा शरीरे विवेचका चेतसि तत्त्वबुद्धिः।**

सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे पुनन्तु तेऽध्यापकपुङ्गवा वः।।४।।

निर्दोष तपश्री तन में विवेचक है तत्त्वबुद्धि मन में सुशोभित।

पावन करें वे वर उपाध्याय जिन मुख कमल में जिन-वच विराजित।।४।।

शब्दशः अर्थ : येषां=जिनके; तपः-श्रीः=तपरूपी लक्ष्मी; अनघा=निर्दोष; शरीरे=शरीर में; विवेचका=भेद-ज्ञान करनेवाली; चेतसि=मन में; तत्त्वबुद्धिः=वस्तु के स्वरूप को जाननेवाली बुद्धि; सरस्वती=जिनवाणी; तिष्ठति=रहती है; वक्त्र-पद्मे=मुख-कमल में;

पुनन्तु=पवित्र करें;ते=वे; अध्यापक-पुङ्गवा:=पढ़ानेवालों में श्रेष्ठ; व:=तुम सभी को।
अन्वय : येषां शरीरे अनघा तप:-श्री: चेतसि विवेचका तत्त्वबुद्धि: वक्त्र-पद्मे सरस्वती तिष्ठति ते अध्यापक-पुङ्गवा: व: पुनन्तु।
वचनिका : उपाध्यायों में प्रधान वे उपाध्याय भगवान, तुम्हें पवित्र करें। वे उपाध्याय कैसे हैं? जिनके शरीर में पाप-रहित तपरूपी लक्ष्मी रहती है; मन में भेद-विज्ञान करनेवाली तत्त्व-बुद्धि रहती है और मुख-कमल में सरस्वती अर्थात् जिनवाणी विराजमान है।
भावार्थ : उनके मन, वचन, कायरूप तीनों योग निर्मल हो गए हैं।।४।।

अब, इस पद्य द्वारा साधु परमेष्ठी की स्तुति करते हैं–

उपजाति : **कषाय-सेनां प्रतिबन्धिनीं ये निहत्य धीरा: सम-शील-शस्त्रै:।**
सिद्धिं विबाधां लघु साधयन्ते ते साधवो मे वितरन्तु सिद्धिम्।।५।।

जो धीर, सम, शील सुशस्त्र द्वारा कषाय सेना रिपु नष्ट करके।
निर्बाध सिद्धि अति शीघ्र साधें मुझ सिद्धि हेतु हों साधु-गण वे।।५।।

शब्दश: अर्थ : कषाय-सेनां=कषायरूपी सेना को; प्रतिबन्धिनीं=विरोधी; ये=जो; निहत्य =समाप्त कर; धीरा:=धीर; सम-शील-शस्त्रै:=समता और शीलरूपी शस्त्रों द्वारा; सिद्धिं= मोक्ष को; विबाधां=बाधाओं से रहित; लघु=शीघ्र; साधयन्ते=साधते हैं; ते=वे; साधव: =साधु; मे=मेरे लिए; वितरन्तु=देवें; सिद्धिं=मोक्ष को।
अन्वय : प्रतिबन्धिनीं कषाय-सेनां सम-शील-शस्त्रै: निहत्य ये धीरा: लघु विबाधां सिद्धिं साधयन्ते ते साधव: मे सिद्धिं वितरन्तु।
वचनिका : वे साधु हमारे लिए सिद्धि अर्थात् मोक्ष को दें। वे साधु कैसे हैं? जो धीर, सिद्धि को रोकनेवाली क्रोधादि कषायों की सेना को सम, शीलरूपी शस्त्रों द्वारा नष्टकर अपनी सिद्धि को साधते हैं। इसप्रकार के साधु, कषायों को क्षमा आदि भावों द्वारा नष्टकर परम निराकुल अवस्था को साधते हैं।।५।।

अब, इस पद्य द्वारा जिन-धर्म का गुण-गान करते हैं–

उपजाति : **विभूषितोऽह्नाय यया शरीरी विमुक्तिकान्तां विदधाति वश्याम्।**
सा दर्शन-ज्ञान-चरित्रभूषा चित्ते मदीये स्थिरतामुपैतु।।६।।

जिससे विभूषित तन में सुशीघ्र मुक्ति रमा हो वश जीव के नित।
वे दर्शन ज्ञान चरित्र भूषण मेरे हृदय में स्थिर रहें नित।।६।।

शब्दश: अर्थ : विभूषित:=सुसज्जित; अह्नाय=शीघ्र; यया=जिससे; शरीरे=तन में; विमुक्ति

–कान्तां=मोक्षरूपी स्त्री; विदधाति=धारण करती है; वश्यां=वशपने को; सा=वह; दर्शन–ज्ञान–चरित्र–भूषा=सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकतारूप आभूषण; चित्ते=मन में; मदीये=मेरे; स्थिरतां=स्थिरता को; उपैतु=प्राप्त हो।

अन्वय : यया विभूषित: शरीरे विमुक्ति–कान्तां अह्नाय वश्यां विदधाति सा दर्शन–ज्ञान–चरित्र–भूषा मदीये चित्ते स्थिरतां उपैतु।

वचनिका : जिस आभूषण से भूषित जीव शीघ्र ही मुक्ति–स्त्री को वश में कर लेता है; वह दर्शन–ज्ञान–चारित्ररूपी आभूषण, मेरे चित्त में सदा स्थिरता को प्राप्त हो।

भावार्थ : जैसे—स्त्री, सुंदर, शृंगार–सहित पुरुष के वश हो जाती है; उसीप्रकार दर्शन–ज्ञान–चारित्र–सहित आत्मा को ज्ञानानंद–स्वरूप अवस्था प्राप्त हो जाती है।।६।।

अब, इस पद्य द्वारा जिन–वाणी का यशोगान करते हैं—

उपजाति : **मातेव या शास्ति हितानि पुन्सो, रज: क्षिपन्ती दधती सुखानि।**
समस्तशास्त्रार्थ–विचारदक्षा सरस्वती सा तनुतां मतिं मे।।७।।

जो मात–सम हित समझा हटातीं अज्ञानता को सुख पुष्ट करतीं।
संपूर्ण शास्त्रार्थ विचार चतुरा माँ शारदा पोषें मुझ मति भी।।७।।

शब्दश: अर्थ : माता+इव=माता के समान; या=जो; शास्ति=उपदेश देती हैं; हितानि=कल्याण का; पुन्स:=जीव का; रज:=अज्ञान को; क्षिपन्ती=नष्ट करनेवालीं; दधती=पुष्ट करनेवालीं; सुखानि=सुखों को; समस्त–शास्त्र+अर्थ–विचार–दक्षा=संपूर्ण शास्त्रों के अर्थ का विचार करने में चतुर; सरस्वती=जिन–वाणी; सा=वह; तनुतां=विस्तृत करें; मतिं=बुद्धि को; मे=मेरी।

अन्वय : या माता इव पुन्स: हितानि शास्ति रज: क्षिपन्ती सुखानि दधती सा समस्त–शास्त्र–अर्थ–विचार–दक्षा सरस्वती मे मतिं तनुताम्।

वचनिका : वे सरस्वती मेरी बुद्धि को विस्तृत करें। वे सरस्वती कैसी हैं? जो पुरुष को माता के समान हित अर्थात् कल्याण के कारणों को सिखाती हैं, रज अर्थात् अज्ञान को नष्ट करती हैं, सुखों को पुष्ट करती हैं और समस्त शास्त्रों के अर्थ का विचार करने में प्रवीण हैं।

भावार्थ : अनेकांतमई जिन–वाणी का नाम सरस्वती है। जैसे—चतुर माता, पुत्र को लौकिक हिताहित के कारण सिखाती है, शरीर पर की धूल झड़ा देती है और सुख को बड़ाती है; उसीप्रकार जिन–वाणी, मोक्षमार्ग में हिताहित को सिखाती हैं, अज्ञान को दूर करती हैं और ज्ञानानंद को पुष्ट करती हैं—ऐसा जानना।।७।।

अब, इस पद्य द्वारा अपने गुरुओं का स्मरण करते हैं—

उपजाति : **शास्त्राम्बुधे: पारमियर्ति येषां निषेवमाण: पदपद्मयुग्मम्।**
गुणै: पवित्रैर्गुरवो गरिष्ठा: कुर्वन्तु निष्ठां मम ते वरिष्ठाम्।।८।।

सब शास्त्र-सागर का पार पाते, जिनकी कृपा-करुणा से सुशिष्य।
पावन गुणों से परिपूर्ण गुरुवर, मेरी करें निष्ठा श्रेष्ठ प्रतिक्षण।।८।।

शब्दश: अर्थ : शास्त्र+अम्बुधे:=शास्त्ररूपी सागर के; पारं=पार/रहस्य को; इयर्ति=प्राप्त करता है; येषां=जिनके; निषेवमाण:=सेवा करनेवाला; पाद-पद्म-युग्मं=चरणरूपी कमल-युगल की; गुणै:=गुणों से; पवित्रै:=पवित्र; गुरव:=गुरु; गरिष्ठा:=परिपूर्ण/महान; कुर्वन्तु=करें; निष्ठां=निष्ठा को; मम=मेरी; ते=वे/गुरु; वरिष्ठां=श्रेष्ठ।

अन्वय : येषां पद-पद्म-युग्मं निषेवमाण: शास्त्र+अम्बुधे: पारं इयर्ति पवित्रै: गुणै: गरिष्ठा: ते गुरव: मम वरिष्ठां निष्ठां कुर्वन्तु।

वचनिका : जिनके चरण-कमलों को ध्याता हुआ प्राणी शास्त्ररूपी समुद्र के पार को प्राप्त हो जाता है/जिनागम के संपूर्ण रहस्यों का ज्ञाता हो जाता है; पवित्र गुणों के कारण महान वे गुरु, मेरी श्रेष्ठ क्रिया/निष्ठा को करें।।८।।

अब, इस पद्य द्वारा शास्त्रकार शास्त्र करने की प्रतिज्ञा करते हैं—

उपजाति : **उपासकाचार-विचार-सारं सङ्क्षेपत: शास्त्रमहं करिष्ये।**
शक्नोति कर्तुं श्रुतकेवलिभ्यो, न व्यासतोऽन्यो हि कदाचनापि।।९।।

संक्षेप में करता मैं सुशास्त्र, उपासकाचार विचार सार।
श्रुतकेवली विन नहिं अन्य कोई, विस्तार से करने में समर्थ।।९।।

शब्दश: अर्थ : उपासक+आचार-विचार-सारं=विचारों के सारभूत उपासकाचार को; सङ्क्षेपत:=संक्षेप से; शास्त्रं=शास्त्र को; अहं=मैं; करिष्ये=करूँगा; शक्नोति=समर्थ है; कर्तुं=करने के लिए; श्रुत-केवलिभ्य:=श्रुत-केवली से; न=नहीं; व्यासत:=विस्तार से; अन्य:=दूसरा; हि=वास्तव में; कदाचन+अपि=कभी भी।

अन्वय : अहं उपासक-आचार-विचार-सारं शास्त्रं सङ्क्षेपत: करिष्ये (यत:) हि श्रुत-केवलिभ्य: अन्य: कदाचन अपि व्यासत: कर्तुं न शक्नोति।

वचनिका : शास्त्रकार मैं, विचारों के सारभूत शास्त्र को संक्षेप में करूँगा; क्योंकि श्रुत-केवली से भिन्न दूसरा पुरुष, विस्तार से करने के लिए कभी भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ : विस्तार-सहित तो श्रुत-केवली के सिवाय दूसरा कौन कहे? मैं तो संक्षेप में श्रावकाचार को कहूँगा।।९।।

अब, इस पद्य द्वारा सत्-असत् प्राणिओं की प्रवृत्ति बताते हैं—

उपजाति : **क्षुद्र-स्वभावा: कृतिमस्त-दोषां निसर्गतो यद्यपि दूषयन्ते।**
तथापि कुर्वन्ति महानुभावास्त्याज्या न यूका भयतो हि शाटी।।१०।।

निर्दोष रचना में दोष देखें, नित दुर्जनों की प्रकृति यही ही।
सज्जन तथापि करते सुकार्य, ज्यों यूक भय से छोड़े न साड़ी।।१०।।

शब्दश: अर्थ : क्षुद्र-स्वभावा:=तुच्छ स्वभाववाले/दुर्जन; कृतिं=रचना को; अस्त-दोषां=दोष से रहित/पूर्ण शुद्ध; निसर्गत:=स्वभाव से; यद्यपि=यद्यपि; दूषयन्ते=दोष लगाते हैं; तथापि=तो भी; कुर्वन्ति=करते हैं; महा+अनुभावा:=महान उदयवाले/सज्जन; त्याज्या:=छोड़ने-योग्य; न=नहीं; यूका=जूँआ; भयत:=डर से; हि=वास्तव में; शाटी =साड़ी।

अन्वय : यद्यपि अस्त-दोषां कृतिं क्षुद्र-स्वभावा: निसर्गत: दूषयन्ते; तथापि (यथा) यूका भयत: शाटी न त्याज्या: (तथा) हि महा-अनुभावा: कुर्वन्ति।

वचनिका : जैसे—यूकों के भय से साड़ी त्याग करने-योग्य नहीं होती है; उसीप्रकार यद्यपि नीच-पुरुष स्वभाव से ही निर्दोष कार्यों में दूषण लगाते हैं; तथापि महा-पुरुष कार्य को करते ही हैं।

भावार्थ : जैसे लोग, यूकाओं के भय से वस्त्र का त्याग नहीं करते हैं; उसीप्रकार दुष्टों के भय से सज्जन उत्तम कार्य का त्याग नहीं करते हैं।।१०।।

अब, इस पद्य द्वारा मनुष्य-भव की दुर्लभता बताते हैं—

उपजाति : **सन्सारकान्तारमपास्तसारं, बम्भ्रम्यमाणो लभते शरीरी।**
कृच्छ्रेण नृत्वं सुखशस्यबीजं, प्ररूढदुष्कर्मशमेन भूतम्।।११।।

निस्सार कानन संसार में बहुश: भटकते इस जीव को नित।
अति कष्ट पूर्वक बहु पाप शम से सुख बीज नर-भव मिलता कदाचित्।।११।।

शब्दश: अर्थ : सन्सार-कान्तारं=संसाररूपी जंगल को; अपास्त-सारं=सार से पूर्णतया -रहित; बम्भ्रम्यमाण:=बहुत अधिक भटकता हुआ; लभते=प्राप्त होता है; शरीरी=शरीर-धारी प्राणी; कृच्छ्रेण=कष्ट से; नृत्वं=मनुष्यपने को; सुख-शस्य-बीजं=सुखरूपी धान्य का बीज; प्ररूढ-दुष्कर्म-शमेन=प्रकृष्टरूप से लगे हुए खोटे कर्म/पाप-कर्मों के शमित हो जाने से; भूतं=उत्पन्न हुआ।

अन्वय : अपास्त-सारं सन्सार-कान्तारं बम्भ्रम्यमाण: शरीरी कृच्छ्रेण प्ररूढ-दुष्कर्म-शमेन भूतं सुख-शस्य-बीजं नृत्वं लभते।

वचनिका : सार-रहित संसार-वन में अनेकरूपों में भटकता हुआ यह जीव कष्ट से/ दुर्लभता पूर्वक मनुष्यपना प्राप्त करता है। कैसा है मनुष्यपना? नित्य ही सुखरूपी धान्य के बीज-समान है और अत्यधिक विस्तृत पाप-कर्म के उपशम से उत्पन्न हुआ है।

भावार्थ : इस असार-संसार में मनुष्यपना दुर्लभ है। यह महा-पापों के उपशम से होता है तथा इससे ही मोक्ष के कारणभूत तपश्चरण आदि हो सकते हैं।।११।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मनुष्य-भव की प्रधानता स्पष्ट करते हैं–

उपेन्द्रवज्रा : **नरेषु चक्री त्रिदशेषु बज्री, मृगेषु सिंहः प्रशमो व्रतेषु।**
मतो महीभृत्सु सुवर्णशैलो, भवेषु मानुष्यभवः प्रधानम्।।१२।।

मनुजों में चक्री, देवों में इंद्र , पशुओं में सिंह, प्रशमन व्रतों में।
मेरु सुदर्शन शैलों में श्रेष्ठ, मानुष्य भव मुख्य सभी भवों में।।१२।।

शब्दशः अर्थ : नरेषु=नरों/पुरुषों में; चक्री=चक्रवर्ती; त्रिदशेषु=देवों में; बज्री=इंद्र; मृगेषु =पशुओं में; सिंह:=शेर; प्रशम:=प्रशम/शांतता; व्रतेषु=व्रतों में; मत:=माना है; महीभृत्सु =पर्वतों में; सुवर्ण-शैल:=सुदर्शन-मेरु; भवेषु=भवों में; मानुष्य-भव:=मनुष्यता वाला भव; प्रधानं=मुख्य।

अन्वय : नरेषु चक्री, त्रिदशेषु बज्री, मृगेषु सिंह:, व्रतेषु प्रशम:, महीभृत्सु सुवर्ण-शैल:, भवेषु मानुष्य-भव: प्रधानं मत:।

वचनिका : जैसे–मनुष्यों में चक्रवर्ती प्रधान है, देवों में इंद्र प्रधान है, मृगों/पशुओं में सिंह प्रधान है, व्रतों में प्रशम-भाव प्रधान है, पर्वतों में मेरु प्रधान है; उसीप्रकार भवों में मनुष्य-भव प्रधान है।।१२।।

अब, इस पद्य द्वारा मनुष्य-भव की प्रधानता को सहेतुक सिद्ध करते हैं–

उपजाति : **त्रिवर्ग-सारः सुख-रत्न-खानिर्धर्मः प्रधानो भवतीह येन।**
सम्यक्त्वशुद्धाविव धर्मलाभः, प्रधानता तेन मतास्य सद्भिः।।१३।।

सम्यक्त्व शुद्धि में धर्म-लाभ यथा त्रि-वर्गों का सार सौख्य।
मय रत्न-खानि है मुख्य धर्म, वह मनुज में इससे कहा मुख्य।।१३।।

शब्दशः अर्थ : त्रि-वर्ग-सार:=धर्म, अर्थ, कामरूप तीनों वर्गों का सार; सुख-रत्न-खानि:=सुखरूपी रत्न की खदान; धर्म:=धर्म; प्रधान:=मुख्य; भवति=होता है; इह=यहाँ/ इस लोक में; येन=जिस कारण; सम्यक्त्व-शुद्धौ=सम्यक्त्व की शुद्धि में; इव=समान; धर्म-लाभ:=धर्म की प्राप्ति; प्रधानता=मुख्यता; तेन=उस कारण; मता=मानी गई है; अस्य=इस/मनुष्य-भव की; सद्भि:=सज्जनों द्वारा।

अन्वय : सम्यक्त्व-शुद्धौ धर्म-लाभ: इव येन इह त्रि-वर्ग-सार: सुख-रत्न-खानि: प्रधान: धर्म: भवति तेन सद्भि: अस्य प्रधानता मता।

वचनिका : जैसे—सम्यक्त्व की शुद्धता होने पर धर्म का लाभ होता है; उसी प्रकार इस मनुष्य-भव में धर्म, अर्थ, कामरूप त्रि-वर्गों में सार और सुख-रत्न की खदान-स्वरूप प्रधान धर्म होता है; उस कारण से इस नर-भव की प्रधानता, संतों द्वारा मानी गई है।

भावार्थ : साक्षात् मोक्ष का कारणभूत धर्म, नर-भव में ही होता है; अत: यह नर-भव उत्तम कहा है।।१३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मनुष्य-भव की दुर्लभता बताते हैं—

उपेन्द्रवज्रा : **यथा मणिर्ग्रावगणेष्वनर्घ्यो, यथा कृतज्ञो गुणवत्सु लभ्य:।**
न सारवत्त्वेन तथाङ्गिवर्गै:, सुखेन मानुष्य-भवो भवेषु।।१४।।

पाषाण में ज्यों अनमोल रत्न, कृतज्ञ होना सब ही गुणों में।
त्यों सब भवों में सारत्व सुख से परिपूर्ण नर-भव पाना कठिन है।।१४।।

शब्दश: अर्थ : यथा=जैसे; मणि:=रत्न; ग्राव-गणेषु=पाषाण के समूहों में; अनर्घ्य:= अमूल्य; यथा=जैसे; कृतज्ञ:=किए हुए को जाननेवाला कृतज्ञता गुण; गुणवत्सु=गुणवानों में; लभ्य:=प्राप्त होना; न=नहीं; सारवत्त्वेन=सारवानपने द्वारा; तथा=उसीप्रकार; अङ्गि-वर्गै:=शरीर-धारिओं द्वारा, सुखेन=सुख से सहित; मानुष्य-भव:=मनुष्यतारूप भव; भवेषु=भवों में।

अन्वय : यथा ग्राव-गणेषु अनर्घ्य: मणि: लभ्य: न यथा गुणवत्सु कृतज्ञ: लभ्य: न तथा अङ्गिवर्गै: भवेषु सारवत्त्वेन सुखेन मानुष्य-भव: लभ्य: न।

वचनिका : जैसे—पत्थरों के समूह में अमोलक रत्न, सुलभ नहीं है और जैसे—गुणवानों में कृतज्ञ (गुण), सुलभ नहीं है; उसीप्रकार भवों में सारवानपने-मय सुख से सहित मनुष्य-भव, सुलभ नहीं है।

भावार्थ : समस्त संसार में तपश्चरण आदि के साधनपने से सारभूत मनुष्य-भव पाना, अति कठिन है।।१४।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण धर्म-सिद्धि हेतु मनुष्य-भव की अनिवार्य आवश्यकता को स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **शमेन नीतिर्विनयेन विद्या, शौचेन कीर्तिस्तपसा सपर्या।**
विना नरत्वेन न धर्म-सिद्धि: प्रजायते जातु जनस्य पथ्या।।१५।।

ज्यों नीति शम से विद्या विनय से, यश शौच से तप से अर्चना हो।
त्यों ही कभी भी नरता-विना इस हित-मय धरम की सिद्धि नहीं हो।।१५।।

शब्दश: अर्थ : शमेन=शम भाव से; नीति:=नीति; विनयेन=विनय से; विद्या=विद्या; शौचेन=शुचिता से; कीर्ति:=यश; तपसा=तप द्वारा; सपर्या=पूजा; विना=रहित; नरत्वेन= मनुष्यपने से; न=नहीं; धर्म-सिद्धि:=धर्म की सिद्धि; प्रजायते=प्रकट होती है; जातु=रंच-मात्र; जनस्य=प्राणी के; पथ्या=हित-कारी।

अन्वय : (यथा) जनस्य शमेन विना नीति: विनयेन विना विद्या शौचेन विना कीर्ति: तपसा विना सपर्या जातु न प्रजायते (तथा) नरत्वेन विना पथ्या धर्म-सिद्धि: जातु न प्रजायते।

वचनिका : जैसे—शम-भाव के विना नीति नहीं होती है, विनय के विना विद्या नहीं आती है, शुचिता अर्थात् निर्लोभता के विना कीर्ति नहीं होती है और तप के विना पूजा नहीं होती है; उसीप्रकार मनुष्यता/पुरुषत्व के विना जीव को हित-कारी धर्म की सिद्धि रंच-मात्र भी नहीं होती है।।१५।।

अब, धर्म से रहित जीवन अशोभनीय है; यह तथ्य इस पद्य द्वारा सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

उपजाति : **अन्नेन गात्रं नयनेन वक्त्रं, नयेन राज्यं लवणेन भोज्यम्।**
धर्मेण हीनं वत् जीवितव्यं, न राजते चन्द्रमसा निशीथम्।।१६।।

ज्यों अन्न विन तन, नयनों विना मुख, नीति विना राज्य नहीं सुशोभित।
भोजन नमक विन, रात्रि शशी विन, त्यों धर्म विन जीवन नहीं शोभित।।१६।।

शब्दश: अर्थ : अन्नेन=अन्न/धान्य से; गात्रं=शरीर; नयनेन=नेत्रों से; वक्त्रं=मुख; नयेन =नीति से; राज्यं=राज्य; लवणेन=नमक से; भोज्यं=भोजन की खाद्य सामग्री; धर्मेण=धर्म से; हीनं=रहित; वत्=जैसे; जीवितव्यं=जीवन; न=नहीं; राजते=सुशोभित होता है; चन्द्रमसा=चंद्रमा से; निशीथं=रात्रि।

अन्वय : वत् अन्नेन हीनं गात्रं, नयनेन हीनं वक्त्रं, नयेन हीनं राज्यं, लवणेन हीनं भोज्यं, चन्द्रमसा हीनं निशीथं न राजते (तथा) धर्मेण हीनं जीवितव्यं न राजते।

वचनिका : जैसे—अन्न से रहित शरीर, नेत्रों से रहित मुख, नीति से रहित राज्य, लवण से रहित भोजन और चंद्रमा से हीन रात्रि शोभित नहीं होती है; उसीप्रकार धर्म से रहित जीवितव्य सुशोभित नहीं होता है।।१६।।

अब, मनुष्य की शोभा धर्म से है; इसे सोदाहरण इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **शस्येन देश: पयसाब्जखण्डं शौर्येण शस्त्री विटपी फलेन।**
धर्मेण शोभामुपयाति मर्त्यो मदेन दन्ती तुरगो जवेन।।१७।।

जल से कमल-वन, तरुवर फलों से, स्व-शौर्य से शस्त्री, धान्य से ही।
सद्देश शोभित, नर धर्म से ही, मद गज सुशोभित हय वेग से ही।।१७।।

शब्दश: अर्थ : शस्येन=धान्य से; देश:=देश; पयसा=जल से; अब्ज-खण्डं=कमल-वन; शौर्येण=शूरता से; शस्त्री=शस्त्र-धारी; विटपी=वृक्ष; फलेन=फल से; धर्मेण=धर्म से; शोभां=शोभा को; उपयाति=प्राप्त होता है; मर्त्य:=मनुष्य; मदेन=मद से; दन्ती=हाथी; तुरग:=घोड़ा; जवेन=वेग से।

अन्वय : (यथा) शस्येन देश: पयसा अब्ज-खण्डं शौर्येण शस्त्री फलेन विटपी मदेन दन्ती जवेन तुरग: शोभां उपयाति (तथा) धर्मेण मर्त्य: शोभां उपयाति।

वचनिका : जैसे—धान्य से देश, जल से कमलों का वन, शूर-वीरता से शस्त्र-धारी, फलों से वृक्ष, मद से हस्ती और वेग से घोड़ा, शोभा को प्राप्त होता है; उसीप्रकार मनुष्य, धर्म से शोभा को प्राप्त होता है।।१७।।

अब, इस पद्य द्वारा, धर्म को धारण न करनेवाले मनुष्य की मूर्खता को सोदाहरण बताते हैं—

उपजाति : **मानुष्यमासाद्य सुकृच्छ्रलभ्यं न यो विबुद्धिर्विदधाति धर्मम्।**
अनन्यलभ्यं स सुवर्ण-राशिं, दारिद्र्यदग्धो विजहाति लब्ध्वा।।१८।।

महा महा दुर्लभ मनुजता पा जो मूढ धारण करता न धर्म।
दारिद्र्य-पीड़ित वह छोड़ता पा पर को नहीं लब्ध बहुत सुवर्ण।।१८।।

शब्दश: अर्थ : मानुष्यं=मानवता को; आसाद्य=प्राप्तकर; सुकृच्छ्र-लभ्यं=महा कष्ट से प्राप्त होने-योग्य; न=नहीं; य:=जो; विबुद्धि:=बुद्धि-रहित/मूर्ख; विदधाति=धारण करता है; धर्मं=धर्म को; अनन्य-लभ्यं=अन्य को नहीं प्राप्त होने-योग्य; स:=वह; सुवर्ण-राशिं=सुवर्ण के समूह को; दारिद्र्य-दग्ध:=दरिद्रता से पीड़ित; विजहाति=छोड़ देता है; लब्ध्वा=पाकर।

अन्वय : सुकृच्छ्र-लभ्यं मानुष्यं आसाद्य य: विबुद्धि: धर्मं न विदधाति दारिद्र्य-दग्ध: स: अनन्य-लभ्यं सुवर्ण-राशिं लब्ध्वा विजहाति।

वचनिका : जो बुद्धि-रहित प्राणी, कष्ट से प्राप्त होने-योग्य मनुष्यपने को प्राप्तकर धर्म को धारण नहीं करता है; दारिद्र्य से पीड़ित वह पुरुष, अन्य को प्राप्त नहीं होने-योग्य सुवर्ण-राशि को प्राप्तकर छोड़ देता है।

भाव यह है कि (दरिद्रता का कष्ट सहते हुए भी वह उसे) ग्रहण नहीं करता है।।१८।।

अब, धर्म में अनादर करनेवाली मूढवृत्ति को सोदाहरण इससे स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **अनादरं यो वितनोति धर्मे कल्याण-माला-फल-कल्पवृक्षे।**
चिन्तामणिं हस्तगतं दुरापं, मन्ये स मुग्धस्तृणवज्जहाति।।१९।।

कल्याणमाला फल कल्पतरु-सम सद्धर्म में आदर भाव न हो।
दुष्प्राप्य चिंतामणि हाथ आए को छोड़ता तृणवत् मूढ मानो।।१९।।

शब्दश: अर्थ : अनादरं=अनादर को; य:=जो; वितनोति=विस्तृत करता/बड़ाता है; धर्मे =धर्म में; कल्याण-माला-फल-कल्प-वृक्षे=कल्याणों की पंक्तिरूपी फल को देनेवाले कल्पवृक्ष में; चिन्तामणिं=चिंतामणि को; हस्तगतं=हाथ में आए; दुरापं=कठिनता से प्राप्त होने-योग्य; मन्ये=मानता हूँ; स:=वह; मुग्ध:=मूढ; तृण-वत्=घास के समान; जहाति= छोड़ता है।

अन्वय : कल्याण-माला-फल-कल्प-वृक्षे धर्मे य: अनादरं वितनोति स: मुग्ध: दुरापं हस्तगतं चिन्तामणिं तृणवत् जहाति (इति अहं) मन्ये।

वचनिका : जो प्राणी, कल्याणों की माला अर्थात् पंक्तिरूपी फल को देने के लिए कल्पवृक्ष के समान धर्म में अनादर करता है; वह मूर्ख, कठिनाई से प्राप्त होने-योग्य, हाथ में आए चिंतामणि को तृण के समान छोड़ता है—ऐसा मैं मानता हूँ।।१९।।

अब, दु:खों से बचने हेतु धर्म करना चाहिए; इस भाव को प्रस्तुत पद्य द्वारा सोदाहरण प्ररूपित करते हैं—

उपजाति : **दु:खानि सर्वाणि निहन्तु-कामैर्निष्पीडित-प्राणि-गणानि धर्म:।**
उपासनीयो विधिना विधिज्ञैरग्निर्हिमानीव दुरुत्तराणि।।२०।।

अति शीत से रक्षा हेतु अग्नि सम कष्टकर दु:खों से सुरक्षा।
हेतु विधि से विधि-विज्ञ जीवों द्वारा सुधर्म नित सेव्य माना।।२०।।

शब्दश: अर्थ : दु:खानि=दु:खों को; सर्वाणि=सभी; निहन्तु-कामै:=नष्ट करने के इच्छुक द्वारा; निष्पीडित-प्राणि-गणानि=प्राणिओं को पीड़ित करनेवाले; धर्म:=धर्म; उपासनीय:= उपासना करने-योग्य है; विधिना=विधि पूर्वक; विधिज्ञै:=विधि को जाननेवालों द्वारा; अग्नि: =आग; हिमानि=वर्फीली शीत; इव=समान; दुरुत्तराणि=कठिनता से सहन होनेवाली।

अन्वय : दुरुत्तराणि हिमानि अग्नि: इव निष्पीडित-प्राणि-गणानि सर्वाणि दु:खानि निहन्तु-कामै: विधिज्ञै: धर्म: विधिना उपासनीय:।

वचनिका : जैसे–अति दु:ख पूर्वक पार होनेवाली अति शीत को समाप्त करने की इच्छा करनेवाले जीवों द्वारा अग्नि का सेवन करना, योग्य है; उसीप्रकार प्राणिओं को पीड़ित करनेवाले समस्त दु:खों को नष्ट करने की इच्छा रखनेवाले, विधि को जाननेवाले जीवों को विधि पूर्वक धर्म का सेवन करना, योग्य है।

भावार्थ : जैसे–शीत को मिटाने के इच्छुक प्राणिओं द्वारा अग्नि का सेवन करना/आग तापना, उचित है; उसीप्रकार पर-द्रव्यों की तृष्णारूप मिथ्या-ज्ञान-जनित दु:खों को जो दूर करना चाहते हैं, उन्हें धर्म का सेवन करना, योग्य है।।२०।।

अब, धर्म के विना सुख की कांक्षा को सोदाहरण इस पद्य द्वारा निरूपित करते हैं–

उपजाति : **शस्यानि बीजं सलिलानि मेघं, घृतानि दुग्धं कुसुमानि वृक्षम्।**
काङ्क्षत्यहान्येष विना दिनेशं, धर्मं विना काङ्क्षति य: सुखानि।।२१।।

विन बीज धान्य, जलदा विना जल, विन दूध घृत, तरु विन सुमन पाना।
सूरज विना दिन की चाह व्यर्थ, सुख-कामना धर्म विना समाना।।२१।।

शब्दश: अर्थ : शस्यानि=धान्य; बीजं=बीज को; सलिलानि=जल; मेघ=बादलों को; घृतानि=घी; दुग्धं=दूध को; कुसुमानि=पुष्प; वृक्षं=पेड़ को; काङ्क्षति=चाहता है; अहानि= दिन; एष:=यह; विना=विना; दिनेशं=सूर्य को; धर्मं=धर्म को; विना=विना; काङ्क्षति=चाहता है; य:=जो; सुखानि=सुख को।

अन्वय : य: धर्मं विना सुखानि काङ्क्षति एष: बीजं विना शस्यानि, मेघं विना सलिलानि, दुग्धं विना घृतानि, वृक्षं विना कुसुमानि, दिनेशं विना अहानि काङ्क्षति।

वचनिका : जो प्राणी धर्म के विना सुख की कामना करता है; यह बीज के विना धान्य को चाहता है, मेघ के विना जल को चाहता है, दुग्ध के विना घृत को चाहता है, वृक्ष के विना फूलों को चाहता है और सूर्य के विना दिन को चाहता है।

भावार्थ : जैसे–बीज आदि, धान्य आदि के कारण हैं; उसीप्रकार धर्म, सुख का कारण है। यह कारण के विना कार्य की उत्पत्ति चाहता है; परंतु ऐसा तो होता नहीं है; अत: पुरुषार्थ पूर्वक धर्म का संग्रह करना, योग्य है।।२१।।

अब, धर्म-धारक प्राणी के पास लक्ष्मी स्वयं ही आ जाती है; इस तथ्य को प्रस्तुत पद्य द्वारा प्ररूपित करते हैं–

उपजाति : **आयान्ति लक्ष्म्य: स्वयमेव भव्यं, धर्मं दधानं पुरुषं पवित्रा:।**
प्रसून-गन्धस्थगिताखिलाशं सरोजिनी-खण्डमिवालिमाला:।।२२।।

सर्वत्र फैली फूलों महक से खुद भ्रमर आते पंकज वनों में।
त्यों धर्म-धारक भविजन समीप, स्वयमेव लक्ष्मी आती नियम से।।२२।।

शब्दश: अर्थ : आयान्ति=आते हैं; लक्ष्म्य:=वैभव; स्वयं=अपने-आप; एव=ही; भव्यं =मोक्ष जाने की योग्यतावाले; धर्मं=धर्म को; दधानं=धारण करनेवाले; पुरुषं=प्राणी को; पवित्रा:=निर्मल; प्रसून-गन्ध-स्थगित+अखिल+आशं=पुष्पों की गंध से परिपूर्ण संपूर्ण दिशावाले/सर्वत्र सुगंधित; सरोजिनी-खण्डं=कमल-वन को; इव=समान; अलि-माला =भ्रमरों का समूह।

अन्वय : प्रसून-गन्ध-स्थगित-अखिल-आशं सरोजिनी-खण्डं अलि-माला इव धर्मं दधानं भव्यं पुरुषं पवित्रा: लक्ष्म्य: आयान्ति।

वचनिका : फूलों की सुगंध से व्याप्त सभी दिशाओंवाले/सर्वत्र सुगंधित कमलों के वन की ओर जैसे—भौरों का समूह स्वयमेव आ जाता है; उसीप्रकार धर्म को धारण करनेवाले भव्य-प्राणी के पास पवित्र लक्ष्मी स्वयमेव आ जाती है।।२२।।

अब, धर्म को छोड़कर सुख की अभिलाषा से विषय-सेवन करनेरूप प्रवृत्ति को इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **निषेवते यो विषयं निहीनो, धर्मं निराकृत्य सुखाभिलाषी।**
पीयूषमत्यस्य स कालकूटं सुदुर्जरं खादति जीवितार्थी।।२३।।

जो धर्म तज सुख इच्छुक विषय का सेवन करे दुर्बुद्धि सदा ही।
वह जीवितार्थी तज कर सुधा को भक्षण करे हालाहल जहर ही।।२३।।

शब्दश: अर्थ : निषेवते=सेवन करता है; य:=जो; विषयं=पंचेंद्रिय विषय को; निहीनो= भाग्य-हीन; धर्मं=धर्म को; निराकृत्य=छोड़कर; सुख+अभिलाषी=सुख का इच्छुक; पीयूषं=अमृत को; अत्यस्य=छोड़कर; स:=वह; कालकूटं=हलाहल; सुदुर्जरं=जहर को; खादति=खाता है; जीवितार्थी=जीवन चाहनेवाला।

अन्वय : सुखाभिलाषी य: निहीन: धर्मं निराकृत्य विषयं निषेवते जीवितार्थी स: पीयूषं अत्यस्य कालकूटं सुदुर्जरं खादति।

वचनिका : जो नीच-प्राणी, धर्म का निराकरणकर सुख की अभिलाषा पूर्वक विषयों का सेवन करता है; वह अमृत का त्यागकर जीवन के लिए प्रबल कालकूट विष का भक्षण करता है।।२३।।

अब, एक क्षण के धर्म का फल भी सुख है; इस पद्य द्वारा यह बताते हैं—

उपजाति : **भोगोपभोगाय करोति दीनो दिवानिशं कर्म यथा सयत्नः।**
तथा विधत्ते यदि धर्ममेकं क्षणं तदानीं किमु नैति सौख्यम्।।२४।।

भोगोपभोगों के हेतु निश दिन जैसे करम दीन करे सयत्न।
त्यों एक क्षण धर्म करे सुधारण तब सौख्य की हो उपलब्धि क्यों न?।।२४।।

शब्दशः अर्थ : भोग+उपभोगाय=भोग-उपभोग के लिए; करोति=करता है; दीनः=दीन; दिवा-निशं=दिन-रात; कर्म=कार्य; यथा=जैसे; सयत्नः=प्रयत्न पूर्वक; तथा=उसप्रकार; विधत्ते=धारण करे; यदि=यदि; धर्मं=धर्म को; एकं क्षणं=एक क्षण/क्षण-मात्र को; तदानीं= तब; किमु=क्या; न+एति=नहीं प्राप्त हो; सौख्यं=सुखमय दशा।

अन्वय : यथा दीनः भोग-उपभोगाय सयत्नः दिवा-निशं कर्म करोति तथा यदि एकं क्षणं धर्मं विधत्ते तदानीं किमु सौख्यं न एति?

वचनिका : जैसे—यह दीन होता हुआ प्रयत्न पूर्वक रात-दिन भोगोपभोग के लिए कर्म करता है; उसप्रकार यदि क्षण-मात्र भी धर्म को धारण करे तो क्या सुख को प्राप्त नहीं होगा? होता ही होता है।।२४।।

अब, दुर्लभ मनुष्य-भव को विषय-भोग में लगानेवाले की अज्ञानता को सोदाहरण इस पद्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रवज्रा : **ये योजयन्ते विषयोपभोगे, मानुष्यमासाद्य दुरापमज्ञाः।**
निकृत्य कर्पूर-वनं स्फुटं ते, कुर्वन्ति वाटीं विष-पादपानाम्।।२५।।

जो अज्ञ दुर्लभ मानुष्य भव पा, विषयोपभोगों में हैं लगाते।
कर्पूर-वन काट प्रत्यक्ष ही वे, विष-वृक्ष-वाड़ी को हैं लगाते।।२५।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; योजयन्ते=लगाते हैं; विषय+उपभोगे=पंचेंद्रिय-विषयों के उपभोग में; मानुष्यं=मनुष्यता को; आसाद्य=पाकर; दुः+आपं=कठिनता से प्राप्त होनेवाले; अज्ञाः=अज्ञानी/अविवेकी; निकृत्य=काटकर; कर्पूर-वनं=कर्पूर-वन को; स्फुटं=प्रत्यक्ष/ हरे-भरे; ते=वे; कुर्वन्ति=करते हैं; वाटीं=वाड़ी को; विष-पादपानां=विष-वृक्षों की।

अन्वय : ये अज्ञाः दुरापं मानुष्यं आसाद्य विषय-उपभोगे योजयन्ते ते स्फुटं कर्पूर-वनं निकृत्य विष-पादपानां वाटीं कुर्वन्ति।

वचनिका : जो अज्ञानी कष्ट पूर्वक प्राप्त होने-योग्य मनुष्यपने को प्राप्तकर विषय-भोगों में लगाते हैं; वे प्रकट/हरे-भरे कर्पूर-वन को काटकर विष-वृक्षों की वाड़ी लगाते हैं।।२५।।

अब, धर्म-धारण नहीं करनेवाले का इस पद्य द्वारा सोदाहरण निरूपण करते हैं—

उपजाति : **गृह्णन्ति धर्मं विषयाकुला ये, न भङ्गुरे मङ्क्षु मनुष्य-भावे।**

प्रदह्यमाने भवनेऽग्निना ते, निस्सारयन्ते न धनानि नूनम्।।२६।।

नश्वर मनुज भव में शीघ्र ही जो विषयाकुली धर्म करें ग्रहण नहिं।

वे अग्नि में जलते भवन में से बहुमूल्य धन-धान्य निकालते नहिं।।२६।।

शब्दश: अर्थ : गृह्णन्ति=ग्रहण करते हैं; धर्मं=धर्म को; विषय+आकुला:=विषयों में आकुल; ये=जो; न=नहीं; भङ्गुरे=विनाशीक; मङ्क्षु=शीघ्र; मनुष्य-भावे=मनुष्य भाव/पर्याय में; प्रदह्यमाने=प्रकृष्टरूप से जलते हुए; भवने=घर में; अग्निना=अग्नि से; ते=वे; निस्सारयन्ते=निकालते हैं; न=नहीं; धनानि=धन/संपत्ति; नूनं=वास्तव में।

अन्वय : विषय-आकुला: ये भङ्गुरे मनुष्य-भावे धर्मं मङ्क्षु न गृह्णन्ति नूनं ते अग्निना प्रदह्यमाने भवने धनानि न निस्सारयन्ते।

वचनिका : विषयों में आकुलित जो प्राणी क्षण-भंगुर मनुष्य-भव में शीघ्र धर्म को ग्रहण नहीं करते हैं; वे वास्तव में अग्नि द्वारा जलते हुए घर में से भी धन को नहीं निकालते हैं।।२६।।

अब, इस पद्य द्वारा प्राप्त पदार्थों का कारण सोदाहरण बताते हैं—

उपजाति : **सर्वेऽपि भावा: सुख-कारिणोऽमी भवन्ति धर्मेण विना न पुन्स:।**

तिष्ठन्ति वृक्षा: फल-पुष्प-युक्ता: कालं कियन्तं खलु मूल-हीना:।।२७।।

इस जीव को सुख-कारक सभी ये होते धर्म विन नहिं कभी किंचित्।

ज्यों मूल-विरहित फल-पुष्प-युक्त तरुवर टिकेगा कितने समय तक।।२७।।

शब्दश: अर्थ : सर्वे=समस्त; अपि=भी; भावा:=पदार्थ/विषय-सामग्री; सुख-कारिण: =सुख-कारक; अमी=ये; भवन्ति=होते हैं; धर्मेण=धर्म से; विना=रहित; न=नहीं; पुन्स: =प्राणिओं को; तिष्ठन्ति=स्थित रहते हैं; वृक्षा:=पेड़; फल-पुष्प-युक्ता:=फल-फूल से सहित; कालं=समय; कियन्तं=कितने; खलु=वास्तव में; मूल-हीना:=जड़ से रहित।

अन्वय : खलु (यथा) मूल-हीना: फल-पुष्प-युक्ता: वृक्षा: कियन्तं कालं तिष्ठन्ति तथा पुन्स: धर्मेण विना सर्वे अपि ये सुख-कारिण: भावा: न भवन्ति।

वचनिका : जैसे—फल-फूलों से सहित, जड़-रहित वृक्ष वास्तव में कितने काल तक टिकता है? कुछ भी नहीं रहता है; उसी प्रकार प्राणिओं को ये सुख-कारक सभी पदार्थ, धर्म के विना नहीं होते हैं।।२७।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म-धारण के लाभ का वर्णन करते हैं—

उपजाति : **मोक्षावसानस्य सुखस्य पात्रं, भवन्ति भव्या भव-भीरव: ये।**

भजन्ति भक्त्या जिन-नाथ-वृष्टं, धर्मं निरास्वादमदूषणं ते।।२८।।

जिनवर बताए विरहित विषय से रागादि विरहित सद्धर्म धारें।
भव-भीरु भक्ति-वश भव्य पाते शिव सौख्य अविनाशी समय तक वे।।२८।।

शब्दश: अर्थ : मोक्ष+अवसानस्य=मोक्ष पर्यंत; सुखस्य=सुख के; पात्रं=योग्य; भवन्ति=होते हैं; भव्या:=मोक्ष जाने-योग्य; भव-भीरव:=संसार से भय-भीत; ये=जो; भजन्ति=भजते हैं; भक्त्या=भक्ति से; जिन-नाथ-वृष्टं=जिनेंद्र भगवान द्वारा उपदेशित; धर्मं=धर्म को; नि:+आस्वादं=विषयज आस्वाद से रहित; अदूषणं=निर्दोष; ते=वे।

अन्वय : ये भव-भीरव: भव्या: भक्त्या जिननाथ-वृष्टं निरास्वादं अदूषणं धर्मं भजन्ति ते मोक्ष-अवसानस्य सुखस्य पात्रं भवन्ति।

वचनिका : संसार से भय-भीत जो भव्य-जीव, जिननाथ द्वारा उपदेशित धर्म का भक्ति पूर्वक सेवन करते हैं; वे मोक्ष पर्यंत सुख के भाजन/पात्र होते हैं। वह धर्म कैसा है? इंद्रिय-जनित विषयों के आस्वाद से रहित है और रागादि दोषों से रहित है।

भावार्थ : जो पुरुष विषय-रहित, निर्दोष धर्म का सेवन करते हैं; वे चक्रवर्ती, इंद्र, अहमिंद्र हो मोक्ष पर्यंत सुख पाते हैं।।२८।।

अब, इस पद्य द्वारा सुवर्ण के समान परीक्षा करके ही धर्म को ग्रहण करने का निर्देश देते हैं—

उपजाति : **लक्ष्मीं विधातुं सकलां समर्थं, सुदुर्लभं विश्वजनीनमेनम्।**
परीक्ष्य गृह्णन्ति विचार-दक्षा: सुवर्णवद्वञ्चन-भीत-चित्ता:।।२९।।

संपूर्ण संपत्ति प्रदायि सक्षम, अत्यंत दुर्लभ सबका हितंकर।
यह धर्म धारो सुविचार वंचक-भय से कनकवत् बहुविध परखकर।।२९।।

शब्दश: अर्थ : लक्ष्मीं=संपत्ति को; विधातुं=रचने/देने के लिए; सकलां=संपूर्ण; समर्थं=सक्षम; सुदुर्लभं=अत्यधिक कठिनता से प्राप्त; विश्वजनीनं=संपूर्ण विश्व के लिए हितकर; एनं=यह (धर्म); परीक्ष्य=परीक्षा कर; गृह्णन्ति=स्वीकार करते हैं; विचार-दक्षा:=विचार करने में चतुर; सुवर्ण-वत्=सोने के समान; वञ्चन-भीत-चित्ता:=ठगाए जाने के भय से भीत-चित्तवाले।

अन्वय : सकलां लक्ष्मीं विधातुं समर्थं सुदुर्लभं विश्वजनीनं एनं (धर्मं) वञ्चन-भीत-चित्ता: विचार-दक्षा: परीक्ष्य गृह्णन्ति।

वचनिका : समस्त लक्ष्मी को रचने/देने में समर्थ, महा-दुर्लभ, सभी को हित उत्पन्न करनेवाला धर्म; विचार करने में प्रवीण, ठगाए जाने के भय से भीत-चित्तवाले प्राणी, सुवर्ण के समान परीक्षा करके ग्रहण करते हैं।

भावार्थ : धर्म-धर्म तो सभी कहते हैं; परंतु परीक्षा-प्रधानी, असाधारण लक्षण द्वारा परखकर उसे ग्रहण करते हैं।।२९।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म को परम विवेक पूर्वक धारण करने का उपदेश देते हैं—

उपजाति : **स्वर्गापवर्गामलसौख्यखानिं धर्मं गृहीतुं परमो विवेकः।**
सदा विधेयो हृदये पविष्टैर्बुधैस्तु तं रत्नमिवापदोषम्।।३०।।

शिव स्वर्ग की निर्मल सौख्य खानि मय धर्म को उर में ग्रहण करने।
निर्मल रतन सम उत्कट विवेक जागृत करो ज्ञानी-जन समझने।।३०।।

शब्दशः अर्थ : स्वर्ग+अपवर्ग+अमल-सौख्य-खानिं=स्वर्ग और मोक्ष के निर्दोष सौख्य की खदानरूप; धर्मं=धर्म को; ग्रहीतुं=ग्रहण करने के लिए; परमः=उत्कृष्ट; विवेकः=भेद-ज्ञान परक बुद्धि; सदा=हमेशा; विधेयः=धारण किया जाना चाहिए; हृदये=हृदय में; पविष्टैः=उत्तम; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; तु=वास्तव में; तं=उस; रत्नं=मणि को; इव=समान; अपदोषं=निर्मल।

अन्वय : अपदोषं रत्नं इव स्वर्ग-अपवर्ग-अमल-सौख्य-खानिं तं धर्मं ग्रहीतुं तु पविष्टैः बुधैः हृदये सदा परमः विवेकः विधेयः।

वचनिका : स्वर्ग और मोक्ष के निर्मल सुखों की खानि-स्वरूप धर्म को ग्रहण करने के लिए पंडित-जनों को हृदय में परम विवेक, सदा करने योग्य है। ज्ञानवान, उस धर्म को निर्दोष-रत्न के समान ग्रहण करते हैं।।३०।।

'धर्म' शब्द, एक होने पर भी भाव में अंतर है; इस तथ्य को सोदाहरण प्रस्तुत पद्य द्वारा प्ररूपित करते हैं—

उपजाति : **तं शब्दमात्रेण वदन्ति धर्मं, विश्वेऽपि लोका न विचारयन्ते।**
स शब्दसाम्येऽपि विचित्रभेदैर्विभिद्यते क्षीरमिवार्चनीयम्।।३१।।

सब जन कहें धर्म सुशब्द-मात्र, चिंतन करें न निर्दोष लक्षण।
है शब्द साम्य पर पूज्य धर्म, बहु भेद से भेदित दुग्ध-सम यह।।३१।।

शब्दशः अर्थ : तं=उस; शब्द-मात्रेण=शब्द-मात्र से; वदन्ति=कहते हैं; धर्मं=धर्म को; विश्वे=जगत में; अपि=भी/परंतु; लोकाः=प्राणी; न=नहीं; विचारयन्ते=विचार करते हैं; सः=वह/धर्म; शब्द-साम्ये=शब्द की समानता होने पर; अपि=भी; विचित्र-भेदैः=अनेक प्रकार के भेदों से; विभिद्यते=अनेकरूपों में भिन्न-भिन्न हो जाता है; क्षीरं=दूध को; इव=समान; अर्चनीयं=पूज्य।

अन्वय : क्षीरं इव तं अर्चनीयं धर्मं विश्वे अपि शब्द-मात्रेण वदन्ति लोकाः विचारयन्ते न, शब्द-साम्ये अपि स विचित्र-भेदैः विभिद्यते।

वचनिका : उस धर्म को शब्द-मात्र द्वारा सभी लोग कहते हैं; परंतु विचार नहीं करते। वह पूज्य धर्म, शब्द की समानता होने पर भी अनेक प्रकार के भेदों द्वारा भेदरूप हो जाता है।

भावार्थ : जैसे—आक का दूध और गाय का दूध, नाम-मात्र तो समान है; परंतु गुणों की अपेक्षा दोनों में बहुत बड़ा भेद है; उसीप्रकार धर्म-धर्म तो सभी कहते हैं; परंतु वीतराग-भावरूप जिन-धर्म में और अन्य-धर्म में बहुत बड़ा अंतर है।।३१।।

अब, इस पद्य द्वारा पाँच पापों के त्याग का उपदेश देते हैं—

इन्द्रवज्रा : : **हिन्सानृत-स्तेय-वराङ्ग-सङ्ग-ग्रन्थ-ग्रहा दत्तदुरन्तदुःखाः।**
धर्मेषु येष्वत्र भवन्ति निन्द्यास्ते दूरतो बुद्धिमता विवर्ज्याः।।३२।।

अति दुःख-दाई हिंसा असत्य चोरी अब्रम्ह परिग्रह पिशाच।
जिनधर्म में निंद्य अतः यहाँ वे धीमान द्वारा परिपूर्ण त्याज्य।।३२।।

शब्दशः अर्थ : हिन्सा+अनृत-स्तेय-वराङ्ग-सङ्ग-ग्रन्थ-ग्रहाः=हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहरूपी पिशाच; दत्त-दुरन्त-दुःखाः=अत्यधिक दुःख-दाई; धर्मेषु=धर्मों में; येषु=जिन; अत्र=यहाँ; भवन्ति=हैं; निन्द्याः=निंदा के योग्य; ते=वे; दूरतः=दूर से; बुद्धिमता =बुद्धिमान द्वारा; विवर्ज्याः=विशेषरूप से छोड़ने-योग्य हैं।

अन्वय : दत्त-दुरन्त-दुःखाः हिन्सा-अनृत-स्तेय-वराङ्ग-सङ्ग-ग्रन्थ-ग्रहाः येषु धर्मेषु निन्द्याः भवन्ति ते अत्र बुद्धिमता दूरतः विवर्ज्याः।

अथवा : अत्र येषु धर्मेषु निन्द्याः दत्त-दुरन्त-दुःखाः हिन्सा-अनृत-स्तेय-वराङ्ग-सङ्ग-ग्रन्थ-ग्रहाः भवन्ति, ते बुद्धिमता दूरतः विवर्ज्याः।

वचनिका : यहाँ जिन धर्मों में, निंदनीय, घोर-दुःख देनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रहरूपी पिशाच हैं; वे धर्म, बुद्धिमानों को दूर से ही त्याग करने-योग्य हैं।।३२।।

धर्म का अंश भी कहाँ-कहाँ संभव नहीं? अब, इस पद्य द्वारा उन्हें बताते हैं—

उपजाति : **निहन्यते यत्र शरीरिवर्गः, निपीयते मद्यमुपास्यते स्त्री।**
बोभुज्यते मान्समनर्थमूलं, धर्मस्य मात्रापि न तत्र नूनम्।।३३।।

जिसमें सतत घातें प्राणिओं को, मदिरा पिएं सेवें अन्य स्त्री।
अनर्थमूलक बहु मांस खाएं, उसमें धरम-लेश कहीं नहीं ही।।३३।।

शब्दश: अर्थ : निहन्यते=मारा जाता है; यत्र=जहाँ; शरीर-वर्ग:=अनेकों जीव; निपीयते=पी जाती है; मद्यं=शराब; उपास्यते=भोगी जाती है; स्त्री=पर-महिला; बोभुज्यते=खाया जाता है; मान्सं=मांस; अनर्थमूलं=सभी अनर्थों की जड़रूप; धर्मस्य=धर्म का; मात्र=लेश; अपि =भी; न=नहीं; तत्र=वहाँ; नूनं=वास्तव में।

अन्वय : यत्र शरीर-वर्ग: निहन्यते, मद्यं निपीयते, स्त्री उपास्यते, अनर्थमूलं मान्सं बोभुज्यते, तत्र नूनं धर्मस्य मात्रा अपि न।

वचनिका : जिसमें जीवों के समूह मारते हैं; मदिरा पी जाती है, पर-स्त्री भोगी जाती है, अनर्थ का मूल मांस खाया जाता है; उसमें नियम से धर्म का अंश भी नहीं है।।३३।।

'हिंसादि होते हुए धर्म नहीं होता है' इस तथ्य को अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा सोदाहरण बताते हैं—

उपेन्द्रवज्रा : **वधादय: कल्मषहेतवो ये, न सेवितास्ते वितरन्ति धर्मम्।**
न कोद्रवा: क्वापि वसुन्धरायां, निधीयमाना जनयन्ति शालीन्।।३४।।
जो पाप-कारण हिंसादि भावों को नहीं करते वे धर्म करते।
बोने से कोदों भूमि में जैसे चावल कहीं भी उगते नहीं हैं।।३४।।

शब्दश: अर्थ : वध+आदय:=हिंसा आदि; कल्मष-हेतव:=पाप के कारण; ये=जो; न= नहीं; सेविता:=सेवन करते हैं; ते=वे; वितरन्ति=फैलाते हैं; धर्मं=धर्म को; न=नहीं; कोद्रवा:=कोदों; क्व+अपि=कहीं भी; वसुन्धरायां=पृथ्वी में; निधीयमाना:=बोए हुए; जनयन्ति=उत्पन्न करते हैं; शालीन्=धान/चावलों को।

अन्वय : (यथा) क्व अपि वसुन्धरायां निधीयमाना: कोद्रवा: शालीन् न जनयन्ति; (तथा) ये कल्मष-हेतव: वध-आदय: न सेविता: ते धर्मं वितरन्ति।

वचनिका : जैसे—पृथ्वी में बोए गए कोदों कहीं भी धान/चावलों को उत्पन्न नहीं करते हैं; उसीप्रकार जो पाप के कारणभूत हिंसा आदि हैं, उनका सेवन करते हुए धर्म का विस्तार नहीं होता है।।३४।।

अब, धर्म के लिए हिंसादि करनेवालों को इस पद्य द्वारा सोदाहरण समझाते हैं—

उपजाति : **हिन्सापरस्त्रीमधुमान्स-सेवां कुर्वन्ति धर्माय विबुद्धयो ये।**
पीयूषलाभाय विवर्धयन्ते विषद्रुमास्ते विविधैरुपायै:।।३५।।
हिंसा परस्त्री मधु मांस सेवन जो धर्म हेतु करते विमूढी।
पाने सुधा वे बहुविध उपायों से नित बड़ाते विष वृक्ष को ही।।३५।।

शब्दश: अर्थ : हिन्सा-परस्त्री-मधु-मान्स-सेवां=हिंसा, कुशील, शहद, मांस का सेवन; कुर्वन्ति=करते हैं; धर्माय=धर्म के लिए; विबुद्धय:=दुर्बुद्धि; ये=जो; पीयूष-लाभाय=अमृत को पाने के लिए; विवर्धयन्ते=बड़ाते हैं; विष-द्रुमा:=विष-वृक्ष; ते=वे; विविधै:=अनेक प्रकार के; उपायै:=उपायों द्वारा।

अन्वय : ये विबुद्धय: धर्माय हिन्सा-परस्त्री-मधु-मान्स-सेवां कुर्वन्ति, ते पीयूष-लाभाय विविधै: उपायै: विष-द्रुमा: विवर्धयन्ते।

वचनिका : जो दुर्बुद्धि धर्म के लिए हिंसा, पर-स्त्री, मधु, मांस का सेवन करते हैं; वे अमृत के लिए अनेक उपायों द्वारा विष-वृक्ष को बड़ाते हैं।।३५।।

अब, इस पद्य द्वारा यह निर्देश देते हैं कि हिंसादि-पोषक शास्त्रों को सुनना भी योग्य नहीं है—

इन्द्रवज्रा : **ये मद्यमान्साङ्गिवधादयो यैर्निर्माणयुक्ता: कुशलाय शास्त्रै:।**
आकर्णनीयानि न तानि दक्षै: शत्रूदितानीव वचान्सि जातु।।३६।।

जिनमें बताया मद मांस हिंसा कल्याण हेतु वे शास्त्र हैं नहिं।
श्रवणीय किंचित् सुविवेकिओं को शत्रु उदय-पोषक वचन सम ही।।३६।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; मद्य-मान्स-अङ्गि-वध-आदय:=शराब, मांस, प्राणी-वध/ हिंसा आदि; यै:=जिन; निर्माण-युक्ता:=रचना/करना उचित; कुशलाय=कल्याण के लिए; शास्त्रै:=शास्त्रों द्वारा; आकर्णनीयानि=सुनना-योग्य; न=नहीं; तानि=उन्हें; दक्षै:=विवेकिओं द्वारा; शत्रु+उदितानि=शत्रुओं के उदय संबंधी; इव=समान; वचान्सि=वचन; जातु=रंच-मात्र।

अन्वय : यै: शास्त्रै: ये मद्य-मान्स-अङ्गि-वध-आदय: कुशलाय निर्माण-युक्ता: (इति निरूपिता:) तानि शत्रु उदितानि वचान्सि इव दक्षै: जातु न आकर्णनीयानि।

वचनिका : 'इन मद्य, मांस, जीव-हिंसा आदि की रचना, मंगल के लिए है'—ऐसा जिन-शास्त्रों द्वारा बताया गया है; वे शास्त्र, शत्रु के वचनों के समान पंडितों द्वारा कभी भी सुनने-योग्य नहीं हैं।।३६।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा आदि पोषक शास्त्रों की विनय आदि का फल बताते हैं—

उपजाति : **पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति भक्त्या, स्तुवन्ति रक्षन्ति, नयन्ति वृद्धिम्।**
ये तानि शास्त्राण्यनुमन्यमानास्ते यान्ति सर्वेऽपि कुयोनिमग्ना:।।३७।।

जो पाप-पोषक शास्त्रों को पढ़ते सुनते बताते रखते बड़ाते।
भक्ति से मानें अज्ञानि वे सब इनसे कुयोनी में भटकते।।३७।।

शब्दश: अर्थ : पठन्ति=पढ़ते हैं; शृण्वन्ति=सुनते हैं; वदन्ति=कहते हैं; भक्त्या=भक्ति से; स्तुवन्ति=स्तुति करते हैं; रक्षन्ति=रक्षा करते हैं; नयन्ति=ले जाते हैं; वृद्धिं=वृद्धि को; ये=जो; तानि=उन/हिंसादि-पोषक; शास्त्राणि=शास्त्रों को; अनुमन्यमाना:=मानते हैं; ते=वे; यान्ति=जाते हैं; सर्वे+अपि=सभी; कुयोनिं=बुरी योनि को; अज्ञा:=अज्ञानी।

अन्वय : तानि शास्त्राणि अनुमन्यमाना: ये अज्ञा: (तानि) भक्त्या पठन्ति शृण्वन्ति वदन्ति स्तुवन्ति रक्षन्ति वृद्धिं नयन्ति ते सर्वे अपि कुयोनिं यान्ति।

वचनिका : जो प्राणी, उन पापरूप शास्त्रों को नमन करते हुए भक्ति पूर्वक पढ़ते हैं, सुनते हैं, कहते हैं, स्तुति करते हैं, रक्षा करते हैं, बड़ाते हैं; वे सभी अज्ञानी कुगति को प्राप्त होते हैं; नरक, तिर्यंच आदि गतिओं में अनंत काल पर्यंत भटकते हैं।।३७।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसादि को धर्म मानने से होनेवाली अव्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं—

उपजाति : **धर्मं ददन्तेऽङ्गिवधादयोऽमी, विधीयमाना यदि नाम तथ्यम्।**
सान्सारिकाचारविधौ प्रवृत्ता, न पापिन: केऽपि तदा भवन्ति।।३८।।

करते हुए हिंसा आदि को भी यदि वास्तविक धर्म बताएं मानें।
तो सांसारिक वृत्ति प्रवृत्ति वाले नहीं पापी कोई होते।।३८।।

शब्दश: अर्थ : धर्मं=धर्म; ददन्ते=देते हैं; अङ्गि-वध+आदय:=प्राणी-वध/हिंसा आदि; अमी=ये; विधीयमाना:=किए जानेवाले; यदि=यदि; नाम=संज्ञा; तथ्यं=वास्तविक; सान्सारिक+आचार-विधौ=लौकिक जीवन को चलाने की विधि में; प्रवृत्ता:= प्रवर्तते हुए; न=नहीं; पापिन:=पापी; के=कोई; अपि=भी; तदा=तब; भवन्ति=होते हैं।

अन्वय : विधीयमाना: अमी अङ्गि-वध-आदय: यदि तथ्यं धर्मं नाम ददन्ते, तदा सान्सारिक-आचार-विधौ प्रवृत्ता: के अपि पापिन: न भवन्ति।

वचनिका : किए जानेवाले हिंसा आदि यदि प्रकट रूप में सत्यार्थ धर्म को देते हैं; तो लौकिक आचार की विधि में प्रवर्तनेवाला कोई भी पापी नहीं होता।

भावार्थ : यदि हिंसादि ही धर्म हैं; तो कसाई, भील, धीवर आदि सभी धर्मात्मा सिद्ध होंगे; अत: हिंसादि धर्म नहीं हैं—ऐसा जानना।।३८।।

रागादि दोषों-संपन्न व्यक्तिओं द्वारा रचे गए शास्त्र, प्रामाणिक नहीं हैं; प्रस्तुत पद्य द्वारा अब, ऐसा निरूपण करते हैं—

उपजाति : **रागादिदोषाकुलमानसैर्ये ग्रन्था: क्रियन्ते विषयेषु लोलै:।**
कार्या: प्रमाणं न विचक्षणैस्ते जिघृक्षुभिर्धर्ममगर्हणीयम्।।३९।।

रागादि दोषों से चित्त व्याकुल विषयों में चंचल नर ने बनाए।
निर्दोष धर्मेच्छु चतुर मनुज को वे ग्रंथ ग्रहणीय कभी नहीं हैं।।३९।।

शब्दश: अर्थ : राग+आदि-दोष+आकुल-मानसै:=रागादि दोषों से व्याकुल मनवाले; ये=जो; ग्रन्था:=शास्त्र; क्रियन्ते=किए गए हैं; विषयेषु=इंद्रिय-विषयों में; लोलै:=चंचल द्वारा; कार्या:=करना चाहिए; प्रमाणं=प्रमाण/स्वीकार; न=नहीं; विचक्षणै:= विवेकवानों द्वारा; जिघृक्षुभि:=ग्रहण करने के वांक्षक; धर्मं=धर्म; अगर्हणीयं=निर्दोष।

अन्वय : रागादि-दोष-आकुल-मानसै: विषयेषु लोलै: ये ग्रन्था: क्रियन्ते ते अगर्हणीयं धर्मं जिघृक्षुभि: विचक्षणै: प्रमाणं न कार्या:।

वचनिका : रागादि दोषों से व्याकुल और विषयों में चंचल व्यक्तिओं द्वारा जो ग्रंथ कहे (किए) गए हैं; वे ग्रंथ, अनिंद्य धर्म को ग्रहण करने के वांक्षक प्रवीण व्यक्तिओं द्वारा प्रमाण करना, योग्य नहीं है।

भावार्थ : रागी-द्वेषिओं द्वारा रचे शास्त्र, अप्रमाण हैं।।३९।।

अब, इस पद्य द्वारा 'निर्दोषी, सर्वज्ञ के वचन ही प्रमाण हैं'; ऐसा निर्देश देते हैं—

उपजाति : **ये द्वेष-रागाश्रय-लोभ-मोह-प्रमाद-निद्रा-मद-खेदहीना:।**
विज्ञात-नि:शेष-पदार्थ-तत्त्वास्तेषां प्रमाणं वचनं विधेयम्।।४०।।

जो लोभ निद्रा मद खेद मोह प्रमाद हैं आश्रय राग द्वेष।
इनसे रहित जानें सभी अर्थ उनके वचन ही सत्यार्थ स्वीकृत।।४०।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; द्वेष-राग+आश्रय-लोभ-मोह-प्रमाद-निद्रा-मद-खेद-हीना:=द्वेष और राग के आधारभूत लोभ, मोह, प्रमाद, निद्रा, मद, खेद से रहित; विज्ञात-नि:शेष-पदार्थ-तत्त्वा:=समस्त पदार्थों और स्वभावों को जाननेवाले; तेषां=उनके; प्रमाणं=प्रमाण/सत्य/स्वीकार्य; वचनं=वचन; विधेयं=मानना चाहिए।

अन्वय : ये द्वेष-राग-आश्रय-लोभ-मोह-प्रमाद-निद्रा-मद-खेद-हीना: विज्ञात-नि:शेष-पदार्थ-तत्त्वा: तेषां वचनं प्रमाणं विधेयम्।

वचनिका : जो द्वेष और राग के आश्रयभूत लोभ, मोह, प्रमाद, निद्रा, मद, खेद से रहित

हैं; जिन्होंने समस्त पदार्थों के स्वभाव जान लिए हैं; उनके वचन प्रमाण करना, योग्य है।

भावार्थ : सर्वज्ञ, वीतराग के वचन प्रमाण करना, योग्य है; क्योंकि यदि रागी है तो असत्य कहता है और यदि सर्वज्ञ नहीं है तो यथार्थ जानकारी के विना क्या कहे? अत: सर्वज्ञ, वीतराग ही के वचन, प्रमाण हैं।।४०।।

अब, इस पद्य द्वारा 'निर्दोषी के ही वचन सत्य हैं'; इसे सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **रागादि-दोषा न भवन्ति येषां, न सन्त्यसत्यानि वचान्सि तेषाम्।**
हेतुव्यपाये न हि जायमानं, विलोक्यते किञ्चन कार्यमार्यैः।।४१।।

जिनके नहीं हैं रागादि दोष उनके वचन होते नहिं असत्य।
कारण नहीं होने पर कदापि, होता न कार्य यह तथ्य सत्य।।४१।।

शब्दश: अर्थ : राग+आदि-दोषा:=रागादि दोष; न=नहीं; भवन्ति=होते हैं; येषां=जिनके; न=नहीं; सन्ति=होते हैं; असत्यानि=मिथ्या; वचान्सि=वचन; तेषां=उनके; हेतु-व्यपाये =कारण के नष्ट होने पर; न=नहीं; हि=वास्तव में; जायमानं=उत्पन्न होता हुआ; विलोक्यते= देखा जाता है; किञ्चन=कुछ; कार्यं=कार्य; आर्यैः=महा-पुरुषों द्वारा।

अन्वय : येषां रागादि-दोषा: न भवन्ति तेषां वचान्सि असत्यानि न सन्ति, हि हेतु-व्यपाये किञ्चन जायमानं कार्यं आर्यैः न विलोक्यते।

वचनिका : जिनके राग-द्वेष नहीं हैं; उनके वचन, असत्य नहीं हैं; क्योंकि कारण का नाश हो जाने पर कुछ भी कार्य, महा-पुरुषों द्वारा नहीं देखा जाता है।

भावार्थ : जैसे—मिट्टी आदि कारणों का अभाव होने पर घड़ा आदि कार्य दिखते नहीं हैं; उसीप्रकार असत्य वचन के कारण, रागादि हैं। रागादि के विना वचन, असत्य नहीं होते हैं—ऐसा जानना।।४१।।

अब, इस पद्य द्वारा गुरु का महत्त्व स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो, जानाति धर्मं न विचक्षणोऽपि।**
निरीक्षते कुत्र पदार्थ-जातं, विना प्रकाशं शुभलोचनोऽपि।।४२।।

गुणों के सागर गुरु विन विचक्षण भी धर्म का मर्म न जान पाए।
परिपूर्ण लोचन युत भी उजाले-विन वस्तुओं को नहिं देख पाए।।४२।।

शब्दश: अर्थ : विना=रहित; गुरुभ्य:=गुरु से; गुण-नीरधिभ्य:=गुणों के सागर; जानाति= जानता है; धर्मं=धर्म को; न=नहीं; विचक्षण:=विशेष चतुर; अपि=भी; निरीक्षते=देख

पाता है; कुत्र=कहाँ; पदार्थ-जातं=पदार्थों के समूह को; विना=रहित; प्रकाशं=प्रकाश को; शुभ-लोचन:=अच्छे नेत्रवाला; अपि=भी।

अन्वय : (यथा) शुभ-लोचन: अपि प्रकाशं विना पदार्थ-जातं कुत्र निरीक्षते (तथा) गुण-नीरधिभ्य: गुरुभ्य: विना विचक्षण: अपि धर्मं न जानाति।

वचनिका : जैसे—शुभ नेत्र-सहित व्यक्ति भी प्रकाश के विना पदार्थों के समूह को कहीं देखता है? अपितु नहीं देख पाता है; (उसीप्रकार) चतुर-व्यक्ति भी गुणों के समुद्र गुरु के विना धर्म को नहीं जान पाता है।।४२।।

धर्म का ग्रहण किनसे करना चाहिए? अब, इस प्रश्न का समाधान प्रस्तुत पद्य द्वारा करते हैं—

उपजाति : **ये ज्ञानिनश्चारुचरित्रभाज: ग्राह्यो गुरूणां वचनेन तेषाम्।**
सन्देहमत्यस्य बुधेन धर्मो, विकल्पनीयं वचनं परेषाम्।।४३।।

ज्ञानी सुसुंदर चारित्र-धारी जो उन गुरु वचनों से ग्रहो अब।
संदेह तज विद्वानो धर्म को, हैं अन्य के वच संदेह-योग्य।।४३।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; ज्ञानिन:=ज्ञानी; चारु-चरित्र-भाज:=सुंदर-चारित्र-धारक; ग्राह्य: =ग्रहण करने-योग्य; गुरूणां=गुरुओं के; वचनेन=वचन से; तेषां=उनके; सन्देहं=संदेह/ भ्रांति को; अत्यस्य=छोड़कर; बुधेन=बुद्धिमान द्वारा; धर्म:=धर्म; विकल्पनीयं=संदेह करने -योग्य; वचनं=वचन; परेषां=दूसरों के।

अन्वय : ये ज्ञानिन: चारु-चरित्र-भाज: तेषां गुरूणां वचनेन सन्देहं अत्यस्य बुधेन धर्म: ग्राह्य:, परेषां वचनं विकल्पनीयम्।

वचनिका : जो ज्ञानवान और सुंदर चारित्र के धारक हैं, उन गुरुओं के वचनों द्वारा संदेह छोड़कर पंडित पुरुषों द्वारा धर्म-ग्रहण करना, योग्य है। ऐसे गुरुओं के अतिरिक्त अन्य के वचन विकल्पनीय अर्थात् संदेह-योग्य हैं।।४३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण धर्म-परीक्षण-विधि का वर्णन करते हैं—

उपजाति : **भीतैर्यथा वञ्चनत: सुवर्णं, प्रताडनच्छेदनतापघर्षै:।**
तथा तप: संयमशीलशौचै:* परीक्षणीयो गुरुशब्दबोधै:।।४४।।

---

* प्रकाशित प्रतिओं में इस स्थान पर 'बोधै:' पद है; परंतु हस्त-लिखित और वचनिका में इसका अर्थ निर्लोभपना किया है; जो उचित लगता है; क्योंकि 'बौधै:' तो अंतिम पद में आया है; अत: मैंने 'शौचै:' पद ही रखा है। शोधार्थी निर्णय करें।

ठगने के डर से ज्यों स्वर्ण ताड़न छेदन तपा घिस भारी ध्वनि से।
करते परीक्षा त्यों धर्म संयम तप शील शौच गुरु-ज्ञान-वच से।।४४।।

शब्दश: अर्थ : भीतै:=भय से; यथा=जैसे; वञ्चनत:=ठगाए जाने से; सुवर्णं=सोना; प्रताडनच्छेदन-ताप-घर्षै:=कूटने, छेदने, तपाने, घिसने से; तथा=उसीप्रकार; तप:-संयम-शील-शौचै:=तप, संयम, शील, शौच/निर्लोभता से; परीक्षणीय:=परीक्षा के योग्य है; गुरु-शब्द-बौधै:=(सुवर्ण अर्थ में) भारी ध्वनि के ज्ञान से; (धर्म अर्थ में) गुरु के वचन और ज्ञान से।

अन्वय : यथा वञ्चनत: भीतै: प्रताडन-छेदन-ताप-घर्षै: गुरु-शब्द-बोधै: सुवर्णं परीक्षणीय: तथा तप:-संयम-शील-शौचै: गुरु-शब्द-बोधै: (धर्मं) परीक्षणीय:।

वचनिका : जैसै—ठगाए जाने से भय-भीत पुरुषों द्वारा सुवर्ण को कूटकर, छेदकर, तपाकर, घिसकर, पटककर भारी शब्द/ध्वनि द्वारा परखना, योग्य है; उसीप्रकार तप, संयम, शील, निर्लोभपना, गुरु के वचनों और ज्ञान द्वारा धर्म को परखना, योग्य है।

यहाँ ''गुरु-शब्द-बोधै:''—इस पद का अर्थ सुवर्ण पक्ष में 'गुरु=भारी, शब्द=ध्वनि के, बोधै:=ज्ञान द्वारा'—ऐसा लगा लेना।।४४।।

अब, इस पद्य द्वारा गुरु के महत्त्व को पुन: सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

उपजाति : **सन्सारमुद्धूतकषायदोषं लिलङ्घयन्ते गुरुणा विना ये।**
विभीमनक्रादिगणं ध्रुवं ते, वार्धिं तितीर्षन्ति विना तरण्डम्।।४५।।

कषाय दोषादि व्यक्त भव को जो गुरु विना चाहें पार करना।
विकराल मगरादि समूह सागर नौका विना चाहें पार करना।।४५।।

शब्दश: अर्थ : सन्सारं=संसार को; उद्धूत-कषाय-दोषं=कषायरूपी दोषों की प्रकटतावाले; लिलङ्घयन्ते=विशेषरूप से लाँघना चाहते हैं; गुरुणा=गुरु से; विना=रहित; ये=जो; विभीम-नक्र+आदि-गणं=अति भयंकर मगर आदि के समूहवाले; ध्रुवं=निश्चित ही; ते=वे; वार्धिं=समुद्र को; तितीर्षन्ति=पार करना चाहते हैं; विना=रहित; तरण्डं=नौका को।

अन्वय : ये उद्धूत-कषाय-दोषं सन्सारं गुरुणा विना लिलङ्घयन्ते ते ध्रुवं विभीम-नक्र-आदि-गणं वार्धिं तरण्डं विना तितीर्षन्ति।

वचनिका : जो प्राणी, कषायरूपी दोषों की उत्पत्ति से सहित संसार-सागर को श्रीगुरु के विना विशेषरूप से लाँघना चाहते हैं; वे वास्तव में महा-भयानक नक्र आदि के समूह से व्याप्त समुद्र को नाव के विना तैरना चाहते हैं।।४५।।

अब, इस पद्य द्वारा महा कृतघ्नी का लक्षण बताते हैं—

उपजाति : **येषां प्रसादेन मनः करीन्द्रः, क्षणेन वश्यो भवतीह दुष्टः।**
भजन्ति ये तान् गुणिनो न भक्त्या, तेभ्यः कृतघ्ना न परे भवन्ति।।४६।।

जिनकी कृपा से मन मयी दुष्ट गज हो पलक में वश यहाँ तो भी।
उन गुणी–गुरु को नहिं भक्ति पूर्वक भजते कृतघ्नी उन सम न कोई।।४६।।

शब्दशः अर्थ : येषां=जिनकी; प्रसादेन=कृपा से; मनः–करि+इन्द्रः=मनरूपी श्रेष्ठ हाथी; क्षणेन=क्षण भर में; वश्यः=वश में; भवति=हो जाता है; इह=यहाँ; दुष्टः=उद्दंड; भजन्ति =भजते हैं; ये=जो; तान्=उन; गुणिनः=गुणी को; न=नहीं; भक्त्या=भक्ति पूर्वक; तेभ्यः =उनसे; कृतघ्नाः=किए हुए उपकार को न माननेवाले; न=नहीं; परे=दूसरे; भवन्ति=हैं।

अन्वय : इह येषां प्रसादेन दुष्टः मनः करीन्द्रः क्षणेन वश्यः भवति तान् गुणिनः भक्त्या ये न भजन्ति तेभ्यः परे कृतघ्नाः न भवन्ति।

वचनिका : यहाँ लोक में जिनके प्रसाद से दुष्ट मनरूपी गजेंद्र क्षण–मात्र में वश हो जाता है; उन गुणवान गुरुओं का जो भक्ति–सहित सेवन नहीं करते हैं; उनसे भिन्न और कृतघ्नी कौन है?।।४६।।

अब, इस पद्य द्वारा गुरु की कृपा के फल का निरूपण करते हैं–

उपजाति : **कृतोपकारो गुरुणा मनुष्यः, प्रपद्यते धर्म–परायणत्वम्।**
चामीकरस्येव सुवर्णभावं, सुवर्णकारेण विशारदेन।।४७।।

गुरु कृपा से ही प्राप्त करता प्राणी परायणता सद्धरम में।
होता कनक सोलहवान कुंदन सौवर्णकारों की कुशलता से।।४७।।

शब्दशः अर्थ : कृता=किया गया; उपकारः=भलाई; गुरुणा=गुरु द्वारा; मनुष्यः=प्राणी, प्रपद्यते=प्राप्त हो जाता है; धर्म–परायणत्वं=धर्म–परायणता को; चामीकरस्य=मलिन स्वर्ण का; इव=समान; सुवर्ण–भावं=सुवर्ण–भाव/सोलह–वानी सुवर्णता को; सुवर्णकारेण= सुवर्णकार द्वारा; विशारदेन=चतुर।

अन्वय : विशारदेन सुवर्णकारेण चामीकरस्य सुवर्णभावं इव गुरुणा कृता उपकारः मनुष्यः धर्म–परायणत्वं प्रपद्यते।

वचनिका : जैसे—चतुर सुनार द्वारा स्वर्ण, सुवर्ण/अच्छे रंग–युक्त/पूर्ण शुद्ध सुवर्ण–भावरूप हो जाता है; उसीप्रकार गुरु द्वारा किए गए उपकारवाला प्राणी, धर्म–परायणता को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ : जैसे—सुनार की संगति से सोना, सोलह-वानवाला हो जाता है; उसी प्रकार श्रीगुरु के प्रसाद से जीव, धर्म को प्राप्त हो जाता है—ऐसा जानना।।४७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण गुरु की सामर्थ्य का प्रतिपादन करते हैं—

उपजाति : **विवर्तमानो व्रततो गुरुभ्यो न शक्यते वारयितुं परेण।**
व्यलीकवादी व्यवहारकार्ये साक्षीकृतैरेव नियम्यते हि।।४८।।

व्रत से परांमुख को रोकने में, नहिं अन्य कोई गुरु ही समर्थ।
व्यवहार कामों में झूठ-वादी को रोकने साक्षी-कृत समर्थ।।४८।।

शब्दशः अर्थ : विवर्तमानः=परांमुख होता हुआ; व्रततः=व्रत से; गुरुभ्यः=गुरुओं से; न=नहीं; शक्यते=समर्थ है; वारयितुं=रोकने के लिए; परेण=अन्य द्वारा; व्यलीक-वादी =असत्य-वादी; व्यवहार-कार्ये=लौकिक कार्य में; साक्षी-कृतैः=साक्षी करनेवालों द्वारा; एव=ही; नियम्यते=रोका जाता है; हि=वास्तव में।

अन्वय : (यथा) हि व्यवहार-कार्ये व्यलीक-वादी साक्षी-कृतैः एव नियम्यते, (तथा) व्रततः विवर्तमानः वारयितुं गुरुभ्यः शक्यते, परेण न शक्यते।

वचनिका : जैसे—व्यवहार-कार्य में झूठ बोलनेवाला व्यक्ति, साक्षी करनेवाले/प्रत्यक्ष-दर्शी द्वारा ही वास्तव में रोका जाता है; उसीप्रकार व्रत से परांमुख होता हुआ प्राणी, गुरु के अतिरिक्त अन्य द्वारा रोकने को समर्थ नहीं होता है।।४८।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण आचार्य की गरिमा को प्रदर्शित करते हैं—

उपजाति : **दुग्धेन धेनुः कुसुमेन वल्ली, शीलेन भार्या सरसी जलेन।**
न सूरिणा भाति विना व्रतास्था, शमेन विद्या नगरी जनेन।।४९।।

गो दूध विन बेली फूल स्त्री विन शील सर जल पुर मनुज के विन।
विद्या शमन विन आस्था व्रतों में नहिं शोभती त्यों आचार्य के विन।।४९।।

शब्दशः अर्थ : दुग्धेन=दूध से; धेनुः=गाय; कुसुमेन=फूल से; बल्ली=बेल; शीलेन=शील द्वारा; भार्या=स्त्री; सरसी=तालाब; जलेन=जल से; न=नहीं; सूरिणा=आचार्य से; भाति= शोभित है; विना=रहित; व्रत+आस्था=व्रतों में श्रद्धा/व्रतों की स्थिति; शमेन=शम से; विद्या=ज्ञान; नगरी=नगर-स्थान; जनेन=मनुष्य से।

अन्वय : (यथा) दुग्धेन विना धेनुः कुसुमेन विना बल्ली, शीलेन विना भार्या, जलेन विना सरसी, शमेन विना विद्या, जनेन विना नगरी न भाति; (तथा) सूरिणा विना व्रतास्था न भाति।

वचनिका : दूध से गाय शोभती है, फूलों से बेल शोभती है, शील से स्त्री शोभती है, जल

से तलाई शोभती है, आचार्य के विना व्रत की स्थिति नहीं होती, शांत भाव से विद्या शोभित होती है, मनुष्यों से नगरी शोभती है।।४९।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण आचार्यों की उत्पादकता सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **विधीयते सूरिवरेण सारो, धर्मो मनुष्ये वचनैरुदारैः।**
मेघेन देशे सलिलैः फलाढ्ये, निरस्ततापैरिव सस्यवर्गः।।५०।।

सब तपन शामक जल से फलों युत देशों में बादल बहु धान्य करते।
उदार वचनों से प्राणिओं में आचार्य त्यों उत्तम धर्म रचते।।५०।।

शब्दशः अर्थ : विधीयते=रचा जाता है; सूरिवरेण=श्रेष्ठ आचार्य द्वारा; सारः=उत्तम; धर्मः= धर्म; मनुष्ये=प्राणी में; वचनैः=वचनों से; उदारैः=उदात्त; मेघेन=बादल द्वारा; देशे=देश में; सलिलैः=जल से; फल+आढ्ये=फल-संपन्न; निरस्त-तापैः=तपन को दूर करनेवाले; इव=समान; सस्य-वर्गः=धान्य का समूह।

अन्वय : फल-आढ्ये देशे निरस्त-तापैः सलिलैः मेघेन सस्य-वर्गः इव उदारैः वचनैः सूरिवरेण मनुष्ये सारो धर्मो विधीयते।

वचनिका : जैसे—फल-सहित देश में ताप को दूर करनेवाले जल-युक्त मेघ द्वारा धान्य का समूह उत्पन्न किया जाता है; उसीप्रकार उदार वचनों द्वारा आचार्य, मनुष्य में सारभूत धर्म उत्पन्न करते हैं।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण गुरु के उपदेश की उपयोगिता का वर्णन करते हैं—

उपजाति : **लब्ध्वोपदेशं महनीयवृत्तेर्गुरोरनुष्ठाय विनीतचेताः।**
पापस्य भव्यो विदधाति नाशं, व्याधेरिव व्याधिनिषूदनस्य।।५१।।

ज्यों वैद्य से व्याधि-नाश विनयी भवि उत्तमोत्तम चारित्र वाले।
गुरु के बताए अनुसार करके धर्माचरण सब पापों को नाशे।।५१।।

शब्दशः अर्थ : लब्ध्वा=प्राप्तकर; उपदेशं=देशना को; महनीय-वृत्तेः=महान, पूज्य आचरणवाले; गुरोः=गुरु का; अनुष्ठाय=अंगीकार हेतु; विनीत-चेताः=विनयवान; पापस्य =पाप का; भव्यः=मोक्ष जाने-योग्य; विदधाति=करता है; नाशं=समाप्त; व्याधेः=रोग का; इव=समान; व्याधि-निषूदनस्य=रोग के शत्रु/वैद्य का।

अन्वय : व्याधि-निषूदनस्य व्याधेः इव महनीयः वृत्तेः गुरोः उपदेशं लब्ध्वा अनुष्ठाय विनीत-चेताः भव्यः पापस्य नाशं विदधाति।

वचनिका : जैसे—रोगी, वैद्य का उपदेश ग्रहण कर, उनके द्वारा बताई गई औषधि को

लेकर व्याधि का नाश करता है; उसीप्रकार विनय-युक्त चित्तवाला भव्य, पूज्य आचरण वाले गुरु के उपदेश को प्राप्तकर, उसके अनुसार अनुष्ठान कर पाप का नाश करता है।

भावार्थ : जैसे—रोगी, वैद्य के उपदेश से रोग का नाश करता है; उसीप्रकार भव्य, गुरु के उपदेश से पाप का नाश करता है।।५१।।

अब, इस पद्य द्वारा आचार्य की महत्ता को सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **सर्वोपकारं निरपेक्ष-चित्तः, करोति यो धर्म-धिया यतीशः।**
स्वकार्यनिष्ठैरुपमीयतेऽसौ, कथं महात्मा खलु बन्धुलोकैः।।५२।।

नि:स्वार्थ हो करते धर्म-धी से आचार्यवर्य उपकार सबका।
नित स्वार्थ-सिद्धि-रत बंधुजन की उपमा कहो कैसे दे सकेगा?।।५२।।

शब्दशः अर्थ : सर्व+उपकारं=सभी का उपकार; निरपेक्ष-चित्त:=अपेक्षा-रहित मनवाला; करोति=करता है; य:=जो; धर्म-धिया=धर्म-बुद्धि से; यतीश:=यतिओं के स्वामी/आचार्य; स्व-कार्य-निष्ठै:=अपने कार्य में लगे हुए; उपमीयते=उपमा दे सकें; असौ=वह; कथं=कैसे; महात्मा=श्रेष्ठ आत्मा; खलु=वास्तव में; बन्धु-लोकै:=बंधु-जनों द्वारा।

अन्वय : निरपेक्ष-चित्त: य: यतीश: धर्म-धिया सर्व-उपकारं करोति खलु असौ महात्मा स्व-कार्य-निष्ठै: बन्धु-लोकै: कथं उपमीयते।

वचनिका : जो आचार्य नि:स्वार्थ भाव से धर्म-बुद्धि द्वारा सभी का उपकार करते हैं; वे महात्मा, अपने-अपने कार्य-साधने में तत्पर बंधु-लोगों के बराबर कैसे हो सकते हैं?।।५२।।

वे गुरु सभी से आराध्य हैं; अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **निषेव्यमाणानि वचान्सि येषां, जीवस्य कुर्वन्त्यजरामरत्वम्।**
नाराधनीया गुरवः कथं ते, विभीरुणा सन्सृतिराक्षसीतः।।५३।।

सेवन किए जिनके वचन करते इस जीव के अजरामरपने को।
आराध्य कैसे तब वे गुरु नहिं संसार-राक्षस से डरे जन को।।५३।।

शब्दशः अर्थ : निषेव्यमाणानि=सेवन किए गए; वचान्सि=वचन; येषां=जिनके; जीवस्य =जीव का; कुर्वन्ति=करते हैं; अजर+अमरत्वं=अजर-अमरपने/मोक्ष को; न=नहीं; आराधनीया:=आराधना के योग्य; गुरव:=गुरु; कथं=कैसे; ते=वे; विभीरुणा= विशेषरूप से डरे हुए द्वारा; सन्सृति-राक्षसीत:=संसाररूपी राक्षसी से।

अन्वय : येषां निषेव्यमाणानि वचान्सि जीवस्य अजरामरत्वं कुर्वन्ति ते गुरव: सन्सृति-राक्षसीत: विभीरुणा आराधनीया: कथं न?

वचनिका : जिन आचार्यों के सेवन किए हुए वचन, जीव के अजरामरपने को करते हैं;

वे गुरु, संसाररूपी राक्षसी से डरे हुए प्राणी द्वारा आराधना कैसे नहीं किए जाएँगे? अपितु वह तो आराधना करेगा ही।।५३।।

अब, इस पद्य द्वारा गुरुओं की परम-पूज्यता का सहेतुक प्रतिपादन करते हैं—

इन्द्रवज्रा : **मातापिताज्ञातिनराधिपाद्या, जीवस्य कुर्वन्त्युपकारजातम्।**
यत्सूरिदत्तामलधर्मनुन्नास्तेनैष तेभ्योऽतिशयेन पूज्य:।।५४।।

आचार्यदत्त निर्मल धरम से प्रेरित पिता माता जाति नृप भी।
उपकार बहु करते प्राणिओं का यों पूज्य उनसे भी अधिक ये ही।।५४।।

शब्दश: अर्थ : माता=जननी; पिता=जनक; ज्ञाति-नराधिप+आद्या:=जाति, राजा आदि प्रमुख; जीवस्य=जीव का; कुर्वन्ति=करते हैं; उपकार-जातं=अनेक प्रकार से उपकार; यत् =जो; सूरि-दत्त+अमल-धर्म-नुन्ना:=आचार्य द्वारा दिए गए निर्मल धर्म से प्रेरित; तेन= उस कारण; एष:=यह; तेभ्य:=उनसे; अतिशयेन=अधिकता से; पूज्य:=पूज्य।

अन्वय : यत् सूरि-दत्त-अमल-धर्म-नुन्ना: माता पिता ज्ञाति-नराधिप-आद्या: जीवस्य उपकार-जातं कुर्वन्ति, तेन तेभ्य: एष: अतिशयेन पूज्य:।

वचनिका : माता, पिता, जाति, राजा आदि सभी; आचार्य द्वारा दिए गए निर्मल धर्म से प्रेरित हो जीव का उपकारों के समूह को/अनेक प्रकार से उपकार करते हैं। आचार्य, प्रेरित किए विना ही यह करते हैं; अत: ये अतिशय से/महा-गुरु हैं; इस कारण माता, पिता, जाति, राजादि द्वारा भी पूज्य हैं।।५४।।

किसका मनुष्य जन्म निरर्थक है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **निषेवमाणो गुरुपादपद्मं, त्यक्तान्यकर्मा न करोति धर्मम्।**
प्ररूढसन्सारवनक्षयाग्निं, निरर्थकं जन्म नरस्य तस्य।।५५।।

सेवे गुरु पाद पयोज छोड़े हैं अन्य कार्य पर नहीं करता।
बड़ते हुए भव वन नाश अग्नि सम धर्म नर जन्म निरर्थ उसका।।५५।।

शब्दश: अर्थ : निषेवमाण:=सेवन करनेवाला; गुरु-पाद-पद्मं=गुरु के चरण-कमल को; त्यक्त+अन्य-कर्मा=अन्य कार्यों को छोड़नेवाला; न=नहीं; करोति=करता है; धर्मं=धर्म को; प्ररूढ-सन्सार-वन-क्षय+अग्निं=बड़ते हुए संसाररूपी वन की नाशक अग्नि को; निरर्थकं=व्यर्थ; जन्म=भव; नरस्य=मनुष्य का; तस्य=उसका।

अन्वय : गुरु-पाद-पद्मं निषेवमाण: अन्य-कर्मा-त्यक्ता (यदि) प्ररूढ-सन्सार-वन-क्षय-अग्निं धर्मं न करोति (तर्हि) तस्य नरस्य जन्म निरर्थकम्।

वचनिका : अन्य कार्यों को छोड़नेवाला, गुरु के चरण-कमल की सेवा करनेवाला पुरुष;

अंकुरित हुए संसार-वन का नाश करने में अग्नि-समान धर्म को यदि नहीं करता है, तो उस पुरुष का जन्म निरर्थक है।।५५।।

अब, इस पद्य द्वारा आचार्य और बांधवों का अंतर स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **यं सूरयो धर्मधिया ददन्ति, यं बान्धवा: स्वार्थधिया जनानाम्।**
अर्थं तयोरन्तरमत्र वेद्यं सताणुमेर्वोरिव जायमानम्।।५६।।

जो धर्म-धी से आचार्य देते धन बंधु देते वह स्वार्थ-धी से।
मनुजों को जानो अणु मेरु सम है अंतर सुजन दोनों में इसी से।।५६।।

शब्दश: अर्थ : यं=जिसे; सूरय:=आचार्य; धर्म-धिया=धर्म-बुद्धि से; ददन्ति=देते हैं; यं=जिस; बान्धव:=बंधुजन; स्वार्थधिया=स्वार्थ-बुद्धि से; जनानां=मनुष्यों के; अर्थं= धन को; तयो:=उन दोनों में; अन्तरं=भेद; अत्र=यहाँ; वेद्यं=जानने-योग्य है; सता=सज्जनों द्वारा; अणु-मेर्वो:=अणु और मेरु के; इव=समान; जायमानं=प्रकट हुआ।

अन्वय : जनानां सूरय: धर्म-धिया यं अर्थं ददन्ति, बान्धव: स्वार्थ-धिया यं अर्थं ददन्ति; अत्र सता अणु-मेर्वो: इव तयो: जायमानं अन्तरं वेद्यम्।

वचनिका : जिस धन को आचार्य, धर्म-बुद्धि पूर्वक मनुष्यों को देते हैं और भाई-बंधु-जन स्वार्थ-बुद्धि पूर्वक देते हैं; इसमें यहाँ सत्पुरुषों द्वारा इन दोनों में परमाणु और मेरु में विद्यमान अंतर के समान अंतर जानना, योग्य है।

भावार्थ : आचार्य और भाई-बंधुओं द्वारा किए गए उपकार में इतना अंतर है, जितना सुमेरु और परमाणु में है; क्योंकि श्रीगुरु कारण-विना/अकारण उपकार करते हैं और बंधु-जन अपने प्रयोजन के लिए उपकार करते हैं।

अब, इस पद्य द्वारा संयोगों की क्षणिकता बताकर धर्म करने की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **लक्ष्मीं करीन्द्रश्रवणास्थिरत्वं, तृणाग्रतोयस्थिति-जीवितव्यम्।**
विसृत्वरीं यौवनिकां च दृष्ट्वा, धर्मं न कुर्वन्ति कथं महान्त:।।५७।।

गज कर्ण सम अस्थिर संपदा को जीवन तृणाग्रस्थित नीर जैसे।
अति शीघ्र नशता यौवन निरखकर सज्जन धर्म करते नहीं कैसे?।।५७।।

शब्दश: अर्थ : लक्ष्मीं=संपत्ति को; करि+इन्द्र-श्रवण-अस्थिरत्वं=श्रेष्ठ हाथी के कर्ण की अस्थिरता को; तृण+अग्र-तोय-स्थिति-जीवितव्यं=तृण के अग्र भाग/नोंक पर लगे जल की स्थिति-सम जीवन को; विसृत्वरीं=अति शीघ्र जाते हुए; यौवनिकां=यौवन को; च=और; दृष्ट्वा=देखकर; धर्मं=धर्म को; न=नहीं; कुर्वन्ति=करते हैं; कथं=कैसे; महान्त:= महा-पुरुष।

अन्वय : करीन्द्र-श्रवण-अस्थिरत्वं लक्ष्मीं, तृण-अग्र-तोय-स्थिति-जीवितव्यं च विसृत्वरीं यौवनिकां दृष्ट्वा महान्त: धर्मं कथं न कुर्वन्ति?

वचनिका : लक्ष्मी को हाथी के कान-समान चंचल देखकर, तृण की अनी/नोंक पर लगे जल की स्थिति-समान जीवितव्य देखकर और यौवन को अतिशय/शीघ्रता पूर्वक जानेवाला देखकर महान पुरुष, धर्म कैसे नहीं करते हैं? करते ही हैं।।५७।।

'इस देह द्वारा धर्म करना ही योग्य है'; इसे अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **अनश्वरीं यो विदधाति लक्ष्मीं, विधूय सर्वां विपदं क्षणेन।**
कथं स धर्म: क्रियते न सद्भिस्त्याज्येन देहेन मलालयेन।।५८।।

जो धर्म अविनश्वर संपदा दे, क्षण में सभी आपद दूर कर दे।
इस त्याज्य अशुचि-घर देह से वह, सद्धर्म सज्जन कैसे न करते?।।५८।।

शब्दश: अर्थ : अनश्वरीं=अविनाशी; य:=जो; विदधाति=करता है; लक्ष्मीं=संपत्ति को; विधूय=दूरकर; सर्वां=सभी; विपदं=विपत्तिओं को; क्षणेन=क्षण में; कथं=कैसे; स:=वह; धर्म:=धर्म; क्रियते=किया जाता है; न=नहीं; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; त्याज्येन=छोड़ने-योग्य; देहेन=शरीर से; मल+आलयेन=अशुचि के घर।

अन्वय : य: क्षणेन सर्वां विपदं विधूय अनश्वरीं लक्ष्मीं विदधाति, स: धर्म: त्याज्येन मल-आलयेन देहेन सद्भि: कथं न क्रियते?

वचनिका : जो धर्म क्षण-मात्र में सभी विपदाओं को दूर कर अविनश्वर लक्ष्मी को करता है; वह धर्म सत्पुरुषों द्वारा, मल के घर और त्यागने-योग्य देह से कैसे नहीं किया जाए?।।५८।।

स्वयं को कौन ठगता है? इस प्रश्न का उत्तर अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **पिण्डं ददाना: न नियोजयन्ते, कलेवरं भृत्यमिवात्मनीने।**
कार्ये सदा ये रचितोपकारे, ते वञ्चयन्ते स्वयमेव मूढा:।।५९।।

आहार देते सेवक समान, उपकार करते तन नहिं लगाते।
जो आत्म-हित कामों में उसे वे हैं मूढ अपने को नित्य ठगते।।५९।।

शब्दश: अर्थ : पिण्डं=भोजन को; ददाना:=देते हुए; न=नहीं; नियोजयन्ते=लगाते हैं; कलेवरं=शरीर को; भृत्यं=सेवक को; इव=समान; आत्मनीने=अपने हित के; कार्ये=कार्य में; सदा=हमेशा; ये=जो; रचित+उपकारे=उपकार करते हुए; ते=वे; वञ्चयन्ते=ठगते हैं; स्वयं=अपने को; एव=ही; मूढा:=मूर्ख।

अन्वय : ये पिण्डं ददाना: भृत्यं इव सदा रचित-उपकारे कलेवरं आत्मनीने कार्ये न नियोजयन्ते, ते मूढा: स्वयमेव वञ्चयन्ते।

वचनिका : जो व्यक्ति भोजन देते हुए और चाकर/नौकर के समान सदा उपकार करते हुए भी शरीर को अपने हितरूप कार्य में नहीं लगाते, वे मूढ स्वयं को ही ठगते हैं।

भावार्थ : जैसे–कोई, चाकर को भोजन आदि सामग्री तो दे; परंतु अपने हितरूप कार्य में नहीं लगाए; तो वह स्वच्छंद हो जाता है और मालिक भी ठगाया जाता है; उसीप्रकार शरीर को भोजन आदि सामग्री से पुष्ट तो करता है; परंतु अपने हितरूप तपश्चरण आदि कार्य में नहीं लगाता है; वह ठगाया जाता है–ऐसा जानना।५९।।

इस जीव के साथ पथ्यरूप में क्या जाता है? इस प्रश्न का उत्तर अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा देते हैं–

उपजाति : **गृहाङ्गजा-पुत्र-कलत्र-मित्र-स्व-स्वामि-भृत्यादि-पदार्थ-वर्गे।**
विहाय धर्मं न शरीर-भाजामिहास्ति किञ्चित्सहगामि पथ्यम्।।६०।।

घर पुत्र पुत्री धन पत्नि मित्र सेवक व स्वामी आदि पदार्थों।
में से नहीं कोई साथ जाता, बस एक पथ्य सद्धर्म समझो।।६०।।

शब्दश: अर्थ : गृह+अङ्गजा-पुत्र-कलत्र-मित्र-स्व-स्वामि-भृत्य-आदि-पदार्थ-वर्गे=घर, पुत्री, पुत्र, पत्नी, मित्र, धन, स्वामी, सेवक आदि पदार्थों के समूह में; विहाय=छोड़कर, धर्मं =धर्म; न=नहीं; शरीर-भाजां=शरीर-धारी प्राणिओं को; इह=यहाँ; अस्ति=है; किञ्चित् =कुछ; सह-गामि=साथ जानेवाला; पथ्यं=पथ्य/हित-कारी।

अन्वय : इह गृह-अङ्गजा-पुत्र-कलत्र-मित्र-स्व-स्वामी-भृत्य-आदि-पदार्थ-वर्गे शरीर-भाजां धर्मं विहाय किञ्चित् सहगामि पथ्यं न अस्ति।

वचनिका : इस लोक में घर, पुत्री, पुत्र, स्त्री, मित्र, धन, स्वामी, सेवक आदि पदार्थों के समूह में से धर्म को छोड़कर और कुछ, जीवों के साथ जानेवाला हित-कारी नहीं है।

भावार्थ : इस जीव का साथी, धर्म ही है; और अन्य पदार्थ साथी नहीं है।।६०।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म का फल बताते हैं–

उपजाति : **घातिक्षयोद्भूत-विशुद्ध-बोध-प्रकाश-विद्योतित-सर्वतत्त्वा:।**
भवन्ति धर्मेण जिनेन्द्रचन्द्रास्त्रिलोक-नाथार्चित-पादपद्मा:।।६१।।

घाति के क्षय से उत्पन्न शुद्ध सब जग प्रकाशक कैवल्य बोध।
शत इंद्र वंदित चरणारविंद युत हों धरम से जिनवर जिनेंद्र।।६१।।

शब्दश: अर्थ : घाति-क्षय+उद्भूत-विशुद्ध-बोध-प्रकाश-विद्योतित-सर्व-तत्त्वा:=घाति-

कर्म के क्षय से उत्पन्न, विशुद्ध, सभी तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले केवलज्ञान से संपन्न; त्रि-लोक-नाथ+अर्चित-पाद-पद्मा:=तीनों लोकों के स्वामी इंद्रादि द्वारा पूजित चरण-कमलवाले; जिनेन्द्र-चन्द्रा:=जिनेंद्रों में चंद्र/तीर्थंकर; धर्मेण=धर्म से; भवन्ति=होते हैं।

अन्वय : घाति-क्षय-उद्भूत-विशुद्ध-बोध-प्रकाश-विद्योतित-सर्व-तत्त्वा: त्रि-लोक-नाथ-अर्चित-पाद-पद्मा: जिनेन्द्र-चन्द्रा: धर्मेण भवन्ति।

वचनिका : घाति-कर्मों के क्षय से उत्पन्न, निर्मल, केवल-ज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा सभी पदार्थों को प्रकाशित करनेवाले; तीन लोक के नाथ इंद्र, धरणेंद्र, चक्रवर्ती द्वारा पूजित चरण-कमलवाले जिनेंद्र-चंद्र तीर्थंकर भगवान, धर्म से होते हैं।।६१।।

अब, इस पद्य द्वारा यह बताते हैं कि इंद्र-पद भी धर्म से मिलता है-

उपजाति : **आराध्यमानस्त्रिदशैरनेकैर्विराजते स्वै: प्रतिबिम्बकैर्वा।**
धर्मप्रसादेन निलिम्पराज: सुराङ्गनावक्त्रसरोजभृङ्ग:।।६२।।

अपने ही प्रतिबिंब-समान बहुविध देवों से पूजित, देवांगना के।
मुख कमल मधुकर सम इंद्र शोभित हो धर्म के ही सुप्रसाद से ये।।६२।।

शब्दश: अर्थ : आराध्यमान:=आराधना किए जानेवाला; त्रिदशै:=देवों द्वारा; अनेकै: =बहुत; विराजते=शोभायमान; स्वै:=अपने; प्रति-बिम्बकै:=प्रति-बिंब के समान; वा= अथवा; धर्म-प्रसादेन=धर्म की कृपा से; निलिम्पराज:=इंद्र; सुराङ्गना-वक्त्र-सरोज-भृङ्ग:=देविओं के मुखरूपी कमल के भ्रमर-समान।

अन्वय : स्वै: प्रति-बिम्बकै: वा अनेकै: त्रिदशै: आराध्यमान: सुराङ्गना-वक्त्र-सरोज-भृङ्ग: निलिम्पराज: धर्म-प्रसादेन विराजते।

वचनिका : धर्म के प्रसाद से अपने प्रति-बिंब-समान अनेक देवों द्वारा सेव्यमान देवों का राजा इंद्र, सुशोभित होता है। वह इंद्र कैसा है? वह देवांगनाओं के मुख-कमल पर भ्रमर के समान है।

भावार्थ : इंद्र-पद, धर्म से मिलता है-ऐसा जानना।।६२।।

अब, इस पद्य द्वारा यह बताते हैं कि चक्रवर्ती भी धर्म से ही होता है-

उपजाति : **द्वात्रिन्शदुर्वीश-सहस्र-मूर्ध-प्रसून-माला-पिहिताङ्घ्रिपद्म:।**
धर्मेण राज्यं विदधाति चक्री विलम्बमानस्त्रिदशेश-लीलाम्।।६३।।

बत्तिस सहस नृपपति शीश रूपी, प्रसूनमाला से ढके पद-युग।
सब इंद्र लीलाधर चक्रवर्ती, धारें सुराज्य सद्धर्म से नित।।६३।।

शब्दश: अर्थ : द्वात्रिन्शत्+उर्वी+ईश-सहस्र-मूर्ध-प्रसून-माला-पिहित-अङ्घ्रि-पद्म:=बत्तीस हजार राजाओं के मस्तकरूपी पुष्प-माला से आच्छादित चरण-कमलवाला; धर्मेण=धर्म से; राज्यं=राज्य को; विदधाति=धारण करता है; चक्री=चक्रवर्ती/षट्-खंडाधिपति; विलम्बमान:=आलंबन लेनेवाला/धारक; त्रिदश+ईश-लीलां=देवों के स्वामी/इंद्र की लीला को।

अन्वय : द्वात्रिन्शत्-उर्वी-ईश-सहस्र-मूर्ध-प्रसून-माला-पिहित-अङ्घ्रि-पद्म: त्रि-दश-ईश-लीलां विलम्बमान: चक्री धर्मेण राज्यं विदधाति।

वचनिका : चक्रवर्ती, धर्म से राज्य को धारण करता है। चक्रवर्ती कैसा है? बत्तीस हजार राजाओं के मस्तकरूपी पुष्पों की माला से ढके हुए चरण-कमलवाला है और इंद्र की लीला को धारण करता है,—ऐसा चक्रवर्ती, धर्म से होता है।

अब, इस पद्य द्वारा ऐसा निरूपण करते हैं कि प्रतापी राजा, धर्म से होते हैं—

उपजाति : **मनोभवाक्रान्तविदग्धरामाकटाक्षलक्षीकृतकान्तकाय:।**
दिगङ्गनाव्यापिविशुद्धकीर्तिर्धर्मेण राजा भवति प्रतापी।।६४।।

अति काम से व्याप्त प्रवीण स्त्री द्वारा कटाक्षीकृत कांत-कायी।
सर्वत्र फैली है विशुद्ध कीर्ति, युत नृप प्रतापी हो धर्म से ही।।६४।।

शब्दश: अर्थ : मनो-भव-आक्रान्त-विदग्ध-रामा-कटाक्ष-लक्षी-कृत-कान्त-काय: =विषय-वासना से परिपूर्ण, चतुर, स्त्रिओं के कटाक्षों द्वारा लक्ष किया गया देदीप्यमान शरीरवाला; दिक्+अङ्गना-व्यापि-विशुद्ध-कीर्ति:=दिशाओं रूपी स्त्रिओं से व्याप्त/सर्वत्र फैली हुई निर्मल कीर्तिवाला; धर्मेण=धर्म से; राजा=भूपति; भवति=होता है; प्रतापी =प्रतापवान।

अन्वय : मनो-भव-आक्रान्त-विदग्ध-रामा-कटाक्ष-लक्षी-कृत-कान्त-काय: दिक्-अङ्गना-व्यापि-विशुद्ध-कीर्ति: प्रतापी राजा धर्मेण भवति।

वचनिका : काम से परिपूर्ण और चतुर स्त्रिओं के कटाक्षों से निशानारूप किए गए देदीप्यमान शरीरवाला और दिशारूपी स्त्रिओं में व्याप्त निर्मल कीर्तिवाला प्रतापी राजा, धर्म से होता है।।६४।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा यह बताते हैं कि लौकिक सभी अनुकूलताएँ, धर्म से प्राप्त होती हैं—

उपेन्द्रवज्रा : **मतङ्गजा जङ्गम-शैल-लीलास्तुरङ्गमा निर्जित-वायुवेगा:।**
पदातय: शक्रपदातिकल्पा: रथा विवस्वद्रथसन्निकाशा:।।६५।।

उपजाति : **योषा: स्वशोभाजितदेवयोषा निलिम्पवासप्रतिमा निवासा:।**
अनन्यलभ्या धनधान्यकोशा: भवन्ति धर्मेण पुरार्जितेन।।६६।।

चलते गिरी लीला युक्त हाथी, निर्जित पवन-वेगी अश्व युक्त।
शचिपति पदाति सम हों पदाति, दिनकर के रथ सम हो रथों युक्त।।६५।।
सुरी विजित स्व शोभा से स्त्री, शचिपति महल सम महलादि युक्त।
नहिं अन्य के यों धन धान्य कोश, हों पूर्व संचित सद्धर्म से सब।।६६।।

शब्दश: अर्थ : मतङ्गजा:=हाथी; जङ्गम=शैल-लीला:=चलते हुए पर्वत की लीलावाले; तुरङ्गमा:=घोड़े; निर्जित-वायु-वेगा:=हवा के वेग को जीतनेवाले; पदातय:= पैदल चलनेवाले; शक्र-पदाति-कल्पा:=इंद्र के पदातिओं के समान; रथा:=रथ; विवस्वत्-रथ-सन्निकाशा:=सूर्य के रथ के समान।

योषा:=स्त्रिआँ; स्व-शोभा-जित-देव-योषा:=अपनी शोभा से देवांगनाओं को जीतनेवालीं; निलिम्प-वास-प्रतिमा=इंद्र-भवन के समान; निवासा:=महल; अनन्य-लभ्या:=अन्य को प्राप्त नहीं होनेवाले; धन-धान्य-कोशा:=धन, धान्य के भंडार; भवन्ति=होते हैं; धर्मेण=धर्म से; पुरा=पहले; अर्जितेन=इकट्ठे किए गए।

अन्वय : जङ्गम-शैल-लीला: मतङ्गजा:, निर्जित-वायु-वेगा: तुरङ्गमा:, शक्र-पदाति-कल्पा: पदातय:, विवस्वत्-रथ-सन्निकाशा: रथा:, स्व-शोभा-जित-देव-योषा: योषा:, निलिम्प-वास-प्रतिमा: निवासा:, अन्-अन्य-लभ्या: धन-धान्य-कोशा: पुरा अर्जितेन धर्मेण भवन्ति।

वचनिका : चलते हुए पर्वतों की लीला के धारक हाथी, पवन के वेग को जीतनेवाले घोड़े, इंद्र के पयादे-समान पयादे/पैदल चलनेवाले सैनिक, सूर्य के रथ के समान रथ; अपनी शोभा से देवांगनाओं को जीतनेवालीं स्त्रिआँ, इंद्र के भवन-समान महल; अन्य को प्राप्त नहीं होने-योग्य धन-धान्यों के भंडार पूर्वोपार्जित धर्म द्वारा होते हैं।।६५-६६।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण यह निरूपित करते हैं कि पुण्य के विना पवित्र पदार्थ प्राप्त नहीं होते हैं–

उपजाति : **परेऽपि भावा भुवने पवित्रा, भवन्ति पुण्यैर्न विना जनस्य।**
विना मृणालै: क्वचनापि दृष्टा:, सम्पद्यमाना न पयोजखण्डा:।।६७।।

हैं अन्य भी पावन वस्तु जग में, नहिं पुण्य विन प्राणी को मिलें वे।
मृणाल विन पंकज-वन कहीं भी, हों प्राप्त ऐसा दिखता नहीं है।।६७।।

शब्दश: अर्थ : परे=दूसरे; अपि=भी; भावा:=पदार्थ; भुवने=जगत में; पवित्रा:=पावन/

अच्छे; भवन्ति=होते हैं; पुण्यैः=पुण्य से; न=नहीं; विना=रहित; जनस्य=प्राणी का; विना=रहित; मृणालैः=कमल की नाल से; क्वचन=कहीं; अपि=भी; दृष्टाः=दिखाई देते हैं; सम्पद्यमानाः=प्राप्त होते हुए; न=नहीं; पयोज-खण्डाः=कमल के वन।

अन्वय : भुवने परे अपि पवित्राः भावाः जनस्य पुण्यैः विना न भवन्ति, क्वचन अपि मृणालैः विना सम्पद्यमानाः पयोज-खण्डाः दृष्टाः न।

वचनिका : लोक में अन्य भी पदार्थ हैं, वे पुण्य के विना, जीव को नहीं होते हैं। जैसे—मृणाल अर्थात् कमल की जड़/नाल के विना कमलों के वन, कभी प्राप्त हुए दिखाई नहीं देते हैं।।६७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण कुल-परंपरा का त्याग कर भी सद्धर्म को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **स्वपूर्वलोकानुचितोऽपि धर्मो ग्राह्यः सतां चिन्तितवस्तुदायी।**
पप्रार्थयन्ते न किमीश्वरत्वं स्वजात्ययोग्यं जनता सदापि।।६८।।

स्व पूर्वजों से अनुचित भी धर्म वांक्षित प्रदाई सज्जन को ग्राह्य।
स्व जाति अनुचित क्या नहीं माँगें प्राणी सदा सब ही ईश्वरत्व।।६८।।

शब्दशः अर्थ : स्व-पूर्व-लोक+अनुचितः=अपने से पूर्व के व्यक्तिओं को अनुचित; अपि=भी; धर्मः=धर्म; ग्राह्यः=ग्रहण करने-योग्य है; सतां=सज्जनों को; चिन्तित-वस्तु-दायी=सोचे हुए पदार्थ को देनेवाला; पप्रार्थयन्ते=प्रकृष्टरूप से चाहते हैं; न=नहीं; किं=क्या; ईश्वरत्वं=ईश्वरपना/प्रभुता को; स्व-जाति+अयोग्यं=अपनी जाति के अयोग्य; जनता=प्राणी; सदा=हमेशा; अपि=भी।

अन्वय : चिन्तित-वस्तु-दायी धर्मः स्व-पूर्व-लोक-अनुचितः अपि सतां ग्राह्यः। किं स्व-जाति-अयोग्यं ईश्वरत्वं सदापि जनता न पप्रार्थयन्ते?

वचनिका : अपने पूर्व लोक/पूर्वज पिता आदि को अनुचित (लगनेवाला) भी धर्म, सत्पुरुषों को वांक्षित देनेवाला होने से ग्रहण करने-योग्य है। जैसे—अपनी जाति के अयोग्य होने पर भी ईश्वरपना को लोग क्या अधिकता पूर्वक सदा नहीं चाहते? अपितु चाहते ही हैं।

भावार्थ : यदि कोई कहे कि हमारे कुल में जिनधर्म नहीं है; (तब फिर) हम उसे कैसे ग्रहण करें? उससे कहते हैं कि यदि अपने कुल में जिन-धर्म नहीं है; तो भी नवीन ग्रहण करना, योग्य है। जैसे—किसी को नवीन राज्य मिले; तो क्या वह ग्रहण नहीं करे?।।६८।।

अब, इस पद्य द्वारा कुल-परंपरावाले पापों को भी छोड़ने के लिए प्रेरित करते हैं—

उपजाति : **त्यजन्ति वन्शागतमप्यवद्यं, सम्प्राप्य पुण्यं जनतार्चनीयम्।**
कुष्ठं कुलायातमपि प्रवीण:, कल्पत्वमासाद्य परित्यजन्ति।।६९।।

जग-पूज्य सद्धर्म सुप्राप्त करके छोड़ें कुलागत भी पाप सब ही।
नीरोगता पाकर नहीं छोड़ें क्या सत्पुरुष कुलगत कुष्ठ को भी।।६९।।

शब्दश: अर्थ : त्यजन्ति=छोड़ देते हैं; वन्श+आगतं=वंश-परंपरा से आए हुए; अपि=भी; अवद्यं=पाप को; सम्प्राप्य=प्राप्तकर; पुण्यं=पुण्य को; जनता+अर्चनीयं=प्राणिओं द्वारा पूजित; कुष्ठं=कुष्ठ रोग को; कुल+आयातं=कुल से आए हुए; अपि=भी; प्रवीण:= चतुर; कल्पत्वं=चाही हुई निरोगता आदि को; आसाद्य=पाकर; परित्यजन्ति=छोड़ देते हैं।

अन्वय : (यथा) कुल-आयातं अपि कुष्ठं कल्पत्वं आसाद्य प्रवीण: परित्यजन्ति, (तथा) वन्श-आगतं अपि अवद्यं जनता-अर्चनीयं पुण्यं सम्प्राप्य त्यजन्ति।

वचनिका : जैसे सुंदर शरीर, निरोगता को प्राप्तकर प्रवीण पुरुष, कुल में चले आए भी कुष्ठ रोग को छोड़ देते हैं; उसी प्रकार लोक-पूज्य धर्म को प्राप्तकर, कुल में चले आए भी पाप को छोड़ देते हैं।।६९।।

भय-वश भी सद्धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए; इसे अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **मूर्खापवादत्रसनेन धर्मं, मुञ्चन्ति सन्तो न बुधार्चनीयम्।**
ततो हि दोष: परमाणु-मात्रो, धर्मव्युदासे गिरिराजतुल्य:।।७०।।

मूर्खापवादों के खेद से बुध पूजित धरम सज्जन नहीं छोड़ें।
अपवाद-दोष परमाणु-मात्र सुमेरु सम दोष है धर्म छोड़ें।।७०।।

शब्दश: अर्थ : मूर्ख+अपवाद-त्रसनेन=मूर्ख द्वारा किए जानेवाले अपवाद के कष्ट से; धर्मं=धर्म को; मुञ्चन्ति=छोड़ते हैं; सन्त:=सत्पुरुष; न=नहीं; बुध+अर्चनीयं=ज्ञानिओं द्वारा पूजित; तत:=क्यों कि; हि=वास्तव में; दोष:=अपराध; परमाणु-मात्र:=अत्यंत तुच्छ; धर्म-व्युदासे=धर्म का त्याग करने में; गिरि-राज-तुल्य:=सुमेरु पर्वत-जैसा बहुत बड़ा।

अन्वय : सन्त: मूर्ख-अपवाद-त्रसनेन बुध-अर्चनीयं धर्मं न मुञ्चन्ति; तत: हि (अपवादे) दोष: परमाणु-मात्र:, (परन्तु) धर्म-व्युदासे (दोष:) गिरि-राज-तुल्य:।

वचनिका : मूर्खों के अपवाद करने के भय से, पंडितों द्वारा पूज्य धर्म, सत्पुरुष छोड़ते नहीं हैं; क्योंकि उस मूर्ख के अपवाद से तो दोष परमाणु-मात्र/अत्यल्प है और धर्म का नाश हो जाने पर सुमेरु-जैसा/बहुत बड़ा दोष है—ऐसा जानना।।७०।।

अन्य के भय से धर्म को छोड़नेवाले की अब, इस पद्य द्वारा भर्त्सना करते हैं—

मालिनी : **निखिल-सुख-फलानां कल्पने कल्पवृक्षं,**
कुमति-मत-विभीता ये विमुञ्चन्ति धर्मम्।
विमल-मणि-निधानं पावनं दुष्ट-तुष्ट्यै,
स्फुटमपगतबोधाः प्राप्य ते वर्जयन्ति।।७१।।

सकल सुख प्रदाई कल्प तरु के समान,
कुमति मत के भय से जो तजे सत्य धर्म।
निर्मल बहु शुद्ध मणि निधानों को पाकर,
दुर्जन-तुष्टि को जो तजे वह है मूर्ख।।७१।।

शब्दशः अर्थ : निखिल-सुख-फलानां=सभी प्रकार के सुखरूपी फलों को; कल्पने=देने में; कल्प-वृक्षं=कल्प-तरु; कुमति-मत-विभीताः=विपरीत बुद्धि की मान्यताओं से भय-भीत; ये=जो; विमुञ्चन्ति=छोड़ देते हैं; धर्मं=धर्म को; विमल-मणि-निधानं=निर्मल रत्नों के भंडार; पावनं=पवित्र; दुष्ट-तुष्ट्ये=दुर्जन की संतुष्टि के लिए; स्फुटं=स्पष्टरूप में; अपगत-बोधाः=ज्ञान से रहित/मूर्ख; प्राप्य=प्राप्तकर; ते=वे; वर्जयन्ति=छोड़ देते हैं।
अन्वय : कुमति-मत-विभीताः ये निखिल-सुख-फलानां कल्पने कल्प-वृक्षं धर्मं विमुञ्चन्ति, स्फुटं अपगत-बोधाः ते पावनं विमल-मणि-निधानं प्राप्य दुष्ट-तुष्ट्यै वर्जयन्ति।
वचनिका : कुबुद्धिओं के मत से भय-भीत होते हुए जो, समस्त सुखरूपी फलों को देने में कल्प-वृक्ष के समान धर्म को छोड़ देते हैं; वे अज्ञानी प्रकटरूप में पवित्र निर्मल रत्न के भंडार को प्राप्तकर दुष्टों की प्रसन्नता के लिए उसे छोड़ देते हैं।।७१।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म-सेवन की पात्रता और फल का निरूपण करते हैं—

मालिनी : **अमर-नर-विभूतिं यो विधायार्थनीयां,**
नयति निरपवादां लीलया मुक्तिलक्ष्मीम्।
अमित-गति-जिनोक्तः सेव्यतामेष धर्मः,
शिव-पदमनवद्यं लब्ध-कामैरकामैः।।७२।।

जो धर्म सुर-मनुज के प्रार्थना-योग्य वैभव,
को दे निर्दोष मोक्ष लक्ष्मी को क्षण में।
अमितगति जिन वर्णित सेव्य यह धर्म निर्मल,
शिव-पद के वांक्षक काम-विरहित जनों से।।७२।।

शब्दशः अर्थ : अमर-नर-विभूतिं=देवों और मनुष्यों के वैभव को; यः=जो; विधाय=देकर; अर्थनीयां=प्रार्थना के योग्य; नयति=ले जाता है; निरपवादां=पूर्ण निर्दोष; लीलया=लीला/

सहजता से/क्षण भर में; मुक्ति-लक्ष्मीं=मोक्षरूपी लक्ष्मी को; अमित-गति-जिन-उक्त:=अनंत-ज्ञानवाले जिनेंद्र भगवान द्वारा कहा गया; अथवा अमितगति आचार्य द्वारा कहा गया; सेव्यतां=सेवन करने-योग्य है; एष:=यह; धर्म:=धर्म; शिव-पदं=मोक्ष-पद को; निरवद्यं=पाप-रहित; लब्ध-कामै:=प्राप्त करने के इच्छुक; अकामै:=काम से रहित द्वारा।

अन्वय : अर्थनीयां अमर-नर-विभूतिं विधाय य: लीलया निरपवादां मुक्ति-लक्ष्मीं नयति, अमित-गति-जिन-उक्त: एष: धर्म: अनवद्यं शिवपदं लब्ध-कामै: अकामै: सेव्यताम्।

वचनिका : जो धर्म, प्रार्थना-योग्य देव और मनुष्यों की विभूति को रचकर लीला -मात्र में निर्दोष लक्ष्मी को प्राप्त करता है; अमित-गति-जिनोक्त अर्थात् अनंत-ज्ञानवाले जिनदेव द्वारा कहा गया; अथवा अमित-गति आचार्य द्वारा कहा गया यह धर्म, पाप-रहित शिव-पद लेने के वांक्षक, काम से रहित जीवों द्वारा सेवन करना, योग्य है।।७२।।

छप्पय :

दुर्लभ नरभव पाय अन्य कारज तज दीजे,
होय विषय तैं विमुख सुगुरु वचनामृत पीजे।
मिथ्याभाव निवार सार जिनधर्म धार उर,
इंद्रादिक पद पाय धर्म तैं होय जगतगुर।।
कल्याण-कार कलि-मल हरन धर्म परम उत्तम सरन।
जिनराज अमितगति कथित तसु भागचंद वंदित चरन।।

अर्थ : दुर्लभ मनुष्य भव को पाकर अन्य सभी कार्य छोड़ दीजिए; विषयों से विमुख होकर सुगुरु के वचनरूपी अमृत का पान कीजिए। मिथ्या-भावों का निवारण कर सारभूत जिन-धर्म को हृदय में धारण कीजिए। इस धर्म से इंद्रादि पद प्राप्तकर जगत-गुरु/भगवान हो जाते हैं।

कल्याण-कारक, रागादि दोषों और पापों का हरण करनेवाले, उत्तम शरणभूत इस परम धर्म को अनंत ज्ञान-संपन्न जिनेंद्र भगवान ने अथवा अमितगति आचार्य ने कहा है। भागचंद्र उनके चरणों की वंदना करते हैं।

इस प्रकार श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार में प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ।।१।।

द्वितीय परिच्छेद

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक मिथ्यात्व के सर्वथा त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **मिथ्यात्वं सर्वदा हेयं धर्मं वर्धयता सता।**
विरोधो हि तयोर्वाढं, मृत्युजीवितयोरिव।।१/७३।।

मिथ्यात्व सर्वथा हेय, बड़ाते धर्म जीव को।
मरण-जीवन वत् दोनों में विरोध बहुत सुनो।।१/७३।।

शब्दश: अर्थ : मिथ्यात्वं=विपरीतता; सर्वथा=सभी प्रकार से; हेयं=छोड़ने-योग्य है; धर्मं= धर्म को; वर्धयता=बड़ानेवाले; सता=सत्पुरुषों द्वारा; विरोध:=टकराहट; हि=वास्तव में; तयो:=उन दोनों में; वाढं=अत्यधिक; मृत्यु-जीवितयो:=मरण और जीवन के; इव=समान।

अन्वय : धर्मं वर्धयता सता मिथ्यात्वं सर्वथा हेयं; मृत्यु-जीवितयो: इव तयो: हि वाढं विरोध:।

वचनिका : धर्म को बड़ाते हुए सत्पुरुषों द्वारा मिथ्यात्व सभी प्रकार से त्यागना, योग्य है; क्योंकि मिथ्यात्व और धर्म—इन दोनों का मरण और जीवन के समान विशेषरूप से बड़ा विरोध है।।१/७३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मिथ्यात्व का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **संयमा नियमा: सर्वे नाश्यन्ते तेन पावना:।**
क्षयकालानलेनेव पादपा: फल-शालिन:।।२/७४।।

पवित्र संयम नियम सब ही नष्ट हों मिथ्यात्व से।
फल शोभित तरु जैसे नष्ट प्रलयी अनल से।।२/७४।।

शब्दश: अर्थ : संयमा:=संयम; नियमा:=नियम; सर्वे=सभी; नाश्यन्ते=नष्ट हो जाते हैं; तेन=उस (मिथ्यात्व) के द्वारा; पावना:=पवित्र; क्षय-काल-अनलेन=प्रलय-कालीन अग्नि से; इव=समान; पादपा:=वृक्ष; फल-शालिन:=फलों से सुशोभित।

अन्वय : क्षय-काल-अनलेन फल-शालिन: पादपा: इव तेन पावना: संयमा: नियमा: सर्वे नाश्यन्ते।

वचनिका : जैसे—प्रलयाग्नि द्वारा, फलों से शोभित वृक्ष नाश को प्राप्त हो जाते हैं; उसीप्रकार उस मिथ्यात्व द्वारा, पवित्र संयम, नियम आदि सभी नाश को प्राप्त हो जाते हैं।।२/७४।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मिथ्यात्व की प्रवृत्ति स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अतत्त्वमपि पश्यन्ति तत्त्वं मिथ्यात्व-मोहिता:।**
मन्यन्ते तृषितास्तोयं मृगा हि मृगतृष्णिकाम्।।३/७५।।

मिथ्यात्व-मोहिती मानें अतत्त्व को भी तत्त्व ही।
मृग-तृष्णिका जल मानें जैसे तृषित मृग कहीं।।३/७५।।

शब्दश: अर्थ : अतत्त्वं=अतत्त्व को; अपि=भी; पश्यन्ति=मानते हैं; तत्त्वं=उसका स्वरूप; मिथ्यात्व-मोहिता:=मिथ्यात्व से मोहित जीव; मन्यन्ते=मानते हैं; तृषिता:=प्यासे; तोयं= जल; मृगा:=हिरण; हि=वास्तव में; मृग-तृष्णिकां=मृग-तृष्णिका को।

अन्वय : (यथा) हि तृषिता: मृगा: मृग-तृष्णिकां तोयं मन्यन्ते (तथा) मिथ्यात्व-मोहिता: अतत्त्वं अपि तत्त्वं पश्यन्ति।

वचनिका : जैसे—प्यासे मृग, मृग-तृष्णा को वास्तव में जल मान लेते हैं; उसीप्रकार मिथ्यात्व से मोहित जीव अतत्त्व को तत्त्व मानते हैं।।३/७५।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व का कार्य बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **विभ्रान्ता क्रियते बुद्धिर्मनोमोहनकारिणा।**
मिथ्यात्वेनोपयुक्तेन मद्येनेव शरीरिण:।।४-७६।।

चित्त मोहित कारक जो तन्मयता मिथ्यात्व से।
मद्य प्राणी वत् बुद्धि बहुत भ्रांतिमई करे।।४/७६।।

शब्दश: अर्थ : विभ्रान्ता=विशेषरूप से भ्रमित; क्रियते=की जाती है; बुद्धि:=मति; मन: -मोहन-कारिणा=मन को मोहित करनेवाले; मिथ्यात्वेन=विपरीतता से; उपयुक्तेन=उपयुक्त/ तन्मय/जुड़े हुए; मद्येन=शराब द्वारा; इव=समान; शरीरिण:=प्राणी की।

अन्वय : मद्येन शरीरिण: इव मनो-मोहन-कारिणा उपयुक्तेन मिथ्यात्वेन शरीरिण: बुद्धि: विभ्रान्ता क्रियते।

वचनिका : मन को अचेत करनेवाले, उपयुक्त हुए मिथ्यात्व से मदिरा के समान, जीव की बुद्धि, विशेष भ्रांतिरूप की जाती है।।४/७६।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व का स्वरूप और भेद निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **पदार्थानां जिनोक्तानां तदश्रद्धान-लक्षणम्।**
ऐकान्तिकादिभेदेन सप्तभेदमुदाहृतम्।।५/७७।।

जिनवर कथित पदार्थों का अश्रद्धान है लक्षण।
ऐकांतिक आदि उसके सात भेद उदाहरण।।५/७७।।

शब्दश: अर्थ : पदार्थानां=पदार्थों का; जिन+उक्तानां=जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे गए; तत्= उस (मिथ्यात्व) का; अश्रद्धान-लक्षणं=श्रद्धा नहीं करना, लक्षण है; ऐकान्तिक+आदि-भेदेन=ऐकांतिक आदि के भेद से; सप्त-भेदं=सात भेद; उदाहृतं=उदाहरणरूप में कहे गए हैं।

अन्वय : जिनोक्तानां पदार्थानां अश्रद्धानं तत् लक्षणं, ऐकान्तिक-आदि-भेदेन सप्त-भेदं उदाहृतम्।

वचनिका : जिन-भाषित जीवादि पदार्थों का अश्रद्धान लक्षणवाला मिथ्यात्व, ऐकांतिक आदि भेदों से सात प्रकार का कहा गया है—एकांत, संशय, विनय, गृहीत, विपरीत, निसर्ग और मूढदृष्टि। आगे क्रमश: इनका स्वरूप कहते हैं।।५/७७।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्व-प्रथम एकांत मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **क्षणिकोऽक्षणिको जीव: सर्वथा सगुणोऽगुण:।**
इत्यादिभाषमाणस्य तदैकान्तिकमिष्यते।।६/७८।।
क्षणिक है सर्वथा नित्य जीव सगुणी निर्गुणी।
इत्यादि मान्यता जिसकी ऐकांतिक मानी गई।।६/७८।।

शब्दश: अर्थ : क्षणिक:=अनित्य; अक्षणिक:=नित्य; जीव:=जीव; सर्वथा=सभी प्रकार से; सगुण:=गुण-सहित; अगुण:=गुण-रहित; इत्यादि=इसप्रकार के और भी; भाषमाणस्य=कहनेवाले का; तत्=वह; ऐकान्तिकं=ऐकांतिक मिथ्यात्व; इष्यते=माना है।

अन्वय : जीव: सर्वथा क्षणिक: अक्षणिक: सगुण: अगुण: इत्यादि भाषमाणस्य तत् ऐकान्तिकं इष्यते।

वचनिका : जीव, एकांत से सभी रूपों में क्षणिक ही है, या नित्य ही है, या निर्गुण ही है, सगुण ही है—इत्यादि कहने/माननेवाले के एकांत मिथ्यात्व कहा गया है।।६/७८।।

अब, इस पद्य द्वारा संशय मिथ्यात्व का स्वरूप प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम्।**
तथ्यं न वेति सङ्कल्पे दृष्टि: सान्शयिकी मता।।७/७९।।
जीवाजीवादि बतलाए विरागी सर्वज्ञ ने।
यों ही या नहीं दुविधा पड़े सांशयिकी कहे।।७/७९।।

शब्दश: अर्थ : सर्वज्ञेन=सब कुछ जाननेवाले द्वारा; विरागेण=रागादि से रहितवाले द्वारा; जीव+अजीव+आदि-भाषितं=जीव, अजीव आदि कहे गए; तथ्यं=उसीप्रकार हैं; न= नहीं; वा=अथवा; इति=इसप्रकार; सङ्कल्पे=दुविधावाले विचार में; दृष्टि:=श्रद्धा; सान्शयिकी=संशय संबंधी मिथ्यात्व; मता=मानी है।

अन्वय : संपूर्ण पद्य स्वत: अन्वयरूप ही है।

वचनिका : सर्वज्ञ, वीतराग द्वारा कहे जीव, अजीव आदि तत्त्व, सत्य हैं या असत्य— इसप्रकार के विकल्प होने पर संशय-जनित दृष्टि कही है।।७/७९।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय मिथ्यात्व का स्वरूप निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **आगमा लिङ्गिनो देवा: धर्मा: सर्वे सदा समा:।**
इत्येषा कथ्यते बुद्धि: पुन्सो वैनयिकी जिनै:।।८/८०।।

शास्त्र भेषी धरम देव सभी सदा समान हैं।
व्यक्ति की ऐसी बुद्धि जिनवर वैनयिकी कहें।।८/८०।।

शब्दश: अर्थ : आगमा:=शास्त्र; लिङ्गिन:=धर्म-लिंग-धारी/गुरु; देवा:=देव/भगवान; धर्मा:=धर्म; सर्वे=सभी; सदा=हमेशा; समा:=समान हैं; इति=इसप्रकार; एषा=यह; कथ्यते=कही गई है; बुद्धि:=मति; पुन्स:=प्राणी की; वैनयिकी=विनय मिथ्यात्ववाली; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा।

अन्वय : सर्वे आगमा:, सर्वे लिङ्गिन:, सर्वे देवा:, सर्वे धर्मा: सदा समा:; पुन्स: इति एषा बुद्धि: जिनै: वैनयिकी कथ्यते।

वचनिका : सभी आगम, सभी भेषी, सभी देव और सभी धर्म, सदा समान हैं; प्राणी की ऐसी यह बुद्धि, जिनेंद्र भगवान द्वारा विनय मिथ्यादृष्टि कही गई है।।८/८०।।

अब, इस पद्य द्वारा गृहीत मिथ्यात्व का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पूर्ण: कुहेतुदृष्टान्तैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते।**
मण्डलश्चर्मकारस्य भोज्य: चर्मलवैरिव।।९/८१।।

भरा कुहेतु दृष्टांतों से न तत्त्व पा सके।
चर्मी चमार का कुत्ता अन्य भोज्य न पा सके।।९/८१।।

शब्दश: अर्थ : पूर्ण:=भरा हुआ; कुहेतु-दृष्टान्तै:=खोटे हेतु, खोटे दृष्टांतों से; न=नहीं; तत्त्वं =तत्त्व को; प्रतिपद्यते=प्राप्त होता है; मण्डल:=कुत्ता; चर्मकारस्य=चमार का; भोज्य:=खाद्य पदार्थ; चर्म-लवै:=चर्म के टुकड़ों से सहित; इव=समान।

अन्वय : चर्म-लवै: चर्मकारस्य मण्डल: भोज्य: इव कुहेतु-दृष्टान्तै: पूर्ण: तत्त्वं न प्रतिपद्यते।

वचनिका : जैसे—चर्म के टुकड़ों से परिपूर्ण चमार का कुत्ता, भोजन को प्राप्त नहीं होता है; उसी प्रकार खोटे हेतु-दृष्टांतों से भरा हुआ प्राणी, तत्त्व को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : जैसे—चमार का कुत्ता, चर्म के टुकड़े खाता है; उसे अन्य भोजन अच्छा नहीं

लगता है; उसीप्रकार खोटे हेतु-दृष्टांतों से सहित मिथ्यादृष्टि, तत्त्व को प्राप्त नहीं होता है, वह गृहीत मिथ्यादृष्टि है।।९/८१।।

अब, इस पद्य द्वारा विपरीत मिथ्यात्व का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अतथ्यं मन्यते तथ्यं विपरीतरुचिर्जनः।**
दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम्।।१०/८२।।

वातादि दोष युत ज्वरवान कटुक माने मिष्ट को।
विपरीत रुचि प्राणी तथ्य माने अतथ्य को।।१०/८२।।

शब्दशः अर्थ : अतथ्यं=अन्यरूप; मन्यते=मानता है; तथ्यं=वस्तु-स्वरूप को; विपरीत-रुचि:=उल्टी रुचिवाला; जन:=प्राणी; दोष+आतुर-मना:=दोष से पीड़ित मनवाला; तिक्तं =तीखा/कड़वा; ज्वरी=ज्वरवान; इव=समान; मधुरं रसं=मीठे रस को।

अन्वय : दोष-आतुर-मना: ज्वरी मधुरं रसं तिक्तं इव विपरीत-रुचि: जन: तथ्यं अतथ्यं मन्यते।

वचनिका : जैसे—वात, पित्त आदि दोषों से आतुर/पीड़ित, ज्वर-सहित व्यक्ति, मीठे रस को कड़वा मानता है; उसीप्रकार विपरीत रुचिवाला जीव, सत्यार्थ को असत्यार्थ मानता है—यह विपरीत मिथ्यादृष्टि जानना।।१०/८२।।

अब, इस पद्य द्वारा निसर्ग मिथ्यात्व का स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **दीनो निसर्गमिथ्यात्वात्तत्त्वातत्त्वं न बुध्यते।**
सुन्दरासुन्दरं रूपं जात्यन्ध इव सर्वदा।।११/८३।।

जन्मांध रंच न जानें सुंदर रूप कुरूप को।
निसर्ग मिथ्यात्व से जानें नहीं तत्त्व अतत्त्व को।।११/८३।।

शब्दशः अर्थ : दीन:=बेचारा; निसर्ग-मिथ्यात्वात्=निसर्ग/अनादि से चले आए/अगृहीत मिथ्यात्व से; तत्त्व+अतत्त्वं=वस्तु के स्वरूप-अस्वरूप को; न=नहीं; बुध्यते=जानता है; सुन्दर+असुन्दरं=सुंदर और असुंदर; रूपं=रूप को; जाति+अन्ध:=जन्मांध; इव=समान; सर्वथा=रंच-मात्र भी।

अन्वय : जात्यन्ध: सर्वथा सुन्दर-असुन्दरं रूपं इव निसर्ग-मिथ्यात्वात् दीन: तत्त्व-अतत्त्वं न बुध्यते।

वचनिका : जैसे—जन्म से अंधा व्यक्ति, सुंदर या असुंदर रूप को रंच-मात्र भी नहीं जानता है; उसीप्रकार दीन एकेंद्रियादि अज्ञानी जीव, स्वभाव-जनित मिथ्यात्व से तत्त्व को नहीं जानता है। यह निसर्ग मिथ्यात्व का स्वरूप कहा है।।११/८३।।

अब, इस पद्य द्वारा मूढदृष्टि मिथ्यात्व का लक्षण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **देवो रागी यतिः सङ्गी धर्मः प्राणिनिशुम्भनम्।**
मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्ताविवेचकः।।१२/८४।।

देव रागी गुरु संगी धर्म हिंसामयी कहे।
योग्यायोग्य-विभेदक नहिं मूढदृष्टि कहें उसे।।१२/८४।।

शब्दशः अर्थ : देवः=भगवान; रागी=रागादि दोष-सहित; यतिः=गुरु; सङ्गी=परिग्रह-धारी; धर्मः=धर्म; प्राणि-निशुम्भनं=प्राणिओं के घात/हिंसामय; मूढदृष्टिः=मूर्खता-युक्त श्रद्धावाला; इति=ऐसा; ब्रूते=कहता है; युक्त+अयुक्त-विवेचकः=योग्य-अयोग्य का भेद नहीं करनेवाला।

अन्वय : युक्त-अयुक्त-अविवेचकः मूढदृष्टिः रागी देवः सङ्गी यतिः प्राणि-निशुम्भनं धर्मः इति ब्रूते।

वचनिका : योग्य-अयोग्य के विवेक से रहित, मूढ-दृष्टि-युक्त व्यक्ति, रागी देव, परिग्रह-धारी गुरु, जीवों की हिंसारूप धर्म है—ऐसा कहता है। यह विपरीत मिथ्यादृष्टि का लक्षण कहा।।१२/८४।।

अब, इस पद्य द्वारा यह निर्देश देते हैं कि मिथ्यादृष्टि विपरीत ही देखता है—

अनुष्टुभ् : **सप्त-प्रकार-मिथ्यात्व-मोहितेनेति जन्तुना।**
सर्वं विषाकुलेनेव विपरीतं विलोक्यते।।१३/८५।।

सप्त मिथ्यात्व से मोहित प्राणी विपरीत देखता।
विष से व्याकुली सम सब उल्टा उल्टा मानता।।१३/८५।।

शब्दशः अर्थ : सप्त-प्रकार-मिथ्यात्व-मोहितेन=सात प्रकार के मिथ्यात्व से मोहित; इति=इसप्रकार; जन्तुना=प्राणी द्वारा; सर्वं=सब कुछ; विष+आकुलेन=विष से व्याकुल द्वारा; इव=समान; विपरीतं=उल्टा; विलोक्यते=देखा जाता है।

अन्वय : विष-आकुलेन इव इति सप्त-प्रकार-मिथ्यात्व-मोहितेन जन्तुना सर्वं विपरीतं विलोक्यते।

वचनिका : विष से व्याकुल के समान, ऐसे सात प्रकार के मिथ्यात्व द्वारा मोहित जीव, सभी कुछ विपरीत देखता है।।१३/८५।।

अब, इस पद्य द्वारा कुधी/मिथ्यादृष्टि जीव की प्रवृत्ति बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **न तत्त्वं रोचते जीवः कथ्यमानमपि स्फुटम्।**
कुधीरुक्तमनुक्तं वा निसर्गेण पुनः परम्।।१४/८६।।

कहे गए भी तत्त्वों की श्रद्धा नहीं करे कुधी।
कहे विना कहे माने अतत्त्वों को स्वभाव ही।।१४/८६।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; तत्त्वं=वस्तु-स्वरूप को; रोचते=मानता है; जीव:=जीव; कथ्यमानं =कहा गया; अपि=भी; स्फुटं=स्पष्ट; कुधी:=खोटी बुद्धिवाला; उक्तं=कहा गया; अनुक्तं =नहीं कहा गया; वा=अथवा; निसर्गेण=स्वभाव से; पुन:=फिर; परं=दूसरे/अतत्त्व को।

अन्वय : कुधी: जीव: स्फुटं कथ्यमानं अपि तत्त्वं न रोचते पुन: निसर्गेण उक्तं वा अनुक्तं परं रोचते।

वचनिका : कुबुद्धी जीव प्रकट उपदेशित तत्त्व की तो श्रद्धा नहीं करता है और कहे या विना कहे अतत्त्व की स्वभाव से ही श्रद्धा करता है।।१४/८६।।

मिथ्यादृष्टि, मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है; अब, इसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नैव मुञ्चति।**
कुदृष्टिः पन्नगो दुग्धं पिवन्नपि महाविषम्।।१५/८७।।

ज्यों दूध पीता भी महा विष सर्प नहिं तजे।
त्यों जैनागम पढ़ते भी कुधी मिथ्यात्व नहिं तजे।।१५/८७।।

शब्दश: अर्थ : पठन=पढ़ते हुए; अपि=भी; वच:=वचनों को; जैनं=जिन संबंधी; मिथ्यात्वं =मिथ्यात्व को; न=नहीं; एव=ही; मुञ्चति=छोड़ता है; कुदृष्टि:=खोटी दृष्टिवाला; पन्नग: =सर्प; दुग्धं=दूध को; पिबन्=पीता हुआ; अपि=भी; महा-विषं=महा-विष को।

अन्वय : (यथा) दुग्धं पिबन् अपि पन्नग: महा-विषं न मुञ्चति; (तथा) जैनं वच: पठन् अपि कुदृष्टि: मिथ्यात्वं न एव मुञ्चति।

वचनिका : जैसे—दूध को पीता हुआ भी सर्प, महा-विष को नहीं छोड़ता; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, जिन-वचन को पढ़ता हुआ भी मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता है।।१५/ ८७।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व होने का कारण सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **उदये दृष्टि-मोहस्य मिथ्यात्वं दु:ख-कारणम्।**
घोरस्य सन्निपातस्य पञ्चत्वमिव जायते।।१६/८८।।

दु:ख-कारण मिथ्यात्व दर्शन-मोह के उदय में।
हो ज्यों मरण अति तीव्र सन्निपात के उदय में।।१६-८८।।

शब्दश: अर्थ : उदये=उदय में; दृष्टि-मोहस्य=दर्शन-मोह के; मिथ्यात्वं=विपरीतता; दु:ख

-कारणं=दु:ख की कारणभूत; घोरस्य=अति तीव्र; सन्निपातस्य=सन्निपात का; पञ्चत्वं=मरण; इव=समान; जायते=प्रकट होता है।

अन्वय : घोरस्य सन्निपातस्य पञ्चत्वं इव, दृष्टि-मोहस्य उदये दु:ख-कारणं मिथ्यात्वं जायते।

वचनिका : जैसे — घोर सन्निपात का उदय होने पर मरण हो जाता है; उसीप्रकार दर्शन-मोह का उदय होने पर दु:ख का कारणभूत मिथ्यात्व होता है।।१६/८८।।

अब, प्रश्नोत्तर पद्धति द्वारा कर्म-बंध को इन पाँच पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं —

अनुष्टुभ् : **बहु बध्नाति य: कर्म स्तोकं भुङ्क्ते कुदर्शन:।**
स भवारण्य-दु:खेभ्य: विमोक्षं लक्ष्यते कथम्।।१७/८९।।
अञ्जलिं वल्भमानस्य पुरुषस्य दिने दिने।
धान्यस्य गृह्णत: खारी कदा धान्य-विमुक्तता।।१८/९०।।
न वक्तव्यमिति प्राज्ञै: कदाचन यतो भवी।
कर्म भुङ्क्ते बहु स्तोकं स्वीकरोति विसन्शयम्।।१९/९१।।
अन्यथैकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे।
सर्वेषां जायतेऽन्येषां न कथं मुक्ति: सङ्गति:।।२०/९२।।
समस्तानां तथैकेन पुद्गलानां ग्रहेङ्गिना।
अनन्तानन्त-कालेन न बन्ध: सान्तर: कथम्।।२१/९३।।

जो कुदृष्टि बहुत बाँधे थोड़े भोगे कर्म को।
वह भव-वन-दु:खों से मुक्त हो कैसे कहो?।।१७/८९।।
प्रतिदिन अंजुलि मात्र खाए पर संचित करे।
खारी प्रमाण तब धान्य समाप्ति कब हो सके?।।१८/९०।।
ज्ञानिओं को नहीं ऐसा कहना योग्य यत: करम।
भोगे बहुत ग्रहे थोड़ा संसारी निश्चित समझ।।१९/९१।।
अन्यथा सब कर्मों को एक जीव ग्रहण करे।
तब सब अन्य जीवों की मुक्ति कैसे न कहें?।।२०/९२।।
यदि सब पुद्गलों को ले एक जीव बने नहीं।
अनंतानंत कालों में कैसे सांतर बंध भी।।२१/९३।।

शब्दश: अर्थ : बहु=अधिक; बध्नाति=बाँधता है; य:=जो; कर्म=द्रव्य-कर्म; स्तोकं=थोड़े; भुङ्क्ते=भोगता है; कुदर्शन:=मिथ्यादृष्टि; स:=वह; भव+अरण्य-दु:खेभ्य:=संसार-वन संबंधी दु:खों से; विमोक्षं=छुटकारा; लक्ष्यते=हो सकेगा; कथं=कैसे?

अञ्जलिं=अंजुलि-मात्र; वल्भमानस्य=भक्षण करनेवाले; पुरुषस्य=प्राणी का; दिने-दिने=प्रतिदिन; धान्यस्य=खाद्य-सामग्री के; गृह्णत:=ग्रहण से; खारी=एक माप विशेष/लगभग १०० किलोग्राम प्रमाण; कदा=कब; धान्य-विमुक्तता=धान्य से रहितपना।

न=नहीं; वक्तव्यं=कहना चाहिए; इति=ऐसा; प्राज्ञै:=विशिष्ट ज्ञानिओं द्वारा; कदाचन =कभी; यत:=क्योंकि; भवी=संसारी; कर्म=द्रव्य-कर्म; भुङ्क्ते=भोगता है; बहु=बहुत; स्तोकं=थोड़ा; स्वीकरोति=स्वीकार करता है; विसन्शयं=निश्चित।

अन्यथा=ऐसा नहीं होने पर; एकेन=एक; जीवेन=जीव द्वारा; सर्वेषां=सभी; कर्मणां =कर्मों का; ग्रहे=ग्रहण हो जाने पर; सर्वेषां=सभी; जायते=हो जाता; अन्येषां=अन्यों का; न=नहीं; कथं=कैसे; मुक्ति-सङ्गति:=मोक्ष की प्राप्ति।

समस्तानां=सभी; तथा=उसीप्रकार; एकेन=एक; पुद्गलानां=पुद्गलों का; ग्रहे=ग्रहण हो जाने पर; अङ्गिना=प्राणी द्वारा; अनन्त-अनन्त-कालेन=अनंत-अनंत काल द्वारा; न= नहीं; बन्ध:=बंध; सान्तर:=अंतर-सहित; कथं=कैसे।

अन्वय : य: कुदर्शन: बहु कर्म बध्नाति स्तोकं कर्म भुङ्क्ते, स भव-अरण्य-दु:खेभ्य: विमोक्षं कथं लक्ष्यते? अञ्जलिं बल्भमानस्य पुरुषस्य दिने दिने खारी धान्यस्य गृह्णत: धान्य-विमुक्तता कदा?

प्राज्ञै: कदाचन इति न वक्तव्यं यत: विसन्शयं भवी बहु कर्म भुङ्क्ते स्तोकं स्वीकरोति।

अन्यथा एकेन जीवेन सर्वेषां कर्मणां ग्रहे अन्येषां सर्वेषां मुक्ति-सङ्गति: कथं न जायते? तथा एकेन अङ्गिना समस्तानां पुद्गलानां ग्रहे अनन्त-अनन्त-कालेन सान्तर: बन्ध: कथं न?

वचनिका : जो मिथ्यादृष्टि, बहुत कर्म बाँधता है और थोड़ा कर्म भोगता है; वह, संसाररूपी वन संबंधी दु:खों से मोक्ष कैसे प्राप्त करेगा? जैसे—प्रतिदिन अंजुलि-मात्र धान्य खाने और खारी प्रमाण ग्रहण करने से धान्य की समाप्ति कभी भी नहीं हो सकती।

किसी के ऐसा कहने पर उससे आचार्य कहते हैं—

बुद्धिमानों द्वारा 'न वक्तव्यं'—ऐसा कहना कदाचित् योग्य नहीं है; क्योंकि संसारी जीव वास्तव में बहुत कर्म भोगता है और थोड़ा अंगीकार करता है। यदि ऐसा नहीं हो तो एक जीव द्वारा सभी कर्मों का ग्रहण हो जाने पर शेष अन्य सभी जीवों को मुक्ति की प्राप्ति कैसे नहीं होगी? उसीप्रकार एक जीव द्वारा सभी पुद्गलों का ग्रहण हो जाने पर जीवों के अनंत-अनंत काल बाद अंतर-सहित बंध कैसे नहीं होगा?।।१७-२१/८९-९३।।

'मिथ्यात्व में व्रत नहीं होते हैं'; यह तथ्य अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सस्यानीवोषरे क्षेत्रे निक्षिप्तानि कदाचन।**
न व्रतानि प्ररोहन्ति जीवे मिथ्यात्व-वासिते।।२२/९४।।
ज्यों ऊषर भूमि में बीज कभी उगे नहीं।
त्यों मिथ्यात्व ग्रसित प्राणी में व्रतादि हों नहीं।।२२/९४।।

शब्दशः अर्थ : सस्यानि=धान्य; इव=समान; ऊषरे=बंजर/अनुपजाऊ; क्षेत्रे=भूमि में; निक्षिप्तानि=बोए गए; कदाचन=कभी; न=नहीं; व्रतानि=पाप-त्यागरूप व्रत; प्ररोहन्ति=होते हैं; जीवे=जीव में; मिथ्यात्व-वासिते=विपरीतता से संपन्न।

अन्वय : ऊषरे क्षेत्रे निक्षिप्तानि सस्यानि इव मिथ्यात्व-वासिते जीवे कदाचन व्रतानि न प्ररोहन्ति।

वचनिका : जैसे—ऊषर भूमि में बोया गया धान्य, कभी उत्पन्न नहीं होता है; उसीप्रकार मिथ्यात्व से वासित जीव में व्रत नहीं होते हैं।।२२/९४।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण यह निरूपित है कि मिथ्यात्व से कभी भी सुख नहीं है—

अनुष्टुभ् : **मिथ्यात्वेनानुबिद्धस्य शल्येनेव महीयसा।**
समस्तापन्निधानेन जायते निर्वृत्तिः कुतः?।।२३/९५।।
तीक्ष्ण शल्य सम सब ही आपत्ति भंडारमय।
मिथ्यात्व से अनुबिद्ध को कैसे हो मोक्ष सुख?।।२३/९५।।

शब्दशः अर्थ : मिथ्यात्वेन=विपरीतता से; अनुबिद्धस्य=बिधे हुए का; शल्येन=शल्य से; इव=समान; महीयसा=विशाल/अति तीक्ष्ण; समस्त+आपत्-निधानेन=सभी आपत्तिओं के भंडार; जायते=उत्पन्न होता है; निर्वृत्तिः=मोक्ष-सुख; कुतः=कैसे।

अन्वय : महीयसा शल्येन इव समस्त-आपत्-निधानेन मिथ्यात्वेन अनुबिद्धस्य निर्वृत्तिः कुतः जायते?

वचनिका : जैसे—महा-शल्य द्वारा अनुबिद्ध प्राणी को सुख कहाँ से हो? उसीप्रकार समस्त आपत्तिओं के भंडारमय मिथ्यात्व से अनुबिद्ध प्राणी को सुख कहाँ से हो? नहीं होता है।।२३/९५।।

अब, इस पद्य द्वारा, अनायतन-सेवन से मिथ्यात्व की वृद्धि को सोदाहरण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **षोढानायतनं जन्तोः सेवमानस्य दुःखदम्।**
अपथ्यमिव रोगित्वं मिथ्यात्वं परिवर्धते।।२४-९६।।

अपथ्य रोग-वत् दु:खद अनायतन छहों सभी।
सेवमान प्राणी का बड़ाते मिथ्यात्व ही।।२४/९६।।

शब्दश: अर्थ : षोढ+अनायतनं=छह अनायतन; जन्तो:=प्राणी का; सेवमानस्य=सेवन करनेवाले; दु:खदं=दु:ख देनेवाले; अपथ्यं=अपथ्य को; इव=समान; रोगित्वं=रोगीपना; मिथ्यात्वं=विपरीतपना; परिवर्धते=बड़ाता है।

अन्वय : अपथ्यं रोगित्वं इव दु:खदं षोढ-अनायतनं सेवमानस्य जन्तो: मिथ्यात्वं परिवर्धते।

वचनिका : जैसे—अपथ्य का सेवन करने से रोगीपना बड़ता है; उसीप्रकार दु:खदायक, छह प्रकार के अनायतन का सेवन करनेवाले प्राणी का मिथ्यात्व बड़ता है।।२४/९६।।

अब, इस पद्य द्वारा छह प्रकार के अनायतन, गिनाते हैं—

अनुष्टुभ् : **मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रै: सह भाषिता:।**
तदाधारजना: पापा: षोढानायतनं जिनै:।।२५/९७।।
मिथ्यादर्शन-विज्ञान-चारित्र सब पापमय।
तत् आधार प्राणी षट् अनायतन कहें जिन।।२५/९७।।

शब्दश: अर्थ : मिथ्यादर्शन-विज्ञान-चारित्रै:=मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान, मिथ्या-चारित्र से; सह=साथ; भाषिता:=कहे गए हैं; तत+आधार-जना:=उनके आधारभूत व्यक्ति; पापा: =पापोंमय; षोढ+अनायतनं=छह अनायतन; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा।

अन्वय : मिथ्यादर्शन-विज्ञान-चारित्रै: सह पापा: तत्-आधार-जना: षोढ-अनायतनं जिनै: भाषिता:।

वचनिका : मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान, मिथ्या-चारित्र—इन तीनों से सहित, पापरूप, उन मिथ्या-दर्शनादि के आधारभूत मनुष्य—ये छह प्रकार के अनायतन, जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे हैं।

भावार्थ : मिथ्या-दर्शन, मिथ्या-ज्ञान, मिथ्या-चारित्र—ये तीन और उनके धारक व्यक्ति तीन; इसप्रकार छह अनायतन जानना। आयतन नाम, स्थान का है। ये धर्म के स्थान नहीं हैं; अत: अनायतन कहलाते हैं।।२५/९७।।

अब, इस पद्य द्वारा सात प्रकार के मिथ्यादृष्टिओं को कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **एकैकं वा त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे त्रय:।**
एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शना:।।२६/९८।।
एक-एक न मानें त्रय दो-दो न त्रय त्रय भी।
न मानें हुआ एक सप्तधा मिथ्यात्व ही।।२६/९८।।

शब्दश: अर्थ : एक+एकं=एक-एक को; न=नहीं; त्रय:=तीन; द्वे=दो, द्वे=दो; रोचन्ते =मानते हैं; न=नहीं; परे=अन्य; त्रय:=तीन; एक:=एक; त्रीणि=तीन को; इति=इसप्रकार; जायन्ते=हो जाते हैं; सप्त=सात; अपि=भी; एते=ये; कुदर्शना:=मिथ्यात्व।

अन्वय : एक-एकं न रोचन्ते इति त्रय:, परे द्वे द्वे न रोचन्ते इति त्रय:, त्रीणि न रोचन्ते इति एक:; इति एते कुदर्शना: सप्त अपि जायन्ते।

वचनिका : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में से एक-एक को नहीं माननेवाले तीन हैं। तीन मिथ्यादृष्टि, दो-दो को नहीं मानते हैं और एक, तीनों को नहीं मानता है—इसप्रकार ये सात मिथ्यादृष्टि होते हैं।।२६-९८।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यादृष्टि की दशा का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **दवीय: कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम्।**
अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि।।२७/९९।।

इष्ट स्थान को दूर करे कुमति विविध तपों।
से भी, अन्यत्र जाने का इच्छुक अन्यत्र जाए ज्यों।।२७/९९।।

शब्दश: अर्थ : दवीय:=दूर; कुरुते=करता है; स्थानं=जगह/दशा; मिथ्यादृष्टि=विपरीत श्रद्धानवाला; अभीप्सितं=इच्छित/इष्ट; अन्यत्र=दूसरे स्थान पर; गम-कारी=जानेवाला; इव=समान; घोरै:=अति कष्टप्रद; युक्त:=सहित; व्रतै:=व्रतों से; अपि=भी।

अन्वय : अन्यत्र गम-कारी इव घोरै: तपै: युक्त: अपि मिथ्यादृष्टि: अभीप्सितं स्थानं दवीय: कुरुते।

वचनिका : अन्य स्थान को जानेवाले के समान; घोर व्रतों से सहित भी मिथ्यादृष्टि, वांक्षित स्थान को अति दूर करता है।

भावार्थ : जैसे—मार्ग से अन्यत्र चलनेवाला, बहुत चलते हुए भी वांक्षित स्थान को उल्टा दूर करता है; उसीप्रकार मिथ्यादृष्टि, घोर तप करता हुआ भी वांक्षित मोक्ष-पद को उल्टा दूर करता है, कर्म बाँधता है—ऐसा जानना।।२७/९९।।

अब, इस पद्य द्वारा उपमाओं के माध्यम से मिथ्यात्व की भयंकरता को दिखाते हैं—

अनुष्टुभ् : **न मिथ्यात्वसम: शत्रुर्न मिथ्यात्वसमं विषम्।**
न मिथ्यात्वसमो रोगो न मिथ्यात्वसमं तम:।।२८/१००।।

मिथ्यात्व-सम नहीं शत्रु नहिं मिथ्यात्व समान विष।
मिथ्यात्व सम नहीं रोग नहिं मिथ्यात्व समान तम।।२८/१००।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; मिथ्यात्व-सम:=मिथ्यात्व के समान; शत्रु:=बैरी; न=नहीं; मिथ्यात्व-समं=मिथ्यात्व के समान; विषं=विष; न=नहीं; मिथ्यात्व-सम:=मिथ्यात्व के समान; रोग:=रोग; न=नहीं; मिथ्यात्व-समं=मिथ्यात्व के समान; तम:=अंधकार।

अन्वय : मिथ्यात्व-सम: शत्रु: न, मिथ्यात्व-समं विषं न, मिथ्यात्व-सम: रोग: न, मिथ्यात्व-समं तम: न।

वचनिका : मिथ्यात्व के समान बैरी नहीं है, मिथ्यात्व के समान विष नहीं है, मिथ्यात्व के समान रोग नहीं है और मिथ्यात्व के समान अंधकार नहीं है।।२८/१००।।

अब, इस पद्य द्वारा, बैरी आदि से भी मिथ्यात्व की भयंकरता को अधिकाधिक सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **द्विषद्विष-तमो-रोगैर्दु:खमेकत्र जायते।**
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन जन्तोर्जन्मनि जन्मनि।।२९/१०१।।

बैरी विष तमो रोग एक ही भव दु:ख दें।
दुरंत मिथ्यात्व से प्राणी दु:ख भव-भव में सहे।।२९-१०१।।

शब्दश: अर्थ : द्विषत्-विष-तम:-रोगै:=बैरी, विष, अंधकार, रोग द्वारा; दु:खं=दु:ख; एकत्र=एक ही भव में; दीयते=दिया जाता है; मिथ्यात्वेन=विपरीतता से; दुरन्तेन=कठिनाई से नष्ट होनेवाले; जन्तो:=प्राणी को; जन्मनि=जन्म में; जन्मनि=जन्म में।

अन्वय : द्विषत्-विष-तमो-रोगै: एकत्र दु:खं दीयते; दुरन्तेन मिथ्यात्वेन जन्मनि-जन्मनि जन्तो: दु:खं दीयते।

वचनिका : बैरी, विष, अंधकार, रोग—इन द्वारा दु:ख, एक जन्म में दिया जाता है; परंतु दूर है अंत जिसका अथवा कठिन है समाप्त करना जिसे, ऐसे मिथ्यात्व द्वारा जीव को जन्म-जन्म में दु:ख दिया जाता है।।२९/१०१।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: मिथ्यात्व की भयंकरता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **वरं ज्वालाकुले क्षिप्तो देहिनात्मा हुताशने।**
न तु मिथ्यात्वसंयुक्तं जीवितव्यं कथञ्चन।।३०/१०२।।

अच्छा स्वयं को ज्वालामय अग्नि में डालना।
पर मिथ्यात्व युत जीवन किसी प्रकार नहीं भला।।३०-१०२।।

शब्दश: अर्थ : वरं=अच्छा; ज्वाला-कुले=ज्वालाओं के समूहवाली; क्षिप्त:=डालना; देहिन्+आत्मा=शरीर-धारी आत्मा; हुताशने=अग्नि में; न=नहीं; तु=परंतु; मिथ्यात्व-संयुक्तं=विपरीतता-सहित; जीवितव्यं=जीवन; कथञ्चन=किसी अपेक्षा/कैसे भी।

अन्वय : देहिनात्मा ज्वाला-कुले हुताशने क्षिप्तः वरं, तु मिथ्यात्व-संयुक्तं जीवितव्यं कथञ्चन वरं न।

वचनिका : ज्वालाओं से आकुल/परिपूर्ण अग्नि में स्वयं को फेंकना भला है; परंतु मिथ्यात्व-सहित जीवित रहना, किसी भी प्रकार से भला नहीं है।।३०/१०२।।

मिथ्यात्व कभी भी शांति के लिए नहीं है; इसे अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पापे प्रवर्त्यते येन येन धर्मान्निवर्त्यते।**
दुःखे निक्षिप्यते येन तन्मिथ्यात्वं न शान्तये।।३१/१०३।।

पाप में प्रवृत्ति हो जिससे धर्म से हटें।
दुःख में डाला जाए वह मिथ्यात्व न शांति दे।।३१/१०३।।

शब्दशः अर्थ : पापे=पाप में; प्रवर्त्यते=प्रवृत्ति हो; येन=जिससे; येन=जिससे; धर्मात्=धर्म से; निवर्त्यते=हट जाता है; दुःखे=दुःख में; निक्षिप्यते=डाला जाता है; येन=जिससे; तत्=वह; मिथ्यात्वं=विपरीतता; न=नहीं; शान्तये=शांति के लिए।

अन्वय : येन पापे प्रवर्त्यते येन धर्मात् निवर्त्यते येन दुःखे निक्षिप्यते तत् मिथ्यात्वं शान्तये न।

वचनिका : जिस मिथ्यात्व द्वारा पाप में प्रवृत्ति कराई जाती है, धर्म से परांमुख किया जाता है और दुःख में डाला जाता है; वह मिथ्यात्व शांति के लिए नहीं है।

भावार्थ : मिथ्यात्व का सेवन करके कोई शांति मानता है; परंतु मिथ्यात्व से शांति नहीं होती है; उल्टा विघ्न होता है—ऐसा जानना।।३१/१०३।।

अब, इन पाँच पद्यों द्वारा मिथ्यात्व के फल का वर्णन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **क्षेत्रस्वभावतो घोरा निरन्ता दुःसहाश्चिरम्।**
विविधा दुर्वचाः श्वभ्रे कायमानससम्भवाः।।३२/१०४।।
दाह-वाहाङ्कनच्छेद-शीत-वातादि-गोचराः।
परायत्तेषु तिर्यक्षु विवेक-रहितात्मसु।।३३/१०५।।
दैन्य-दारिद्र्य-दौर्भाग्य-रोग-शोक-पुरस्सराः।
आर्य-म्लेच्छ-प्रकारेषु मानुषेषु निरन्तराः।।३४/१०६।।
स्वस्य हानिं परस्पर्द्धिमीक्षमाणेषु मानिषु।
योज्यमानेषु देवेषु हठतः प्रेष्य-कर्मणि।।३५/१०७।।
मिथ्यात्वेन दुरन्तेन विधीयन्ते शरीरिणाम्।
वेदना दुःसहा भीमा बैरिणेव दुरात्मना।।३६/१०८।।

घोर अंत-विना दुःसह बहुत भूमि स्वभाव से।
विविध दुर्वचन कायिक मानसिक दुख नरक में।।३२/१०४।।
दाह बंधन छेदन शीत उष्ण पवनादि से प्रकट।
अविवेकी पराधीन पशु में अनगिनत दुख।।३३/१०५।।
दैन्य दारिद्र्य दुर्भाग्य रोग शोक अनेक विध।
आर्य म्लेच्छ मनुष्यों में निरंतर दुख प्रकट सब।।३४/१०६।।
हीनता अपनी पर का वैभव देख घमंड से।
बल पूर्वक करें सेवक मानसिक दुख देव में।।३५/१०७।।
दुष्ट बैरी सम दुःसह भयानक दुःख जीव को।
दुरंत मिथ्यात्व से ही हों बहु भवों में अनेकों।।३६/१०८।।

शब्दशः अर्थ : क्षेत्र-स्वभावतः=क्षेत्र के स्वभाव से; घोराः=अति तीव्र; निरन्ताः=अंत-रहित; दुःसहाः=महा कष्ट से सहा जानेवाला; चिरं=दीर्घ-कालीन; विविधाः=अनेक प्रकार का; दुर्वचाः=खोटे वचनों से; श्वभ्रे=नरक में; काय-मानस-सम्भवाः=शरीर और मन से उत्पन्न होनेवाले।

दाह-वाह-अङ्कन-छेद-शीत-वात-आदि-गोचराः=दाह देना, बाँधना, चिन्हित करना, छेदना, ठंड, वायु आदि संबंधी प्रकट; पर+आयत्तेषु=पराधीनता-संपन्न; तिर्यक्षु=तिर्यंचों में; विवेक-रहित+आत्मसु=विवेक से रहित स्वभाववाले।

दैन्य-दारिद्र्य-दौर्भाग्य-रोग-शोक-पुरस्सराः=दीनता, दरिद्रता, दुर्भाग्यपना, रोग, शोक इत्यादि अनेकों; आर्य-म्लेच्छ-प्रकारेषु=आर्य और म्लेच्छ भेदवाले; मानुषेषु=मनुष्यों में; निरन्तराः=सतत।

स्वस्य=अपनी; हानिं=हीनता; परः-पर-ऋद्धिं=एक-दूसरे की ऋद्धि को; ईक्षमाणेषु =देखनेवाले; मानिषु=मान-संपन्न; योज्यमानेषु=लगानेवाले; देवेषु=देवों में; हठतः=बल पूर्वक; प्रेष्य-कर्मणि=सेवा-कार्य में।

मिथ्यात्वेन=विपरीतपने द्वारा; दुः-अन्तेन=कठिनाई से समाप्त होनेवाले; विधीयन्ते= किए जाते हैं; शरीरिणां=प्राणिओं के; वेदनाः=दुःख; दुःसहाः=महा कष्ट से सहन होनेवाले; भीमाः=भयंकर; बैरिणा=बैरी द्वारा; इव=समान; दुः-आत्मना=दुष्ट।

अन्वय : दुरात्मना बैरिणा इव दुरन्तेन मिथ्यात्वेन शरीरिणां श्वभ्रे क्षेत्र-स्वभावतः चिरं विविधाः दुर्वचाः काय-मानस-सम्भवाः घोराः निरन्ताः दुःसहाः; विवेक-रहित-आत्मसु

पर-आयत्तेषु तिर्यक्षु दाह-वाह-अङ्कन-छेद-शीत-वात-आदि-गोचरा:; आर्य-म्लेच्छ-प्रकारेषु मानुषेषु निरन्तरा: दैन्य-दारिद्र्य-दौर्भाग्य-रोग-शोक-पुरस्सरा:; परस्पर-ऋद्धिं ईक्षमाणेषु मानिषु हठत: प्रेष्य-कर्मणि योज्यमानेषु देवेषु स्वस्य हानिं दु:सहा: भीमा: वेदना विधीयन्ते।

वचनिका : क्षेत्र के स्वभाव से भयानक और अंत-रहित, दु:ख पूर्वक सही जानेवाली, नाना प्रकार के दुर्वचनों से और शरीर-मन से उत्पन्न हुई, बहुत काल पर्यंत रहनेवाली, नरक संबंधी दु:ख-वेदना; विवेक-रहित, पराधीन तिर्यंच-योनि में दाह देना, बाँधना, चिन्ह करना, शीत, वात इत्यादि से प्रकट हुई पीड़ा; आर्य-म्लेच्छ भेदवाले मनुष्यों में निरंतर दीनता, दरिद्रता, दुर्भाग्यपना, रोग, शोक आदि अनेक वेदना; हठ से चाकरी/सेवा के कार्य में लगाए जाने, अपनी हानि और दूसरों की वृद्धि देखने से, मानी देवों में दु:ख पूर्वक सुनी जानेवाली भयानक वेदना; दुष्ट बैरी के समान, अंत की दूरतावाले अथवा कष्ट पूर्वक समाप्त होनेवाले मिथ्यात्व द्वारा जीवों के लिए की जाती है।

भावार्थ : चार गति संबंधी दु:खों का मूल कारण एक मिथ्यात्व है—ऐसा जानना।।३२-३६/१०४-१०८।।

मिथ्यात्व, दु:ख देते हुए कभी रुकता नहीं है; अब, यह इससे प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **यान्यन्यान्यपि दु:खानि सन्साराम्भोधिवर्तिनाम्।**
न जातु यच्छता तानि मिथ्यात्वेन विरम्यते।।३७/१०९।।
भवोदधि मग्न जीवों को और भी जो दु:ख हैं।
उन्हें देता मिथ्यात्व रंच-मात्र नहीं रुके।।३७-१०९।।

शब्दश: अर्थ : यानि=जो; अन्यानि=दूसरे; अपि=भी; दु:खानि=दु:ख; सन्सार+अम्भोधि-वर्तिनां=संसाररूपी समुद्र में मग्न जीवों के; न=नहीं; जातु=रंच-मात्र; यच्छता=देते हुए; तानि=उन्हें; मिथ्यात्वेन=मिथ्यात्व द्वारा; विरम्यते=विराम किया जाता है।

अन्वय : सन्सार-अम्भोधि-वर्तिनां यानि अन्यानि अपि दु:खानि; तानि यच्छता मिथ्यात्वेन जातु न विरम्यते।

वचनिका : संसार-समुद्रवर्ती प्राणिओं को और भी जो दु:ख हैं; उन्हें देता हुआ मिथ्यात्व, उनसे अंत को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : और भी अनेक दु:खों को देता मिथ्यात्व, विराम नहीं पाता है; निरंतर दु:ख देता रहता है।।३७/१०९।।

मिथ्यात्व के अतिरिक्त अन्य कोई दु:ख-दाई नहीं है; इसे अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **विवेको हन्यते येन मूढता येन जन्यते।**
मिथ्यात्वत: परं तस्मात् दु:खदं किमु विद्यते।।३८/११०।।

जिससे विवेक मिट जाता मूढता उत्पन्न हो।
उस मिथ्यात्व से बड़कर दु:ख-दाई कौन हो?।।३८/११०।।

शब्दश: अर्थ : विवेक:=योग्य-अयोग्य का भेद करनेवाला ज्ञान; हन्यते=घाता जाता है; येन=जिससे; मूढता=मूर्खता; जन्यते=प्रकट होती है; मिथ्यात्वत:=मिथ्यात्व से; परं=अन्य; तस्मात्=उससे; दु:खदं=दु:ख देनेवाले; किमु=क्या/कौन; विद्यते=है।

अन्वय : येन विवेक: हन्यते येन मूढता जन्यते; तस्मात् मिथ्यात्वत: परं दु:खदं किमु विद्यते?

वचनिका : जिससे विवेक घाता जाता है, अचेतपना उत्पन्न किया जाता है; उस मिथ्यात्व के सिवाय दूसरा कौन दु:ख देनेवाला है? अपितु नहीं है।।३८/११०।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व का महत्त्व बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम्।**
मिथ्यात्वविषमुत्सृज्य सम्यक्त्वं येन गृह्यते।।३९/१११।।

मिथ्यात्वरूपी विष तजकर ग्रहा सम्यक्त्व भाव जिस।
जन्म फल पाया उसने उसका जीवन सार्थक।।३९/१११।।

शब्दश: अर्थ : लब्धं=प्राप्त किया; जन्म-फलं=जन्म के फल को; तेन=उससे; सार्थकं=प्रयोजन-सहित; तस्य=उसका; जीवितं=जीवन; मिथ्यात्व-विषं=विपरीततारूपी जहर को; उत्सृज्य=छोड़कर; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; येन=जिसके द्वारा; गृह्यते=ग्रहण किया गया।

अन्वय : येन मिथ्यात्व-विषं उत्सृज्य सम्यक्त्वं गृह्यते, तेन जन्म-फलं लब्धं, तस्य जीवितं सार्थकम्।

वचनिका : जिस जीव द्वारा मिथ्यात्व का विष त्याग कर सम्यक्त्व को ग्रहण किया गया है; उस जीव ने जन्म का फल पाया है और उसका जीवन सार्थक है, प्रयोजन-सहित है।।३९/१११।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा सम्यक्त्व-प्राप्ति की पात्रता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **भव्य: पञ्चेन्द्रिय: पूर्ण: लब्धकालादिलब्धिक:।**
पुद्गलार्ध-परावर्ते काले शेषे स्थिते सति।।४०/११२।।

अन्तर्मुहूर्त-कालेन निर्मली-कृत-मानसः।
आद्यं गृह्णाति सम्यक्त्वं कर्मणां प्रशमे सति।।४१/११३।।

भव्य पर्याप्त पंचेंद्रिय वा कालादि लब्धिआँ।
अर्धपुद्गल परावर्तन काल बस संसार का।।४०/११२।।
अंतर्मुहूर्त में निर्मल चित्त वाला ग्रहण करे।
प्रथमोपशम सम्यक्त्व उपशम होते कर्म का।।४१/११३।।

शब्दशः अर्थ : भव्यः=मोक्ष जाने-योग्य; पञ्चेन्द्रियः=पाँचों इंद्रियोंवाला; पूर्णः=पर्याप्तक; लब्ध-काल+आदि-लब्धिकः=काल आदि लब्धिओं की प्राप्ति-संपन्न; पुद्गल+अर्ध-परावर्ते=अर्ध पुद्गल परिवर्तन; काले=समय; शेषे=शेष; स्थिते=रहने; सति=पर।

अन्तर्मुहूर्त-कालेन=अंतर्मुहूर्त काल द्वारा; निर्मली-कृत-मानसः=मन को पवित्र करनेवाला; आद्यं=पहले/प्रथमोपशम; गृह्णाति=ग्रहण करता है; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व को; कर्मणां=कर्मों का; प्रशमे=उपशम; सति=होने पर।

अन्वय : पुद्गल-अर्ध-परावर्ते काले शेषे स्थिते सति पञ्चेन्द्रियः पूर्णः लब्ध-काल-आदि-लब्धिकः भव्यः निर्मली-कृत-मानसः अन्तर्मुहूर्त-कालेन कर्मणां प्रशमे सति आद्यं सम्यक्त्वं गृह्णाति।

वचनिका : भव्य, पंचेंद्रिय, पर्याप्तक, काल आदि लब्धिओं को प्राप्त करनेवाला; अर्ध पुद्गल परिवर्तन काल शेष रहने पर अंतर्मुहूर्त काल द्वारा निर्मल मन करनेवाला जीव, कर्मों का उपशम होने पर प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करता है।।४०-४१/११२-११३।।

इस सम्यक्त्व के बाद की स्थिति को अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **निशीथं वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम्।**
पश्चादायाति मिथ्यात्वं सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम्।।४२-११४।।

मलिन रात्रि ज्यों पावन दिवस उपरांत प्राप्त हो।
इस सम्यक्त्व के उपरांत त्यों मिथ्यात्व प्राप्त हो।।४२/११४।।

शब्दशः अर्थ : निशीथं=रात्रि; वासरस्य=दिन का; इव=समान; निर्मलस्य=पवित्र; मलीमसं=मलिन; पश्चात्=बाद में; आयाति=आ जाता है; मिथ्यात्वं=विपरीतपना; सम्यक्त्वस्य=सम्यक्त्व का; अस्य=इस; निश्चितं=नियम से।

अन्वय : निर्मलस्य वासरस्य पश्चात् मलीमसं निशीथं इव अस्य सम्यक्त्वस्य पश्चात् मिथ्यात्वं निश्चितं आयाति।

वचनिका : जैसे—निर्मल दिन के बाद अवश्य मलिन रात्रि आती है; उसीप्रकार इस

प्रथमोपशम-सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त बाद अवश्य ही मिथ्यात्व आता है।।४२/११४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसके बाद की स्थिति का निरूपण है—

अनुष्टुभ् : **तस्य प्रपद्यते पश्चान्महात्मा कोऽपि वेदकम्।**
तस्यापि क्षायिकं कश्चिदासन्नीभूतनिर्वृतिः।।४३/११५।।

कोई महा-पुरुष उसके बाद समकित वेदकी।
हों अति निकट भवि कोई उससे समकित क्षायिकी।।४३-११५।।

शब्दशः अर्थ : तस्य=उसका; प्रपद्यते=प्राप्त होता है; पश्चात्=बाद में; महात्मा=महापुरुष; कः=कोई; अपि=भी; वेदकं=वेदक; तस्य=उसका; अपि=भी; क्षायिकं=क्षायिक; कश्चित् =कोई; आसन्नीभूत-निर्वृत्तिः=अत्यंत निकट है मोक्ष जिसका, वह।

अन्वय : तस्य पश्चात् कः अपि महात्मा वेदकं प्रपद्यते; तस्य पश्चात् अपि आसन्नीभूतनिर्वृत्तिः कश्चित् क्षायिकं प्रपद्यते।

वचनिका : उसके बाद कोई महात्मा पुरुष, वेदक-सम्यक्त्व को प्राप्त होता है और उसके बाद आसन्न-मुक्तिवाला कोई महात्मा पुरुष, क्षायिक-सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।।४३/११५।।

अब, इन चार पद्यों द्वारा सम्यक्त्व होने की प्रक्रिया प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **लब्धशुद्धपरीणामः कल्मषस्थितिहानिकृत्।**
अनन्तगुणया शुद्ध्या वर्धमानः क्षणे क्षणे।।४४/११६।।
प्रकृतीनामशस्तानामनुभागस्य खर्बकः।
वर्धकः पुनरन्यासां युक्तायुक्तविवेचकः।।४५/११७।।
स्थितेऽन्तःकोटिकोटीकस्थितिके सति कर्मणि।
अधः प्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते पुरा।।४६/११८।।
अपूर्वं करणं तस्मात्तस्मादप्यनिवृत्तिकम्।
विदधाति परीणामः शुद्ध-कारी क्षणे क्षणे।।४७/११९।।

पाप कर्मस्थिति हानि युत परिणाम विशुद्धिमय।
अनंत गुण शुद्धि से प्रतिक्षण वह वृद्धिंगत।।४४/११६।।
अप्रशस्त प्रकृतिओं के कम होते अनुभाग युत।
पुण्य अनुभाग वर्धनयुत योग्यायोग्य विवेकयुत।।४५/११७।।
अंतःकोड़ाकोड़ीमय सागर स्थिति कर्म की।
रहते अधःप्रवृत्तियुत करते करण सु आदि ही।।४६/११८।।

अपूर्वकरण उसके बाद उससे अनिवृत्तिकरण।
प्रतिक्षण बड़ती शुद्धि से धारे दशा सुशुद्धिमय।।४७/११९।।

शब्दश: अर्थ : लब्ध-शुद्ध-परीणाम:=शुद्ध-भावों को प्राप्त हुआ; कल्मष-स्थिति-हानि-कृत्=पाप-प्रकृतिओं की स्थिति को कम करनेवाला; अनन्त-गुणया=अनंत गुणी; शुद्ध्या=शुद्धि से; वर्धमान:=बड़ता हुआ; क्षणे-क्षणे=प्रतिक्षण।

प्रकृतीनां=प्रकृतिओं का; अशस्तानां=पाप; अनुभागस्य=अनुभाग का; खर्वक:= घटानेवाला; वर्धक:=बड़ानेवाला; पुन:=और; अन्यासां=अन्य/पुण्य प्रकृतिओं का; युक्त+अयुक्त-विवेचक:=योग्य और अयोग्य का विवेक रखनेवाला।

स्थिते=विद्यमान; अन्त:-कोटि-कोटीक-स्थितिके=अंत:-कोड़ाकोड़ी की स्थितिवाले; सति=होने पर; कर्मणि=कर्म; अध:-प्रवृत्तिकं=अध:प्रवृत्ति संबंधी; नाम= संज्ञा; करणं=परिणाम को; कुरुते=करता है; पुरा=सबसे पहले।

अपूर्वं=नवीन; करणं=परिणाम; तस्मात्=उसके बाद; तस्मात्=उसके बाद; अपि= भी; अनिवृत्तिकं=अनिवृत्तिकरण को; विदधाति=धारण करता है; परीणाम:=दशा; शुद्ध-कारी=शुद्ध करनेवाली; क्षणे-क्षणे=प्रतिक्षण।

अन्वय : कल्मष-स्थिति-हानि-कृत् लब्ध-शुद्ध-परीणाम: क्षणे क्षणे अनन्त-गुणया शुद्ध्या वर्धमान:; अशस्तानां प्रकृतीनां अनुभागस्य खर्वक: पुन: अन्यासां वर्धक: युक्त+अयुक्त-विवेचक:; स्थिते कर्मणि अन्त:-कोटि-कोटीक-स्थितिके सति पुरा अध:-प्रवृत्तिकं नाम करणं कुरुते; तस्मात् अपूर्वं करणं तस्मात् अपि अनिवृत्तिकं क्षणे क्षणे शुद्ध-कारी परीणाम: विदधाति।

वचनिका : विशुद्ध परिणामों को प्राप्त करनेवाला, पाप-प्रकृतिओं की स्थिति की हानि करनेवाला, प्रति-समय अनंत गुणी शुद्धि से बड़ता हुआ; अप्रशस्त-प्रकृतिओं के अनुभाग को घटानेवाला, अन्य प्रशस्त-प्रकृतिओं के अनुभाग को बड़ानेवाला, योग्य-अयोग्य का विवेकवान; जीव, कर्मों की स्थिति अंत:-कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो जाने पर सर्व-प्रथम अध:-प्रवृत्ति नामक करण करता है।

उसके बाद प्रति-समय परिणामों की शुद्धि करता हुआ अपूर्व-करण करता है, उसके बाद अनिवृत्ति-करण करता है।

भावार्थ : उपशम/औपशमिक सम्यक्त्व के अंतर्मुहूर्त पहले अध:-करण, अपूर्व-करण, अनिवृत्ति-करण—ऐसे तीन करण होते हैं।

इनका विशेष स्वरूप श्रीमद् गोम्मटसार में कहा है; वहाँ से जानना।।४४-४७/११६-११९।।

अब, इस पद्य द्वारा अध:-प्रवृत्त-करण का कार्य बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तत्राद्यकरणे नास्ति छेदः स्थित्यनुभागयोः।**
अनन्त-गुणया शुद्ध्या कर्म बध्नाति केवलम्।।४८/१२०।।

स्थिति अनुभाग का छेदन अध:-करण में नहीं।
अनंत गुण विशुद्धि से मात्र बँधते कर्म ही।।४८/१२०।।

शब्दश: अर्थ : तत्र=वहाँ; आद्य-करणे=पहले/अध:-प्रवृत्त-करण में; नास्ति=नहीं है; छेद:=खंड; स्थिति+अनुभागयो:=स्थिति और अनुभाग का; अनन्त-गुणया=अनंत गुणी; शुद्ध्या=विशुद्धि से; कर्म=ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म; बध्नाति=बँधता है; केवलं=मात्र।

अन्वय : तत्र आद्य-करणे स्थिति-अनुभागयो: छेद: नास्ति, अनन्त-गुणया शुद्ध्या केवलं कर्म बध्नाति।

वचनिका : वहाँ पहले अध:-करण में स्थिति और अनुभाग का छेद नहीं है; अनंत-गुणी विशुद्धि से पुण्य-कर्म का मात्र बंध होता है।।४८/१२०।।

अब, इस पद्य द्वारा अपूर्व-करण का कार्य निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **द्वितीयं कुरुते तत्र किञ्चित्स्थितिरसक्षयम्।**
शुभानामशुभानां च वर्धयन् ह्रासयन् रसम्।।४९/१२१।।

अनुभाग शुभ का बड़ते पाप का घटते हुए।
अपूर्वकरण में किंचित् स्थिति रस क्षय भी कहे।।४९/१२१।।

शब्दश: अर्थ : द्वितीयं=दूसरा/अपूर्व-करण; कुरुते=करता है; तत्र=उसमें; किञ्चित्=कुछ; स्थिति-रस-क्षयं=स्थिति और अनुभाग का क्षय; शुभानां=पुण्य का; अशुभानां=पाप का; च=और; वर्धयन्=बड़ता हुआ; ह्रासयन्=घटता हुआ; रसं=अनुभाग को।

अन्वय : तत्र शुभानां रसं वर्धयन् च अशुभानां रसं ह्रासयन् द्वितीयं किञ्चित् स्थिति-रस-क्षयं कुरुते।

वचनिका : वहाँ दूसरा अपूर्व-करण, कुछ स्थिति-कांडक-घात और अनुभाग-कांडक-घात करता है। वह अपूर्व-करण कैसा है? अतिशयता पूर्वक/विशेषरूप से प्रति-समय शुभ-प्रकृतिओं को बड़ाता है और अशुभ-प्रकृतिओं को घटाता है।।४९/१२१।।

नोट – यहाँ अनिवृत्ति-करण का कार्य-प्रतिपादक पद्य छूटा है। शोधार्थ प्रयास आवश्यक है।

अब, इस पद्य द्वारा प्रत्येक का काल बता अंतर-करण की स्थिति का निरूपण है—

अनुष्टुभ् : **अन्तर्मुहूर्तक: कालस्तेषां प्रत्येकमिष्यते।**
अन्तिमे* कुरुते तस्मिन्नन्तरं करणं परम्।।५०/१२२।।

प्रत्येक का उनमें से समय अंतर्मुहूर्त है।
उनके अंत में होता अंतर-करण श्रेष्ठ है।।५०/१२२।।

शब्दश: अर्थ : अन्तर्मुहूर्तक:=अंतर्मुहूर्त पर्यंत; काल:=समय; तेषां=उनका; प्रत्येकं=एक-एक का; इष्यते=स्वीकार किया है; अन्तिमे=अंत में; कुरुते=करता है; तस्मिन्=उसमें; अन्तरं करणं=अंतर-करण; परं=दूसरा/श्रेष्ठ।

अन्वय : तेषां प्रत्येकं काल: अन्तर्मुहूर्तक: इष्यते; तस्मिन् अन्तिमे परं अन्तरं करणं कुरुते।

वचनिका : उनमें प्रत्येक का अंतर्मुहूर्त काल जानना। उनमें से अंत में अन्य/श्रेष्ठ अंतर-करण करता है।।५०/१२२।।

अब, इस पद्य द्वारा अंतर-करण का कार्य दिखाते हैं—

अनुष्टुभ् : **आन्तरे करणे तत्र सहानन्तानुबन्धिभि:।**
अन्तर्मुहूर्तकालेन मिथ्यात्वमपवर्तते।।५१/१२३।।

अंतर्मुहूर्त समयों से अंतर-करण में वहाँ।
अनंतानुबंधी युत अपवर्तन मिथ्यात्व का।।५१/१२३।।

शब्दश: अर्थ : आन्तरे=अंत:; करणे=करण में; तत्र=वहाँ; सह=साथ; अनन्त+अनुबन्धिभि:=अनंतानुबंधी से; अन्तर्मुहूर्त-कालेन=अंतर्मुहूर्त काल द्वारा; मिथ्यात्वं=विपरीतपना; अपवर्तिते=अपवर्तित हो/घट जाता है।

अन्वय : तत्र आन्तरे करणे अनन्तानुबन्धिभि: सह मिथ्यात्वं अन्तर्मुहूर्त-कालेन अपवर्तते।

वचनिका : उस अंतर-करण में अंतर्मुहूर्त काल द्वारा अनंतानुबंधी-सहित मिथ्यात्व का अपवर्तन होता है।।५१/१२३।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रथमोपशम-सम्यक्त्व का नैमित्तिक कार्य दिखाते हैं—

अनुष्टुभ् : **मिथ्यात्वं भिद्यते भेदै: शुद्धाशुद्ध-विमिश्रितै:।**
तत: सम्यक्त्वमिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वनामभि:।।५२-१२४।।

प्रथमोपशम समकित से तीन भेद मिथ्यात्व के।
सम्यक् मिथ्या मिश्र शुद्धाशुद्ध विमिश्र ये।।५२-१२४।।

---

* **यहाँ प्रकाशित प्रति में 'आदिमे' पाठ है; पर वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है; क्योंकि अंतर-करण, अंतिम करण में अंत में होता है; अत: मैंने 'अन्तिमे' पाठ दिया है। शोधार्थी निर्णय करें।**

शब्दश: अर्थ : मिथ्यात्वं=मिथ्यात्व; भिद्यते=खंडित हो जाता है; भेदै:=भेदों द्वारा; शुद्ध+अशुद्ध-विमिश्रकै:=शुद्ध, अशुद्ध और मिश्ररूप; तत:=उससे; सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-नामभि:=सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व नामवाले।

अन्वय : तत: सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-नामभि: शुद्ध-अशुद्ध-विमिश्रकै: भेदै: मिथ्यात्वं भिद्यते।

वचनिका : उससे शुद्ध, अशुद्ध और मिले हुए (क्रमश:) सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व नामवाले भेदों से मिथ्यात्व भेदित हो जाता है।

भावार्थ : प्रथमोपशम/औपशमिक सम्यक्त्व से मिथ्यात्व/दर्शन-मोहनीय का द्रव्य; मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृतिरूप परिणम जाता है।।५२/१२४।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रथमोपशम-सम्यक्त्व प्रकट होने की प्रक्रिया वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **प्रशमय्य ततो भव्य: कर्मप्रकृतिसप्तकम्।**
आन्तर्मौहूर्तिकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते।।५३/१२५।।

उससे भव्य दबा सातों कर्म प्रकृति प्रकट करे।
अंतर्मुहूर्त पर्यंत प्रथमोपशम सम्यक्त्व ये।।५३/१२५।।

शब्दश: अर्थ : प्रशमय्य=उपशमित कर; तत:=उससे; भव्य:=सिद्ध होने की योग्यतावाला; कर्म-प्रकृति-सप्तकं=सातों कर्म-प्रकृतिआँ; आन्तर्मौहूर्तिकं=अंतर्मुहूर्त कालवाले; पूर्वं= पहले; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व को; प्रतिपद्यते=प्राप्त होता है।

अन्वय : तत: भव्य: कर्म-प्रकृति-सप्तकं प्रशमय्य आन्तर्मौहूर्तिकं पूर्वं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते।

वचनिका : उसके बाद भव्य-जीव, सात प्रकृतिओं का उपशम कर अंतर्मुहूर्त की स्थितिवाले प्रथमोपशम-सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

भावार्थ : अनादि मिथ्यादृष्टि तो मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी चतुष्क — इन पाँच प्रकृतिओं का और सादि मिथ्यादृष्टि, अनंतानुबंधी चतुष्क-सहित मिथ्यात्व आदि तीन — इन सात प्रकृतिओं का उपशम कर सम्यक्त्वी होता है — यह विशेष है।।५३/१२५।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षायिक-सम्यक्त्व का कर्म-सापेक्ष स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **क्षपयित्वा पर: कश्चित् कर्मप्रकृतिसप्तकम्।**
आदत्ते क्षायिकं पूर्वं सम्यक्त्वं मुक्तिकारणम्।।५४/१२६।।

सात कर्म प्रकृति क्षय कर कोई ग्रहण करे।
मोक्ष का पहला कारण क्षायिक सम्यक्त्व अन्य ले।।५४/१२६।।

शब्दश: अर्थ : क्षपयित्वा=क्षयकर; पर:=दूसरा; कश्चित्=कोई; कर्म-प्रकृति-सप्तकं=सात कर्म-प्रकृतिओं को; आदत्ते=ग्रहण करता है; क्षायिकं=क्षायिक; पूर्वं=पहला; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; मुक्ति-कारणं=मुक्ति का कारण।

अन्वय : पर: कश्चित् कर्म-प्रकृति-सप्तकं क्षपयित्वा पूर्वं मुक्ति-कारणं क्षायिकं सम्यक्त्वं आदत्ते।

वचनिका : दूसरा कोई जीव, अनंतानुबंधी चार कषाय और मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त्व प्रकृति—इन सात प्रकृतिओं का क्षयकर, मुक्ति के प्रथम कारणभूत क्षायिक-सम्यक्त्व को ग्रहण करता है।।५४/१२६।।

अब, इस पद्य द्वारा वेदक-सम्यक्त्व का कर्म-सापेक्ष-स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रशमे कर्मणां षण्णामुदयस्य क्षये सति।**
आदत्ते वेदकं वन्द्यं सम्यक्त्वस्योदये सति।।५५/१२७।।

षट् कर्मों के उपशम में उदयाभावी विनाश में।
सम्यक्त्व के उदय रहते पूज्य वेदक ग्रहण करे।।५५/१२७।।

शब्दश: अर्थ : प्रशमे=उपशम में; कर्मणां=कर्मों के; षण्णां=छह; उदयस्य=उदय का; क्षये=क्षय; सति=होने पर; आदत्ते=ग्रहण करता है; वेदकं=वेदक; वन्द्यं=पूज्य; सम्यक्त्वस्य =सम्यक्त्व का; उदये=उदय; सति=होने पर।

अन्वय : षण्णां कर्मणां प्रशमे उदयस्य क्षये सति सम्यक्त्वस्य उदये सति वन्द्यं वेदकं आदत्ते।

वचनिका : अनंतानुबंधी कषाय चार और मिथ्यात्व, मिश्र मिथ्यात्व—इन छह कर्मों का (सदवस्थारूप) उपशम होने पर और उदय का क्षय (उदयाभावी क्षय) होने पर तथा सम्यक्त्व-प्रकृति का उदय होने पर वंदन-योग्य वेदक-सम्यक्त्व का ग्रहण करता है।

भावार्थ : वर्तमान में उदय-आने-योग्य निषेकों का, उदय का अभाव है लक्षण जिसका ऐसा क्षय होने पर; उसके बाद उदय-आने-योग्य निषेकों का, उदीरणारूप हो वर्तमान में उदय नहीं आनेरूप उनकी सत्ता है लक्षण जिसका ऐसा उपशम होने पर और देशघातिरूप सम्यक्त्व-प्रकृति का उदय होने पर वेदक-सम्यक्त्व होता है।

जिसके उदय से मल उत्पन्न हो और गुण का अंश भी बना रहे—देशघाति का ऐसा लक्षण सर्वत्र कहा है।।५५/१२७।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षायिक-सम्यक्त्व के गुणस्थान निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **आदिमं त्रितयं हित्वा गुणेषु सकलेष्वपि।**
सम्यक्त्वं क्षायिकं ज्ञेयं मोक्षलक्ष्मीसमर्पकम्।।५६/१२८।।

प्रारंभिक तीन विन सब ही गुणस्थानों में क्षायिक।

सम्यक्त्व जानों मुक्ति लक्ष्मी का प्रदायक।।५६/१२८।।

शब्दशः अर्थ : आदिमं=प्रारंभ के; त्रितयं=तीन को; हित्वा=छोड़कर; गुणेषु=गुणस्थानों में; सकलेषु=सभी; अपि=भी; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; क्षायिकं=क्षायिक; ज्ञेयं=जानना चाहिए; मोक्ष-लक्ष्मी-समर्पकं=मोक्षरूपी लक्ष्मी को देनेवाला।

अन्वय : मोक्ष-लक्ष्मी-समर्पकं क्षायिकं सम्यक्त्वं आदिमं त्रितयं हित्वा सकलेषु अपि गुणेषु ज्ञेयम्।

वचनिका : आदि के मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र—इन तीन गुणस्थानों को छोड़कर शेष सभी गुणस्थानों में, मोक्ष-लक्ष्मी को देनेवाला क्षायिक-सम्यक्त्व जानना चाहिए।।५६/१२८।।

अब, इस पद्य द्वारा औपशमिक और वेदक/क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के गुणस्थान प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **तुर्यादारभ्य विज्ञेयमुपशान्तान्तमादिमम्।**

चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे सप्तमे वेदकं पुनः।।५७/१२९।।

चौथे से ग्यारहवें तक जानों उपशम-समकिती।

चौथे पाँचवें छठवें सातवें में है वेदकी।।५७/१२९।।

शब्दशः अर्थ : तुर्यात्=चौथे से; आरभ्य=प्रारंभ कर; विज्ञेयं=जानना चाहिए; उपशान्त+अन्तं=उपशांत-मोह पर्यंत; आदिमं=पहला/औपशमिक-सम्यक्त्व; चतुर्थे=चौथे में; पञ्चमे=पाँचवें में; षष्ठे=छठवें में; सप्तमे=सातवें में; वेदकं=वेदक; पुनः=और।

अन्वय : आदिमं तुर्यात् आरभ्य उपशान्त-अन्तं पुनः वेदकं चतुर्थे पञ्चमे षष्ठे सप्तमे विज्ञेयम्।

वचनिका : चौथे गुणस्थान से लेकर उपशांत-कषाय पर्यंत, आदि का औपशमिक-सम्यक्त्व जानना और चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें गुणस्थान में वेदक-सम्यक्त्व जानना।।५७/१२९।।

अब, इस पद्य द्वारा तीन सम्यक्त्वों को दो भागों में विभक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **साध्यसाधनभेदेन द्विधा सम्यक्त्वमिष्यते।**

कथ्यते क्षायिकं साध्यं साधनं द्वितयं परम्।।५८/१३०।।

सम्यक्त्व के दो भेद साध्य साधन भेद से।

क्षायिक साध्य कहा जानो शेष दो साधन कहे।।५८/१३०।।

शब्दशः अर्थ : साध्य-साधन-भेदेन=साध्य और साधन के भेद से; द्विधा=दो प्रकारवाला; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; इष्यते=माना गया है; कथ्यते=कहा जाता है; क्षायिकं=क्षायिक;

साध्यं=साधने-योग्य; साधनं=साधन; द्वितयं=दो; परं=दूसरे/शेष रहे दो।

अन्वय : साध्य-साधन-भेदेन सम्यक्त्वं द्विधा इष्यते; क्षायिकं साध्यं, परं द्वितयं साधनं कथ्यते।

वचनिका : साध्य और साधन के भेद से दो प्रकार का सम्यक्त्व कहा गया है। (उनमें से) क्षायिक, साध्य/साधने-योग्य है और औपशमिक, वेदक—ये दो साधन हैं।।५८/१३०।।

अब, इस पद्य द्वारा नरक-भूमिओं में सम्यक्त्व की व्यवस्था का निरूपण है—

अनुष्टुभ् : **प्रथमायां त्रयं पृथ्व्यामन्यासु क्षायिकं विना।**
सम्यक्त्वमुच्यते सद्भिर्भवभ्रमणसूदनम्।।५९/१३१।।

पहली पृथ्वी में तीनों अन्य में क्षायिक विना।
सम्यक्त्व भव-भ्रमण नाशक ज्ञानिओं ने यह कहा।।५९/१३१।।

शब्दशः अर्थ : प्रथमायां=पहली; त्रयं=तीनों; पृथ्व्यां=पृथ्वी में; अन्यासु=अन्यों में; क्षायिकं=क्षायिक को; विना=अतिरिक्त; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; उच्यते=कहा है; सद्भिः= सज्जनों द्वारा; भव-भ्रमण-सूदनं=संसार के भ्रमण को नष्ट करनेवाला।

अन्वय : प्रथमायां पृथ्व्यां भव-भ्रमण-सूदनं त्रयं सम्यक्त्वं अन्यासु क्षायिकं विना सद्भिः उच्यते।

वचनिका : प्रथम पृथ्वी में संसार-भ्रमण के नाशक तीनों सम्यक्त्व हैं। शेष छह पृथ्विओं में क्षायिक के विना दो सम्यक्त्व, पंडितों द्वारा कहे गए हैं।।५९/१३१।।

अब, इस पद्य द्वारा शेष गतिओं में सम्यक्त्व की स्थिति बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तिर्यङ्मानवदेवानां सम्यक्त्वं त्रितयं मतम्।**
न निलिम्पीतिरश्चीनां क्षायिकं विद्यते परम्।।६०/१३२।।

मानव तिर्यंच देवों के समकित तीनों ही कहे।
देवी तिर्यंचिनी के नहिं क्षायिक शेष दो कहे।।६०/१३२।।

शब्दशः अर्थ : तिर्यङ्-मानव-देवानां=तिर्यंच, मनुष्य, देवों के; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; त्रितयं=तीनों; मतं=स्वीकृत हैं; न=नहीं; निलिम्पी-तिरश्चीनां=देवी-तिर्यंचिनी के; क्षायिकं=क्षायिक; विद्यते=है; परं=किंतु।

अन्वय : तिर्यङ्-मानव-देवानां त्रितयं सम्यक्त्वं मतं; परं निलिम्पी-तिरश्चीनां क्षायिकं न विद्यते।

वचनिका : तिर्यंच, मनुष्य, देवों के तीनों ही सम्यक्त्व कहे गए हैं; परंतु देवांगनाओं और तिर्यंचिनिओं के क्षायिक-सम्यक्त्व नहीं है।।६०/१३२।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **क्षायोपशमिकस्योक्ताः षट्षष्टिर्जलराशयः।**
आन्तर्मौहूर्तिकी ज्ञेया प्रथमस्य स्थितिः परा।।६१/१३३।।

क्षायोपशमिक की उत्कट छ्यासठ सागर स्थिति।
अंतर्मुहूर्त ही जानो उपशम सम्यक् स्थिति।।६१/१३३।।

शब्दशः अर्थ : क्षायोपशमिकस्य=क्षायोपशमिक की; उक्ताः=कही है; षट्षष्टिः=छ्यासठ; जल-राशयः=सागर; आन्तर्मौहूर्तिकी=अंतर्मुहूर्त; ज्ञेया=जानना चाहिए; प्रथमस्य=पहले/औपशमिक की; परा=उत्कृष्ट; स्थितिः=काल-मर्यादा।

अन्वय : क्षायोपशमिकस्य परा स्थितिः षट्षष्टिः जल-राशयः उक्ताः, प्रथमस्य परा स्थितिः आन्तर्मौहूर्तिकी ज्ञेया।

वचनिका : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति, छ्यासठ सागर की कही है और औपशमिक-सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति, अंतर्मुहूर्त की जाननी।।६१/१३३।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार में क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **पूर्व-कोटि-द्वयोपेतास्त्रयस्त्रिन्शन्नदीशिनः।**
ईषदूना स्थितिर्ज्ञेया क्षायिकस्योत्तमा बुधैः।।६२/१३४।।

कुछ कम दो कोटी पूर्व युत सागर तेतीस की।
क्षायिक समकित की उत्कट भव में स्थिति बुध कही।।६२/१३४।।

शब्दशः अर्थ : पूर्व-कोटि-द्वय-उपेताः=दो पूर्व कोटी से सहित; त्रयस्त्रिन्शत्=तेतीस; नदी+ईशिनः=नदी के स्वामी/सागर; ईषत्+ऊना=थोड़ी कम; स्थितिः=काल-मर्यादा; ज्ञेया=जानना चाहिए; क्षायिकस्य=क्षायिक की; उत्तमा=उत्कृष्ट; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : क्षायिकस्य उत्तमा स्थितिः ईषत् ऊना द्वय-कोटि-पूर्व-उपेताः त्रयस्त्रिन्शत् नदी-ईशिनः बुधैः ज्ञेया।

वचनिका : कुछ कम दो कोटि पूर्व-सहित तेतीस सागर की, क्षायिक-सम्यक्त्व की उत्कृष्ट स्थिति, विद्वानों द्वारा जानना चाहिए।।६२/१३४।।

किन-किन अपर्याप्त-दशाओं में सम्यक्त्व नहीं होता है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अधस्तात् श्वभ्रभूषट्के सर्वत्र प्रमदाजने।**
निकायत्रितयेऽपूर्णे जायते न सुदर्शनः।।६३/१३५।।

नीचे की छह नारक भू सब नारी भवनत्रिक।
दशा अपर्याप्तक में नहिं सम्यग्दर्शन हो प्रकट।।६३-१३५।।

शब्दश: अर्थ : अधस्तात्=नीचे से; श्वभ्र-भू-षट्के=छह नरक-भूमि में; सर्वत्र=सभी; प्रमदा-जने=स्त्री में; निकाय-त्रितये=भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी—इन तीन निकायों में; अपूर्णे=अपर्याप्तक में; जायते=उत्पन्न होता है; न=नहीं; सुदर्शन:=सम्यग्दर्शन।

अन्वय : अधस्तात् श्वभ्र-भू-षट्के सर्वत्र प्रमदा-जने निकाय-त्रितये अपूर्णे सुदर्शन: न जायते।

वचनिका : नीचे से छह नरक-भूमिओं में, सर्वत्र स्त्रिओं में; ज्योतिषी, भवनवासी और व्यंतर—इन तीन निकायवाले देवों में अपर्याप्तक-दशा में सम्यग्दर्शन नहीं होता है।।६३/१३५।।

सम्यग्दृष्टि और कहाँ उत्पन्न नहीं होता? इसे अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पञ्चाक्षं सञ्ज्ञिनं हित्वा परेषु द्वादशस्वपि।**
उत्पद्यते न सद्दृष्टिर्मिथ्यात्वबलभाविषु।।६४/१३६।।

पंचेंद्रिय संज्ञी दो विन प्रबल मिथ्यात्वी का जनम।
बारह जीव समासों में अत: नहिं समकिती जनम।।६४/१३६।।

शब्दश: अर्थ : पञ्च+अक्षं=पाँच इंद्रियवाले; सञ्ज्ञिनं=संज्ञी को; हित्वा=छोड़कर; परेषु =अन्य; द्वादशसु=बारहों में; अपि=भी; उत्पद्यते=उत्पन्न होता है; न=नहीं; सद्दृष्टि:= सम्यग्दृष्टि; मिथ्यात्व-बल-भाविषु=मिथ्यात्व के बल से उत्पन्न होनेवाले।

अन्वय : पञ्च-अक्षं सञ्ज्ञिनं हित्वा मिथ्यात्व-बल-भाविषु परेषु द्वादशसु अपि सद्दृष्टि: न उत्पद्यते।

वचनिका : पंचेंद्रिय संज्ञी पर्याप्त और अपर्याप्त—इन दो जीव-समासों को छोड़कर; मिथ्यात्व के बल से उत्पन्न होनेवाले बादर एकेंद्रिय, सूक्ष्म एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय और असंज्ञी-पंचेंद्रिय—इनके पर्याप्त और अपर्याप्त; इन बारह जीव-समासों में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता है।।६४/१३६।।

अब, इस पद्य द्वारा राग की दृष्टि से सम्यक्त्व के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।**
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरं द्वयम्।।६५/१३७।।

वीतराग सहित-राग समकित है दो भेद युत।
वीतराग सदा क्षायिक राग युत शेष दो कथित।।६५/१३७।।

शब्दश: अर्थ : वीतरागं=रागादि-रहित; सरागं=रागादि-सहित; च=और; सम्यक्त्वं=सत्य-श्रद्धान; कथितं=कहा है, द्विधा=दो प्रकारवाला; विरागं=वीतराग; क्षायिकं=क्षायिक; तत्र=उनमें से; सरागं=राग-सहित; अपरं=शेष रहे; द्वयं=दो।

अन्वय : वीतरागं च सरागं सम्यक्त्वं द्विधा कथितम्। तत्र क्षायिकं विरागं अपरं द्वयं सरागम्।

वचनिका : वीतराग और सराग—सम्यक्त्व इसप्रकार से दो प्रकार का कहा गया है। उनमें से क्षायिक-सम्यक्त्व, वीतराग है और क्षायोपशमिक, औपशमिक—ये दो सम्यक्त्व, सराग हैं।।६५/१३७।।

अब, इस पद्य द्वारा इन दोनों का स्वरूप निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **सम्वेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणम्।**
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षा-लक्षणं परम्।।६६/१३८।।

प्रशम संवेग आस्तिक्य करुणता व्यक्त चिन्ह हैं।
समकित सराग के जानो उपेक्षा वीतराग है।।६६/१३८।।

शब्दश: अर्थ : सम्वेग-प्रशम+आस्तिक्य-कारुण्य-व्यक्त-लक्षणं=धर्म से अनुराग, कषायों की मंदता, परोक्ष पदार्थों का भी श्रद्धान, दयाभाव—ये प्रकट चिन्ह; सरागं=राग-सहित; पटुभि:=प्रवीणों द्वारा; ज्ञेयं=जानना चाहिए; उपेक्षा-लक्षणं=मध्यस्थ वृत्तिरूप चिन्ह; परं=दूसरा/वीतराग।

अन्वय : पटुभि: सम्वेग-प्रशम-आस्तिक्य-कारुण्य-व्यक्त-लक्षणं सरागं, उपेक्षा लक्षणं परं ज्ञेयम्।

वचनिका : संवेग अर्थात् धर्म से अनुराग, प्रशम अर्थात् कषायों की मंदता; आस्तिक्य अर्थात् आप्त, आगम, पदार्थों में 'ये, ऐसे ही हैं'—ऐसा भाव; कारुण्य अर्थात् दयाभाव—ये हैं प्रकट लक्षण जिसके वह सराग-सम्यक्त्व, पंडितों द्वारा जानना और उपेक्षा अर्थात् वीतरागता, वह है लक्षण जिसका ऐसा वीतराग-सम्यक्त्व जानना।।६६/१३८।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व के बहिरंग-अंतरंग कारणों का प्ररूपण है—

अनुष्टुभ् : **निसर्गाधिगमौ हेतू तस्य बाह्यावुदाहृतौ।**
लब्धि: कर्मशमादीनामन्तरङ्गो विधीयते।।६७/१३९।।

निसर्ग अधिगम हेतु बाह्य में अंदर कहे।
कर्मों के शमन आदि की प्राप्ति सम्यक्त्व के।।६७/१३९।।

शब्दश: अर्थ : निसर्ग+अधिगम=स्वभाव, उपदेश-पाना; हेतू=साधन; तस्य=उस/सम्यक्त्व का; बाह्यौ=बाहर; उदाहृतौ=कहा है; लब्धि:=प्राप्त; कर्म-शमन+आदीनां=कर्मों के उपशम आदि के; अन्तरङ्ग:=अंदर; विधीयते=कहा है।

अन्वय : तस्य निसर्ग-अधिगमौ हेतू बाह्यौ उदाहृतौ, कर्म-शमादीनां लब्धि: अन्तरङ्ग: विधीयते।

वचनिका : उस सम्यक्त्व के निसर्ग अर्थात् स्वभाव, अधिगम अर्थात् उपदेश-पाना—ये दोनों, बाह्य-कारण कहे हैं और कर्मों के उपशम आदि की प्राप्ति, अंतरंग-कारण कहे हैं।।६७/१३९।।

अब, इस पद्य द्वारा 'सम्यक्त्वी के अज्ञान नहीं होता'; इसे सोदाहरण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **सम्यक्त्वाध्युषिते जीवे नाज्ञानं व्यवतिष्ठते।**
भास्वता भासिते देशे तमसा कीदृशी स्थिति:।।६८/१४०।।

सम्यक्त्वयुत प्राणी के नहिं अज्ञान रहे कभी।
ज्यों रवि प्रकाशयुत थल में अंधकार रहे नहीं।।६८/१४०।।

शब्दश: अर्थ : सम्यक्त्व+अधि+उषिते=सम्यक्त्व-संपन्न; जीवे=जीव में; न=नहीं; अज्ञानं=मिथ्याज्ञान; व्यवतिष्ठते=रहता है; भास्वता=सूर्य द्वारा; भासिते=प्रकाशित; देशे=स्थान में; तमस:=अंधकार; कीदृशी=कैसे; स्थिति:=टिक सकता है।

अन्वय : सम्यक्त्व-अधि-उषिते जीवे अज्ञानं न व्यवतिष्ठते भासिते देशे तमस: कीदृशी स्थिति?

वचनिका : सम्यक्त्व से सहित जीव में अज्ञान नहीं रहता है। सूर्य द्वारा प्रकाशित क्षेत्र में अज्ञान की स्थिति कैसे हो सकती है?

भावार्थ : जैसे—सूर्य का प्रकाश होने पर अंधकार नहीं होता है; उसीप्रकार सम्यक्त्व होने पर अज्ञान नहीं होता है।।६८/१४०।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का फल दिखाते हैं—

उपजाति : **न दु:खबीजं शुभदर्शनक्षितौ, कदाचन क्षिप्तमपि प्ररोहति।**
सदाप्यनुप्तं सुखबीजमुत्तमं, कुदर्शने तद्विपरीतमीक्षते।।६९/१४१।।

सम्यक्त्व शुभ भू में दु:ख-बीज, बोया कदापि उगता नहीं है।
विन बोए उगता सुख बीज उत्तम, मिथ्यात्व में इससे उलट ही है।।६९/१४१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; दु:ख-बीजं=दु:ख का बीज; शुभ-दर्शन-क्षितौ= कल्याणमय दर्शन/सम्यग्दर्शनरूपी भूमि में; कदाचन=कभी; क्षिप्तं=डाला गया; अपि=भी; प्ररोहति=

उगता है; सदा=हमेशा; अपि=भी; अनुप्तं=विना बोए; सुख-बीजं=सुख का बीज; उत्तमं =उत्कृष्ट; कुदर्शने=मिथ्यात्व में; तत्=उससे; विपरीतं=उल्टा; ईक्ष्यते=दिखाई देता है।
अन्वय : शुभ-दर्शन-क्षितौ कदाचन क्षिप्तं अपि दु:ख-बीजं न प्ररोहति, अनुप्तं अपि सदा उत्तमं सुख-बीजं प्ररोहति; कुदर्शने तत् विपरीतं ईक्ष्यते।
वचनिका : सम्यग्दर्शनरूपी पृथ्वी में दु:ख का बीज, बोया हुआ भी कदाचित् नहीं उगता है और विना बोया भी उत्तम सुख का बीज सदा उगता है। मिथ्यादर्शन में यह, विपरीत देखा जाता है।
भावार्थ : यदि दु:ख का कारणभूत कोई पाप-कर्म, सम्यग्दृष्टि के बँधा हो तो वह भी, सुख का कारण हो परिणमता है—ऐसा जानना।।६९/१४१।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के फल की परस्पर तुलना करते हैं—

उपजाति : **सम्यक्त्वमेघ: कुशलाम्बुवन्दितं, निरन्तरं वर्षति धौतकल्मष:।**
मिथ्यात्वमेघो व्यसनाम्बुनिन्दितं, जनावनौ क्षालितपुण्यसञ्चय:।।७०/१४२।।

सब पाप धो समकित मेघ हितकर वंदित सुजल बरसाए निरंतर।
धो पुण्य संचित मिथ्यात्व-मेघ दुख निंद्य जल बरसाए जनों पर।।७०-१४२।।

शब्दश: अर्थ : सम्यक्त्व-मेघ:=सम्यक्त्वरूपी बादल; कुशल+अम्बु-वन्दितं=कल्याणमय, पूज्य जल को; निरन्तरं=सतत; वर्षति=बरसाता है; धौत-कल्मष:=पापों को धोनेवाला; मिथ्यात्व-मेघ:=मिथ्यात्वरूपी बादल; व्यसन+अम्बु-निन्दितं=दु:खमय, निंदित जल को; जन+अवनौ=प्राणीरूपी भूमि पर; क्षालित-पुण्य-सञ्चय:=एकत्रित पुण्य को धोनेवाला।
अन्वय : धौत-कल्मष: सम्यक्त्व-मेघ: जन-अवनौ निरन्तरं कुशल-अम्बु-वन्दितं वर्षति; क्षालित-पुण्य-सञ्चय: मिथ्यात्व-मेघ: जन-अवनौ निरन्तरं व्यसन-अम्बु-निन्दितं वर्षति।
वचनिका : पापरूपी मल को धोनेवाला सम्यक्त्वरूपी घन, निरंतर जनरूपी भूमि पर पूजनीय, कल्याणरूपी जल को बरसाता है। पुण्य के संचय को धो अर्थात् दूर करनेवाला मिथ्यात्वरूपी घन, जनरूपी भूमि पर निंदनीय, कष्टरूपी जल को बरसाता है।।७०/१४२।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण सम्यग्दर्शन का माहात्म्य प्ररूपित है—

उपजाति : **न भीषणो दोषगण: सुदर्शने, विगर्हणीय: स्थिरतां प्रपद्यते।**
भुजङ्गमानां निवहोऽवतिष्ठते, कदा निवासेऽध्युषिते गरुत्मता।।७१/१४३।।

सम्यक्त्व में भीषण निंदनीय, अपराध नहिं रह सकते कभी भी।
गरुड़ निवास-स्थल में रहें क्या भुजंग समुदाय कहीं कभी भी?।।७१/१४३।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; भीषण=भयानक; दोष-गण:=दोषों के समूह; सुदर्शने=सम्यग्दर्शन में; विगर्हणीय:=निंदनीय; स्थिरतां=स्थिरपने को; प्रपद्यते=प्राप्त होते हैं; भुजङ्गमानां=सर्पों का; निवह:=समूह; अवतिष्ठते=रहता है; कदा=कब; निवासे=रहने के स्थान में; अधि+उषिते=सेवन किए गए; गरुत्मता=गरुड़ द्वारा।

अन्वय : (यथा) गरुत्मता अधि-उषिते निवासे भुजङ्गमानां निवहः कदा अवतिष्ठते; (तथा) सुदर्शने भीषणः विगर्हणीयः दोष-गणः स्थिरतां न प्रपद्यते।

वचनिका : जैसे — गरुड़ से सेवित स्थान पर सर्पों का समूह कब रहा है? कभी नहीं; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के रहते हुए भयानक, निंदा के योग्य दोषों का समूह, स्थिरता को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्यात्वादि दोष नहीं रहते — ऐसा जानना।।७१/१४३।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व का सुफल निरूपित है —

उपजाति : **विवर्धमाना यम-संयमादयः, पवित्र-सम्यक्त्व-गुणेन सर्वदा।**
फलन्ति हृद्यानि फलानि पादपाः, घनोदकेनेव मलापहारिणा।।७२/१४४।।

पवित्र समकित गुण से सदा ही संयम सुयम आदि बड़ें फलें भी।
मलापहारी मेघों के जल से तरुवर फलें बहु-फल मनोहारी।।७२-१४४।।

शब्दशः अर्थ : विवर्धमाना:=बड़ते हैं; यम-संयम+आदय:=यम, संयम आदि; पवित्र-सम्यक्त्व-गुणेन=पवित्र सम्यक्त्वरूपी गुण द्वारा; सर्वदा=हमेशा; फलन्ति=फलते हैं; हृद्यानि =मनोहारी; फलानि=फल; पादपा:=वृक्ष; घन+उदकेन+इव=बादलों के जल के समान; मल+अपहारिणा=मल का हरण करनेवाले।

अन्वय : मल-अपहारिणा घन-उदकेन पादपाः हृद्यानि फलानि फलन्ति इव पवित्र-सम्यक्त्व-गुणेन यम-संयम-आदयः सर्वदा विवर्धमानाः।

वचनिका : जैसे — मल का हरण करनेवाले मेघ के जल से वृक्ष, मनोहर फलों को फलते हैं; उसीप्रकार विशेषरूप से वर्धमान यम, संयम आदि, सम्यक्त्वरूपी पवित्र गुण द्वारा सदा फलते हैं।।७२-१४४।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व की विराधना करनेवाले को सोदाहरण समझाते हैं —

उपजाति : **निषेवते यो विषयाभिलाषुकः, निरस्य सम्यक्त्वमधीः कुदर्शनम्।**
स राज्यमत्यस्य भुजिष्यतां स्फुटं, वृहत्त्वकाङ्क्षी वृणुते दुराशयः।।७३/१४५।।

विषयाभिलाषी जो मूर्ख समकित तज करे सेवन मिथ्यात्व का ही।
वह राज्य तज सेवक बने जैसे बड़प्पना-कांक्षी दुष्टचित्ती।।७३/१४५।।

शब्दश: अर्थ : निषेवते=सेवन करता है; य:=जो; विषय+अभिलाषुक:=विषयों को चाहनेवाला; निरस्य=छोड़कर; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व को; अधी:=मूर्ख; कुदर्शनं=मिथ्यादर्शन को; स:=वह; राज्यं=राज्य को; अत्यस्य=छोड़कर; भुजिष्यतां=सेवक-वृत्ति को; स्फुटं=व्यक्तरूप; वृहत्त्व-काङ्क्षी=बड़प्पन को चाहनेवाला; वृणुते=स्वीकार करता है; दुराशय:=दुष्ट चित्तवाला।

अन्वय : य: विषयाभिलाषुक: अधी: सम्यक्त्वं निरस्य कुदर्शनं निषेवते; स: वृहत्त्व-काङ्क्षी दुराशय: स्फुटं राज्यं अत्यस्य भुजिष्यतां वृणुते।

वचनिका : जो विषयाभिलाषी, अज्ञानी, सम्यक्त्व का त्याग कर मिथ्यादर्शन का सेवन करता है; वह बड़प्पन का वांक्षक, दुष्ट-चित्त, प्रकट राज्य को छोड़कर चाकरी/सेवकत्व करता है।।७३/१४५।।

आगे आठ पद्यों द्वारा सम्यक्त्व के संवेग आदि आठ गुणों का वर्णन करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा संवेग गुण का प्रतिपादन है—

शालिनी : **तथ्ये धर्मे ध्वस्तहिन्साप्रपञ्चे, देवे रागद्वेषमोहादिमुक्ते।**
साधौ सर्वग्रन्थसन्दर्भहीने, सम्वेगोऽसौ निश्चलो योऽनुराग:।।७४/१४६।।

हिंसाधिकता से रहित सत्य धर्म, मोह द्वेष राग विरहित सुदेव।
सकल परिग्रह संघ विन साधु वर्ग के प्रति निश्चल सानुराग संवेग।।७४/१४६।।

शब्दश: अर्थ : तथ्ये=यथार्थ/वास्तविक; धर्मे=धर्म में; ध्वस्त-हिन्सा-प्रपञ्चे=हिंसा के विस्तार से रहित; देवे=देव में; राग-द्वेष-मोह+आदि-मुक्ते=राग, द्वेष, मोह आदि से रहित; साधौ=साधु/गुरु में; सर्व-ग्रन्थ-सन्दर्भ-हीने=सभी प्रकार के परिग्रह के समूह से रहित; सम्वेग:=संवेग; असौ=वह; निश्चल:=चंचलता-रहित; य:=जो; अनुराग:=विशेष प्रीति।

अन्वय : ध्वस्त-हिन्सा-प्रपञ्चे तथ्ये धर्मे, राग-द्वेष-मोहादि-मुक्ते देवे, सर्व-ग्रन्थ-सन्दर्भ-हीने साधौ य: निश्चल: अनुराग: असौ सम्वेग:।

वचनिका : हिंसा के विस्तार से पूर्णतया-रहित, सत्य, धर्म में; राग, द्वेष, मोह आदि से रहित, देव में और सभी प्रकार के परिग्रह के समूह से रहित, साधु में जो निश्चल अनुराग है; वह संवेग कहलाता है।।७४/१४६।।

अब, इस पद्य द्वारा निर्वेद का लक्षण बताते हैं—

शालिनी : **देहे भोगे निन्दिते जन्मवासे, क्लिष्टेष्वाशुक्षिप्तवाणास्थिरत्वे।**
यद्वैराग्यं जायते निष्प्रकम्पं, निर्वेदोऽसौ कथ्यते मुक्ति-हेतुः।।७५/१४७।।

तन में निंदित भोग में शीघ्र छोड़े, शर-सम अस्थिर दुःखमय भव-वसन में।
जो वैराग्य निष्प्रकंपी प्रकट है, मुक्ति हेतु जान निर्वेद वह है।।७५/१४७।।

शब्दशः अर्थ : देहे=शरीर में; भोगे=पंचेंद्रिय-विषय-भोग में; निन्दिते=निंदनीय, जन्म-वासे=संसार के निवास में; क्लिष्टेषु=कष्ट-दायक; आशु=शीघ्र; क्षिप्त-वाण+ अस्थिरत्वे =छोड़े गए बाण के समान अस्थिरतावाले; यत्=जो; वैराग्यं=विरागता; जायते=उत्पन्न होता है; निष्प्रकम्पं=कंपन से रहित/स्थिर; निर्वेद=निर्वेद; असौ=वह; कथ्यते=कहलाता है; मुक्ति-हेतुः=मुक्ति का कारणभूत।

अन्वय : देहे निन्दिते भोगे आशु-क्षिप्त-वाण-अस्थिरत्वे क्लिष्टेषु जन्म-वासे यत् निष्प्रकम्पं वैराग्यं जायते, असौ मुक्ति-हेतुः निर्वेदः कथ्यते।

वचनिका : निंदित शरीर और भोग में; शीघ्र चलाए गए बाण के समान अस्थिरता-युक्त, कष्टमय, संसार-वास में जो निश्चल वैराग्य उत्पन्न होता है; वह मुक्ति का कारणभूत, निर्वेद कहलाता है।।७५/१४७।।

अब, इस पद्य द्वारा निंदा नामक गुण वर्णित है—

शालिनी : **कान्ता-पुत्र-भ्रातृ-मित्रादि-हेतोः शिष्ट-द्विष्टे निर्मिते कार्य-जाते।**
पश्चात्तापो यो विरक्तस्य पुन्सो, निन्दा सोक्ताऽवद्य-वृक्षस्य हन्त्री।।७६/१४८।।

स्त्री पुत्र बंधु मित्रादि कारण, राग-द्वेष से रचित कार्य विविधा।
में पश्चात्ताप जो विरागी पुरुष का, वह है घाती पाप तरु की सुनिंदा।।७६-१४८।।

शब्दशः अर्थ : कान्ता-पुत्र-भ्रातृ-मित्र+आदि-हेतोः=स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि के कारण से; शिष्ट-द्विष्टे=राग और द्वेष-वश; निर्मिते=होनेवाले; कार्य-जाते=कार्य-समूह में; पश्चात्तापः=बाद में होनेवाला ताप; यः=जो; विरक्तस्य=विरागी; पुन्सः=प्राणी का; निन्दा=निंदा; सा=वह; उक्ता=कही है; अवद्य-वृक्षस्य=पापरूपी वृक्ष की; हन्त्री=नाशिका।

अन्वय : कान्ता-पुत्र-भ्रातृ-मित्र-आदि-हेतोः शिष्ट-द्विष्टे निर्मिते कार्य-जाते विरक्तस्य पुन्सः यः पश्चात्तापः सा अवद्य-वृक्षस्य हन्त्री निन्दा उक्ता।

वचनिका : स्त्री, पुत्र, भाई, मित्र आदि के कारण से राग-द्वेषरूप कार्यों के समूह हो जाने पर, विरक्त पुरुष के जो पश्चात्ताप होता है; वह, पापरूपी वृक्ष का नाश करनेवाली निंदा कहलाती है।।७६/१४८।।

अब, इस पद्य द्वारा गर्हा नामक गुण का निरूपण है—

शालिनी : **जाते द्वेषे द्वेषरागादिदोषैरग्रे भक्त्यालोचना या गुरूणाम्।**
पञ्चाचारा-चारकाणामदोषा, सोक्ता गर्हा गर्हणीयस्य हन्त्री।।७७/१४९।।

होते दोष द्वेष रागादि दोषों से भक्ति-युत पंच आचारचारी।
गुरु के संमुख नाशिका निंदिता की पावन गर्हा लोचना जान ये ही।।७७/१४९।।

शब्दश: अर्थ : जाते=होने पर; द्वेषे=दोष में; द्वेष-राग+आदि-दोषै:=द्वेष, राग आदि दोषों से; अग्रे=आगे/संमुख; भक्त्या=भक्ति से; लोचना=निरीक्षण; या=जो; गुरूणां=गुरुओं के; पञ्च+आचार+आचारकाणां=पाँच आचारों का आचरण करानेवाले; अदोषा=निर्दोष; सा=वह; उक्ता=कही है; गर्हा=गर्हा नामक विशेषता; गर्हणीयस्य=निंदनीय पापों की; हन्त्री=नाश करनेवाली।

अन्वय : द्वेष-राग-आदि-दोषै: द्वेषे जाते पञ्च-आचार-आचारकाणां गुरूणां अग्रे भक्त्या या आलोचना सा गर्हणीयस्य हन्त्री गर्हा उक्ता।

वचनिका : द्वेष, राग आदि दोषों द्वारा दोष उत्पन्न हो जाने पर, पंचाचार का आचरण करानेवाले गुरुओं के आगे भक्ति-सहित जो आलोचना की जाती है, अपने दोष कहे जाते हैं; वह, निंदनीय पापों को नष्ट करनेवाली, दोष-रहित गर्हा कहलाती है।।७७/१४९।।

अब, इस पद्य द्वारा उपशम-गुण को स्पष्ट करते हैं—

शालिनी : **राग-द्वेष-क्रोध-लोभ-प्रपञ्चा:, सर्वानर्थावास-भूता दुरन्ता:।**
यस्य स्वान्ते कुर्वते न स्थिरत्वं, शान्तात्मासौ शस्यते भव्यसिंह:।।७८/१५०।।

राग द्वेष क्रोध लोभादि बहुविध, सकल अनर्थों के सदन सम दुरंत।
जिसके मन में न करें स्थिरत्व, वह भवि-श्रेष्ठ शांत आत्मा प्रशस्य।।७८/१५०।।

शब्दश: अर्थ : राग-द्वेष-क्रोध-लोभ-प्रपञ्चा:=राग, द्वेष, क्रोध, लोभ का विस्तार; सर्व+अनर्थ+आवास-भूता:=सभी अनर्थों को रहने के स्थान-समान; दुरन्ता:=तीव्र पुरुषार्थ से नष्ट होनेवाले; यस्य=जिसका; स्व+अन्ते=अपने मन में; कुर्वते=करता है; न=नहीं; स्थिरत्वं=स्थिरता; शान्त+आत्मा=शांत रहनेवाला आत्मा; असौ=वह; शस्यते= प्रशंसा के योग्य है; भव्य-सिंह:=भव्यों में श्रेष्ठ।

अन्वय : सर्व-अनर्थ-आवास-भूता: दुरन्ता: राग-द्वेष-क्रोध-लोभ-प्रपञ्चा: यस्य स्व-अन्ते स्थिरत्वं न कुर्वते, भव्य-सिंह: शान्त-आत्मा असौ शस्यते।

वचनिका : सभी अनर्थों के घर-समान, दूर अंतवाले अथवा कठिनता से नष्ट होनेवाले राग, द्वेष, क्रोध, लोभादि के प्रपंच जिसके मन में स्थिरता नहीं करते हैं; भव्य-प्रधान, शांत-आत्मावाला वह, प्रशंसा के योग्य है।

भावार्थ : जिसके मन में तीव्र राग, द्वेष नहीं हैं, वह उपशम-गुणवाला कहलाता है।।७८/१५०।।

अब, इस पद्य द्वारा भक्ति-गुण का निरूपण करते हैं—

शालिनी : **लोकाधीशाभ्यर्चनीयङ्घ्रिपद्मे, तीर्थाधीशे साधुवर्गे सपर्या।**
या निर्व्याजारभ्यते भव्यलोकैर्भक्तिः सेष्टा जन्मकान्तारशस्त्री।।७९/१५१।।

लोकाधीशों से सदा पूज्य पद युग वाले भगवान साधु वर्गों की पूजन।
निश्छलता से भव्य आरंभ करते, वह है भक्ति छेदती नित्य भव वन।।७९/१५१।।

शब्दशः अर्थ : लोक+अधीश+अभ्यर्चनीय+अङ्घ्रि-पद्मे=लोक के स्वामिओं द्वारा पूज्य चरण-कमलवाले; तीर्थ+अधीशे=तीर्थ के स्वामी/भगवान में; साधु-वर्गे=साधु-समूह/गुरुओं में; सपर्या=पूजन; या=जो; निर्व्याजा=निश्छल भाववाली; आरभ्यते=प्रारंभ की जाती है; भव्य-लोकैः=भव्य-जीवों द्वारा; भक्तिः=भक्ति; सा=वह; इष्टा=स्वीकृत है; जन्म-कान्तार-शस्त्री=संसाररूपी वन को छेदनेवाली।

अन्वय : लोक-अधीश-अभ्यर्चनीय-अङ्घ्रि-पद्मे तीर्थ-अधीशे साधु-वर्गे या निर्व्याजा सपर्या भव्यलोकैः आरभ्यते, सा जन्म-कान्तार-शस्त्री भक्तिः इष्टा।

वचनिका : नरेंद्र, नागेंद्र, देवेंद्र आदि लोकाधीशों द्वारा पूजनीय चरण-कमलवाले तीर्थ-नाथ भगवानों में और साधुओं के समूह में भव्य-जीवों द्वारा जो कपट-रहित पूजन आरंभित/की जाती है; वह संसार-वन को छेदनेवाली भक्ति, इष्टरूप कही है।।७९/१५१।।

अब, इस पद्य द्वारा वात्सल्य-गुण निरूपित है—

शालिनी : **कर्मारण्यं छेत्तुकामैरकामैर्धर्माधारे व्यापृतिः प्राणिवर्गे।**
भैषज्याद्यैः प्राषुकैर्वर्ध्यते या तद्वात्सल्यं कथ्यते तथ्यबोधैः।।८०/१५२।।

वांक्षक छेदन कर्म-वन हैं अवांक्षक, धर्माधारी प्राणिओं में बड़ाते।
प्राषुक औषधि आदि द्वारा सुसेवा, वत्सलता गुण मान सद्विज्ञ कहते।।८०/१५२।।

शब्दशः अर्थ : कर्म+अरण्यं=कर्मरूपी वन को; छेत्तु-कामैः=छेदने के इच्छुक; अकामैः=वांक्षा से रहित; धर्म+आधारे=धर्म के आधारभूत; व्यापृतिः=सेवा आदि करना; प्राणि-वर्गे=प्राणिओं के समूह में; भैषज्य+आद्यैः=औषधि आदि द्वारा; प्राषुकैः=जीव-रहित/निर्दोष; वर्ध्यते=बड़ाता है; या=जो; तत्=वह; वात्सल्यं=वत्सलता; कथ्यते=कही जाती है; तथ्य-बोधैः=यथार्थ को जाननेवालों द्वारा।

अन्वय : कर्म-अरण्यं छेत्तु-कामैः अकामैः धर्म-आधारे प्राणि-वर्गे प्राषुकैः भैषज्य-आद्यैः या व्यापृतिः वर्ध्यते, तत् तथ्य-बोधैः वात्सल्यं कथ्यते।

वचनिका : कर्म-वन को छेदने के वांक्षक, अन्य वांक्षाओं से रहित पुरुषों द्वारा, धर्म के आधारभूत जीवों के समूह में प्राषुक औषधि आदि द्वारा वैयावृत्ति बड़ाई/की जाती है; उसे सत्यार्थ-ज्ञानिओं द्वारा वात्सल्य-गुण कहा गया है।।८०/१५२।।

अब, इस पद्य द्वारा करुणा-गुण का वर्णन करते हैं—

उपजाति : **जन्माम्भोधौ कर्मणा भ्रम्यमाणे, जीवग्रामे दु:खिते नैकभेदे।**
चित्तार्द्रत्वं यद्विधत्ते महात्मा, तत्कारुण्यं दर्श्यते दर्शनीयै:।।८१/१५३।।

भव-सागर में घूमते कर्म-वश से, पीड़ित बहु-विध प्राणिओं पर करे जो।
मन से करुणा भाव सज्जन बताते करुणा भाव है जगत्पूज्य नित जो।।८१/१५३।।

शब्दश: अर्थ : जन्म+अम्भोधौ=संसाररूपी सागर में; कर्मणा=कर्म के कारण; भ्रम्यमाणे =घूमते हुए; जीव-ग्रामे=प्राणिओं के समूह पर; दु:खिते=दु:खी; न+एक-भेदे=अनेक भेदवाले; चित्त+आर्द्रत्वं=चित्त की आर्द्रता/दयालुता को; यत्=जो; विधत्ते=धारण करता है; महात्मा=महा-पुरुष; तत्=वह; कारुण्यं=करुणता; दर्श्यते=दिखाई है; दर्शनीयै:=दर्शन करने-योग्य आचार्य आदि द्वारा।

अन्वय : कर्मणा जन्म-अम्भोधौ भ्रम्यमाणे दु:खिते एक-भेदे न जीव-ग्रामे यत् महात्मा चित्त-आर्द्रत्वं विधत्ते, तत् दर्शनीयै: कारुण्यं दर्श्यते।

वचनिका : संसार-समुद्र में कर्मों के कारण घूमते और दु:खी, अनेक प्रकार के जीवों के समूह पर जो महा-पुरुष, दया-भाव को धारण करते हैं; दर्शन करने-योग्य आचार्य आदि द्वारा, वह कारुण्य-भाव है—ऐसा दिखाया है।

भावार्थ : संसारी-जीवों को देखकर करुणा करना, सम्यक्त्व का कारुण्य नामक गुण कहलाता है।।८१/१५३।।

इसप्रकार सम्यक्त्व के आठ-गुणों का वर्णन हुआ।

अब, इस पद्य द्वारा उनका फल, सोदाहरण दिखाते हैं—

उपजाति : **प्रवर्ध्यते दर्शनमष्टभिर्गुणै:, शरीरिणोऽमीभिरपास्तदूषणै:।**
गुरूपदेशैरिव धर्मवेदनं, विधीयमानैर्हृदये निरन्तरम्।।८२/१५४।।

निर्दोष इन अष्ट गुणों से बड़ता सम्यक्त्व प्राणी का बड़े जैसे।
नित धर्म-वेदन उर में निरंतर चिंतन-मनन-युत गुरु-देशना से।।८२/१५४।।

शब्दश: अर्थ : प्रवर्ध्यते=बड़ता है; दर्शनं=सम्यग्दर्शन; अष्टभि:=आठ; गुणै:=गुणों से; शरीरिण:=प्राणी का; अमीभि:=इन; अपास्त-दूषणै:=दोषों से रहित; गुरु+उपदेशै:=गुरु के उपदेशों द्वारा; इव=समान; धर्म-वेदनं=धर्म का ज्ञान; विधीयमानै:=रचे गए/चिंतन-मनन-युत; हृदये=चित्त में; निरन्तरं=सदा।

अन्वय : हृदये निरन्तरं विधीयमानै: गुरु-उपदेशै: धर्म-वेदनं इव अमीभि: अपास्त-दूषणै: अष्टभि: गुणै: शरीरिण: दर्शनं प्रवर्ध्यते।

वचनिका : जैसे — निरंतर हृदय में रचे हुए श्रीगुरुओं के उपदेश से धर्म का जानपना बड़ता है; उसीप्रकार जीव के, दोषों से रहित इन संवेगादि आठ-गुणों से सम्यग्दर्शन बड़ता है।।८२/१५४।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन-प्राप्ति का लाभ बताते हैं —

उपजाति : **अपारसन्सारसमुद्रतारकं वशीकृतं येन सुदर्शनं परम्।**
वशीकृतास्तेन जनेन सम्पद: परैरलभ्या विपदामनास्पदम्।।८३/१५५।।

असीम संसार समुद्र तारक विपदा का अस्थान सुश्रेष्ठ समकित।
जिसने किया वश उसके हुईं वश अन्यों को दुर्लभ सब श्रेष्ठ संपद।।८३/१५५।।

शब्दश: अर्थ : अपार-सन्सार-समुद्र-तारकं=असीम संसाररूपी सागर से पार करनेवाला; वशीकृतं=वश में किया; येन=जिसके द्वारा; सुदर्शनं=सम्यग्दर्शन; परं=श्रेष्ठ; वशीकृता:=वश में कर ली गईं; तेन=उस; जनेन=प्राणी द्वारा; सम्पद:=संपत्ति; परै:=दूसरों द्वारा; अलभ्या:=प्राप्त नहीं कर पाने-योग्य; विपदां=विपत्तिओं का; अनास्पदं=अस्थान।

अन्वय : अपार-सन्सार-समुद्र-तारकं विपदां अनास्पदं परं सुदर्शनं येन वशीकृतं, तेन जनेन परै: अलभ्या: सम्पद: वशीकृता:।

वचनिका : अपार संसाररूपी समुद्र से तारनेवाला और विपत्तिओं का अनास्पद अर्थात् स्थान नहीं; ऐसा एक सम्यग्दर्शन जिसने वश किया है, अंगीकार किया है; उस पुरुष ने, अन्यों को नहीं प्राप्त होने-योग्य संपदा, वश में की है।।८३/१५५।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन की विशेष महिमा सोदाहरण प्रस्तुत है —

उपजाति : **सुदर्शने लब्धमहोदये गुणा: श्रियो निवासा विकसन्ति देहिनि।**
निरस्तदोषोपचये सरोवरे हिमेतरान्शाविव पङ्कजाकरा:।।८४/१५६।।

रात्रि-रहित सर में रवि किरण से बहुविध कमल-वत् विकसित सदा ही।
महा उदय-युत निर्दोष समकित में श्री निवासी गुण प्रकट देही।।८४-१५६।।

शब्दश: अर्थ : सुदर्शने=सम्यग्दर्शन में/भले दर्शनवाले; लब्ध-महा-उदये=महान उदय को प्राप्त; गुणा:=गुण; श्रिय:=लक्ष्मी का; निवासा:=निवास; विकसन्ति=विकसित होते हैं; देहिनि=प्राणी में; निरस्त-दोष+उपचये=दोषों के संग्रह से रहित/रात्रि के समूह से रहित; सरोवरे=तालाब में; हिम+इतर+अन्शौ=बर्फ से विपरीत/सूर्य की किरणों के; इव=समान; पङ्कज+आकरा:=कमलों के समूह।

अन्वय : निरस्त-दोष-उपचये सुदर्शने लब्ध-महा-उदये सरोवरे हिम-इतर-अन्शौ पङ्कज-आकरा: इव लब्ध महा-उदये निरस्त-दोष-उपचये सुदर्शने देहिनि श्रिय: निवासा: गुणा: विकसन्ति।

वचनिका : जैसे—सरोवर में दोषा अर्थात् रात्रि के समूह से रहित, महा-उदय को प्राप्त, भले दर्शनवाले सूर्य के होते हुए लक्ष्मी के निवासरूप कमलों के वन विकसित होते हैं; उसीप्रकार महा-उदय को प्राप्त सम्यग्दर्शन के होते हुए जीव में लक्ष्मी के निवासरूप गुणों का विकास होता है। वह सम्यग्दर्शन कैसा है? निरस्त-दोष-उपचये अर्थात् शोक आदि दोषों के समूह को उसने दूर कर दिया है।

भावार्थ : लोक कहते हैं कि लक्ष्मी, कमलों में रहती है—ऐसा अलंकार वाक्य है। यहाँ प्रत्येक विशेषण का सूर्य और दर्शन के पक्ष में उस-उसके समान/अनुरूप अर्थ होता है।।८४/१५६।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन की सर्वांगीण सर्वोत्कृष्टता को स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **दर्शन-बन्धोर्न परो बन्धुर्दर्शन-लाभान्न परो लाभ:।**
दर्शनमित्रान्न परं मित्रं, दर्शनसौख्यान्न परं सौख्यम्।।८५/१५७।।

दर्शन-बंधु से अन्य न बंधु, दर्शन-लाभ से अन्य न लाभ।
दर्शन-मित्र से अन्य न मित्र, दर्शन-सौख्य से अन्य न सौख्य।।८५/१५७।।

शब्दश: अर्थ : दर्शन-बन्धो:=दर्शनरूपी बंधु से; न=नहीं है; पर:=अन्य/श्रेष्ठ; लाभ:=प्राप्ति; बन्धु:=भाई आदि; दर्शन-लाभात्=दर्शन के लाभ से; न=नहीं है; पर:=अन्य श्रेष्ठ; दर्शन-मित्रात्=दर्शनरूपी मित्र से; न=नहीं है; परं=अन्य/श्रेष्ठ; मित्रं=मित्र; दर्शन-सौख्यात्=दर्शनरूपी सौख्य से; न=नहीं है; परं=अन्य/श्रेष्ठ; सौख्यं=सौख्य।

अन्वय : दर्शन-बन्धो: पर: बन्धु: न, दर्शन-लाभात् पर: लाभ: न, दर्शन-मित्रात् परं मित्रं न, दर्शन-सौख्यात् परं सौख्यं न।

वचनिका : सम्यग्दर्शनरूपी बांधव से अतिरिक्त और दूसरा बांधव नहीं है; दर्शन के लाभ से अतिरिक्त और दूसरा लाभ नहीं है; दर्शन से अतिरिक्त दूसरा मित्र नहीं है और दर्शन के सुख से अतिरिक्त अन्य दूसरा सुख नहीं है।।८५/१५७।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन का विशेष माहात्म्य दिखाते हैं—

वसंत-तिलका : **लब्ध्वा मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ते,**
सम्यक्त्व-रत्नमनवद्य-पद-प्रदायि।

भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिरं भववारिराशौ,
तद्बिभ्रतां चिरतरं किमिहास्ति वाच्यम्।।८६/१५८।।

एक हि मुहूर्त भी पा जो छोड़ देते,
निर्दोष पद प्रदाई सम्यक्त्व रत्न।
वे भी नहीं चिर भ्रमें संसार सागर,
में जो धरें चिर भ्रमें कैसे यहाँ पर?।।८६/१५८।।

शब्दश: अर्थ : लब्ध्वा=प्राप्तकर; मुहूर्तं=एक मुहूर्त को; अपि=भी; ये=जो; परिवर्जयन्ते =छोड़ देते हैं; सम्यक्त्व-रत्नं=सम्यक्त्वरूपी रत्न को; अनवद्य-पद-प्रदायि= निर्दोष पद प्रदान करनेवाले; भ्राम्यन्ति=भ्रमण करते हैं; ते=वे; अपि=भी; न=नहीं; चिरं= दीर्घ काल पर्यंत; भव-वारि-राशौ=संसार-सागर में; तत्=उसे/सम्यक्त्व को; बिभ्रतां= धारण करनेवाले को; चिरतरं=दीर्घ-काल पर्यंत; किं=क्या; इह=यहाँ; अस्ति=है; वाच्यं= कहने-योग्य।

अन्वय : अनवद्य-पद-प्रदायि सम्यक्त्व-रत्नं मुहूर्तं अपि लब्ध्वा ये परिवर्जयन्ते, ते अपि भव-वारि-राशौ चिरं न भ्राम्यन्ति, तत् बिभ्रतां चिरतरं, इह किं वाच्यं अस्ति?

वचनिका : पाप-रहित पद को देनेवाले सम्यक्त्वरूपी रत्न को जो एक मुहूर्त भी प्राप्तकर त्याग देता है, वह पुरुष भी संसार-समुद्र में बहुत काल भ्रमण नहीं करता है; तब यहाँ तो सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले पुरुष के क्या अधिकता से बहुत भ्रमण कहना योग्य है?

भावार्थ : एक मुहूर्त भी सम्यग्दर्शन का ग्रहण हो जाए तो संसार, उत्कृष्टरूप में कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तन मात्र रह जाता है। वह अनंतानंत काल की अपेक्षा थोड़ा ही है। यदि सम्यग्दर्शन से नहीं छूटें; क्षायिक-सम्यग्दृष्टि हो जाएँ; तो वे बहुत कैसे भटकेंगे? उनके तो अति निकट संसार है—ऐसा यहाँ आशय जानना।।८६/१५८।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व की पाप-नाशकता का सोदाहरण निरूपण है—

वसंत-तिलका : पापं यदर्जितमनेक-भवैर्दुरन्तैः
सम्यक्त्वमेतदखिलं सहसा हिनस्ति।
भस्मीकरोति सहसा तृणकाष्ठराशिं
किं नोर्जितोज्ज्वलशिखो दहनः समृद्धम्।।८७/१५९।।

जो हैं दुरंत एकत्रित बहु-भवों से,
सम्यक्त्व शीघ्र क्षय करता पाप सब ही।

उज्ज्वल बहुत शिखा-युत अग्नि समर्थ,

क्षण में सुभस्म करने तृण-काष्ठ राशी।।८७/१५९।।

शब्दश: अर्थ : पापं=पाप को; यत्=जो; अर्जितं=एकत्रित; अनेक-भवै:=अनेक भवों से; दुरन्तै:=बहुत पुरुषार्थ द्वारा नष्ट होनेवाले; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; एतत्=यह; अखिलं=संपूर्ण; सहसा=अति शीघ्र; हिनस्ति=नष्ट कर देता है; भस्मी-करोति=भस्म करती है; सहसा=अति-शीघ्र; तृण-काष्ठ-राशिं=घास, लकड़ी के समूह को; किं=क्या; न=नहीं; उर्जित-उज्ज्वल-शिख:=तेजस्वी, स्वच्छ/निर्धूम ज्वालावाली; दहन:=अग्नि; समृद्धं=वैभववान।

अन्वय : अनेक भवै: दुरन्तै: यत् अर्जितं अखिलं पापं एतत् सम्यक्त्वं सहसा हिनस्ति; उर्जित-उज्ज्वल-शिख: समृद्धं दहन: तृण-काष्ठ-राशिं किं सहसा न भस्मी-करोति?

वचनिका : जो पाप, दूर है अंत जिनका अथवा कठिनता से नष्ट होनेवाले और अनेक भवों से उपार्जित हैं; उन समस्त पापों को सम्यक्त्व, शीघ्र ही नष्ट कर देता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—बड़ी, उज्ज्वल शिखावाली अग्नि, वृद्धि को प्राप्त तृण और काष्ठों के समूह को शीघ्र ही क्या भस्म नहीं करती है? करती ही है।।८७/१५९।।

सम्यग्दृष्टि कभी दु:खी नहीं रहता; इसे अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण बताते हैं—

स्वागता : **नैव भवस्थितिवेदिनि जीवे, दर्शनशालिनि तिष्ठति दु:खम्।**

कुत्र हिमस्थितिरस्ति हि देशे, ग्रीष्मदिवाकरदीधितिदीप्ते।।८८/१६०।।

भव-स्वरूप ज्ञाता समकित से शोभित देही दुखी न रहता।

ग्रीष्म सूर्य किरणों से तप्त स्थल में क्या शीत है रहता?।।८८/१६०।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; एव=ही; भव-स्थिति-वेदिनि=संसार का स्वरूप जाननेवाले; जीवे=प्राणी में; दर्शन-शालिनि=सम्यग्दर्शन से सुशोभित; तिष्ठति=रहता है; दु:खं=दु:ख; कुत्र=कहाँ; हिम-स्थिति:=शीत का रहना; अस्ति=है; हि=वास्तव में; देशे=स्थान पर; ग्रीष्म-दिवाकर-दीधिति-दीप्ते=गर्मी के सूर्य की किरणों से तप्त में।

अन्वय : भव-स्थिति-वेदिनि दर्शन-शालिनि जीवे दु:खं न एव तिष्ठति; हि ग्रीष्म-दिवाकर-दीधिति-दीप्ते देशे हिम-स्थिति: कुत्र अस्ति?

वचनिका : संसार की स्थिति को जाननेवाले और सम्यग्दर्शन से शोभित जीव में दु:ख नहीं रहता है; जैसे—ग्रीष्म के सूर्य की किरणों से तप्त क्षेत्र में शीत की स्थिति कहाँ से हो? अपितु नहीं होती है।।८८/१६०।।

अब, इस पद्य द्वारा जिन-मत की रुचि की अनुपमेयता सोदाहरण वर्णित है—

हरिणी : **भुवनजनता*जन्मोत्पत्तिप्रबन्धनिषूदनी,**
जिनमतिरुचिश्चिन्तामण्या यकैरुपमीयते।
त्रिदशसरणीं ते भाषन्ते समां परमाणुना,
प्रभवति मतिर्मिथ्या मिथ्यादृशामथ वा सदा।।८९/१६१।।

जगत प्राणी के भव उत्पत्ति-कारण-नाशिनी,
रुचि जिनमत की है चिंता-मणि-सम यों कही।
गगन परमाणु-सम जैसा कथन अथवा सही,
मिथ्या प्रवर्तित मिथ्यादृष्टि की बुद्धि सदा यहीं।।८९/१६१।।

शब्दश: अर्थ : भुवन-जनता-जन्म-उत्पत्ति-प्रबन्ध-निषूदनी=लोक में रहनेवाले प्राणिओं के संसार की उत्पत्ति के कारणों को नष्ट करनेवाली; जिन-मत-रुचि:=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों की रुचि; चिन्तामण्या=चिंतामणि के समान; यकै:=इससे; उपमीयते=उपमा की जाती है; त्रिदश-सरणिं=आकाश को; ते=वे; भाषन्ते=कहते हैं; समां=समान; परमाणुना=परमाणु से; प्रभवति=व्यक्त होती है; मति:=बुद्धि; मिथ्या=अयथार्थ; मिथ्यादृशां =मिथ्यादृष्टि की; अथ=अब; वा=अन्यरूप; सदा=हमेशा।

अन्वय : भुवन-जनता-जन्म-उत्पत्ति-प्रबन्ध-निषूदनी जिन-मत-रुचि: चिन्तामण्या यकै: उपमीयते, ते त्रिदश-सरणिं परमाणुना समां भाषन्ते अथवा मिथ्यादृशां सदा मिथ्या-मति: प्रभवति।

वचनिका : लोक में स्थित जीवों के संसार की उत्पत्ति के प्रबंध का नाश करनेवाली, जिन-मत की रुचि, श्रद्धा; उसे, जिनके द्वारा चिंतामणि की उपमा दी जाती है (जिन-मत की श्रद्धा को जो चिंतामणि की उपमा देते हैं); वे आकाश को, परमाणु के समान कहते हैं; अथवा मिथ्यादृष्टि की बुद्धि सदा मिथ्यारूप होती ही है; उसका क्या आश्चर्य है?।।८९/१६१।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण सम्यक्त्व के अभ्युदय फल का निरूपण है—

हरिणी : **अवहितमन: सद्योत्सङ्गं निधानमिवोत्तमं,**
नयति हृदयं य: सम्यक्त्वं शशाङ्ककरोज्वलम्।
अमितगतय: क्षिप्रं लक्ष्म्य: श्रयन्ति तमादृता,
निरुपमगुणा: कान्तं कान्तं स्वयं प्रमदा इव।।९०-१६२।।

* 'जन्मोत्पत्ति' के स्थान पर 'नष्टोत्पत्ति' पाठ होना चाहिए—पूर्व प्रकाशन-टिप्पण।

एकाग्री घर रक्खे उत्तम निधान समान जो,
उर में धारे शशि-कर उज्ज्वल सम सम्यक्त्व को।
सुंदर पति स्त्री सम अनुपम गुणी निस्सीम जो,
ज्ञानादिमय लक्ष्मी सादर शीघ्र ले उसी को।।९०/१६२।।

शब्दश: अर्थ : अवहित-मन:=एकाग्र मनवाला; सद्म+उत्सङ्गं=घर के मध्य रखे; निधानं =वैभव को; इव=समान; उत्तमं=श्रेष्ठ; नयति=ले जाता है; हृदयं=हृदय को; य:=जो; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व को; शशाङ्क-कर+उज्ज्वलं=चंद्रमा की स्वच्छ किरणों के समान पवित्र; अमित-गतय:=असीम ज्ञान-संपन्न; क्षिप्रं=शीघ्र; लक्ष्म्य:=लक्ष्मी/वैभव; श्रयन्ति =आश्रय लेते हैं। तं=उसे; आदृता=आदर से; निरुपम-गुणा:=अनुपम गुणवाले; कान्तं= सुंदर; कान्तं=पति को; स्वयं=आप ही; प्रमदा=स्त्री; इव=समान।

अन्वय : सद्म-उत्सङ्गं उत्तमं निधानं अवहित-मन: इव य: शशाङ्क-कर-उज्ज्वलं सम्यक्त्वं हृदयं नयति, कान्तं कान्तं स्वयं प्रमदा इव तं आदृता अमित-गतय: निरुपम-गुणा: लक्ष्म्य: क्षिप्रं श्रयन्ति।

वचनिका : जैसे — एकाग्र मनवाला पुरुष, घर के मध्य भाग में निधान को प्राप्त करता है; उसीप्रकार जो हृदय में चंद्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, उस पुरुष का; जैसे — सुंदर पति को स्वयं शीघ्र ही आदर-सहित स्त्री प्राप्त हो जाती है; उसीप्रकार उपमा-रहित गुणवाली, ज्ञान-दर्शन की असीमता-सहित इंद्रादि पद की लक्ष्मी, आदर-सहित स्वयं ही आश्रय ले लेती है।।९०/१६२।।

दोहा : **विपरीताभिनिवेश तजि, भजि निर्मल श्रद्धान।**
याके धारक अमितगति लहत सकल कल्यान।

अर्थ : विपरीत अभिनिवेश/विपरीत मान्यताओं आदि को छोड़कर, निर्मल श्रद्धान को स्वीकार करो। इसे धारण करनेवाले, असीम ज्ञान-संपन्न सभी कल्याणों को प्राप्त कर लेते हैं।

इसप्रकार श्री अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार में द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ।।२।।

तृतीय परिच्छेद

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन के विषय का निरूपण करते हैं—

अनुष्टुभ् : **जीवाजीवादितत्त्वानि ज्ञातव्यानि मनीषिणा।**
श्रद्धानं कुर्वता तेषु सम्यग्दर्शनधारिणा।।१/१६३।।

सम्यग्दर्शन धारक व उनमें श्रद्धावान को।
सुधी को जानना योग्य जीवाजीवादि तत्त्व को।।१/१६३।।

शब्दश: अर्थ : जीव+अजीव+आदि-तत्त्वानि=जीव, अजीव आदि तत्त्व; ज्ञातव्यानि=जानने-योग्य हैं; मनीषिणा=बुद्धिमान द्वारा; श्रद्धानं=श्रद्धा को; कुर्वता=करते हुए; तेषु=उनमें; सम्यग्दर्शन-धारिणा=सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले के द्वारा।

अन्वय : सम्यग्दर्शन-धारिणा तेषु श्रद्धानं कुर्वता मनीषिणा जीव-अजीव+आदि-तत्त्वानि ज्ञातव्यानि।

वचनिका : सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाले, उन जीवादि में श्रद्धान करनेवाले, पंडित पुरुषों द्वारा जीव, अजीव आदि तत्त्व जानने-योग्य हैं।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन की निर्मलता के लिए जीवादि पदार्थ, विस्तार-सहित जानने-योग्य हैं।।१/१६३।।

अब, आगे अट्ठाईस पद्यों द्वारा जीव-तत्त्व वर्णित है।

उसमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा जीव का स्वरूप और भेद दिखाते हैं—

अनुष्टुभ् : **तत्र जीवा द्विधा ज्ञेया मुक्तसन्सारिभेदत:।**
अनादिनिधना: सर्वे ज्ञानदर्शनलक्षणा:।।२/१६४।।

वहाँ जीव द्विधा जानो संसारी मुक्त भेद से।
ज्ञान दर्शन लक्षणमय सब अनादि-निधन कहे।।२/१६४।।

शब्दश: अर्थ : तत्र=वहाँ; जीवा:=जीव; द्विधा=दो प्रकारवाले; ज्ञेया:=जानना चाहिए; मुक्त-सन्सारि-भेदत:=मुक्त और संसारी के भेद से; अनादिनिधना:=अनादि-अनंत, सर्वे=सभी; ज्ञान-दर्शन-लक्षणा:=ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले।

अन्वय : तत्र मुक्त-सन्सारि-भेदत: जीवा द्विधा ज्ञेया। सर्वे अनादिनिधना: ज्ञान-दर्शन-लक्षणा:।

वचनिका : उनमें से जीव, मुक्त और संसारी के भेद से दो प्रकार के जानना। सभी जीव, आदि-अंत से रहित और ज्ञान-दर्शन लक्षणवाले हैं।

भावार्थ : द्रव्यार्थिक नय से जीव, अनादि-निधन है और एकेंद्रिय से लेकर सिद्ध भगवान पर्यंत कोई भी जीव, सामान्य ज्ञान-दर्शन के विना नहीं है—ऐसा जानना।।२/१६४।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा मुक्त-जीव का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तत्र क्षताष्टकर्माणः प्राप्ताष्टगुणसम्पदः।**
त्रिलोकवेदिनः मुक्तास्त्रिलोकाग्रनिवासिनः।।३/१६५।।
अनन्तरेषदूनाङ्ग-समानाकृतयः स्थिराः।
आत्मनीनजनाभ्यर्च्या भाविनं कालमासते।।४/१६६।।

उनमें अष्ट कर्म विरहित अष्ट गुण संपदा सहित।
त्रिलोक ज्ञाता त्रैलोक्य अग्रवासी हैं मुक्त नित।।३/१६५।।
वे अंतिम तन से कुछ कम सम आकृति स्थिर सभी।
अनंत काल तक रहते आत्मज्ञों से पूज्य ही।।४/१६६।।

शब्दशः अर्थ : तत्र=उनमें से; क्षत+अष्ट-कर्माणः=आठ कर्मों से रहित; प्राप्त+अष्ट-गुण-सम्पदः=आठ गुणों की संपत्ति को प्राप्त; त्रि-लोक-वेदिनः=तीनों लोकों को जाननेवाले; मुक्ताः=मुक्त-जीव; त्रि-लोक+अग्र-निवासिनः=तीन-लोक के अग्र भाग में निवास करनेवाले।

अनंतर+ईषत्+ऊन+अङ्ग-समान+आकृतयः=अंतिम से कुछ कम शरीर के समान आकृतिवाले; स्थिराः=अचल; आत्मजनीन+अभ्यर्च्याः=आत्म-ज्ञानी जनों द्वारा पूजनीय; भाविनं=भविष्य; कालं=काल पर्यंत; आसते=रहते हैं।

अन्वय : तत्र क्षत-अष्ट-कर्माणः, प्राप्त-अष्ट-गुण-सम्पदः, त्रि-लोक-वेदिनः, त्रि-लोक-अग्र-निवासिनः मुक्ताः।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : अष्ट कर्मों से रहित, अष्ट गुणरूपी संपदा को प्राप्त, तीन लोक को जाननेवाले, द्रव्य-भाव कर्मों से मुक्त हुए, तीन-लोक के ऊपर रहनेवाले; अंत में किंचित्-ऊन/कुछ कम शरीर-प्रमाण प्रदेशों की आकृति-युक्त; स्थिर अर्थात् कंप-रहित, आत्म-ज्ञानीजनों द्वारा पूज्य श्री सिद्ध भगवान आगामी अनंत काल पर्यंत रहते हैं।।३-४/१६५-१६६।।

अब, इस पद्य द्वारा संसारी-जीवों के भेदों का प्ररूपण है—

अनुष्टुभ् : **सन्सारिणो द्विधा जीवाः स्थावराः कथितास्त्रसाः।**
द्वितीयेऽपि प्रजायन्ते पूर्णापूर्णतया द्विधा।।५/१६७।।

स्थावर त्रस भेदों से संसारी कहे द्विधा।
पर्याप्तक अपर्याप्तक भेदों से ये भी द्विधा।।५/१६७।।

शब्दश: अर्थ : सन्सारिण:=संसारी; द्विधा=दो प्रकार; जीवा:=जीव; स्थावरा:=स्थावर; कथिता:=कहे गए; त्रसा:=त्रस; द्वितीये=दोनों में; अपि=भी; प्रजायन्ते=होते हैं; पूर्ण+अपूर्णतया=पूर्णता और अपूर्णता की अपेक्षा; द्विधा=दो प्रकार।

अन्वय : सन्सारिण: जीवा: स्थावरा: त्रसा: द्विधा कथिता:, पूर्ण-अपूर्णतया द्वितीये अपि द्विधा प्रजायन्ते।

वचनिका : संसारी-जीव, स्थावर और त्रस—इसप्रकार से दो प्रकार के कहे हैं। उन स्थावर और त्रसों में भी पर्याप्त और अपर्याप्तपने की अपेक्षा दो-दो प्रकार हैं।।५/१६७।।

अब, इस पद्य द्वारा इनके पर्याप्त-अपर्याप्तपने का कारण निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **आहार-विग्रहाक्षाऽऽनवचोमानस-लक्षणम्।**
पर्याप्तीनां मतं षट्कं पूर्णापूर्णात्वकारणम्।।६/१६८।।

आहार तन इंद्रिय श्वास वचन मन छह मान इन।
पर्याप्ति अपूर्णत्व पूर्णत्व कारण समझ।।६/१६८।।

शब्दश: अर्थ : आहार-विग्रह+अक्ष+आन-वच:-मानस-लक्षणं=आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन लक्षणवाली; पर्याप्तीनां=पर्याप्तिओं की; मतं=माना है; षट्कं=छह; पूर्ण+अपूर्णत्व-कारणं=पूर्णता और अपूर्णता को कारण।

अन्वय : पर्याप्तीनां आहार-विग्रह-अक्ष-आन-वच:-मानस-लक्षणं षट्कं पूर्णत्व-अपूर्णत्व-कारणं मतम्।

वचनिका : पर्याप्तिओं का, आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास, वचन और मन लक्षणवाला यह षट्क, पर्याप्त और अपर्याप्तपने का कारण कहा है।

भावार्थ : अपने योग्य पर्याप्तिओं की जिसके पूर्णता है, वह पर्याप्त और जिसके पूर्णता नहीं है, वह अपर्याप्त कहलाता है।।६/१६८।।

किन जीवों के कितनी पर्याप्ति होती हैं; अब, इस पद्य द्वारा वह संख्या बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **चतस्र: पञ्च षट् ज्ञेयास्तेषां पर्याप्तयोऽङ्गिनाम्।**
एकाक्षविकलाक्षाणां पञ्चाक्षाणां यथाक्रमम्।।७/१६९।।

एक विकल पाँच इंद्रिय प्राणिओं के जान लो।
चार पाँच छहों क्रमश: पर्याप्ति पहिचान लो।।७/१६९।।

शब्दश: अर्थ : चतस्र:=चार; पञ्च=पाँच, षट्=छह; ज्ञेया:=जानने-योग्य हैं; तेषां=उन; पर्याप्तय:=पर्याप्तिआँ; अङ्गिनां=प्राणिओं के; एक+अक्ष-विकल+अक्षाणां=एक इंद्रियों के, विकलेंद्रियों के; पञ्च+अक्षाणां=पंचेंद्रियों के; यथाक्रमं=क्रमश:।

अन्वय : तेषां एक-अक्ष-विकल-अक्षाणां पञ्च-अक्षाणां अङ्गिनां यथाक्रमं चतस्र: पञ्च षट् पर्याप्तय: ज्ञेया:।

वचनिका : उन पर्याप्ति-सहित, विकलेंद्रिय, पंचेंद्रिय जीवों के क्रमश: चार, पाँच, छह पर्याप्ति जानना चाहिए।

भावार्थ : एकेंद्रिय के मन और वचन-विना चार पर्याप्ति हैं। विकलत्रय और असैनी के (मन-विना) पाँच पर्याप्ति हैं। पंचेंद्रिय सैनी के वचन-मन-सहित छहों पर्याप्तिआँ हैं—ऐसा जानना।।१७/१६९।।

अब, इस पद्य द्वारा स्थावर के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **एकाक्षा: स्थावरा: जीवा: पञ्चधा परिकीर्तिता:।**
पृथिवी सलिलं तेजो मारुतं च वनष्पति:।।८/१७०।।
एकेंद्रिय स्थावर हैं पृथिवी जल अग्नि अनिल।
वनष्पति पाँचों प्राणी भेद ये जान सब।।८/१७०।।

शब्दश: अर्थ : एक+अक्षा:=एक इंद्रिय युक्त; स्थावरा:=स्थावर; जीवा:=जीव; पञ्चधा=पाँच प्रकारवाले; परिकीर्तिता:=कहे हैं; पृथिवी=पृथ्वी; सलिलं=जल; तेज:=अग्नि; मारुतं=वायु; च=और; वनष्पति:=वनष्पति।

अन्वय : पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन और वनष्पति—इसप्रकार एकेंद्रिय स्थावर-जीव पाँच प्रकार के कहे हैं।।८/१७०।।

अब, इस पद्य द्वारा इन पृथ्वी आदि के भी भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **भेदास्तत्र त्रय: पृथ्व्या: कायकायिक-तद्भवा:।**
निर्मुक्तस्वीकृतागामिरूपा एवं परेष्वपि।।९/१७१।।
काय कायिक तद्भव ये पृथ्वी के त्रय भेद हैं।
छोड़ा स्वीकृत आगामी रूप यों ही अन्य में।।९/१७१।।

शब्दश: अर्थ : भेदा:=प्रकार; तत्र=वहाँ; त्रय:=तीन; पृथ्व्या:=पृथ्वी के; काय-कायिक-तद्भवा:=पृथ्वी-काय, पृथ्वी-कायिक और पृथ्वी-जीव; निर्मुक्त-स्वीकृत +आगामिरूपा:=

छोड़ा गया/भूत, स्वीकृत/वर्तमान; आगामी/भविष्यरूप; एवं=इसप्रकार; परेषु=अन्यों में; अपि=भी।

अन्वय : तत्र पृथ्व्या: निर्मुक्त-स्वीकृत-आगामिरूपा: काय-कायिक-तद्भवा: त्रय: भेदा:; एवं परेषु अपि।

वचनिका : वहाँ पृथ्वी के तीन भेद हैं—पृथ्वी-काय, पृथ्वी-कायिक, पृथ्वी-जीव। उनमें से जीव ने जो शरीर त्याग दिया है, वह पृथ्वी-काय है। जीव ने जो शरीर ग्रहण किया है, वह पृथ्वी-कायिक है। जो जीव पृथ्वी-कायिक होनेवाला है, वह अंतराल में पृथ्वी-जीव है। इसीप्रकार जलादि में भी जानना।।९/१७१।।

अब, इस पद्य द्वारा त्रस-कायिक के भेद वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **मता द्वित्रिचतु:पञ्चहृषीकास्त्रसकायिका:।**
पञ्चाक्षा द्विविधास्तत्र सञ्ज्ञ्यसञ्ज्ञिविकल्पत:।।१०/१७२।।
दो-त्रि-चार-पंचेद्रिय त्रस-कायिक जानना।
संज्ञी असंज्ञि भेदों से पंचेंद्रिय दो विध कहा।।१०/१७२।।

शब्दश: अर्थ : मता:=स्वीकृत हैं; द्वि-त्रि-चतु: पञ्चहृषीका:=दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय, पंचेंद्रिय; त्रसकायिका:=त्रस-कायिक; पञ्च+अक्षा=पंचेंद्रिय; द्वि-विधा:=दो प्रकार; तत्र= उनमें; सञ्ज्ञि+असञ्ज्ञि-विकल्पत:=संज्ञी और असंज्ञी के भेद से।।१०/१७२।।

अन्वय : द्वि-त्रि-चतु:-पञ्च-हृषीका: त्रस-कायिका:; तत्र सञ्ज्ञि-असञ्ज्ञि-विकल्पत: द्वि-विधा: पञ्च-अक्षा: मता:।

वचनिका : दो इंद्रिय, तीन इंद्रिय, चार इंद्रिय, पाँच इंद्रिय जीव, त्रस-कायिक कहलाते हैं। उनमें से पंचेंद्रिय, संज्ञी-असंज्ञी के भेद से दो प्रकारवाले हैं।।१०/१७२।।

अब, इस पद्य द्वारा संज्ञी और असंज्ञी का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **शिक्षोपदेशनालापग्राहिण: सञ्ज्ञिनो मता:।**
प्रवृत्तमानसप्राणा विपरीतास्त्वसञ्ज्ञिन:।।११/१७३।।
शिक्षा उपदेश आलाप ग्राही मन प्रवृत्त है।
हैं संज्ञी इनसे उल्टे असंज्ञी माने गए।।११/१७३।।

शब्दश: अर्थ : शिक्षा+उपदेशन+आलाप-ग्राहिण:=शिक्षा, उपदेश और आलाप को ग्रहण करनेवाले; सञ्ज्ञिन:=संज्ञी; मता:=स्वीकृत हैं; प्रवृत्त-मानस-प्राणा:=मन-प्राण की प्रवृत्तिवाले; विपरीता:=उल्टे; तु=वास्तव में; असञ्ज्ञिन:=असंज्ञी।

अन्वय : शिक्षा-उपदेशन-आलाप-ग्राहिणः प्रवृत्त-मानस-प्राणाः सञ्ज्ञिनः, तु विपरीताः असञ्ज्ञिनः मताः।

वचनिका : शिक्षा, उपदेश, आलाप को ग्रहण करनेवाले और मन की प्रवृत्तिवाले जीव, संज्ञी कहलाते हैं। इनसे विपरीत को असंज्ञी, जानना।।११/१७३।।

अब, इस पद्य द्वारा इंद्रियों के नाम और विषय का प्ररूपण है–

अनुष्टुभ् : **स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रमितीन्द्रियम्।**
तस्य स्पर्शरसौ गन्धो रूपं शब्दश्च गोचरः।।१२/१७४।।

स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण ये इंद्रियाँ।
स्पर्श रस गंध रूप शब्द विषय यही कहा।।१२/१७४।।

शब्दशः अर्थ : स्पर्शनं=स्पर्शन इंद्रिय; रसनं=रसना इंद्रिय; घ्राणं=घ्राण इंद्रिय; चक्षुः=नेत्र इंद्रिय; श्रोत्रं=कर्णेंद्रिय; इति=इसप्रकार; इन्द्रियं=इंद्रिय; तस्य=उसका; स्पर्शः=स्पर्श; रसः=रस; गन्धः=गंध; रूपं=रूप; शब्दः=शब्द; च=और; गोचरः=विषय।

अन्वय : स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं इति इन्द्रियं, तस्य गोचरः (क्रमशः) स्पर्शः रसः गन्धः रूपं च शब्दः।

वचनिका : स्पर्शन, रसन, घ्राण, नेत्र और श्रोत्र–ये पाँच इंद्रिय हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द–क्रमशः ये उनके विषय हैं।।१२/१७४।।

अब, इस पद्य द्वारा दो इंद्रिय जीवों के कुछ नाम गिनाते हैं–

अनुष्टुभ् : **गण्डूपदजलूकाक्ष-कृमि-शङ्खेन्द्रगोपकाः।**
गदिता विविधाकारा द्विहृषिकाः शरीरिणः।।१३/१७५।।

गिंडोला कृमी शंख जौंक कौड़ी इंद्रगोप।
आदि विविध आकारी शरीरी दो इंद्रिय।।१३/१७५।।

शब्दशः अर्थ : गण्डूपद-जलूका+अक्ष-कृमि-शङ्ख+इन्द्रगोपकाः=गिंडोला, जौंक, कौंड़ी, कृमि, शंख, इंद्रगोप; गदिताः=कहे हैं; विविध+आकाराः=अनेक प्रकार के आकारवाले; द्वि-हृषीकाः=दो इंद्रिय; शरीरिणः=शरीरधारी।

अन्वय : गण्डूपद-जलूका-अक्ष-कृमि-शङ्ख-इन्द्रगोपकाः विविध-आकाराः शरीरिणः द्वि-हृषीकाः गदिताः।

वचनिका : गिंडोला, जौंक, कौड़ी, कृमि, शंख, इंद्रगोप–ये अनेक प्रकार के आकारवाले शरीरधारी दो इंद्रिय जीव हैं।।१३/१७५।।

अब, इस पद्य द्वारा तीन इंद्रिय जीवों के कुछ नामों का निरूपण है—

अनुष्टुभ् : **यूकापिपीलिकालिक्षाकुन्थुमत्कुणवृश्चिकम्।**
त्रिहृषीकं मतं प्राज्ञैर्विचित्राकारसंयुतम्।।१४/१७६।।

चींटी जुवाँ लीख कुंथु खटमल बिच्छू आदि ये।
विविधाकार संयुक्त तीन इंद्रिय ज्ञानी कहें।।१४/१७६।।

शब्दश: अर्थ : यूका-पिपीलिका-लिक्षा-कुन्थु-मत्कुण-वृश्चिकं=जूवाँ, कीड़ी/चींटी, लीख, कुंथु, खटमल, बिच्छू; त्रि-हृषीकं=तीन इंद्रिय; मतं=माने हैं; प्राज्ञै:=ज्ञानिओं द्वारा; विचित्र+आकार-संयुतं=अनेक प्रकार के आकार से संयुक्त।

अन्वय : यूका-पिपीलिका-लिक्षा-कुन्थु-मत्कुण-वृश्चिकं विचित्र-आकार-संयुतं त्रि-हृषीकं प्राज्ञै: मतं।

वचनिका : जूवाँ, कीड़ी, लीख, कुंथु, खटमल, बिच्छू—ये बुद्धिमानों द्वारा, नाना प्रकार -संयुक्त तीनेंद्रिय कहे हैं।।१४/१७६।।

अब, इस पद्य द्वारा चारेंद्रिय जीवों के कुछ नामों का कथन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पतङ्ग-मक्षिका-दन्शमशका-भ्रमरादय:।**
चतुरक्षा विबोद्धव्या विबुद्धजिनशासनै:।।१५/१७७।।

पतंग मक्षिका डाँस मच्छर भ्रमर आदि ये।
चारेंद्रिय वाले जीव जिनशासन से समझ ले।।१५/१७७।।

शब्दश: अर्थ : पतङ्ग-मक्षिका-दन्श-मशका:-भ्रमर-आदय:=पतंगे, मक्खी, दंश, मशक, भ्रमर आदि; चतु:+अक्षा:=चारेंद्रियवाले; विबोद्धव्या:=विशेषरूप से जानना चाहिए; विबुद्ध-जिनशासनै:=विशिष्टरूप से जिन-शासन को जाननेवालों द्वारा।

अन्वय : पतङ्ग-मक्षिका-दन्शमशका:भ्रमर-आदय: चतु:-अक्षा: विबुद्ध-जिन-शासनै: विबोद्धव्या:।

वचनिका : विशेषरूप से जिन-शासन को जाननेवाले व्यक्तिओं द्वारा पतंग, मक्खी, दंश, मच्छर, भ्रमर आदि जीव, चारेंद्रिय जानना चाहिए।।१५/१७७।।

अब, इस पद्य द्वारा पंचेंद्रिय जीवों के कुछ नाम बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तिर्यग्योनिभवा: शेषा: श्वाभ्रमानवनाकिन:।**
विभिन्ना विविधैर्भेदै: स्वीकृतेन्द्रियपञ्चका:।।१६/१७८।।

शेष तिर्यग्योनिज देव नारकी व मनुष्य भी।
विभिन्न बहु भेदों से पंचेंद्रिय स्वीकृत सभी।।१६/१७८।।

शब्दश: अर्थ : तिर्यक्-योनि-भवा:=तिर्यंच-योनि में उत्पन्न; शेषा:=शेष रहे; श्वाभ्र-मानव-नाकिन:=नारकी, मनुष्य और देव; विभिन्ना:=पृथक्-पृथक्; विविधै:=अनेक प्रकार; भेदै:=भेदों से; स्वीकृता:=माने हैं; इन्द्रिय-पञ्चका:=पाँच इंद्रियवाले।

अन्वय : विविधै: भेदै: विभिन्ना: शेषा: तिर्यक्-योनि-भवा: श्वाभ्र-मानव-नाकिन: इन्द्रिय-पञ्चका: स्वीकृता।

वचनिका : अनेक भेदों से भिन्न-भिन्न ग्रहण किए गए तिर्यंच-योनि में उत्पन्न शेष तिर्यंच, नारकी, मनुष्य, देव—ये सभी पंचेंद्रिय जानना।

भावार्थ : एकेंद्रिय, विकलेंद्रिय के अतिरिक्त शेष सभी तिर्यंच, नारकी, मनुष्य, देव—ये सभी पंचेंद्रिय जानना।।१६/१७८।।

अब, इस पद्य द्वारा प्राणों के भेद गिनाते हैं—

अनुष्टुभ् : **हृषीक-पञ्चकं भाषा कायस्वान्त-बलत्रिकम्।**
आयुरुच्छ्वासनिश्श्वासद्वन्द्वं प्राणा दशोदिता:।।१७/१७९।।

पाँच इंद्रिय भाषा तन मन बल तीन आयु भी।
उच्छ्वास अरु निश्वास कहे हैं दश प्राण ही।।१७/१७९।।

शब्दश: अर्थ : हृषीक-पञ्चकं=पाँच इंद्रिय; भाषा=वचन; काय-स्वान्त-बल-त्रिकं=शरीर और मन—ये तीन बल; आयु:=आयु; उच्छ्वास-निश्श्वास-द्वन्द्वं=श्वासोच्छ्वास—ये दो; प्राणा:=प्राण; दश-उदिता:=दश कहे हैं।

अन्वय : संपूर्ण पद्य अन्वय शैली में है।

वचनिका : इंद्रिय प्राण—पाँच; भाषा, मन और काय—ये तीन बल प्राण; आयु और उच्छ्वास-निश्श्वास/श्वासोच्छ्वास—ये दो;—इसप्रकार प्राण, दश कहे हैं।।१७/१७९।।

किसके कितने प्राण हैं? इस प्रश्न का उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **शरीराक्षायुरुच्छ्वासा भाषिता निखिलेष्वपि।**
विकलासञ्ज्ञिनां वाणी पूर्णानां सञ्ज्ञिनां मन:।।१८/१८०।।

सभी में काय इंद्रिय श्वासोच्छ्वास आयु कहे।
वाणी विकल असंज्ञी में मन संज्ञी पर्याप्त में।।१८/१८०।।

शब्दश: अर्थ : शरीर+अक्ष+आयु:+उच्छ्वासा:=शरीर, इंद्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास; भाषिता:=कहे हैं; निखिलेषु=सभी में; अपि=भी; विकल+असञ्ज्ञिनां=विकलेंद्रियों और असंज्ञिओं के; वाणी=वचन; पूर्णानां=पर्याप्तक; सञ्ज्ञिनां=संज्ञिओं के; मन:=मन।

अन्वय : निखिलेषु अपि शरीर-अक्ष-आयुः-उच्छ्वासा, विकल-असञ्ज्ञिनां वाणी, पूर्णानां सञ्ज्ञिनां मनः भाषिताः।

वचनिका : शरीर, इंद्रिय, आयु, श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण, सभी पर्याप्तिओं में कहे हैं। विकलेंद्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्याप्तकों के भाषा/वचन प्राण है। संज्ञी पर्याप्तकों के मन प्राण है।।१८/१८०।।

अब, इस पद्य द्वारा इन प्राणों को इंद्रियों के अनुसार पर्याप्तक-अपर्याप्तक में विभक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **एकद्वित्रिचतुःपञ्चहृषीकाणां विभाजिताः।**
तेऽन्येषां त्रिचतुष्पञ्च षट्सप्ताङ्गायुरिन्द्रियैः।।१९/१८१।।

एक दो त्री चतु पंच इंद्रियों के विभक्त हैं।
तीन से सात अपर्याप्ति में तन आयु अक्ष से।।१९/१८१।।

शब्दशः अर्थ : एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-हृषीकाणां=एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय, पंचेंद्रियों का; विभाजिताः=विभाग करनेवाले; ते=वे/प्राण; अन्येषां=अन्यों/अपर्याप्तकों के; त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्त+अङ्ग+आयु+इन्द्रियैः=तीन, चार, पाँच, छह, सात, शरीर, आयु, इंद्रियों से।

अन्वय : ते अन्येषां एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-हृषीकाणां अङ्ग-आयु-इन्द्रियैः त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-सप्त विभाजिताः।

वचनिका : प्राण; एकेंद्रिय, दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय, पंचेंद्रिय जीवों के भेदरूप हैं। एकेंद्रिय के स्पर्शन इंद्रिय, शरीर, आयु, उच्छ्वास—ये चार; दो-इंद्रिय के इनमें रसना इंद्रिय और वचन मिलकर छह; तीनेंद्रिय के इनमें घ्राण अधिक सात; चारेंद्रिय के इनमें नेत्र अधिक आठ; असैनी-पंचेंद्रिय के इनमें श्रवण/श्रोत्र/कर्ण अधिक नौ; संज्ञी-पंचेंद्रिय के इनमें मन अधिक दश/सभी—इसप्रकार से पर्याप्तकों के प्राण कहे।

अपर्याप्तकों में वे प्राण; एकेंद्रिय के स्पर्शन इंद्रिय, काय, आयु—ये तीन; दो-इंद्रिय के, रसना-सहित चार; तीन-इंद्रिय के घ्राण-सहित पाँच; चार-इंद्रिय के, चक्षु-सहित छह; पंचेंद्रिय के, श्रोत्र-सहित सात प्राण हैं—ऐसा जानना।।१९/१८१।।

जन्म कितने प्रकार के हैं? कौन-से जीव किस जन्मवाले हैं? इन शंकाओं का समाधान अब, इस पद्य द्वारा करते हैं—

अनुष्टुभ् : **जरायुजाण्डजाः पोता गर्भजा देवनारकाः।**
उपपादभवाः शेषाः सर्वे सम्मूर्छन मताः।।२०/१८२।।

जरायुज अंडज पोत गर्भज हैं देव-नारकी।
उपपादज सब शेष संमूर्छन जन्मवान ही।।२०/१८२।।

शब्दश: अर्थ : जरायुज+अण्डजा:=जरायु से जन्म और अंडे से जन्म; पोता:=पोतवाले; गर्भजा:=गर्भ से जन्म लेनेवाले; देव-नारका:=देव और नारकी; उपपाद-भवा:=उपपाद से जन्मवाले; शेषा:=इनके अतिरिक्त; सर्वे=सभी; सम्मूर्छना:=संमूर्छन जन्मवाले; मता:= माने हैं।

अन्वय : यह पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : जरायुज अर्थात् प्राणिओं के शरीर के ऊपर जाल के समान आवरण; जिसमें मांस, लोहू आदि विस्ताररूप होता है; उस-सहित जन्म लेनेवाले जरायुज हैं। अंडा में उत्पन्न होनेवाले अंडज हैं। योनि से निकलते ही चलने आदि सामर्थ्य-युक्त उत्पन्न होना, पोत है। ये तीनों गर्भज हैं। देव और नारकिओं का जन्म उपपाद-शैया से होता है। इनके अतिरिक्त शेष सभी जीवों का जन्म, संमूर्छन से होता है।।२०/१८२।।

अब, इस पद्य द्वारा संसारी जीवों के वेद वर्णित हैं-

अनुष्टुभ् : **श्वाभ्रसम्मूर्छिनो जीवा भूरिपापा नपुन्सका:।**
स्त्री-पुम्वेदा मता देवा सवेद-त्रितया: परे।।२१/१८३।।

बहुत पापी संमूर्छन नारकी षंढ वेद ही।
देव स्त्री-पुरुषवेदी शेष में त्रय वेद ही।।२१/१८३।।

शब्दश: अर्थ : श्वाभ्र-सम्मूर्छिन:=नारकी और संमूर्छन; जीवा:=जीव; भूरि-पापा:=बहुत पापवाले; नपुन्सका:=नपुंसक; स्त्री-पुम्वेदा:=स्त्री और पुरुष वेद; मता:=माने हैं; देवा:=देव; सवेद-त्रितया:=तीनों वेदों-सहित; परे=शेष सभी।

अन्वय : भूरि-पापा: श्वाभ्र-सम्मूर्छिन: जीवा: नपुन्सका:, देवा: स्त्री-पुम्वेदा:, परे सवेद-त्रितया: मता:।

वचनिका : बहुत पापवाले नारकी और संमूर्छन जीव, नपुंसक हैं; देव, स्त्री-वेदी और पुरुष -वेदी हैं; शेष रहे सभी संसारी जीव, तीनों वेदों-सहित हैं-ऐसा जानना।।२१/१८३।।

अब, इस पद्य द्वारा योनिओं के भेद बताते हैं-

अनुष्टुभ् : **सचित्त: सम्वृत: शीत: सेतरो वा विमिश्रक:।**
विभेदैरान्तरैर्भिन्ना नवधा योनिरङ्गिनाम्।।२२/१८४।।

सचित्त शीत संवृत ये इनसे उल्टी विमिश्र भी।
अंतर भेद से भेदित नवधा योनि जीव की।।२२/१८४।।

शब्दश: अर्थ : सचित्त:=जीव-सहित; सम्वृत:=ढकी हुई; शीत=ठंडी; स+इतर:= इनसे विपरीत/जीव-रहित, उघड़ी, गर्म; वा=और; विमिश्रक:=इनकी मिश्र/सचित्ताचित्त, संवृत-विवृत, शीतोष्ण; विभेदै:=विशेष भेदरूप; अन्तरै:=अंदर/प्रभेदों से; भिन्न:=पृथक्; नवधा=नौ भेदवाली; योनि:=उत्पत्ति-स्थान; अङ्गिनां=शरीर-धारी जीवों की।

अन्वय : अङ्गिनां अन्तरै: विभेदै: भिन्न: सचित्त: सम्वृत: शीत: स-इतर: वा विमिश्रक: नवधा योनि:।

वचनिका : सचित्त, संवृत, शीत; इनसे इतर/उल्टी अचित्त, विवृत, उष्ण और इनका मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्तरूप मिश्र, संवृत-विवृतरूप मिश्र, शीतोष्णरूप मिश्र—इसप्रकार जीवों की, अंतर भेदों द्वारा भेदरूप नौ प्रकार की योनि कही हैं।

जीव जहाँ उत्पन्न होता है, उन पुद्गल-स्कंधों का नाम, योनि है। उनका जीव-सहित होना, सचित्त है; जीव-रहित होना, अचित्त है; गुप्तरूप होना संवृत है; प्रकट होना, विवृत है; शीतल होना, शीत है; उष्ण/गर्म होना, उष्ण है और मिला होना मिश्र है—ऐसा जानना।।२२/१८४।।

किन जीवों की कितनी योनिआँ होती हैं? इस जिज्ञासा की पूर्ति अब, इन दो पद्यों द्वारा करते हैं—

अनुष्टुभ् : **भूरुहेषु दश ज्ञेया: सप्त नित्यान्यधातुषु।**
नारकामरतिर्यक्षु चत्वारो विकलेषु षट्।।२३/१८५।।
चतुर्दश मनुष्येषु योनय: सन्ति पिण्डिता:।
सर्वे शतसहस्राणामशीतिश्चतुरुत्तरा:।।२४/१८६।।

दश प्रत्येक नित्येतर भू जलानल अनिल सात।
नारक देव पंचेंद्रिय चार विकलों में षटक।।२३/१८५।।
मनुष्य में चौदह सब ही लाख ये सब जोड़कर।
चौरासी लाख योनि हैं जान उत्तर भेद सब।।२४/१८६।।

शब्दश: अर्थ : भू-रुहेषु=वनष्पति/प्रत्येक में; दश=दश; ज्ञेया:=जानना चाहिए; सप्त=सात; नित्य+अन्य-धातुषु=नित्य-निगोद, इतर-निगोद, पृथ्वी-कायिक, जल-कायिक, अग्नि-कायिक, वायु-कायिक में; नारक+अमर-तिर्यक्षु=नारकी, देव, पंचेंद्रिय तिर्यंचों में; चत्वार:=चार; विकलेषु=विकल/दो-इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय में; षट्=छह।

चतुर्दश=चौदह; मनुष्येषु=मनुष्यों में; योनय:=योनिआँ; सन्ति=हैं; पिण्डिता:=एकत्रित; सर्वे=सभी; शत-सहस्राणां=लाख; अशीति:=अस्सी; चतु:=चार; उत्तरा:=आगे।

अन्वय : भूरुहेषु दश, नित्य-अन्य-धातुषु सप्त, नारक-अमर-तिर्यक्षु चत्वार:, विकलेषु षट्, मनुष्येषु चतुर्दश योनय: सन्ति; सर्वे पिण्डिता: शत-सहस्राणां उत्तरा: अशीति: चतु: ज्ञेया:।

वचनिका : वृक्षों/प्रत्येक वनष्पति में दश लाख योनिआँ जाननी। नित्य-निगोद, इतर-निगोद और धातु अर्थात् पृथ्वी-काय, जल-काय, वायु-काय—ये चार;—इन छह स्थानों में सात-सात लाख योनिआँ जाननी। नारकी, देव और पंचेंद्रिय तिर्यंचों में चार-चार लाख योनिआँ जाननीं। (दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय—इनमें से प्रत्येक की दो-दो लाख होने से) विकलत्रय में छह लाख योनिआँ हैं।

इन्हें, पूर्वोक्त सचित्तादि योनिओं के विशेष भेद जानना।।२३-२४/१८५-१८६।।

अब, इस पद्य द्वारा मार्गणा के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **गतीन्द्रिय-वपुर्योग-ज्ञान-वेद-क्रुधादय:।**
संयमाहारभव्येक्षालेश्यासम्यक्त्वसञ्ज्ञिन:।।२५/१८७।।

गति इंद्रिय वपु योग लिंग कषाय ज्ञान यम।
दर्शन लेश्या भव्य संज्ञि आहार समकित।।२५/१८७।।

शब्दश: अर्थ : गति+इन्द्रिय-वपु:-योग-ज्ञान-वेद-क्रुध+आदय:=गति, इंद्रिय, काय, योग, ज्ञान, वेद, क्रोध आदि कषायें; संयम+आहार-भव्य-ईक्षा-लेश्या-सम्यक्त्व-सञ्ज्ञिन:=संयम, आहार, भव्यत्व, दर्शन, लेश्या, सम्यक्त्व, संज्ञी।

अन्वय : गति-इंद्रिय-वपु:-योग-वेद-क्रुध-आदय:-ज्ञान-संयम-ईक्षा-लेश्या-भव्य-सम्यक्त्व-सञ्ज्ञिन: आहार।

वचनिका : गति चार, इंद्रिय पाँच, काय छह, योग पंद्रह, ज्ञान आठ, वेद तीन, क्रोधादि कषाय चार, संयम सात, आहारक दो, भव्य दो, दर्शन चार, लेश्या छह, संज्ञी दो—इस प्रकार चौदह मार्गणा कही हैं।।२५/१८७।।

अब, इस पद्य द्वारा मार्गणा का लक्षण और प्रयोजन वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **मार्ग्यन्ते सर्वदा जीवा यासु मार्गणकोविदै:।**
सम्यक्त्वशुद्धये मार्ग्यास्ताश्चतुर्दश मार्गणा:।।२६/१८८।।

दर्शनज्ञ सदा जिसमें जीव देखें मार्गणा।
सम्यक्त्व-शुद्धि हेतु वही चौदह विचारना।।२६/१८८।।

शब्दश: अर्थ : मार्ग्यन्ते=देखे जाते हैं; सर्वदा=हमेशा; जीवा:=जीव; यासु=जिसमें; मार्गण-कोविदै:=दर्शन को जानने में प्रवीण द्वारा; सम्यक्त्व-शुद्धये=सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए; मार्ग्या:=विचार करने-योग्य हैं; ता:=वे; चतुर्दश=चौदह; मार्गणा:=मार्गणा।

अन्वय : मार्गणा-कोविदैः सर्वदा यासु जीवाः मार्ग्यन्ते, ताः चतुर्दश मार्गणाः सम्यक्त्व-शुद्धये मार्ग्याः।

वचनिका : विचार में प्रवीण प्राणिओं द्वारा जिनमें जीव, सदा विचार किए जाते हैं; वे चौदह मार्गणा, सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए सदा विचार करने-योग्य हैं।।२६/१८८।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा चौदह गुणस्थानों के नाम बताते हैं—

शालिनी : **मिथ्यादृष्टिः सासनो मिश्रदृष्टिः, सम्यग्दृष्टिः संयतासंयताख्यः।**
ज्ञेयावन्यौ द्वौ प्रमत्ताप्रमत्तौ, सन्नापूर्वेणानिवृत्त्यल्पलोभौ।।२७/१८९।।
शान्तक्षीणौ योग्ययोग्यौ जिनेन्द्रौ, द्विः सप्तैवं ते गुणस्थानभेदाः।
त्रैलोक्याग्रारूढिसोपानमार्गास्तथ्यं येषु ज्ञायते जीवतत्त्वम्।।२८/१९०।।

मिथ्यादृष्टि सासनी मिश्रदृष्टि सम्यग्दृष्टि देशविरति हैं संयत।
जानों दोनों हैं प्रमत्ताप्रमत्त, अपूर्व अनिवृत्ति है कहा सूक्ष्म लोभ।।२७/१८९।।
शांत मोह क्षीण योगी अयोगी, जिनवर चौदह ये गुणस्थान भेद।
त्रैलोक्याग्र रूढ सोपान मार्ग, जिनमें जानों जीव तत्त्व यथार्थ।।२८/१९०।।

शब्दशः अर्थ : मिथ्यादृष्टिः=मिथ्यात्व; सासनः=सासादन-सम्यक्त्व; मिश्रदृष्टिः= सम्यग्मिथ्यात्व; सम्यग्दृष्टिः=अविरत-सम्यक्त्व; संयतासंयत+आख्यः=संयतासंयत नामक; ज्ञेयौ=जानना चाहिए; अन्यौ=दूसरे; द्वौ=दो; प्रमत्त+अप्रमत्तौ=प्रमत्त-विरत, अप्रमत्त-विरत; सन्न=सहित; अपूर्वेण=अपूर्व-करण से; अनिवृत्ति+अल्प-लोभौ=अनिवृत्ति-करण, सूक्ष्म लोभ।

शान्त-क्षीणौ=उपशांत-मोह, क्षीण-मोह; योगि+अयोग्यौ=सयोगी, अयोगी; जिनेन्द्रौ=दोनों जिनेंद्र/अरहंत; द्विः सप्त=दो सात/चौदह; एवं=इसप्रकार; ते=वे; गुण-स्थान-भेदाः=गुणस्थान के भेद; त्रैलोक्य+अग्र+आरूढि-सोपान-मार्गाः=तीन लोक के अग्र-भाग/शिखर पर चढ़ने के लिए सीढ़ी-सम मार्ग; तथ्यं=वास्तविक; येषु=जिनमें; ज्ञायते=जाना जाता है; जीव-तत्त्वं=जीव-तत्त्व।

अन्वय : मिथ्यादृष्टिः सासनः मिश्रदृष्टिः सम्यग्दृष्टिः संयतासंयत-आख्यः अन्यौ द्वौ प्रमत्त-अप्रमत्तौ ज्ञेयौ अपूर्वेण सन्न अनिवृत्ति-अल्पलोभौ शान्त-क्षीणौ योगि-अयोगौ जिनेन्द्रौ एवं ते द्विःसप्त त्रैलोक्य-अग्र-आरूढि-सोपान-मार्गाः गुणस्थान-भेदाः; येषु तथ्यं जीव-तत्त्वं ज्ञायते।

वचनिका : मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्रदृष्टि, सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत नामक; प्रमत्त और अप्रमत्त—ये दो जानने-योग्य हैं; अपूर्व-करण-सहित अनिवृत्ति-करण, सूक्ष्म-लोभ,

उपशांत-मोह, क्षीण-मोह, सयोगी-जिन, अयोगी-जिन—इसप्रकार गुणस्थान के चौदह भेद हैं। वे तीन-लोक के अग्र भागरूप सिद्ध पद पर चड़ने के लिए सोपान-मार्ग हैं। जिनमें वास्तविक जीव-तत्त्व ज्ञात हो जाता है।

भावार्थ : मोहनीय आदि कर्मों की उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम परिणामरूप विशेष अवस्थाएँ हैं। उनके होते हुए उत्पन्न होनेवाले, जीव के मिथ्यात्वादि परिणामों द्वारा, जीव 'गुण्यन्ते' अर्थात् देखे जाते हैं, लक्षित होते हैं; जीव के वे परिणाम 'गुणस्थान' संज्ञा के धारक हैं।

उनमें से मिथ्या अर्थात् अतत्त्व में है, दृष्टि अर्थात् श्रद्धान जिसका, वह मिथ्यादृष्टि है। आसादन=विराधन; उससे-सहित वर्तना, सासादन है; ऐसी दृष्टिवाला सासादन-सम्यग्दृष्टि है; अथवा आसादन-सम्यक्त्व की विराधना, उस-सहित वर्तमान/विद्यमान, सासादन-सम्यग्दृष्टि है। पहले सम्यक्त्व हुआ था—इस न्याय से यहाँ सम्यग्दृष्टिपना जानना।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का मिलाप भाव, मिश्र है। सम्यक्=समीचीन, दृष्टि=तत्त्वार्थ-श्रद्धान जिसके है, वह सम्यग्दृष्टि; वही अविरत=असंयमी है, वह अविरत-सम्यग्दृष्टि है। देशत:=एक-देश; विरत=संयमी; वह देश-विरत है। इसमें संयम और असंयम का मिला हुआ भाव है। इससे ऊपर/आगे सभी गुणस्थानवर्ती संयमी ही हैं।

प्रमाद्यति=प्रमाद करता है, वह प्रमत्त और प्रमाद नहीं करे, वह अप्रमत्त है। अपूर्व हैं परिणाम जिसके, वह अपूर्व-करण है। नहीं है, निवृत्ति=भेद=विशेषरूप, करण=परिणाम जिसके, वह अनिवृत्ति-करण है। सूक्ष्म है, साम्पराय=लोभ कषाय जिसके, वह सूक्ष्म-सांपराय है। उपशांत हुआ है मोह जिसका, वह उपशांत-मोह है। क्षीण हुआ है मोह जिसका, वह क्षीण-मोह है।

घाति-कर्मों को जीतनेवाले जिन हैं; केवलज्ञान जिनके है, वे केवली हैं; वे ही केवली हैं, वे ही जिन हैं और योग से सहित, वह सयोग; इसप्रकार वे सयोग-केवली जिन हैं। योग जिनके नहीं है, वे अयोगी, वे ही केवली जिन; इसप्रकार वे अयोग-केवली जिन हैं।

इसप्रकार मिथ्यादृष्टि से लेकर अयोग-केवली जिन पर्यंत चौदह गुणस्थान जानना। ग्रंथ बड़ने के भय से यहाँ उनके नाम का अर्थ-मात्र स्वरूप कहा है; विशेष अन्य आगम से जानना।।२७-२८/१८९-१९०।।

इसप्रकार जीव-तत्त्व का वर्णन हुआ।

आगे नौ पद्यों द्वारा अजीव-तत्त्व का वर्णन करते हैं।

उनमें से इस पद्य द्वारा सर्व-प्रथम अजीव-तत्त्व के नाम बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **धर्माधर्मनभ: कालपुद्गला: परिकीर्तिता:।**
अजीवा: पञ्च सूत्रज्ञैरुपयोग-विवर्जिता:।।२९/१९१।।
धर्माधर्म नभ काल पुद्गल विज्ञों ने कहे।
उपयोग-विरहित पाँचों मानों इन्हें अजीव ये।।२९/१९१।।

शब्दश: अर्थ : धर्म+अधर्म-नभ-काल-पुद्गला:=धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल; परिकीर्तिता:=कहे गए हैं; अजीवा:=अजीव; पञ्च=पाँच; सूत्र-ज्ञै:=सूत्र को जाननेवालों के द्वारा; उपयोग-विवर्जिता:=ज्ञान-दर्शन से रहित।

अन्वय : उपयोग-विवर्जिता: धर्म-अधर्म-नभ:-काल-पुद्गला: पञ्च अजीवा: सूत्रज्ञै: परिकीर्तिता:।

वचनिका : सूत्र को जाननेवाले व्यक्तिओं ने धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य, काल द्रव्य, पुद्गल द्रव्य—ये पाँच; ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग से रहित, अजीव कहे हैं।।२९/१९१।।

अब, इस पद्य द्वारा इन द्रव्यों की विशेषताएँ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **अमूर्ता निष्क्रिया नित्याश्चत्वारो गदिता जिनै:।**
रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-वन्तोऽत्र पुद्गला:।।३०/१९२।।
अमूर्त निष्क्रिय स्थाई चारों जिनवर ने कहे।
पुद्गल स्पर्श रस गंध वर्ण शब्द सहित कहे।।३०/१९२।।

शब्दश: अर्थ : अमूर्ता:=मूर्त-रहित; निष्क्रिया:=क्रिया-रहित; नित्या:=स्थाई; चत्वार:= चारों; गदिता:=बताए गए हैं; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-वन्त:=रूप, गंध, रस, स्पर्श, शब्दवाले; अत्र=इसमें से; पुद्गला:=पुद्गल।

अन्वय : अत्र चत्वार: अमूर्ता: निष्क्रिया: नित्या:, पुद्गला: रूप-गन्ध-रस-स्पर्श-शब्द-वन्त: जिनै: गदिता:।

वचनिका : धर्म, अधर्म, आकाश, काल—ये चार द्रव्य, अमूर्त अर्थात् वर्ण, गंध, रस, स्पर्श से रहित हैं और निष्क्रिय अर्थात् प्रदेशों के हलन-चलन से रहित हैं—ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है। यहाँ जो रूप, गंध, रस, स्पर्श, शब्दवान हैं; वे पुद्गल हैं। उनमें से रूप, गंध, रस, स्पर्श तो सदा अनुयायी/गुण हैं और शब्द, पर्याय हैं; क्योंकि वह पुद्गल-स्कंध से कदाचित् उत्पन्न होता है।

यहाँ शब्द कहने से बंध, सूक्ष्म, स्थूल, संस्थान, भेद, तम, छाया, आतप, उद्योत—पुद्गल की ये सभी पर्यायें जान लेना।।३०/१९२।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य की विशेषता बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **लोकालोकौ स्थितं व्याप्य व्योमानन्तप्रदेशकम्।**
लोकाकाशं स्थितौ व्याप्य धर्माधर्मौ समं ततः।।३१/१९३।।

नभ अनंत प्रदेशी ध्रुव व्यापी लोकालोक में।
धर्माधर्म सम स्थित व्यापी लोकाकाश में।।३१/१९३।।

शब्दशः अर्थ : लोक+अलोकौ=लोक और अलोक में; स्थितं=विद्यमान; व्याप्य=फैलकर; व्योम+अनन्त-प्रदेशकं=आकाश, अनंत प्रदेशवाला; लोक+आकाशं=लोकाकाश को; स्थितौ=विद्यमान; व्याप्य=घेरकर; धर्म+अधर्मौ=धर्म और अधर्म द्रव्य; समं=समान/एकसाथ; ततः=उससे।

अन्वय : लोक-अलोकौ व्याप्य व्योम-अनन्त-प्रदेशकं स्थितं; धर्म-अधर्मौ लोकाकाशं व्याप्य ततः समं स्थितौ।

वचनिका : लोक और अलोक—दोनों को व्याप्त कर अनंत-प्रदेशी आकाश, अवस्थित है। वहाँ लोकाकाश को सब ओर से व्याप्त कर धर्म-द्रव्य और अधर्म-द्रव्य विद्यमान हैं।।३१/१९३।।

अब, इस पद्य द्वारा द्रव्यों के प्रदेश गिनाते हैं—

अनुष्टुभ् : **धर्माधर्मैकजीवानामसङ्ख्येयाः प्रदेशकाः।**
अनन्तानन्त-मानास्ते पुद्गलानामुदाहृताः।।३२/१९४।।

एक जीव रु धर्माधर्म असंख्यात प्रदेशमय।
पुद्गलों के कहे जानो अनंतानंत प्रमाणमय।।३२/१९४।।

शब्दशः अर्थ : धर्म+अधर्म+एक-जीवानां=धर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के; असङ्ख्येयाः=असंख्यात; प्रदेशकाः=प्रदेश; अनन्त+अनन्त-मानाः=अनंत-अनंत प्रमाण; ते=वे; पुद्गलानां=पुद्गलों के; उदाहृताः=कहे हैं।

अन्वय : प्रस्तुत पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य और एक जीव में से प्रत्येक के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गलों के प्रदेश अनंतानंत प्रमाण कहे हैं।।३२/१९४।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य का लक्षण प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जीवानां पुद्गलानां च गतिस्थितिविधायिनौ।**
धर्माधर्मौ मतौ प्राज्ञैराकाशमवकाशकृत्।।३३/१९५।।

जीव पुद्गल की गति में स्थिति में निमित्तता।
धर्माधर्म की जानों नभ अवगाह हेतुता।।३३/१९५।।

शब्दश: अर्थ : जीवानां=जीवों की; पुद्गलानां=पुद्गलों की; च=और; गति-स्थिति-विधायिनौ=गति-स्थिति में कारण बननेवाले; धर्म+अधर्मौ=धर्म, अधर्म; मतौ=कहे हैं; प्राज्ञैः=बुद्धिमानों द्वारा; आकाशं=आकाश को; अवकाश-कृत्=स्थान देने में कारण बननेवाला।

अन्वय : जीवानां च पुद्गलानां गति-स्थिति-विधायिनौ धर्म-अधर्मौ अवकाशकृत् आकाशं प्राज्ञैः मतौ।

वचनिका : जीवों और पुद्गलों को गति और स्थिति में निमित्त होनेवाले धर्म-द्रव्य, अधर्म-द्रव्य, बुद्धिमानों द्वारा बताए हैं। आकाश-द्रव्य, अवकाश करनेवाला अर्थात् स्थान देने में निमित्त है।

भावार्थ : जैसे — स्वयं चलती हुई मछलिओं को, गमन में सहकारी, जल है और जैसे — स्वयं ही ठहरते हुए पथिकों को, ठहरने में सहकारी, छाया है; उसीप्रकार गमन करते या ठहरते हुए जीव-पुद्गलों को धर्म-अधर्म-द्रव्य, सहकारी हैं। वे प्रेरणा देकर चलाते या ठहराते नहीं हैं; मात्र उदासीन-कारण हैं।

इसीप्रकार यद्यपि सभी द्रव्य अपने स्वरूप में रहते हैं; तथापि सभी द्रव्यों को अवकाश देना, यह आकाश का गुण है—ऐसा जानना।।३३/१९५।।

अब, इस पद्य द्वारा काल-द्रव्य निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **असङ्ख्या भुवनाकाशे कालस्य परमाणवः।**
एकैका वर्तना कार्या मुक्ता इव व्यवस्थिताः।।३४/१९६।।

असंख्य काल परमाणु लोकाकाश में रहें।
वर्तना उनका कार्य मोती-वत् पृथक् कहे।।३४/१९६।।

शब्दश: अर्थ : असङ्ख्याः=संख्यातीत; भुवन+आकाशे=लोकाकाश में; कालस्य=काल के; परम+अणवः=सबसे छोटे अणु; एक-एकाः=एक-एक/पृथक्-पृथक्; वर्तना=वर्तते रहना; कार्याः=लक्षणवाले; मुक्ताः=मोती; इव=समान; व्यवस्थिताः=रह रहे हैं।

अन्वय : भुवन-आकाशे वर्तना-कार्याः कालस्य असङ्ख्याः परमाणवः मुक्ताः इव एक-एकाः व्यवस्थिताः।

वचनिका : लोकाकाश में वर्तनामय कार्य लक्षणवाले काल के असंख्यात परमाणु, मुक्ता-फल के समान एक-एक पृथक्-पृथक् रह रहे हैं।

भावार्थ : वर्तना लक्षणवाले असंख्यात कालाणु, लोक में पृथक्-पृथक् विद्यमान हैं — यह तो निश्चय-काल है और अन्य द्रव्यों की पर्यायों द्वारा समय आदि भेदरूप, व्यवहार-काल है—ऐसा जानना।।३४/१९६।।

अब, इस पद्य द्वारा पुद्गलों के कार्य का प्ररूपण है—

अनुष्टुभ् : **जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति पुद्गलाः।**
अणु-स्कन्ध-विभेदेन विकल्पद्वयभागिनः।।३५/१९७।।

अणु-स्कंध भेदों से दो भेदों वाले कहे।
पुद्गल जीवन मरण सुख दुख करते हैं इस जीव के।।३५/१९७।।

शब्दशः अर्थ : जीवितं=जीवन; मरणं=मृत्यु; सौख्यं=सुख, दुःखं=दुःख; कुर्वन्ति=करते हैं; पुद्गलाः=पुद्गल; अणु-स्कन्ध-विभेदेन=अणु और स्कंध के भेद से; विकल्प-द्वय-भागिनः=दो भेदवाले।

अन्वय : अणु-स्कन्ध-विभेदेन विकल्प-द्वय-भागिनः पुद्गलाः जीवितं मरणं सौख्यं दुःखं कुर्वन्ति।

वचनिका : पुद्गल-द्रव्य जीवन, मरण, सुख, दुःख को करते हैं। वे पुद्गल कैसे हैं? अणु और स्कंध के भेद से दो भेदों को प्राप्त हैं।

यहाँ संसारिओं के प्राणों का संयोग, जीवन है और उनका वियोग, मरण है; इंद्रिय-जनित सुख-दुःख यहाँ इसरूप में विवक्षित हैं। इनके कारण पुद्गल हैं; अतः इन्हें पुद्गल करता है—ऐसा जानना।।३५/१९७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा पुद्गल के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **विश्वम्भरा जलं छाया चतुरिन्द्रिय-गोचराः।**
कर्माणि परमाणुश्च षड्विधः पुद्गलो मतः।।३६/१९८।।
स्थूलस्थूलमिदं स्थूलं स्थूलसूक्ष्मं जिनेश्वरैः।
सूक्ष्मस्थूलं मतं सूक्ष्मं सूक्ष्मसूक्ष्मं यथाक्रमम्।।३७/१९९।।

भू स्थूल-स्थूल जल स्थूल प्रतिछवि।
स्थूल-सूक्ष्म चारेंद्रिय-विषय सूक्ष्म-स्थूल ही।।३६/१९८।।
कर्म सूक्ष्म परम सूक्ष्म परमाणु जानों सभी।
ये छह भेद पुद्गल के जिनवर द्वारा कथित ही।।३७/१९९।।

शब्दशः अर्थ : विश्वम्भरा=पृथ्वी; जलं=जल; छाया=प्रतिछवि; चतुः+इन्द्रिय-गोचराः= नेत्र के विना शेष चार इंद्रियों के विषय; कर्माणि=कर्म; परमाणुः=पुद्गल-अणु; च=और;

षड्-विध:=छह प्रकारवाला; पुद्गल:=पुद्गल; मत:=मान्य है।

स्थूलस्थूलं=स्थूल-स्थूल; इदं=यह; स्थूलं=स्थूल; स्थूल-सूक्ष्मं=स्थूल-सूक्ष्म; जिन+ईश्वरै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; सूक्ष्म-स्थूलं=सूक्ष्म-स्थूल; मतं=स्वीकृत है; सूक्ष्मं=सूक्ष्म; सूक्ष्म-सूक्ष्मं=सूक्ष्म-सूक्ष्म; यथाक्रमं=क्रमश:।

अन्वय : विश्वम्भरा स्थूल-स्थूलं, जलं स्थूलं, छाया स्थूल-सूक्ष्मं, चतु:-इन्द्रिय-गोचरा: सूक्ष्म-स्थूलं, कर्माणि सूक्ष्मं च परमाणुः सूक्ष्म-सूक्ष्मं यथाक्रमं पुद्गलः षड्विधः मत:, इदं जिनेश्वरैः मतम्।

वचनिका : पृथ्वी, जल, छाया, चार इंद्रियों के विषय, कर्म और परमाणु—इसप्रकार छह भेदवाला पुद्गल द्रव्य कहा है। जिनेश्वर देव ने यथाक्रम से पृथ्वी को स्थूल-स्थूल, जल को स्थूल, छाया को स्थूल-सूक्ष्म, नेत्र-विना चार—इंद्रियों के विषयों को सूक्ष्म-स्थूल, कार्मण-वर्गणा को सूक्ष्म और परमाणु को सूक्ष्म-सूक्ष्म कहा है।।३६-३७/१९८-१९९।।

इसप्रकार अजीव तत्त्व का वर्णन हुआ।

अब, सोलह पद्यों द्वारा आस्रव तत्त्व वर्णित है।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा आस्रव का व्युत्पत्ति-परक अर्थ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यद्वाक्कायमनः कर्म योगोसावास्रवः स्मृतः।**
कर्मास्रवत्यनेनेति शब्द-शास्त्र-विशारदैः।।३८/२००।।

तन मन वचन का कर्म योग आस्रव कहा गया।
इससे कर्म आता है यों शब्दागमविद् कहा।।३८/२००।।

शब्दशः अर्थ : यत्=जो; वाक्-काय-मनः कर्म=वचन, तन और मन का कर्म/परिस्पंद है; योग:=योग; असौ=वह; आस्रव:=आस्रव; स्मृत:=कहा गया; कर्म=द्रव्य-कर्म; आस्रवति=आता है; अनेन=इससे; इति=इसप्रकार; शब्द-शास्त्र-विशारदै:=शब्द-शास्त्र में प्रवीणों द्वारा।

अन्वय : यत्-वाक्-काय-मनः कर्म योग:, असौ आस्रवः अनेन कर्म आस्रवति इति असौ आस्रव:, शब्द-शास्त्र-विशारदैः स्मृत:।

वचनिका : जो वचन, काय, मन का कर्म अर्थात् चलना है, वह योग है, वह आस्रव है। जिससे कर्म आता है, वह आस्रव है—ऐसा शब्द-शास्त्र में निपुण पुरुषों द्वारा कहा गया है।।३८/२००।।

अब, इस पद्य द्वारा योग का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **शुभो शुभस्य विज्ञेयस्तत्रान्योऽन्यस्य कर्मणः।**
कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगतिं जायते।।३९/२०१।।

शुभ शुभ कर्म का कारण अशुभ अशुभ का कहा।
कार्य कारण के अनुरूप होता जग में दीखता।।३९/२०१।।

शब्दश: अर्थ : शुभ:=शुभ योग; शुभस्य=शुभ का; विज्ञेय:=जानना चाहिए; तत्र=वहाँ; अन्य:=दूसरा/अशुभ योग; अन्यस्य=दूसरे/अशुभ का; कर्मण:=कर्म का; कारणस्य= कारण का; अनुरूपं=अनुसार; हि=वास्तव में; कार्यं=कार्य; जगति=लोक में; जायते= उत्पन्न होता है।

अन्वय : शुभ: तत्र शुभस्य कर्मण: कारणं अन्य: अन्यस्य कर्मण: कारणं, हि जगति कारणस्य अनुरूपं कार्यं जायते इति विज्ञेय:।

वचनिका : उनमें से शुभ योग, शुभ कर्म का और अशुभ योग, अशुभ कर्म का कारण जानना; क्योंकि लोक में कारण के अनुरूप कार्य होता है।३९/२०१।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक कषाय को त्याज्य बताते हैं–

अनुष्टुभ् : **सन्सारकारणं कर्म सकषायेण गृह्यते।**
तेनान्यथा कषायेण कषायस्तेन वर्ज्यते।।४०/२०२।।

संसार-कारणी कर्म कषायों से ग्रहण करे।
कषाय विन नहीं हो भव अत: कषाय त्याज्य है।।४०/२०२।।

शब्दश: अर्थ : सन्सार-कारणं=संसार का हेतुभूत; कर्म=द्रव्य-कर्म; सकषायेण=कषाय-सहित के द्वारा; गृह्यते=ग्रहण किया जाता है; येन=जिससे; अन्यथा=दूसरे प्रकार से; कषायेण=कषाय द्वारा; कषाय:=कषाय; तेन=उस कारण; वर्ज्यते=छोड़ने-योग्य है।

अन्वय : येन सन्सार-कारणं कर्म सकषायेण गृह्यते, कषायेण अन्यथा, तेन कषाय: वर्ज्यते।

वचनिका : जिस कारण कषाय-सहित जीव, संसार का कारणभूत कर्म ग्रहण करता है और कषाय-रहित जीव, संसार का कारणभूत कर्म ग्रहण नहीं करता है; उस कारण कषाय त्याज्य है।

भावार्थ : सांपरायिक-आस्रव, कषाय-सहित जीव के होता है और ईर्यापथ-आस्रव, कषाय-रहित ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। वह केवल योग-कृत है; अत: संसार का कारण नहीं है—ऐसा जानना।।४०/२०२।।

अब, इस पद्य द्वारा आस्रव में विविधता के कारण स्पष्ट करते हैं—

शालिनी : **ज्ञाताज्ञातामन्दमन्दादिभावैश्चित्रैश्चित्रं जन्यते कर्मजालम्।**
नाचित्रत्वे कारणस्येह कार्यं किञ्चिच्चित्रं दृश्यते जायमानम्।।४१/२०३।।

ज्ञात अज्ञात मंद तीव्रादि बहु-विध भावों से ही प्रकट हो कर्म विध-विध।
बहु-विध कारण के विना जग में किंचित् होता दिखता कार्य कुछ भी न बहु-विध।।४१/२०३।।

शब्दश: अर्थ : ज्ञात+अज्ञात+अमन्द-मन्द+आदि भावै:=जानते हुए, अजानवाले, तीव्र, मंद आदि भावों द्वारा; चित्रै:=अनेक प्रकारवाले; चित्रं=अनेक प्रकारवाला; जन्यते=उत्पन्न होता है; कर्म-जालं=कर्मों का समूह; न=नहीं; अचित्रत्वे=विचित्रता के अभाव/एक-रूपता में; कारणस्य=कारण की; इह=यहाँ; कार्यं=कार्य; किञ्चित्=कुछ भी; चित्रं=अनेक प्रकारवाला; दृश्यते=देखा जाता है; जायमानं=प्रकट होते हुए।

अन्वय : चित्रै: ज्ञात-अज्ञात-मन्द-अमन्द-आदि-भावै: चित्रं कर्म-जालं जन्यते; इह कारणस्य अचित्रत्वे जायमानं किञ्चित् चित्रं कार्यं न दृश्यते।

वचनिका : ज्ञात-भाव, अज्ञात-भाव, तीव्र-भाव, मंद-भाव, आदि शब्द से अधिकरण और वीर्य—इन प्रकारों द्वारा अनेक प्रकार का कर्म-जाल उत्पन्न होता है। लोक में कारण की अनेक-रूपता नहीं होने पर अनेक प्रकार का कुछ भी कार्य उत्पन्न होता हुआ दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ : यह प्राणी हिंसना/मारना, योग्य है—ऐसा जानकर हिंसा में प्रवर्तना इत्यादि, ज्ञात-भाव है। प्रमाद से, मद/अभिमान से, विना जाने, हिंसा आदि में प्रवर्तना, अज्ञात-भाव है। क्रोधादि के तीव्र उदय से होना, तीव्र-भाव है। क्रोधादि के मंद उदय से होना, मंद भाव है। हिंसादि का आधार जिसे किया जाता है, वह अधिकरण है। द्रव्य की अपनी सामर्थ्य, वीर्य है।

इन तीव्र, मंद आदि अनेक प्रकार के भेदों से आस्रव में भी भेद होता है—ऐसा जानना।।४१/२०३।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण बताते हैं—

भुजंग-प्रयात : **तिरस्कारमात्सर्यपैशून्यविघ्नप्रघातप्रलापादिदोषैरनेकै:।**
विबोधावरोधस्तथेक्षावरोधो दुरन्तै: कृतैर्गृह्यते गर्हणीय:।।४२/२०४।।

तिरस्कार मात्सर्य पैशून्य बाधा करे घात आदि कहे दोष मिथ्या।
अनेकों दुरंती विकारों से निंदित ज्ञानावरण दर्शनावर्ण बँधता।।४२/२०४।।

शब्दश: अर्थ : तिरस्कार-मात्सर्य-पैशून्य-विघ्न-प्रघात-प्रलाप+आदि-दोषै:=अपमान, ईर्ष्या, चुगली करना, बाधा डालना, घात करना, मिथ्या-दोष देना आदि अपराधों द्वारा; अनेकै:=अनेक प्रकारवाले; विबोध+अवरोध:=विशिष्ट ज्ञान को रोकनेवाला/ज्ञानावरण;

तथा=और; ईक्षा+अवरोध:=दर्शन को रोकनेवाला/दर्शनावरण; दुरन्तै:=दूर है अंत जिनका/कठिनाई से समाप्त होनेवाले; कृतै:=किए गए; गृह्यते=ग्रहण होता/बँधता है; गर्हणीय:=निंदा के योग्य।

अन्वय : तिरस्कार-मात्सर्य-पैशून्य-विघ्न-प्रघात-प्रलाप-आदि-अनेकै: दुरन्तै: कृतै: दोषै: गर्हणीय: विबोध-अवरोध: तथा ईक्षा-अवरोध: गृह्यते।

वचनिका : ज्ञान-दर्शन के धारकों का अथवा ज्ञान-दर्शन का तिरस्कार करना, मात्सर्य-मद/ईर्ष्या करना, पैशून्य/चुगली खाना, अंतराय/बाधा डालना, घात करना, झूठे दोष कहना इत्यादि अनेकों, दूर हैं अंत जिनका अथवा कठिनता से नष्ट होनेवाले, किए गए दोषों द्वारा, निंदा करने-योग्य, ज्ञानावरण और दर्शनावरण ग्रहण किया जाता है/बँधता है।।४२/२०४।।

अब, इस पद्य द्वारा असाता-वेदनीय कर्म के आस्रव के कारणों का प्ररूपण है—

भुजंगप्रयात : **वधाक्रन्ददैन्यप्रलापप्रपञ्चैर्निकृष्टेन तापेन शोकेन सद्यः।**

परात्मोभयस्थेन कर्माङ्गिवर्गैरसातं सदा गृह्यते दुःखपाकम्।।४३/२०५।।

स्व-पर-उभय-स्थ निकृष्ट शोक-संताप से वध आक्रंद दैन्य।

बकवाद विस्तार युत प्राणिओं को दुखमय असाता बँधे शीघ्र नित्य।।४३/२०५।।

शब्दश: अर्थ : वध-आक्रन्द-दैन्य-प्रलाप-प्रपञ्चै:=हत्या, अश्रुपात-सहित विलाप, दीनता, बकवाद के विस्तारवाले; निकृष्टेन=तुच्छ; तापे=संताप द्वारा; शोकेन=शोक द्वारा; सद्य:= शीघ्र; पर+आत्म+उभय-स्थेन=दूसरे, अपने और दोनों में स्थित; कर्म=द्रव्य-कर्म; अङ्गिवर्गै:=प्राणिओं द्वारा; असातं=असाता वेदनीय; सदा=हमेशा; गृह्यते=ग्रहण किया बाँधा/जाता है; दु:ख-पाकं=दु:खरूप में फलनेवाला।

अन्वय : पर-आत्म-उभय-स्थेन निकृष्टेन तापे शोकेन वध-आक्रन्द-दैन्य-प्रलाप-प्रपञ्चै: अङ्गिवर्गै: सद्य: सदा दु:खपाकं असातं गृह्यते।

वचनिका : प्राणों का वियोग करना, वध है। अश्रु-पात-सहित खड़ा विलाप करना, आक्रंदन है। जिसे देखने से दया उत्पन्न हो जाए, वह दीनपना है। बकवाद करना, प्रलाप है। इनके विस्तार पूर्वक; अन्य के वचन सुनकर मन में कलुषता आनेरूप ताप से उसकी चिंता करते हुए, इष्ट का वियोग हो जाने पर निकृष्ट दु:खमय पीड़ारूप परिणामों द्वारा तथा खेदरूप परिणाममय निकृष्ट शोक द्वारा दु:खरूप उदयवाले असाता-वेदनीय कर्म का, जीवों के समूह द्वारा सदा शीघ्र ग्रहण किया जाता है।

ये पूर्वोक्त कारण कैसे हैं? पर में, स्वयं में और पर-स्वयं–दोनों में स्थित अर्थात् वर्त रहे हैं।

भावार्थ : अपने में, पर में और पर-आप–दोनों में किए गए वध आदि कारणों से असाता-वेदनीय का आस्रव होता है।।४३/२०५।।

अब, इस पद्य द्वारा साता वेदनीय के आस्रव के कारण निरूपित हैं–

शालिनी : **साधूपास्या प्राणिरक्षा तितिक्षा, सर्वज्ञार्चा दानशौचादियोगैः।**

सातं कर्मोत्पद्यते शर्मपाकं, शिष्टाभीष्टैः पोषितैः सज्जनैर्वा।।४४/२०६।।

जिनवर पूजन दान शौचादि योगी, प्राणी-रक्षा साधु-सेवा क्षमा से।

युत शुभ-भावी पोषिकी सज्जनों से शुभकर साता वेदनी कर्म बँधते।।४४/२०६।।

शब्दशः अर्थ : साधु+उपास्या=साधुओं की उपासना; प्राणि-रक्षा=प्राणिओं की रक्षा; तितिक्षा=क्षमा-शीलता; सर्वज्ञ+अर्चा=सर्वज्ञ भगवान की पूजा; दान-शौच+आदि-योगैः=दान देना, निर्लोभता आदिरूप योगों द्वारा; साता=साता वेदनीय; कर्म=द्रव्य कर्म; उत्पद्यते=उत्पन्न होता है; शर्म-पाकं=सुखरूप में फल देनेवाला; शिष्ट+अभीष्टैः=उत्तम अभिप्रायवाले; पोषितैः=पोषे गए; सज्जनैः=सज्जनों द्वारा; वा=अथवा।

अन्वय : साधु-उपास्या प्राणि-रक्षा तितिक्षा सर्वज्ञ-अर्चा दान-शौच-आदि योगैः वा शिष्ट-अभीष्टैः पोषितैः सज्जनैः शर्म-पाकं सातं कर्म उत्पद्यते।

वचनिका : साधुओं की सेवा, जीवों की रक्षा, क्षमा, सर्व की पूजा, दान, निर्लोभ-परिणाम, शुभ-ध्यान आदि पाप-रहित क्रियाओं का आचरण करने से उत्तम मनोरथवाले, पोषे गए सज्जनों द्वारा सुखमय परिपाकरूप में उदित होनेवाला साता-वेदनीय-कर्म उत्पन्न किया जाता है।–यह दृष्टांत है।।४४/२०६।।

अब, इस पद्य द्वारा दर्शन-मोहनीय के आस्रव के कारण बताते हैं–

शालिनी : **मोक्तव्येनावर्णवादेन देवे, धर्मे सङ्घे वीतरागे श्रुते च।**

मद्येनेवास्वाद्यमानेन सद्यो, घोराकारो जन्यते दृष्टिमोहः।।४५/२०७।।

देव रु धर्म संघ वीतराग श्रुत में मदिरा-वत् मद-मत्तकर है सु शीघ्र।

तजने-योग्य अवर्णवादों से अति ही है भय-कारी दृष्टि-मोह सुव्यक्त।।४५/२०७।।

शब्दशः अर्थ : मोक्तव्येन=छोड़ने-योग्य; अवर्णवादेन=अवर्णवाद से; देवे=देव में; धर्मे=धर्म में; सङ्घे=संघ में; वीतरागे=वीतरागी भगवान में; श्रुते=श्रुत/शास्त्र में; च=और; मद्येन=शराब से; इव=समान; आस्वाद्यमानेन=स्वाद/वेदन में आनेवाले; सद्यः=शीघ्र;

घोर+आकार:=भय-कारी स्वरूपवाला; जन्यते=प्रकट होता है; दृष्टिमोह:=दर्शन-मोह।
अन्वय : देवे धर्मे सङ्घे वीतरागे च श्रुते आस्वाद्यमानेन मद्येन इव मोक्तव्येन अवर्णवादेन सद्य: घोर-आकार: दृष्टि-मोह: जन्यते।

वचनिका : देव में, धर्म में, संघ में, वीतराग-केवली में और शास्त्र में त्याग करने-योग्य अवर्णवाद से स्वाद्यमान/सेवन की गई मदिरा के समान, घोर आकारवाला, देखने में गहल-भाव उत्पन्न करनेवाला दर्शन-मोह-कर्म उत्पन्न होता है।

भावार्थ : अंतरंग कलुषता के दोष से, नहीं होनेवाले दोषों को प्रकट करना, अवर्णवाद है। वहाँ देव, चार प्रकार के हैं। उनमें से व्यंतर, मांस का सेवन करते हैं; इत्यादि कहना, देव-अवर्णवाद है। जिनेंद्र भगवान द्वारा कथित दश प्रकार का धर्म, गुणों से रहित है, उसका सेवन करनेवाले, असुर होते हैं; इत्यादि कहना, धर्म का अवर्णवाद है। स्नान से रहित, मल से लिप्त शरीरवाले मुनि, अपवित्र, शूद्र हैं; इत्यादि कहना, संघ का अवर्णवाद है। केवली, कवलाहार से जीते हैं; वे, क्रम-प्रवृत्त ज्ञान-दर्शन से सहित हैं; इत्यादि कहना, केवली का अवर्णवाद है। मांस, मछली का भक्षण; मदिरा-पान, स्त्री-सेवन, रात्रि-भोजन इत्यादि पाप-रहित हैं—ऐसा कहना, श्रुत का अवर्णवाद है।

देवादि के ऐसे अवर्णवाद से दर्शन-मोह का बंध होता है; जिससे संसार में अनंत परिभ्रमण होता है—ऐसा जानना।।४५/२०७।।

अब, इस पद्य द्वारा चारित्र-मोह के आस्रव के कारण स्पष्ट करते हैं—

शालिनी : **सौख्यध्वन्सी जन्यते निन्दनीयो, रौद्रो भावो य: कषायोदयेन।**
दत्ते जन्तोरेष चारित्रमोहं, विद्वेषी वा राध्यमानो निकृष्ट:।।४६/२०८।।

कषायोदय से व्यक्त सौख्य विनाशी निंद्य रौद्री भाव प्राणी का नित्य।
सेवित द्वेषी तुच्छ प्राणी-समान अति दुख-दाता बंध चारित्र-मोह।।४६/२०८।।

शब्दश: अर्थ : सौख्य-ध्वंसी=सुख का नाशक; जन्यते=उत्पन्न होता है; निन्दनीय:=निंदा के योग्य; रौद्र:=रौद्र; भाव:=परिणाम; य:=जो; कषाय+उदयेन=कषाय के उदय से; दत्ते=देता है; जन्तो:=प्राणी का; एष:=यह; चारित्र-मोहं=चारित्र-मोह को; विद्वेषी:=तीव्र द्वेष-संपन्न; वा=समान; राध्यमान:=सेवा किया गया; निकृष्ट:=तुच्छ।

अन्वय : कषाय-उदयेन य: सौख्य-ध्वन्सी निन्दनीय: रौद्र: भाव: जन्यते एष: विद्वेषी राध्यमान: निकृष्ट: वा जन्तो: चारित्र-मोहं दत्ते।

वचनिका : जैसे—द्वेष-भाव-सहित आराधित नीच पुरुष, आचरण में प्रचेतपना/आकुलता

उत्पन्न करता है; उसीप्रकार कषाय के उदय से जो निंदा के योग्य और सुख का नाशक रौद्र-भाव उत्पन्न होता है; वह जीव को चारित्र-मोह देता है।

भावार्थ : क्रोधादि कषायों के उदय से जो तीव्र परिणाम होते हैं; उनसे जीव को चारित्र-मोह का आस्रव होता है—ऐसा जानना।।४६/२०८।।

अब, इस पद्य द्वारा नरकायु के आस्रव के कारण बताते हैं—

शालिनी : **बह्वारम्भ-ग्रन्थ-सन्दर्भ-दर्पैः, रौद्राकारैस्तीव्रकोपादिजन्यैः।**

श्वभ्रावासे प्राप्यते जीवितव्यं, किंवा दुःखं दीयते नाघचेष्टैः।।४७/२०९।।

आरंभी बहु बहु परिग्रह से निर्मित मद भय-कारी तीव्र क्रोधादि जन्य।

भावों से हो प्राप्त नारक-निवास, क्या दुख न दे पाप-चेष्टा निरंतर।।४७/२०९।।

शब्दशः अर्थ : बहु+आरम्भ-ग्रन्थ-सन्दर्भ-दर्पैः=बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह से रचित अभिमान द्वारा; रौद्र+आकारैः=अति भयंकर; तीव्र-कोप+आदि-जन्यैः=तीव्र क्रोधादि से उत्पन्न भावों से; श्वभ्र+आवासे=नरक के निवास-स्थान में; प्राप्यते=प्राप्त होता है; जीवितव्यं=जीवन; किं=क्या; वा=अथवा; दुःखं=दुःख, दीयते=दिया जाता है; न=नहीं; अघ-चेष्टैः=पाप-चेष्टाओं से।

अन्वय : बहु-आरम्भ-ग्रन्थ-सन्दर्भ-दर्पैः रौद्र-आकारैः तीव्र-कोप-आदि-जन्यैः श्वभ्र-आवासे जीवितव्यं प्राप्यते; वा अघ-चेष्टैः किं दुःखं न दीयते।

वचनिका : बहुत आरंभ अर्थात् हिंसा कर्म; यह मेरी वस्तु है, मैं इसका स्वामी हूँ—ऐसा आत्मीय भाव, परिग्रह है। इनकी ऐसी रचना के मद से भयानक आकारवाले तीव्र क्रोधादि को उत्पन्न करनेवाले भावों द्वारा नरक-निवास में जीवितपना/जीवन प्राप्त होता है; अथवा पापरूप चेष्टाओं द्वारा क्या दुःख नहीं दिया जाता है? दिया ही जाता है।

भावार्थ : बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह के भाव से नरकायु का आस्रव होता है।।४७/२०९।।

अब, इस पद्य द्वारा तिर्यंच-आयुष्क के आस्रव के कारण वर्णित हैं—

शालिनी : **नाना-भेदा कूट-मानादिभेदैर्मायानिष्ठाराध्यमाना जनानाम्।**

तैर्यग्योनं जीवितव्यं विधत्ते, किं वा दत्ते वञ्चना न प्रयुक्ता।।४८/२१०।।

बहुविध भेद कूट मानादि भेदों से आराधित अहितकर कुटिलता ही।

तिर्यग्योनि आयु दे प्राणिओं को बुद्धि पूर्वक वंचना क्या न देती?।।४८/२१०।।

शब्दशः अर्थ : नाना-भेदा=अनेक प्रकार के भेदरूप; कूट-मान+आदि-भेदैः=झूँठ, मान

आदि भेदों से; माया=छल-कपट; अनिष्टा=अहितरूप; आराध्यमाना=आराधित/बुद्धि पूर्वक की गई; जनानां=प्राणिओं का; तैर्यग्योनं=तिर्यंच योनिवाला; जीवितव्यं=जीवन; विधत्ते=धारण करती है; किं=क्या; वा=अथवा; दत्ते=देती है; वञ्चना=कुटिलता; न= नहीं; प्रयुक्ता=उपयोग पूर्वक।

अन्वय : कूट-मान-आदि-भेदै: नाना-भेदा अनिष्टा आराध्यमाना माया जनानां तिर्यग्योनं जीवितव्यं विधत्ते। वा प्रयुक्ता वञ्चना किं न दत्ते?

वचनिका : कूट अर्थात् झूँठ, मान आदि भेदों द्वारा अनेक भेद-स्वरूप, आराध्यमान, अनिष्टमय माया, तिर्यंच-योनि के जीवितपना/जीवन को धारण करती है। उपयोग पूर्वक की गई ठगने की क्रिया क्या दु:ख नहीं देती?

भावार्थ : कुटिलता का नाम माया है। उस मायाचार से तिर्यंच-आयुष्क का आस्रव होता है।।४८/२१०।।

अब, इस पद्य द्वारा मनुष्य-आयुष्क के आस्रव के कारण प्ररूपित हैं—

शालिनी : **अल्पारम्भग्रन्थसन्दर्भदर्पै:, सौम्याकारै: मन्दकोपादिजन्यै:।**
सद्यो जीवो नीयते मानुषत्वं, किं नो सौख्यं दीयते शान्तरूपै:।।४९/२११।।

अल्पारंभी अल्प परिग्रह रचित मद सौम्याकार मंद क्रोधादि जन्य।
भावों से ले शीघ्र मानुष्य जीव शांतरूप क्या न दे सौख्य नित्य?।।४९/२११।।

शब्दश: अर्थ : अल्प+आरम्भ-ग्रन्थ-सन्दर्भ-दर्पै:=अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह से रचित मद द्वारा; सौम्य+आकारै:=सौम्य आकारवाले; मन्द-कोप+आदि जन्यै:=मंद क्रोध आदि से उत्पन्न हुए भावों द्वारा; सद्य:=शीघ्र; जीव:=जीव; नीयते=ले लेता है; मानुषत्वं=मनुष्यता को; किं=क्या; नो=नहीं; सौख्यं=सौख्य को; दीयते=दिया जाता है; शान्त-रूपै:=शांतरूप द्वारा।

अन्वय : अल्प-आरम्भ-ग्रन्थ-सन्दर्भ-दर्पै: सौम्य-आकारै: मन्द-कोप-आदि-जन्यै: जीव: सद्य: मानुषत्वं नीयते; शान्त-रूपै: किं सौख्यं नो दीयते?

वचनिका : मंद क्रोधादि कषायों से उत्पन्न, सौम्य आकारवाले, अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रह से रचित अल्प-मान द्वारा जीव, शीघ्र मनुष्यता को प्राप्त करता है। शांतरूप वाले पुरुषों द्वारा क्या सुख नहीं दिया जाता है? दिया ही जाता है।

भावार्थ : अल्प-आरंभ और अल्प-परिग्रहत्व से मनुष्य-आयुष्क का आस्रव होता है।।४९/२११।।

अब, इस पद्य द्वारा देव-आयुष्क के आस्रव के कारण निरूपित हैं—

शालिनी : **सम्यग्दृष्टिः श्रावकीयं चरित्रं, चित्राकामा निर्जरा रागिवृत्तम्।**
आयुर्दैवं प्राणभाजां ददन्ते, शान्ता भावाः किं न कुर्वन्ति सौख्यम्।।५०/२१२।।

सम्यग्दृष्टि संयमासंयमी बहु इच्छा के विन निर्जरा वृत सराग।
प्राणी को दें देव आयु सदा ये, क्या नहिं करते सौख्य शांतादि भाव?।।५०/२१२।।

शब्दशः अर्थ : सम्यग्दृष्टिः=अविरत सम्यग्दृष्टि; श्रावकीयं=श्रावकों संबंधी; चरित्रं=चारित्र/संयमासंयम; चित्र+अकामा-निर्जरा=इच्छा के विना अनेक प्रकार की निर्जरा; रागिवृत्तं=सराग-चारित्र; आयुः=आयुष्क; दैवं=देव को; प्राणभाजां=प्राण-धारिओं को; ददन्ते=देते हैं; शान्ताः=शांत; भावाः=परिणाम; किं=क्या; न=नहीं; कुर्वन्ति=करते हैं; सौख्यं=सौख्य।

अन्वय : सम्यग्दृष्टिः श्रावकीयं चरित्रं चित्र-अकामा-निर्जरा रागिवृत्तं प्राणभाजां दैवं आयुः ददन्ते; शान्ताः भावाः किं सौख्यं न कुर्वन्ति।

वचनिका : सम्यक्त्व, श्रावक संबंधी चारित्र, अनेक प्रकार की अकाम-निर्जरा और सराग-चारित्र—ये जीवों को देव संबंधी आयु देते हैं। शांत-भाव क्या सुख नहीं करता है? करता ही है।

भावार्थ : पूर्वोक्त भावों से देवायु का आस्रव होता है।

प्रश्न : यहाँ कोई कहता है कि सम्यक्त्व, चारित्र तो मोक्षमार्ग है; इनसे आस्रव कैसे होता है?

उत्तर : आधारभूत एक आत्मा में सम्यक्त्व, चारित्र और राग-भाव—दोनों आधेय होते हैं। सम्यक्त्व और चारित्र से निर्जरा होती है तथा राग से बंध होता है। उसका साहचर्य देखकर उपचार से ऐसा कहा जाता है कि सम्यक्त्व, चारित्र से देवायु बँधती है। निश्चय से तो सम्यक्त्व, चारित्र के कारण, निर्जरा है; राग से बंध है। जैसे—रूढ/लोक में ऐसा कह देते हैं कि यह घृत, जलाता है; परंतु वास्तव में घृत, जलाने का कारण नहीं है। घृत में जो अग्नि मिली है, उससे जलते हैं—ऐसा जानना।।५०-२१२।।

अब, इस पद्य द्वारा शुभ-अशुभ नाम-कर्म के आस्रव के कारण वर्णित हैं—

शालिनी : **सम्वादित्वं प्राञ्जला योग-वृत्तिः, नाम्नो ज्ञेयं कारणं पूजितस्य।**
वक्रो योगोऽवादि सम्वाद-हान्या, सार्धं हेतुर्निन्दनीयस्य तस्य।।५१/२१३।।

यथार्थ प्रवृत्ति योगवृत्ति सरलता, कारण जानों नाम-कर्म सुशुभ के।
वक्री योग वृत्ति संवाद-हानि, कारण जानों नाम-कर्म अशुभ के।।५१/२१३।।

शब्दश: अर्थ : सम्वादित्व=यथार्थ प्रवृत्ति; प्राञ्जला=स्पष्ट/सरल; योग-वृत्ति:=योगों की दशा; नाम्न:=नाम-कर्म का; ज्ञेयं=जानना चाहिए; कारणं=हेतु; पूजितस्य=शुभ का; वक्र:=कुटिल; योग:=मन, वचन, काय की दशा; अवादि=कहा है; सम्वाद-हान्या= यथार्थ प्रवृत्ति की हानि; सार्धं=साथ; हेतु:=कारण; निन्दनीयस्य=अशुभ का; तस्य=उस / नाम-कर्म का।

अन्वय : सम्वादित्वं प्राञ्जला योग-वृत्ति: पूजितस्य नाम्न: कारणं ज्ञेयं; सम्वाद-हान्या सार्धं वक्र: योग: तस्य निन्दनीयस्य कारणं अवादि।

वचनिका : संवादिपना अर्थात् यथार्थ प्रवृत्ति करना, कहना; मन, वचन, कायरूप योगों की सरल प्रवृत्ति/परिणति; पूजित/शुभ नाम-कर्म के कारण जानना। यथार्थ कहने की हानिरूप संवाद-हानि से सहित मन, वचन, काय का कुटिल योग; निंदनीय/अशुभ नाम-कर्म के कारण हैं—ऐसा जानना।

भावार्थ : यहाँ नाम-कर्म का विशेष, अचिंत्य शक्ति-सहित तीर्थंकर नाम-कर्म के कारण, आगम के अनुसार कहते हैं—१. जिन-भाषित निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग में रुचिरूप निश्शंकित आदि अष्ट अंग-सहित दर्शन-विशुद्धि; २. ज्ञानादि में परम आदर, कषायों के अभावरूप विनय-संपन्नता; ३. अहिंसादि व्रत और उनके पालन के लिए क्रोधादि कषायों के त्यागरूप शील; इनमें निर्दोष प्रवृत्तिमय शील और व्रतों में अनतिचार; ४. ज्ञान-भावना में नित्य उपयुक्तपनेरूप अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग; ५. संसार के दु:खों से भय-भीतपनारूप संवेग; ६. स्व और पर के हितार्थ शक्ति-अनुसार देनेरूप त्याग; ७. अपने वीर्य को नहीं छिपानेवाले प्राणी का मार्ग से अविरुद्ध काय-क्लेश करनेरूप तप; ८. जैसे — भांडागार में अग्नि लग जाने पर उसका शमन करते हैं; उसीप्रकार अनेक व्रत, शीलों से सहित मुनिओं के समूह के तप में कहीं से विघ्न उपस्थित हो जाने पर, उसका उपशम कर तप की स्थिरता करनेरूप साधु-समाधि भावना है।

९. गुणवानों को दु:ख आ जाने पर निर्दोष विधि द्वारा उसे दूर करनेरूप वैयावृत्त्य; अरहंतों में, आचार्यों में, बहु-श्रुतों/उपाध्यायों में, प्रवचन/जिनवाणी में भावों की शुद्धता-सहित अनुरागरूप क्रमश: १०. अर्हद्भक्ति, ११. आचार्य-भक्ति, १२. बहुश्रुत-भक्ति, १३. प्रवचन-भक्ति; १४. सामायिक आदि छह आवश्यक क्रियाओं को यथा-काल करनेरूप आवश्यकापरिहारी; १५. ज्ञान, तप, जिन-पूजा की विधि द्वारा धर्म का प्रकाश करनेरूप मार्ग-प्रभावना; १६. वछड़े में गाय के समान, साधर्मी में प्रीतिरूप प्रवचन -वात्सल्य भावना है।

सम्यग्दर्शन-सहित ये षोडश/सोलह कारण तीर्थंकर नाम-कर्म के आस्रव के कारण जानना।।५१/२१३।।

अब, इस पद्य द्वारा गोत्र-कर्म के आस्रव के कारण प्ररूपित हैं—

शालिनी : **नीचैर्गोत्रं स्वप्रशन्सान्यनिन्दे, कुर्वाणोऽसत्सद्गुणोच्छादने च।**
प्राप्नोत्यङ्गी प्रार्थनीयं महिष्ठैरुच्चैर्गोत्रं मङ्क्षु तद्वैपरीत्ये।।५२/२१४।।

ख्याति अपनी गुण नहीं तो भी कहना, पर की निंदा सत् गुणों को भी ढँकना।
होता इससे हीन गोत्री हो उल्टा प्रार्थित उत्तम उच्च गोत्री ही होता।।५२/२१४।।

शब्दश: अर्थ : नीचै:=नीच; गोत्रं=गोत्र; स्व-प्रशन्सा+अन्य-निन्दे=अपनी प्रशंसा और अन्य की निंदा को; कुर्वाण:=करता हुआ; असत्-च-सद्-गुण+उच्छादने=अपने में अविद्यमान गुणों को प्रकट करता और अन्य में विद्यमान गुणों को ढँकता हुआ; प्राप्नोति= प्राप्त होता है; अङ्गी=प्राणी; प्रार्थनीयं=प्रार्थना करने-योग्य; महिष्ठै:=बड़े पुरुषों द्वारा; उच्चै:=उच्च; गोत्रं=गोत्र को; मङ्क्षु=शीघ्र; तत्-वैपरीत्ये=उनकी विपरीतता में।

अन्वय : स्व-प्रशन्सा-अन्य-निन्दे स्व-असत्-गुण-(उद्भावने)-च-अन्य-सत् गुण-उच्छादने कुर्वाण: अङ्गी नीचै: गोत्रं प्राप्नोति; तत् वैपरीत्ये महिष्ठै: प्रार्थनीयं उच्चै: गोत्रं अङ्गी मङ्क्षु प्राप्नोति।

वचनिका : अपनी प्रशंसा, अन्य की निंदा; अपने अविद्यमान गुण, प्रकट करना; अन्य के विद्यमान गुण, ढँकना—इन्हें करते हुए प्राणी, नीच-गोत्र को प्राप्त होता है। इन भावों का विपरीतपना होने पर बड़े पुरुषों द्वारा प्रार्थना-योग्य उच्च-गोत्र को शीघ्र ही प्राप्त करता है।।५२/२१४।।

अब, इस पद्य द्वारा अंतराय कर्म के आस्रव के कारण निरूपित हैं—

शालिनी : **दानं लाभो वीर्यभोगोपभोगा, नो लभ्यन्ते प्राणिना विघ्न-भाजा।**
विज्ञायेत्थं विघ्न-भीतेन विघ्नो, नो कर्तव्य: पण्डितेन त्रिधापि।।५३/२१५।।

विघ्नक प्राणी लाभ भोगोपभोग दान रु वीर्य नहीं पाता यों जान।
बाधाओं से भय तनिक तो न करना विघ्न कभी भी तीनधा विज्ञ किंचित्।।५३/२१५।।

शब्दश: अर्थ : दानं=दान; लाभ:=लाभ; वीर्य-भोग+उपभोगा:=वीर्य, भोग, उपभोग; नो=नहीं; लभ्यन्ते=प्राप्त करते हैं; प्राणिना=प्राण-धारी द्वारा; विघ्न-भाजा=बाधाओं को प्राप्त; विज्ञाय=जानकर; इत्थं=इसप्रकार; विघ्न-भीतेन=बाधाओं के डर से; विघ्न:= बाधा; नो=नहीं; कर्तव्य:=करना चाहिए; पण्डितेन=जानकार द्वारा; त्रिधा=तीन प्रकार से; अपि=भी।

अन्वय : विघ्न-भाजा प्राणिना दानं लाभः वीर्य-भोग-उपभोगा नो लभ्यन्ते इत्थं विज्ञाय विघ्न-भीतेन पण्डिते त्रिधा अपि विघ्नः न कर्तव्यः।

वचनिका : विघ्न अर्थात् अंतराय को करनेवाला जीव; दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य को प्राप्त नहीं करता है—ऐसा जानकर विघ्न से भय-भीत पंडित-जनों द्वारा मन, वचन, काय से विघ्न करना, योग्य नहीं है।

भावार्थ : पर के दानादि में विघ्न करने से अंतराय-कर्म का आस्रव होता है।।५३/२१५।।

प्रश्न : यहाँ कोई कहता है कि ज्ञानावरणादि के ये नियमरूप कारण कहे हैं; वे सभी कर्मों के आस्रव के कारण होते हैं; क्योंकि जिनके आगमन में ज्ञानावरण का बंध होता है, उसी समय उसके साथ अन्य कर्मों का भी बंध होता है; अतः आस्रव के नियम का अभाव है?

उत्तर : उससे कहते हैं कि यद्यपि पूर्वोक्त कारणों से ज्ञानावरणादि सभी कर्मों के प्रदेशादि बंध का नियम नहीं है; तथापि अनुभाग-विशेष के नियम की हेतुता से ये पृथक्-पृथक् कारण कहे हैं—ऐसा जानना।

इसप्रकार आस्रव-तत्त्व का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे पाँच पद्यों द्वारा बंध-तत्त्व का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम बंध का स्वरूप और कारण इस पद्य द्वारा निरूपित है—

शालिनी : **ये गृह्यन्ते पुद्गलाः कर्मयोग्याः, क्रोधाद्याढ्यैश्चेतनैरेष बन्धः।**
मिथ्यादृष्टिर्निर्व्रतत्वं कषायो, योगो ज्ञेयस्तस्य बन्धस्य हेतुः।।५४/२१६।।

क्रोधादि से युक्त चैतन्य द्वारा ग्रहते पुद्गल कर्म योग्य है बंध।
मिथ्यादर्शन और अविरति कषाय योग रु जानो बंध-कारण निरंतर।।५४/२१६।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; गृह्यन्ते=ग्रहण किए जाते हैं; पुद्गलाः=पुद्गल; कर्म-योग्याः=कर्म के योग्य; क्रोध+आदि+आढ्यैः=क्रोध आदि से युक्त; चेतनैः=जीव द्वारा; एषः=यह; बन्धः=बंध; मिथ्यादृष्टिः=मिथ्या-दर्शन; निर्व्रतत्वं=व्रत-रहितपना; कषायः=कषाय; योगः=योग; ज्ञेयः=जानना चाहिए; तस्य=उस; बन्धस्य=बंध का; हेतुः=कारण।

अन्वय : क्रोध-आदि-आढ्यैः चेतनैः ये कर्म-योग्याः पुद्गलाः गृह्यन्ते एषः बन्धः; मिथ्यादृष्टिः निर्व्रतत्वं कषायः योगः तस्य बन्धस्य हेतुः ज्ञेयः।

वचनिका : क्रोधादि कषायों से सहित जीवों द्वारा जो कर्म-योग्य पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं; वह बंध है। उस बंध के बीजभूत कारण मिथ्या-दर्शन, अविरति, कषाय, योग जानना, योग्य है।

भावार्थ : जैसे—भूख-सहित जीव, मुख-द्वार से आहार ग्रहण करता है; उसीप्रकार मोह-सहित जीव, योग द्वार से कार्मण-वर्गणा ग्रहण करता है; वह बंध है।।५४/२१६।।

अब, इस पद्य द्वारा बंध के भेद वर्णित हैं—

आर्या : **बन्धः स मतः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदेन।**
पटुभिश्चतुष्प्रकारो येन भवे भ्रम्यते जीवः।।५५/२१७।।

प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेश भेदों से बंध वह चतुधा।
जिससे भव में भ्रमता जीव सदा ज्ञानिओं ने कहा।।५५/२१७।।

शब्दशः अर्थ : बन्धः=बंध; सः=वह; मतः=बताया है; प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-भेदेन=प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से; पटुभिः=प्रवीण व्यक्तिओं द्वारा; चतुः प्रकारः=चार भेदवाला; येन=जिससे; भवे=भव में; भ्रम्यते=घूमता है; जीवः=जीव।

अन्वय : प्रकृति-स्थिति-अनुभाग-प्रदेश-भेदेन सः बन्धः पटुभिः चतुः प्रकारः मतः; येन जीवः भवे भ्रम्यते।

वचनिका : प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश—इन भेदों द्वारा वह बंध, प्रवीण पुरुषों ने चार प्रकारवाला कहा है; जिस बंध से जीव संसार में घूमता है।।५५/२१७।।

अब, इस पद्य द्वारा इन चारों का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्वभावः प्रकृतिः प्रोक्ता स्थितिः कालावधारणम्।**
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोऽन्श-प्रकल्पनम्।।५६/२१८।।

स्वभाव प्रकृति सीमा समय की स्थिति कही।
विशिष्ट पाक अनुभाग अंश संख्या प्रदेश ही।।५६/२१८।।

शब्दशः अर्थ : स्वभावः=अपनारूप; प्रकृतिः=प्रकृति; प्रोक्ता=कही है; स्थितिः=टिकना; काल+अवधारणं=समय की सीमा; अनुभागः=फल देने की क्षमता; विपाकः=विशिष्ट-पाक; तु=वास्तव में; प्रदेशः=प्रदेश; अन्श-प्रकल्पनं=अंश की प्रकल्पना।

अन्वय : स्वभावः प्रकृतिः काल-अवधारणं स्थितिः विपाकः अनुभागः तु अन्श-प्रकल्पनं प्रदेशः प्रोक्ता।

वचनिका : स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। जैसे—नीम का कटुक स्वभाव है, मिश्री का मिष्ट स्वभाव है; उसीप्रकार ज्ञानावरणादि का ज्ञान-घातनादि स्वभाव है—यह तो प्रकृति-बंध जानना।

काल का अवधारण/मर्यादा, स्थिति-बंध है। उस स्वभाव का न छूटना, स्थिति है।

विपाक अर्थात् रस, अनुभाग-बंध है। उस प्रकृति के रस-विशेष का नाम, अनुभव है। जैसे — बकरी, गाय, भैंस आदि के दुग्धों में तीव्र, मंद आदि भाव द्वारा विशेषता है।

अंश अर्थात् परमाणु; उनकी संख्या की कल्पना, प्रदेश-बंध है। जघन्य, अभव्यों से अनंत गुणा और उत्कृष्ट, सिद्धों का अनंतवाँ भाग जो समय-प्रबद्ध है; उसका ज्ञानावरणादि रूप यथा-योग्य हीनाधिक परमाणुओं का बटवारा हो जाना, प्रदेश-बंध है—ऐसा जानना।।५६/२१८।।

अब, इस पद्य द्वारा इन बंधों के कारण बताते हैं—

उपजाति : **करोति योगात्प्रकृतिप्रदेशौ कषायतः स्थित्यनुभागसञ्ज्ञौ।**
स्थितिं न बन्धः कुरुते कषाये क्षीणे प्रशान्ते स ततोऽस्ति हेयः।।५७/२१९।।

हो योग से प्रकृति प्रदेश बंध कषाय से हो अनुभाग स्थिति।
कषाय-क्षय-उपशम में नहीं है स्थिति अतः हेय कषाय नित ही।।५७/२१९।।

शब्दशः अर्थ : करोति=करता है; योगात्=योग से; प्रकृति-प्रदेशौ=प्रकृति और प्रदेश; कषायतः=कषाय से; स्थिति+अनुभाग-सञ्ज्ञौ=स्थिति और अनुभाग नामवाले; स्थितिं= स्थितिवाला; न=नहीं; कुरुते=करता है; कषाये=कषाय में; क्षीणे=क्षय में; प्रशान्ते=उपशांत में; सः=वह; ततः=इसलिए; अस्ति=है; हेयः=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : योगात् प्रकृति-प्रदेशौ, कषायतः स्थिति-अनुभाग-सञ्ज्ञौ बन्धः करोति; कषाये क्षीणे प्रशान्ते स्थितिं बन्धः न कुरुते, ततः स हेयः अस्ति।

वचनिका : योग से प्रकृति और प्रदेश-बंध करता है तथा स्थिति और अनुभाग नामक बंध को कषाय से करता है। कषाय के क्षय या उपशम होने पर बंध, स्थिति को नहीं करता है; अतः वह कषाय त्यागना, योग्य है।

भावार्थ : कषाय के विना केवल योगों से मात्र एक साता-वेदनीय का बंध होता है। वह अनंतर समय में खिर जाता है; अतः संसार का कारण नहीं है। कषाय-सहित के जो बंध है, वह स्थिति और अनुभाग-सहित है; अतः संसार का कारण है। इसप्रकार कषाय त्यागना, योग्य है—ऐसा जानना।।५७/२१९।।

अब, इस पद्य द्वारा अति संक्षेप में बंध-मोक्ष की विधि वर्णित है—

स्वागता : **स्वीकरोति स कषाय-मानसो मुञ्चते च विकषाय-मानसः।**
कर्म जन्तुरिति सूचितो विधिर्बन्धमोक्षविषयो विबन्धकैः।।५८/२२०।।

सकषायी मन कर्म बाँधता अकषायी मन कर्म छोड़ता।
जीव कर्म विधि बंध-मोक्ष की कही बंध-विन सबके ज्ञाता।।५८/२२०।।

शब्दश: अर्थ : स्वीकरोति=स्वीकार करता है; कषाय-मानस:=कषाय-सहित मनवाला; मुञ्चते=छोड़ता है; च=और; विकषाय-मानस:=कषाय-रहित मनवाला; कर्म=द्रव्य-कर्म; जन्तु:=प्राणी; इति=ऐसा; सूचित:=बताया गया है; विधि:=पद्धति; बन्ध-मोक्ष-विषय:=बंध और मोक्ष संबंधी; विबन्धनै:=बंधन से रहित भगवान द्वारा।

अन्वय : सकषाय-मानस: जन्तु: कर्म स्वीकरोति च विकषाय-मानस: जन्तु: कर्म मुञ्चते इति बन्ध-मोक्ष-विषय: विधि: विबन्धनै: सूचित:।

वचनिका : कषाय-सहित मनवाला प्राणी, कर्म को अंगीकार करता है; कषाय-रहित मनवाला प्राणी, कर्म का त्याग करता है—इसप्रकार बंध और मोक्ष की विधि, बंधन-रहित सर्वज्ञ-देव द्वारा बताई गई है।

भावार्थ : राग भाव से बंध है और वीतराग भाव से मोक्ष है—ऐसा सर्वज्ञ का उपदेश है; अत: राग छोड़कर वीतराग होना, योग्य है।।५८/२२०।।

इसप्रकार बंध-तत्त्व का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चार पद्यों द्वारा संवर-तत्त्व का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा संवर का स्वरूप और भेद प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **आस्रवस्य निरोधो य: सम्वर: स: निगद्यते।**
भाव-द्रव्य-विकल्पेन द्विविध: कृतसम्वरै:।।५९/२२१।।

निरोध जो आस्रव का है वह संवर कहा गया।
भाव द्रव्य विकल्पों से द्विधा कृत-संवरी कहा।।५९/२२१।।

शब्दश: अर्थ : आस्रवस्य=आस्रव का; निरोध:=रुक जाना; य:=जो; सम्वर:=संवर; स:=वह; निगद्यते=कहा गया; भाव-द्रव्य-विकल्पेन=भाव और द्रव्य के भेद से; द्विविध: =दो प्रकारवाला; कृत-सम्वरै:=संवर करनेवालों द्वारा।

अन्वय : य: आस्रवस्य निरोध: स: सम्वर:; स: भाव-द्रव्य-विकल्पेन द्विविध: (इति) कृत-सम्वरै: निगद्यते।

वचनिका : संवर करनेवाले मुनीश्वरों ने आस्रव को रोकना, संवर और द्रव्य-भाव के भेद से वह दो प्रकार का कहा है।।५९/२२१।।

अब, इस पद्य द्वारा भाव-द्रव्य संवर का स्वरूप निरूपित है—

स्वागता : **क्रोधलोभभयमोहरोधनं भावसम्वरमुशन्ति देहिनाम्।**
भाविकल्मषनिवेशरोधनं द्रव्यसम्वरमपास्तकल्मषा:।।६०/२२२।।

क्रोध लोभ भय मोह रोकना भाव संवर है जीव का समझ।
भावि-कर्म आगमन रोकना द्रव्य संवर कहें करम-रहित।।६०/२२२।।

शब्दश: अर्थ : क्रोध-लोभ-भय-मोह-रोधनं=क्रोध, लोभ, भय, मोह को रोकना; भाव-सम्वरं=भाव-संवर; उशन्ति=कहते हैं; देहिनां=प्राणिओं का; भावि-कल्मष-निवेश-रोधनं=आगामी कर्मों के प्रवेश को रोकना; द्रव्य-सम्वरं=द्रव्य-संवर; अपास्त-कल्मषा:=पापों से पूर्णतया-रहित।

अन्वय : देहिनां क्रोध-लोभ-भय-मोह-रोधनं भाव-सम्वरं भावि-कल्मष-निवेश-रोधनं द्रव्य-सम्वरं (इति) अपास्त-कल्मषा: उशन्ति।

वचनिका : पापों को नष्ट करनेवाले आचार्य; क्रोध, लोभ, भय, मोह के रोकने को भाव-संवर और आगामी कर्म के प्रवेश को रोकने को द्रव्य-संवर कहते हैं।

भावार्थ : रागादि भावों को रोकना, भाव-संवर है और उनके निमित्त से बँधने-योग्य कर्म-पुद्गलों को रोकना, द्रव्य-संवर है—ऐसा जानना।।६०/२२२।।

अब, इस पद्य द्वारा संवर के कारणों का वर्णन है—

अनुष्टुभ् : **धार्मिक: समितो गुप्तो विनिर्जितपरीषह:।**
अनुप्रेक्षापर: कर्म सम्वृणोमि ससंयम:।।६१/२२३।।

धार्मिक समिति गुप्ति युक्त परिषह जयकरी।
अनुप्रेक्षामई संयम-सहित कर्म का संवरी।।६१/२२३।।

शब्दश: अर्थ : धार्मिक:=धर्म-संपन्न; समित:=समिति-युक्त; गुप्त:=गुप्ति-सहित; विनिर्जित-परीषह:=परिषह को जीतनेवाला; अनुप्रेक्षा-पर:=अनुप्रेक्षा में लगा हुआ; कर्म=द्रव्य-कर्म का; सम्वृणोति=संवर करता है; ससंयम:=संयम से समृद्ध।

अन्वय : धार्मिक: समित: गुप्त: विनिर्जित-परीषह: अनुप्रेक्षा-पर: ससंयम: कर्म सम्वृणोति।

वचनिका : धर्म, समिति और गुप्ति-सहित; परिषह को जीतनेवाला, अनुप्रेक्षा में तत्पर, संयम-संपन्न जीव, कर्मों का संवर करता है, उन्हें रोकता है।

भावार्थ : कषायों के अभावरूप उत्तम क्षमादि दश धर्म, प्रमाद-रहित प्रवृत्तिरूप पंच समिति, मन-वचन-कायरूप योगों का भले प्रकार निग्रहरूप तीन गुप्ति, मार्ग से नहीं छूटने के लिए और निर्जरा के लिए सहने-योग्य क्षुधादि बाईस परिषह, अनित्यादि स्वभाव का

बारंबार चिंतनरूप द्वादश–अनुप्रेक्षा, प्राणिओं की हिंसा और इंद्रियों के विषयों के त्यागरूप सामायिक आदि पंच प्रकार का संयम—ये भाव–संवर के विशेष हैं; क्योंकि इनसे रागादि आस्रव रुकते हैं—ऐसा जानना।।६१/२२३।।

अब, इस पद्य द्वारा द्रव्य–संवर का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **मिथ्यात्वाव्रतकोपादियोगैः कर्म यदर्ज्यते।**
तन्निरस्यन्ति सम्यक्त्व–व्रतनिग्रहरोधनैः।।६२/२२४।।

मिथ्यात्वाव्रत–क्रोधादि योग से अर्जित करम।
सम्यक्त्व व्रत क्रोधादि–योग निग्रह से निरस।।६२/२२४।।

शब्दशः अर्थ : मिथ्यात्व+अव्रत–कोप+आदि–योगैः=मिथ्यात्व, अविरति, क्रोध आदि, योग से; कर्म=द्रव्य–कर्म; यत्=जो; अर्ज्यते=एकत्रित होते हैं; तत्=वे; निरस्यन्ति=समाप्त हो जाते हैं; सम्यक्त्व–व्रत–निग्रह–रोधनैः=सम्यक्त्व, व्रत, कषायों के निग्रह और योगों के निरोध से।

अन्वय : मिथ्यात्व–अव्रत–कोप–आदि–योगैः यत् कर्म अर्ज्यते, तत् सम्यक्त्व–व्रत–निग्रह–रोधनैः निरस्यन्ति।

वचनिका : मिथ्यात्व, अव्रत, क्रोधादि कषाय और योगों से जो कर्म उपार्जित होता है; वह कर्म सम्यक्त्व, व्रत, क्रोधादि के निग्रह और योगों के रोकने से दूर हो जाता है। मिथ्यात्वादि भावों से द्रव्य–कर्म का आस्रव होता है। उन्हें सम्यक्त्व आदि भावों द्वारा रोककर द्रव्य–संवर हो जाता है।।६२/२२४।।

इसप्रकार संवर का स्वरूप जानना।

अब, आगे चार पद्यों द्वारा निर्जरा–तत्त्व का वर्णन करते हैं।

वहाँ इस पद्य द्वारा सर्व–प्रथम निर्जरा का लक्षण और भेद वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **पूर्वोपार्जित–कर्मैक–देश–सङ्क्षय–लक्षणा।**
सविपाकाविपाका च द्विविधा निर्जराऽकथि।।६३/२२५।।

पूर्वोपार्जित कर्मों का किंचित् क्षय है निर्जरा।
सविपाकी अविपाकी से कही दो विध निर्जरा।।६३/२२५।।

शब्दशः अर्थ : पूर्व+उपार्जित–कर्म+एकदेश–सङ्क्षय–लक्षणा=पहले एकत्रित कर्मों का एक–देश–क्षय लक्षणवाली; सविपाक+अविपाका=सविपाक, अविपाक; च=और; द्विविधा=दो प्रकारवाली; निर्जरा=निर्जरा; अकथि=कही है।

अन्वय : पूर्व-उपार्जित-कर्म-एक-देश-सङ्क्षय-लक्षणा निर्जरा सविपाका च अविपाका।
वचनिका : पूर्वोपार्जित कर्मों का एक-देश-क्षय-लक्षणवाली निर्जरा, सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार-युक्त कही है।।६३/२२५।।

अब, इस पद्य द्वारा उनका स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **यथा फलानि पच्यन्ते कालेनोपक्रमेण च।**
कर्माण्यपि तथा जन्तोरुपात्तानि विसन्शयम्।।६४/२२६।।

जैसे फल पक जाते काल से उपक्रमण से।
जीव में अर्जित कर्म त्यों समझ निश्चित खिरें।।६४/२२६।।

शब्दशः अर्थ : यथा=जैसे; फलानि=फल; पच्यन्ते=पक जाते हैं; कालेन=समय से; उपक्रमेण=प्रयास से; च=और; कर्माणि=कर्म; अपि=भी; तथा=उसीप्रकार;जन्तोः=प्राणी के; उपात्तानि=उपार्जित किए गए; विसन्शयं=निश्चित।
अन्वय : यथा कालेन च उपक्रमेण फलानि पच्यन्ते तथा जन्तोः उपात्तानि कर्माणि अपि विसन्शयं पच्यन्ते।
वचनिका : जैसे—फल, अपने समय पर और पाल आदि उपक्रम द्वारा पक जाते हैं; उसी प्रकार जीव द्वारा ग्रहण किए गए कर्म, अपनी स्थितिरूप काल द्वारा और तपश्चरण आदि द्वारा निःसंदेह पक/खिर जाते हैं।।६४/२२६।।

अब, इस पद्य द्वारा सविपाक-अविपाक निर्जरा का स्वरूप, विशेष स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **अनेहसा या दुरितस्य निर्जरा साधारणा सा परकर्मकारिणी।**
विधीयते सा तपसा महीयसा विशोषणी सा परकर्मवारिणी।।६५/२२७।।

अनिच्छिका जो पापों की निर्जरा वह कर्म-कारी सामान्य ही है।
महान तप द्वारा निर्जरा जो वह कर्म-वारी शिव-कारि ही है।।६५/२२७।।

शब्दशः अर्थ : अन्+एहसा=इच्छा के विना; या=जो; दुरितस्य=पाप की; निर्जरा=निर्जरा है; साधारणा=सामान्य; सा=वह; पर-कर्म-कारिणी=अन्य कर्मों को करनेवाली; विधीयते =करती है; या=जो; तपसा=तप द्वारा; महीयसा=महान; विशोषणी=शोषण करनेवाली निर्जरा; सा=वह; पर-कर्म-वारिणी=अन्य कर्मों को रोकनेवाली।
अन्वय : दुरितस्य या अनेहसा निर्जरा सा साधारणा पर-कर्म-कारिणी; या महीयसा तपसा विधीयते सा विशोषणी पर-कर्म-वारिणी।
वचनिका : जो समय पर कर्मों की निर्जरा होती है, वह साधारण है, सभी जीवों के होती

है और कर्मों को करनेवाली है तथा महान तप द्वारा कर्मों की जो निर्जरा होती है, वह कर्मों का शोषण करनेवाली और अन्य कर्मों को रोकनेवाली है।

भावार्थ : सविपाक-निर्जरा द्वारा अपनी स्थिति पूरी कर समय-प्रबद्ध-मात्र कर्म तो सभी के खिरते हैं; अतः वह साधारण है। उसके उदय से जीव के राग-द्वेष होते हैं, उससे आगामी कर्म-बंध होता है।

सम्यग्दर्शन आदि के प्रयोग द्वारा जो स्थिति पूरी किए विना ही अनेक समय-प्रबद्ध प्रति-समय खिरते रहते हैं, वह अविपाक-निर्जरा है। इसमें जीव के रागादि का अभाव होने से आगामी कर्म नहीं बँधते हैं; अतः मोक्ष को ही करनेवाली है—ऐसा जानना।।६५/२२७।।

अब, इस पद्य द्वारा अविपाक-निर्जरा का महत्त्व बताते हैं—

उपजाति : **वितप्यमानस्तपसा शरीरी, पुराकृतानामुपयाति शुद्धिम्।**
न ध्मायमान: कनकोपल: किं, सप्तार्चिषा शुद्ध्यति कश्मलेभ्य:।।६६/२२८।।

तप से तपित जीव सुशुद्धि पाता पहले किए कर्मों के क्षरण से।
अग्नि से धम्नित हो स्वर्ण पत्थर पाता सुशुद्धि कल्मष दहन से।।६६/२२८।।

शब्दश: अर्थ : वितप्यमानः=तपा हुआ; तपसा=तप से; शरीरी=प्राणी; पुरा-कृतानां=पहले किए हुए की; उपयाति=प्राप्त करता है; शुद्धिं=शुद्धि को; न=नहीं; ध्मायमानः=धमाया हुआ/तपाया गया; कनक+उपलः=स्वर्ण-पाषाण; किं=क्या; सप्त+अर्चिषा=अग्नि द्वारा; शुद्ध्यति=शुद्ध हो जाता है; कश्मलेभ्यः=मलिनता से।

अन्वय : तपसा वितप्यमानः शरीरी पुरा-कृतानां शुद्धिं उपयाति; किं सप्त-अर्चिषा ध्मायमानः कनक-उपलः कश्मलेभ्यः न शुद्ध्यति।

वचनिका : तप द्वारा तप्तायमान जीव, पूर्वकृत कर्मों की शुद्धता को प्राप्त हो जाता है। अग्नि द्वारा धमाया गया सुवर्ण का पाषाण, मलिनता से क्या शुद्ध नहीं होता है? होता ही है।।६६/२२८।।

इसप्रकार निर्जरा-तत्त्व का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, पाँच पद्यों द्वारा मोक्ष-तत्त्व वर्णित है।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा केवल-ज्ञान का स्वरूप और उसकी प्रकटता का निमित्त-कारण निरूपित है—

स्वागता : **घातिकर्म विनिहत्य केवलं, स्वीकरोति भुवनावभासकम्।**
चेतन: सकललोकसम्मतं, ध्वान्तराशिमिव भास्करो दिनम्।।६७/२२९।।

घातिकर्म सब नाश प्राप्त हो, लोकालोक प्रकाशक सम्मत।

सकल लोक को केवल-ज्ञान, चेतन को तम-नाश सूर्य-सम।।६७/२२९।।

शब्दश: अर्थ : घाति-कर्म=घाति-कर्म को; विनिहत्य=पूर्णतया नष्टकर; केवलं=केवल-ज्ञान को; स्वीकरोति=स्वीकार करता है; भुवन+अवभासकं=संपूर्ण विश्व के प्रकाशक; चेतन:=जीव; सकल-लोक-सम्मतं=संपूर्ण लोक को मान्य; ध्वान्त-राशिं=अंधकार के समूह को; इव=समान; भास्कर:=सूर्य; दिनं=दिवस को।

अन्वय : भास्कर: ध्वान्त-राशिं विनिहत्य दिनं स्वीकरोति इव चेतन: घाति-कर्म विनिहत्य भुवन-अवभासकं सकल-लोक-सम्मतं केवलं स्वीकरोति।

वचनिका : जैसे—अंधकार के समूह को नष्टकर सूर्य, दिन को अंगीकार करता है; उसीप्रकार चेतन आत्मा, घाति कर्मों का नाशकर लोकालोक के प्रकाशक और समस्त लोक को मान्य केवल-ज्ञान को अंगीकार करता है।।६७/२२९।।

अब, इस पद्य द्वारा मोक्ष-प्राप्ति के कारणों का प्ररूपण है—

उपजाति : **निमूलकाषं स निकृष्य कल्मषं, प्रयाति सिद्धिं कृतकर्मनिर्जर:।**

विनिर्मलध्यानसमृद्धपावके, निवेश्य दग्ध्वाखिलबन्धकारणम्।।६८/२३०।।

विनिर्मली ध्यान समृद्ध अग्नि में बंध कारण सब भस्म करके।

सब कर्म निर्मूल विनष्ट कर सब कर्मों को निर्जर वह सिद्धि पाए।।६८/२३०।।

शब्दश: अर्थ : निमूल-काषं=जड़-मूल से समाप्त किए जानेवाले; स:=वह (जीव); निकृष्य =उखाड़कर; कल्मषं=मलिनता को; प्रयाति=जाता है; सिद्धिं=मोक्ष दशा को; कृत-कर्म-निर्जर:=कर्मों की निर्जरा करनेवाला; विनिर्मल-ध्यान-समृद्ध-पावके=विशेष निर्मल-ध्यान से समृद्ध अग्नि में; निवेश्य=डालकर; दग्ध्वा=जलाकर; अखिल-बन्ध-कारणं=संपूर्ण बंध के कारण को।

अन्वय : कृत-कर्म-निर्जर: स: निमूल-काषं कल्मषं निकृष्य विनिर्मल-ध्यान-समृद्ध-पावके बन्ध-अखिल-कारणं निवेश्य दग्ध्वा सिद्धिं प्रयाति।

वचनिका : विशेषरूप से निर्मल-ध्यानमय शुक्ल-ध्यानरूप वृद्धि को प्राप्त अग्नि में प्रवेश कराकर बंध के समस्त कारणों को जलाकर कर्म की निर्जरा करनेवाला आत्मा, कल्मषमय समस्त कर्मों को निर्मूल करने हेतु उखाड़कर मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है।।६८/२३०।।

सिद्ध-दशा-प्राप्ति के बाद क्या होता है? इसके उत्तर हेतु अब, इस पद्य द्वारा उसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **निसर्गतो गच्छति लोकमस्तकं, कर्मक्षयानन्तरमेव चेतनः।**

धर्मास्तिकायेन समीरितोऽनघं, समीरणेनेव रजश्चयः क्षणात्।।६९/२३१।।

स्वभाव से जाते लोक-शीर्ष कर्मों के क्षय बाद पवित्र जीव।

कारण धरम द्रव्य समीर प्रेरित ऊपर उड़े क्षण में रज-समूह।।६९/२३१।।

शब्दशः अर्थ : निसर्गतः=स्वभाव से; गच्छति=जाता है; लोक-मस्तकं=लोक के मस्तक को/सबसे ऊपर; कर्म-क्षय+अनन्तरं=कर्म-क्षय के तत्काल बाद; एव=ही; चेतनः=जीव; धर्मास्तिकायेन=धर्मास्तिकाय द्वारा; सम्+ईरितः=भली-भाँति प्रेरित हो/निमित्तता में; अनघं= निर्मल; समीरणेन=वायु से; इव=समान; रजः-चयः=धूल का समूह; क्षणात्=क्षण में।

अन्वय : क्षणात् समीरणेन रजः चयः इव, कर्म-क्षय-अनन्तरं एव अनघं चेतनः धर्मास्तिकायेन समीरितः निसर्गतः लोक-मस्तकं गच्छति।

वचनिका : जैसे—पवन द्वारा उड़ाया रज का समूह, ऊपर को जाता है; उसीप्रकार कर्म-क्षय के अनंतर ही निर्मल हो धर्मास्तिकाय द्वारा प्रेरित आत्मा, क्षण-मात्र में लोक के मस्तक पर गमन करता है।

भावार्थ : आत्मा का ऊर्ध्व-गमन, स्वभाव है। कर्म नष्ट हो जाने पर निज-स्वभाव प्रकट हो जाता है। उससे धर्मास्तिकाय के सहाय से लोक के शिखर पर्यंत वह जाता है। धर्मास्तिकाय जहाँ पर्यंत है, वहाँ पर्यंत जाकर वह वहीं स्थित रहता है। उसके प्रभाव से नहीं जाता है। यहाँ धर्मास्तिकाय द्वारा प्रेरणा में गमन का सहकारीपना ही जानना; क्योंकि धर्म-द्रव्य कुछ जबरी से नहीं चलाता है। स्वयं ही चलनेवाले को मात्र सहकारी-कारण है—ऐसा जानना।।६९/ २३१।।

अब, इस पद्य द्वारा सिद्ध भगवान की विशेषता बताते हैं—

उपजाति : **निरस्तदेहो गुरुदुःखपीडितां विलोकमानो निखिलां जगत्त्रयीम्।**

स भाविनं तिष्ठति कालमुज्ज्वलो निराकुलानन्तसुखाब्धिमध्यगः।।७०/२३२।।

बहु दुःख पीड़ित संपूर्ण जग को अवलोकते तन विन निराकुल ही।

निस्सीम सुख-सागर में निमग्न निर्मल रहें भावी काल तक भी।।७०/२३२।।

शब्दशः अर्थ : निरस्त-देहः=शरीर से रहित; गुरु-दुःख-पीडितां=अत्यधिक दुःखों से पीड़ित; विलोकमानः=देखते हुए; निखिलां=संपूर्ण; जगत्त्रयीं=तीनों लोकों को; सः=वह; भाविनं =आगामी; तिष्ठति=रहता है; कालं=समय; उज्ज्वलः=निर्मल; निः-आकुल-अनन्त-सुख +अब्धि-मध्यगः=आकुलता से रहित अनंत सुख-सागर में निमग्न।

अन्वय : निरस्त-देह: गुरु-दु:ख-पीडितां निखिलां जगत्त्रयीं विलोकमान: उज्ज्वल: निराकुल-अनन्त-सुख-अब्धि-मध्यग: स: भाविनं कालं तिष्ठति।

वचनिका : शरीर से रहित वे सिद्धात्मा, महा-दु:ख से पीड़ित जगत्त्रयी अर्थात् तीन-लोक को देखते हुए आगामी-काल पर्यंत विराजमान रहते हैं। वे सिद्धात्मा कैसे हैं? द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म से रहित उज्ज्वल हैं और निराकुल अनंत सुख-समुद्र के मध्य प्राप्त हैं (अव्याबाध सुखी हैं)।।७०/२३२।।

अब, इस पद्य में सिद्ध-सुख वर्णित है—

उपजाति : **यदस्ति सौख्यं भुवनत्रये परं, सुरेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्रभोगिनाम्।**
अनन्तभागोऽपि न तन्निगद्यते, निरेनस: सिद्धि-सुखस्य सूरिभि:।।७१/२३३।।

सुरेंद्र नागेंद्र नरेंद्र भोगिओं का लोक-त्रय उत्तम सौख्य जो है।
वह कर्म विन सिद्धि-सौख्य का नहिं अनंतवाँ भाग भी जिन बताएं।।७१/२३३।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; अस्ति=है; सौख्यं-सुख; भुवन-त्रये=तीनों लोकों में; परं=श्रेष्ठ; सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-भोगिनां=देवेंद्र, असुरेंद्र, राजेंद्र-भोगिओं का; अनन्त-भाग:=अनंतवाँ भाग; अपि=भी; न=नहीं; तत्=वह; निगद्यते=कहा है; नि:-एनस:=कर्मों से रहित; सिद्धि-सुखस्य=मोक्ष-सुख का; सूरिभि:=आचार्यों द्वारा।

अन्वय : भुवनत्रये सुरेन्द्र-नागेन्द्र-नरेन्द्र-भोगिनां यत् परं सौख्यं अस्ति, तत् सूरिभि: नि:-एनस: सिद्धि-सुखस्य अनन्त-भाग: अपि न निगद्यते।

वचनिका : तीन-लोक में सुरेंद्र, नागेंद्र, नरेंद्र और अन्य, जो भी विषय-भोग-सहित हैं; उनका उत्कृष्ट सुख, कर्म-रहित सिद्धात्माओं के मुक्ति-सुख का अनंतवाँ भाग भी आचार्यों ने नहीं कहा है।

भावार्थ : यदि तीन-लोक के भोगिओं का सुख इकट्ठा किया जाए तो वह सिद्ध-सुख का अनंतवाँ भाग भी नहीं है—ऐसा जानना। भोगों का सुख तो आकुलतामय है और सिद्ध-सुख निराकुल है—इसप्रकार इन सुखों की एक जाति नहीं है; परंतु निराकुल-सुख तो संसार की दृष्टि में आता नहीं है और उसे सिद्ध पद, उत्कृष्ट बताया जाता है; अत: उपचार से भोगों का सुख, सिद्धों के सुख से अनंतवाँ भाग भी नहीं है—ऐसा कहा है।।७१/२३३।।

इसप्रकार मोक्ष-तत्त्व का वर्णन हुआ।

यहाँ प्रयोजन ऐसा है कि स्वयं को चैतन्य लक्षणवाला जानकर चेतना-रहित देहादि समस्त पर-द्रव्यों में अहंकार-ममकार-त्यागना, योग्य है। रागादि आस्रव हैं; उनसे दु:ख

अवस्था-स्वरूप, बंध होता है। उन्हें अहितरूप जानकर आस्रव और बंध, जैसे न हों, उसप्रकार प्रवर्तना, योग्य है। वैराग्य-भावरूप संवर पूर्वक कर्मों का एक-देश नाश हो जाना, निर्जरा है। इन्हें हितरूप जानकर संवर-निर्जरा के कारणों में प्रवृत्ति करना, योग्य है। सकल कर्मों से रहित आत्मा की ज्ञानानंदमय दशा, मोक्ष है। यह आत्मा का परम-हित है। अन्य समस्त वांक्षाएँ छोड़कर इसी के लिए यत्न करना—यह ही सर्व तत्त्वों के कथन का प्रयोजन है—ऐसा निश्चय करना।

अब, इस पद्य द्वारा सात तत्त्वों को जानने का लाभ बताते हैं—

उपजाति : **इमे पदार्थाः कथिता महर्षिभिर्यथायथं सप्त निवेशिताः हृदि।**
विनिर्मलां तत्त्वरुचिं वितन्वते जिनोपदेशा इव पापहारिणीम्।।७२/२३४।।

जिन-देशना-सम ऋषिओं के द्वारा कहे पदार्थों की वास्तविक में।
सब पाप-नाशक अति शुद्ध तत्त्वों की रुची बड़ती है स्वीकृति से।।७२/२३४।।

शब्दशः अर्थ : इमे=ये; पदार्थाः=पदार्थ; कथिताः=कहे गए; महर्षिभिः=महा-ऋषिओं द्वारा; यथायथं=यथार्थरूप में; सप्त=सात; निवेशिताः=प्रवेश कराए गए; हृदि=हृदय में; विनिर्मलां= अति पवित्र; तत्त्व-रुचिं=तत्त्व की रुचि को; वितन्वते=विस्तृत करते हैं; जिन+उपदेशाः=जिनेंद्र भगवान का उपदेश; इव=समान; पाप-हारिणीं=पाप को नष्ट करनेवाली।

अन्वय : जिन-उपदेशाः इव महर्षिभिः कथिताः यथायथं हृदि निवेशिताः इमे सप्त पदार्थाः विनिर्मलां पाप-हारिणीं तत्त्वरुचिं वितन्वते।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान के उपदेश के समान महा-ऋषिओं द्वारा कहे गए, यथा-योग्य हृदय में प्रविष्ट किए गए ये सप्त पदार्थ; निर्मल, पाप को हरनेवाली रुचि/प्रतीति को विस्तृत करते हैं।

भावार्थ : तत्त्वार्थ-श्रद्धान-लक्षणवाले सम्यग्दर्शन की शुद्धता, इन तत्त्वों की विशेष जानकारी से अधिक-अधिक होती है—ऐसा जानना।।७२/२३४।।

अब, आगे सम्यक्त्व के निश्शंकित आदि अष्ट अंगों को स्पष्ट करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा निश्शंकित-अंग निरूपित है—

उपजाति : **विरागिणा सर्वपदार्थवेदिना जिनेशिनैते कथिता न वेत्ति यः।**
करोति शङ्कां न कदापि मानसे निश्शङ्कितोऽसौ गदितो महामनः।।७३/२३५।।

विरागि सर्वज्ञ जिनेश द्वारा कहे पदार्थ ऐसे या हैं नहीं।
शंका करे नहिं मन में कभी भी महा-मना निश्शंकित कहें ही।।७३/२३५।।

शब्दश: अर्थ : विरागिणा=वीतरागी; सर्व-पदार्थ-वेदिना=सभी पदार्थों को जाननेवाले/सर्वज्ञ; जिनेशिना=जिनेंद्र भगवान द्वारा; एते=ये; कथिता:=कहे हैं; न=नहीं हैं; वा=अथवा हैं; इति=इसप्रकार; य:=जो; करोति=करता है; शङ्कां=शंका को; न=नहीं; कदापि=कभी भी; मानसे=मन में; निश्शङ्कित:=निश्शंकित/शंका नहीं करनेवाला; असौ=वह; गदित:=कहा है; महा-मना:=विशाल मनवाला।

अन्वय : विरागिणा सर्व-पदार्थ-वेदिना जिन-ईशिना एते कथिता: न वा इति य: मानसे कदापि शङ्कां न करोति असौ निश्शङ्कित: महा-मन: गदित:।

वचनिका : वीतराग और सभी पदार्थों के ज्ञाता जिनेंद्र भगवान द्वारा ये सभी कहे हैं। वे हैं या नहीं हैं—ऐसी शंका जो कभी भी नहीं करता है, वह महा-मना निश्शंकित कहा गया है।

भावार्थ : जिन-वचन में या आत्म-स्वरूप में संदेह नहीं होना, निश्शंकित अंग है—ऐसा जानना।।७३/२३५।।

अब, इस पद्य द्वारा निष्कांक्षित-गुण को स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विधीयमाना: शमशीलसंयमा: श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्।**
सान्सारिकानेकसुखप्रवर्धिनीं निष्काङ्क्षितो नेति करोति काङ्क्षणाम्।।७४/२३६।।

किए गए संयम शील शम दम विस्तृत करें लौकिक विविध सुख की।
प्रवर्धिनी श्री को नहीं चाहे निष्कांक्ष युत जानो नित उसे ही।।७४/२३६।।

शब्दश: अर्थ : विधीयमाना:=किए गए; शम-शील-संयमा:=शम, शील और संयम; श्रियं=संपत्ति को; मम=मेरी; इमे=ये; वितरन्तु=विस्तृत करें; चिन्तितां=सोची गई; सान्सारिक-अनेक-सुख-प्रवर्धिनीं=सांसारिक अनेक सुखों को बड़ानेवाली; निष्काङ्क्षित:=निष्कांक्षित/वांक्षा नहीं करनेवाला; न=नहीं; इति=इसप्रकार; करोति=करता है; काङ्क्षणां=इच्छा को।

अन्वय : इमे विधीयमाना: शम-शील-संयमा: मम चिन्तितां सान्सारिक-अनेक-सुख-प्रवर्धिनीं श्रियं वितरन्तु, इति काङ्क्षणां निष्काङ्क्षित: न करोति।

वचनिका : ये किए गए उपशम, शील,संयमादि; सांसारिक अनेक सुखों को बड़ानेवाली वांक्षित लक्ष्मी को मेरे लिए विस्तृत करें—ऐसी वांक्षा, निष्कांक्षित व्यक्ति नहीं करता है।

भावार्थ : कर्म के फल की वांक्षा का त्याग करना, निष्कांक्षित-अंग है—ऐसा जानना चाहिए।।७४/२३६।।

अब, इस पद्य द्वारा निर्विचिकित्सा नामक अंग का निरूपण है—

उपजाति : **तपस्विनां यस्तनुमस्तसन्स्कृतिं जिनेन्द्रधर्मं सुतरां सुदुष्करम्।**
निरीक्षमाणो न तनोति निन्दनं स भण्यते धन्यतमोऽचिकित्सक:।।७५/२३७।।

तपस्विओं के इस मलिन तन को जिनवर कथित अति दुष्कर धरम को।
भी देख निंदा नहिं करे किंचित् वह धन्यतम निर्विचिकित्स है जो।।७५/२३७।।

शब्दश: अर्थ : तपस्विनां=तप तपनेवालों के; य:=जो; तनुं=शरीर को; अस्त-सन्स्कृतिं= संस्कार-रहित/मलिन; जिनेन्द्र-धर्मं=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को; सुतरां=स्वयं से ही; सुदुष्करं=अति कठिन; निरीक्षमाण:=देखनेवाला; न=नहीं; तनोति=फैलाता है; निन्दनं=निंदा को; स:=वह; भण्यते=कहलाता है; धन्यतम:=धन्यों में भी श्रेष्ठ; अचिकित्सक: =निर्विचिकित्सक/ग्लानि नहीं करनेवाला।

अन्वय : तपस्विनां अस्त-सन्स्कृतिं तनुं सुतरां दुष्करं जिनेन्द्र-धर्मं निरीक्षमाण: य: निन्दनं न तनोति, स: धन्यतम: अचिकित्सक: भण्यते।

वचनिका : तपस्विओं के मलिन शरीर को और जिनेंद्र-भाषित अति कठिन धर्म को देखता हुआ भी जो निंदा को विस्तृत नहीं करता है; वह जीव, विचिकित्सा-रहित, अतिशयरूप से धन्य कहलाता है।

भावार्थ : तपस्विओं के मलिन शरीर को और अनशनादि घोर तप को देखकर ग्लानि नहीं करना; सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सा नामक अंग जानना।।७५/२३७।।

अब, इस पद्य द्वारा अमूढदृष्टि-अंग का प्ररूपण है—

स्वागता : **देव-धर्म-समयेषु मूढता यस्य नास्ति हृदये कदाचन।**
चित्तदोषकलितेषु सन्मते: सोऽर्च्यते स्फुटममूढदृष्टिक:।।७६/२३८।।

विविध दोषयुत देव धर्म बहु मतों में जिस सुबुद्धि के नहीं।
रंच मूढता हृदय में कभी अमूढ दृष्टिक कहें उसे सभी।।७६/२३८।।

शब्दश: अर्थ : देव-धर्म-समयेषु=देव, धर्म और मतों में; मूढता=अज्ञानता; यस्य=जिसके; नास्ति=नहीं है; हृदये=मन में; कदाचन=कभी; चित्र-दोष-कलितेषु=विविध दोषों से सहित; सन्मते:=सद्बुद्धि के; सा=वह; उच्यते=कहलाती है; स्फुटं=व्यक्त; अमूढ-दृष्टिका:=अमूढ-दृष्टिवाली।

अन्वय : चित्र-दोष-कलितेषु देव-धर्म-समयेषु यस्य सन्मते: हृदये कदाचन मूढता नास्ति, सा स्फुटं अमूढदृष्टिका उच्यते।

वचनिका : अनेक प्रकार के दोषों से व्याप्त देव, धर्म और समय अर्थात् सभी मतों में जिस सुबुद्धि के हृदय में कभी मूढता अर्थात् मूर्खता नहीं है; वह अमूढ-दृष्टि कहलाता है।

भावार्थ : देवपने का आभास धारण करनेवाले हरि-हर आदि, धर्माभास यज्ञादि और समयाभास

वैष्णव-मत आदि में 'ये भी देवादि हैं'—ऐसी मूढता का अभाव, अमूढ-दृष्टि जानना।।७३/२३८।।

अब, इस पद्य द्वारा उपगूहन-अंग वर्णित है—

स्वागता : **यो निरीक्ष्य यतिलोकदूषणं कर्मपाकजनितं विशुद्धधीः।**
सर्वथाप्यवति धर्म-बुद्धितः कोविदास्तमुपगूहकं विदुः।।७७/२३९।।

यति लोगों में कर्मोदय से व्यक्त दोष को देख धर्म की।
बुद्धि से सर्वथा छिपाए, वह उपगूहक कहते ज्ञानी।।७७/२३९।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; निरीक्ष्य=देखकर; यति-लोक-दूषणं=यति लोगों के दोष को; कर्म-पाक-जनितं=कर्म के उदय आदि में उत्पन्न हुए; विशुद्ध-धीः=निर्मल-बुद्धि; सर्वथा=सभी प्रकार से; अपि=भी; अवति=गुप्त रखता है; धर्म-बुद्धितः=धर्म की बुद्धि से; कोविदाः=ज्ञानी; तं=उसे; उपगूहकं=उपगूहक; विदुः=कहते हैं।

अन्वय : यति-लोक-कर्म-पाक-जनितं दूषणं निरीक्ष्य यः विशुद्ध-धीः धर्म-बुद्धितः सर्वथा अपि अवति, कोविदाः तं उपगूहकं विदुः।

वचनिका : जो निर्मल बुद्धि व्यक्ति, यतिजनों में कर्म के उदय से उत्पन्न दोषों को देखकर धर्म-बुद्धि के कारण उसे सभी प्रकार से गोपता/छिपाता है; उसे पंडितजन उपगूहक कहते हैं।

भावार्थ : अन्य के दोष या अपने गुणों को ढाँकना, उपगूहन अंग जानना। इसी अंग का एक नाम उपबृंहण भी है। वहाँ 'आत्म-शक्ति को पुष्ट करना'—ऐसा अर्थ ग्रहण किया जाता है।।७७/२३९।।

अब, इस पद्य द्वारा स्थितिकरण-अंग को स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **निवर्तमानं जिन-नाथ-वर्त्मनो निपीड्यमानं विविधैः परीषहैः।**
विलोक्य यस्तत्र करोति निश्चलं, निरुच्यतेऽसौ स्थितिकारकोत्तमः।।७८/२४०।।

विविध परीषह से दुखित होकर जिनमार्ग से च्युत होते हुए को।
जो देख करता निश्चल सुविधि से, स्थिति-कारक कहते उसी को।।७८/२४०।।

शब्दशः अर्थ : निवर्तमान=हटते हुए; जिन-नाथ-वर्त्मनो=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग से; निपीड्यमानं=पीड़ित हुए; विविधैः=अनेक प्रकार के; परीषहैः=परिषहों/संकटों द्वारा; विलोक्य=देखकर; यः=जो; तत्र=उसमें; करोति=करता है; निश्चलं=स्थिर; निरुच्यते=कहलाता है; असौ=वह; स्थिति-कारक+उत्तमः=स्थिति करनेवालों में श्रेष्ठ।

अन्वय : विविधैः परीषहैः निपीड्यमानं जिन-नाथ-वर्त्मनः निवर्तमानं विलोक्य यः तत्र निश्चलं करोति, असौ स्थिति-कारक-उत्तमः निरुच्यते।

वचनिका : अनेक प्रकार के परिषहों से पीड़ित हो, जिननाथ के मार्ग से च्युत होते हुए प्राणिओं को देखकर जो उसे जिन-मार्ग में निश्चल करता है; वह स्थिति करनेवाला उत्तम कहलाता है।

भावार्थ : जिनधर्म से या आत्म-स्वरूप से च्युत होते हुए स्वयं को या पर को स्थिर करना, स्थितिकरण-अंग है।।७८/२४०।।

अब, इस पद्य द्वारा वात्सल्य-अंग को बताते हैं—

उपजाति : **करोति सङ्घे बहुधोपसर्गैरुपद्रुते धर्मधियानपेक्षः।**
चतुर्विधे व्यापृतिमुज्ज्वलां यो वात्सल्यकारी स मतः सुदृष्टिः।।७९/२४१।।

अनेक उपसर्गों से क्लेशित आराधकों की जो करे सेवा।
उज्ज्वल अनापेक्षी धर्मधी से वह वात्सल्यी सद्दृष्टि माना।।७९/२४१।।

शब्दशः अर्थ : करोति=करता है; सङ्घे=संघ में; बहुधा=अनेक प्रकार के; उपसर्गैः=उपसर्गों/बाधाओं से; उपद्रुते=पीड़ित हुए; धर्म-धिया=धर्म-बुद्धि से; अनपेक्षः=वांक्षा-रहित; चतुर्विधे=चार प्रकारवाले; व्यापृतिं=प्रवृत्ति को; उज्ज्वलां=निर्मल; यः=जो; वात्सल्य-कारी=वात्सल्य करनेवाला; सः=वह; मतः=माना है; सुदृष्टिः=सम्यग्दृष्टि।

अन्वय : बहुधा उपसर्गैः उपद्रुते चतुर्विधे सङ्घे यः अनपेक्षः धर्म-धिया उज्ज्वलां व्यापृतिं करोति, सः वात्सल्य-कारी सुदृष्टिः मतः।

वचनिका : अनेक प्रकार के उपसर्गों से पीड़ित हुए; मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका— इन चार प्रकार के संघ की; जो वांक्षा-रहित, धर्म-बुद्धि से निर्मल वैयावृत्त्याचार करता है; वह सम्यग्दृष्टि वात्सल्य करनेवाला कहा है।

भावार्थ : जिन-धर्मिओं में और आत्म-स्वरूप में अति प्रीति करना, वात्सल्य-अंग जानना।।७९/२४१।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रभावना-अंग वर्णित है—

उपजाति : **निरस्तदोषे जिननाथशासने प्रभावनां यो विदधाति शक्तितः।**
तपोदया-ज्ञान-महोत्सवादिभिः प्रभावकोऽसौ गदितः सुदर्शनः।।८०/२४२।।

निर्दोष जिन शासन में दया तप महोत्सव ज्ञानादि से करता।
यथा सुशक्ति उद्योत बहुविध वह नित प्रभावक सद्दृष्टि है कहा।।८०/२४२।।

शब्दशः अर्थ : निरस्त-दोषे=दोष-रहित; जिन-नाथ-शासने=जिनेंद्र भगवान के शासन में; प्रभावनां=प्रभावना को; यः=जो; विदधाति=करता है; शक्तितः=शक्ति से; तपो-दया-

ज्ञान-महोत्सव+आदिभि:=तप, दया, ज्ञान, महोत्सव आदि द्वारा; प्रभावक:=प्रभावना करनेवाला; असौ=वह; गदित:=कहा है; सुदर्शन:=सम्यग्दृष्टि।

अन्वय : निरस्त-दोषे जिन-नाथ-शासने शक्तित: तपो-दया-ज्ञान-महोत्सव-आदिभि: य: प्रभावनां विदधाति, असौ प्रभावक: सुदर्शन: गदित:।

वचनिका : रागादि दोषों से पूर्णतया-रहित, जिनेंद्र भगवान के शासन में शक्ति के अनुसार तप, दया, ज्ञान, महोत्सव आदि के द्वारा जो प्रभावना, उद्योत करता है; वह सम्यग्दृष्टि प्रभावना करनेवाला कहा है।

भावार्थ : सब जीव मानने लगें कि जिन-मत धन्य है; उसमें ऐसे-ऐसे तपश्चरणादि होते हैं—इसप्रकार तपश्चरणादि द्वारा जिन-मत का उद्योत करना और निश्चय से आत्मा को रत्नत्रय से विभूषित करना, प्रभावना-अंग जानना।।८०/२४२।।

इसप्रकार निश्शंकितादि आठ अंगों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, इस पद्य द्वारा इन आठ अंगों को धारण करने का फल दिखाते हैं—

उपजाति : **गुणैरमीभि: शुभदृष्टिकण्ठिकां दधाति बद्धां हृदि योऽष्टभि: सदा।**
करोति वश्या: सकला: स सम्पदो वधूरिवेष्टा सुभगो वशम्वद:।।८१/२४३।।

सुभाषि सुभगी वश करे कामिनी, त्यों आठ गुणयुत शुभदृष्टि माला।
धारण करे जो उर में अधीन हो विश्व की अद्भुत सर्व संपदा।।८१/२४३।।

शब्दश: अर्थ : गुणै:=गुणों से; अमीभि:=इन; शुभ-दृष्टि-कण्ठिकां=सम्यक्-दृष्टिरूपी माला को; दधाति=धारण करता है; बद्धां=बँधी हुई; हृदि=हृदय में; य:=जो; अष्टभि:=आठ; सदा=हमेशा; करोति=करता है; वश्या:=वश में; सकला:=संपूर्ण; स:=वह; सम्पद:=संपत्ति; वधू:=स्त्री; इव=समान; इष्टा=वांक्षित; सुभग:=सुंदर; वशम्वद:=प्रिय बोलनेवाला।

अन्वय : अमीभि: अष्टभि: गुणै: बद्धां शुभ-दृष्टि-कण्ठिकां य: सदा हृदि दधाति; सुभग: वशम्वद: इष्टा वधू: इव, स: सकला: सम्पद: वश्या: करोति।

वचनिका : जैसे—भले वचनों को बोलनेवाला सुंदर पुरुष, वांक्षित वधू को वश में कर लेता है; उसीप्रकार जो पुरुष इन निश्शंकित आदि आठ गुणरूपी सूत्रों से बँधी सम्यक्-दृष्टिरूपी माला को हृदय में सदा धारण करता है; वह संपूर्ण संपदा को वश में कर लेता है।

भावार्थ : जैसे—भले वचनों को बोलनेवाला, माला पहिने सुंदर पुरुष, स्त्री को वश में कर लेता है; उसीप्रकार निश्शंकित आदि सूत्रों से बँधी सम्यक्-दृष्टिरूप माला पहिननेवाला जीव, इंद्र आदि की संपदा को वश में कर लेता है—ऐसा जानना।।८१/२४३।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन की महिमा बताते हैं—

उपजाति : **सुदर्शनं यस्य स ना सुभाजनः, सुदर्शनं यस्य सः सिद्धि-भाजनः।**
सुदर्शनं यस्य स धी-विभूषितः, सुदर्शनं यस्य स शील-भूषितः।।८२/२४४।।

सुदृष्टि जिसकी वह नर सुपात्र, सुदृष्टि जिसकी वह सिद्धिपात्र।
सुदृष्टि जिसकी वह मति-विभूषित, सुदृष्टि जिसकी वह शील-भूषित।।८२/२४४।।

शब्दशः अर्थ : सुदर्शनं=सम्यग्दर्शन; यस्य=जिसका; सः=वह; ना=मनुष्य; सु-भाजनः= सत्पात्र; सुदर्शनं=सम्यग्दर्शन; यस्य=जिसका; सः=वह; सिद्धि-भाजनः=मुक्ति का पात्र; सुदर्शनं=सम्यग्दर्शन; यस्य=जिसका; सः=वह; धी-विभूषितः=बुद्धि से विभूषित है; सुदर्शनं= सम्यग्दर्शन; यस्य=जिसका; सः=वह; शील-भूषितः=शील से भूषित।

अन्वय : यस्य सुदर्शनं सः ना सु-भाजनः, यस्य सुदर्शनं सः सिद्धि-भाजनः, यस्य सुदर्शनं सः धी-विभूषितः, यस्य सुदर्शनं सः शील-भूषितः।

वचनिका : जिसके सम्यग्दर्शन है, वह पुरुष भला पात्र है; जिसके सम्यग्दर्शन है, वह सिद्धि का पात्र है; जिसके सम्यग्दर्शन है, वह बुद्धि से विभूषित है; जिसके सम्यग्दर्शन है, वह शील से भूषित है।।८२/२४४।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य व्यक्त करते हैं—

शालिनी : **नो जायेते पावने ज्ञानवृत्ते, सम्यक्त्वेन प्राणिनो वर्जितस्य।**
शर्माधारे कोश-राज्ये न दृष्टे, नूनं क्वापि न्याय-हीनस्य राज्ञः।।८३/२४५।।

समकित विरहित जीव के व्यक्त न हों सम्यग्ज्ञान सच्चरित्र कभी भी।
क्या होते हैं न्याय विरहित नृपति के, सुख आधारी कोश राज्य कहीं भी?।।८३/२४५।।

शब्दशः अर्थ : नो=नहीं; जायेते=उत्पन्न होते हैं; पावने=पवित्र; ज्ञान-वृत्ते=ज्ञान और चारित्र; सम्यक्त्वेन=सम्यक्त्व से; प्राणिनः=प्राणी के; वर्जितस्य=रहित; शर्म+आधारे=सुख के आधारभूत; कोश-राज्ये=भंडार और राज्य; न=नहीं; दृष्टे=दिखते हैं; नूनं=निश्चित; क्व=कहीं; अपि=भी; न्याय-हीनस्य=न्याय से रहित; राज्ञः=राजा का।

अन्वय : सम्यक्त्वेन वर्जितस्य प्राणिनः पावने ज्ञान-वृत्ते नो जायेते, नूनं न्याय-हीनस्य राज्ञः क्व अपि शर्म-आधारे कोश-राज्ये न दृष्टे।

वचनिका : जैसे—सुख के आधारभूत भंडार और राज्य, न्याय-रहित राजा के निश्चय से कहीं भी नहीं दिखते हैं; उसीप्रकार सम्यक्त्व से रहित जीव को पवित्र ज्ञान और चारित्र नहीं होता है।

भावार्थ : सम्यक्त्व के विना ज्ञान और चारित्र सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते हैं; इसलिए सम्यक्त्व सभी में प्रधान है—ऐसा जानना।।८३/२४५।।

अब, सम्यग्दर्शन की उपयोगिता को इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **सुदर्शनेनेह विना तपस्यामिच्छन्ति ये सिद्धि-करीं विमूढाः।**
काङ्क्षन्ति बीजेन विनापि मन्ये, कृषिं समृद्धां फलशालिनीं ते।।८४/२४६।।

सम्यक्त्व के विन जो मोक्ष-कारी, तपश्चरण चाहें मूढ जानों।
वे बीज विन फल शोभित समृद्ध खेती हि चाहें यों नित्य मानों।।८४/२४६।।

शब्दश: अर्थ : सुदर्शनेन=सम्यग्दर्शन से; इह=यहाँ; विना=रहित; तपस्यां=तपश्चरण को; इच्छन्ति=चाहते हैं; ये=जो; सिद्धि-करीं=मोक्ष करनेवाले; विमूढा:=विशेष मूर्ख; काङ्क्षन्ति= चाहते हैं; बीजेन=बीज से; विना=रहित; अपि=भी; मन्ये=मानता हूँ; कृषिं=खेती को; समृद्धां=समृद्ध; फल-शालिनीं=फलों से सुशोभित; ते=वे।

अन्वय : इह ये विमूढा: सुदर्शनेन विना सिद्धि-करीं तपस्यां इच्छन्ति ते बीजेन विना फल-शालिनीं समृद्धां कृषिं काङ्क्षन्ति (इति अहं) मन्ये।

वचनिका : जो लोग यहाँ सम्यग्दर्शन के विना, सिद्धि करनेवाली तपस्या को चाहते हैं; मैं ऐसा मानता हूँ कि वे पुरुष, बीज के विना फल से शोभित वृद्धि को प्राप्त खेती को चाहते हैं।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन के विना अनशन आदि क्रिया, अंक के विना शून्यवत्, शून्य ही है; अत: सम्यग्दर्शन-सहित क्रिया करनी, योग्य है।।८४/२४६।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व का वास्तविक फल बताते हैं —

शार्दूलविक्रीडित : **लोकालोकविलोकिनीमकलिलां गीर्वाणवर्गार्चितां,**
दत्ते केवल-सम्पदं शमवतामानीय या लीलया।
सम्यग्दृष्टिरपास्तदोषनिवहा यस्यास्ति सा निश्चला,
तेन प्रापि न किं सुखं बुधजनैरभ्यर्च्यमानं स्थिरम्।।८५/२४७।।

लोकालोक-विलोकिनी सुनिर्मल देवादि से पूज्य भी।
केवल-ज्ञानादि विभव पलक में शमवान को दे सभी।।
नित बुध-जन से प्रार्थनीय सुख भी उससे मिलें शीघ्र ही।
सब दोषों से रहित निश्चल सदा सद्दृष्टि जिसके रही।।८५/२४७।।

शब्दश: अर्थ : लोक+अलोक-विलोकिनीं=लोक और अलोक को देखनेवाली; अकलिलां-पाप-मल से रहित; गीर्वाण-वर्ग+अर्चितां=देवों के समूह द्वारा पूजित; दत्ते=देती है; केवल-

सम्पदं=केवल-ज्ञान आदि संपत्ति को; शमवतां=शमवानों/मुनिराजों को; आनीय=लाकर; या=जो; लीलया=अत्यंत सहजता से; सम्यक्-दृष्टिः=यथार्थ श्रद्धा/रुचि/प्रतीति; अपास्त-दोष-निवहा=दोषों के समूह से रहित; यस्य=जिसका; अस्ति=है; सा=वह; निश्चला=स्थिर; तेन=उससे; प्रापि=प्राप्त हो; न=नहीं; किं=क्या; सुखं=सुख; बुध-जनैः=ज्ञानिओं द्वारा; अभ्यर्थ्यमानं=प्रार्थनीय; चिरं=दीर्घ काल से।

अन्वय : या लोक-अलोक-विलोकिनीं अकलिलां गीर्वाण-वर्ग-अर्चितां केवल-सम्पदं आनीय लीलया शमवतां दत्ते, सा अपास्त-दोष-निवहा निश्चला सम्यक्-दृष्टिः यस्य अस्ति, तेन बुध-जनैः चिरं अभ्यर्थ्यमानं सुखं किं न प्रापि?

वचनिका : शंका आदि दोषों से पूर्णतया-रहित निर्दोष, निश्चल सम्यक्-दृष्टि जिसके है, वह व्यक्ति पंडित-जनों द्वारा बहुत काल से प्रार्थनीय सुख को क्या प्राप्त नहीं करता है? अपितु पाता ही है। वह सम्यक्-दृष्टि कैसी है? वह लीला-मात्र में मुनिराजों को केवल-ज्ञान की संपदा लाकर देती है। वह केवल-ज्ञानरूपी संपदा कैसी है? वह लोक-अलोक को देखनेवाली, पाप-मल-रहित और देवों के समूह द्वारा पूजित है।

भावार्थ : सम्यक्त्व होने पर केवल-ज्ञान की प्राप्ति शीघ्र ही होती है—ऐसा बताया गया है।।८५/२४७।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व-सहित व्रत-धारण के फल को सोदाहरण बताते हैं—

शार्दूलविक्रीडित : **सम्यक्त्वोत्तम-भूषणोऽमित-गतिर्धत्ते व्रतं यस्त्रिधा,**
भुक्त्वा भोग-परम्परामनुपमां गच्छत्यसौ निर्वृतिम्।
सर्वां पापनिदूषणीमपमलां चिन्तामणिं सेवते,
यः पुण्याभरणार्चितः स लभते पूतां न कां सम्पदम्।।८६/२४८।।

अमितगति समकित सुश्रेष्ठ भूषणधारी ग्रहे त्रिधा जो।
व्रत को वह अनुपम सभी सुखों के भोग भोगकर मुक्त हो।।
पुण्याभरणी पूज्य सेवन करे दारिद्र्य-नाशक महा।
निर्मल चिंतामणि तो न पाता क्या पूत बहु संपदा?।।८६/२४८।।

शब्दशः अर्थ : सम्यक्त्व+उत्तम-भूषणः=सम्यक्त्वरूपी उत्तम भूषण-सहित; अमितगतिः= असीम महिमावान; धत्ते=धारण करता है; व्रतं=व्रत को; यः=जो; त्रिधा=मन-वचन-कायरूप तीन प्रकार से; भुक्त्वा=भोगकर; भोग-परम्परां=भोगों की परंपरा को; अनुपमां= अनुपम/अद्वितीय; गच्छति=जाता है; असौ=वह; निर्वृतिं=मोक्ष को; सर्वां=सभी; पाप-

निदूषणीं=पापों को समाप्त करनेवाली; अपमलां=मलिनता से रहित; चिन्तामणिं=चिंतामणि को; सेवते=सेवन करता है; य:=जो; पुण्य+आभरण+अर्चित:=पुण्यरूपी आभरण से पूजित; स:=वह; लभते=प्राप्त करता है; पूतां=पवित्र; न=नहीं; कां=किस; सम्पदं=संपत्ति को।

अन्वय : अमित-गति: सम्यक्त्व-उत्तम-भूषण: य: त्रिधा व्रतं धत्ते, असौ अनुपमां भोग-परम्परां भुक्त्वा निर्वृतिं गच्छति; पुण्य-आभरण-अर्चित: य: सर्वां पाप-निदूषिणीं अपमलां चिन्तामणिं सेवते स: कां पूतां सम्पदं न लभते?

वचनिका : सम्यक्त्वरूपी उत्तम आभूषणवाला और अमित-गति अर्थात् अज्ञात-असीम महिमावाला जो जीव; मन, वचन, काय से व्रत को धारण करता है; वह उपमा-रहित भोगों की परंपरा को भोगकर मोक्ष को प्राप्त होता है। पुण्यरूपी आभरण से अर्चित, पुण्योदय-सहित पुरुष; यदि सभी प्रकार की दरिद्रता को नष्ट करनेवाली चिंतामणि का सेवन करता है तो वह किस पवित्र संपदा को प्राप्त नहीं करता है? अपितु पाता ही है।।८६/२४८।।

इसप्रकार यहाँ पर्यंत सम्यग्दर्शन के विषयभूत सप्त-तत्त्व और सम्यक्त्व के अंगों का निरूपण हुआ।

छप्पय :

वीतराग सर्वग्य कहे जीवादि तत्त्व इम,
करि प्रतीति वसु अंग-सहित अति होय अचल जिम।
यह कारण व्यवहार कार्य आतम लखि लीजे,
षट् द्रव्यनि तैं भिन्न नियति सम्यक रस पीजे।।
इस विना विफल अवगम चरण, अंक विना बिंदी यथा।
ता सहित सार सुख भोग फिर होय अमित-गति सर्वथा।।

अर्थ : वीतराग, सर्वज्ञ द्वारा कहे गए इन जीवादि तत्त्वों की प्रतीति कर जिस-किसी प्रकार से आठ अंग-सहित अति निश्चल हो जाइए। यह व्यवहार, कारण है। इसका निश्चयरूप कार्य है, आत्मानुभव करना। जिसमें छहों द्रव्यों से भिन्न, अपने नियत स्वभाव से उत्पन्न सम्यक्-रस का पान कीजिए।

जैसे—अंक के विना बिंदी व्यर्थ है; उसीप्रकार इसके विना ज्ञान और चारित्र, विफल हैं। इससे सहित सारभूत सुख भोगकर फिर सर्वथा अमितगति हो जाता है।

इसप्रकार अमितगति आचार्य कृत श्रावकाचार में तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।।३।।

चतुर्थ परिच्छेद:

आगे एकांत-पक्ष का निराकरणकर जीवादि तत्त्वों का वर्णन, हेतु-वाद-सहित करेंगे। वहाँ हेतु का स्वरूप जानने के लिए सर्व-प्रथम प्रमाण का वर्णन संक्षेप में करते हैं—

स्व और अपूर्व अर्थ/अनिश्चित पदार्थों का निश्चय स्वरूप-सम्यग्ज्ञान, प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। सामान्य-विशेष-सहित वस्तु को स्पष्ट जानना, प्रत्यक्ष प्रमाण है और सामान्य-विशेष-सहित वस्तु को अस्पष्ट, व्यवधान-सहित जानना, परोक्ष का लक्षण है।

प्रत्यक्ष के सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष—ये दो भेद हैं। इंद्रिय और मन से उत्पन्न हुआ तीन सौ छत्तीस भेदवाला मतिज्ञान, सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है; क्योंकि इसमें औपचारिक विशदता पाई जाती है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष में अवधि और मन:पर्यय-ज्ञान, देश-प्रत्यक्ष हैं; क्योंकि उनमें एक-देश विशदता है; केवलज्ञान, सकल-प्रत्यक्ष है; क्योंकि वह सभी को विशद जानता है।

परोक्ष-प्रमाण के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। पहले अनुभव में आई वस्तु का स्मरण हो याद आना, स्मृति है। दोनों से एकपना, सदृशपना आदि किसीरूप ज्ञान होना, प्रत्यभिज्ञान है। साध्य-साधन की व्याप्तिरूप अविनाभाव को जानना, तर्क है। साधन से साध्य पदार्थ का ज्ञान होना, अनुमान है। इसके दो भेद हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। स्वयं ही निश्चय कर साधन से साध्य को जानना, स्वार्थानुमान है और अन्य के उपदेश से निश्चय कर उसे जानना, परार्थानुमान है।

परार्थानुमान के पाँच अवयव हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। साध्य और साधन—इन दोनों का आश्रय/आधार, पक्ष है; पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। साध्य का स्वरूप शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध—इन तीनरूप है। साध्य का आश्रय, प्रत्यक्षादि द्वारा प्रसिद्ध होता है।

साध्य के साथ जिसका अविनाभाव संबंध है, वह साधन है। उसके वचन को हेतु कहते हैं। पक्ष के समान या विलक्षण अन्य स्थान को दृष्टांत कहते हैं। उसका वचन, उदाहरण है। इनमें से पक्ष के समान को अन्वय और विपरीत को व्यतिरेक कहते हैं। दृष्टांत की अपेक्षा लेकर हेतु को समान करके कहना, उपनय है और हेतु पूर्वक पक्ष का नियम कर कहना, निगमन है।

इनका उदाहरण इसप्रकार है—यह पर्वत, अग्निमान है—ऐसा कथन, प्रतिज्ञा है; क्योंकि

यह धूमवान है—यह हेतु है। जो धूमवान है, वह अग्निमान है; जैसे-रसोईघर—यह अन्वय दृष्टांत है। जो अग्निमान नहीं है, वह धूमवान नहीं है; जैसे-जल का निवास/सरोवर आदि—यह व्यतिरेक दृष्टांत है। ऐसे वचन, उदाहरण हैं। यह पर्वत भी वैसा ही धूमवान है—यह उपनय है; अत: यह अग्निमान है—यह निगमन है। परार्थानुमान के ये पाँच प्रयोग, अव्युत्पन्न के लिए हैं; व्युत्पन्न के लिए प्रतिज्ञा और हेतु—ये दो अवयव ही हैं।

आप्त अर्थात् सर्वज्ञ, उनके वचनों से वस्तु का निश्चय करना, आगम प्रमाण है।

इसप्रकार प्रमाण की संख्या कही।

सामान्य-विशेष-स्वरूप पदार्थ, प्रमाण का विषय है।

वीतरागता या ग्रहण-त्याग-बुद्धि या उस विषय में अज्ञान का नाश; यह कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्नरूप में प्रमाण का फल है।

इसप्रकार प्रमाण का संक्षिप्त स्वरूप कहा।

विशेष आक्षेप, समाधान, खंडन, मंडन आदि; प्रमाण-निर्णय, परीक्षामुख आदि ग्रंथों से जानना। यहाँ हेतु अदि आएंगे, उनका लक्षण यथार्थ जान लेना।

अब, सात पद्यों द्वारा चार्वाक मतवाले अपना पक्ष स्थापित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **केचिद्वदन्ति नास्त्यात्मा परलोकगमोद्यत:।**
तस्याभावे विचारोऽयं तत्त्वानां घटते कुत:।।१/२४९।।
विद्यते परलोकोऽपि नाभावे परलोकिन:।
अभावे परलोकस्य धर्माधर्मक्रिया वृथा।।२/२५०।।
इह लोकसुखं हित्वा ये तपस्यन्ति दुर्धिय:।
हित्वा हस्तगतं ग्रासं ते लिहन्ति पदाङ्गुलिम्।।३/२५१।।
विहाय कलिलां शङ्कां यथेष्टं चेष्टतां जन:।
चेतनस्य हि नष्टस्य विद्यते न पुनर्भव:।।४/२५२।।
नान्यलोके मति: कार्या मुक्त्वा शर्मैहलौकिकम्।
दृष्टं विहाय नादृष्टे कुर्वते धिषणां बुधा:।।५/२५३।।
पृथिव्यम्भोऽग्निवातेभ्यो जायते यन्त्रवाहक:।
पिष्टोदकगुडादिभ्यो मदशक्तिरिव स्फुटम्।।६/२५४।।
जन्म-पञ्चत्वयोरस्ति पूर्वापरयोरियम्।
सदा विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तित:।।७/२५५।।

कोई कहते परलोक जाने उद्यत आत्मा।
है ही नहीं तो कैसे विचार तत्त्वों का हुआ।।१/२४९।।
परलोकी नहीं है तो नहीं परलोक भी रहा।
परलोक नहीं है तो धर्माधर्म क्रिया वृथा।।२/२५०।।
इस लोक सुख तजकर जो दुर्बुद्धि तप को करें।
हस्तगत ग्रास को तजकर वे पदांगुलि चाँटते।।३/२५१।।
पापों की शंका तजकर स्वेच्छा चेष्टा करो सभी।
चेतन नष्ट होने पर पुनर्जन्म न हो कभी।।४/२५२।।
यह लौकिक सुख तजकर नहिं परलोक में धी करो।
प्रत्यक्ष छोड़कर ज्ञानी परोक्ष में नहिं धी करो।।५/२५३।।
यन्त्र-वाहक हो जाता भू-जल-अनल-वायु से।
मद-शक्ति ज्यों होती पिष्ट-जल-गुड़ आदि से।।६/२५४।।
जन्म पूर्व मृत्यु पश्चात् जीव की सत्ता नहीं।
विचार करनेवाले के सर्वथा अनुपपत्ति ही।।७/२५५।।

शब्दश: अर्थ : केचित्=कोई; वदन्ति=कहते हैं; न=नहीं; अस्ति=है; आत्मा=जीव; पर-लोक-गम+उद्यत:=पर-लोक में जाने के लिए प्रयत्न-शील; तस्य=उसका; अभावे= अभाव होने पर; विचार:=चिंतन; अयं=यह; तत्त्वानां=तत्त्वों का; घटते=घटित होता है; कुत:=कैसे। विद्यते=है; पर-लोक:=अन्य लोक; अपि=भी; न=नहीं; अभावे=होने पर; पर-लोकिन:= पर-लोकी जीव के; अभावे=नहीं होने पर; पर-लोकस्य=पर-लोक की; धर्म+अधर्म-क्रिया=धर्म और अधर्म की क्रिया; वृथा=बेकार।

इह=यहाँ के; लोक-सुखं=लौकिक-सुख को; हित्वा=छोड़कर; ये=जो; तपस्यन्ति= तपश्चरण करते हैं; दुर्धिय:=खोटी बुद्धिवाले; हित्वा=छोड़कर; हस्तगतं=हाथ में गए; ग्रासं= ग्रास/कवल को; ते=वे; लिहन्ति=चाँटते हैं; पद+अङ्गुलिं=पैरों की अंगुली को।

विहाय=छोड़कर; कलिलां=पाप को; शङ्कां=शंका को; यथा+इष्टं=अपनी इच्छानुसार; चेष्टतां=चेष्टा करो; न=नहीं; पुनर्भव:=पुन:-जन्म।

न=नहीं; अन्य-लोके=दूसरे लोक में; मति:=बुद्धि; कार्या=करना चाहिए; मुक्त्वा= छोड़कर; शर्म=सुख; इह=इस; लौकिकं=लोक-संबंधी; दृष्टं=प्रत्यक्ष को; विहाय=छोड़कर; न=नहीं; अदृष्टे=अप्रत्यक्ष में; कुर्वते=करता है; धिषणां=बुद्धि को; बुधा:=ज्ञानी।

पृथिवी-अम्भ:-अग्नि-वातेभ्य:=पृथिवी, जल, अग्नि, वायु से; जायते=उत्पन्न हो जाता है; यन्त्र-वाहक:=यंत्र चलानेवाला; पिष्ट+उदक-गुड+आदिभ्य:=पिष्ट, जल, गुड़ आदि द्वारा (व्यक्त); मद-शक्ति:=नशा-दायक शक्ति के; इव=समान; स्फुटं=स्पष्ट।

जन्म-पञ्चत्वयो:=जन्म और मृत्यु के; अस्ति=है; पूर्व+अपरयो:=पहले और बाद में; इयं=यह; सदा=हमेशा; विचार्यमाणस्य=विचार करनेवाले की; सर्वथा=सभी प्रकार से; अनुपपत्तित:=असिद्धि होने से।

अन्वय : केचित् वदन्ति पर-लोक-गम-उद्यत: आत्मा नास्ति; तस्य अभावे तत्त्वानां अयं विचार: कुत: घटते? पर-लोकिन: अभावे पर-लोक: अपि न विद्यते, पर-लोकस्य अभावे धर्म-अधर्म-क्रिया वृथा।

इह लोक-सुखं हित्वा ये दुर्धिय: तपस्यन्ति, ते हस्तगतं ग्रासं हित्वा पद-अङ्गुलिं लिहन्ति। नष्टस्य चेतनस्य हि पुनर्भव: न विद्यते, (इति) कलिलां शङ्कां विहाय जन: यथा-इष्टं चेष्टताम्। इह लौकिकं शर्म मुक्त्वा अन्य लोके मति: न कार्या:, बुधा: दृष्टं विहाय अदृष्टे धिषणां न कुर्वते।

पिष्ट-उदक-गुड-आदिभ्य: मद-शक्ति: इव स्फुटं पृथिवी-अम्भ:-अग्नि-वातेभ्य: यन्त्र-वाहक: जायते। विचार्यमाणस्य जन्म-पञ्चत्वयो: पूर्व-अपरयो: सदा सर्वथा-अनुपपत्तित: इयं अस्ति।

वचनिका : कोई कहते हैं कि पर-लोक में गम अर्थात् जाने के लिए उद्यमी आत्मा नहीं है। उस आत्मा का अभाव होने पर इन कहे तत्त्वों का विचार कैसे बने? पर-लोकवाले आत्मा का अभाव होने पर पर-लोक भी नहीं है और उसका अभाव होने पर धर्म-अधर्म की क्रिया वृथा है; तब फिर इस-लोक के सुख का त्यागकर जो दुर्बुद्धि तपस्या करते हैं; वे हाथ में आए ग्रास को छोड़कर अंगुली को चाटते हैं। नष्ट हुए चेतन का पुन:-जन्म नहीं होता है; अत: पाप की चिंता छोड़कर प्राणी अपनी इच्छानुसार चेष्टा करें।

इस-लोक के सुख को छोड़कर अन्य लोक में बुद्धि करनी, योग्य नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष में पंडित, बुद्धि नहीं करते हैं। जैसे—पीठी, जल, गुड़ इत्यादि से प्रकटपने मद-शक्ति उत्पन्न होती है; उसीप्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन से चैतन्य जीव उत्पन्न होता है। विचार करने पर जीव की सदा अनुपपत्ति है; अत: जन्म के पहले और मरण के बाद, जीव नहीं है।

भावार्थ : नास्तिक कहते हैं कि जैसे—चून, गुड़ आदि से मद-शक्ति उत्पन्न हो जाती है;

उसीप्रकार पृथ्वी आदि से चेतना उत्पन्न होती है। अनादि-निधन जीव नहीं है; उसका पर-लोक नहीं है; अत: पाप की शंका छोड़कर विषयों में यथेष्ट प्रवर्तो।—ऐसी स्वच्छंद प्रवृत्ति पुष्ट की।।१-७/२४९-२५५।।

अब, आचार्य इस पद्य द्वारा उनके वचन का खंडन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **परात्मबैरिणां नैतन्नास्तिकानां कदाचन।**
जायते वचनं तथ्यं विचारानुपपत्तित:।।८/२५६।।

स्व-पर-बैरी इन सब ही नास्तिकों के वचन कभी।
तथ्य पूर्ण नहीं होते विचारानुपपत्ति की।।८/२५६।।

शब्दश: अर्थ : पर+आत्म-बैरिणां=दूसरों और स्वयं के बैरी; न=नहीं; एतत्=यह; नास्तिकानां=नास्तिकों का; कदाचन=कभी भी; जायते=उत्पन्न होता है; वचनं=वचन; तथ्यं=वास्तविक; विचार+अनुपपत्तित:=विचारों की असिद्धि होने से।

अन्वय : विचार-अनुपपत्ति: पर-आत्म-बैरिणां नास्तिकानां एतत् वचनं कदाचन तथ्यं न जायते।

वचनिका : पर के और अपने बैरी इन नास्तिकों के पूर्व कथित वचन कभी भी सत्य नहीं हैं; क्योंकि विचार में असिद्धि है।

भावार्थ : नास्तिकों द्वारा पहले कहा गया वचन, विचार करने पर झूठा भासित होता है।।८/२५६।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव का अस्तित्व सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **विद्यते सर्वथा जीव: स्वसम्वेदन-गोचर:।**
सर्वेषां प्राणिनां तत्र बाधकानुपपत्तित:।।९/२५७।।

स्व-संवेदन गोचर जीव सर्वथा विद्यमान है।
उसमें सभी जीवों को बाधक की असिद्धि से।।९/२५७।।

शब्दश: अर्थ : विद्यते=है; सर्वथा=सभी प्रकार से; जीव:=जीव; स्व-सम्वेदन-गोचर:= अपने अनुभव से ज्ञात होनेवाला; सर्वेषां=सभी; प्राणिनां=प्राणिओं का; तत्र=उसमें; बाधक+अनुपपत्तित:=बाधकों की असिद्धि होने से।

अन्वय : बाधक-अनुपपत्तित: तत्र सर्वेषां प्राणिनां स्व-सम्वेदन-गोचर: जीव: सर्वथा विद्यते।

वचनिका : स्व-संवेदन-गोचर अर्थात् स्वयं जानने में आनेवाला जीव, सर्वथा विद्यमान है; क्योंकि उसमें सभी जीवों को बाधक प्रमाण की अनुपपत्ति/असिद्धि है।

भावार्थ : स्व-संवेदन में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती है।।९/२५७।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **शक्यते न निराकर्तुं केनाप्यात्मा कथञ्चन।**

स्व-सम्वेदन-वेद्यत्वात्सुख-दु:खमिव स्फुटम्।।१०/२५८।।

निषेध करने चेतन का सब ही हैं असमर्थ नित।

सुख-दुख-सम स्व-संवित् वेद्य होने से सतत।।१०/२५८।।

शब्दश: अर्थ : शक्यते=समर्थ है; न=नहीं; निराकर्तुं=निषेध करने के लिए; केन=किसी के द्वारा; अपि=भी; आत्मा=स्वयं चेतन; कथञ्चन=किसी प्रकार; स्व-सम्वेदन-वेद्यत्वात् =अपने ज्ञान से जानने-योग्य होने के कारण; सुख-दु:खं=सुख-दु:ख को; इव=समान; स्फुटं=व्यक्त।

अन्वय : सुख-दु:खं इव स्फुटं स्व-सम्वेदन-वेद्यत्वात् आत्मा, केन अपि कथञ्चन निराकर्तुं न शक्यते।

वचनिका : कोई भी आत्मा का निराकरण करने में किसी भी प्रकार से समर्थ नहीं है; क्योंकि आत्मा को स्व-संवेदन द्वारा प्रकट जानने का योग्यपना है; सुख-दु:ख के समान।

भावार्थ : जैसे—सुख-दु:ख स्वयं जानने में आते हैं; उसीप्रकार स्वयं भी स्वयं द्वारा जानने में आता है; अत: अभावरूप नहीं है।।१०/२५८।।

अब, प्रदत्त हेतु को इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अहं दु:खी सुखी चाहमित्येष: प्रत्यय: स्फुटम्।**

प्राणिनां जायतेऽध्यक्षो निर्बाधो नात्मना विना।।११/२५९।।

'मैं दुखी सुखी मैं हूँ' यह प्रत्यक्ष प्रतीत है।

प्राणिओं की बाधा विन चेतना विन नहीं बने।।११/२५९।।

शब्दश: अर्थ : अहं=मैं; दु:खी=आकुलित; सुखी=निराकुल; च=और; अहं=मैं; इति= इसप्रकार; एष:=यह; प्रत्यय=ज्ञान; स्फुटं=व्यक्त; प्राणिनां=प्राणिओं के; जायते=उत्पन्न होता है; अध्यक्ष:=प्रत्यक्ष; निर्बाध:=बाधा-रहित; न=नहीं; आत्मना=आत्मा से; विना=रहित।

अन्वय : अहं दु:खी च अहं सुखी इति एष: स्फुटं अध्यक्ष: निर्बाध: प्रत्यय: प्राणिनां जायते, (स:) आत्मना विना न।

वचनिका : मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ—इसप्रकार की बाधा-रहित, प्रकट प्रत्यक्ष प्रतीति, जीवों को होती है। यह आत्मा के विना नहीं हो सकती।।११/२५९।।

अब, अनुमान द्वारा अन्य जीवों की सिद्धि, इस पद्य द्वारा करते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्वसम्वेदनतः सिद्धे निजे वपुषि चेतने।**
शरीरे परकीयेऽपि सन्सिद्ध्यत्यनुमानतः।।१२/२६०।।

निज तन में स्व-संवेदन से चेतन की सिद्धि में।
अन्य के तन में सिद्धि चेतन की अनुमान से।।१२/२६०।।

शब्दशः अर्थ : स्व-सम्वेदनतः=अपने भली-भाँति वेदन से; सिद्धे=सिद्ध हो जाने पर; निजे=अपने; वपुषि=शरीर में; चेतने=जीव में; शरीरे=शरीर में; परकीये=दूसरों में; अपि=भी; सन्सिद्ध्यति=भली-भाँति सिद्धि होती है; अनुमानतः=अनुमान से।

अन्वय : निजे वपुषि स्व-सम्वेदनतः चेतने सिद्धे परकीये शरीरे अपि अनुमानतः सन्सिद्ध्यति।

वचनिका : स्व-संवेदन से अपने शरीर में चेतन की सिद्धि हो जाने पर अन्य के शरीर में अनुमान से चैतन्य की सिद्धि हो जाती है।।१२/२६०।।

अब, इस पद्य द्वारा इसी अनुमान को सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **परस्य ज्ञायते देहे स्वकीय इव सर्वथा।**
चेतनो बुद्धि-पूर्वस्य व्यापारोपलब्धितः।।१३/२६१।।

बुद्धि-पूर्वक क्रियाओं की उपलब्धि से चेतना।
अन्य के तन में सिद्ध अपने-सम ही सर्वथा।।१३/२६१।।

शब्दशः अर्थ : परस्य=दूसरों के; जायते=उत्पन्न होता है; देहे=शरीर में; स्वकीये=अपने; इव=समान; सर्वथा=सभी प्रकार से; चेतनः=जीव; बुद्धि-पूर्वस्य=बुद्धि पूर्वक होनेवाले; व्यापारस्य=कार्य की; उपलब्धितः=प्राप्ति होने से।

अन्वय : बुद्धि-पूर्वस्य व्यापारस्य उपलब्धितः स्वकीये इव परस्य देहे चेतनः सर्वथा जायते।

वचनिका : अन्य के शरीर में चैतन्य है—यह वास्तव में सिद्ध है; क्योंकि बुद्धि पूर्वक व्यापार की उपलब्धि है। जैसे—अपने देह में बुद्धि पूर्वक व्यापार होता है; उसप्रकार यह दृष्टांत है।।१३/२६१।।

अब, इस पद्य द्वारा आत्मा का स्थाईत्व निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **जन्म-पञ्चत्वयोरस्ति न पूर्वापरयोरयम्।**
नैषा गीर्युज्यते तत्र सिद्धत्वादनुमानतः।।१४/२६२।।

जन्म-मृत्यु के पहले-पीछे चेतन नहीं है।
यह वाणी नहीं युक्त सिद्धि है अनुमान से।।१४/२६२।।

शब्दश: अर्थ : जन्म-पञ्चत्वयो:=जन्म और मृत्यु के; अस्ति=है; न=नहीं; पूर्व+अपरयो: =पहले और पीछे; अयं=यह; न=नहीं; एषा=यह; गी:=वाणी; युज्यते=उचित है; तत्र= उसमें; सिद्धत्वात्=सिद्धपना होने से; अनुमानत:=अनुमान से।

अन्वय : तत्र अनुमानत: सिद्धत्वात्, जन्म-पञ्चत्वयो: पूर्व-अपरयो: अयं न अस्ति एषा गी: न युज्यते।

वचनिका : जन्म के पहले और मरण के बाद यह आत्मा नहीं है—ऐसी वाणी युक्त नहीं है; क्योंकि वहाँ अनुमान से सिद्धिपना है।

भावार्थ : जन्म-मरण के पहले-पीछे आत्मा, सिद्ध है।।१४/२६२।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही सहेतुक सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **चैतन्यमादिमं नूनमन्य-चैतन्य-पूर्वकम्।**
चैतन्यत्वाद्यथा मध्यमन्त्यमन्यस्य कारणम्।।१५/२६३।।

चैतन्य आदि का निश्चित अन्य चैतन्य पूर्वक।
चैतन्यत्व से जैसे मध्यांत अन्य पूर्वक।।१५/२६३।।

शब्दश: अर्थ : चैतन्यं=चेतनता; आदिमं=पहले का; नूनं=वास्तव में; अन्य-चैतन्य-पूर्वकं=अन्य (कालवर्ती) चैतन्य पूर्वक है; चैतन्यत्वात्=चैतन्यता होने के कारण; यथा=जैसे; मध्यं=बीच; अन्त्यं=अंत; अन्यस्य=अन्य का; कारणं=हेतु है।

अन्वय : यथा मध्यं अन्त्यं अन्यस्य कारणं; (तथा) नूनं आदिमं चैतन्यं अन्य-चैतन्य-पूर्वकं; चैतन्यत्वात्।

वचनिका : जैसे—अन्य का कारण, मध्य का चैतन्य और अंत का चैतन्य है; उसीप्रकार आदि का चैतन्य निश्चय से अन्य चैतन्य पूर्वक है; चैतन्यपना होने से।

भावार्थ : जीव की मनुष्य आदि नवीन पर्याय उत्पन्न होती है; वह जीव-द्रव्य पिछली पर्याय छोड़कर नवीन पर्याय धारण करता है; सर्वथा असत् उत्पन्न नहीं होता है; क्योंकि चेतनपना है—यह हेतु है। जैसे—मध्य का चैतन्य और अंत का चैतन्य, प्रत्यक्ष अन्य चैतन्य पूर्वक है; उसीप्रकार यह दृष्टांत है।

यहाँ प्रयोजन ऐसा है कि अगली पर्याय की अपेक्षा, पहली पर्याय कारण है और पहली पर्याय की अपेक्षा, वही कार्यरूप है; परंतु द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा सभी एक ही वस्तु है; न्यारी-न्यारी नहीं है। इसप्रकार का स्याद्वाद समझने से यथार्थ ज्ञान होता है।।१५/२६३।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही विशेष पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **तत्रैव वासरे जातः पूर्वकेणात्मना विना।**
अशिक्षितः कथं बालो मुखमर्पयति स्तने।।१६/२६४।।

उसी दिन जन्मा बालक पूर्व आतम के विना।
विना सिखाए स्तन में मुख कैसे लगा रहा?।।१६/२६४।।

शब्दशः अर्थ : तत्र=वहाँ; एव=ही; वासरे=दिन में; जात:=उत्पन्न; पूर्वकेण=पहले से; आत्मना=आत्मा से; विना=रहित; अशिक्षित:=विना सिखाया गया; कथं=कैसे; बाल:=बालक; मुखं=मुख को; अर्पयति=लगाता है; स्तने=स्तन में।

अन्वय : (यदि) पूर्वकेण आत्मना विना तत्रैव वासरे जात:, (तर्हि) अशिक्षित: बाल: कथं स्तने मुखं अर्पयति?

वचनिका : यदि पूर्व के आत्मा-विना, नवीन ही आत्मा हो तो उसी दिन उत्पन्न हुआ बालक, विना सिखाए स्तन में मुख कैसे लगाता है?

भावार्थ : यदि आत्मा पहले से नहीं हो, नवीन ही उत्पन्न हुआ हो तो उत्पन्न हुआ ही बालक, दूध कैसे चूसने लग जाता है; अत: मनुष्यादि पर्यायें नवीन उत्पन्न होती हैं; परंतु जीव-द्रव्य तो अनादि-अनंत ही है—ऐसा निश्चय करना।।१६/२६४।।

पृथ्वी आदि से चेतन की उत्पत्ति संभव नहीं है; अब, इस पद्य द्वारा यही सहेतुक सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **भूतेभ्योऽचेतनेभ्योऽयं चेतनो जायते कथम्।**
विभिन्नजातित: कार्यं जायमानं न दृश्यते।।१७/२६५।।

अचेतन पृथ्वी आदि से चेतन कैसे बने?
भिन्न जाति से कार्य होता कभी नहीं दिखे।।१७/२६५।।

शब्दशः अर्थ : भूतेभ्य:=भूतों से; अचेतनेभ्य:=अचेतनों से; अयं=यह; चेतन:=चेतन; जायते=उत्पन्न होता है; कथं=कैसे; विभिन्न-जातित:=पृथक् जाति से; कार्यं=काम; जायमानं=प्रकट हुआ; न=नहीं; दृश्यते=दिखाई देता है।

अन्वय : अचेतनेभ्य: भूतेभ्य: अयं चेतन: कथं जायते? विभिन्न-जातित: जायमानं कार्यं न दृश्यते।

वचनिका : अचेतन पृथ्वी आदि भूतों से चेतन कैसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि भिन्न जाति से कार्य उत्पन्न हुआ दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ : जैसे—मिट्टी से स्व-जातीय घट तो उत्पन्न होता है; परंतु विजातीय पट/वस्त्र

उत्पन्न हुआ नहीं दिखता है; उसीप्रकार अचेतन पृथ्वी आदि से अचेतन शरीर आदि तो उत्पन्न होते हैं; परंतु चेतन जीव कैसे उत्पन्न हो? अत: जीव को भूत-जनित कहना, मिथ्या है (वह स्वयं अनादि-अनंत है।)।।१७/२६५।।

अब, यहाँ दो पक्ष पूछकर जीव के भूत-जनितपने का निराकरण इन दो पद्यों द्वारा करते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रत्येकं युगपद्वैभ्य: भूतेभ्यो जायते भवी।**
विकल्पे प्रथमे तस्य तावत्त्वं केन वार्यते।।१८/२६६।।
विकल्पे सद्वितीयेऽपि कथमेकस्वभावक:।
भिन्नस्वभावकैरेभिर्जन्यते वद चेतन:।।१९।।२६७।।

पृथक्-पृथक् या युगपत् भूतों से उत्पन्न हो।
पहले में उसका उतना कौन रोके जीव को?।।१८/२६६।।
द्वितीय में भिन्न स्वभावों से कैसे एक स्वभाव युत?
चेतन जन्म लेता है बतलाओ स्पष्ट तुम।।१९/२६७।।

शब्दश: अर्थ : प्रत्येकं=पृथक्-पृथक्; युगपत्=एक साथ; वा=अथवा; एभ्य:=इन; भूतेभ्य:=भूतों से; जायते=उत्पन्न होता है; भवी=होनेवाला जीव; विकल्पे=विकल्प में; प्रथमे=पहले; तस्य=उसका; तावत्त्वं=उतनापना; केन=किससे; वार्यते=रोका जाता है। विकल्पे=विकल्प में; स-द्वितीये=दूसरेवाले में; अपि=भी; कथं=कैसे; एक-स्वभावक:= एक स्वभाववाला; भिन्न-स्वभावकै:=भिन्न स्वभाववाले; एभि:=इनसे; जन्यते=उत्पन्न होता है; वद=बताइए; चेतन:=जीव।

अन्वय : प्रत्येकं वा युगपत् एभ्य: भूतेभ्य: भवी जायते; प्रथमे विकल्पे तस्य तावत्त्वं केन वार्यते? स-द्वितीये विकल्पे अपि एभि: भिन्न-स्वभावकै: एक-स्वभावक: चेतन: कथं जन्यते? वद।

वचनिका : आचार्य पूछते हैं कि जीव, पृथ्वी आदि भूतों से प्रत्येक पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता है कि युगपत् इकट्ठा ही उत्पन्न होता है। यदि पृथक्-पृथक् उत्पन्न होता है—यह प्रथम विकल्प कहते हो तो उस जीव के उतना मात्रपना किसके द्वारा रोका जा रहा है?

भावार्थ : यदि पृथ्वी आदि पृथक्-पृथक् से जीव उत्पन्न होता है तो पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन में से किसी एक का स्वभाव लेकर जीव होना चाहिए; परंतु ऐसा होता तो नहीं है।

युगपत् एक ही बार जीव उत्पन्न होता है—यदि ऐसा दूसरा विकल्प ग्रहण करोगे तो

पृथक्-पृथक् स्वभाववाले पृथ्वी आदि भूतों से एक स्वभाववाला चेतन कैसे उत्पन्न होता है? वह कहिए!! पृथ्वी आदि अनेक स्वभाववालों से एक स्वभावी चेतन का उत्पन्न होना, बनता नहीं है।

इसप्रकार दो पक्ष पूछकर निराकरण किया।।१८-१९/२६६-२६७।।

उपर्युक्त पक्षों के संदर्भ में अपने मंतव्य को वादी अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत करता है —

अनुष्टुभ् : **चेतनोऽचेतनेभ्योऽपि भूतेभ्यो न विरुध्यते।**
भिन्नानां मौक्तिकादीनां तोयादिभ्योऽपि दर्शनात्।।२०/२६८।।

अचेतन भी भूतों से चेतन जन्म विरुद्ध नहिं।
जलादि से होते दिखते भिन्न मोती आदि भी।।२०/२६८।।

शब्दश: अर्थ : चेतन:=जीव; अचेतनेभ्य:=अचेतनों से; अपि=भी; भूतेभ्य:=भूतों से; न=नहीं; विरुध्यते=विरोध को प्राप्त है; भिन्नानां=भिन्न; मौक्तिक+आदीनां=मोती आदि का; तोय+आदिभ्य:=जल आदि से; अपि=भी; दर्शनात्=दिखाई देने से।

अन्वय : अचेतनेभ्य: भूतेभ्य: अपि चेतन: न विरुध्यते; तोय-आदिभ्य: अपि भिन्नानां मौक्तिक-आदीनां दर्शनात्।

वचनिका : अचेतन पृथ्वी आदि भूतों से चेतन, विरोध को प्राप्त नहीं होता है; क्योंकि भिन्न मुक्ता-फल आदि का जलादि से भिन्न दर्शन है।

भावार्थ : अचेतन पृथ्वी आदि से चेतन के उत्पन्न होने में कुछ विरोध नहीं है; क्योंकि जलादि पृथक् जातिवाले हैं; तथापि उनसे पृथक् जातिवाले मोती आदि उत्पन्न हुए दिखाई देते हैं।।२०/२६८।।

प्रस्तुत कथन की वास्तविकता आचार्यश्री अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तदयुक्तं यतो मुक्ता तोयादीनां विलोक्यते।**
एका पौद्गलिकी जातिर्भिन्नताऽत: कुतस्तनी।।२१/२६९।।

अनुचित है ऐसा कहना क्योंकि मोती जलादि की।
एक ही पुद्गल जाति अत: भिन्नपना नहीं।।२१/२६९।।

शब्दश: अर्थ : तत्=वह; अयुक्तं=अनुचित; यत:=क्योंकि; मुक्ता=मोती; तोय+आदीनां= जल आदि की; विलोक्यते=देखी जाती है; एका=एक; पौद्गलिकी=पुद्गल संबंधी, जाति:= जाति; भिन्नता=पृथक्ता; अत:=इसलिए; कुतस्तनी=कैसी?

अन्वय : तत् अयुक्तं यत: मुक्ता तोय-आदीनां एका पौद्गलिकी जाति: विलोक्यते; अत: भिन्नता कुतस्तनी।

वचनिका : मुक्ता-फल और जल इत्यादि की एक जाति है; अत: पुद्गल से पुद्गल की ही पर्याय हुई है; कुछ जीव तो उत्पन्न नहीं हुआ है; अत: तुम्हारा दृष्टांत विषम है—ऐसा जानना।।२१/२६९।।

अब, इसी तथ्य को इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **यत: पिष्टोदकादिभ्य: मदशक्तिरचेतना।**
सम्भूताऽचेतनेभ्योऽतो दृष्टान्तस्ते न चेतने।।२२/२७०।।

यत: अचेतन पिष्टी जल आदि से उत्पन्न है।
अचेतन ही मदशक्ति यों चेतन में नहि घटित है।।२२/२७०।।

शब्दश: अर्थ : यत:=क्योंकि; पिष्ट+उदक+आदिभ्य:=पिष्टी, जल आदि से; मद-शक्ति: =नशा-कारक-शक्ति; अचेतना=जड़; सम्भूता=उत्पन्न होती है; अचेतनेभ्य:=अचेतनों से; अत:=इसलिए; दृष्टान्त:=उदाहरणवाली घटना; ते=तुम्हारे द्वारा बताई गई; न=नहीं; चेतने=चेतन में।

अन्वय : यत: अचेतनेभ्य: पिष्ट-उदक-आदिभ्य: अचेतना मद-शक्ति: सम्भूता:; अत: ते दृष्टान्त: चेतने न।

वचनिका : क्योंकि अचेतन चून, गुड़ आदि से अचेतन ही मद-शक्ति प्रकट होती है; अत: तुम्हारा यह दृष्टांत, चेतन पर घटित नहीं होता है।।२२/२७०।।

अब, इस पद्य द्वारा शरीर और जीव की पृथक्ता को विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न शरीरात्मनोरैक्यं वक्तव्यं तत्त्ववेदिभि:।**
शरीरे तदवस्थेऽपि जीवस्यानुपलब्धित:।।२३/२७१।।

तत्त्व-वेदी नहीं कहते चेतन-तन की एकता।
तन वैसा ही रहता फिर भी चेतन नहिं रहा।।२३/२७१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; शरीर+आत्मनो:=शरीर और आत्मा की; ऐक्यं=एकता को; वक्तव्यं=कहना चाहिए; तत्त्व-वेदिभि:=तत्त्व को जाननेवालों द्वारा; शरीरे=शरीर में; तत्-अवस्थे=वैसी अवस्था होने पर; अपि=भी; जीवस्य=जीव की; अनुपलब्धित:= उपलब्धि नहीं होने से।

अन्वय : शरीरे तदवस्थे अपि जीवस्य अनुपलब्धित: तत्त्व-वेदिभि: शरीर-आत्मनो: ऐक्यं न वक्तव्यम्।

वचनिका : तत्त्व को जाननेवाले पुरुषों द्वारा शरीर और आत्मा को एक कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि शरीर की यहाँ स्थिति होने पर भी इस आत्मा की यहाँ अनुपलब्धि/अप्राप्ति है।

भावार्थ : जीव पर-लोक को जाता है, तब शरीर यहीं रह जाता है; परंतु जीव नहीं दिखता है; अत: शरीर और जीव एक नहीं हैं—ऐसा निश्चय करना।।२३/२७१।।

इसप्रकार युक्ति, उदाहरणादि से चार्वाक को जीव-तत्त्व की सिद्धि की।

अब, इस पद्य द्वारा विज्ञानाद्वैत का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **ज्ञानं विहाय नात्माऽस्ति नेदं वचनमञ्चितम्।**
ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरणानुपपत्तित:।।२४/२७२।।

ज्ञान की क्षणिकता से स्मरण सिद्ध हो नहीं।
अत: 'ज्ञान विना आत्मा कुछ नहीं' यह उचित नहीं।।२४/२७२।।

शब्दश: अर्थ : ज्ञानं=ज्ञान को; विहाय=छोड़कर; न=नहीं; आत्मा=चेतन; अस्ति=है; न=नहीं; इदं=यह; वचनं=कथन; अञ्चितं=यथार्थ; ज्ञानस्य=ज्ञान की; क्षणिकत्वेन=क्षणिकता से; स्मरण+अनुपपत्तित:=स्मरण की असिद्धि होने से।

अन्वय : ज्ञानस्य क्षणिकत्वेन स्मरण-अनुपपत्तित: ज्ञानं विहाय आत्मा न अस्ति—इदं वचनं अञ्चितं न।

वचनिका : ज्ञान के अतिरिक्त आत्मा, अन्य कुछ नहीं है—ऐसा कहना सत्यार्थ नहीं है; क्योंकि ज्ञान के क्षणिकता होने से स्मरण की अनुपपत्ति है।

भावार्थ : पर्याय का एकांत पकड़कर विज्ञानाद्वैत-वादी कहते हैं कि निरंश और क्षणिक, एक ज्ञान ही है। इसके अतिरिक्त आत्मा और कुछ वस्तु नहीं है।

उससे आचार्य कहते हैं कि यदि ऐसा है तो 'मैंने पहले जाना था, उसे अब जान रहा हूँ'—ऐसा स्मरण सिद्ध नहीं होगा; अत: कथंचित् ज्ञान से पृथक्, अनंत धर्मों का समुदायरूप, अनादि-निधन आत्मा, मानना-योग्य है।।२४/२७२।।

अब, इस पद्य द्वारा ब्रह्माद्वैत का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **नात्मा सर्वगतो वाच्यस्तत्स्वरूपविचारिभि:।**
शरीरव्यतिरेकेण येनासौ दृश्यते न हि।।२५/२७३।।

तत्त्व-चिंतक नहीं कहते आत्मा सर्वगत कभी।
क्योंकि शरीर से बाहर आत्मा दिखता नहीं।।२५/२७३।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; आत्मा=चेतन; सर्वगत:=सब में गया हुआ; वाच्य:=कहने-योग्य; तत्स्वरूप-विचारिभि:=उसके स्वरूप का विचार करनेवालों के द्वारा; शरीर-व्यतिरेकेण=शरीर से पृथक् रूप से; येन=जिस कारण; असौ=वह; दृश्यते=दिखाई देता है; न=नहीं; हि=वास्तव में।

अन्वय : तत्स्वरूप-विचारिभि: आत्मा सर्वगत: (इति) न वाच्य:, येन हि शरीर-व्यतिरेकेण असौ न दृश्यते।

वचनिका : उस आत्म-स्वरूप का विचार करनेवाले व्यक्तिओं द्वारा 'आत्मा, सर्व-व्यापी है'—ऐसा कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि यह आत्मा शरीर से बाहर दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ : सर्व-व्यापी आत्मा मानना, मिथ्या है; क्योंकि शरीर से बाहर आत्मा दिखाई नहीं देता है।।२५/२७३।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा दो पक्ष पूछकर उनका निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **शरीरतो बहिस्तस्य किं ज्ञानं विद्यते न वा।**
विद्यते चेत्कथं तत्र कृत्याकृत्यं न बुद्ध्यते।।२६/२७४।।

यदि नास्ति कुतस्तस्य तत्र सत्ताऽवगम्यते।
लक्षणेन विना लक्ष्यं न क्वापि व्यवतिष्ठते।।२७/२७५।।

शरीर से बाहर उसका ज्ञान है या है नहीं।
यदि है तो कृत्याकृत्य वहाँ जाने क्यों नहीं?।।२६/२७४।।
यदि नहीं; वहाँ कैसे सत्ता उसकी ज्ञात हो?
लक्षण के विना लक्ष्य कहीं भी नहिं प्राप्त हो।।२७/२७५।।

शब्दश: अर्थ : शरीरत:=शरीर से; बहि:=बाहर; तस्य=उसका; किं=क्या; ज्ञानं=ज्ञान; विद्यते=है; न=नहीं; वा=अथवा; विद्यते=है; चेत्=यदि; कथं=कैसे; तत्र=वहाँ; कृत्य+ अकृत्यं=करने-योग्य और नहीं करने-योग्य; न=नहीं; बुध्यते=जानता है।

यदि=यदि; नास्ति=नहीं है; कुत:=कैसे; तस्य=उसकी; तत्र=वहाँ; सत्ता=विद्यमानता; अवगम्यते=ज्ञात होती है; लक्षणेन=लक्षण से; विना=रहित; लक्ष्यं=लक्ष्य; न=नहीं; क्व=कहीं; अपि=भी; व्यवतिष्ठते=रहता है।

अन्वय : शरीरत: बहि: तस्य ज्ञानं किं विद्यते वा न विद्यते; चेत् विद्यते, तत्र कृत्य-अकृत्यं कथं न बुध्यते? यदि नास्ति, तत्र तस्य सत्ता कुत: अवगम्यते? क्व अपि लक्षणेन विना लक्ष्यं न व्यवतिष्ठते।

वचनिका : शरीर से बाहर उस आत्मा का ज्ञान है या नहीं है। यदि शरीर से बाहर ज्ञान है तो वहाँ वह, करने-योग्य और नहीं करने-योग्य को क्यों नहीं जानता है?

यदि शरीर से बाहर ज्ञान नहीं है तो वहाँ शरीर से बाहर उस आत्मा की सत्ता कैसे ज्ञात होती है? क्योंकि लक्षण के विना लक्ष्य कभी भी नहीं रहता है।

भावार्थ : ज्ञान, लक्षण है और आत्मा, लक्ष्य है। जहाँ लक्षण नहीं है, वहाँ लक्ष्य भी नहीं है; अत: सर्व-व्यापी आत्मा कहना, मिथ्या है।।२६-२७/२७४-२७५।।

अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि सभी का एक आत्मा नहीं है—

अनुष्टुभ् : **सर्वेषामेक एवात्मा युज्यते नेति जल्पितुम्।**
जन्म-मृत्यु-सुखादीनां भिन्नानामुपलब्धित:।।२८/२७६।।

सबका एक ही आत्मा कहना कभी उचित नहीं।
जन्म मृत्यु सुख आदि भिन्न हैं उपलब्ध ही।।२८/२७६।।

शब्दश: अर्थ : सर्वेषां=सभी का; एक:=एक; एव=ही; आत्मा=चेतन; युज्यते=उचित है; न=नहीं; जल्पितुं=कहने के लिए; जन्म-मृत्यु-सुख+आदीनां=जन्म, मृत्यु, सुख आदि की; भिन्नानां=भिन्न की; उपलब्धित:=उपलब्धि होने से।

अन्वय : भिन्नानां जन्म-मृत्यु-सुख-आदीनां उपलब्धित: सर्वेषां एक: एव आत्मा इति जल्पितुं न युज्यते।

वचनिका : सभी का एक ही आत्मा है—ऐसा कहना युक्त नहीं है; क्योंकि जन्म, मरण, सुख, दु:ख आदि भिन्न-भिन्न की उपलब्धि है।

भावार्थ : जन्म, मरण, सुख, दु:ख आदि सभी के पृथक्-पृथक् दिखते हैं; अत: सभी का एक आत्मा है—ऐसा कहना मिथ्या है।।२८/२७६।।

अब, इस पद्य द्वारा आत्मा की अणु-मात्रता का निराकरण करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न वक्तव्योऽणु-मात्रोऽयं सर्वैर्येनानुभूयते।**
अभीष्टकामिनीस्पर्शे सर्वाङ्गीण: सुखोदय:।।२९/२७७।।

नहीं कहना अणु-मात्र चेतन सब अनुभूत यह।
इच्छित स्त्री स्पर्श सर्वांगीण सुखानुभव।।२९/२७७।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; वक्तव्य:=कहना चाहिए; अणु-मात्र:=अत्यंत छोटा; अयं=यह; सर्वै:=सभी द्वारा; येन=जिससे; अनुभूयते=अनुभव किया जाता है; अभीष्ट-कामिनी-स्पर्शे =वांक्षित स्त्री के स्पर्श में; सर्व+अङ्गीण:=सभी अंगोंवाला; सुख+उदय:=सुख का उदय।

अन्वय : येन अभीष्ट-कामिनी-स्पर्शे सर्व-अङ्गीण: सुख-उदय: सर्वै: अनुभूयते (तेन) अयं अणु-मात्र: (इति) न वक्तव्य:।

वचनिका : यह आत्मा, अणु-मात्र है—ऐसा कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि वांक्षित स्त्री के स्पर्श में सर्वांग से उत्पन्न हुआ सुख का उदय, सभी के अनुभव-गोचर है।

भावार्थ : स्त्री के स्पर्श में सुख का उत्पन्न होना, सभी अंगों में प्रत्यक्ष दिखता है; अत: आत्मा को अणु-मात्र कहना, मिथ्या है।।२९/२७७।।

सर्वांग सुख आदि पवन का स्वभाव नहीं है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **समीरण-स्वभावोऽयं सुन्दरानेति भारती।**
सुखज्ञानादयो भावा: सन्ति नाचेतने यत:।।३०/२७८।।

'सर्वांग सुख वायु प्रकृति' ऐसा कथन उचित नहीं।
सुख ज्ञान आदि स्व भाव अचेतन में होते नहीं।।३०/२७८।।

शब्दश: अर्थ : समीरण-स्वभाव:=वायु का स्वभाव; अयं=यह; सुन्दरा=उचित; न=नहीं; इति=इसप्रकार; भारती=कथन; सुख-ज्ञान+आदय:=सुख, ज्ञान आदि; भावा:= विशेषताएं; सन्ति=हैं; न=नहीं; अचेतने=अचेतन में; यत:=क्योंकि।

अन्वय : अयं समीरण-स्वभाव: इति भारती सुन्दरा न; यत: सुख-ज्ञान-आदय: भावा: अचेतने न सन्ति।

वचनिका : कोई कहता है कि सर्वांग सुख होना तो पवन का स्वभाव है। आचार्य, उससे कहते हैं कि ऐसी वाणी, सुंदर नहीं है; क्योंकि सुख, ज्ञान आदि चेतन के भाव हैं। वे अचेतन पवन में नहीं हैं।।३०/२७८।।

अब, इस पद्य द्वारा आत्मा को ज्ञान-रहित, मानने का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न ज्ञानविकलो वाच्य: सर्वथात्मा मनीषिभि:।**
क्रियाणां ज्ञान-जन्यानां तत्राभाव-प्रसङ्गत:।।३१/२७९।।

'आत्मा ज्ञान-विरहित है' सर्वथा विज्ञ न कहें।
ज्ञान-जन्य क्रियाओं के वहाँ अभाव प्रसंग से।।३१/२७९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; ज्ञान-विकल:=ज्ञान से रहित; वाच्य:=कहने-योग्य; सर्वथा= पूर्णतया; आत्मा=चेतन; मनीषिभि:=विद्वानों द्वारा; क्रियाणां=क्रियाओं का; ज्ञान-जन्यानां=ज्ञान से उत्पन्न हुई; तत्र=वहाँ; अभाव-प्रसङ्गत:=अभाव का प्रसंग होने से।

अन्वय : तत्र ज्ञान-जन्यानां क्रियाणां अभाव-प्रसङ्गत: मनीषिभि: आत्मा सर्वथा ज्ञान-विकल: (इति) न वाच्य:।

वचनिका : ज्ञान-रहित आत्मा, पंडितों द्वारा सर्वथा कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि उससे आत्मा में ज्ञान-जनित क्रियाओं के अभाव का प्रसंग आता है।

भावार्थ : यदि आत्मा ज्ञान-रहित हो तो ज्ञान-जनित क्रिया का अभाव आता है। आत्मा में ज्ञान-जनित क्रिया तो दिखती ही है; अत: ज्ञान-रहित आत्मा कहना, मिथ्या है।।३१/२७९।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञान संबंधी मिथ्या धारणा का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रधानज्ञानतो ज्ञानी न वाच्यो ज्ञान-शालिभि:।**
अन्यज्ञानेन न ह्यन्यो ज्ञानी क्वापि विलोक्यते।।३२/२८०।।

प्रधान ज्ञान से ज्ञानी ज्ञानी ऐसा नहीं कहें।
अन्य ज्ञान से अन्य ज्ञानी कहीं नहीं दिखें।।३२/२८०।।

शब्दश: अर्थ : प्रधान-ज्ञानत:=प्रधान ज्ञान से; ज्ञानी=ज्ञानवाला; न=नहीं; वाच्य:=कहने-योग्य; ज्ञान-शालिभि:=ज्ञान-संपन्न द्वारा; अन्य-ज्ञानेन=दूसरे ज्ञान द्वारा; न=नहीं; हि=वास्तव में; अन्य:=दूसरा; ज्ञानी=ज्ञानवाला; क्व=कहीं; अपि=भी; विलोक्यते=देखा जाता है।

अन्वय : प्रधान-ज्ञानत: ज्ञानी (इति) ज्ञान-शालिभि: न वाच्य:, (यत:) हि अन्य-ज्ञानेन अन्य: ज्ञानी क्व अपि न विलोक्यते।

वचनिका : आत्मा, प्रधान ज्ञान द्वारा ज्ञानी है—ऐसा ज्ञानवानों द्वारा कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि किसी अन्य ज्ञान द्वारा कोई अन्य ज्ञानी, कहीं भी दिखाई नहीं देता है।।३२/२८०।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव के सर्वथा शुद्धत्व का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न शुद्धः सर्वथो जीवो बन्धाभावप्रसङ्गत:।**
न हि शुद्धस्य मुक्तस्य रेश्यते कर्मबन्धनम्।।३३/२८१।।

चेतन सर्वथा शुद्ध नहीं बंध अभाव है।
कर्म-बंध नहीं किंचित् पूर्ण मुक्ती जीव के।।३३/२८१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; शुद्ध:=कर्म-मल-रहित; सर्वथा=हमेशा; जीव:=चेतन; बन्ध+अभाव-प्रसङ्गत:=बंध के अभाव का प्रसंग आने से; न=नहीं; हि=वास्तव में; शुद्धस्य=विकार-रहित; मुक्तस्य=मुक्त के; रेश्यते=दिखाई देता है; कर्म-बन्धनं=कर्मों का बंधन।

अन्वय : बन्ध-अभाव-प्रसङ्गत: जीव: सर्वथा शुद्ध: न; हि शुद्धस्य मुक्तस्य कर्म-बन्धनं न रेश्यते।

वचनिका : जीव सर्वथा शुद्ध नहीं है; क्योंकि बंध के अभाव का प्रसंग आता है। शुद्ध-मुक्त जीव के कर्म-बंधन नहीं दिखता है।

भावार्थ : यदि जीव, सर्वथा शुद्ध हो तो बंध का अभाव ठहरे; पुण्य-पापरूप कर्म-बंध किसके होगा? रागादि भाव किसके होंगे? अत: जीव को सर्वथा शुद्ध कहना, मिथ्या है।।३३/२८१।।

किसी अन्य के कार्य का किसी अन्य को लाभ नहीं होता है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **प्रधानेन कृते धर्मे मोक्ष-भागी न चेतन:।**
परेण विहिते भागे तृप्ति-भागी कुत: पर:।।३४/२८२।।

मुक्ति पात्र नहीं चेतन प्रधान कृत धर्म से।
पर-कृत भोग से तृप्ति नहीं होती अन्य के।।३४/२८२।।

शब्दश: अर्थ : प्रधानेन=(सांख्य-मान्य) प्रधान द्वारा; कृते=किए गए; धर्मे=धर्म में; मोक्ष-भागी=मोक्ष का पात्र; न=नहीं; चेतन:=चेतन; परेण=दूसरों द्वारा; विहिते=किए गए; भोगे=भोग में; तृप्ति-भागी=तृप्ति को भोगनेवाला; कुत:=कैसे; पर:=दूसरा।

अन्वय : प्रधानेन कृते धर्मे चेतन: मोक्ष-भागी न; परेण विहिते भोगे पर: तृप्ति-भागी कुत:?

वचनिका : यहाँ कोई (सांख्य) कहता है कि धर्म, प्रधान करता है; आत्मा तो शुद्ध/पूर्णतया अकर्ता ही है। आचार्य उससे कहते हैं—प्रधान द्वारा किए गए धर्म से चेतन, मोक्ष-गामी नहीं होता है; क्योंकि अन्य द्वारा किए गए भोगों से अन्य को तृप्ति की प्राप्ति कैसे होगी?

भावार्थ : जैसे—भोग, अन्य भोगे और सुखी, अन्य हो—ऐसा नहीं बनता है; उसीप्रकार प्रधान धर्म करे और चेतन का मोक्ष हो—ऐसा नहीं बनता है।।३४/२८२।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक प्रधान का अकर्तृत्व सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रधानं यदि कर्माणि विधत्ते मुञ्चते यदि।**
किमात्माऽनर्थक: साङ्ख्यै: कल्प्यते मम कथ्यताम्।।३५/२८३।।

प्रधान यदि कर्मों को कर्ता और छोड़ता।
तो कहो व्यर्थ क्यों माना सांख्यों ने यह आत्मा।।३५/२८३।।

शब्दश: अर्थ : प्रधानं=(सांख्यों द्वारा मान्य) प्रधान; यदि=यदि; कर्माणि=कर्मों को; विधत्ते=करता है; मुञ्चते=छोड़ता है; यदि=यदि; किं=क्या; आत्मा=चेतन; अनर्थक:=विना

प्रयोजन; साङ्ख्यैः=सांख्यों द्वारा; कल्प्यते=माना गया है; मम=मुझे; कथ्यतां=कहिए।
अन्वय : यदि प्रधानं कर्माणि विधत्ते, यदि प्रधानं कर्माणि मुञ्चते; (तर्हि) साङ्ख्यैः अनर्थकः आत्मा किं कल्प्यते, मम कथ्यताम्।
वचनिका : यदि प्रधान, कर्मों को करता है और वही, उन्हें छोड़ता है; तो बंध-मोक्ष प्रधान के होते हैं; तब फिर सांख्य-मतवालों ने निष्प्रयोजन आत्मा, क्यों माना है? वह मुझे कहिए।।३५/२८३।।

अब, इस पद्य द्वारा मात्र ज्ञान से मोक्ष होने का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न ज्ञान-मात्रतो मोक्षस्तस्य जातूपपद्यते।**
भैषज्य-ज्ञान-मात्रेण न व्याधिः क्वापि नश्यति।।३६/२८४।।
मात्र ज्ञान से मोक्ष रंच भी होता नहीं।
ज्ञान केवल औषधि से बीमारी मिटती नहीं।।३६/२८४।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; ज्ञान-मात्रतः=ज्ञान-मात्र से; मोक्षः=मोक्ष; तस्य=उसका; जातु=रंच-मात्र; उपपद्यते=सिद्ध होता है; भैषज्य-ज्ञान-मात्रेण=औषधि के ज्ञान-मात्र से; न=नहीं; व्याधिः=बीमारी; क्व+अपि=कहीं भी; नश्यति=नष्ट होती है।
अन्वय : ज्ञान-मात्रतः तस्य मोक्षः जातु न उपपद्यते; भैषज्य-ज्ञान-मात्रेण क्व अपि व्याधिः न नश्यति।
वचनिका : सांख्य-मति कहते हैं कि द्वैतरूप भ्रम से हुआ बंध, अद्वैत के ज्ञान-मात्र से नष्ट हो जाता है। उनसे आचार्य कहते हैं कि उस सांख्य के ज्ञान-मात्र से कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं होता है। जैसे—औषधि के मात्र ज्ञान द्वारा रोग कभी भी नष्ट नहीं होता है।
भावार्थ : जैसे—औषधि का जानना, प्रतीति और आचरण—तीनों ही भावों द्वारा रोग नष्ट हो सुखी होते हैं। मात्र जानने, मात्र प्रतीति करने या मात्र आचरण करने—इन पृथक्-पृथक् द्वारा रोग नष्ट नहीं होता है, सुखी नहीं होते हैं; उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र—तीनों की एकता से बंध नष्ट हो, मोक्ष हो जाता है। ज्ञानादि पृथक्-पृथक् से बंध नष्ट हो, मोक्ष नहीं होता है—ऐसा निश्चय करना।।३६/२८४।।

अब, ज्ञान को प्रधान का धर्म माननेवालों का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अचेतनस्य न ज्ञानं प्रधानस्य प्रवर्तते।**
स्तम्भकुम्भादयो दृष्टा न क्वापि ज्ञानयोगिनः।।३७/२८५।।
नहीं ज्ञान कभी होता अचेतन प्रधान का।
कहीं भी ज्ञान-संयुक्त स्तंभादि नहीं दिखा।।३७/२८५।।

शब्दश: अर्थ : अचेतनस्य=अचेतन का; न=नहीं; ज्ञानं=ज्ञान; प्रधानस्य=प्रधान का; प्रवर्तते=प्रवर्तित होता है; स्तम्भ-कुम्भ+आदय:=स्तंभ/खंभा, कुंभ/घड़ा आदि; दृष्टा= दिखते हैं; न=नहीं; क्व+अपि=कहीं भी; ज्ञान-योगिन:=ज्ञान से संयुक्त।

अन्वय : अचेतनस्य प्रधानस्य ज्ञानं न प्रवर्तते, ज्ञान-योगिन: स्तम्भ-कुम्भ-आदय: क्व अपि न दृष्टा।

वचनिका : अचेतन प्रधान के ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता है; क्योंकि स्तंभ, घट आदि अचेतन पदार्थ; ज्ञान-सहित कहीं भी नहीं दिखते हैं।।३७/२८५।।

अब, इस पद्य द्वारा इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **उक्त्वा स्वयमकर्तारं भोक्तारं चेतनं पुन:।**
भाषमाणस्य साङ्ख्यस्य न ज्ञानं विद्यते स्फुटम्।।३८/२८६।।

स्वयं ही अकर्ता कह चेतन को भोक्ता कहें।
कहने वाले सांख्यों के ज्ञान नहिं ऐसा लगे।।३८/२८६।।

शब्दश: अर्थ : उक्त्वा=कहकर; स्वयं=आपको; अकर्तारं=नहीं करनेवाला; भोक्तारं=भोगने वाला; चेतनं=चेतन; पुन:=फिर; भाषमाणस्य=कहनेवाले; साङ्ख्यस्य=सांख्य का; न=नहीं; ज्ञानं=ज्ञान; विद्यते=है; स्फुटं=व्यक्त।

अन्वय : स्वयं चेतनं अकर्तारं उक्त्वा पुन: चेतनं भोक्तारं भाषमाणस्य साङ्ख्यस्य स्फुटं ज्ञानं न विद्यते।

वचनिका : स्वयं ही चेतन को अकर्ता कहकर पुन: चेतन को भोक्ता कहने वाले सांख्य का ज्ञान प्रकट नहीं है; अज्ञानी है।

भावार्थ : सांख्य स्वयं ही आत्मा को अकर्ता कहते हैं; फिर उसी को भोक्ता बताते हैं। यह प्रकट/स्पष्ट अज्ञान है; क्योंकि अन्य करे और अन्य भोगे—यह बात असंभव है।।३८/२८६।।

इसप्रकार सांख्य-मत की मीमांसा हुई।

अब, वैशेषिक-मत की मीमांसा करते हैं।

सर्व गुणों से रहित हो जाना, मोक्ष है; इस श्रद्धान का अब, इस पद्य द्वारा निराकरण करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सकलैर्न गुणैर्मुक्त: सर्वथात्मोपपद्यते।**
न जातु दृश्यते वस्तु शशशृङ्गमिवागुणम्।।३९/२८७।।

सभी गुणों से मुक्त सर्वथा आतमा नहीं।
शशश्रृंग सम कोई निर्गुण वस्तु दिखे नहीं।।३९/२९७।।

शब्दश: अर्थ : सकलै:=सभी; न=नहीं; गुणै:=गुणों से; मुक्त:=रहित; सर्वथा=हमेशा/बिल्कुल भी; आत्मा=चेतन; उपपद्यते=सिद्ध होता है; न=नहीं; जातु=रंच-मात्र; दृश्यते=दिखता है; वस्तु=पदार्थ; शश-शृङ्गं=खरगोश के सींग; इव=समान; अगुणं=गुण-रहित।

अन्वय : आत्मा सकलै: गुणै: मुक्त: सर्वथा न उपपद्यते, शश-शृङ्गं इव अगुणं वस्तु जातु न दृश्यते।

वचनिका : समस्त गुणों से रहित सर्वथा आत्मा नहीं है; क्योंकि खरगोश के सींग-समान निर्गुण वस्तु, कभी भी नहीं दिखती है।

भावार्थ : गुणों का समूह ही गुणी है। गुण का सर्वथा अभाव होने पर गुणी का भी अभाव हो जाता है; अत: गुण-रहित मोक्ष कहना, मिथ्या है।।३९/२८७।।

ज्ञान और ज्ञानी का सर्वथा भेद माननेवालों का अब, इस पद्य द्वारा निरसन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न ज्ञानज्ञानिनोर्भेद: सर्वथा घटते स्फुटम्।**
सम्बन्धाभावतो नित्यं मेरुकैलाशयोरिव।।४०/२८८।।

सर्वथा ज्ञान ज्ञानी के भेद घटता है नहीं।
संबंध नहिं होने से मेरु कैलाश सम कहीं।।४०/२८८।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; ज्ञान-ज्ञानिनो:=ज्ञान और ज्ञानी के; भेद:=भिन्नता; सर्वथा=बिल्कुल भी; घटते=घटित होती है; स्फुटं=स्पष्ट; सम्बन्ध+अभावत:=संबंध का अभाव होने से; नित्यं=हमेशा; मेरु-कैलाशयो:=मेरु और कैलाश के; इव=समान।

अन्वय : सम्बन्ध-अभावत: मेरु-कैलाशयो: इव नित्यं ज्ञान-ज्ञानिनो: सर्वथा भेद: स्फुटं न घटते।

वचनिका : संबंध के अभाव से सर्वथा सुमेरु और कैलाश के समान, प्रकटपने ज्ञान और ज्ञानी का सर्वथा भेद नहीं बनता है।

भावार्थ : जैसे—मेरु और कैलाश भेदरूप हैं। उनके संबंध का अभाव है; उसीप्रकार ज्ञान और ज्ञानी का भेद मानने पर संबंध का अभाव आता है।।४०/२८८।।

अब, इस पद्य द्वारा समवाय से संबंध होने का खंडन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **समवायेन सम्बन्ध: क्रियमाणो न युज्यते।**
नित्यस्य व्यापिनस्तस्य सर्वत्राऽप्यविशेषत:।।४१/२८९।।

समवाय से संबंध किया जाना उचित नहीं।
नित्य व्यापी सर्वत्र वह सदा अविशेष ही।।४१/२८९।।

शब्दश: अर्थ : समवायेन=समवाय से; सम्बन्ध:=संबंध; क्रियमाण:=किया जाना; न=नहीं; युज्यते=उचित है; नित्यस्य=नित्य का; व्यापिन:=व्यापी का; तस्य=उसका; सर्वत्र=सब जगह; अपि=भी; अविशेषत:=अविशेष/सामान्य से।

अन्वय : नित्यस्य व्यापिन: तस्य सर्वत्र अपि अविशेषत: समवायेन क्रियमाण: सम्बन्ध: युज्यते न।

वचनिका : समवाय द्वारा किया गया संबंध उचित नहीं है; क्योंकि नित्य, व्यापक उस समवाय का सर्वत्र अविशेष है।

भावार्थ : नैयायिक, समवाय नामक पदार्थ को नित्य और व्यापक मानते हैं। उनसे आचार्य कहते हैं कि यदि समवाय द्वारा आत्मा और ज्ञान का संबंध होता है तो घट, पट आदि अचेतन पदार्थों में ज्ञान का संबंध क्यों नहीं हुआ? आप समवाय को नित्य, व्यापक और भेद-रहित मानते हैं। यदि घट, पटादि में समवाय का भेद मानोगे तो नित्य, व्यापक समवाय कहना नहीं बनेगा; अत: समवाय से संबंध मानना, मिथ्या है।।४१/२८९।।

अब, इस पद्य द्वारा समवाय की नित्यता और अनित्यता में दूषण देते हैं—

अनुष्टुभ् : **नित्यताऽनित्यता तस्य सर्वथा न प्रशस्यते।**
अभावादर्थनिष्पत्ते: क्रमतोऽक्रमतोऽपि वा।।४२/२९०।।

नित्यता क्षणिकता उसकी सर्वथा नहिं मान्य है।
अर्थ निष्पत्ति का युगपत् क्रम से भी अभाव से।।४२/२९०।।

शब्दश: अर्थ : नित्यता=स्थाई; अनित्यता=क्षणिकता; तस्य=उसकी; सर्वथा=पूर्णरूप से; न=नहीं; प्रशस्यते=स्वीकार करने-योग्य है; अभावात्=अभाव होने से; अर्थ-निष्पत्ते:=पदार्थ की निष्पत्ति का; क्रमत:=क्रम से; अक्रमत:=युगपत्; अपि=भी; वा=या।

अन्वय : क्रमत: वा अक्रमत: अपि अर्थ-निष्पत्ते: अभावात् तस्य नित्यता सर्वथा प्रशस्यते न।

वचनिका : उस समवाय का सर्वथा नित्यपना या अनित्यपना सराहने/अनुमोदना करने-योग्य नहीं है; क्योंकि क्रम से या युगपत् अर्थ की उत्पत्ति का अभाव है।

भावार्थ : समवाय को सर्वथा नित्य मानने में क्रम से या युगपत् अर्थ-क्रिया का अभाव आता है।।४२/२९०।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न नित्यं कुरुते कार्यं विकारानुपपत्तित:।**
नानित्यं सर्वथा नष्टमारोग्यं मृतवैद्यवत्।।४३–२९१।।

परिणमन असिद्धि से नित्य कार्य नहीं करे।
मृत–वैद्य निरोगीवत् नष्ट क्षणिक नहीं करे।।४३–२९१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; नित्यं=स्थाई; कुरुते=कर सकता है; कार्यं=कार्य को; विकार–अनुपपत्तित:=विशेष परिणमन की असिद्धि होने से; न=नहीं; अनित्यं=क्षणिक; सर्वथा=पूर्णतया; नष्टं=समाप्त; आरोग्यं=निरोगता को; मृत–वैद्यवत्=मृत्यु को प्राप्त वैद्य के समान।

अन्वय : विकार–अनुपपत्तित: नित्यं कार्यं न कुरुते, आरोग्यं मृत–वैद्य–वत् सर्वथा नष्टं अनित्यं कार्यं न कुरुते।

वचनिका : नित्य, कार्य को नहीं करता है; क्योंकि नित्य के विकार–विशेषरूप अवस्था की अनुपपत्ति है। जैसे—मृत–वैद्य निरोगता को नहीं करता है; उसीप्रकार स्वयं ही नष्ट हुआ, कार्य नहीं करता है; अत: नित्य और अनित्य—दोनों एकांत मिथ्या हैं।।४३/२९१।।

अब, इस पद्य द्वारा अमूर्तिकता के एकांत का खंडन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **नामूर्त: सर्वथा युक्त: कर्म–बन्ध–प्रसङ्गत:।**
नभसो न ह्यमूर्तस्य कर्मलेपो विलोक्यते।।४४/२९२।।

कर्म–बंध हुआ आत्मा सर्वथा नहिं अमूर्त है।
अमूर्त नभ को कर्मों का बंधन नहीं दिखे।।४४/२९२।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; अमूर्त:=मूर्त से रहित; सर्वथा=पूर्णतया; युक्त:=उचित; कर्म–बन्ध–प्रसङ्गत:–कर्मों के बंध का प्रसंग होने से; नभस:=आकाश का; न=नहीं; हि=वास्तव में; अमूर्तस्य=मूर्त से रहित का; कर्म–लेप=कर्मों का संबंध; विलोक्यते=देखा जाता है।

अन्वय : कर्म–बन्ध–प्रसङ्गत: (आत्मा) सर्वथा अमूर्त: युक्त: न; हि अमूर्तस्य नभस: कर्म–लेप: न विलोक्यते।

वचनिका : आत्मा को सर्वथा अमूर्त कहना, उचित नहीं है; क्योंकि कर्म–बंध का प्रसंग है। अमूर्त आकाश के कर्मों का लेप दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ : यदि आकाश–सम संसारी जीव भी सर्वथा अमूर्त हो तो जैसे—आकाश के कर्म–लेप नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के भी कर्म–बंध नहीं ठहरेगा; अत: इसे सर्वथा अमूर्त मानना, मिथ्या है।।४४/२९२।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **स यतो बन्धतोऽभिन्नो भिन्नो लक्षणतः पुनः।**
अमूर्तता ततस्तस्य सर्वथा नोपपद्यते।।४५/२९३।।

भिन्न लक्षण से फिर भी बंध से एकमेक है।
अतः अमूर्तता उसके सर्वथा नहीं सिद्ध है।।४५/२९३।।

शब्दशः अर्थ : सः=वह; यतः=क्योंकि; बन्धतः=बंध से; अभिन्नः=अभेद; भिन्नः=भेद; लक्षणतः=लक्षण से; पुनः=फिर/और; अमूर्तता=अमूर्तपना; ततः=इसलिए; तस्य=उसके; सर्वथा=पूर्णतया; न=नहीं; उपपद्यते=सिद्ध है।

अन्वय : सः यतः बन्धतः अभिन्नः पुनः लक्षणतः भिन्नः; ततः तस्य सर्वथा अमूर्तता न उपपद्यते।

वचनिका : क्योंकि वह आत्मा, बंध से कथंचित् अभिन्न है और लक्षण से भिन्न है; अतः उस आत्मा के सर्वथा अमूर्तपना सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ : बंध का लक्षण, जड़ता है। आत्मा का लक्षण, चैतन्य है। इसप्रकार लक्षण-भेद से आत्मा और बंध, भिन्न-भिन्न हैं; तथापि बंध-दृष्टि से अभिन्न हैं; क्योंकि बंध का निमित्त पाकर आत्मा के क्रिया होती है और आत्मा का निमित्त पाकर बंध का परिणमन होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध दिखाई देता है; अतः संसारी जीव को सर्वथा अमूर्त मानना, योग्य नहीं है।।४५/२९३।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **निर्बाधोऽस्ति ततो जीवः स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकः।**
कर्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मो ज्ञाता द्रष्टा तनुप्रमा।।४६/२९४।।

निर्बाध स्थिति जन्म व्यय स्वरूप अतः सदा।
कर्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्म ज्ञाता द्रष्टा तन-प्रमा।।४६/२९४।।

शब्दशः अर्थ : निर्बाधा=बाधा से रहित; अस्ति=है; ततः=इसलिए; जीवः=चेतन; स्थिति+उत्पत्ति-व्यय+आत्मकः=ध्रुवता, जन्म और विनाश-स्वरूप; कर्ता=करनेवाला; भोक्ता=भोगनेवाला; गुणी=गुणवान; सूक्ष्मः=इंद्रिय-अगोचर; ज्ञाता=जाननेवाला; द्रष्टा=देखनेवाला; तनु-प्रमा=वर्तमान शरीर-प्रमाण।

अन्वय : ततः जीवः निर्बाधः स्थिति-उत्पत्ति-व्यय-आत्मकः कर्ता भोक्ता गुणी सूक्ष्मः ज्ञाता दृष्टा तनुप्रमा अस्ति।

वचनिका : अतः जीव, बाधा-रहित है—इस विशेषण से शून्यवाद का निराकरण किया।

वह स्थिति, उत्पत्ति और विनाश-स्वरूप है। क्रम-भावी पूर्व पर्याय का नाश होता है; उत्तर पर्याय, उत्पन्न होती है और वर्तती सत्तारूप से स्थिर है—इसप्रकार युगपत् तीनों ही धर्मों से वह युक्त है। इस विशेषण द्वारा सर्वथा नित्य, कूटस्थ कहनेवालों का निराकरण किया।

निश्चय से चैतन्य भावों का और व्यवहार से पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता है—इन विशेषणों द्वारा आत्मा को सर्वथा अकर्ता और अभोक्ता माननेवालों का निराकरण किया।

आत्मा, सूक्ष्म है, इंद्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है—इस विशेषण द्वारा शरीररूप आत्मा को माननेवालों का निराकरण किया है। यह जाननेवाला, देखनेवाला है—इस विशेषण द्वारा ज्ञान-दर्शन से भिन्न आत्मा, माननेवालों का निराकरण किया। आत्मा शरीर-प्रमाण है—इस विशेषण द्वारा आत्मा को अणु-मात्र माननेवालों का निराकरण किया।।४६/२९४।।

अब, इस पद्य द्वारा तत्त्व-विचार का औचित्य सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्थिते प्रमाणतो जीवे परेऽप्यर्थाः स्थिता यतः।**
क्रियमाणा ततो युक्ता सप्ततत्त्वविचारणा।।४७/२९५।।

प्रमाण से सिद्धि चेतन हो तो अन्य पदार्थ की।
सिद्धि तब सात तत्त्वों की विचारणा भी उचित कही।।४७/२९५।।

शब्दशः अर्थ : स्थिते=स्थित/सिद्ध होने पर; प्रमाणतः=प्रमाण से; जीव में; परे=दूसरे; अपि=भी; अर्थाः=पदार्थ; स्थिताः=सिद्ध हो जाते हैं; यतः=क्योंकि; क्रियमाणाः=की गई; ततः=इसलिए; युक्ताः=उचित; सप्त-तत्त्व-विचारणा=सात तत्त्वों का विचार करना।

अन्वय : यतः प्रमाणतः जीवे स्थिते परे अर्थाः अपि स्थिताः; ततः क्रियमाणा सप्त-तत्त्व-विचारणा युक्ताः।

वचनिका : क्योंकि प्रमाण से जीव के सिद्ध हो जाने पर अन्य पदार्थ भी सिद्ध हो जाते हैं; अतः की गई सप्त तत्त्व की विचारणा उचित है।

भावार्थ : इसप्रकार पूर्वोक्त प्रमाण से जीव के सिद्ध हो जाने पर, अन्य भी पदार्थ, सिद्ध हो जाते हैं; अतः जीव के विकार का हेतु, अजीव है और दोनों की पर्यायें, आस्रव आदि पाँच तत्त्व और हैं, वे सिद्ध हुए।

पहले वादी ने कहा था कि जब जीव ही नहीं है, तब फिर तत्त्व का विचार करना, निरर्थक है। प्रस्तुत निरूपण द्वारा, उस कथन का निराकरण हो गया।।४७/२९५।।

आगे सर्वज्ञ का अभाव माननेवालों का निराकरण ग्यारह पद्यों द्वारा करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा वादी अपना पक्ष प्रस्तुत करता है—

अनुष्टुभ् : **परे वदन्ति सर्वज्ञः वीतरागः न दृश्यते।**
किञ्चिज्ज्ञत्वादशेषाणां सर्वथा रागवत्त्वतः।।४८/२९६।।
दूसरे कहें सर्वज्ञ वीतराग नहीं दिखें।
रागादि युत सदा रहने सभी के अल्प ज्ञान से।।४८/२९६।।

शब्दशः अर्थ : परे=अन्य-वादी; वदन्ति=कहते हैं; सर्वज्ञः=सभी को जाननेवाला; वीतरागः=रागादि से रहित; न=नहीं; दृश्यते=देखा जाता है; किञ्चित्=कुछ; ज्ञत्वात्=जानपना होने से; अशेषाणां=सभी के; सर्वदा=हमेशा; रागवत्त्वतः=रागवालापना होने से।

अन्वय : परे वदन्ति अशेषाणां सर्वदा किञ्चिज्ज्ञत्वात् रागवत्त्वतः सर्वज्ञः वीतरागः न दृश्यते।

वचनिका : कोई कहते हैं कि सर्वज्ञ और वीतराग दिखते नहीं हैं; क्योंकि सभी के किंचित् जानपना है और सदा काल रागवानपना है।

भावार्थ : कोई सर्वज्ञ और वीतराग नहीं हैं; क्योंकि सब जीव अल्पज्ञ और सरागी दिखते हैं।।४८/२९६।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा उसका निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **तदयुक्तं वचस्तेषां ज्ञानं सर्वार्थगोचरम्।**
न विना शक्यते कर्तुं सर्वेषु ज्ञानवारणम्।।४९/२९७।।
समस्ताः पुरुषा येन कालत्रितयवर्तिनः।
निश्चिताः स नरः शक्तः सर्वज्ञस्य निषेधने।।५०/२९८।।
उचित नहीं ऐसा कहना सब अर्थों को जानने।
वाले ज्ञान-विना सक्षम नहीं रोके अन्य में।।४९/२९७।।
त्रैकालिक सभी प्राणी सुनिश्चित ज्ञात हैं जिसे।
वही समर्थ है जग में सर्वज्ञ के निषेध में।।५०/२९८।।

शब्दशः अर्थ : तत्=वह; अयुक्तं=अनुचित; वचः=वचन; तेषां=उनका; ज्ञानं=ज्ञान; सर्व+अर्थ-गोचरं=सभी पदार्थों को जाननेवाला; न=नहीं; विना=रहित; शक्यते=समर्थ है; कर्तुं=करने के लिए; सर्वेषु=सभी में; ज्ञान-वारणं=ज्ञान का निषेध करनेवाला।

समस्ताः=सभी; पुरुषाः=पुरुष; येन=जिसके द्वारा; काल-त्रितय-वर्तिनः=तीन-कालवर्ती; निश्चिताः=निश्चित जान लिए हैं; सः=वह; नरः=पुरुष; शक्तः=समर्थ; सर्वज्ञस्य=सर्वज्ञ का; निषेधने=निषेध करने में।

अन्वय : तेषां तत् वच: अयुक्तं, सर्व-अर्थ-गोचरं ज्ञानं विना सर्वेषु ज्ञान-वारणं कर्तुं न शक्यते। येन काल-त्रितय-वर्तिन: समस्ता: पुरुषा: निश्चिता:, स: नर: सर्वज्ञस्य निषेधने शक्त:।

वचनिका : उनका वह पूर्वोक्त वचन अयुक्त है; क्योंकि सभी पदार्थों को विषय करनेवाले ज्ञान के विना, सभी में ज्ञान का निषेध करने को अन्य समर्थ नहीं है। जिसने काल-त्रयवर्ती समस्त पुरुष निश्चित किए हों, वही सर्वज्ञ का निषेध करने में समर्थ है।

भावार्थ : त्रिकालवर्ती समस्त पुरुषों को जाननेवाला, सर्वत्र सर्वज्ञ का निषेध कर सकता है; परंतु ऐसा जाननेवाला, तुम मानते नहीं हो और यदि मानते हो तो वही सर्वज्ञ हुआ; अत: सर्वज्ञ, वीतराग का निषेध करना, मिथ्या है।।४९-५०/२९७-२९८।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न चाभावप्रमाणेन शक्यते स निषेधितुम्।**
सर्वज्ञेऽतीन्द्रिये तस्य प्रवृत्तिविगमत्वत:।।५१/२९९।।

सर्वज्ञता अतींद्रिय में प्रवृत्ति नहिं अभाव की।
उस प्रमाण के द्वारा निषेधन में समर्थ नहिं।।५१/२९९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; च=और; अभाव-प्रमाणेन=अभाव-प्रमाण द्वारा; शक्यते=समर्थ है; स:=वह; निषेधितुं=निषेध करने के लिए; सर्वज्ञे=सर्वज्ञ में; अतीन्द्रिये=अतींद्रिय में; तस्य=उसका; प्रवृत्ति-विगमत्वत:=प्रवृत्ति का अभाव होने से।

अन्वय : च अतीन्द्रिये सर्वज्ञे तस्य प्रवृत्ति-विगमत्वत: अभाव-प्रमाणेन तस्य निषेधितुं स शक्यते न।

वचनिका : सर्वज्ञ और वीतराग का निषेध करने में अभाव प्रमाण द्वारा भी समर्थ नहीं होते हैं; क्योंकि अतींद्रिय सर्वज्ञ में उस अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति का अभाव है।

भावार्थ : निषेध करने-योग्य वस्तु और उसका आधार—इन दोनों का जिसे ज्ञान हो, वह आधार में आधेय को न देखकर आधेय का निषेध, अभाव प्रमाण द्वारा करता है। जैसे—कोई पृथ्वी और घट—दोनों को जानता है। वह पृथ्वी पर घट को न देखकर अभाव प्रमाण द्वारा घट का निषेध करता है कि इस पृथ्वी पर घड़ा नहीं है। सर्वज्ञ, अतींद्रिय है। उसमें इस अभाव प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। इसप्रकार अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ का निषेध करना, मिथ्या है।।५१/२९९।।

सर्वज्ञ की सिद्धि, अनुमान प्रमाण से होती है; अब, इस पद्य द्वारा ऐसा निर्देश देते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रमाणाभावतस्तस्य न च युक्तं निषेधनम्।**
अनुमानप्रमाणं हि साधकं तस्य विद्यते।।५२/३००।।

प्रमाण के नहीं होने से उसका निषेध नहिं।
उचित प्रमाण अनुमान उसका साधन नित्य ही।।५२/३००।।

शब्दश: अर्थ : प्रमाण+अभावत:=प्रमाण के नहीं होने से; तस्य=उस/सर्वज्ञ का; न=नहीं; च=और; युक्तं=उचित; निषेधनं=निषेध करना; अनुमान-प्रमाणं=अनुमान नामक प्रमाण; हि=वास्तव में; साधकं=सिद्ध करनेवाला; तस्य=उसका; विद्यते=है।

अन्वय : च तस्य साधकं अनुमान-प्रमाणं विद्यते, (अत:) हि प्रमाण-अभावत: तस्य निषेधनं युक्तं न।

वचनिका : प्रमाण के अभाव से उस सर्वज्ञ का निषेध करना, योग्य नहीं है; क्योंकि उस सर्वज्ञ का साधनेवाला, अनुमान-प्रमाण है।

भावार्थ : सर्वज्ञ-अभाववादी कहते हैं कि प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय, सर्वज्ञ नहीं है; क्योंकि वह इंद्रियों द्वारा ज्ञात नहीं होता है। वह अनुमान का भी विषय नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ का कुछ लिंग/चिन्ह दिखाई नहीं देता है।

आगम भी उसका सद्भाव सिद्ध नहीं करता है; क्योंकि आगम तो कर्म-कांड ही का कथन करता है। उसका, सर्वज्ञ को जानने का अयोग है तथा अनादि आगम, सादि पुरुष को कहनेवाला नहीं हो सकता है। यदि कहो कि अनित्य आगम, सर्वज्ञ को सिद्ध करता है तो उस सर्वज्ञ द्वारा कहे आगम की, सर्वज्ञ के निश्चय-विना प्रमाणता का अनिश्चय है तथा आगम की प्रमाणता होने पर सर्वज्ञ की प्रमाणता होती है और सर्वज्ञ की प्रमाणता होने पर आगम की प्रमाणता होती है—इसप्रकार इतरेतराश्रय दूषण भी आता है। असर्वज्ञ प्रणीत अप्रमाणभूत आगम से सर्वज्ञ को प्रमाणित करना, अत्यंत असंभव है।

सर्वज्ञ के समान अन्य पदार्थ का ग्रहण असंभव है; अत: उपमान-प्रमाण भी सर्वज्ञ को बतानेवाला नहीं है। इसप्रकार पाँचों ही प्रमाणों का विषय नहीं होने से अभाव-प्रमाण की ही प्रवृत्ति है; अत: उसका अभाव ही सिद्ध होता है।

उससे आचार्य कहते हैं कि ऐसा निषेध करना, उचित नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ का साधक अनुमान, विद्यमान है।।५२/३००।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी अनुमान का निरूपण है—

अनुष्टुभ् : **वीतरागोऽस्ति सर्वज्ञ: प्रमाणाबाधितत्वत:।**
सर्वदा विदित: सद्भि: सुखादिकमिव ध्रुवम्।।५३/३०१।।

प्रमाण अबाधित होने से राग विन सर्वज्ञ है।
सुखादिवत् संतों से सर्वदा ध्रुव ज्ञात है।।५३/३०१।।

शब्दश: अर्थ : वीतराग:=रागादि से रहित; अस्ति=है; सर्वज्ञ:=सब जाननेवाला; प्रमाण+अबाधितत्वत:=प्रमाण से बाधा-रहितपना होने के कारण; सर्वदा=हमेशा; विदित:=ज्ञात है; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; सुख+आदिकं=सुख आदि को; इव=समान; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : सुख-आदिकं इव सद्भि: सर्वदा ध्रुवं विदित: प्रमाण-अबाधितत्वत: वीतराग: सर्वज्ञ: अस्ति।

वचनिका : संतों द्वारा यह सर्वदा ज्ञात है कि वीतराग, सभी को जाननेवाला है; क्योंकि प्रमाण से अबाधितपना है; निश्चय से सुखादि के समान।

भावार्थ : जैसे—सुखादि, स्व-संवेदन-गोचर निर्बाध सिद्ध हैं; उसीप्रकार सर्वज्ञ, वीतराग भी प्रमाण-सिद्ध हैं।।५३/३०१।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **क्षीयते सर्वथा राग: क्वापि कारणहानित:।**
ज्वलनो हीयते क्लिन्न: काष्ठादीनां वियोगत:।।५४/३०२।।

कारण नष्ट होने पर राग नष्ट हुआ कहीं।
ईंधन नष्ट होने पर कष्टी अग्नि नष्ट ही।।५४/३०२।।

शब्दश: अर्थ : क्षीयते=समाप्त हो जाता है; सर्वथा=पूर्णतया; राग:=राग; क्व=कहीं; अपि=भी; कारण-हानित:=कारणों के नष्ट हो जाने से; ज्वलन:=अग्नि; हीयते=नष्ट हो जाती है; क्लिन्न:=क्लेशरूप; काष्ठ+आदीनां=लकड़ी आदि का; वियोगत:=अभाव हो जाने से।

अन्वय : कारण-हानित: क्व-अपि राग: सर्वथा क्षीयते, काष्ठादीनां वियोगत: क्लिन्न: ज्वलन: हीयते।

वचनिका : जैसे—काष्ठादि के वियोग से क्लेशरूप अग्नि क्षीण हो जाती है; उसीप्रकार किसी आत्मा में कारण की हानि से सभी प्रकार का राग भी क्षीण हो जाता है।

भावार्थ : जैसे—काष्ठादि के अभाव से अग्नि का अभाव हो जाता है; उसीप्रकार कर्मों के अभाव से राग का अभाव हो जाता है। यहाँ अतिशायन हेतु दिया है, उससे; किसी के किंचित् कर्म के अभाव से कुछ रागादि का अभाव देखा जाता है तो किसी के सभी कर्मों के अभाव से संपूर्ण राग का भी अभाव हो जाता है—ऐसा निश्चय किया है।।५४/३०२।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्वज्ञता का निश्चय कराते हैं —

अनुष्टुभ् : **प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं ज्ञानं क्वापि प्रपद्यते।**
परिमाणमिवाकाशे तारतम्योपलब्धितः।।५५/३०३।।

प्रकर्ष की प्रतिष्ठा को ज्ञान प्राप्त कहीं कभी।
तरतमता की प्राप्ति से नभ में सीमा समी।।५५/३०३।।

शब्दशः अर्थ : प्रकर्षस्य=वृद्धि की; प्रतिष्ठानं=उत्कृष्टता पर प्रतिष्ठित; ज्ञानं-ज्ञान; क्व-=कहीं; अपि=भी; प्रपद्यते=प्राप्त हो जाता है; परिमाणं=सीमा; इव=समान; आकाशे=आकाश में; तारतम्य+उपलब्धितः=हीनाधिकता की प्राप्ति होने से।

अन्वय : आकाशे परिमाणं इव तारतम्य-उपलब्धितः क्व अपि ज्ञानं प्रकर्षस्य प्रतिष्ठानं प्रपद्यते।

वचनिका : जैसे—आकाश में परिमाण की वृद्धि, सीमा को प्राप्त होती है; उसीप्रकार किसी आत्मा में ज्ञान, प्रकर्षरूप वृद्धि की प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाता है; क्योंकि तारतम्य की उपलब्धि है।

भावार्थ : जो तारतम्य-युक्त है, वह वृद्धि की सीमा को भी प्राप्त हो जाता है; इसलिए अनुमान किया कि ज्ञान का अंश बड़ता-बड़ता वह ज्ञान अपनी वृद्धि की सीमा को भी प्राप्त हो जाता होगा। जैसे—परमाणु एक प्रदेश-मात्र से बड़ता हुआ उत्कृष्टपने संपूर्ण आकाश में पहुँच जाता है। यह दृष्टांत दिया है—ऐसा जानना।।५५/३०३।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्वज्ञता-संपन्न व्यक्ति को सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रकर्षावस्थितिर्यत्र विश्वदृश्वा स गीयते।**
प्रणेता विश्वतत्त्वानां कषिताशेषकल्मषः।।५६/३०४।।

प्रकर्षावस्थिति जिसमें विश्वदृश्वा वही कहा।
सब रागादि से विरहित वह सकल जग जानता।।५६/३०४।।

शब्दशः अर्थ : प्रकर्ष+अवस्थितिः=वृद्धि की सर्वांग स्थिति; यत्र=जिसमें; विश्व-दृश्वा=विश्व को देखनेवाला; सः=वह; गीयते=कहलाता है; प्रणेता=जाननेवाला; विश्व-तत्त्वानां=विश्व में स्थित तत्त्वों का; कषित+अशेष-कल्मषः=सभी प्रकार के विकारों से रहित।

अन्वय : यत्र प्रकर्ष-अवस्थितिः कषित-अशेष-कल्मषः विश्व-तत्त्वानां प्रणेता सः विश्वदृश्वा गीयते।

वचनिका : जिसमें ज्ञान के बढ़ने की अवस्थिति, सीमा है, वह विश्वदर्शी है। वह कैसा है? समस्त तत्त्वों को जाननेवाला है और समस्त रागादि से पूर्णतया-रहित है।।५६/३०४।।

अब, इस पद्य द्वारा उस ज्ञान की श्रम-रहितता सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **बोध्यमप्रतिबन्धस्य बुध्यमानस्य न श्रमः।**
बोधस्य दहतः दाह्यं पावकस्येव विद्यते।।५७/३०५।।

प्रतिबंध विना ज्ञाता को श्रम नहीं है ज्ञेय को।
जानते अनल जैसे जलाता है दाह्य को।।५७/३०५।।

शब्दशः अर्थ : बोध्यं=जानने-योग्य/ज्ञेय को; अप्रतिबन्धस्य=आवरण-रहित; बुध्यमानस्य= जाननेवाले का; न=नहीं; श्रमः=मेहनत; बोधस्य=ज्ञान का; दहतः=जलाते हुए; दाह्यं=ईंधन को; पावकस्य=अग्नि का; इव=समान; विद्यते=है।

अन्वय : दाह्यं दहतः पावकस्य इव बोध्यं बुध्यमानस्य अप्रतिबन्धस्य बोधस्य श्रमः न विद्यते।

वचनिका : जैसे—जलने-योग्य काष्ठादि को जलाते हुए अग्नि को श्रम नहीं होता है; उसी प्रकार ज्ञेय को जानते हुए आवरण-रहित ज्ञान को श्रम नहीं होता है।।५७/३०५।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्वज्ञता का माहात्म्य वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अनुपदेश-सम्वादि लाभालाभादि-वेदनम्।**
समस्तज्ञमृतेऽन्यस्य मिलिङ्गे शोभते कथम्।।५८/३०६।।

विना कहे नहीं ज्ञात लाभालाभादि जानना।
सर्वज्ञ के विना अन्य कथन में नहिं शोभता।।५८/३०६।।

शब्दशः अर्थ : अनुपदेश-सम्वादि-लाभ-अलाभ-आदि-वेदनं=विना कहे ज्ञात नहीं होनेवाले अंतरित, दूर, सूक्ष्म, लाभ, अलाभ आदि को जानना; समस्त-ज्ञं=सभी को जाननेवाले ज्ञान को; ऋते=विना; अन्यस्य=दूसरे का; मिलिङ्गे=उपदेश में; शोभते=सुशोभित होता है; कथं=कैसे।

अन्वय : अनुपदेश-सम्वादि-लाभ-अलाभ-आदि-वेदनं समस्त-ज्ञं ऋते अन्यस्य मिलिङ्गे कथं शोभते?

वचनिका : सूक्ष्म, अंतरित, दूरवर्ती पदार्थों; लाभ, अलाभ इत्यादि को जानना; सर्वज्ञ के विना अन्य के उपदेश में कैसे सुशोभित हो सकता है? शोभित नहीं होता है।।५८/३०६।।

अब, यहाँ विविध मतों की मुख्यता से न्याय-शैली द्वारा वीतराग के ही सर्वज्ञता की सिद्धि को अठारह पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम अपौरुषेय वेद से सभी का उपदेश कहनेवाले का अब, इस पद्य द्वारा निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अपौरुषेयतो युक्तमेतदागमतो न च।**
युक्त्या विचार्यमाणस्य सर्वथा तस्य हानितः।।५९/३०७।।

विचार करने पर युक्ति से सब कुछ सिद्धि नहीं।
अतः अपौरुषेयागम से उपदेश उचित नहीं।।५९/३०७।।

शब्दशः अर्थ : अपौरुषेयतः=अपौरुषेय से; युक्तं=उचित; एतत्=यह; आगमतः=आगम से; न=नहीं; च=और; युक्त्या=युक्ति से; विचार्यमाणस्य=विचार करनेवाले का; सर्वथा=पूर्ण रूप से; तस्य=उसका; हानितः=हानि होने से।

अन्वय : च विचार्यमाणस्य तस्य युक्त्या सर्वथा हानितः अपौरुषेयतः आगमतः एतत् युक्तं न।

वचनिका : इन सभी का उपदेश, अपौरुषेय आगम से युक्त नहीं है; क्योंकि युक्ति द्वारा विचार करने पर उस आगम की सर्वथा हानि है।

भावार्थ : अपौरुषेय आगम, युक्ति द्वारा खंडित हो जाता है।।५९/३०७।।

अब, यही, इस पद्य द्वारा विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आगमोऽकृत्रिमः कश्चिन्न कदाचन विद्यते।**
तस्य कृत्रिमतस्तस्माद्विशेषानुपलम्भतः।।६०/३०८।।

कृत्रिम से पृथक् कुछ भी उसमें नहिं उपलब्ध है।
अतः अकृत्रिम आगम कभी कोई नहीं दिखे।।६०/३०८।।

शब्दशः अर्थ : आगमः=आगम; अकृत्रिमः=अनिर्मित; कश्चित्=कोई; न=नहीं; कदाचन =कभी; विद्यते=है; तस्य=उसका; कृत्रिमतः=बनाए गए से; तस्मात्=उससे; विशेष+ अनुपलम्भतः=भेद नहीं होने के कारण।

अन्वय : तस्य तस्मात् कृत्रिमतः विशेष-अनुपलम्भतः कश्चित् अकृत्रिमः आगमः कदाचन न विद्यते।

वचनिका : विना किया कोई आगम कदाचित् नहीं है; क्योंकि उसके, उस किए गए आगम से विशेष का अनुपलंभ है।

भावार्थ : जो शब्द, वेद में हैं; वे ही अन्य कृत्रिम आगम में हैं। दोनों में कुछ भेद दिखता नहीं है; अतः वेद को अकृत्रिम कहना, मिथ्या है।।६०/३०८।।

अब, इसी का इस पद्य द्वारा अन्य माध्यम से प्ररूपण है-

अनुष्टुभ् : **पश्यन्तो जायमानं यत्ताल्वादिक्रम-योगतः।**

वदन्त्यकृत्रिमं चेदमाश्चर्यं किमतः परम्।।६१/३०९।।

तालु-आदि के क्रम के योग से उत्पन्न को।

देखते अकृत्रिम कहना महा आश्चर्य न अन्य हो।।६१/३०९।।

शब्दशः अर्थ : पश्यन्तः=देखते हुए; जायमानं=प्रकट हुए; यत्=जो; तालु-आदि-क्रम-योगतः=तालु आदि के क्रम के योग से; वदन्ति=कहते हैं; अकृत्रिमं=विना बना; च=और; इदं=यह; आश्चर्यं=विस्मय; किं=क्या; अतः=इससे; परं=दूसरा।

अन्वय : च यत् तालु-आदि क्रम-योगतः जायमानं पश्यन्तः इदं अकृत्रिमं वदन्ति, अतः परं किं आश्चर्यम्?

वचनिका : तालु आदि के क्रम के योग से उत्पन्न हुआ देखते भी जो वेद को अकृत्रिम कहते हैं—इससे बड़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है?

भावार्थ : प्रत्यक्ष को भी अन्य प्रकार कहना; इसके अतिरिक्त और आश्चर्य क्या है? कुछ नहीं।।६१/३०९।।

आगे वादी कहता है कि अक्षर तो त्रिलोक-व्यापी नित्य ही हैं; परंतु उन्हें प्रकट करनेवाली वायु जब प्रकट होती है, तब वर्ण प्रकट होता है। अब, इसका निरसन आचार्य, इस पद्य द्वारा करते हैं—

अनुष्टुभ् : **त्रिलोकव्यापिनो वर्णा व्यज्यन्ते व्यञ्जकैरिति।**

न समा भाषिणी भाषा सर्वव्यक्तिप्रसङ्गतः।।६२/३१०।।

तीन लोक व्यापी वर्ण व्यंजक से प्रकट हुए।

प्रसंग हो सबकी व्यक्ति युगपत् पर नहीं बने।।६२/३१०।।

शब्दशः अर्थ : त्रि-लोक-व्यापिनः=तीनों लोकों में फैले; वर्णाः=अक्षर; व्यज्यन्ते=प्रकट होते हैं; व्यञ्जकैः=प्रकट करनेवाले के द्वारा; इति=इसप्रकार; न=नहीं; समा=योग्य; भाषिणी=कहनेवाली; भाषा=वाणी; सर्व-व्यक्ति-प्रसङ्गतः=सभी की प्रकटता का प्रसंग होने से।

अन्वय : सर्व-व्यक्ति-प्रसङ्गतः त्रि-लोक-व्यापिनः वर्णाः व्यञ्जकैः व्यज्यन्ते इति भाषिणी भाषा समा न।

वचनिका : तीन-लोक में व्यापक अक्षर, प्रकट करनेवाली वायुमय व्यंजक द्वारा प्रकट किए जाते हैं—ऐसी वाणी, यथार्थ कहनेवाली नहीं है; क्योंकि इससे सभी अक्षरों के व्यक्त होने का प्रसंग आता है।

भावार्थ : यदि त्रिलोक-व्यापी सभी वर्णों को उनकी अभिव्यंजक वायु प्रकट करती है; तब फिर जब वायु प्रकट करती है, तब सभी अक्षर सुनने में आना चाहिए; परंतु ऐसा तो बनता नहीं है; अत: तुम्हारा कहा हुआ, मिथ्या है।।६२/३१०।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **एकत्रभाविन: केचित् व्यज्यन्ते नापरे कथम्।**
न दीपव्यज्यमानानां घटादीनामयं क्रम:।।६३/३११।।
युगपत् रहने वाले कुछ प्रकट कुछ नहिं करे।
दीप व्यक्त घटादि सम ऐसा क्रम नहीं बने।।६३/३११।।

शब्दश: अर्थ : एकत्र=एक साथ; भाविन:=होनेवाले; केचित्=कोई; व्यज्यन्ते=प्रकट होते हैं; न=नहीं; अपरे=दूसरे; कथं=कैसे; न=नहीं; दीप-व्यज्यमानानां=दीपक द्वारा व्यक्त हुए; घट+आदीनां=घड़े आदि का; अयं=यह; क्रम:=क्रम।

अन्वय : एकत्र भाविन: केचित् व्यज्यन्ते अपरे कथं न व्यज्यन्ते? दीप-व्यज्यमानानां घटादीनां अयं क्रम: न।

वचनिका : एक ही स्थान पर रहनेवाले वर्णों में से कुछ प्रकट होते हैं और अन्य प्रकट कैसे/क्यों नहीं होते हैं? क्योंकि दीपक द्वारा प्रकट हुए घटादि में तो ऐसा क्रम नहीं होता है।

भावार्थ : एक स्थानवर्ती घट, पट आदि सभी पदार्थों को दीपक, प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं है कि घट को प्रकाशित करे और पट को प्रकाशित नहीं करे; उसीप्रकार यदि वायु अक्षरों को प्रकाशित करती है तो सभी को प्रकाशित करे। यहाँ तो कोई अक्षर सुनते हैं और कोई नहीं सुनते हैं; अत: वायु, अक्षरों को प्रकाशित करती है—ऐसा कहना, बनता नहीं है।।६३/३११।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **व्यञ्जकव्यतिरेकेण निश्चीयन्ते घटादय:।**
स्पर्शप्रभृतिभिर्जातु न वर्णाश्च कथञ्चन।।६४/३१२।।
व्यंजक विना घड़े आदि स्पर्शादि से भी कुछ।
जानें पर न जानें वर्ण अन्य साधन से भी कुछ।।६४/३१२।।

शब्दश: अर्थ : व्यञ्जक-व्यतिरेकेण=व्यंजक के विना; निश्चीयन्ते=निश्चय करते हैं; घट+आदय:=घड़े आदि; स्पर्श-प्रभृतिभि:=स्पर्श आदि से; जातु=रंच-मात्र; न=नहीं; वर्णा:=अक्षर; च=और; कथञ्चन=किसी भी प्रकार।

अन्वय : व्यञ्जक-व्यतिरेकेण स्पर्श-प्रभृतिभि: घट-आदय: निश्चीयन्ते च वर्णा: कथञ्चन जातु न निश्चीयन्ते।

वचनिका : व्यंजक के विना भी स्पर्शादि द्वारा घटादि पदार्थ, निश्चित कर लिए जाते हैं; परंतु वर्ण कभी भी किसी भी प्रकार से निश्चित नहीं होते हैं।

भावार्थ : घटादि पदार्थ, प्रकट करनेवाले के विना ही स्पर्शादि द्वारा निश्चित कर लेते हैं; परंतु सर्व-व्यापी वर्ण, नित्य होने पर भी उनका निश्चय कदाचित् किसी भी प्रकार नहीं होता है; अत: अक्षरों को सर्व-व्यापक, नित्य मानना, मिथ्या है।।३४/३१२।।

इस संदर्भ में उनके द्वारा परिवर्तित तथ्यों का अब, इस पद्य द्वारा खंडन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **व्यज्यन्ते व्यञ्जकैर्वर्णा न जन्यन्ते पुनर्ध्रुवम्।**
इत्यत्र विद्यते काचिन्न प्रमा वेद-वादिन:।।६५/३१३।।

व्यंजक से प्रकट वर्ण नहिं उत्पन्न हों नियम।
वेद-वादी प्रमा ऐसी यहाँ किंचित् न हो घटित।।६५/३१३।।

शब्दश: अर्थ : व्यज्यन्ते=प्रकट होते हैं; व्यञ्जकै:=व्यञ्जकों द्वारा; वर्णा:=अक्षर; न=नहीं; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; पुन:=फिर/और; ध्रुवं=निश्चित; इति=इसप्रकार; अत्र=यहाँ; विद्यते=है; काचित्=कुछ; न=नहीं; प्रमा=ज्ञान; वेद-वादिन:=वेद-वादी का।

अन्वय : व्यञ्जकै: वर्णा: व्यज्यन्ते, पुन: ध्रुवं जन्यन्ते न; इति वेद-वादिन: प्रमा अत्र काचित् न विद्यते।

वचनिका : प्रकट करनेवाले वायु आदि व्यंजकों द्वारा वर्ण प्रकट होते हैं, वास्तव में उत्पन्न नहीं होते हैं—ऐसी वेद-वादी की प्रमाणता यहाँ कुछ भी अर्थ नहीं रखती है।।६५/३१३।।

इसी संबंध में इस पद्य द्वारा कुछ और भी कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **विना सर्वज्ञ-देवेन वेदार्थ: केन कथ्यते।**
स्वयमेवेति नो वाच्यं सम्वादित्वाप्रसङ्गत:।।६६/३१४।।

सर्वज्ञ विन वेदों का अर्थ कौन बता सके।
स्वयं कहते नहीं कहना भला वक्तृत्व नहिं बने।।६६/३१४।।

शब्दश: अर्थ : विना=रहित; सर्वज्ञ-देवेन=सर्वज्ञ भगवान से; वेद+अर्थ:=वेद का अर्थ; केन=किसके द्वारा; कथ्यते=कहा जाता है; स्वयं=आप; एव=ही; इति=(ज्ञात हो जाता है) इसप्रकार; नो=नहीं; वाच्यं=कहना चाहिए; सम्वादित्व+अप्रसङ्गत:=भले वक्तापन का अप्रसंग होने से।

अन्वय : सर्वज्ञ-देवेन विना केन वेद-अर्थ: कथ्यते? सम्वादित्व-अप्रसङ्गत: स्वयं एव इति नो वाच्यम्।

वचनिका : आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ देव के विना वेद का अर्थ कौन कह सकता है? स्वयं ही कहा जाता है—ऐसा कहना, उचित नहीं है; क्योंकि भले वक्तापन का अप्रसंग आता है।

भावार्थ : सर्वज्ञ-विना वेद का अर्थ कहना, बनता नहीं है; क्योंकि सर्वज्ञ-विना अन्य का ज्ञान, प्रमाण नहीं है, कुछ का कुछ कह देता है। यदि वेद स्वयं ही अर्थ कहते हैं तो उनका कोई वक्ता नहीं ठहरा; तब यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है—ऐसा कौन कहे? क्योंकि वेद तो जड़ हैं; अत: वेद का स्वयं ही अर्थ कहना, मिथ्या है।।६६/३१४।।

असर्वज्ञों का ज्ञान, प्रमाण नहीं है; इसे अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **न पारम्पर्यतो ज्ञानमसर्वज्ञानां प्रवर्तते।**
समस्तानामिवान्धानां मूल-ज्ञानं विना कृतम्।।६७/३१५।।

ज्ञान असर्वज्ञों का नहीं वर्ते परंपरा।
से जैसे अंधों का करे नहिं मूल-ज्ञ विना।।६७/३१५।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; पारं-पर्यत:=परंपरा से; ज्ञानं=ज्ञान; असर्वज्ञानां=अल्पज्ञों का; प्रवर्तते=प्रवृत्ति करता है; समस्तानां=सभी; इव=समान; अन्धानां=अंधों का; मूल-ज्ञानं =मूल ज्ञान को; विना=रहित; कृतं=किया।

अन्वय : मूल-ज्ञानं विना समस्तानां अन्धानां कृतं इव, असर्वज्ञानां ज्ञानं पारम्पर्यतो न प्रवर्तते।

वचनिका : पुन: वह कहता है कि असर्वज्ञों का ज्ञान, परंपरा से सत्यार्थ प्रवर्तता है। उससे आचार्य कहते हैं कि सभी असर्वज्ञों का ज्ञान, परंपरा से प्रवृत्ति नहीं करता है। जैसे—मूल-ज्ञान के विना सभी अंधों का ज्ञान, कार्यरूप प्रवृत्ति नहीं करता है।

भावार्थ : बहुत से भी अंधे पुरुष परंपरा से चलें तो भी मूल ज्ञान के विना वांक्षित स्थान को प्राप्त नहीं होते हैं; उसीप्रकार परंपरा से भी अल्प-ज्ञानियों का वचन, प्रमाण नहीं है।।६७/३१५।।

अब, इस पद्य द्वारा वेद की अकृत्रिमता का निरसन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **कृत्रिमेष्वप्यनेकेषु न कर्ता स्मर्यते यत:।**
कर्तृस्मरणतो वेदो युक्तो नाकृत्रिमस्तत:।।६८/३१६।।

अनेक कृत्रिम कार्यों में कर्ता का स्मरण नहिं।
वेद कर्ता स्मृत से अकृत्रिमता योग्य नहिं।।६८/३१६।।

शब्दश: अर्थ : कृत्रिमेषु=बने हुओं में, अपि=भी; अनेकेषु=अनेकों में; न=नहीं; कर्ता=करनेवाला; स्मर्यते=स्मरण होता है; यत:=क्योंकि; कर्तृ-स्मरणत:=कर्ता का स्मरण होने से; वेद:=वेद; युक्त:=उचित है; न=नहीं; अकृत्रिम:=विना बना; तत:=इसलिए।

अन्वय : यत: अनेकेषु कृत्रिमेषु अपि कर्ता न स्मर्यते, कर्तृ-स्मरणत:, तत: वेद: अकृत्रिम: युक्त: न।

वचनिका : पुन: वह कहता है कि वेद का कर्ता किसी को स्मृत नहीं है; अत: वेद अकृत्रिम हैं। उससे आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि किए गए अनेक पदार्थों में भी कर्ता का स्मरण नहीं है; अथवा उसके कर्ता का स्मरण होने से वेद कृत्रिम-युक्त है।

भावार्थ : कोई कहता है कि वेद के कर्ता का स्मरण नहीं है; अत: वे अकृत्रिम हैं। उससे कहते हैं कि इसप्रकार से तो पुराने मंदिर, किए गए मोती इत्यादि के भी कर्ता का स्मरण नहीं है; अत: वे भी अकृत्रिम ठहरे। दूसरी बात यह है कि वेद के कर्ता तो ब्रम्हादि कहे हैं; इससे भी वे वेद कृत्रिम ही ठहरे; अत: वेद को अकृत्रिम कहना, मिथ्या है।।६८/३१६।।

धर्मेच्छु के लिए वेद, उपयोगी नहीं हैं; यह तथ्य अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **हिन्सा-वादकत्वेन न वेदो धर्म-काङ्क्षिभि:।**
वृकोपदेशवन्नूनं प्रमाणी-क्रियते बुधै:।।६९/३१७।।

हिंसा वादक होने से धर्मेच्छु ज्ञानी नहीं।
प्रमाण करते वेद वृक उपदेश वत् सभी।।६९/३१७।।

शब्दश: अर्थ : हिन्सा+आदि-वादकत्वेन=हिंसा आदि को कहनेवाला होने से; न=नहीं; वेद:=वेद; धर्म-काङ्क्षिभि:=धर्म की इच्छा रखनेवाले; वृक+उपदेश-वत्=खारपटिक उपदेश के समान; नूनं=निश्चितरूप में; प्रमाणी-क्रियते=प्रमाण/स्वीकार किया जाता है; बुधै:=ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : नूनं वृक-उपदेश-वत् हिन्सा-वादकत्वेन धर्म-काङ्क्षिभि: बुधै: प्रमाणी-क्रियते न।

वचनिका : वास्तव में खारपटिक के उपदेश के समान, हिंसादि के उपदेशक होने से, धर्म के वांक्षक पंडितों द्वारा वेद, प्रमाण करना, योग्य नहीं है।।६९/३१७।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक वीतराग, सर्वज्ञ की श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **वीतरागश्च सर्वज्ञो जिन एवावशिष्यते।**
अपरेषामशेषाणां रागद्वेषादिदृष्टित:।।७०-३१८।।

राग-द्वेषादि दृष्टि-युत सभी अन्यों के बीच में।
वीतराग सकलज्ञ जिन शरणदा शेष हैं।।७०/३१८।।

शब्दश: अर्थ : वीतराग:=रागादि-रहित; च=और; सर्वज्ञ:=सब कुछ जाननेवाले; जिन:=जितेंद्रिय; एव=ही; अवशिष्यते=शेष रहते हैं; अपरेषां=अन्यों के; अशेषाणां=सभी के; राग-द्वेष+आदि-दृष्टित:=राग, द्वेष आदि सहित दृष्टि होने से।

अन्वय : अपरेषां अशेषाणां राग-द्वेष-आदि-दृष्टित: वीतराग: च सर्वज्ञ: जिन: एव अवशिष्यते।

वचनिका : इसप्रकार वीतराग और सर्वज्ञ जिनेंद्र ही शेष रह जाते हैं; क्योंकि अन्य सभी के राग, द्वेषादि-युक्त दृष्टि है।।७०/३१८।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य देवों में इन विशेषताओं का अभाव बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **न विरागा न सर्वज्ञा ब्रम्हविष्णुमहेश्वरा:।**
राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोहादि-योगत:।।७१/३१९।।

राग द्वेष अहं क्रोध लोभ मोहादि युक्त ही।
महेश ब्रम्हा विष्णु विरागी सर्वज्ञ नहिं।।७१/३१९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; विरागा:=रागादि से रहित; न=नहीं; सर्वज्ञा:=सब जाननेवाले; ब्रम्ह-विष्णु-महेश्वरा:=ब्रम्हा, विष्णु और महेश; राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह+आदि-योगत:=राग, द्वेष, घमंड, क्रोध, लोभ, मोह आदि से सहित होने के कारण।

अन्वय : राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-आदि-योगत: ब्रम्ह-विष्णु-महेश्वरा: विरागा: न, सर्वज्ञा: न।

वचनिका : ब्रम्हा, विष्णु, महेश्वर वीतरागी नहीं हैं, सर्वज्ञ नहीं हैं; क्योंकि राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि से सहित हैं।।७१/३१९।।

अब, इस पद्य द्वारा उनकी असर्वज्ञता को सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **रागवन्तो न सर्वज्ञा यथा प्रकृतिमानवा:।**
रागवन्तश्च ते सर्वे न सर्वज्ञास्तत: स्फुटम्।।७२/३२०।।

रागी सर्वज्ञ नहिं होते जैसे संसारी सभी।
रागी वे सभी इससे नहिं सर्वज्ञ व्यक्त ही।।७२/३२०।।

शब्दश: अर्थ : रागवन्त:=रागवान; न=नहीं; सर्वज्ञा:=सकलज्ञ; यथा=जैसे; प्रकृति-मानवा:=संसारी प्राणी; रागवन्त:=रागवान; ते=वे; सर्वे=सभी; न=नहीं; सर्वज्ञा:=सकलज्ञ; तत:=इसलिए; स्फुटं=प्रकट।

अन्वय : रागवन्त: सर्वज्ञा: न, यथा प्रकृतिमानवा:; च ते सर्वे स्फुटं रागवन्त:, तत: सर्वज्ञा: न।

वचनिका : राग-सहित सर्वज्ञ नहीं होते हैं; जैसे—संसारी मनुष्य। ब्रम्हा आदि वे सभी, राग-सहित हैं; अत: प्रकटपने सर्वज्ञ नहीं हैं।।७२/३२०।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक ब्रम्हादि की सदोषता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आश्लिष्टास्तेऽखिलैर्दोषै: कामकोपभयादिभि:।**
आयुध-प्रमदा-भूषा-कमण्डल्वादि-योगत:।।७३/३२१।।
काम क्रोध भयादि सब दोषों से संयुक्त वे।
कमंडलु आयुध भूषा स्त्री आदि योग से।।७३/३२१।।

शब्दश: अर्थ : आश्लिष्टा:=ओत-प्रोत; ते=वे; अखिलै:=संपूर्ण; दोषै:=दोषों से; काम-कोप-भय+आदिभि:=काम, क्रोध, भय आदि से; आयुध-प्रमदा-भूषा-कमण्डलु-आदि-योग-त:=अस्त्र-शस्त्र, स्त्री, आभूषण, कमंडलु आदि का संयोग होने से।

अन्वय : आयुध-प्रमदा-भूषा-कमण्डलु-आदि-योगत: ते काम-कोप-भय-आदिभि: अखिलै: दोषै: आश्लिष्टा:।

वचनिका : ब्रम्हा आदि; काम, क्रोध, भय इत्यादि सभी दोषों से युक्त हैं; क्योंकि वे आयुध, स्त्री, आभूषण, कमंडलु आदि से सहित हैं।।७३/३२१।।

कौन-सा संयोग, किसका सूचक है? अब, इस पद्य द्वारा उसका उत्तर देते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रमदा भाषते कामं द्वेषमायुधसङ्ग्रह:।**
अक्षसूत्रादिकं मोहं शौचाभावं कमण्डलु:।।७४/३२२।।
स्त्री काम को कहती आयुध संग्रह द्वेष को।
मोह को अक्ष-सूत्रादि कमंडलु अशौच को।।७४/३२२।।

शब्दश: अर्थ : प्रमदा=स्त्री; भाषते=कहती है; कामं=विषय-वासना को; द्वेषं=द्वेष को; आयुध-सङ्ग्रह:=अस्त्र-शस्त्र का धारण; अक्ष-सूत्र+आदिकं=अक्ष-माला, यज्ञोपवीत आदि; मोहं=मोह को; शौच+अभावं=पवित्रता के अभाव को; कमण्डलु:=कमंडलु।

अन्वय : प्रमद: कामं, आयुध-सङ्ग्रह: द्वेषं, अक्ष-सूत्र-आदिकं मोहं, कमण्डलु: शौच-अभावं भाषते।

वचनिका : स्त्री, काम/विषय-वासना को कहती है; आयुध का धारण, द्वेष-भाव को बताता है; माला, यज्ञोपवीत आदि, मोह-भाव को दिखाते हैं और कमंडलु, पवित्रता के अभाव को व्यक्त करता है।

भावार्थ : यदि कामादि विकार नहीं हों तो स्त्री आदि किसलिए रखें? अत: स्त्री आदि, कामादि विकारों को ब्रम्हादि में प्रकट दिखाते हैं—ऐसा जानना।।७४/३२२।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा पुरुषाद्वैत-वादी का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **परम: पुरुष: नित्य: सर्वदोषैरपाकृत:।**
तस्यैतेऽवयवा: सर्वे रागद्वेषादिभागिन:।।७५/३२३।।
नैवाधिरोचते भाषा विचारोद्यतचेतसाम्।
रागित्वेऽवयवानां हि नीरागोऽवयवी कुत:।।७६/३२४।।

परम पुरुष है नित्य सभी दोषों से रहित।
उसके ये सब अवयव राग द्वेषादि से सहित।।७५/३२३।।
विचारवान व्यक्ति को यह भाषा रुचे नहीं।
अवयव रागी होने पर अवयवी नीराग नहिं।।७६/३२४।।

शब्दश: अर्थ : परम:=उत्कृष्ट; पुरुष:=आत्मा; नित्य:=स्थाई; सर्व-दोषै:=सभी दोषों से; अपाकृत:=रहित; तस्य=उसका; एते=ये; अवयवा:=अंश; सर्वे=सभी; राग-द्वेष+आदि-भाजिन:=राग, द्वेष आदि के पात्र।

न=नहीं; एव=ही; अधिरोचते=रुचती है; भाषा=वाणी; विचार+उद्यत-चेतसां= विचार करने में प्रयत्न-शील मनवाले; रागित्वे=रागीपने में; अवयवानां=अवयवों के; हि=वास्तव में; नीराग:=राग-रहित; अवयवी=अंशी; कुत:=कैसे।

अन्वय : नित्य: सर्व-दोषै: अपाकृत: परम: पुरुष:, एते सर्वे राग-द्वेष-आदि-भाजिन: तस्य अवयवा:। हि अवयवानां रागित्वे अवयवी नीराग: कुत:? (अत: इति) भाषा विचार-उद्यत-चेतसां अधिरोचते न एव।

वचनिका : पर-वादी कहते हैं कि परम-पुरुष, नित्य और सभी दोषों से रहित है। राग-द्वेष को भजनेवाले ये ब्रम्हादि सभी, उसके अंग हैं।

आचार्य उससे कहते हैं कि यह वाणी, विचार में उद्यमी मनवाले पुरुषों को अच्छी नहीं लगती है; क्योंकि अंगों के रागीपना होने पर अंगी, वीतराग कैसे रह सकता है?।।७५-७६/३२३-३२४।।

आगे, वैशेषिक, लोक का कर्ता, ईश्वर को मानते हैं। यहाँ आठ पद्यों द्वारा उसे स्पष्ट करते हैं।

उसमें सर्व-प्रथम तीन पद्यों द्वारा वे अपना पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुभ् : **बुद्धिमद्धेतुकं विश्वं कार्यत्वात्कलशादिवत्।**
बुद्धिमान् तस्य यः कर्ता कथ्यते स महेश्वरः।।७७/३२५।।
न विना शम्भुना नूनं देहद्रुमनगादयः।
कुलालेनेव जायन्ते विचित्राः कलशादयः।।७८/३२६।।
ततोऽस्ति जगतः कर्ता विश्वदृश्वा महेश्वरः।
वचनं युज्यते नेदं चिन्त्यमानं विचक्षणैः।।७९/३२७।।

घटादि-वत् कार्यत्व से जग बुद्धिमान कृत।
बुद्धिमान जो कर्ता उसका वह महेश्वर।।७७/३२५।।
शंभु के विना तन तरु पर्वत आदि हों नहीं।
ज्यों विचित्र कुंभादि कुलाल विन हों नहीं।।७८/३२६।।
अतः जगत का कर्ता विश्वदर्शी महेश ही।
पर विचक्षण चिंतन से ऐसे वचन उचित नहीं।।७९/३२७।।

शब्दशः अर्थ : बुद्धिमत्-हेतुकं=बुद्धिमान कारणवाला; विश्वं=जगत; कार्यत्वात्=कार्यपना होने से; कलश+आदि-वत्=घड़े आदि के समान; बुद्धिमान्=सकल ज्ञान-संपन्न; तस्य=उसका; यः=जो; कर्ता=करनेवाला; कथ्यते=कहा जाता है; सः=वह; महेश्वरः= महान सामर्थ्य-संपन्न भगवान।

न=नहीं; विना=रहित; शम्भुना=ईश्वर से; नूनं=वास्तव में; देह-द्रुम-नग+आदयः= शरीर, वृक्ष, पर्वत आदि; कुलालेन=कुंभकार द्वारा; इव=समान; जायन्ते=उत्पन्न होते हैं; विचित्राः=अनेक प्रकार के; कलश+आदयः=घड़े आदि।

ततः=इसलिए; अस्ति=है; जगतः=विश्व का; कर्ता=करनेवाला; विश्व-दृश्वा= विश्व को देखनेवाला; महेश्वरः=भगवान; वचनं=वाणी; युज्यते=उचित है; न=नहीं; इदं=यह; चिन्त्यमानं=विचार करती हुई; विचक्षणैः=चतुर व्यक्तिओं द्वारा।

अन्वय : विश्वं बुद्धिमत्-हेतुकं कार्यत्वात् कलश-आदि-वत्, यः बुद्धिमान् सः महेश्वरः तस्य कर्ता कथ्यते। कुलालेन विचित्राः कलश-आदयः इव नूनं शम्भुना विना देह-द्रुम-नग-आदयः न जायन्ते; ततः जगतः कर्ता विश्व-दृश्वा महेश्वरः अस्ति; विचक्षणैः चिन्त्यमानं इदं वचनं न युज्यते।

वचनिका : विश्व, बुद्धिमान-हेतुक (कारणवाला) है अर्थात् बुद्धिमान के निमित्त से उत्पन्न हुआ है; क्योंकि लोक के कार्यपना है। जो-जो कार्य है, वह-वह बुद्धिमान के निमित्त से उत्पन्न हुआ है; जैसे—घटादि। इस लोक का जो बुद्धिमान कर्ता है, वह महेश्वर है।

जैसे—कुंभकार के विना अनेक प्रकार के घड़े आदि उत्पन्न नहीं होते हैं; उसीप्रकार वास्तव में ईश्वर के विना शरीर, वृक्ष, पर्वत आदि उत्पन्न नहीं होते हैं; अत: जगत का कर्ता, सर्व-दर्शी महेश्वर है। उससे आचार्य कहते हैं कि पंडितों द्वारा विचार किया गया यह वचन, युक्त नहीं है।।७७-७९/३२५-३२७।।

अब, इसे ही इन पाँच पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **कार्यत्वादित्ययं हेतुस्तस्य साधयते यथा।**
बुद्धिमत्त्वं तथा तस्य देहवत्वमपि ध्रुवम्।।८०/३२८।।
नाशरीरी मया दृष्टः कुम्भकारः क्वचित् यतः।
कुलालस्तस्य दृष्टान्तस्ततो ब्रूते सदेहताम्।।८१/३२९।।
सदेहस्य च कर्तृत्वे सोऽस्मदादिसमो यतः।
दृश्यतां प्रतिपद्येत कुम्भकारादिवत्ततः।।८२/३३०।।
भुवनं क्रियते तेन विनोपकरणैः कथम्।
कृत्वा निवेश्यते कुत्र निरालम्बे विहायसि।।८३/३३१।।
विचेतनानि भूतानि सिसृक्षावशतः कथम्।
विनिर्माणाय विश्वस्य वर्तते तस्य कथ्यताम्।।८४/३३२।।

कार्यता से यह हेतु बुद्धिमत्ता को साधता।
देहवत्त्व है उसके यह भी निश्चित साधता।।८०/३२८।।
नहिं देखा है अशरीरी कुंभकार करे घड़ा।
अत: कुलाल दृष्टांत कहता उसकी देहता।।८१/३२९।।
सशरीरी के कर्तापन हम लोगों जैसा हुआ।
अत: कुलाल आदि सम दिखने-योग्य हो गया।।८२/३३०।।
उपकरण विना उसने लोक को कैसे किया?
उन्हें बना निराधार नभ में उसने कहाँ रखा?।।८३/३३१।।
उसकी इच्छा के वश से अचेतन भूत लोक के।
निर्माण हेतु कैसे वर्तते यह कहो मुझे?।।८४/३३२।।

शब्दश: अर्थ : कार्यत्वात्=कार्यपना होने से; इति=इसप्रकार; अयं=यह; हेतु:=कारण; तस्य=उसका; साधयते=सिद्ध करता है; यथा=जैसे; बुद्धिमत्त्वं=बुद्धिमानपना; तथा=उसी प्रकार; तस्य=उसका; देहत्वं=शरीरपना; अपि=भी; ध्रुवं=निश्चित।

न=नहीं; अशरीरी=शरीर-रहित; मया=मेरे द्वारा; दृष्ट:=देखा गया; कुम्भकार:=घड़ा बनानेवाला; क्वचित्=कहीं; यत:=क्योंकि; कुलाल:=कुंभकार; तस्य=उसका; दृष्टान्त:= घटना; तत:=इसलिए; ब्रूते=कहा है; सदेहतां=शरीर-सहितपने को।

सदेहस्य=देह-सहित का; च=और; कर्तृत्वे=कर्तापने में; स:=वह; अस्मत्:+आदि-सम:=हम लोगों आदि के समान; यत:=क्योंकि; दृश्यतां=देखने-योग्यपने को; प्रतिपद्येत= प्राप्त होता है; कुम्भकार-आदि-वत्=कुलाल आदि के समान; तत:=इसलिए।

भुवनं=लोक को; क्रियते=किया जाता है; तेन=उससे; विना=रहित; उपकरणै:=साधनों से; कथं=कैसे; कृत्वा=करके; निवेश्यते=रखता है; कुत्र=कहाँ; निरालम्बे=निराधार; विहायसि=आकाश में।

विचेतनानि=अचेतन; भूतानि=पृथ्वी आदि भूत; सिसृक्षा-वशत:=सृष्टि को बनाने की इच्छा के वश से; कथं=कैसे; विनिर्माणाय=बनाने के लिए; विश्वस्य=लोक का; वर्तते=वर्तता है; तस्य=उसका; कथ्यतां=कहो।

अन्वय : कार्यत्वात् इति अयं हेतु: यथा तस्य बुद्धिमत्त्वं साधयते तथा तस्य देहत्वं अपि ध्रुवं साधयते; यत: क्वचित् अशरीरी कुम्भकार: मया न दृष्ट: तत: तस्य कुलाल: दृष्टान्त: सदेहतां ब्रूते; च यत: सदेहस्य कर्तृत्वे स: अस्मत्-आदि-सम: तत: कुम्भकार-आदि-वत् दृश्यतां प्रतिपद्यते। तेन विना उपकरणै: भुवनं कथं क्रियते कृत्वा निरालम्बे विहायसि कुत्र निवेश्यते। सिसृक्षा-वशत: तस्य विश्वस्य विनिर्माणाय विचेतनानि भूतानि कथं वर्तते; कथ्यताम्।

वचनिका : आचार्य कहते हैं कि जैसे—यह 'कार्य' हेतु ईश्वर के बुद्धिमानपना को सिद्ध करता है; उसीप्रकार वास्तव में देहवानपने को भी सिद्ध करता है; क्योंकि शरीर-रहित कुंभकार को मैंने कहीं नहीं देखा है; अत: कुंभकार का दृष्टांत, ईश्वर के सदेहपने को कहता है। देह-सहित के कर्तापना होने पर वह हमारे आदि-जैसा हुआ; अत: वह ईश्वर कुंभकारादि के समान देखने-योग्यपने को प्राप्त हुआ। उपकरण के विना उसने लोक कैसे किया और करके निराधार आकाश में कहाँ रखा?

वह कहता है कि उनकी उत्पन्न करने की इच्छा होने पर पृथ्वी आदि लोक को रचते

हैं। उससे कहते हैं कि उनकी उत्पन्न करने की इच्छा के वश से पृथ्वी आदि अचेतनभूत, लोक को बनाने के लिए किस प्रकार प्रवृत्ति करते हैं? उसे कहिए; अत: लोक का कर्ता ईश्वर मानना, मिथ्या है।।८०-८४/३२८-३३२।।

इससे आगे छह पद्यों द्वारा बौद्धों का निरसन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा बुद्ध के सर्वज्ञता का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **बुद्धोऽपि न समस्तज्ञ: कथ्यते तथ्यवादिभि:।**
प्रमाणादिविरुद्धस्य शून्यत्वादेर्निवेदनात्।।८५/३३३।।

बुद्ध को भी सर्वज्ञ तथ्यवादी नहीं कहें।
प्रमाणादि से उल्टे शून्यता आदि ज्ञान से।।८५/३३३।।

शब्दश: अर्थ : बुद्ध:=गौतम बुद्ध; अपि=भी; न=नहीं; समस्त-ज्ञ:=सभी को जाननेवाला; कथ्यते=कहा गया है; तथ्य-वादिभि:=यथार्थ कहनेवालों द्वारा; प्रमाण+आदि-विरुद्धस्य= प्रमाण आदि से विरुद्ध का; शून्यत्व-आदे:=शून्यपना आदि का; निर्वेदनात्=ज्ञान करानेवाला होने से।

अन्वय : बुद्ध: अपि समस्त-ज्ञ: न प्रमाणादि-विरुद्धस्य शून्यत्व-आदे: निर्वेदनात् (इति) तथ्य-वादिभि: कथ्यते।

वचनिका : तथ्यवादिओं द्वारा बुद्ध भी सर्वज्ञ नहीं कहे गए हैं; क्योंकि वे प्रमाणादि से विरुद्ध शून्यपना आदि बताते हैं।।८५/३३३।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा यह प्ररूपित है कि सर्वथा शून्यत्व किसी भी माध्यम से सिद्ध नहीं होता है—

अनुष्टुभ् : **प्रमाणेनाप्रमाणेन सर्व-शून्यत्व-साधने।**
विकल्पद्वयमायाति कोकयुग्ममिवाम्भसि।।८६/३३४।।
साधनेऽस्य प्रमाणेन सर्वशून्य-व्यतिक्रम:।
अङ्गीकृते प्रमाणस्य तन्निषेधविधायिन:।।८७/३३५।।
प्रमाण-व्यतिरेकेण सर्वशून्यत्व-साधने।
सर्वस्य चिन्तितं सिद्ध्येत्तत्त्वं केन निषिध्यते।।८८/३३६।।

सर्व शून्यत्व साधन में अप्रमाण प्रमाण से।
दो विकल्प प्रकट होते जल में चकवा युगल-से।।८६/३३४।।
प्रमाण द्वारा साधन में सर्व शून्यत्व नष्ट ही।
अंगीकृत किया क्योंकि प्रमाण शून्य-निषेधिकी।।८७/३३५।।

प्रमाण के विना सब ही शून्यता की सिद्धि में।
सिद्ध हों सबके तत्त्व रोकोगे किससे उन्हें।।८८/३३६।।

शब्दश: अर्थ : प्रमाणेन=प्रमाण से; अप्रमाणेन=अप्रमाण से; सर्व-शून्यत्व-साधने=सभी की शून्यता के साधन में; विकल्प-द्वयं=दो विकल्प/तथ्य; आयाति=व्यक्त होता है; कोक-युग्मं=चकवा-युगल को; इव=समान; अम्भसि=जल में। साधने=साधन में; अस्य=इसका; प्रमाणेन=प्रमाण द्वारा; सर्व-शून्य-व्यतिक्रम:=संपूर्ण शून्यता का अभाव; अङ्गीकृते=स्वीकार कर लेने पर; प्रमाणस्य=प्रमाण का; तत्-निषेध-विधायिन:=उसका निषेध करनेवाला।

प्रमाण-व्यतिरेकेण=प्रमाण के विना; सर्व-शून्यत्व-साधने=सभी की शून्यता सिद्ध करने पर; सर्वस्य=सबका; चिन्तितं=सोचा/माना गया; सिद्ध्येत्=सिद्ध हो जाएगा; तत्त्वं=वस्तु आदि का स्वरूप; केन=किसके द्वारा; निषिध्यते=निषेध किया जाएगा।

अन्वय : प्रमाणेन अप्रमाणेन सर्व-शून्यत्व-साधने अम्भसि कोक-युग्मं इव विकल्पद्वयं आयाति। प्रमाणेन अस्य साधने तत् निषेध-विधायिन: प्रमाणस्य अङ्गीकृते सर्व-शून्य-व्यतिक्रम:। प्रमाण-व्यतिरेकेण सर्व-तत्त्व-साधने सर्वस्य चिन्तितं तत्त्वं सिद्ध्येत् केन निषिध्यते।

भावार्थ : *प्रमाण से अथवा अप्रमाण से सभी की शून्यता को सिद्ध करने में, जल में चक्रवाक/चकवा-युगल के समान दो विकल्प/पक्ष/तथ्य आते हैं। वे इसप्रकार — प्रमाण से सर्व-शून्यता को सिद्ध करने पर (तो) सर्व-शून्यता का ही व्यतिक्रम/अभाव हो जाता है; क्योंकि उन बौद्धों ने उस शून्यता का निषेध करनेवाले प्रमाण को अंगीकार कर लिया है।

यदि प्रमाण के विना ही सर्व-शून्यता को वे सिद्ध करते हैं; तब फिर सभी के स्व-कल्पित/मान्य तत्त्व सिद्ध हो जाएंगे; प्रमाण के विना उनका निषेध किससे किया जा सकेगा।

भाव यह है कि सर्वथा सर्व-शून्यता किसी भी माध्यम से सिद्ध नहीं होती है।।८६-८८/३३४-३३६।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक सर्वथा क्षणिक का निरसन करते हैं —

---

* मुझे उपलब्ध हस्तलिखित और प्रकाशित वचनिका में ये पद्य छूटे होने से इनकी वचनिका उपलब्ध नहीं हैं; अत: मुझ अनुवादिका ने यह अर्थ लिखा है। शोधार्थिओं से नम्र निवेदन है कि अन्यत्र शोधकर वे उसे ही प्रस्तुत कर मुझे अनुग्रहीत करेंगे।

अनुष्टुभ् : **सर्वत्र सर्वथा तत्त्वे क्षणिके स्वीकृते सति।**
फलेन सह सम्बन्धो धार्मिकस्य कुतस्तन:।।८९/३३७।।
सर्वथा तत्त्व सर्वत्र क्षणिक यों स्वीकार में।
फल के साथ धार्मिक का संबंध कैसे बने?।।८९/३३७।।

शब्दश: अर्थ : सर्वत्र=सब जगह; सर्वथा=पूर्णरूप से; तत्त्वे=वस्तु-स्वरूप में; क्षणिके=अनित्य; स्वीकृते=स्वीकार; सति=होने पर; फलेन=फल/परिणाम से; सह=साथ; सम्बन्ध:=संबंध; धार्मिकस्य=धर्मात्मा का; कुतस्तन:=किस प्रकार से।

अन्वय : तत्त्वे सर्वत्र सर्वथा क्षणिके स्वीकृते सति धार्मिकस्य फलेन सह सम्बन्ध: कुतस्तन:।

वचनिका : सब जगह, सभी प्रकार से तत्त्व को क्षणिक अंगीकार करने पर धर्मात्मा-जीव का फल से सहित संबंध कहाँ से होगा?

भावार्थ : तत्त्व को सभी प्रकार से क्षणिक मानने पर धर्मात्मा-जीव, धर्म का फल नहीं पाएगा; क्योंकि वह तो क्षण में नष्ट हो गया। ऐसा होने पर धर्म का साधन निरर्थक ठहरा; अत: सर्वथा क्षणिक मानना, योग्य नहीं है।।८९-३३७।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्वथा क्षणिक-मान्यता में आनेवाले अन्य दोषों का वर्णन है—

अनुष्टुभ् : **वधस्य वधको हेतु: क्षणिके स्वीकृते कथम्।***
प्रत्यभिज्ञा कथं लोक-व्यवहार-प्रवर्तनी।।९०/३३८।।
हिंसा का कारण हिंसक क्षणिक में कैसे बने?
लोक व्यवहार संचालक प्रत्यभिज्ञान नहीं बने।।९०/३३८।।

शब्दश: अर्थ : वधस्य=घात का; वधक:=घातक; हेतु:=कारण; क्षणिके=अनित्य में; स्वीकृते=मानने में; कथं=कैसे; प्रत्यभिज्ञा=संकलनात्मक ज्ञान; कथं=कैसे/सति=होने पर; लोक-व्यवहार-प्रवर्तनी=लोक में व्यवहार को चलानेवाली।

अन्वय : क्षणिके स्वीकृते सति वधस्य हेतु: वधक: कथं, लोक-व्यवहार-प्रवर्तनी प्रत्यभिज्ञा कथम्?

वचनिका : क्षणिक को स्वीकार करने पर हिंसक-जीव, हिंसा का कारण कैसे होगा? लोक में व्यवहार चलानेवाली प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी?

भावार्थ : क्षणिक मानने पर हिंसा करनेवाला, हिंसक नहीं ठहरता; क्योंकि वह तो उसी क्षण नष्ट हो गया। इसी प्रकार बालक, जवान, वृद्ध हुआ; मुझे लेना है, उसे लूँ; देना है,

* सति-पाठांतर है।

उसे दूँ—इत्यादि लोक-व्यवहार चलानेवाले प्रत्यभिज्ञान का भी अभाव ठहरेगा; क्योंकि वह तो उसी क्षण नष्ट हो गया; व्यवहार किससे चलेगा? अत: क्षणिक मानना, मिथ्या है।।९०/३३८।।

अब, इस पद्य द्वारा बौद्धों के करुणा का अभाव सिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **व्याघ्र्य: प्रयच्छत: देहं निगद्य कृमिमन्दिरम्।**
दातृदेयविमूढस्य करुणावत् कीदृशी।।९१/३३९।।

कह तन कृमी-घर देनेवाला व्याघ्र को उसे।
करुणा कैसे हो सकती दाता-देह-विमूढ के?।।९१/३३९।।

शब्दश: अर्थ : व्याघ्र्य:=व्याघ्री या शिकारी के; प्रयच्छत:=देनेवाला; देहं=शरीर को; निगद्य=कहकर; कृमि-मन्दिरं=कृमि/लटों का घर; दातृ-देह-विमूढस्य=दाता और देह के संबंध में मूर्ख के; करुणा=दया; बत=खेद; कीदृशी=कैसी।

अन्वय : बत! देहं कृमि-मन्दिरं निगद्य व्याघ्र्य: प्रयच्छत: दातृ-देह-विमूढस्य करुणा कीदृशी?

वचनिका : यह शरीर लटों का घर है—ऐसा कहकर शरीर को बघेरी/शिकारी के लिए देनेवाले दाता और देह में मूर्ख/आसक्त के करुणा कैसे हो सकती है? यह बड़े खेद की बात है।।९१/३३९।।

अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि बुद्ध के दया कैसे हो सकती है—

अनुष्टुभ् : **जननी जगत: पूज्या हिन्सिता येन जन्मनि।**
मान्सोपदेशिनस्तस्य दया शौद्धोदने: कथम्।।९२/३४०।।

जन्म में जिसने मारा माता जगत्पूज्य को।
मांस के उपदेशक को दया कैसे बुद्ध को?।।९२/३४०।।

शब्दश: अर्थ : जननी=माता; जगत:=लोक की; पूज्या=पूज्य; हिन्सिता=मारी गई; येन =जिसके द्वारा; जन्मनि=जन्म में; मान्स+उपदेशिन:=मांस का उपदेश देनेवाले; तस्य= उसका; दया=करुणा; शौद्धोदने:=बुद्ध के; कथं=कैसे।

अन्वय : येन जगत: पूज्या जननी जन्मनि हिन्सिता, मान्स-उपदेशिन: तस्य शौद्धोदने: दया कथम्?

वचनिका : जगत की पूजने-योग्य माता को जन्म में मारनेवाले, मांस का उपदेश करनेवाले बुद्ध के दया कैसे हो?

भावार्थ : बौद्ध-मत में कहा है कि बुद्ध, माता का उदर फाड़कर निकला है और मांस-भक्षण में दोष नहीं है।

उससे आचार्य ने कहा है कि ऐसे बुद्ध के दया कैसी?।।९२/३४०।।

इसप्रकार बौद्ध-मत का निराकरण हुआ।

अब, कपिल-मत का निराकरण करते हुए इस एक पद्य द्वारा उसे असर्वज्ञ सिद्ध करते हैं —

अनुष्टुभ् : **यो ज्ञानं प्राकृतं धर्मं भाषतेऽसौ निरर्थकः।**
निर्गुणो निष्क्रियो मूढः सर्वज्ञः कपिलः कथम्।।९३/३४१।।

जो कहे प्रकृति धर्म ज्ञान वह मूढ निष्क्रिय।
निरर्थक गुण-रहित कपिल कैसे हो सब ज्ञानमय?।।९३/३४१।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; ज्ञानं=ज्ञान को; प्राकृतं=प्रकृति संबंधी; धर्मं=धर्म; भाषते=कहता है; असौ=वह; निरर्थकः=प्रयोजन-रहित; निर्गुणः=गुण-रहित; निष्क्रियः=क्रिया-रहित; मूढः=मूर्ख; सर्वज्ञः=सब कुछ जाननेवाला; कपिलः=सांख्य-मत प्रवर्तक कपिल; कथं=कैसे।

अन्वय : यः ज्ञानं प्राकृतं धर्मं भाषते, असौ निरर्थकः निर्गुणः निष्क्रियः मूढः कपिलः सर्वज्ञः कथम्?

वचनिका : जो ज्ञान को प्रकृति का धर्म कहता है; वह निष्प्रयोजन, निर्गुण, क्रिया-रहित, मूर्ख कपिल, सर्वज्ञ कैसे हो सकता है?

भावार्थ : कपिल, ज्ञान को तो प्रकृति का धर्म कहता है और आत्मा को निर्गुण, क्रिया-रहित, प्रयोजन-रहित, अज्ञान कहता है। उसे आचार्य ने कहा कि ऐसा कपिल, सर्वज्ञ कैसे हो सकता है? अतः कपिल का मत, मिथ्या है।।९३/३४१।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य कुदेवादि का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आर्यास्कन्दानलादित्यसमीरणपुरस्सराः।**
निगद्यन्ते कथं देवाः सर्वदोषपयोधयः।।९४/३४२।।

सभी दोषों के सागर आर्यास्कन्द अनल रवि।
वायु आदि कहें कैसे जग में ये भी देव ही?।।९४/३४२।।

शब्दशः अर्थ : आर्यास्कन्द+अनल+आदित्य-समीरण-पुरस्सराः=स्वामी कार्तिकेय, अग्नि, सूर्य, वायु आदि; निगद्यन्ते=कहे जाते हैं; कथं=कैसे; देवाः=देव; सर्व-दोष-पयोधयः=सभी दोषों के सागर/भंडार।

अन्वय : सर्व-दोष-पयोधय: आर्यास्कन्द-अनल-आदित्य-समीरण-पुरस्सरा: देवा: कथं निगद्यन्ते।

वचनिका : सभी दोषों के समूह देवी-स्कंद अर्थात् स्वामी कार्तिकेय, अग्नि, सूर्य, वायु इत्यादि; देव, कैसे कहलाते हैं?

भावार्थ : राग, द्वेष आदि दोषों से सहित कुदेवों को देव, कैसे कहें?।।९४/३४२।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **गूथमश्नाति या हन्ति खुरशृङ्गै: शरीरिण:।**
सा पशुर्गौ: कथं वन्द्या: वृषस्यन्ती स्वदेहजम्।।९५/३४३।।
विष्टा खाती खुर-सींगों से मारे तनधारि को।
अपने पुत्र को सेवे कैसे हो पूज्य अज्ञ गो?।।९५/३४३।।

शब्दश: अर्थ : गूथं=विष्टा को; अश्नाति=खाती है; या=जो; हन्ति=मारती है; खुर-शृङ्गै:=खुर और सींगों द्वारा; शरीरिण:=प्राणिओं को; सा=वह; पशु:=अज्ञानी; गौ:=गाय; कथं=कैसे; वन्द्या=पूज्य; वृषस्यन्ती=काम-सेवन करनेवाली; स्व-देहजं=अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र को।

अन्वय : या गूथं अश्नाति, खुर-शृङ्गै: शरीरिण: हन्ति, स्व-देहजं वृषस्यन्ती, पशु: सा गौ: वन्द्या: कथम्?

वचनिका : जो गाय, विष्टा खाती है, प्राणिओं को खुर और सींगों से मारती है, अपने पुत्र के साथ काम-सेवन करती है; वह पशु अर्थात् अज्ञानी गाय, पूजने-योग्य कैसे हो?।।९५/३४३।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **चेद्दुग्धदानतो वन्द्या महिषी किं न वन्द्यते।**
विशेषो दृश्यते नास्यां महिषीतो मयाधिक:।।९६/३४४।।
दुग्ध-दान से पूज्य भैंस क्यों नहिं पूज्य तब?
क्योंकि भैंस से कुछ भी दिखे नहीं विशेष-अधिक।।९६/३४४।।

शब्दश: अर्थ : चेत्=यदि; दुग्ध-दानत:=दूध देने से; वन्द्या=पूज्य; महिषी=भैंस; किं=क्यों; न=नहीं; वन्द्यते=पूज्य है; विशेष:=भेद; दृश्यते=देखा जाता है; न=नहीं; अस्यां=इसमें; महिषीत:=भैंस से; मया=मेरे द्वारा; अधिक:=अधिक।

अन्वय : चेत्-दुग्ध-दानत: वन्द्या, महिषी किं न वन्द्यते? मया महिषीत: अस्यां विशेष: अधिक: न दृश्यते।

वचनिका : यहाँ वह कहता है कि गाय दूध देती है, इसलिए पूजनीय है। उससे आचार्य कहते हैं कि महिषी/भैंस, पूज्य क्यों नहीं है? क्योंकि महिषी से इसमें कुछ अधिक विशेष मुझे तो दिखाई नहीं देता है; दूध देने में तो दोनों समान हैं।।९६/३४४।।

अब, इस पद्य द्वारा गाय को पूजन की मान्यता पर कुछ आक्षेप देते हैं—

अनुष्टुभ् : **या तीर्थ-मुनि-देवानां सर्वेषामाश्रय: सदा।**
दुह्यते हन्यते सा गौर्मूढैर्विक्रीयते कथम्।।९७/३४५।।
जो तीर्थ मुनि देवों का सभी का आश्रय सदा।
वह गाय मारते बेचें दुहते कैसे अज्ञधा?।।९७/३४५।।

शब्दश: अर्थ : या=जो; तीर्थ-मुनि-देवानां=तीर्थ, मुनि, देवों का; सर्वेषां=सभी का; आश्रय:=आधार; सदा=हमेशा; दुह्यते=दुही जाती है; हन्यते=मारी जाती है; सा=वह; गौ:=गाय; मूढै:=अज्ञानिओं द्वारा; विक्रीयते=बेची जाती है; कथं=कैसे।

अन्वय : या गौ: तीर्थ-मुनि-देवानां सर्वेषां सदा आश्रय:, सा गौ: मूढै: कथं दुह्यते हन्यते विक्रीयते?

वचनिका : जो गाय; तीर्थ, मुनि, देव—सभी का सदा आश्रय है; वह गाय, मूर्खों द्वारा कैसे पीड़ित होती है, मारी और बेची जाती है? अत: गाय को पूजना, मिथ्या है।।९७/३४५।।

अब, इस पद्य द्वारा इसी संबंध में और भी कुछ वर्णन है—

अनुष्टुभ् : **मुशलं देहली चुल्ली पिप्पलश्चम्पको जलम्।**
देवा यैरभिधीयन्ते वर्ज्यन्ते तै: परेऽत्र के।।९८/३४६।।
मूसल देहली चूल्हा पीपल चंपक नीर को।
देव जो कहते वे क्या यहाँ छोड़ें अन्य को?।।९८/३४६।।

शब्दश: अर्थ : मुशलं=मूसल; देहली=देहरी; चुल्ली=चूल्हा; पिप्पल:=पीपल; चम्पक:=चंपक; जलं=जल को; देवा:=देव; यै:=जिनके द्वारा; अभिधीयन्ते=कहा जाता है; वर्ज्यन्ते=छूटते हैं; तै:=उनसे; परे=दूसरे; अत्र=यहाँ; के=कौन।

अन्वय : यै: मुशलं देहली चुल्ली पिप्पल: चम्पक: जलं देवा अभिधीयन्ते; तै: अत्र परे के वर्ज्यन्ते।

वचनिका : मूसल, देहली, चूल्हा, पीपल, चंपा, जल को जो देव कहते हैं; उनसे यहाँ कौन वर्जित है?

भावार्थ : जड़, पाप के कारणभूत, देवत्व के लेश से भी रहित मूसल आदि को जो देव मानकर पूजते हैं; वे और किनको नहीं पूजेंगे? सभी को पूजते हैं।।९८/३४६।।

अब, इस पद्य द्वारा अधिकार का संकोच करते हुए जिनेंद्र-देव को पूजने का फल दिखाते हैं—

वसंत-तिलका : **इत्थं विविच्य परिमुच्य कुदेव-वर्गं,**
गृह्णाति यो जिनपतिं भजते स तत्त्वम्।
गृह्णाति यः शुभ-मतिः परिमुच्य काचं,
चिन्तामणिं स लभते खलु किं न सौख्यम्।।९९/३४७।।

ऐसा विचार जो सब देवादि तजता,
स्वीकारता जिनपति वह तत्त्व भजता।
जो सुधी काँच तज चिंतामणि लेता,
वह नियम से नित यहाँ सब सौख्य पाता।।९९/३४७।।

शब्दशः अर्थ : इत्थं=इसप्रकार; विविच्य=विचारकर; परिमुच्य=छोड़कर; कुदेव-वर्गं =कुदेवादि के समूह को; गृह्णाति=ग्रहण करता है; यः=जो; जिनपतिं=जिनेंद्र भगवान को; भजते=भजता है; सः=वह; तत्त्वं=वस्तु के स्वरूप को; गृह्णाति=ग्रहण करता है; यः=जो; शुभ-मतिः=अच्छी बुद्धिवाला; परिमुच्य=छोड़कर; काचं-काँच को; चिन्तामणिं =चिंतामणि को; सः=वह; लभते=प्राप्त करता है; खलु=वास्तव में; किं=क्या; न=नहीं; सौख्यं=सुख को।

अन्वय : इत्थं विविच्य कुदेव-वर्गं परिमुच्य; यो जिनपतिं गृह्णाति स तत्त्वं भजते। यः शुभमतिः काचं परिमुच्य चिन्तामणिं गृह्णाति खलु सः किं सौख्यं न लभते?

वचनिका : ऐसा विचारकर जो कुदेवों के समूह का त्यागकर जिनेंद्रदेव को ग्रहण करता है; वह पुरुष, परम-तत्त्व को भजता है, सेवन करता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—जो बुद्धिमान, काँच को छोड़कर चिंतामणि रत्न को ग्रहण करता है; वह क्या वास्तव में सुख को नहीं पाता है, पाता ही है।।९९/३४७।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्व का फल बताते हैं—

वसंत-तिलका : **मिथ्यात्वदूषणमपास्य विचित्रदोषं**
सन्रूढ-सन्सृति-वधू-परितोषकारि।
सम्यक्त्वरत्नममलं हृदि यो निधत्ते,
मुक्त्यङ्गनामितगतिस्तमुपैति सद्यः।।१००/३४८।।

बड़ती हुई भव वधू संतुष्टकर है,
बहु दोष-युक्त दूषण मिथ्यात्व तजके।
सम्यक्त्व निर्मल रतन को हृदय धारे,
मुक्त्यंगना अमितगतिमय शीघ्र पाए।।१००/३४८।।

शब्दश: अर्थ : मिथ्यात्व-दूषणं=मिथ्यात्वरूपी दोष को; अपास्य=छोड़कर; विचित्र-दोषं=विविध-दोषमय; सन्रूढ-सन्सृतिवधू-परितोष-कारी=वृद्धि को प्राप्त संसाररूपी वधू को संतुष्ट करनेवाले; सम्यक्त्व-रत्नं=सम्यक्त्वरूपी रत्न को; अमलं=पवित्र; हृदि =हृदय में; य:=जो; विधत्ते=धारण करता है; मुक्त्यङ्गना=मुक्तिरूपी स्त्री; अमित-गति: =अनंत-ज्ञान-संपन्न; तं=उसे; उपैति=प्राप्त होती है; सद्य:=शीघ्र।

अन्वय : सन्रूढ-सन्सृति-वधू-परितोष-कारी विचित्र-दोषं मिथ्यात्व-दूषणं अपास्य य: हृदि अमलं सम्यक्त्व-रत्नं विधत्ते तं अमित-गति: मुक्त्यङ्गना सद्य: उपैति।

वचनिका : वृद्धि को प्राप्त संसाररूपी वधू का परितोष करनेवाले अर्थात् उसे प्रसन्न करनेवाले, अनेक दोषों स्वरूप मिथ्यात्वरूपी दूषण का त्यागकर जो पुरुष, निर्मल सम्यक्त्वरूपी रत्न को हृदय में धारण करता है; उस पुरुष को अनंत-ज्ञान-संपन्न मुक्तिरूपी स्त्री शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ : मिथ्यात्व का त्यागकर जो सम्यक्त्व को धारण करते हैं, उन्हें मुक्ति की प्राप्ति शीघ्र ही होती है।।१००/३४८।।

छप्पय :
पोषत विषय कषाय पक्ष एकांत चित्त रखि,
नास्तिकादि मत एम सकल मिथ्या स्वरूप लखि।
हरि-हरादि सब ही कुदेव रागादि चिन्ह युत,
त्यागि, भजहु सर्वग्य देव रागादि दोष चुत।।
संसार हेतु मिथ्यात्व इम त्यागि सुदर्शन जे धरैं।
ते जीव अमितगति शीघ्र ही भागचंद शिवतिय वरैं।।

अर्थ : एकांत पक्ष को मन में धारणकर, विषय-कषाय का पोषण करनेवाले नास्तिक आदि मतों का सभी प्रकार से मिथ्या-स्वरूप देखकर, रागादि चिन्ह-युक्त हरि-हर आदि सभी कुदेवों का त्यागकर, रागादि दोषों से रहित सर्वज्ञ-देव को भजो।

इसप्रकार संसार के कारणभूत मिथ्यात्व का त्यागकर जो सम्यक् रत्नत्रय को धारण करते हैं; भागचंद कवि कहते हैं अथवा भाग्यरूपी चंद्रमा के उदय-संपन्न वे जीव, शीघ्र ही अमित-गति-संपन्न मोक्षरूपी लक्ष्मी का वरण करते हैं।

इसप्रकार अमितगति आचार्यकृत श्रावकाचार में चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।।४।।

पञ्चम: परिच्छेद:

आगे व्रतों का वर्णन करते हैं। उनमें सर्व-प्रथम व्रतों को पुष्ट करनेवाले सामान्य व्रतों को अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

स्वागता : **मद्यमान्समधुरात्रिभोजनं, क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा।**
कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम्।।१/३४९।।

व्रत इच्छुक मधु मांस मद्य को, रात्रि-भोजन क्षीर-फलों को।
ज्ञानी त्रिधा छोड़ते इनको, तज कर करते पुष्ट व्रतों को।।१/३४९।।

शब्दश: अर्थ : मद्य-मान्स-मधु-रात्रि-भोजनं=मदिरा, मांस, शहद, रात्रि में भोजन करना; क्षीर-वृक्ष-फल-वर्जनं=दूध निकलनेवाले क्षीर-वृक्षों के फलों का त्याग; त्रिधा=तीन प्रकार से; कुर्वते=करते हैं; व्रत-जिघृक्षया=व्रत को ग्रहण करने की इच्छा से; बुधा:=ज्ञानी; तत्र= वहाँ; पुष्यति=पुष्ट होता है; निषेविते=त्याग का सेवन करने पर; व्रतं=व्रत।

अन्वय : व्रत-जिघृक्षया बुधा: मद्य-मान्स-मधु-रात्रि-भोजनं क्षीर-वृक्ष-फल-वर्जनं त्रिधा कुर्वते। तत्र निषेविते व्रतं पुष्यति।

वचनिका : व्रत-ग्रहण की इच्छा से पंडितजन, मदिरा, मांस, मधु, रात्रि-भोजन; दूध निकलनेवाले बरगद, पीपल, ऊमर इत्यादि क्षीर-वृक्षों के फलों का त्याग मन, वचन, काय से करते हैं; क्योंकि उनके त्याग का सेवन करने पर व्रत पुष्ट होता है।

भावार्थ : जिन्हें व्रत की इच्छा है, वे सर्व-प्रथम मदिरा आदि का त्याग करें। इनके त्याग में व्रत पुष्ट होता है।।१/३४९।।

अब, ग्यारह पद्यों द्वारा मदिरा-पान-त्याग का वर्णन करते हैं।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मदिरा-पान की हानि निरूपित हैं—

स्वागता : **मद्यपस्य धिषणा पलायते, दुर्भगस्य वनितेव दूरत:।**
निन्द्यतां च लभते महोदयं, क्लेशितेव गुरुवाक्यमोचिन:।।२/३५०।।

मद्यप की बुद्धि भग जाती, दूर से अधन की नारी-सम।
निंदा महा उदय को पाती, गुरु-वच-मोचक के दु:खों-सम।।२/३५०।।

शब्दश: अर्थ : मद्यपस्य=मदिरा पीनेवाले की; धिषणा=बुद्धि; पलायते=भाग जाती है; दुर्भगस्य=निर्धन की; वनिता=पत्नी; इव=समान; दूरत:=दूर से; निन्द्यता=निंदापना; च=और; लभते=प्राप्त होता है; महा-उदयं=बहुत प्रकटता को; क्लेशिता=दु:ख; इव=समान; गुरु-वाक्य-मोचिन:=गुरु के वचनों को छोड़नेवाले के।

अन्वय : दुर्भगस्य वनिता इव मद्यपस्य धिषणा दूरत: पलायते च गुरु-वाक्य-मोचिन: क्लेशिता इव निन्द्यते महोदयं लभते।

वचनिका : जैसे—दरिद्री पुरुष की स्त्री भाग जाती है; उसीप्रकार मदिरा पीनेवाले की बुद्धि भाग जाती है और जैसे—गुरु के वचन नहीं माननेवाले के दु:ख, वृद्धि को प्राप्त हो जाते हैं; उसीप्रकार निंदा, वृद्धि को प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ : मदिरा पीनेवाले की बुद्धि बिगड़ जाती है और निंदा होती है।।२/३५०।।

अब, इस पद्य द्वारा मदिरा-पानी/पीनेवाले की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

स्वागता : **विह्वल: स जननीयति प्रियां, मानसेन जननीं प्रियीयति।**
किङ्करीयति निरीक्ष्य पार्थिवं, पार्थिवीयति कुधी: स किङ्करम्।।३/३५१।।

विह्वल मन वह मूढ प्रवृत्ति, करे मात से पत्नी स्त्री।
साथ मातवत् नौकर नृपति, साथ नृपति सेवक सम वृत्ति।।३/३५१।।

शब्दश: अर्थ : विह्वल:=खिन्न; स:=वह; जननीयति=माता के समान आचरण करता है; प्रियां=पत्नी के प्रति; मानसेन=मन से; जननीं=माता के प्रति; प्रियीयति=पत्नी के समान आचरण करता है; किङ्करीयति=सेवक के समान आचरण करता है; निरीक्ष्य=देखकर; पार्थिवं=राजा को; पार्थिवीयति=राजा के समान आचरण करता है; कुधी:=खोटी बुद्धिवाला; स:=वह; किङ्करं=सेवक के प्रति।

अन्वय : मानसेन विह्वल: स: कुधी: प्रियां जननीयति, जननीं प्रियीयति, स: पार्थिवं निरीक्ष्य किङ्करीयति, किङ्करं पार्थिवीयति।

वचनिका : वह मदिरा-पाई, मन से विह्वल होता हुआ स्त्री के साथ माता के समान आचरण करता है और माता के साथ स्त्री के समान आचरण करता है। वह कुबुद्धि, राजा को देखकर सेवक के समान आचरण करता है और सेवक के साथ राजा के समान आचरण करता है।

भावार्थ : मदिरा-पाई सभी पदार्थों को विपरीत देखता है।।३/३५१।।

अन्य जीव, मद्य-पाई के साथ किसप्रकार प्रवृत्ति करते हैं? अब, इस पद्य द्वारा वह वर्णित है—

स्वागता : **सर्वतोऽप्युपहसन्ति मानवा वाससी व्यपहरन्ति तस्करा:।**
मूत्रयन्ति पतितस्य मण्डला विस्तृते विवरकाङ्क्षया मुखे।।४/३५२।।

सर्वत: हँसें नर भी उस पर, वस्त्र चुरा लेते हैं तस्कर।
कुत्ता गिरे हुए के मुख पर, मूते विस्तृत छिद्र चाह कर।।४/३५२।।

शब्दशः अर्थ : सर्वतः=सब ओर से; अपि=भी; उपहसन्ति=उपहास करते हैं; मानवाः=मनुष्य; वाससी=वस्त्र को; व्यवहरन्ति=चुरा लेते हैं; तस्कराः=चोर; मूत्रयन्ति=मूत्र करते हैं; पतितस्य=गिरे हुए के; मण्डलाः=कुत्ते; विस्तृते=फैले/खुले हुए; विवर-काङ्क्षया=छिद्र की चाह से; मुखे=मुख में।

अन्वय : सर्वतः मानवाः अपि उपहसन्ति, तस्कराः वाससी व्यपहरन्ति, विवर-काङ्क्षया मण्डलाः पतितस्य विस्तृते मुखे मूत्रयन्ति।

वचनिका : मद्यपाई का सभी ओर से मनुष्य, हास्य करते हैं; चोर, वस्त्र चुरा लेते हैं; छिद्र की वांक्षा से श्वान/कुत्ते, पड़े हुए के विस्तृत मुख में मूत्र करते हैं।।४/३५२।।

अब, इस पद्य द्वारा मदिरापाई की चेष्टाएं प्ररूपित हैं—

स्वागता : **मङ्क्षु मूर्छति विभेति कम्पते, पूत्करोति रुदति प्रछर्दति।**
खिद्यते स्खलित वीक्षते दिशो, रोदिति स्वपिति जक्षितीर्ष्यति।।५/३५३।।

शीघ्र मूर्छित डरता है काँपता, पूत्कार उल्टी कर रोता।
देखे दिशा खिन्न हो गिरता, रोदन कर सो जकड़ी ईर्ष्या।।५-३५३।।

शब्दशः अर्थ : मङ्क्षु=शीघ्र; मूर्छति=मूर्छित होता है; विभेति=डरता है; कम्पते=काँपता है; पूत्करोति=पूत्कार करता है; रुदति=रोता है; प्रछर्दति=वमन करता है; खिद्यते=खेद करता है; स्खलित=गिर पड़ता है; वीक्षते=देखता है; दिशः=दिशाओं को; रोदिति=रुदन करता है; स्वपिति=सोता है; जक्षिति=जकड़ी लग जाती है/दत्ती बँध जाती है; ईर्ष्यति=ईर्ष्या करता है।

अन्वय : दिशः वीक्षते—मात्र इतने परिवर्तन के साथ शेष संपूर्ण पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : मदिरा-पीनेवाला शीघ्र ही मूर्छित होता है, डरता है, काँपता है, पूत्कार करता है, रोता है, वमन करता है, खेदरूप होता है, गिर पड़ता है, दिशाओं को देखता है, रुदन करता है, सोता है, जकड़ी लग जाती है/दत्ती बँध जाती है, ईर्ष्या करता है।

भावार्थ : मदिरा से अनेक चेष्टाएं उत्पन्न होती हैं।।५/३५३।।

अब, इस पद्य द्वारा मदिरा-पान में द्रव्य-हिंसा की अधिकता को स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्म-वपुषो रसाङ्गिकाः।**
तेऽखिलाः झटिति यान्ति पञ्चतां निन्दितस्य सरकस्य पानतः।।६/३५४।।

जो हैं उसमें सूक्ष्म बहुत विध, रसज शरीरी वे सब शीघ्र।
निंदित मदिरा-पान से नष्ट, अतः सदा जानों वह त्याज्य।।६/३५४।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; भवन्ति=होते हैं; विविधाः=अनेक प्रकार के; शरीरिणः=प्राणी;

तत्र=उसमें; सूक्ष्म-वपुषः=छोटे शरीरवाले; रस+अङ्गिकाः=रस में जन्म लेने वाले; ते=वे; अखिलाः=सभी; झटिति=शीघ्र; यान्ति=प्राप्त होते हैं; पञ्चतां=मरण को; निन्दितस्य= निंदनीय; सरकस्य=मदिरा के; पानतः=पान से।

अन्वय : तत्र सूक्ष्म-वपुषः रस-अङ्गिकाः ये विविधाः शरीरिणः भवन्ति, ते अखिलाः निन्दितस्य सरकस्य पानतः झटिति पञ्चतां यान्ति।

वचनिका : उस मदिरा में सूक्ष्म-शरीरवाले, रस में उत्पन्न हुए, अनेक प्रकार के जीव होते हैं; वे सभी निंदनीय मदिरा के पान से शीघ्र ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं।

भावार्थ : मदिरा-पाई को द्रव्य-हिंसा भी अधिक होती है।।६/३५४।।

अब, इस पद्य द्वारा 'मदिरा-पान से सर्व विनाश' प्ररूपित है—

स्वागता : **वारुणीनिहितचेतसोऽखिलाः, यान्ति कान्तिमतिकीर्तिसम्पदः।**
वेगतः परिहरन्ति योषितो, वीक्ष्य कान्तमपराङ्गनागतम्।।७/३५५।।

मद्य में लगे मन से सब ही, सम्पत कांति कीर्ति बुद्धि।
वेग से चले जाते स्त्री, देख पती गत वत् पर-स्त्री।।७/३५५।।

शब्दशः अर्थ : वारुणी=शराब में; निहित-चेतसः=लगे हुए मनवाले की; अखिलाः=संपूर्ण; यान्ति=चली जाती है; कान्ति-मति-कीर्ति-सम्पदः=कांति, बुद्धि, कीर्ति, संपत्ति; वेगतः=वेग से/शीघ्र ही; परिहरन्ति=छोड़ देती है; योषितः=स्त्री; वीक्ष्य=देखकर; कान्तं=पति को; अपर+अङ्गना-गतं=अन्य स्त्री के पास गए।

अन्वय : (यथा) कान्तं अपर-अङ्गना-गतं वीक्ष्य योषितः वेगतः परिहरन्ति (तथा) वारुणी निहित-चेतसः अखिलाः कान्ति-मति-कीर्ति-सम्पदः वेगतः यान्ति।

वचनिका : जैसे—स्त्री, पर-स्त्री की ओर गए पति को देखकर शीघ्र ही उसे छोड़ देती है; उसीप्रकार मदिरा में लगे चित्तवाले पुरुष की समस्त कांति, बुद्धि, कीर्ति, संपदा चली जाती है।

भावार्थ : मदिरा-पाई की कांति, बुद्धि, कीर्ति, संपदा—सभी बिगड़ जाती हैं।।७/३५५।।

अब, इस पद्य द्वारा शराबी की विक्षिप्त चेष्टाएँ बताते हैं—

स्वागता : **गायति भ्रमति वक्ति गद्गदं, रौति धावति विगाहते क्लमम्।**
हन्ति हृष्यति न बुध्यते हितं, मद्यमोहितमतिर्विषीदति।।८/३५६।।

मदिरा मोहित बुद्धि गाता, भ्रमता गद-गद वचन बोलता।
दौड़े रो हँस कष्ट बुलाता, खिन्न घात हित नहीं जानता।।८/३५६।।

शब्दश: अर्थ : गायति=गाता है; भ्रमति=घूमता है; वक्ति=बोलता है; गद्गदं=भरे हृदय से; रौति=रोता है; धावति=दौड़ता है; विगाहते=अवगाहन करता है; क्लमं=कष्ट को; हन्ति=मारता है; हृष्यति=हर्षित होता है; न=नहीं; बुध्यते=जानता है; हितं=भलाई को; मद्य-मोहित-मति:=मदिरा से मोहित बुद्धिवाला; विषीदति=खेद-खिन्न होता है।

अन्वय : मद्य-मोहित-मति: गायति भ्रमति गद्गदं वक्ति धावति क्लमं विगाहते हन्ति हृष्यति विषीदति हितं न बुध्यते।

वचनिका : मदिरा से मोहित बुद्धिवाला पुरुष, गाता है, घूमता है, गद-गद वचन बोलता है, रोता है, दौड़ता है, कष्ट का अवगाहन करता है, हिंसा करता है, हर्ष करता है, विषादरूप होता है, हित को नहीं जानता है।

भावार्थ : मद्य-पाई के अनेक कुचेष्टाएँ होती हैं।।८/३५६।।

मदिरा पीने से हिंसादि सभी पाप होते हैं; अब इस पद्य द्वारा यह निरूपित है—

स्वागता : **तोतुदीति भविन: सुरा-रतो, वावदीति वचनं विनिन्दितम्।**
मोमुषीति परवित्तमस्तधीर्बोभुजीति परकीयकामिनीम्।।९/३५७।।

मदिरा-रत जीवों को मारे, निंदा-युक्त वचन को बोले।
अज्ञानी पर-धन को चोरे, मूढ हुआ पर-स्त्री भोगे।।९/३५७।।

शब्दश: अर्थ : तोतुदीति=पीड़ा देता है; भविन:=प्राणिओं को; सुरा-रत:=मदिरा में आसक्त; वावदीति=बोलता है; वचनं=वचन को; विनिन्दितं=निंदा-युक्त; मोमुषीति=चुराता है; पर-वित्तं=दूसरों के धन को; अस्त-धी:=बुद्धि-रहित/मूढ; बोभुजीति=भोगता है; परकीय-कामिनीं=दूसरों की स्त्री को।

अन्वय : सुरा-रत: अस्त-धी: भविन: तोतुदीति, विनिन्दितं वचनं वावदीति, पर-वित्तं मोमुषीति, परकीय-कामिनीं बोभुजीति।

वचनिका : मदिरा में आसक्त, अज्ञानी पुरुष, जीवों को कष्ट उत्पन्न करता है, निंदित वचन बोलता है, अन्य का धन चुराता है और अन्य की स्त्री को भोगता है।

भावार्थ : मदिरा पीनेवाला हिंसादि सभी पाप करता है।।९/३५७।।

अब, इस पद्य द्वारा शराबी की अविवेक-पूर्ण चेष्टाएं वर्णित हैं—

स्वागता : **नानटीति कृतचित्रचेष्टितो, तन्नमीति पुरतो जनं जनम्।**
लोलुठीति भुवि रासभोपमो रारटीति सुरया विमोहित:।।१०/३५८।।

मद्य-विमोहित बहु चेष्टा कृत, नाचे नमता जन-जन संमुख।
लोटे पृथ्वी पर गर्दभवत्, व्यर्थ शब्द करता रहता नित।।१०/३५८।।

शब्दशः अर्थ : नानटीति=नाचता है; कृत-चित्र-चेष्टितः=अनेक प्रकार की चेष्टा करने वाला; तत्=वह; नमीति=नमता है; पुरतः=संमुख; जनं=प्राणी; जनं=प्राणी/प्रत्येक प्राणी को; लोलुठीति=लोटता है; भुवि=पृथ्वी पर; रासभ+उपमः=गर्दभ के समान; रारटीति=शब्द करता है; सुरया=मदिरा से; विमोहितः=मुग्ध/मत्त।

अन्वय : सुरया विमोहितः कृत-चित्र-चेष्टितः तत् नानटीति, जनं जनं पुरतः नमीति, रासभ-उपमः भुवि लोलुटीति रारटीति।

वचनिका : मदिरा से मोहित, अनेक प्रकार की चेष्टा करनेवाला वह, नाचता है, प्रत्येक प्राणी के संमुख नमता है, गर्दभ के समान पृथ्वी पर लोटता रहता है और शब्द करता रहता है।।१०/३५८।।

अब, इस पद्य द्वारा मद्य-इच्छुक को धर्म की असंभवता, सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **सीधुलालसधिया वितन्वते, धर्मसंयमविचारणाय के।**
मेरुमस्तकनिविष्टमूर्तयस्ते स्पृशन्ति चरणैर्भुवस्तलम्।।११/३५९।।

धर्म-संयम विचार हेतु से, मद्य लालसा बुद्धि विस्तरे।
मेरु चोटी ऊपर बैठे, पग से भूतल छूना चाहे।।११/३५९।।

शब्दशः अर्थ : सीधु-लालस-धिया=मदिरा की कामनावाली बुद्धि से; वितन्वते=विस्तार करता है; धर्म-संयम-विचारणाय=धर्म और संयम की विचारणा के लिए; के=कोई; मेरु-मस्तक-निविष्ट-मूर्तयः=मेरु की चोटी पर बैठे हुए आकारवाले; ते=वे; स्पृशन्ति=स्पर्श करते हैं; चरणैः=पैरों से; भुवः-तलं=पृथ्वी के तल को।

अन्वय : के सीधु-लालस-धिया धर्म-संयम-विचारणाय वितन्वते, मेरु-मस्तक-निविष्ट-मूर्तयः ते चरणैः भुवः-तलं स्पृशन्ति।

वचनिका : कोई पुरुष, मदिरा की कामना-सहित बुद्धि द्वारा धर्म और संयम का विचार विस्तृत करते हैं; मेरु की चोटी पर बैठे हुए वे, चरणों से पृथ्वी-तल को छूना चाहते हैं।

भावार्थ : जैसे—मेरु पर बैठकर यदि कोई चरणों से पृथ्वी के तल का स्पर्श करना चाहे तो वह मूर्ख है; उसीप्रकार मदिरा पीते हुए धर्म, संयम आदि का विचार करना भी मूर्खता है—ऐसा जानना।।११/३५७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मदिरा-त्याग की उत्कट प्रेरणा देते हैं—

स्वागता : **दोषमेवमवगम्य वारुणीं, सर्वथा तु हि धयन्ति पण्डिताः।**
कालकूटमवबुध्य दुःखदं, भक्षयन्ति किमु जीवितार्थिनः।।१२/३६०।।

यों दोषों को जान मद्य को, पंडितजन सर्वथा त्याग दो।
जान कष्टप्रद कालकूट को, जीवन हेतु कौन खाय वो?।।१२/३६०।।

शब्दशः अर्थ : दोषं=दोष को; एवं=इसप्रकार; अवगम्य=जानकर; वारुणीं=मदिरा को; सर्वथा=कभी भी/हमेशा; न=नहीं; हि=वास्तव में; धयन्ति=सेवन करें; पण्डिता:=पंडितजन; कालकूटं=हलाहल विष को; अवबुध्य=जानकर; दु:खदं=दु:ख-देनेवाला; भक्षयन्ति= सेवन करते हैं; किमु=क्या; जीवित+अर्थिन:=जीवन चाहनेवाले।

अन्वय : एवं वारुणीं दोषं अवगम्य हि पण्डिता: सर्वथा न धयन्ति। दु:खदं कालकूटं अवबुध्य जीवित-अर्थिन: भक्षयन्ति किमु?

वचनिका : इसप्रकार दोष को जानकर पंडित-जन सर्वथा मदिरा को नहीं पीते हैं। जैसे— जीने का इच्छुक जीव दु:ख-दाई कालकूट विष को जानकर क्या भक्षण करता है? अपितु नहीं करता है?।।१२/३५८।।

इसप्रकार मदिरा-सेवन का निषेध किया है।

आगे अब, चौदह पद्यों द्वारा मांस-भक्षण का निषेध करते हैं।

उसमें इस पद्य द्वारा सर्व-प्रथम यह वर्णित है कि मांस-भक्षक के दया नहीं होती है—

स्वागता : **मांसभक्षणविषक्तमानसो, य: करोति करुणां नरोऽधम:।**
भूतले कुलिशवह्नितापिते, नूनमेष वितनोति वल्लरीम्।।१३/३६१।।

मांस-सेवन में आसक्त, जो करता करुणा अधम पुरुष।
भूतल बज्रानल से तप्त, उसमें बेल बड़ाता है यह।।१३/३६१।।

शब्दशः अर्थ : मांस-भक्षण-विषक्त-मानस:=मांस-भक्षण में आसक्त मनवाला; य:=जो; करोति=करता है; करुणां=दया को; नर:=पुरुष; अधम:=नीचे; भूतले=पृथ्वी तल पर; कुलिश -वह्नि-तापिते=बज्र की अग्नि से तप्त; नूनं=वास्तव में; एष:=यह; वितनोति=विस्तृत करता है; वल्लरीं=बेल को।

अन्वय : मांस-भक्षण-विषक्त-मानस: य: अधम: नर: करुणां करोति, नूनं एष: कुलिश-वह्नि-तापिते भूतले वल्लरीं वितनोति।

वचनिका : मांस में आसक्त मनवाला जो नीच पुरुष करुणा करता है; यह वास्तव में बज्राग्नि से तप्त पृथ्वी में बेल को विस्तृत करता है।

भावार्थ : अग्नि से तप्त पृथ्वी में जैसे बेल नहीं होती है; उसीप्रकार मांस-भक्षक के दया नहीं होती है—ऐसा जानना।।१३/३६१।।

मांस-भक्षक, धर्म के मूल, दया का घातक है; यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

स्वागता : **जायते न पिशितं जगत्रये, प्राणिघातनमृते यतस्ततः।**

मङ्क्षु मूलमुदखानि खादता हि दया झटिति धर्मशाखिनः।।१४/३६२।।

तीन लोक में प्राणि-घात विन, होता नहीं कदापि मांस।

धर्म-तरु को तोड़ शीघ्र वह, भक्षक खोदे मूल दया मय।।१४/३६२।।

शब्दशः अर्थ : जायते=उत्पन्न होता है; न=नहीं; पिशितं=मांस; जगत्रये=तीनों लोकों में; प्राणि-घातनं=जीवों की हिंसा के; ऋते=विना; यतः=क्योंकि; ततः=इसलिए; मङ्क्षु=शीघ्र; मूलं=जड़ को; उदखानि=खोदता है; खादता=मांस-भक्षक; हि=वास्तव में; दया=करुणा; झटिति=शीघ्र; धर्म-शाखिनः=धर्मरूपी वृक्ष को।

अन्वय : यतः जगत्रये प्राणि-घातनं ऋते पिशितं न जायते, ततः खादता मङ्क्षु हि धर्म-शाखिनः मूलं दया झटिति उदखानि।

वचनिका : क्योंकि तीन लोक में मांस, जीवों की हिंसा के विना उत्पन्न नहीं होता है; अतः वास्तव में तोड़े गए धर्म-वृक्ष के दयामय मूल को ही मांस-भक्षक ने शीघ्र खोदा है।

भावार्थ : जीव-हिंसा के विना मांस उत्पन्न नहीं होता है; अतः मांस-भक्षक ने दयामय, धर्म के मूल को ही नष्ट किया है।।१४/३६२।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण यह निरूपित है कि दया-विना व्रत नहीं होते हैं—

स्वागता : **देहिनो भवति पुण्यसञ्चयः शुद्धया न कृपया विना ध्रुवम्।**

दृश्यते न लतया विना मया, सार्द्रया जगति पुष्पसञ्चयः।।१५/३६३।।

प्राणी को इस शुद्ध दया विन, पुण्य बंध हो नहीं नियम यह।

हरित लता के विना नहीं जग में दिखता पुष्पों का संचय।।१५/३६३।।

शब्दशः अर्थ : देहिनः=शरीर-धारी के; भवति=होता है; पुण्य-सञ्चयः=पुण्य का संचय; शुद्धया=शुद्ध; न=नहीं; कृपया=दया से; विना=रहित; ध्रुवं=निश्चित; दृश्यते=देखा जाता है; न=नहीं; लतया=लता से; विना=रहित; मया=मेरे द्वारा; सार्द्रया=गीली/हरित; जगति= लोक में; पुष्प-सञ्चयः=फूलों का इकट्ठा होना।

अन्वय : शुद्धया कृपया विना देहिनः पुण्य-सञ्चयः ध्रुवं न भवति जगति सार्द्रया लतया विना पुष्प-सञ्चयः मया न दृश्यते।

वचनिका : इस दया-विना वास्तव में जीव को पुण्य का संचय नहीं होता है। लोक में मुझे हरित बेल के विना पुष्पों का संचय दिखाई नहीं दिया है।

भावार्थ : जैसे—वेल के विना पुष्प नहीं होते हैं; उसीप्रकार दया के विना व्रत नहीं होते हैं।।१५/३६३।।

मांस-भक्षण में अवश्य ही हिंसा है; इस तथ्य को अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **भक्षयन्ति पिशितं दुराशया:, ये स्वकीयबलपुष्टिकारिण:।**
घातयन्ति भवभागिनस्तके, खादकेन न विनास्ति घातक:।।१६/३६४।।

जो अपनी शक्ति के पोषक दुष्ट-चित्त खाते हैं पिशित।
वे जीवों का करते घात, खादक विना नहीं हो घातक।।१६/३६४।।

शब्दश: अर्थ : भक्षयन्ति=खाते हैं; पिशितं=मांस को; दु:+आशया:=दुष्ट मनवाले; ये=जो; स्वकीय-बल-पुष्ट-कारिण:=अपनी शक्ति को पुष्ट करनेवाले; घातयन्ति=घातते हैं; भव-भागिन:=संसारिओं को; तके=वे; खादकेन=खानेवाले से; न=नहीं; विना=रहित; अस्ति=है; घातक:=घात करनेवाला।

अन्वय : स्वकीय-बल-पुष्ट-कारिण: ये दु:-आशया: पिशितं भक्षयन्ति, तके भव-भागिन: घातयन्ति, खादकेन विना घातक: न अस्ति।

वचनिका : अपने बल को पुष्ट करनेवाले जो दुष्ट-चित्त, मांस का भक्षण करते हैं, वे जीवों का घात करते हैं; क्योंकि खानेवाले के विना, घातनेवाला नहीं है।

भावार्थ : कोई कहता है कि मांस खाने में तो हिंसा नहीं है तो उससे कहते हैं कि जो मांस खाता है, वह हिंसा अवश्य ही करता है।।१६/३६४।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस-विषयक फल बताते हैं—

स्वागता : **हन्ति स्वादति पणायते पलं, मन्यते दिशति सन्स्करोति य:।**
यान्ति ते षडपि दुर्गतिं स्फुटं, न स्थिति: खलु परत्र पापिनाम्।।१७/३६५।।

मारता खा बेचता पिशित, माने जो संस्कारक देशक।
जाएँ छहों वे दुर्गति परभव, नहिं पापिओं की स्थिति निश्चित।।१७/३६५।।

शब्दश: अर्थ : हन्ति=मारता है; खादति=खाता है; पणायते=बेचता है; पलं=मांस को; मन्यते=मानता है; दिशति=उपदेश देता है; सन्स्करोति=संस्कार करता है; य:=जो; यान्ति=जाते हैं; ते=वे; षडपि=छहों; दुर्गतिं=खोटी गति को; स्फुटं=स्पष्ट; न=नहीं; स्थिति:=ठहरना; खलु=वास्तव में; परत्र=पर-भव; पापिनां=पापिओं का।

अन्वय : य: पलं हन्ति खादति पणायते मन्यते दिशति सन्स्करोति, ते षडपि परत्र स्फुटं दुर्गतिं यान्ति, खलु पापिनां स्थिति: न।

वचनिका : जो मांस को मारता है अर्थात् जीव मारता है, खाता है, बेचता है, भला मानता है, उपदेश करता है, सन्स्करोति अर्थात् मांस या मांस-भक्षिओं का संस्कार/सम्मानादि करता है; वे पूर्वोक्त छह प्रकार के जीव, अन्य-जन्म में दुर्गति को प्राप्त होते हैं; क्योंकि पापिओं की वास्तव में स्थिरता नहीं है।।१७/३६५।।

मांस-भक्षक, श्वान के समान है; इस पद्य द्वारा अब, यह वर्णित है—

स्वागता : **अत्ति यः कृमिकुलाकुलं पलं, पूयशोणितवसादिमिश्रितम्।**
तस्य किञ्चन न सारमेयतः शुद्धबुद्धिभिरवेक्ष्यतेऽन्तरम्।।१८/३६६।।

कृमि समूह से भरे पूय शोणित वसादि युत पल जो खाता।
उसका कुत्ते से कुछ अंतर सम्यग्ज्ञानी ने नहिं देखा।।१८/३६६।।

शब्दशः अर्थ : अत्ति=खाता है; यः=जो; कृमि-कुल+आकुलं=लटों के समूह से भरे; पलं=मांस को; पूय-शोणित-वसा+आदि-मिश्रितं=दुर्गंधित रक्त, वसा आदि से मिश्रित; तस्य=उसका; किञ्चन=कुछ; न=नहीं; सार-मेयतः=कुत्ते से; शुद्ध-बुद्धिभिः=पवित्र बुद्धि वालों द्वारा; अवेक्ष्यते=देखा गया है; अन्तरं=भेद।

अन्वय : यः कृमि-कुल-आकुलं पूय-शोणित-वसा-आदि-मिश्रितं पलं अत्ति, शुद्ध-बुद्धिभिः तस्य सार-मेयतः किञ्चन अन्तरं न अवेक्ष्यते।

वचनिका : जो पुरुष, लटों के समूह से भरे, दुर्गंध, रुधिर, वसा आदि से मिश्रित मांस को खाता है; उसका, श्वान/कुत्ते से कुछ भी अंतर शुद्ध-बुद्धिओं द्वारा नहीं देखा गया है।

भावार्थ : जो मांस खाता है, वह कुत्ते के समान है; दोनों में कुछ अंतर नहीं है; क्योंकि वह भी निंद्य वस्तु खाता है, यह भी निंद्य वस्तु खाता है; ग्लानि दोनों के नहीं है।।१८/३६६।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस-भक्षण का फल वर्णित है—

स्वागता : **आमिषाशनपरस्य सर्वथा, विद्यते न करुणा शरीरिणः।**
पापमर्जति तथा विना परं, बम्भ्रमीति भवसागरे ततः।।१९/३६७।।

पल-भक्षण में रत प्राणी के, होती नहीं सर्वथा करुणा।
उसके विना पाप का संचय कर वह भव सागर में भ्रमता।।१९/३६७।।

शब्दशः अर्थ : आमिष+अशन-परस्य=मांस-भोजन में रत का; सर्वथा=किसी भी रूप में; विद्यते=होती है; न=नहीं; करुणा=दया; शरीरिणः=शरीर-धारी के; पापं=पाप को; अर्जति= बाँधता है; तया=उससे; विना=रहित; परं=बहुत; बम्भ्रमीति=घूमता है; भव-सागरे=संसार-समुद्र में; ततः=उससे।

अन्वय : आमिष-अशन-परस्य शरीरिण: सर्वथा करुणा न विद्यते; तया विना परं पापं अर्जति, तत: भवसागरे बम्भ्रमीति।

वचनिका : मांस को खाने में तत्पर पुरुष के, जीवों की करुणा सर्वथा/बिल्कुल भी नहीं होती है। दया के विना वह बहुत पाप उत्पन्न करता है। उस पाप से अधिकता पूर्वक/दीर्घ काल पर्यंत संसार-समुद्र में घूमता है।।१९/३६७।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस-भक्षिओं के पूज्य गुरु प्ररूपित हैं—

स्वागता : **नास्ति दूषणमिहामिषाशने, यैर्हृषीकवशगैर्निगद्यते।**

व्याघ्रशूकरकिरातधीवरास्तैर्निकृष्टहृदयैर्गुरूकृता:।।२०/३६८।।

जो इंद्रियाधीन कहें नहीं है दूषण यहाँ मांस अशन में।

निकृष्ट हृदयी वे व्याघ्र शूकर किरात धीवर को गुरु मानें।।२०/३६८।।

शब्दश: अर्थ : नास्ति=नहीं है; दूषणं=दोष; इह=यहाँ; आमिष+अशने=मांस के भोजन में; यै:=जिनके द्वारा; हृषीक-वशगै:=इंद्रियों के अधीन हुआ; निगद्यते=कहता है; व्याघ्र-शूकर-किरात-धीवरा:=व्याघ्र, शूकर, किरात/भील/शिकारी; धीवर/ढीमर/मछुआरा; तै:= उन; निकृष्ट-हृदयै:=नीच-हृदयी द्वारा; गुरू-कृता:=गुरु किए जाते हैं।

अन्वय : हृषीक-वशगै: यै: इह आमिष-अशने दूषणं नास्ति (इति) निगद्यते, तै: निकृष्ट-हृदयै: व्याघ्र-शूकर-किरात-धीवरा: गुरू-कृता:।

वचनिका : इंद्रियों के अधीन हुए जिन पुरुषों द्वारा 'मांस-भक्षण में दूषण नहीं है'—ऐसा कहा जाता है; उन नीच-हृदयी-जनों द्वारा व्याघ्र, शूकर, भील, ढीमर आदि, गुरु किए जाते हैं।

भावार्थ : जो मांस-भक्षण को निर्दोष बताते हैं; उनके पूज्य, मांस-भक्षी सिंहादि ठहरे; अत: मांस-भक्षण, रंच-मात्र भी भला नहीं है।।२०/३६८।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही पुन: स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **मान्सवल्भननिविष्टचेतस:, सन्ति पूजिततमा नरा यदि।**

गूथमूत्रकृतदेहपुष्टय:, शूकरा न नितरां तथा कथम्।।२१/३६९।।

मांस-भक्षण में निमग्न मन प्राणी पूजित कहे गए यदि।

तो मल-मूत्र से पुष्टी-देही, शूकर सदा पूज्य कैसे नहिं?।।२१/३६९।।

शब्दश: अर्थ : मान्स-वल्भन-निविष्ट-चेतस:=मांस-भक्षण में लगे हुए चित्तवाले; सन्ति=हैं; पूजित-तमा:=परम-पूज्य; नरा:=प्राणी; यदि=यदि; गूथ-मूत्र-कृत-देह-पुष्टय:=विष्टा और मूत्र से शरीर पुष्ट करनेवाले; शूकरा:=शूकर; न=नहीं; नितरां=हमेशा; तदा=तब; कथं=कैसे?

अन्वय : यदि मान्स-वल्भन-निविष्ट-चेतस: नरा पूजित-तमा: सन्ति; तदा नितरां गूथ-मूत्र-कृत-देह-पुष्ट्य: शूकरा: कथं न?

वचनिका : मांस के भक्षण में लगाए चित्तवाले पुरुष, यदि पूजने-योग्य हैं तो विष्टा और मूत्र से देह को पुष्ट करनेवाले शूकर, पूज्य कैसे नहीं होंगे?।।२१/३६९।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस संबंधी विडंबना दिखाते हैं—

स्वागता : **भक्षयन्ति पलमस्तचेतना:, सप्तधातुमयदेहसम्भवम्।**
यद्वदन्ति च शुचित्वमात्मन:, किं विडम्बनमत: परं बुधा:।।२२/३७०।।

सप्त-धातुमय देह से प्रकट पल को खाते दुर्बुद्धि जो।
कहते आतम की शुचिता को अति विडंबना ज्ञानी क्या हो?।।२२/३७०।।

शब्दश: अर्थ : भक्षयन्ति=खाते हैं; पलं=मांस को; अस्त-चेतना:=दुर्बुद्धि; सप्त-धातु-मय-देह-सम्भवं=सात धातुओंवाले शरीर से उत्पन्न; यत्=जो; वदन्ति=कहते हैं; च=और; शुचित्वं=शुचिता/पवित्रता; आत्मन:=आत्मा की; किं=क्या; विडम्बनं=विडंबना; अत:= इससे; परं=बड़ी; बुधा:=ज्ञानिओ।

अन्वय : यत् अस्त-चेतना: सप्त-धातु-मय-देह-सम्भवं पलं भक्षयन्ति च आत्मन: शुचित्वं वदन्ति, बुधा:! अत: परं विडम्बनं किम्?

वचनिका : जो बुद्धि-रहित, सप्त धातुमय देह से उत्पन्न मांस को खाते हैं और आत्मा की पवित्रता को कहते हैं; हे पंडितो! इससे अधिक और विडंबना क्या है? अपितु यही सबसे बड़ी विडंबना है।।२२/३७०।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस-भक्षण का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **भुञ्जते पलमघौघकारि ये, ते व्रजन्ति भवदु:खमूर्जितम्।**
ये पिबन्ति गरलं सुदुर्जरं, ते श्रयन्ति मरणं किमद्भुतम्।।२३/३७१।।

जो खाते पल पाप-भंडारक, वे पाते अति बहुविध भव-दुख।
जो पीते विष को अति दुर्जर, वे पाएं मृत्यु क्या अद्भुत?।।२३/३७१।।

शब्दश: अर्थ : भुञ्जते=खाते हैं; पलं=मांस को; अघ+औघ-कारि=पापों के समूह को करनेवाले; ये=जो; ते=वे; व्रजन्ति=पाते हैं; भव-दु:खं=संसार के दु:ख को; ऊर्जितं= अत्यधिक; ये=जो; पिबन्ति=पीते हैं; गरलं=विष को; सुदुर्जरं=अत्यधिक कठिनाई पूर्वक उतरनेवाले; ते=वे; श्रयन्ति=पाते हैं; मरणं=मृत्यु को; किं=क्या; अद्भुतं=आश्चर्य।

अन्वय : ये अघ-औघ-कारि पलं भुञ्जते, ते ऊर्जितं भव-दु:खं व्रजन्ति; ये सुदुर्जरं गरलं पिबन्ति, ते मरणं श्रयन्ति, अद्भुतं किम्?

वचनिका : जो पाप के समूह को करनेवाला मांस खाते हैं, वे संसार के तीव्र दुःखों को प्राप्त करते हैं। यहाँ दृष्टांत बताते हैं; जैसे—जो पुरुष, अति कठिनाई से उतरनेवाले विष को पीते हैं, वे मरण को प्राप्त हो जाएं; तो इसमें आश्चर्य क्या है?

भावार्थ : मांस-भक्षक, संसार में भ्रमण करे; इसका आश्चर्य नहीं है।।२३/३७१।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस और अन्न के अंतर को स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **चित्रदुःखसुखदानपण्डिते, ये वदन्ति पिशिताशने समे।**
मृत्युजीवितविवर्धनोद्यते, ते वदन्ति सदृशे विषामृते।।२४/३७२।।

निपुण विविध सुख दुःख दान में, अन्न मांस इक सम जो कहते।
रत मृत्यु जीवन वर्धन में, विष अमृत इक सम वे कहते।।२४/३७२।।

शब्दशः अर्थ : चित्र-दुःख-सुख-दान-पण्डिते=अनेक प्रकार के दुःख-सुख देने में समर्थ; ये=जो; वदन्ति=कहते हैं; पिशित+अशने=मांस और अन्न को; समे=एक समान; मृत्यु-जीवित-विवर्धन+उद्यते=मरण और जीवन को बड़ाने में समर्थ; ते=वे; वदन्ति=कहते हैं; सदृशे=एक-समान; विष+अमृते=विष और अमृत को।

अन्वय : ये चित्र-दुःख-सुख-दान-पण्डिते पिशित-अशने समे वदन्ति, ते मृत्यु-जीवित-विवर्धन-उद्यते विष-अमृते सदृशे वदन्ति।

वचनिका : अनेक प्रकार के दुःख और सुख देने में प्रवीण, मांस और अन्नादि को जो समान कहते हैं; वे मरण और जीवन को बड़ाने में उद्यमी, विष और अमृत को समान कहते हैं।

भावार्थ : जो मांस-भक्षण और अन्न-भक्षण को समान कहते हैं; वे विष और अमृत को समान कहते हैं। वास्तव में वे समान नहीं हैं; क्योंकि मांस-भक्षण में तीव्र राग है और अन्न-भक्षण में मंद राग है; अतः दोनों में बड़ा भेद है—ऐसा जानना।।२४/३७२।।

अब, पुनः इसी विषय को अन्य प्रकार से पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **जायते द्वितयलोकदुःखदं, भक्षितं पिशितमङ्गसङ्गिनाम्।**
भक्षितं द्वितयजन्मशर्मदं, जायतेऽशनमपास्तदूषणम्।।२५/३७३।।

होते दोनों लोक दुखद ही, पल-भक्षक प्राणी का सब ही।
होते दोनों लोक सुखद ही, दोष-रहित भक्षक अन्नादि।।२५/३७३।।

शब्दशः अर्थ : जायते=होता है; द्वितय-लोक-दुःखदं=दोनों लोकों में दुःख देनेवाला; भक्षितं=खाया हुआ; पिशितं=मांस; अङ्ग-सङ्गिनां=प्राणिओं का; भक्षितं=खाया हुआ; द्वितय-जन्म-शर्मदं=दोनों जन्मों में सुख देनेवाला; जायते=होता है; अशनं=अन्न; अप+अस्त-दूषणं=दोष से रहित/शुद्ध।

अन्वय : पिशितं भक्षितं अङ्ग-सङ्गिनां द्वितय-लोक-दुःखदं जायते; अपास्त-दूषणं अशनं भक्षितं द्वितय-जन्म-शर्मदं जायते।

वचनिका : जीवों का मांस खाया हुआ, इस-लोक में और पर-लोक में दुःख-दायक होता है और दूषण-रहित भोजन खाया हुआ, इस-लोक में और पर-लोक में सुख-दायक होता है।।२५/३७३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मांस-त्याग की प्रेरणा देते हैं—

स्वागता : **मान्समित्थमवबुध्य दूषितं त्यज्यते हितगवेषिणा त्रिधा*।**
मन्दिरं न विदता निषेव्यते तीव्रदृष्टिविषपन्नगाकुलम्।।२६/३७४।।

इसप्रकार पल दोष जानकर, छोड़ते त्रिधा हित के शोधक।
तीव्र दृष्टि विष सर्प सहित घर, में नहिं रहते उसके ज्ञायक।।२६/३७४।।

शब्दशः अर्थ : मान्सं=मांस को; इत्थं=इसप्रकार; अवबुध्य=जानकर; दूषितं=दोषवाला; त्यज्यते=छोड़ दिया जाता है; हित-गवेषिणा=हित खोजनेवाले के द्वारा; त्रिधा=मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार से; मन्दिरं=घर को; न=नहीं; विदता=जाननेवाले के द्वारा; निषेव्यते=सेवन किया जाता है; तीव्र-दृष्टि-विष-पन्नग+आकुलं=तीव्र दृष्टि-विष सर्प से सहित।

अन्वय : इत्थं मान्सं दूषितं अवबुध्य हित-गवेषिणा त्रिधा/सदा त्यज्यते; तीव्र-दृष्टि-विष-पन्नग-आकुलं मन्दिरं विदता न निषेव्यते।

वचनिका : हित को खोजनेवाले पुरुष द्वारा, इसप्रकार मांस को दूषित जानकर मन, वचन काय पूर्वक सदा त्याग किया जाता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—जाननेवाले पुरुष द्वारा, तीव्र दृष्टि-विष सर्प से सहित घर, सेवन नहीं किया जाता है।।२६/३७४।।

इसप्रकार मांस-सेवन का निषेध किया।

अब, आगे सात पद्यों द्वारा मधु-सेवन का निषेध करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मधु-सेवी को खटीक से भी बड़ा पापी प्ररूपित है—

स्वागता : **माक्षिकं विविधजन्तुघातजं, खादयन्ति बहुदुःखकारि ये।**
स्वल्पजन्तु-विनिपातिभिः समास्ते भवन्ति कथमत्र खादिकैः।।२७/३७५।।

विविध जंतु हिंसा से जन्मे, बहु दुखकारक मधु जो खाते।
अल्प जंतु घातक खटीक के, सम वे कैसे यहाँ हो सकें?।।२७/३७५।।

शब्दशः अर्थ : माक्षिकं=शहद को; विविध-जन्तु-घातजं=अनेक प्रकार के प्राणिओं के

* सदा-पाठांतर है।

घात से उत्पन्न; खादयन्ति=खाते हैं; बहु-दु:ख-कारि=अनेक दु:खों को करनेवाला; ये=जो; स्वल्प-जन्तु-विनिपातिभि:=थोड़े प्राणिओं को मारनेवाले; समा:=समान; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; कथं=कैसे; अत्र=यहाँ; खादिकै:=खटीक से।

अन्वय : ये विविध-जन्तु-घातजं बहु-दु:ख-कारि माक्षिकं खादयन्ति, ते अत्र स्वल्प-जन्तु-विनिपातिभि: खादिकै: समा: कथं भवन्ति।

वचनिका : जो व्यक्ति अनेक प्रकार के जीवों के घात से उत्पन्न और महा दु:खों के देनेवाले मधु को खाते हैं; वे थोड़े जीवों के घातक खटीक/धीवर के समान कैसे हो सकते हैं?

भावार्थ : मधु को खानेवाला खटीक से भी बड़ा पापी है—ऐसा जानना।।२७/३७५।।

अब, इस पद्य द्वारा मधु-सेवन के पाप को सोदाहरण तुलनात्मक पद्धति से प्रस्तुत करते हैं—

स्वागता : **ग्रामसप्तकविदाहरेपसा, तुल्यता न मधुभक्षिरेपस:।**
तुल्यमञ्जलिजलेन कुत्रचिन्निम्नगापतिजलं न जायते।।२८/३७६।।

सात ग्राम दाहकी पाप से, मधु भक्षक अघ सम न हो सके।
कहीं तुल्यता अंजुलि जल से, हो सकती जल की सागर के?।।२८/३७६।।

शब्दश: अर्थ : ग्राम-सप्तक-विदाह-रेपसा=सात ग्राम जलाने के पाप से; तुल्यता=समानता; न=नहीं; मधु-भक्षि-रेपसा=शहद खानेवाले के पाप की; तुल्यं=समान; अञ्जलि-जलेन= अंजुली के जल से; कुत्रचित्=कहीं; निम्नगा-पति-जलं=समुद्र का जल; न=नहीं; जायते= होता है।

अन्वय : (यथा) कुत्रचित् अञ्जलि-जलेन निम्नगा-पति-जलं तुल्यं न जायते; (तथा) ग्राम-सप्तक-विदाह-रेपसा मधु-भक्षि-रेपस: तुल्यता न।

वचनिका : जैसे—अंजुलि के जल से समुद्र का जल, असंख्यात गुणा है; अत: अंजुलि के जल से समुद्र के जल की तुलना नहीं हो सकती है; उसीप्रकार सात ग्राम के दाह से भी असंख्यात गुणा पाप, मधु-सेवन करने में बताया है; अत: सात ग्राम को जलाने के पाप से मधु-भक्षक के पाप की समानता नहीं है।।२८/३७६।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि मधु-सेवी के शुद्धता नहीं होती है—

स्वागता : **म्लेच्छलोकमुखलालयाविलं, मद्यमान्सचितभाजनस्थितम्।**
सारघं गतघृणस्य खादत:, कीदृशं भवति शौचमुच्यताम्।।२९/३७७।।

म्लेच्छ लोक मुख लार से मलिन, मद्य मांस युत बर्तन स्थित।
मधु को खाते ग्लानि-विरहित के पवित्रता कैसे हो उस?।।२९/३७७।।

शब्दश: अर्थ : म्लेच्छ-लोक-मुख-लालया=म्लेच्छ लोगों के मुख की लार से; आविलं=मलिन; मद्य-मांस-चित-भाजन-स्थितं=मदिरा और मांस रखे गए बर्तनों में रखे हुए; सारघं=मधु को; गत-घृणस्य=घृणा से रहित हो; खादत:=खाते हुए के; कीदृशं=कैसे; भवति=होती है; शौचं=पवित्रता; उच्यतां=कहिए।

अन्वय : चतुर्थ पंक्ति में 'शौचं कीदृशं भवति'—इतने परिवर्तन पूर्वक शेष संपूर्ण पद अन्वय शैली में ही हैं।

वचनिका : म्लेच्छ भील लोगों के मुख की लार से मलिन, मद्य-मांस के संचयवाले बर्तनों में रखे हुए, पुण्य को नष्ट करनेवाले मधु को खानेवाले, ग्लानि-रहित व्यक्ति के, पवित्रता कैसी है? उसे कहिए।।२९/३७७।।

अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि मधु-सेवी के करुणा नहीं होती है—

स्वागता : **यश्चिखादिषति* सारघं कुधीर्मक्षिकागणविनाशनस्पृह:।**
पापकर्दमनिषेधनिम्नगा तस्य हन्त करुणा कुतस्तनी।।३०/३७८।।

मक्खिओं की विनाश कामना वाला कुधी मधु को खाता।
पाप पंक प्रक्षालक सरिता, उसके कैसे संभव करुणा?।।३०/३७८।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; चिखादिषति=खाने की इच्छा करता है; चिकादिषति=नष्ट करने का इच्छुक; सारघं=शहद को; कुधी:=अज्ञानी; मक्षिका-गण-विनाशन-स्पृह:=मक्खिओं के समूह का विनाश करने की इच्छा करनेवाला; पाप-कर्दम-निषेध-निम्नगा=पापरूपी कीचड़ को नष्ट करने के लिए नदी; तस्य= उसका; हन्त=हाय; करुणा=दया; कुतस्तनी=कैसी?

अन्वय : मक्षिका-गण-विनाशन-स्पृह: य: कुधी: सारघं चिखादिषति/चिकादिषति, हन्त तस्य पाप-कर्दम-निषेध-निम्नगा करुणा कुतस्तनी?

वचनिका : मक्खिओं के समूह को नष्ट करने की इच्छावाला जो कुबुद्धि, मधु खाने की इच्छा करता है; बड़ा आश्चर्य है कि उसके करुणा कैसे हो सकती है? वह करुणा कैसी है? पापरूपी कीचड़ को दूर करने के लिए वह नदी के समान है।।३०/३७८।।

अब, इस पद्य द्वारा मधु-भक्षी के पुण्य-संचय की नाशकता को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **भक्षितोमधुकणोऽपि सञ्चितं, सूदते झटिति पुण्यसञ्चयम्।**
काननं विषमशोर्चिष: कण:, किं न भक्षयति वृक्षसङ्कटम्।।३१/३७९।।

---

* चिकादिषति-पाठांतर है।

मधु कण का भी भक्षण शीघ्र संचित पुण्य विनष्ट करे ही।
अग्नि का कण करे भस्म ही, कानन वृक्ष समूह बहुत भी।।३१/३७९।।

शब्दश: अर्थ : भक्षित:=खाया गया; मधु-कण:=शहद की बूँद; अपि=भी; सञ्चितं=एकत्रित; सूदते=नष्ट कर देता है; झटिति=शीघ्र; पुण्य-सञ्चयं=पुण्य का समूह; काननं=महा वन; विषमशोर्चिष:=अग्नि का; कण:=एक कण; किं=क्या; न=नहीं; भक्षयति=भस्म कर देती है; वृक्ष-सङ्कटं=वृक्षों के समूहवाले।

अन्वय : भक्षित: मधु-कण: अपि सञ्चितं पुण्य-सञ्चयं झटिति सूदते; किं विषमशोर्चिष: कण: वृक्ष-सङ्कटं काननं न भक्षयति?

वचनिका : भक्षण किया गया मधु का एक कण भी वास्तव में पुण्य के समूह को शीघ्र नष्ट कर देता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—अग्नि का कण, वृक्षों के समूहवाले वन का क्या भक्षण नहीं करता है? जलाता नहीं है? जलाता ही है।।३१-३७९।।

औषधि के रूप में खाया गया मधु भी दु:ख-दायक ही है; इसे अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण बताते हैं—

स्वागता : **योऽत्ति नाम मधुभेषजेच्छया सोऽपि याति लघु दु:खमुल्वणम्।**
किं न नाशयति जीवितेच्छया भक्षितं झटिति जीवितं विषम्।।३२/३८०।।

औषधि इच्छा से जो खाता, वह भी शीघ्र तीव्र दुख पाता।
जीवन इच्छा से विष खाता तो भी शीघ्र मरण ही पाता।।३२/३८०।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; अत्ति=खाता है; नाम=प्रसिद्ध; मधु=शहद; भेषज+इच्छया=औषधि की इच्छा से; स:=वह; अपि=भी; याति=पाता है; लघु=शीघ्र; दु:खं=दु:ख को; उल्वणं=तीव्र; किं=क्या; न=नहीं; नाशयति=नष्ट करता है; जीवित+इच्छया=जीवन की इच्छा से; भक्षितं=खाया हुआ; झटिति=शीघ्र; जीवितं=जीवन; विषं=विष।

अन्वय : य: भेषज-इच्छया नाम मधु अत्ति स: अपि लघु उल्वणं दु:खं याति; जीवित-इच्छया भक्षितं विषं जीवितं किं झटिति न नाशयति?

वचनिका : जो औषधि की इच्छा से भी प्रसिद्ध शहद को खाता है, वह भी तीव्र दु:ख को शीघ्र प्राप्त होता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—जीवन की इच्छा से खाया गया विष, क्या जीवन को शीघ्र नष्ट नहीं करता है? नष्ट करता ही है।।३२/३८०।।

विद्वानों को शहद का त्याग करना चाहिए, यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

स्वागता : **घोरदु:खदमवेत्य कोविदा वर्जयन्ति मधु शर्मकाङ्क्षिण:।**
कुत्र तापकमवेत्य पावकं गृह्यते शिशिरलोलमानसा:।।३३/३८१।।

सुख-वांक्षक विद्वान जानकर तजते शहद घोर दुख-दायक।
नहिं लेते शीतलता इच्छुक अग्नि समझ ताप की दायक।।३३/३८१।।

शब्दश: अर्थ : घोर-दु:खदं=तीव्र दु:ख देनेवाला; अवेत्य=जानकर; कोविदा:=विद्वान; वर्जयन्ति=छोड़ देते हैं; मधु=शहद; शर्म-काङ्क्षिण:=सुख के इच्छुक; कुत्र=कहाँ; तापकं=ताप देनेवाली; अवेत्य=जानकर; पावकं=अग्नि को; गृह्यते=लेता है; शिशिर-लोल-मानसा:=शीतलता की लालसावाले व्यक्ति।

अन्वय : शम-काङ्क्षिण: कोविदा: घोर-दु:खदं अवेत्य मधु वर्जयन्ति; शिशिर-लोल-मानसा: तापकं अवेत्य पावकं कुत्र गृह्यते?

वचनिका : सुख के वांक्षक पंडित जन, घोर दु:ख-दायक जानकर मधु का त्याग करते हैं। उसका दृष्टांत कहते हैं—शीतलता की लालसावाले पुरुष, ताप-दायक जानकर क्या अग्नि का ग्रहण करते हैं? नहीं करते हैं।।३३/३८१।।

इसप्रकार मधु-सेवन का निषेध किया।

अब, आगे तीन पद्यों द्वारा नवनीत/मक्खन के सेवन का निषेध करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उसे महा पाप-दायक सिद्ध करते हैं—

स्वागता : **सन्सजन्ति विविधा: शरीरिण: यत्र सूक्ष्मतनव: निरन्तरा:।**
तद्ददाति नवनीतमङ्गिनां पापतो न परमत्र सेवितम्।।३४/३८२।।

जिसमें सूक्ष्म शरीरी प्राणी होते रहते विविध सतत ही।
पाता प्राणी मक्खन सेवी, घोर पाप उससे बड़कर नहिं।।३४/३८२।।

शब्दश: अर्थ : सन्सजन्ति=उत्पन्न होते हैं; विविधा:=अनेक प्रकारवाले; शरीरिण:=प्राणी; यत्र=जहाँ; सूक्ष्म-तनव:=छोटे शरीरवाले; निरन्तरा:=हमेशा; तत्=वह; ददाति=देता है; नवनीतं=मक्खन; अङ्गिनां=प्राणिओं का; पापत:=पाप से; न=नहीं; परं=दूसरा; अत्र=यहाँ; सेवितं=सेवन किया।

अन्वय : यत्र विविधा: सूक्ष्म-तनव: शरीरिण: निरन्तरा: सन्सजन्ति, तत् सेवितं नवनीतं अत्र अङ्गिनां पापत: परं न तत् ददाति।

वचनिका : जिसमें छोटे शरीरवाले अनेक प्रकार के जीव निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं; वह सेवन किया हुआ मक्खन, जीवों को वह पाप देता है, जिससे बड़कर लोक में अन्य कोई पाप नहीं है।।३४-३८२।।

मक्खन-भक्षी के रंच-मात्र भी धर्म-साधन नहीं है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है—

स्वागता : **चित्रजीवगणसूदनास्पदं यैर्विलोक्य नवनीतमद्यते।**
तेषु संयमलवो न विद्यते धर्मसाधनपरायणा कुत:।।३५/३८३।।

विविध जीवगण मृत्युस्थल मक्खन समझ तथापि भक्षण।
उनमें लेश नहीं है संयम कैसे धर्म हेतु हों तत्पर?।।३५/३८३।।

शब्दश: अर्थ : चित्र-जीव-गण-सूदन+आस्पदं=अनेक प्रकार के जीवों के समूह की मृत्यु का स्थानभूत; यै:=जिनके द्वारा; विलोक्य=देखकर; नवनीतं=मक्खन; अद्यते=खाया जाता है; तेषु=उनमें; संयम-लव:=संयम का अंश भी; न=नहीं; विद्यते=रहता है; धर्म-साधन-परायणा=धर्म का साधन करने में तत्परता; कुत:=कैसे?

अन्वय : यै: विलोक्य चित्र-जीव-गण-सूदन-आस्पदं नवनीतं अद्यते, तेषु संयमलव: न विद्यते, धर्म-साधन-परायणा कुत:?

वचनिका : अनेक प्रकार के जीवों के समूह के विनाश के स्थानभूत समझकर भी जिन पुरुषों द्वारा मक्खन खाया जाता है; उन पुरुषों में संयम का अंश भी नहीं है; तब फिर धर्म-साधन में उनकी तत्परता कहाँ से हो? नहीं होती है।।३५/३८३।।

मक्खन खानेवाले की क्या गति होगी? इसप्रकार की आशंका आचार्यश्री अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

स्वागता : **यन्मुहूर्तयुगत: पर: सदा मूर्छति प्रचुरजीवराशिभि:।**
यद्गिलन्ति नवनीतमत्र ये, ते व्रजन्ति खलु कां गतिं मृता:।।३६/३८४।।

दो मुहूर्त से आगे बहुविध मूर्छित जीव-राशि-संपन्न।
मक्खन यहाँ करें जो भक्षण वे जाएं किस गति मरण कर?।।३६/३८४।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; मुहूर्त-युगत:=दो मुहूर्त से; पर:=आगे; सदा=हमेशा; मूर्छति=मूर्छित/परिपूर्ण रहता है; प्रचुर-जीव-राशिभि:=बहुत अधिक जीवों के समूह से; तत्=वह/उसे; गिलन्ति=खाते हैं; नवनीतं=मक्खन को; अत्र=यहाँ; ये=जो; ते=वे; व्रजन्ति=जाते हैं; खलु=वास्तव में; कां=किस; गतिं=गति को; मृता:=मरे हुए/मरण के बाद।

अन्वय : यत् मुहूर्त-युगत: पर: प्रचुर-जीव-राशिभि: मूर्छति, अत्र ये तत् नवनीतं गिलन्ति, मृता: ते खलु कां गतिं व्रजन्ति?

वचनिका : जो मक्खन दो मुहूर्त (अन्यत्र २ घड़ी/४८ मिनिट) के बाद जीवों के प्रचुर समूहों द्वारा मूर्छित हो जाता है/उसमें संमूर्छन जीव हो जाते हैं; उस मक्खन को यहाँ जो खाते हैं; मरे हुए/मरणकर वे वास्तव में किस गति में जाएंगे? उनकी क्या गति होगी? इसप्रकार की आशंका आचार्य ने की है।

भावार्थ : यहाँ जो दो मुहूर्त मक्खन की मर्यादा कही है, (अन्यत्र एक मुहूर्त ही बताई गई है) वह तपाने/गर्म करने की अपेक्षा है; खाने की अपेक्षा नहीं है; क्योंकि रागादि की कारणता से भक्षण तो किसी भी प्रकार से योग्य नहीं है—ऐसा जानना।।३६/३८४।।

किसे इन चारों का सर्वथा त्याग करना चाहिए? अब, इससे वह वर्णित है—

स्वागता : **ये जिनेन्द्रवचनानुसारिणो घोरजन्मवनपातभीरव:।**
तैश्चतुष्टयमिदं विनिन्दितं जीवितावधि विमुच्यते त्रिधा।।३७/३८५।।

जो जिनेंद्र वचनानुसारि हैं घोर भव-वन पतन से भीत हैं।
निंदित चारों जीवन तक वे मन वच तन से उन्हें छोड़ते।।३७/३८५।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; जिनेन्द्र-वचन+अनुसारिण:=जिनेंद्र भगवान के वचनों का अनुसरण करनेवाले; घोर-जन्म-वन-पात-भीरव:=संसाररूपी घोर वन में गिरने/फसने से भय-भीत; तै:=उनके द्वारा; चतुष्टयं=चार/मदिरा, मांस, मधु, नवनीत; इदं=यह; विनिन्दितं=विशेष निंदनीय; जीवित+अवधि:=जीवन पर्यंत; विमुच्यते=छोड़ने-योग्य; त्रिधा=तीन प्रकार से।

अन्वय : ये जिनेन्द्र-वचन-अनुसारिण: घोर-जन्म-वन-पात-भीरव: तै: इदं विनिन्दितं चतुष्टयं त्रिधा जीवित-अवधि: विमुच्यते।

वचनिका : जो जीव संसार-वन में पतन से भय-भीत हैं और जिनेंद्र के वचनों का अनुसरण करते हैं; उन्हें निंदनीय मद्य, मांस, मधु, मक्खन—ये चार, जीवन पर्यंत मन, वचन, काय से त्याग कर देना चाहिए।।३७/३८५।।

अब, इस पद्य द्वारा इन चार के सेवन का फल बताते हैं—

स्वागता : **मद्यमान्सनवनीतसारघं यैश्चतुष्कमिदमद्यते सदा।**
गृद्धिरागवधसङ्गबृंहकं तैश्चतुर्गतिभवो विगाह्यते।।३८/३८६।।

गृद्धि राग घात संग वर्धक मद्य मांस मधु मक्खन ये नित।
जो खाते ये चार उन्हें नित चार गति का भ्रमण मिले नित।।३८/३८६।।

शब्दश: अर्थ : मद्य-मांस-नवनीत-सारघं=मदिरा, मांस, मक्खन, मधु को; यै:=जिनके द्वारा; चतुष्कं=चार; इदं=यह; अद्यते=खाया जाता है; सदा=हमेशा; गृद्धि-राग-वध-सङ्ग-बृंहकं=आसक्ति, राग, हिंसा के साथ को बड़ानेवाले; तै:=उनके द्वारा; चतु:-गति-भव:=चार गतिरूप संसार; विगाह्यते=अवगाहन किया जाता है।

अन्वय : यै: गृद्धि-राग-वध-सङ्ग-बृंहकं मद्य-मांस-नवनीत-सारघं इदं चतुष्कं सदा अद्यते, तै: चतुर्गति-भव: विगाह्यते।

वचनिका : जिनके द्वारा अति आसक्तता, राग, हिंसा के संग को बड़ानेवाले मद्य, मांस, मधु, मक्खन—ये चार सदा खाए जाते हैं; उनके द्वारा चार गतिरूपी संसार अवगाहित है/परिभ्रमण किया जाता है।।३८/३८६।।

अब, इस पद्य द्वारा किसी एक के सेवन की भयंकरता बताते हुए चारों के सेवन की अनिर्वचनीय भयंकरता का प्ररूपण है—

स्वागता : **यः सुरादिषु निषेवतेऽधमो निन्द्यमेकमपि लोलमानसः।**
सोऽपि जन्मजलधावताड्यते कथ्यते किमिह सर्वभक्षिणः।।३९/३८७।।

जो चंचल मन नीच सुरादि में से सेवें निंद्य एक भी।
वे भ्रमते भव-सागर में ही तब क्या कहें यहाँ सब भक्षी?।।३९/३८७।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; सुरा+आदिषु=मदिरा आदि में; निषेवते=सेवन करता है; अधमः=नीच; निन्द्यं=निंदा के योग्य; एकं=एक; अपि=भी; लोल-मानसः=चंचल मनवाला; सः=वह; अपि=भी; जन्म-जल-धाव-ताड्यते=संसाररूपी समुद्र में भ्रमण करता है; कथ्यते=कहा जाता है; किं=क्या; इह=यहाँ; सर्व-भक्षिणः=सभी का सेवन करनेवाले।

अन्वय : यः लोल-मानसः अधमः सुरा-आदिषु निन्द्यं एकं अपि निषेवते, सः अपि जन्म-जल-धाव-ताड्यते, इह सर्व-भक्षिणः किं कथ्यते?

वचनिका : जो चंचल-चित्ती, नीच पुरुष, मदिरादि में से निंदनीय एक का भी सेवन करता है; वह भी संसार-सागर में भ्रमण करता है; तब फिर यहाँ, सभी को खानेवाले के लिए क्या कहें?।।३९/३८७।।

इसप्रकार मदिरादि चार महा विकृतिओं का निषेध किया।

अब, आगे अट्ठाईस पद्यों द्वारा रात्रि-भोजन का निषेध करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम तीन पद्यों द्वारा रात्रि का स्वरूप बताते हुए उसमें भोजन का निषेध करते हैं—

स्वागता : **यत्र राक्षसपिशाचसञ्चरो यत्र जन्तुनिवहो न दृश्यते।**
यत्र मुक्तमपि वस्तु भक्ष्यते यत्र घोरतिमिरं विजृम्भते।।४०/३८८।।
यत्र नास्ति यतिवर्गसङ्गमो यत्र नास्ति गुरुदेवपूजनम्।
यत्र संयमविनाशिभोजनं यत्र सन्सजति जीवभक्षणम्।।४१/३८९।।
यत्र सर्वशुभकर्मवर्जनं यत्र नास्ति गमनागमक्रिया।
तत्र दोषनिलये दिनात्यये धर्मकर्मकुशला न भुञ्जते।।४२/३८९।।

जहाँ राक्षस पिशाच घूमते प्राणी वर्ग दिखे नहिं जिसमें।
जिसमें छोड़ी वस्तु भि खाते घोर तिमिर फैले नित जिसमें।।४०/३८८।।
जहाँ नहीं मुनिवर का संगम जिसमें नहीं देव-गुरु-पूजन।
जिसमें संयम-नाशक भोजन हो जाता जीवों का भक्षण।।४१/३८९।।
जहाँ सभी शुभकर्म त्याज्य हैं गमनागमन क्रिया नहिं जिसमें।
दोष निलय दिन का अभाव है धर्म कर्म-कुशली न खाते।।४२/३९०।।

शब्दश: अर्थ : यत्र=जहाँ; राक्षस-पिशाच-सञ्चर:=राक्षस, पिशाच घूमते हैं; यत्र=जिसमें; जन्तु-निवह:=प्राणिओं का समूह; न=नहीं; दृश्यते=दिखाई देता है; यत्र=जिसमें; मुक्तं=छोड़ी हुई; अपि=भी; वस्तु=सामग्री; भक्ष्यते=खा ली जाती है; यत्र=जिसमें; घोर-तिमिरं=महा अंधकार; विजृम्भते=फैल जाता है।

यत्र=जहाँ; नास्ति=नहीं है; यति-वर्ग-सङ्गम:=मुनिराजों के समूह का सान्निध्य; यत्र=जिसमें; नास्ति=नहीं है; गुरु-देव-पूजनं=गुरु और देव की उपासना; यत्र=जिसमें; संयम-विनाशि-भोजनं=संयम का विनाश करनेवाला भोजन; यत्र=जिसमें; सन्सजति=हो जाता है; जीव-भक्षणं=जीवों का भक्षण।

यत्र=जिसमें; सर्व-शुभ-कर्म-वर्जनं=सभी शुभ कर्मों का निषेध; यत्र=जिसमें; गमन+आगम-क्रिया=जाने और आने की क्रिया; तत्र=वहाँ; दोष-निलये=दोषों के भंडारमय; दिन+अत्यये=दिन के अभावरूप/रात्रि में; धर्म-कर्म-कुशला:=धर्म और कर्म में प्रवीण; न=नहीं; भुञ्जते=भोजन करते हैं।

अन्वय : ४०वाँ पद्य अन्वय शैली में ही है।

यत्र यति-वर्ग-सङ्गम: न अस्ति, यत्र गुरु-देव-पूजनं न अस्ति, यत्र संयम-विनाशि-भोजनं यत्र जीव-भक्षणं सन्सजति; 'यत्र गमन-आगम-क्रिया न अस्ति'—इतने से परिवर्तन के अतिरिक्त शेष संपूर्ण पद्य अन्वय-शैली में ही है।

वचनिका : जिसमें राक्षस, पिशाचों का संचार होता है, जहाँ जीवों का समूह दिखाई नहीं देता है, जिसमें छोड़ी हुई वस्तु का भी भक्षण हो जाता है, जिसमें घोर अंधकार फैलता है; जिसमें यतिओं के समूह का सान्निध्य नहीं है, जिसमें गुरु और देव की पूजन नहीं होती है, जिसमें संयम का विनाश करनेवाला भोजन हो जाता है और जिसमें जीवों का भक्षण प्रकट होता है; जिसमें सभी शुभ कर्मों का वर्जन है, जिसमें गमन-आगमन क्रियाएं नहीं होती हैं; ऐसे दोषों के स्थान, दिन के अभावरूप रात्रि में, धर्म और कर्म में प्रवीण पुरुष भोजन नहीं करते हैं।।४०-४२/३८८-३९०।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजन करनेवालों की संगति बताते हैं—

स्वागता : **भुञ्जते निशि दुराशया यके गृद्धिदोषवशवर्तिनो जनाः।**
भूतराक्षस-पिशाचशाकिनी-सङ्गतिः कथममीभिरस्यते।।४३/३९१।।

जो दुष्टी आसक्ति दोष-वश-वर्ति हो निश में करें भोजन।
भूत राक्षस पिशाच शाकिनी, की संगति का कैसे त्याग?।।४३/३९१।।

शब्दशः अर्थ : भुञ्जते=खाते हैं; निशिः=रात्रि में; दुः+आशयाः=बुरे विचारवाले; यके=जो कोई; गृद्धि-दोष-वश-वर्तिनः=आसक्ति के दोष के अधीन; जनाः=प्राणी; भूत-राक्षस-पिशाच-शाकिनी-सङ्गतिः=भूत, राक्षस, पिशाच, शाकिनी की संगति; कथं=कैसे; अमीभिः= इनके द्वारा; अस्यते=छोड़ी जाती है।

अन्वय : यके दुराशयाः गृद्धि-दोष-वशः-वर्तिनः जनाः निशि भुञ्जते, अमीभिः भूत-राक्षस-पिशाच-शाकिनी-सङ्गतिः कथं अस्यते?

वचनिका : जो दुष्ट-चित्ती, लोलुपतारूप दोष के वशीभूत प्राणी, रात्रि में भोजन करते हैं; उनसे भूत, राक्षस, पिशाच, शाकिनी की संगति कैसे छोड़ी जा सकती है?

भावार्थ : जो रात्रि-भोजन करते हैं, उनके भूतादि की संगति अवश्य होती है।।४३/३९१।।

रात्रि में भोजन करनेवाला पशु है; यह अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **बल्भते दिननिशीथयोः सदा यो निरस्तयमसंयमक्रिया।**
शृङ्गपुच्छशफसङ्गवर्जितो भण्यते पशुरयं मनीषिभिः।।४४/३९२।।

तज यम संयम क्रिया सभी सत् निशिदिन खाता रहता नित सब।
सींग पूँछ पंखों से विरहित पशु कहें विद्वान सभी यह।।४४/३९२।।

शब्दशः अर्थ : बल्भते=खाता है; दिन-निशीथयोः=दिन-रात में; सदा=हमेशा; यः=जो; निरस्त-यम-संयम-क्रिया=यम, संयम की क्रिया को छोड़नेवाला; शृङ्ग-पुच्छ-शफ-सङ्ग-वर्जितः=सींग, पूँछ, पंख के संयोग से रहित; भण्यते=कहा गया है; पशुः=तिर्यंच; अयं=यह; मनीषिभिः=विद्वानों द्वारा।

अन्वय : निरस्त-यम-संयम-क्रिया यः दिन-निशीथयोः सदा बल्भते, अयं शृङ्ग-पुच्छ-शफ-सङ्ग-वर्जितः पशुः (इति) मनीषिभिः भण्यते।

वचनिका : यम, संयम क्रिया को दूर कर देनेवाला जो पुरुष, दिन-रात सदा खाता रहता है; यह पंडितों द्वारा सींग, पूँछ, पंख से रहित पशु कहा गया है।।४४/३९२।।

कौन-सी क्रिया कब, किसलिए होती है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

स्वागता : **आमनन्ति दिवसेषु भोजनं यामिनीषु शयनं मनीषिणः।**
ज्ञानिनामवसरेषु जल्पनं शान्तये गुरुषु पूजनं कृतम्।।४५/३९३।।

शांति हेतु भोजन दिन में विद्वद् मानें शयन रात में।
बोलें ज्ञानी स्व अवसर में शांत्यर्थ की पूजन गुरु में।।४५/३९३।।

शब्दशः अर्थ : आमनन्ति=मानते हैं; दिवसेषु=दिन में; भोजनं=भोजन; यामिनीषु=रात्रि में; शयनं=सोना; मनीषिणः=विद्वान; ज्ञानिनां=ज्ञानिओं का; अवसरेषु=अवसर में; जल्पनं=बोलना; शान्तये=शांति के लिए; गुरुषु=गुरुओं में; पूजनं=उपासना; कृतं=की गई।

अन्वय : मनीषिणः दिवसेषु भोजनं, यामिनीषु शयनं, ज्ञानिनां अवसरेषु जल्पनं, गुरुषु कृतं पूजनं शान्तये आमनन्ति।

वचनिका : पंडितजन, सुख के लिए दिन में भोजन कहते हैं; रात में सोना, शांति के लिए कहते हैं; ज्ञानिओं का अवसर में बोलना, शांति के लिए है; गुरुओं में की गई पूजन, शांति के लिए कहते हैं।।४५/३९३।।

अब, इस पद्य द्वारा भोजन की अपेक्षा मनुष्यों के भेद प्ररूपित हैं—

स्वागता : **भुज्यते गुणवतैकदा सदा मध्यमेन दिवसे द्विरुज्वले।**
येन रात्रिदिवयोरनारतं भुज्यते स कथितो नरोऽधमः।।४६/३९४।।

एक बार ही उत्तम खाते दिन में मध्यम दो में लेते।
रात दिन सदा खाते रहते उन्हें अधम नर ज्ञानी कहते।।४६/३९४।।

शब्दशः अर्थ : भुज्यते=खाया जाता है; गुणवता=गुणवान द्वारा; एकदा=एक बार; सदा=हमेशा; मध्यमेन=मध्यम द्वारा; दिवसे=दिन में; द्विः=दो बार; उज्ज्वले=पवित्र; येन=जिसके द्वारा; रात्रि-दिवयोः=रात-दिन में; अनारतं=निरंतर; भुज्यते=खाया जाता है; सः=वह; कथितः=कहा गया है; नरः=मनुष्य; अधमः=नीच।

अन्वय : गुणवता सदा एकदा भुज्यते मध्यमेन उज्ज्वले दिवसे द्विः भुज्यते येन अनारतं रात्रि-दिवयोः भुज्यते सः नरः अधमः कथितः।

वचनिका : गुणवान उत्तम पुरुष, सदा एक बार भोजन करते हैं; मध्यम पुरुष, उज्ज्वल दिन में दो बार भोजन करते हैं। जो दिन-रात निरंतर भोजन करते रहते हैं; वे पुरुष, अधम-नीच कहलाते हैं।।४६/३९४।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजन के त्याग का फल निरूपित है—

स्वागता : **ये विवर्ज्य वदनावसानयोर्वासरस्य घटिकाद्वयं सदा।**
भुञ्जते जितहृषीकवादिनस्ते भवन्ति भवभारवर्जिताः।।४७/३९५।।

आदि अंत दो घड़ी छोड़कर दिन में ही करते जो भोजन।
इंद्रिय रूपी अश्व विजय कर वे होते भव-भार से रहित।।४७/३९५।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; विवर्ज्य=छोड़कर; वदन+अवसानयो:=प्रारंभ और अंत की; वासरस्य=दिन की; घटिका-द्वयं=दो घड़ी; सदा=हमेशा; भुञ्जते=खाते हैं; जित-हृषीक-वाजिन:=इंद्रियरूपी घोड़ों को जीतनेवाले; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; भव-भार-वर्जिता:=संसार रूपी भार से रहित।

अन्वय : ये सदा वासरस्य वदन-अवसानयो: घटिका-द्वयं विवर्ज्य भुञ्जते, जित-हृषीक-वाजिन: ते भव-भार-वर्जिता: भवन्ति।

वचनिका : जो पुरुष, दिन की आदि और अंत संबंधी सदा दो घड़ी छोड़कर भोजन करते हैं; इंद्रियरूपी घोड़ों को जीतनेवाले वे, संसार के भार से रहित हो मुक्त हो जाते हैं।।४७/३९५।।

अब, इस पद्य द्वारा दिन में भी विधिवत् भोजन करने का फल बताते हैं—

स्वागता : **ये विधाय गुरुदेवपूजनं भुञ्जतेऽह्नि विमले निराकुला:।**
ते विधूय लघु मोहतामसं सम्भवन्ति सहसा महोदया:।।४८/३९६।।

देव गुरु की पूजन कर जो पावन दिन में निराकुली हो।
खाते नशकर मोह तिमिर को सहसा पाते महा उदय को।।४८/३९६।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; विधाय=करके; गुरु-देव-पूजनं=गुरु और देव की पूजन को; भुञ्जते=भोजन करते हैं; अह्नि-विमले=पवित्र दिन में; निराकुला:=आकुलता-रहित; ते=वे; विधूय=नष्ट करके; लघु=शीघ्र; मोह-तामसं=मोहरूपी अंधकार को; सम्भवन्ति=भली-भाँति होते हैं; सहसा=अचानक/सरलता पूर्वक; महा+उदया:=महान उदय/केवलज्ञान-संपन्न।

अन्वय : अह्नि-विमले गुरु-देव-पूजनं विधाय निराकुला: ये भुञ्जते, ते लघु मोह-तामसं विधूय सहसा महोदया: सम्भवन्ति।

वचनिका : जो पुरुष, निर्ग्रंथ गुरु का और अरहंत देव का पूजन करके निर्मल दिन में निराकुल होते हुए भोजन करते हैं; वे शीघ्र मोहरूपी अंधकार को नष्टकर सहसा महान उदयरूप होते हैं, केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं।।४८/३९६।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजन-त्याग का फल वर्णित है—

स्वागता : **यो विमुच्य निशिभोजनं त्रिधा सर्वदापि विदधाति वासरे।**
तस्य याति जननार्धमश्चितं भुक्तिवर्जितमपास्तरेपस:।।४९/३९७।।

जो त्रिधा तजे रात्रि-भोजन करे सर्वदा दिन में ही उस।
पाप-रहित का आधा जन्म अनशनमय भुक्ति से विरहित।।४४/३९७।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; विमुच्य=छोड़कर; निशि-भोजनं=रात्रि के भोजन को; त्रिधा=मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार से; सर्वदा=हमेशा; अपि=भी; विदधाति=करता है; वासरे=दिन में; तस्य=उसका; याति=जाता है; जनन+अर्धं=आधा जन्म; अश्रितं=सहित; भुक्ति-वर्जितं=भोजन से रहित; अपास्त-रेपस:=पाप से रहित का।

अन्वय : य: त्रिधा निशि-भोजनं विमुच्य सर्वदा अपि वासरे विदधाति, अपास्त-रेपस: तस्य जनन-अर्धं भुक्ति-वर्जितं अश्रितं याति।

वचनिका : जो पुरुष; मन, वचन, काय से सदा रात्रि में भोजन का त्यागकर दिन में भोजन करता है; उस पाप-रहित पुरुष का भोजन-रहित, उपवासरूप आधा जन्म व्यतीत होता है।।४९/३९७।।

अब, इस पद्य द्वारा मात्र रात्रि में भोजन करने का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **यो निवृत्तिमविधाय वल्भनं वासरेषु वितनोति मूढधी:।**
तस्य किञ्चन न विद्यते फलं भाषिन: न विना फलन्तराम्।।५०/३९८।।

दिन में भोजन त्याग निवृत्ति करता भोजन रात मूढधी।
उसका फल होता नहिं कुछ भी कारण विना कहा फलतर नहिं।।५०/३९८।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; निवृत्तिं=व्रत को; अविधाय=नहीं कर; वल्भनं=भोजन; वासरेषु=दिन में; वितनोति=फैलाता है; मूढ-धी:=खोटी बुद्धिवाला; तस्य=उसका; किञ्चन=कुछ; न=नहीं; विद्यते=होता है; फलं=परिणाम को; भाषिन:=कहे गए विशिष्ट कारण के; न=नहीं; विना=अतिरिक्त; फलन्तरां=श्रेष्ठ फल।

अन्वय : य: मूढ-धी: वासरेषु वल्भनं अविधाय निवृत्तिं वितनोति, तस्य किञ्चन फलं न विद्यते भाषिन: विना फलन्तरां न।

वचनिका : जो मूढ-बुद्धि पुरुष, दिन में भोजन नहीं करनेरूप निवृत्तिमय व्रत को स्वीकारकर रात्रि में भोजन करता है; उसे उसका कुछ फल नहीं होता है? क्योंकि कहे गए विशिष्ट कारण के विना विशिष्ट फल प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : कोई कहता है कि दिन में भोजन नहीं करना और रात्रि में करना — यह भी एक व्रत है। उससे कहते हैं कि ऐसा मार्ग नहीं है; क्योंकि रात्रि-भोजन में द्रव्य-भाव-हिंसा की अधिकता है; अत: ऐसे व्रत से कुछ फल नहीं; पाप ही होता है। जैसे — कोई अन्न छोड़कर मांस-भक्षण करे; उसीप्रकार ऐसा व्रत पाप के लिए ही जानना।।५०/३९८।।

अब, इससे कृत्रिम प्रकाश में किए गए भोजन के दोष को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **ये व्यवस्थितमहस्सु सर्वदा शर्वरीषु रचयन्ति भोजनम्।**
निम्नगामि सलिलं निसर्गतस्ते नयन्ति शिखरेषु शाखिनाम्।।५१/३९९।।

स्थापित है तेज रात में जो नित भोजन रचते उसमें।
निम्न-गामि जल है स्वभाव से, वे लेते तरु के शिखरों में।।५१/३९९।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; व्यवस्थित-महस्सु=स्थापित किए गए तेजवाली; सर्वदा=हमेशा; शर्वरीषु=रात्रि में; रचयन्ति=रचते हैं; भोजनं=भोजन को; निम्न-गामि=नीचे की ओर/ढाल के अनुसार बहनेवाले; सलिलं=जल को; निसर्गत:=स्वभाव से; ते=वे; नयन्ति=ले जाते हैं; शिखरेषु=शिखरों में/टोकों पर; शाखिनां=वृक्षों की।

अन्वय : ये सर्वदा व्यवस्थित-महस्सु शर्वरीषु भोजनं रचयन्ति, ते निसर्गत: निम्न-गामि-सलिलं शाखिनां शिखरेषु नयन्ति।

वचनिका : जो पुरुष, स्थापित किए गए दीपकादि के प्रकाशवाली रात्रि में भोजन को रचते हैं; वे स्वभाव से नीचे की ओर चलनेवाले जल को वृक्षों के शिखरों में ले जाते हैं।

भावार्थ : कोई ऐसा कहते हैं कि रात्रि में दीपक आदि के प्रकाश द्वारा हम हिंसा का निवारण कर लेंगे। उससे कहते हैं कि रात्रि में हिंसा अनिवार्य है; क्योंकि भोजन के आश्रित जीव और दीपकादि के आश्रित जीव नियम से पाते जाते हैं। उसमें रागादि की तीव्रता भी होती है; अत: रात्रि में हिंसा अनिवार्य है; उसका निराकरण संभव नहीं है। यहाँ इसके लिए दृष्टांत दिया है। जैसे—जल का स्वभाव नीचे/ढाल के अनुसार बहना है। वह ऊपर चड़े; इसकी कोई भी विधि सहज संभव नहीं है—ऐसा जानना।।५१/३९९।।

अब, इससे रात्रि-भोजन की सुख-करता की असंभवता सोदाहरण प्ररूपित है—

स्वागता : **सूचयन्ति सुखदायि येऽङ्गिनां रात्रिभोजनमपास्तचेतना:।**
पावकोद्धतशिखाकरालितं ते वदन्ति फलदायि काननम्।।५२/४००।।

जो अज्ञानी रात्रि-भोजन कहते प्राणी को सुख-दायक।
वे अग्नि से जले वृक्षयुत वन को कहते हैं फल-दायक।।५२/४००।।

शब्दश: अर्थ : सूचयन्ति=सूचित करते हैं; सुख-दायि=सुख देनेवाला; ये=जो; अङ्गिनां=प्राणिओं का; रात्रि-भोजनं=रात्रि में भोजन को; अप+अस्त-चेतना:=अज्ञानी; पावक+उद्धत-शिखा+आकर+आलितं=अग्नि की प्रचंड शिखाओं द्वारा जले हुए; ते=वे; वदन्ति=कहते हैं; फल-दायि=फल देनेवाला; काननं=जंगल को।

अन्वय : ये अपास्त-चेतना: अङ्गिनां रात्रि-भोजनं सुख-दायि सूचयन्ति, ते पावक-उद्यत-शिखा-आकर-आलितं काननं फल-दायि वदन्ति।

वचनिका : जो अज्ञानी 'रात्रि-भोजन, जीवों को सुख-दायक है'—ऐसा कहते हैं; वे अग्नि की प्रचंड शिखाओं द्वारा जले हुए वन को फल-दायक कहते हैं; परंतु ऐसा होता नहीं है।।५२/४००।।

अब, इस पद्य द्वारा दिन और रात के भोजन को समान कहनेवाली अज्ञानता सोदाहरण निरूपित है—

स्वागता : **ये ब्रुवन्ति दिनरात्रिभोगयोस्तुल्यतां रचितपुण्यपापयोः।**
ते प्रकाशतमसोः समानतां दर्शयन्ति सुखदुःखकारिणोः।।५३/४०१।।

पुण्य-पाप-दाई दिन-रात्रि भोजन एक समान कहें ही।
वे प्रकाश तम सुख-दुख-कारी को समान दिखलाएं मूढधी।।५३/४०१।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; ब्रुवन्ति=कहते हैं; दिन-रात्रि-भोगयोः=दिन और रात के भोजन में; तुल्यतां=समानता को; रचित-पुण्य-पापयोः=पुण्य और पाप को रचनेवाले; ते=वे; प्रकाश-तमसोः=उजाला और अंधकार में; समानतां=समानता को; दर्शयन्ति=दिखाते हैं; सुख-दुःख-कारिणः=सुख और दुःख को करनेवाले।

अन्वय : रचित-पुण्य-पापयोः दिन-रात्रि-भोगयोः ये तुल्यतां ब्रुवन्ति, ते सुख-दुःख-कारिणोः प्रकाश-तमसोः समानतां दर्शयन्ति।

वचनिका : क्रमशः पुण्य और पाप कर्म के बंध में कारणभूत दिन में भोजन और रात में भोजन—इन दोनों को जो समान कहते हैं; वे सुख और दुःख को करनेवाले प्रकाश और अंधकार—इन दोनों को समान दिखाते हैं।

भावार्थ : जैसे—प्रकाश और अंधकार कभी भी समान नहीं हैं; उसीप्रकार दिन में भोजन, धर्मरूप और रात्रि में भोजन, पापरूप है।।५३/४०१।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजन का दोष सोदाहरण प्रतिपादित है—

स्वागता : **रात्रिभोजनमधिश्रयन्ति ये धर्मबुद्धिमधिकृत्य दुर्धियः।**
ते क्षिपन्ति पविवह्निमण्डलं वृक्षपद्धतिविवृद्धये ध्रुवम्।।५४/४०२।।

जो दुर्बुद्धि धर्म-बुद्धि से रात्रिभोजन का आश्रय लें।
वृक्ष पद्धति वृद्धि हेतु बज्रानल-समूह वे फेंकें।।५४/४०२।।

शब्दशः अर्थ : रात्रि-भोजनं=रात्रि के भोजन को; अधिश्रयन्ति=आश्रय लेते हैं; ये=जो; धर्म-बुद्धिं=धर्म की बुद्धि को; अधिकृत्य=लेकर/धार्मिक भावना से; दुर्धियः=खोटी बुद्धि वाले; ते=वे; क्षिपन्ति=फेंकते हैं; पवि-वह्नि-मण्डलं=बज्राग्नि के समूह को; वृक्ष-पद्धति-विवृद्धये=वृक्षों की परंपरा को बड़ाने के लिए; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : ये दुर्धियः धर्म-बुद्धिं अधिकृत्य रात्रि-भोजनं अधिश्रयन्ति, ते ध्रुवं वृक्ष-पद्धति-विवृद्धये पवि-वह्नि-मण्डलं क्षिपन्ति।

वचनिका : जो दुर्बुद्धि, धर्म-बुद्धि से रात्रि में भोजन का सेवन करते हैं; वे वास्तव में वृक्षों की पद्धति की वृद्धि के लिए बज्राग्नि के समूह को डालते हैं।

भावार्थ : कोई मिथ्यादृष्टि दिन में व्रत करते हैं और रात्रि में भोजन करते हैं। यहाँ उनसे कहते हैं कि जैसे—अग्नि से किसी भी प्रकार वृक्षों की वृद्धि नहीं होती है; उसीप्रकार रात्रि-भोजन में किसी भी प्रकार से धर्म नहीं है; अधर्म ही है—ऐसा जानना।।५४/४०२।।

अब, इसी तथ्य को पुनः इस पद्य द्वारा अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : **ये विधृत्य सकलं दिनं क्षुधां भुञ्जते सुकृतकाङ्क्षया निशि।**
ते विवृध्य फल-शालिनीं लतां भस्मयन्ति फलकाङ्क्षया पुनः।।५५/४०३।।

जो पूरे दिन पुण्य चाह से भूखे रहकर निश में खाते।
फल समृद्ध लता वृद्धि वे पुनः चाह फल हेतु जलाते।।५५/४०३।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; विधृत्य=धारणकर; सकलं=संपूर्ण; दिनं=दिन; क्षुधां=भूख को; भुञ्जते=खाते हैं; सुकृत-काङ्क्षया=पुण्य की इच्छा से; निशि=रात में; ते=वे; विवृध्य=बड़ाकर; फल-शालिनीं=फलों से संपन्न; लतां=बेल को; भस्मयन्ति=जलाते हैं; फल-काङ्क्षया=फल की इच्छा से; पुनः=फिर से।

अन्वय : ये सुकृत-काङ्क्षया सकलं दिनं क्षुधां विधृत्य निशि भुञ्जते, ते विवृध्य पुनः फल-काङ्क्षया फल-शालिनीं लतां भस्मयन्ति।

वचनिका : जो जीव, पुण्य की इच्छा से पूरे दिन क्षुधा को धारणकर/भूखे रहकर रात्रि में भोजन करते हैं; वे फल से शोभित लता को बड़ाकर पुनः फल की कामना से भस्म करते हैं।।५५/४०३।।

अब, इस पद्य द्वारा विधि पूर्वक रात्रि-भोजन-त्याग का फल वर्णित है—

स्वागता : **ये सदापि घटिकाद्वयं त्रिधा कुर्वते दिनमुखान्तयोर्बुधाः।**
भोजनस्य नियमं विधीयते मासि तैस्स्फुटमुपोषितद्वयम्।।५६/४०४।।

आदि अंत दो घड़ी त्रिधा तज दिन में भोजन का लेते व्रत।
उन्हें माह में होते निश्चित दो उपवास तथ्य यह सत्य।।५६/४०४।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; सदा=हमेशा; अपि=भी; घटिका-द्वयं=दो घड़ी; त्रिधा=मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार से; कुर्वते=करता है; दिन-मुख+अन्तयोः=दिन के प्रारंभ और

अंत की; बुधा:=ज्ञानी; भोजनस्य=भोजन का; नियमं=व्रत; विधीयते=धारण करता है; मासि=महीने में; तै:=उसके द्वारा; स्फुटं=प्रकटपने; उपोषित-द्वयं=दो उपवास।

अन्वय : ये बुधाः सदापि दिन-मुख-अन्तयोः त्रिधा घटिका-द्वयं कुर्वते भोजनस्य नियमं विधीयते, तैः स्फुटं मासि उपोषित-द्वयम्।

वचनिका : जो पंडित पुरुष सदा ही दिन के आदि और अंत में दो-दो घड़ी छोड़कर मन, वचन, कायरूप तीनों प्रकार से भोजन का नियम करते हैं; उनके द्वारा प्रकटपने एक मास में दो उपवास किए जाते हैं।

भावार्थ : प्रतिदिन में दो-दो मुहूर्त भोजन का त्याग होने पर एक मास में साठ मुहूर्त का त्याग हो जाने से दो उपवास का फल हो जाता है।।५६/४०४।।

अब, इन चार पद्यों द्वारा रात्रि-भोजन का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **रोगशोककलिराटिकारिणी राक्षसीव भयदायिनी प्रिया।**
कन्यका दुरितपाकसम्भवा रोगिताः इव निरन्तरापदाः।।५७/४०५।।
देहजा व्यसनकर्मपण्डिताः पन्नगा इव वितीर्णभीतयः।
निर्धनत्वमनपायि सर्वदा पात्रदानमिव दत्तवृद्धिकम्।।५८/४०६।।
सङ्कटं सतिमिरं कुटीरकं नीचवित्तमिव रन्ध्र-सङ्कुलम्।
नीचजातिकुलकर्मसङ्गमः शीलशौचशमधर्मनिर्गमः।।५९/४०७।।
व्याधयो विविधदुःखदायिनो दुर्जना इव परापकारिणः।
सर्वदोषगणपीड्यमानता रात्रिभोजनपरस्य जायते।।६०/४०८।।

कलह राड़ रुज शोक-कारिकी राक्षसी समा भयप्रद स्त्री।
पाप पाक से जन्मी वेटी रोगी सम नित दे आपत्ति।।५७/४०५।।
वेटा व्यसन कर्म में पंडित सर्प समान बड़ाता है भय।
अपात्रदानवत् नित वृद्धिंगत निर्धनता हो कभी न नष्ट।।५८/४०६।।
नीच वित्त-वत् अति छिद्रों युत मिलता घर दुखप्रद तिमिरों युत।
संगति नीच जाति कुल कर्म विरहित शील शौच शम धर्म।।५९/४०७।।
दुर्जन वत् पर अपकारी ही विविध दुःख-दाई हों व्याधि।
पाता रात्रि-भोजी नित ही, सभी दोषगण से पीड़ा ही।।६०/४०८।।

शब्दशः अर्थ : रोग-शोक-कलि-राटि-कारिणी=रोग, शोक, कलह, चिल्लाना आदि करने वाली; राक्षसी=एक प्रकार की व्यंतरी/क्रूर परिणामी, राक्षसी; इव=समान; भय-दायिनी=डराने

वाली; प्रिया=पत्नी; कन्यका:=पुत्रिआँ; दुरित-पाक-सम्भवा:=पाप के उदय में उत्पन्न हुईं; रोगिता:=रोगीपने के; इव=समान; निरन्तर-आपदा:=अंतर के विना/सतत आपत्ति-युक्त।

देहजा:=पुत्र; व्यसन-कर्म-पण्डिता:=खोटे कार्य करने में प्रवीण; पन्नगा:=सर्प; इव= समान; वितीर्ण-भीतय:=भय को बड़ानेवाले; निर्धनत्वं=गरीबी; अनपायि=नष्ट नहीं होनेवाली; सर्वदा=हमेशा; अपात्र-दानं=अपात्र को दिए गए दान; इव=समान; दत्त-वृद्धिकं=वृद्धि को दी गई/निरंतर वड़नेवाली।

सङ्कटं=कष्ट; स-तिमिरं=अंधकार-सहित; कुटीरकं=घर; नीच-वित्तं=अन्याय से कमाए गए धन अथवा नीच व्यक्ति के धन; इव=समान; रन्ध्र-सङ्कुलं=छिद्रों से सहित; नीच-जाति-कुल-कर्म-सङ्गम:=नीची जाति, नीचा कुल, नीचे कामों का सान्निध्य; शील-शौच-शम-धर्म-निर्गम:=शील, पवित्रता, समता, धर्म से रहित; व्याधय:=बीमारिआँ; विविध-दु:ख-दायिन:=अनेक प्रकार के दु:ख देनेवालीं; दुर्जना:=दुष्ट व्यक्ति; इव=समान; पर+ अपकारिण:=दूसरों का बुरा करनेवालीं; सर्व-दोष-गण-पीड्यमानता=सभी दोषों के समूह से पीड़ितपना; रात्रि-भोजन-परस्य=रात्रि-भोजन में तत्पर के; जायते=प्रकट होता है।

अन्वय : रात्रि-भोजन-परस्य राक्षसी इव रोग-शोक-कलि-राटि-कारिणी भयदायिनी प्रिया, रोगिता: इव दुरित-पाक-सम्भवा: निरन्तर-आपदा: कन्यका:, पन्नगा: इव व्यसन-कर्म-पण्डिता: वितीर्ण-भीतय: देहजा:, अपात्र-दानं इव दत्त-वृद्धिकं सर्वदा अनपायि निर्धनत्वं, नीच-वित्तं इव सङ्कटं स-तिमिरं रन्ध्र-सङ्कुलं कुटीरकं, नीच-जाति-कुल-कर्म-सङ्गम:, शील-शौच-शम-धर्म-निर्गम:, दुर्जना: इव विविध-दु:ख-दायिन: पर-अपकारिण: व्याधय:, सर्व-दोष-गण-पीड्यमानता जायते।

वचनिका : रात्रि-भोजन में तत्पर व्यक्ति के जो सामग्री होती है, उसे कहते हैं—

(१) रोग, शोक, कलह, चिल्लाहट को करनेवाली और राक्षसी के समान भय को देनेवाली स्त्री मिलती है। (२) महा पाप के फल में उत्पन्न हुईं, अंतर-रहित सदा दु:ख देनेवालीं कन्याएं होती हैं। (३) भय को देनेवाले, पाप कर्म में प्रवीण, सर्प के समान पुत्र होते हैं। (४) अपात्र-दान के समान वृद्धि को प्राप्त, विनाश-रहित, सदा निर्धनता होती है।

जैसे—अपात्र-दान निरंतर निर्धनता की वृद्धि करता है; उसीप्रकार रात्रि-भोजन, दु:ख-दाई निर्धनता को नित्य बड़ाता है—ऐसा दृष्टांत दिया है।

(५) नीच पुरुष के धन के समान अथवा अन्याय से कमाए धन के समान छिद्रों से व्याप्त, संकटमय, अंधकार-सहित घर मिलता है। (६) नीच जाति, कुल, कर्म का सान्निध्य होता

है। (७) शील, निर्लोभता, समभाव, धर्म का निर्गमन/अभाव हो जाता है। (८) दुर्जन के समान अन्य का बुरा करनेवाली, अनेक प्रकार के दु:खों को देनेवाली बीमारिआँ होती हैं। (९) सभी दोषों के समूह द्वारा पीड़ितपना, दु:खीपना होता है। रात्रि में भोजन करनेवाले को इसप्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती है।।५७-६०/४०५-४०८।।

अब, इन चार पद्यों द्वारा रात्रि में भोजन का त्याग करनेवाले के गुण वर्णित हैं—

स्वागता : **पद्मपत्रनयना प्रियम्वदा: श्रीसमा: प्रियतमा मनोरमा:।**
सुन्दरा दुहितर: कुलालया: पुण्यपङ्क्त्य इवात्तविग्रहा:।।६१/४०९।।
भ्रन्शितव्यसनवृत्तयोऽमला: पावना हिमकरा इवाङ्गजा:।
शक्रमन्दिरमिवास्ततामसं मन्दिरं प्रचुररत्नराजितम्।।६२/४१०।।
लब्धचिन्तितपदार्थमुज्ज्वलं भूरिपुण्यमिव वैभवं स्थिरम्।
सर्व-रोगगण-मुक्तदेहता सर्वशर्म-निवहाधिवासिता।।६३/४११।।
ज्ञानदर्शनचरित्र-भूतय: सर्वयाचितविधान-पण्डिता:।
सर्वलोकपति-पूजनीयता रात्रिभुक्तिविमुखस्य जायते।।६४/४१२।।

पद्म पत्र वत् नेत्र प्रियंवद लक्ष्मी सम प्रियतमा मनोरम।
कन्या सुंदर कला निधान अति पुण्य पंक्ति सम धारा तन।।६१/४०९।।
व्यसन वृत्ति विरहित हैं निर्मल पावन चंद्र-समान पुत्र सब।
इंद्रभवन-सम हैं तम-विरहित घर बहु रत्नों से हैं सज्जित।।६२/४१०।।
महा पुण्य-सम पाए चिंतित द्रव्य समुज्ज्वल वैभव स्थिर।
सकल रोग परिपूर्ण रहित तन सर्व सौख्य भंडार अधिकरण।।६३/४११।।
वांक्षित सकल सृष्टि में चतुरा ज्ञान दर्शन चरित्र-संपदा।
सर्व-लोक-पति पूजनीयता रात्रि-भोजन-त्यागी पाता।।६४/४१२।।

शब्दश: अर्थ : पद्म-पत्र-नयना:=कमल के पत्रों के समान नेत्रोंवाली; प्रियम्वदा:=प्रिय वचन बोलनेवाली; श्री-समा:=लक्ष्मी के समान; प्रियतमा=पत्नी; मनोरमा:=मन को रमाने वाली; सुन्दरा:=सुंदर; दुहितर:=पुत्रिआँ; कला+आलया:=कलाओं की भंडार; पुण्य=पङ्क्त्य:=पुण्य की पंक्ति/धारा; इव=समान; आत्त-विग्रहा:=शरीर को धारण करनेवालीं।

भ्रन्शित-व्यसन-वृत्तय:=व्यसनों की वृत्ति से पूर्णतया रहित; अमला:=निर्मल; पावना:=पवित्र; हिम-करा:=चंद्रमा; इव=समान; अङ्गजा:=पुत्र; शक्र-मन्दिरं=इंद्र का भवन; इव=समान; अस्त-तामसं=अंधकार से रहित; मन्दिरं=घर; प्रचुर-रत्न-राजितं=अनेकों रत्नों से सुशोभित।

लब्ध-चिन्तित-पदार्थं=चिंतित पदार्थ को पानेवाला; उज्ज्वलं=स्वच्छ; भूरि-पुण्यं=महा पुण्य; इव=समान; वैभवं=वैभव; स्थिरं=नित्य; सर्व-रोग-गण-मुक्त-देहता=सभी रोगों के समूह से रहित देहपना; सर्व-शर्म-निवह+अधिवासिता=सभी प्रकार के सुखों के समूह का आधार।

ज्ञान-दर्शन-चरित्र-भूतय:=ज्ञान, दर्शन, चारित्रमय संपत्ति; सर्व-याचित-विधान-पण्डिता:=चाहे हुए सभी को रचने में प्रवीण; सर्व-लोक-पति-पूजनीयता=संपूर्ण लोक के स्वामिओं द्वारा पूजनीयपना; रात्रि-भुक्ति-विमुखस्य=रात्रि में भोजन का त्याग करनेवाले के; जायते=होता है।

अन्वय : रात्रि-भुक्ति-विमुखस्य श्रीसम: पद्म-पत्र-नयना: प्रियम्वदा: मनोरमा: प्रियतमा; पुण्य-पङ्क्तय: इव सुन्दरा: कला-आलया: आत्त-विग्रहा: दुहितर:, हिमकरा: इव भ्रन्शितव्यसन -वृत्तय: अमला: पावना: अङ्गजा:, शक्र-मन्दिरं इव अस्त-तामसं प्रचुर-रत्न-राजितं मन्दिरं, भूरि-पुण्यं इव लब्ध-चिन्तित-पदार्थं उज्ज्वलं स्थिरं वैभवं, सर्व-शर्म-निवह-अधिवासिता सर्व-रोग-गण-मुक्त-देहता, सर्व-याचित-विधान-पण्डिता: ज्ञान-दर्शन-चरित्र-भूतय:, सर्व-लोक-पति-पूजनीयता जायते।

वचनिका : रात्रि-भोजन से विमुख के जो सामग्री होती है; उसे कहते हैं—

(१) कमल के पत्र-समान नेत्रोंवाली, प्रिय वचन बोलनेवाली, लक्ष्मी के समान रमानेवाली पत्नी होती है।

(२) कला और विद्याओं की स्थान, पुण्य की पंक्ति-समान धारण किए गए शरीरवालीं, सुंदर कन्याएं होती हैं।

(३) व्यसनों की प्रवृत्ति से पूर्णतया-रहित, पवित्र, निर्मल, चंद्रमा के समान पुत्र होते हैं।

(४) इंद्र के भवन-समान अंधकार से रहित, प्रचुर रत्नों से सुशोभित घर/महल मिलते हैं।

(५) वांक्षित पदार्थ की प्राप्ति-संपन्न, उज्ज्वल, महा पुण्य-समान स्थिर वैभव होता है। (६) सभी रोगों के समूह से रहित देहपना और सभी सुखों के समूह का आधारपना; (७) सभी वांक्षित रचने में प्रवीण; (८) ज्ञान, दर्शन, चारित्र की संपत्ति और (९) सर्व लोक-पतिओं द्वारा पूजनीयता।

भावार्थ : रात्रि-भोजन के पूर्णतया त्यागी के ये पूर्वोक्त सभी गुण होते हैं—ऐसा जानना।।६१-६४/४०९-४१२।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजी स्त्री का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **शूकरी शम्वरी वानरी धीवरी रोहिणी मण्डली शोकिनी क्लेशिनी।**
दुर्भगा निस्सुता निर्धवा निर्धना शर्वरीभोजिनी जायते भामिनी।।६५/४१३।।

शूकरी भीलनी वानरी धीवरी रोहिणी कूकरी शोकमय क्लेश भी।
दुर्भगी सुत विना पति विना निर्धनी हो वही रात भोजी रही भामिनी।।६५/४१३।।

शब्दश: अर्थ : शूकरी=सूकरी; शम्वरी=भीलनी; वानरी=बंदरी; धीवरी=ढीमरी; रोहिणी=लाल रंग की गाय; मण्डली=कुत्ती; शोकिनी=शोक-सहित; क्लेशिनी=क्लेश-सहित; दुर्भगा=दुर्भग; निस्सुता=संतान-रहित; निर्धवा=पति-रहित; निर्धना=धन-रहित; शर्वरी-भोजिनी=रात्रि में भोजन करनेवाली; जायते=होती है; भामिनी=स्त्री।

अन्वय : शर्वरी-भोजिनी भामिनी शूकरी....... निर्धना जायते।

वचनिका : रात्रि में भोजन करनेवाली स्त्री, सूकरी, भीलनी, वानरी, धीवरी, रोहिणी, कुत्ती, शोक-सहित, क्लेश-सहित, दुर्भग, पुत्र-रहित, पति-रहित, धन-रहित होती है।।६५/४१३।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि में भोजन का त्याग करनेवाली स्त्री का फल बताते हैं—

स्रग्विणी : **बान्धवैरञ्चिता देहजैर्वन्दिता भूषणैर्भूषिताव्याधिभिर्वर्जिता।**
श्रीमती ह्रीमती धीमती धर्मिणी वासरे जायते भुक्तित: शर्मिणी।।६६/४१४।।

बांधवों-युक्त पुत्रादि से पूज्य हो भूषणों भूषिता व्याधि से रहित हो।
धार्मिक लक्ष्मी-बुद्धि-ह्री-युक्त हो सौख्यमय भामिनी जो दिवाभुक्त हो।।६६/४१४।।

शब्दश: अर्थ : बान्धवै:=बंधु-वर्ग से; अञ्चिता=सहित; देहजै:=संतान से; वन्दिता=पूज्य; भूषणै:=आभूषणों से; भूषिता=सुशोभित; व्याधिभि:=रोगों से; वर्जिता=रहित; श्रीमती=लक्ष्मी-संपन्न; ह्री-मती=लज्जा-युक्त; धी-मती=बुद्धिमान; धर्मिणी=धर्मात्मा; वासरे=दिन में; जायते=होती है; भुक्तित:=भोजन से; शर्मणी=सुख-संपन्न।

अन्वय : वासरे भुक्तित: बान्धवै: अञ्चिता .... शर्मणी जायते।

वचनिका : बांधवों से युक्त, पुत्रों से पूजित, आभूषणों से भूषित, रोगों से रहित, लक्ष्मीवान, लज्जावान, बुद्धिमान, धर्मात्मा, सुख-संपन्न स्त्री, दिन में भोजन से होती है।

भावार्थ : जो रात में भोजन छोड़ते हैं, वे पूर्वोक्त गुण-संपन्न होते हैं।।६६/४१४।।

अब, इससे रात्रि-भोजन-त्याग की महिमा सातिशय शब्दों द्वारा व्यक्त करते हैं—

स्वागता : **रात्रिभोजनविमोचिनो गुणा ये भवन्ति भव-भागिनां परे।**
तानपास्य जिननाथमीशते वक्तुमत्र न परे जगत्त्रये।।६७/४१५।।

प्राणी को उत्तम गुण होते रात्रि भोजन त्याग से उन्हें।
कोई नहीं समर्थ त्रिजग में जिनेंद्र प्रभु के विना कथन में।।६७/४१५।।

शब्दश: अर्थ : रात्रि-भोजन-विमोचिन:=रात में भोजन छोड़नेवाले के; गुणा:=गुण/विशेषताएँ; ये=जो; भवन्ति=होते हैं; भव-भागिनां=संसारी जीवों को; परे=श्रेष्ठ; तान्=उन्हें; अपास्य= छोड़कर; जिन-नाथं=जिनेंद्र भगवान को; ईशते=समर्थ है; वक्तुं=कहने के लिए; अत्र=यहाँ; न=नहीं; परे=दूसरा; जगत्त्रये=तीन लोक में।

अन्वय : रात्रि-भोजन-विमोचिन: भव-भागिनां ये परे गुणा: भवन्ति, तान् अत्र जगत्त्रये जिन-नाथं अपास्य परे वक्तुं न ईशते।

वचनिका : जीवों के, रात्रि-भोजन-त्याग के उत्कृष्ट गुण हैं। उन्हें तीन-लोक में जिनराज के सिवाय अन्य कोई कहने में समर्थ नहीं है।।६७/४१५।।

इसप्रकार रात्रि-भोजन का निषेध किया।

अब, आगे पाँच पद्यों द्वारा पंच उदुंबर फलों के सेवन का निषेध करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उदुंबर का स्वरूप, संख्या, उन्हें नहीं खानेवालों का स्वरूप प्ररूपित है—

स्वागता : **यत्र सूक्ष्म-तनवस्तनूभृत: सम्भवन्ति विविधा: सहस्रश:।**
पञ्चधा फलमुदुम्बरोद्भवं तन्न भक्षयति शुद्धमानस:।।६८/४१६।।

सूक्ष्म शरीरी प्राणी जिसमें विविध हजारों होते रहते।
जनित उदुंबर फल पाँचों वे शुद्ध मानसी उन्हें न खाते।।६८/४१६।।

शब्दश: अर्थ : यत्र=जिसमें; सूक्ष्म-तनव:=छोटे शरीरवाले; तनूभृत:=प्राणी; सम्भवन्ति= उत्पन्न होते हैं; विविधा:=अनेक प्रकारवाले; सहस्रश:=हजारों; पञ्चधा=पाँच प्रकारवाले; फलं=फल; उदुम्बर+उद्भवं=उदुंबर से उत्पन्न; तत्=उन्हें; न=नहीं; भक्षयति=खाता है; शुद्ध-मानस:=शुद्ध मनवाला।

अन्वय : यत्र विविधा: सहस्रश: सूक्ष्म-तनव: तनूभृत: सम्भवन्ति, तत् उदुम्बर-उद्भवं पञ्चधा फलं शुद्ध-मानस: न भक्षयति।

वचनिका : जिनमें सूक्ष्म शरीरवाले अनेक प्रकार के हजारों जीव उत्पन्न होते हैं; उन पाँच प्रकार के, उदुंबर-जनित फल को शुद्ध मनवाला प्राणी नहीं खाता है।

भावार्थ : ऊमर-फल, कठ-ऊमर-फल, पाकर-फल, बड़-फल, पीपल-फल—ये पाँच उदुंबर फल हैं। ये त्रस-जीवों की उत्पत्ति के स्थान हैं; अत: बुद्धिमान, इनका सर्वथा परित्याग करते हैं।।६८/४१६।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षीर-फल के सेवन का फल बताते हैं—

स्वागता : **क्षीरभूरुहफलानि भुञ्जते चित्रजीवनिचितानि येऽधमाः।**
जन्मसागरनिपातकारणं पातकं किमिह ते न कुर्वते।।६९/४१७।।

क्षीर-वृक्ष-फल विविध जीव-युत, जो खाते हैं करें अधम जन।
भव-सागर निमग्नता कारण यहाँ कौन-सा रहता पातक?।।६९/४१७।।

शब्दश: अर्थ : क्षीर-भू-रुह-फलानि=दूध-जैसा रस निकलनेवाले वृक्ष के फल; भुञ्जते=खाते हैं; चित्र-जीव-निचितानि=अनेक प्रकार के जीवों के भंडार; ये=जो; अधमा:=नीच; जन्म-सागर-निपात-कारणं=संसार-सागर में डूबने का कारण; पातकं=पाप; किं=क्या; इह=यहाँ; ते=वे; न=नहीं; कुर्वते=करते हैं।

अन्वय : चित्र-जीव-निचितानि क्षीर-भू-रुह-फलानि ये अधमा: भुञ्जते, ते इह जन्म-सागर-निपात-कारणं किं पातकं न कुर्वते?

वचनिका : जो पापी प्राणी, असंख्यात जीवों से भरे हुए क्षीरी-वृक्षों के फलों को खाते हैं; वे संसार-सागर में डूबने के कारणभूत कौन-से पाप यहाँ नहीं करते हैं? अपितु सभी पाप करते हैं।।६९/४१७।।

अब, इससे यह वर्णित है कि उदुंबर फल-भक्षक, धीवर से भी अधिक पापी है—

उपजाति : **असङ्ख्यजीवव्यपघातवृत्तिभिर्न धीवरैरस्ति समं समानता।**
अनन्तजीवव्यपरोपकारिणामुदुम्बराहारविलोलचेतसाम्।।७०/४१८।।

अनंत जीवों के घात-कारक उदुंबराहार में चित्त-लुब्ध।
असंख्य प्राणी है घातकी वह उन धीवरों से भी अधिक मान।।७०/४१८।।

शब्दश: अर्थ : असङ्ख्य-जीव-व्यपघात-वृत्तिभि:=असंख्यात जीवों के घात की आजीविका वाले; धीवरै:=ढीमरों से; अस्ति=है; समं=साथ; समानता=समानपना; अनन्त-जीव-व्यपरोप-कारिणां=अनंत जीवों की हिंसा करनेवाले; उदुम्बर+आहार-विलोल-चेतसां=उदुंबर के आहार में लोलुपी मनवाले की।

अन्वय : अनन्त-जीव-व्यपरोप-कारिणां उदुम्बर-आहार-विलोल-चेतसां असङ्ख्य-जीव-व्यपघात-वृत्तिभि: धीवरै: समं समानता न अस्ति।

वचनिका : अनंत जीवों का नाश करनेवाले पंच उदुंबर के आहार में लोलुपी चित्तवाले की समानता, असंख्य जीवों के घातरूप आजीविकावाले ढीमरों के साथ नहीं है।

भावार्थ : यहाँ उदुंबर-फल खानेवालों का, ढीमरों से भी अधिक पापीपना दिखाया है—ऐसा जानना।।७०/४१८।।

अब, इस पद्य द्वारा उदुंबर-फल-भक्षण का फल प्ररूपित है—

शालिनी : **ये खादन्ति प्राणिवर्गं विचित्रं दृष्ट्वा पञ्चोदुम्बराणां फलानि।**
श्वभ्रावासं यान्ति ते घोर-दु:खं किं निस्त्रिन्शै: प्राप्यते वा न दु:खम्।।७१/४१९।।

जो खाते हैं विविध प्राणी समूह पंचोदुंबर फलों को देखते भी।
वे पाते हैं घोर दुखमय नरकघर निर्दय को तो मिलें सब दुख सदा ही।।७१/४१९।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; खादन्ति=खाते हैं; प्राणि-वर्गं=प्राणिओं का समूह; विचित्रं=अनेक प्रकारवाले; दृष्ट्वा=देखकर; पञ्च+उदुम्बराणां=पाँच उदुंबरोंवाले; फलानां=फलों का; श्वभ्र+आवासं=नरक के निवास को; यान्ति=प्राप्त करते हैं; ते=वे; घोर-दु:खं=तीव्र दु:खरूप; किं=क्या; निस्त्रिन्शै:=निर्दयी द्वारा; प्राप्यते=प्राप्त किया जाता है; वा=अथवा; न=नहीं; दु:खं=दु:ख।

अन्वय : ये पञ्च-उदुम्बराणां फलानां विचित्रं प्राणि-वर्गं खादन्ति ते घोर-दु:खं श्वभ्र-आवासं यान्ति वा निस्त्रिन्शै: किं दु:खं न प्राप्यते?

वचनिका : जो अनेक प्रकार के जीवों के समूह देखकर भी पंच उदुंबर-फलों को खाते हैं; वे घोर दु:खरूप नरक-वास को प्राप्त होते हैं अथवा निर्दय जीवों द्वारा क्या/कौन-सा दु:ख प्राप्त नहीं किया जाता है? सभी प्राप्त किए जाते हैं।।७१/४१९।।

अब, इस पद्य द्वारा सकारण उदुंबर-फलों का त्याग वर्णित है—

उपजाति : **अघप्रदायीनि विचिन्त्य धर्मधीरुदुम्बराणां न फलानि वल्भते।**
विधातुमिष्टे सुखदे प्रयोजने करोति कस्तद्विपरीतमुत्तम:।।७२/४२०।।

उदुंबरों के फल अघ प्रदाई हैं सोच नहिं खाते धर्म-बुद्धि।
सुखदा प्रयोजन की इष्ट-सिद्धि हेतु करे उल्टा कौन सद्धी।।७२/४२०।।

शब्दश: अर्थ : अघ-प्रदायीनि=पाप देनेवाले; विचिन्त्य=सोचकर; धर्मधी:=धार्मिक बुद्धि वाला; उदुम्बराणां=उदुंबरों के; न=नहीं; फलानि=फल; बल्भते=खाता है; विधातुं=करने के लिए; इष्टे=इच्छित; सुख-दे=सुख-दायक; प्रयोजने=प्रयोजन में; करोति=करता है; क:=कौन; तत्=उससे; विपरीतं=उल्टा; उत्तम:=श्रेष्ठ।

अन्वय : अघ-प्रदायीनि विचिन्त्य उदुम्बराणां फलानि धर्म-धी: न बल्भते, इष्टे सुखदे प्रयोजने विधातुं क: उत्तम: तत् विपरीत: करोति।

वचनिका : धर्म-बुद्धि-संपन्न पुरुष, उदुंबर के फलों को पाप का देनेवाला जानकर नहीं खाते हैं; क्यों कि सुख-दायक कार्य करने को इष्ट होते हुए कौन उत्तम पुरुष, उससे विपरीत करता है? अपितु नहीं करता है।।७२/४२०।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण इन व्रतों को ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं—

मंदाक्रांता : **आदावन्ते स्फुटमिह गुणा निर्मला धारणीया:,**
पापध्वन्सिव्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम्।
कर्तुं शक्यं स्थिरगुरुतरं मन्दिरं गर्तपूरं,
न स्थेयोभिर्दृढतरमृते निर्मितं ग्रावजालै:।।७३/४२१।।

पाप-ध्वंसी श्रावकीय सुकर निर्मल व्रतों को,
आदि अंत प्रकट निर्मल गुण-ग्रहण योग्य सब हों।
स्थिर भारी पत्थरों से भरी नींव पर बना हो,
वह घर स्थिर दृढतर महा वास-योग्य सदा हो।।७३/४२१।।

शब्दश: अर्थ : आदौ=प्रारंभ में; अन्ते=समाप्ति पर; स्फुटं=प्रकट; इह=यहाँ; गुणा:=गुण/विशेषताएं; निर्मला:=पवित्र; धारणीया:=धारण करने-योग्य; पाप-ध्वन्सि=पाप को नष्ट करनेवाला; व्रतं=हिंसादि पापों के त्याग को; अपमलं=निर्दोष; कुर्वता=करते हुए; श्रावकीयं=श्रावक संबंधी; कर्तुं=करने के लिए; शक्यं=समर्थ; स्थिर-गुरुतरं=स्थिर और विशाल; मन्दिरं=भवन; गर्तपूरं=नींव; न=नहीं; स्थेयोभि:=अति स्थिर; दृढतरं=अत्यंत दृढ/मजबूत; ऋते=विना; निर्मितं=बना हुआ; ग्राव-जालै:=पाषाण-समूहों से।

अन्वय : इह श्रावकीयं पाप-ध्वन्सि अपमलं व्रतं कुर्वता आदौ अन्ते स्फुटं निर्मला: गुणा: धारणीया:; स्थेयोभि: ग्रावजालै: निर्मितं दृढतरं गर्तपूरं ऋते स्थिर-गुरुतरं मन्दिरं कर्तुं शक्यं न।

वचनिका : पाप का नाश करनेवाले श्रावक संबंधी निर्मल व्रत को करनेवाले श्रावक द्वारा आदि और अंत में प्रकटपने यहाँ निर्मल गुण धारण करना, योग्य है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—

जैसे—अत्यंत स्थिर पत्थरों के समूह द्वारा दृढ किए गए गर्तपूर (नींव) के विना स्थिर और अति विशाल मंदिर करने में कोई समर्थ नहीं है; उसीप्रकार....।

भावार्थ : जैसे—दृढ-मूल/मजबूत-नींव के विना निश्चल/स्थिर मंदिर/भवन नहीं होता है; उसीप्रकार पंच उदुंबर और तीन मकार के त्यागरूप मूल-गुण के विना व्रत नहीं होते हैं; अत: प्रारंभ से लेकर अंत पर्यंत सर्व-प्रथम मूल-गुण धारण करना, योग्य है।।७३/४२१।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रकरण का समापन करते हुए मूल-गुणों को धारण करने का फल प्ररूपित है—

मंदाक्रांता : **दातुं दक्ष: सुरतरुरिव प्रार्थनीयं जनानां,**
चित्ते येषामिति गुणगणो निश्चलत्वं विभर्ति।

भुक्त्वा सौख्यं भुवनमहितं चिन्तितावाप्तभोगं,

ते निर्बाधाममितगतय: श्रेयसीं यान्ति लक्ष्मीम्।।७४/४२२।।

वांक्षित देने दक्ष सुरतरु-सम गुणों का समूह,

निश्चलता को धरे मन में वे सभी मनोवांक्षित।

सब जग पूजित भोग पा सुख भोग पाते अनंत,

अव्याबाध अमितगतिमय मोक्ष लक्ष्मी निरंतर।।७४/४२२।।

शब्दश: अर्थ : दातुं=देने के लिए; दक्ष:=चतुर; सुरतरु:=कल्प-वृक्ष; इव=समान; प्रार्थनीयं=चाहे गए; जनानां=प्राणिओं का; चित्ते=मन में; येषां=जिनके; इति=इसप्रकार; गुण-गण:=गुणों का समूह; निश्चलत्वं=निश्चलता को; विभर्ति=धारण करता है; भुक्त्वा= भोगकर; सौख्यं=सौख्य को; भुवन-महितं=लोक में पूज्य; चिन्तित+अवाप्त-भोगं=सोचे गए प्राप्त भोग को; ते=वे; निर्बाधां=बाधाओं से रहित; अमित-गतय:=अनंत-ज्ञान-संपन्न; श्रेयसीं=कल्याणमय मोक्ष को; यान्ति=प्राप्त करते हैं; लक्ष्मीं=संपदा को।

अन्वय : इति प्रार्थनीयं दातुं दक्ष: सुर-तरु: इव गुण-गण: येषां जनानां चित्ते विभर्ति, ते चिन्तित-अवाप्त-भोगं भुवन-महितं सौख्यं भुक्त्वा निर्बाधां अमितगतय: श्रेयसीं लक्ष्मीं यान्ति।

वचनिका : जीवों को वांक्षित देने के लिए कल्प-वृक्ष के समान प्रवीण यह गुणों का समूह, जिनके चित्त में निश्चलता को धारण करता है; वे पुरुष, चिंतित प्राप्त भोगमय लोक-पूजित सुखों को भोगकर, अनंत ज्ञान-संपन्न, निर्बाध मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त होते हैं।।७४/४२२।।

सवैया तेईसा : **मद्य मांस मधु पंच उदुंबर फल त्रस जीवों के आधार।**

लौंणी निसि-भोजन इत्यादि तीव्र पाप त्यागो दुखकार।।

विमल मूल-गुण प्रथम धरत इम सब व्रत सोभा पावै सार।

तातैं भोगि सार सुख क्रम तैं होय अमितगति जग-सिरदार।।

अर्थ : त्रस-जीवों के आधारभूत मद्य, मांस, मधु, पाँच उदुंबर-फल, मक्खन, रात्रि-भोजन इत्यादि के सेवनरूप दु:ख-कारक, तीव्र पाप का त्यागकर; इसप्रकार सर्व-प्रथम पवित्र मूल-गुण को धारण करता है। सारभूत इनसे सभी व्रत शोभा पाते हैं। उनके फल में सारभूत सुखों को भोगकर क्रमश: जगत के अमितगति-संपन्न सरदार/स्वामी/सिद्ध भगवान हो जाते हैं।

इसप्रकार श्री अमितगति आचार्य-कृत श्रावकाचार में पंचम परिच्छेद समाप्त हुआ।।५।।

षष्ठ परिच्छेद:

आगे बारह व्रतों का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उन्हें धारण करने का फल बताते हैं—

आर्या : **मद्यादिभ्यो विरतैर्व्रतानि कार्याणि शक्तितो भव्यैः।**
द्वादश तरसाच्छेत्तुं शस्त्राणि शितानि भववृक्षम्।।१/४२३।।

मद्यादि के त्यागी भव्यों को बारह व्रत यथाशक्ति।
ग्रहण योग्य हैं भव-तरु जल्दी छेदन को अति तीक्ष्ण कुठारी।।१/४२३।।

शब्दशः अर्थ : मद्य+आदिभ्यः=मदिरा आदि से; विरतैः=विरत हुए; व्रतानि=व्रतों को; कार्याणि=करना, योग्य है; शक्तितः=शक्ति के अनुसार; भव्यैः=भव्यों द्वारा; द्वादश=बारह; तरसा=शीघ्र; छेत्तुं=छेदने के लिए; शस्त्राणि=शस्त्र; शितानि=तीक्ष्ण; भव-वृक्षं=संसाररूपी वृक्ष को।

अन्वय : मद्य-आदिभ्यः विरतैः भव्यैः भव-वृक्षं तरसा छेत्तुं शितानि शस्त्राणि द्वादश व्रतानि शक्तितः कार्याणि।

वचनिका : मद्य आदि से विरक्त भव्य-पुरुषों द्वारा शक्ति के अनुसार द्वादश व्रत करना, योग्य है। वे व्रत, संसाररूपी वृक्ष को वेग पूर्वक छेदने के लिए तीक्ष्ण शस्त्र के समान हैं।।१/४२३।।

अब, इस पद्य द्वारा बारह व्रतों के भेद प्ररूपित हैं—

आर्या : **अणुगुणशिक्षाद्यानि व्रतानि गृहमेधिनां निगद्यन्ते।**
पञ्चत्रिचतुस्सङ्ख्यासहितानि द्वादश प्राज्ञैः।।२/४२४।।

प्राज्ञों ने कहे अणुव्रत पंच रु गुणव्रत कहे त्रितय शिक्षा।
व्रत चतु यों बारह व्रत गृहस्थों की है व्रत संख्या।।२/४२४।।

शब्दशः अर्थ : अणु-गुण-शिक्षात्=अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत से; यानि=जो; व्रतानि=व्रत; गृहमेधिनां=गृहस्थों के; निगद्यन्ते=कहे गए हैं; पञ्च-त्रि-चतुः-सङ्ख्या-सहितानि=पाँच, तीन, चार संख्या से सहित; द्वादश=बारह; प्राज्ञैः=प्रकृष्ट-ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : गृहमेधिनां प्राज्ञैः अणु-गुण-शिक्षात् यानि व्रतानि निगद्यन्ते (तानि क्रमशः) पञ्च-त्रि-चतुः-सङ्ख्या-सहितानि द्वादश।

वचनिका : पंडितों द्वारा श्रावकों के अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत; क्रमशः पाँच, तीन, चार संख्या-सहित द्वादश कहे हैं।

भावार्थ : पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत—इसप्रकार बारह व्रत, श्रावकों के कहे हैं।।२/४२४।।

अब, इस पद्य द्वारा पाँच अणुव्रतों के नाम निरूपित हैं—

आर्या : **हिन्सासत्यस्तेयाब्रम्हपरिग्रहनिवृत्तिरूपाणि।**

ज्ञेयान्यणुव्रतानि स्थूलानि भवन्ति पञ्चात्र।।३/४२५।।

हिंसा असत्य चोरी कुशील परिग्रह-निवृत्ति संयुक्त।

स्थूल पाँच अणुव्रत जानों ये ही प्रथम अणुव्रत।।३/४२५।।

शब्दश: अर्थ : हिन्सा+असत्य-स्तेय+अब्रम्ह-परिग्रह-निवृत्ति-रूपाणि=हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील, परिग्रह से निवृत्तिरूप; ज्ञेयानि=जानना चाहिए; अणुव्रतानि=अणुव्रत; स्थूलानि= स्थूल; भवन्ति=होते हैं; पञ्च=पाँच; अत्र=यहाँ।

अन्वय : अत्र स्थूलानि हिन्सा-असत्य-स्तेय-अब्रम्ह-परिग्रह-निवृत्ति-रूपाणि पञ्च अणुव्रतानि भवन्ति (इति) ज्ञेयानि।

वचनिका : यहाँ स्थूल हिंसा, झूँठ, चोरी, अब्रम्ह, परिग्रह से निवृत्तिरूप पाँच अणुव्रत जानना, योग्य है।।३/४२५।।

अब, आगे इकतालीस पद्यों द्वारा अहिंसाणुव्रत का वर्णन करते हुए हिंसा-पाप का विवेचन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा स्थूल हिंसा-त्याग/अहिंसा-अणुव्रत वर्णित है—

आर्या : **द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन।**

तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम्।।४/४२६।।

त्रस स्थावर भेद से जैनों को मान्य दो प्रकार जीव।

उनमें से त्रस रक्षा में वृत्ति वह है प्रथम अणुव्रत।।४/४२६।।

शब्दश: अर्थ : द्वेधा=दो प्रकार; जीवा:=जीव; जैनै:=जैनों द्वारा; मता:=माने गए; त्रस-स्थावर-प्रभेदेन=त्रस और स्थावर के प्रभेद से; तत्र=उनमें से; त्रस-रक्षायां=त्रस की रक्षा में; तत्=वह; उच्यते=कहलाता है; अणुव्रतं=अणुव्रत; प्रथमं=पहला/अहिंसा।

अन्वय : त्रस-स्थावर-प्रभेदेन जैनै: द्वेधा जीवा मता:। तत्र त्रस-रक्षायां तत् प्रथमं अणुव्रतं उच्यते।

वचनिका : जैनिओं ने त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार के जीव कहे हैं। उनमें से त्रस-जीवों की रक्षा होने पर वह प्रथम/अहिंसा अणुव्रत कहलाता है।।४/४२६।।

अब, इस पद्य द्वारा संयतासंयत दशा का स्वरूप कहते हैं—

आर्या : **स्थावर-घाती जीवस्त्रससन्रक्षी विशुद्धपरिणाम:।**

योऽक्षविषयान्निवृत्त: स: संयतासंयतो ज्ञेय:।।५/४२७।।

जो स्थावर-घाती त्रस-संरक्षी विशुद्ध-परिणामी।
इंद्रिय-विषय-निवृत्ति वह जानों संयतासंयती।।५/४२७।।

शब्दश: अर्थ : स्थावर-घाती=स्थावर का घात करनेवाला; जीव:=जीव; त्रस-सन्रक्षी=त्रसों का संरक्षण करनेवाला; विशुद्ध-परिणाम:=विशुद्ध परिणामवाला; य:=जो; अक्ष-विषयात् इंद्रियों के विषयों से; निवृत्त:=हटा है; स:=वह; संयतासंयत:=संयत और असंयतरूप मिश्र; ज्ञेय:=जानना चाहिए।

अन्वय : य: जीव: स्थावर-घाती, त्रस-सन्रक्षी, विशुद्ध-परिणाम: अक्ष-विषयात्-निवृत्त:, स: संयतासंयत: ज्ञेय:।

वचनिका : जो जीव, स्थावर-घाती है अर्थात् स्थावर की हिंसा का त्याग करने में असमर्थ है, त्रस-जीवों की भली-भाँति रक्षा-सहित है, विशुद्ध परिणामवाला है, इंद्रियों के विषयों से विरक्त है; वह संयतासंयत अर्थात् देशव्रत का धारक श्रावक जानना।।५/४२७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा हिंसा के दो भेद बताते हुए उनके निवारक निरूपित हैं—

आर्या : **हिन्सा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरम्भानारम्भजत्वतो दक्षै:।**
गृह-वासतो निवृत्तो द्वेधापि त्रायते तां च।।६/४२८।।
गृह-वास-सेवनरतो मन्दकषाय: प्रवर्तितारम्भा:।
आरम्भजां स हिन्सां शक्नोति न रक्षितुं नियतम्।।७/४२९।।

हिंसा द्विविध कही है आरंभज अनारंभजा मानों।
गृह-वास से निवृत्त मुनिजन दोनों के त्यागी हों।।६/४२८।।
गृह-वासी मंद-कषायी वर्ते आरंभ में नहीं सक्षम।
आरंभज हिंसा को तजने यह जान लो निश्चित।।७/४२९।।

शब्दश: अर्थ : हिंसा=प्राण-घात; द्वेधा=दो प्रकार; प्रोक्ता=कही है; आरम्भ+अन्+आरम्भ -जत्वत:=आरंभ और अनारंभ से उत्पन्नपना होने के कारण; दक्षै:=ज्ञानिओं द्वारा; गृह-वासत:=घर के निवास से; निवृत्त:=विरक्त; द्वेधा=दोनों प्रकारवाली; अपि=भी; त्रायते=छोड़ते हैं; तां=उन दोनों को; च=और।

गृह-वास-सेवन-रत:=घर में रहने के भाव के सेवन में आसक्त; मन्द-कषाय:=कषायों की मंदतावाला; प्रवर्तित+आरम्भा:=आरंभ में प्रवृत्ति करनेवाला; आरम्भ-जां=आरंभ से उत्पन्न होनेवाली; स:=वह; हिन्सां=प्राण-घात को; शक्नोति=समर्थ है; न=नहीं; रक्षितुं=बचाने के लिए; नियतं=सुनिश्चित।

अन्वय : आरम्भ-अनारम्भ-जत्वत: दक्षैः हिन्सा द्वेधा; च तां द्वेधा अपि गृह-वासत: निवृत्तः त्रायते। मन्द-कषाय: प्रवर्तित-आरम्भाः गृह-वास-सेवन-रत: स: नियतं आरम्भजां हिन्सां रक्षितुं न शक्नोति।

वचनिका : पंडितों ने आरंभ और अनारंभ से उत्पन्नपने की अपेक्षा हिंसा दो प्रकार की कही है। उनमें से गृह-वास से विरक्त/रहित मुनिराज दोनों प्रकार की हिंसा के पूर्णतया त्यागी हैं। जो गृह-वास के सेवन में रत श्रावक, मंद कषाय पूर्वक आरंभ में प्रवृत्ति करनेवाला है; वह वास्तव में आरंभ-जनित हिंसा का त्याग करने में समर्थ नहीं है।

भावार्थ : मंद-कषायरूप चारित्र-मोह के उदय से अवशपने व्यापार, आरंभ में उत्पन्न होता है; वह आरंभ-जनित हिंसा है। प्रयोजन के विना ही स्वयं अपनी ओर से ही व्यर्थ में तीव्र कषायरूप हिंसा करना, अनारंभ-जनित हिंसा है। मुनीश्वरों के इन दोनों प्रकार की हिंसा का त्याग होता है। शक्ति-हीनपना के कारण गृहस्थ के निर्दोष व्यापारादि-जनित हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है; परंतु परिणामों में सभी प्रकार की हिंसा के प्रति महा अरुचि है; अपनी निंदा, गर्हा करता रहता है—ऐसा जानना।।६-७/४२८-४२९।।

अब, इस पद्य द्वारा संयमासंयम धारण करने की पात्रता बताते हैं—

आर्या : **शमिताद्याष्टकषायः प्रवर्तते यः परत्र सर्वत्र।**
निन्दा-गर्हाविष्टः स संयमासंयमं धत्ते।।८/४३०।।

अनंत-बंधी अप्रत्याख्यान कषायें दबीं वर्ते सर्वत्र।
निंदा गर्हा युक्त वह धारे संयमासंयम।।८/४३०।।

शब्दशः अर्थ : शमित=शमित हो/दब जाने से; आद्य=प्रारंभिक; अष्ट-कषायः=अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोधादिरूप आठ कषाय; प्रवर्तते=प्रवृत्ति करता है; यः=जो; परत्र=अन्य स्थानों पर; सर्वत्र=सब जगह; निन्दा-गर्हा+आविष्टः=निंदा, गर्हा से संयुक्त; सः=वह; संयमासंयमं=विरताविरत को; धत्ते=धारण करता है।

अन्वय : य: आद्य-अष्ट-कषाय:-शमित: परत्र सर्वत्र निंदा-गर्हा-आविष्टः प्रवर्तते, स: संयमासंयमं धत्ते।

वचनिका : अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिरूप प्रारंभिक आठ कषायों के उपशमन-युक्त जो जीव, सभी स्थानों पर निंदा-गर्हा-युक्त प्रवृत्ति करता है; वह संयमासंयमरूप देशव्रत को धारण करता है।।४/४३०।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा परम श्रावक का स्वरूप वर्णित है—

आर्या : **कामासूया–माया–मत्सर–पैशून्य–दैन्य–मदहीनः।**
धीरः प्रसन्न–चित्तः प्रियम्वदो वत्सलः कुशलः।।९/४३१।।
हेयादेय–पटिष्ठो गुरु–चरणाराधनोद्यत–मनीषः।
जिनवचन–तोयधौतस्वान्त–कलङ्को भवविभीरुः।।१०/४३२।।
सम्यक्त्वरत्नभूषो मन्दीकृतसकलविषयकृतगृद्धिः।
एकादश–गुणवर्ती निगद्यते श्रावकः परमः।।११/४३३।।

काम असूया माया मत्सर पैशून्य दैन्य मद विरहित।
धीर रु प्रसन्न मन–युत प्रिय–वादी वत्सली कुशल।।९/४३१।।
हेयादेय–प्रवीण गुरु–पद आराधना प्रयत बुद्धि।
जिन–वच–जल से धोया चित्त कलंक भव–भीती।।१०/४३२।।
सम्यक्त्व रत्न भूषित मंद हुई सकल, विषय कृत गृद्धि।
ग्यारह प्रतिमा वाला उत्तम श्रावक कहा जिनेश्वर ही।।११/४३३।।

शब्दशः अर्थ : काम–असूया–माया–मत्सर–पैशून्य–दैन्य–मद–हीनः=विषयों की इच्छा, ईर्ष्या, छल–कपट, मत्सरता, पिशुनता, दीनता, घमंड से रहित; धीरः=धैर्य–शाली; प्रसन्न–चित्तः=प्रसन्न मनवाला; प्रियम्वदः=प्रिय बोलनेवाला; वत्सलः=प्रीति–युक्त; कुशलः=प्रवीण।

हेय+आदेय–पटिष्ठः=त्यागने–योग्य, ग्रहण करने–योग्य में प्रवीण; गुरु–चरण+आराधना +उद्यत–मनीषः=गुरु के चरणों की आराधना में प्रयत्न–शील बुद्धिवाला; जिन–वचन–तोय –धौत–स्वान्त–कलङ्कः=जिनेंद्र भगवान के वचनरूपी जल से मन के कलंक को धोनेवाला; भव–विभीरुः=संसार से भय–भीत।

सम्यक्त्व–रत्न–भूषः=सम्यक्त्वरूपी रत्न से विभूषित; मन्दीकृत–सकल–विषय–कृत–गृद्धिः=सभी विषयों संबंधी लोलुपता को मंद करनेवाला; एकादश–गुणवर्ती=ग्यारह प्रतिमावाला; निगद्यते=कहा गया है; श्रावकः=श्रावक; परमः=परम/उत्कृष्ट।

अन्वय : 'एकादश–गुणवर्ती परमः श्रावकः निगद्यते।'—शेष सभी अन्वय शैली में हैं।

वचनिका : विषयों की वांक्षा, अदेख–सका भाव, मायाचार, मत्सरता, चुगली–खाना, दीन–पना, जाति आदि मद से रहित होना; धीर, प्रसन्न–चित्त, प्रिय वचन कहनेवाला, प्रीति–युक्त, प्रवीण; त्यागने–योग्य, ग्रहण करने–योग्य में पंडित; गुरु–चरणों की आराधना में उद्यमरूप बुद्धि–युक्त, जिन–वचनरूपी जल से मन का कलंक धोनेवाला, संसार से भय–भीत; सम्यक्त्वरूपी रत्न के आभूषण से सहित, समस्त विषयों की सभी प्रकार की

लोलुपता को मंद करनेवाला, ग्यारह प्रतिमा में प्रवृत्ति करनेवाला, परम श्रावक कहलाता है।।९-११/४३१-४३३।।

अब, आगे तेतीस पद्यों द्वारा अहिंसा-अणुव्रत वर्णित है।

वहाँ, सर्व-प्रथम इन दो पद्यों द्वारा हिंसा के एक सौ आठ माध्यम स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **सम्रम्भ-समारम्भारम्भैर्योग-कृत-कारितानुमतैः।**
सकषायैरभ्यस्तैस्तरसा सम्पद्यते हिन्सा।।१२/४३४।।
त्रित्रित्रिचतुस्सङ्ख्यैः सम्रम्भाद्यैः परस्परं गुणितैः।
अष्टोत्तरशतभेदा हिन्सा सम्पद्यते नियतम्।।१३/४३५।।

सम्रंभ समारंभारंभ से योग कृत कारितानुमत से।
सकषायों से गुणकर इनसे अति शीघ्र हिंसा उपजे।।१२/४३४।।
सम्रंभादि त्रय त्रय त्रय चतु संख्या से परस्पर गुण के।
एक सौ आठ प्रकार से सुनियत हिंसा प्रकट जन्मे।।१३/४३५।।

शब्दशः अर्थ : सम्रम्भ-समारम्भ+आरम्भैः=सम्रंभ, समारंभ, आरंभ से; योग-कृत-कारित +अनुमतैः=मन-वचन-कायरूप योग, कृत, कारित और अनुमोदना से; स-कषायैः=कषायों से युक्त; अभ्यस्तैः=गुणा करने से; तरसा=शीघ्र; सम्पद्यते=उत्पन्न होता है; हिन्सा=प्राण-घात। त्रि-त्रि-त्रि-चतुः सङ्ख्यैः=तीन, तीन, तीन, चार संख्या से; सम्रम्भ+आद्यैः=सम्रंभ आदि से; परस्परं=आपस में; गुणितैः=गुणा करने से; अष्ट+उत्तर-शत-भेदाः=आठ आगे सौ/एक सौ आठ भेदवाला; हिन्सा=प्राण-घात; सम्पद्यते=उत्पन्न होता है; नियतं=निश्चित।

अन्वय : ..तरसा हिन्सा सम्पद्यते। ..हिन्सा नियतं सम्पद्यते। शेष यथावत् अन्वय-शैली में है।

वचनिका : सम्रंभ, समारंभ, आरंभ; मन, वचन, काय; कृत, कारित, अनुमोदना; क्रोध, मान, माया, लोभ-सहित परस्पर गुणा करने पर वेग पूर्वक हिंसा उत्पन्न होती है।

सम्रंभादि तीन, योग तीन; कृत, कारित, अनुमोदना—ये तीन; कषाय चार—इनसे परस्पर गुणा करने पर एक सौ आठ भेदरूप हिंसा, निश्चित ही उत्पन्न होती है।

भावार्थ : हिंसा करने का श्रद्धान-विचार, सम्रंभ है; हिंसा के उपकरण मिलाना, समारंभ है; जीवों को मारना आरंभ है। ये तीनों मन, वचन, काय के साथ गुणा किए गए नौ हुए। उन्हें कृत, कारित, अनुमोदना से गुणा करने पर सत्ताईस हुए। उनका क्रोधादि चार कषायों से गुणा करने पर एक सौ आठ हुए। इन एक सौ आठ भंगों का परिवर्तन कैसे होता है; वह कहते हैं—

१. सम्रंभ मन से किया क्रोध-सहित—यह पहला भंग है। २. समारंभ मन से किया

क्रोध-सहित—यह दूसरा भंग है। ३. आरंभ मन से किया क्रोध-सहित—यह तीसरा भंग है। इसप्रकार पहला भेद समाप्त होने पर योगरूप दूसरा भेद पलटता है।

जैसे—अभी मन कह रहे थे, अब वहाँ वचन कहना। उसके भी समाप्त होने पर तीसरा भेद पलटता है। जैसे—अभी कृत कह रहे थे, अब वहाँ कारित कहना। उसके भी पूर्ण होने पर चौथा भेद पलटता है। जैसे—अभी क्रोध कह रहे थे, अब वहाँ मान कहना। इसप्रकार भंग पलटने से हिंसा के एक सौ आठ भेद होते हैं—ऐसा जानना।।१२-१३/४३४-४३५।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण अहिंसा का महत्त्व दिखाते हैं—

आर्या : **जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यन्ति।**
चन्द्रेण विना नक्षत्रैर्हन्यन्ते न तिमिरजालानि।।१४/४३६।।

जीव सुरक्षा के विन व्रत नहिं कर्मों को नष्ट कर सकते।
चन्द्र विना नक्षत्र तिमिर समूह न नष्ट कर सकते।।१४/४३६।।

शब्दश: अर्थ : जीव-त्राणेन=जीवों की रक्षा से; विना=अतिरिक्त; व्रतानि=व्रत; कर्माणि=कर्मों को; नो=नहीं; निरस्यन्ति=नष्ट कर पाते हैं; चन्द्रेण=चंद्रमा से; विना=अतिरिक्त; नक्षत्रै:=नक्षत्रों द्वारा; हन्यन्ते=नष्ट किए जाते हैं; न=नहीं; तिमिर-जालानि=अंधकार का समूह।

अन्वय : ...तिमिर-जालानि न हन्यन्ते। शेष अन्वय-शैली में ही है।

वचनिका : जैसे—चंद्रमा के विना नक्षत्रों द्वारा अंधकार का समूह नष्ट नहीं हो पाता है; उसी प्रकार जीवों की दया के विना व्रत, कर्मों का नाश नहीं कर सकते हैं।

भावार्थ : सब व्रतों में जीव-दया, प्रधान है—ऐसा जानना।।१४/४३६।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: सोदाहरण अहिंसा की महिमा प्ररूपित है—

आर्या : **तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिन्सामन्तरेण सुखजनका:।**
पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्त: पर्वता: क्वापि।।१५/४३७।।

सुख-जनक नियम व्रत भी नहिं होते हैं दया विना कब ही।
पृथिवी विना न दिखते रहते पर्वत कहीं कब ही।।१५/४३७।।

शब्दश: अर्थ : तिष्ठन्ति=ठहरते हैं; व्रत-नियमा:=व्रत और नियम; न=नहीं; अहिन्सां=अहिंसा को; अन्तरेण=विना; सुख-जनका:=सुख को उत्पन्न करनेवाले; पृथिवीं=भूमि को; विना=अतिरिक्त; दृष्टा:=दिखाई देते हैं; तिष्ठन्त:=ठहरे हुए; पर्वता:=पर्वत; क्व=कहीं; अपि=भी।

अन्वय : सुख-जनका: व्रत-नियमा: अहिन्सां अन्तरेण न तिष्ठन्ति, पृथिवीं विना क्व अपि तिष्ठन्त: पर्वता: न दृष्टा:।

वचनिका : जैसे—पृथिवी के विना कहीं भी ठहरे हुए पर्वत दिखाई नहीं देते हैं; उसीप्रकार सुख को उत्पन्न करनेवाले व्रत और नियम, दया के विना नहीं ठहरते हैं।

भावार्थ : सब व्रत-नियमों का आधार दया है—ऐसा जानना।।१५/४३७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण अहिंसा को छोड़ने का फल दिखाते हैं—

आर्या : **निघ्नानेनाहिन्सामात्माधारां निपात्यते नरके।**
स्वाधारां न हि शाखां छिन्दान: किं पतति भूमौ।।१६/४३८।।

आत्माधार अहिंसा तजने से नरक पतन हो निश्चित।
स्वाधारभूत शाखा छेदन से भूमि पर पतन निश्चित।।१६/४३८।।

शब्दश: अर्थ : निघ्ना=नष्ट करने से; अनेन=उससे; अहिन्सां=अहिंसा को; आत्मा+आधारां =अपने आधारभूत; निपात्यते=गिराया जाता है; नरके=नरक में; स्व+आधारां=अपने आधारभूत; न=नहीं; हि=वास्तव में; शाखां=डाली को; छिन्दान:=छेदनेवाला; किं=क्या; पतति=गिरता है; भूमौ=भूमि पर।

अन्वय : आत्मा-आधारां अहिन्सां निघ्ना अनेन नरके निपात्यते, हि स्व-आधारां शाखां छिन्दान: किं भूमौ न पतति?

वचनिका : आत्मा के आधारभूत अहिंसा/दया का विनाश करनेवाले प्राणी द्वारा आत्मा, नरक में गिराया जाता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—अपने आधारभूत बैठनेवाली शाखा/डाली को छेदता हुआ प्राणी, क्या पृथ्वी पर नहीं गिरता है? गिरता ही है।।१६/४३८।।

अब, इस पद्य द्वारा विरताविरत को परिभाषित करते हैं—

आर्या : **स मतो विरताविरत: स्वल्पकषायो विवेकपरमनिधि:।**
रक्षति यस्त्रसदशकं प्राणिहितं स्थावरचतुष्कम्।।१७/४३९।।

त्रस-दशक थावर-चतुक प्राणी हित चाह करे संरक्षण।
अल्प-कषाय परम-निधि विवेक युत संयतासंयत।।१७/४३९।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह; मत:=माना गया है; विरताविरत:=त्याग और अत्याग का मिश्ररूप; सु+अल्प-कषाय:=अति मंद कषायवाला; विवेक-परम-निधि:=स्व-पर के भेद-विज्ञानमय विवेकरूपी परम-निधि-संपन्न; रक्षति=रक्षा करता है; य:=जो; त्रस-दशकं=दश प्रकार के त्रसों की; प्राणि-हितं=प्राणिओं के हित की भावना-युक्त; स्थावर-चतुष्कं=चार प्रकार के स्थावरों की।

अन्वय : य: प्राणिहितं त्रस-दशकं स्थावर-चतुष्कं रक्षति, स: सु-अल्प-कषाय: विवेक-परम-निधि: विरताविरत: मत:।

वचनिका : जो दो इंद्रिय, तीनेंद्रिय, चारेंद्रिय, पंचेंद्रिय सैनी-असैनी के पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दश भेदवाले त्रस-दशकों की रक्षा करता है; एकेंद्रिय बादर-सूक्ष्म के पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा चार भेदवाले स्थावर-चतुष्कों का हित चाहता हुआ, अवश से उनकी हिंसा हो जाने पर भी अनुमोदना नहीं करनेवाला; मंद-कषाय-युक्त, विवेकरूपी परम निधि-संपन्न है; वह विरताविरत श्रावक कहा गया है।।१७/४३९।।

इसप्रकार के प्रतिपादन से स्थावर-हिंसा की अनुमोदना होती है? इस शंका का समाधान अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

आर्या : **सर्वविनाशी जीवस्त्रसहननं त्याज्यते यतो जैनैः।**
स्थावरहननानुमतिस्ततः कृता तैः कथं भवति?।।१८/४४०।।

सकल विघातक जीव त्रस वध छोड़ें यहाँ जो भी।
स्थावर-वध की अनुमति की है कैसे कही जाती?।।१८/४४०।।

शब्दशः अर्थ : सर्व-विनाशी=सभी का घात करनेवाला; जीवः=प्राणी; त्रस-हननं=त्रस का घात; त्याज्यते=छोड़ दिया जाता है; यतः=क्योंकि; जैनैः=जैनों द्वारा; स्थावर-हनन+अनुमतिः=स्थावर-घात की अनुमोदना; ततः=इसलिए; कृताः=की गई; तैः=उनके द्वारा; कथं=कैसे; भवति=होती है।

अन्वय : यतः जीवः सर्व-विनाशी, जैनैः त्रस-हननं त्याज्यते, ततः तैः स्थावर-हनन-अनुमतिः कृताः कथं भवति?

वचनिका : क्योंकि जीव, सभी का हिंसक है; अतः जिन जैनिओं द्वारा त्रस-हिंसा का त्याग किया गया है; इससे उनके द्वारा स्थावर की हिंसा में अनुमोदना कैसे की गई?

भावार्थ : यहाँ कोई कहता है कि श्रावक को त्रस-हिंसा के त्याग के उपदेश में स्थावर-हिंसा में अनुमोदना आ गई? उससे कहते हैं कि जीव, सभी का हिंसक है। उससे सभी हिंसा छूटती न जानकर त्रस-हिंसा छुड़ाई है; कुछ स्थावर की हिंसा करने का उपदेश नहीं है; अतः स्थावर-हिंसा में अनुमोदना नहीं है—ऐसा जानना।।१८/४४०।।

अब, इस पद्य द्वारा त्याग की पद्धति और पात्र प्ररूपित हैं—

आर्या : **त्रिविधा द्विविधेन मता विरतिर्हिन्सादितो गृहस्थानाम्।**
त्रिविधा त्रिविधेन मता गृहचारकतो निवृत्तानाम्।।१९/४४१।।

तीन प्रकार द्विविध से हिंसादि त्याग मान्य गृहस्थों के।
तीन प्रकार त्रिविध से हिंसादि त्याग मान्य है मुनि के।।१९/४४१।।

शब्दश: अर्थ : त्रिविधा=तीन प्रकारवाली; द्विविधेन=दो प्रकार से; मता=मानी है; विरति:=त्याग; हिन्सा-आदित:=हिंसा आदि से; गृहस्थानां=गृहस्थों का; त्रिविधा=तीन प्रकारवाली; त्रिविधेन=तीन प्रकार से; मता=मानी है; गृह-चारकत:=घर संबंधी आचरण से; निवृत्तानां=पूर्णतया रहितवालों के।

अन्वय : गृहस्थानां हिन्सा-आदित: विरति: त्रिविधा द्विविधेन मता; गृह-चारकत: निवृत्तानां त्रिविधा त्रिविधेन मता।

वचनिका : गृहस्थों के हिंसादि से विरतिरूप त्यागभाव, दो प्रकार-सहित तीन प्रकारवाला है; गृह-त्यागिओं के तीन प्रकार-सहित तीन प्रकारवाला है।

भावार्थ : करे नहीं/कृत, कराए नहीं/कारित, मन, वचन, काय से—इसप्रकार छह रूपों में त्याग होता है। अनुमोदना-सहित नव कोटि से त्याग नहीं होता है; क्योंकि हिंसादि में अनुमोदना का प्रसंग बना रहता है—ऐसा गृहस्थों के जानना।

गृहाचार के त्यागिओं के कृत, कारित, अनुमोदना-सहित, मन, वचन, काय पूर्वक नौ कोटी का ही त्याग है—ऐसा जानना।।१९/४४१।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव और शरीर की सर्वथा एकता में आनेवाली समस्या प्ररूपित है—

आर्या : **जीव-वपुषोरभेदो येषामेकान्तिको मत: शास्त्रे।**
काय-विनाशे तेषां जीव-विनाश: कथं वार्य: ?।।२०/४४२।।

जीव शरीर अभेद जिनका आगम ये सर्वथा माने।
तब तन-विनाश में उनके चेतन का क्षय रुके कैसे?।।२०/४४२।।

शब्दश: अर्थ : जीव-वपुष:=जीव और शरीर का; अभेद:=एकपना; येषां=जिनके; ऐकान्तिक: =एकांत से/सर्वथा; मत:=माना है; शास्त्रे=आगम में; काय-विनाशे=शरीर का नाश होने पर; तेषां=उनके; जीव-विनाश:=जीव का विनाश; कथं=कैसे; वार्य:=रोका जा सकता है।

अन्वय : येषां शास्त्रे जीव-वपुष: अभेद: ऐकान्तिक: मत:, तेषां काय-विनाशे जीव-विनाश: कथं वार्य: ?

वचनिका : जिनके शास्त्रों में जीव और शरीर का ऐकांतिकरूप से अभेद कहा है; उनके शरीर का विनाश होने पर जीव का विनाश कैसे नहीं होगा?।।२०/४४२।।

आत्मा और शरीर सर्वथा भिन्न हैं; इस मान्यता में हिंसा भी संभव नहीं है; अब इस पद्य द्वारा यह निरूपित है—

आर्या : **आत्मशरीर-विभेदं वदन्ति ये सर्वथा गत-विवेका:।**
काय-वधे हन्त कथं तेषां सञ्जायते हिंसा।।२१/४४३।।

जीव शरीर पृथक् हैं जो कहते सर्वथा विन विवेक।
उनके तन-वध कैसे? कैसे हिंसा हुआ जन्म?।।२१/४४३।।

शब्दश: अर्थ : आत्म-शरीर-विभेदं=आत्मा और शरीर की पृथक्ता; वदन्ति=कहते हैं; ये=जो; सर्वथा=एकांत से; गत-विवेका:=विवेक-रहित; काय-वधे=शरीर के घात में; हन्त=हाय; कथं=कैसे; तेषां=उनके; सञ्जायते=उत्पन्न होता है; हिन्सा=जीव-घात।

अन्वय : गत-विवेका: ये आत्म-शरीर-विभेदं सर्वथा वदन्ति; हन्त तेषां काय-वधे कथं हिन्सा सञ्जायते।

वचनिका : विवेक-रहित जो, आत्मा का और शरीर का सर्वथा भेद कहते हैं; उनके शरीर का वध होने पर हिंसा कैसे होती है? यह बड़े आश्चर्य की बात है।

भावार्थ : पहले श्लोक में यह कहा था कि जीव और शरीर को जो सर्वथा अभेद मानते हैं; उनके शरीर नष्ट होने पर जीव का अवश्य ही नाश आया; तब स्वयं ही हिंसा आ गई। यहाँ यह कह रहे हैं कि जो जीव को और शरीर को सर्वथा पृथक् मानते हैं; उनके शरीर के नाश में हिंसा नहीं ठहरी; तब वे भी स्वच्छंद होते हुए हिंसक ही हुए। इसप्रकार दोनों ही एकांती हिंसक ही हैं—ऐसा जानना।।२१/४४३।।

कथंचित् भिन्नाभिन्न के हिंसा की सिद्धि है; यह तथ्य अब, इस पद्य द्वारा व्यक्त है—

आर्या : **भिन्नाभिन्नस्य पुन: पीडा सम्पद्यतेतरां घोरा।**
देहवियोगे यस्मात्तस्मादनिवारिता हिन्सा।।२२/४४४।।

भिन्नाभिन्न के तन के वियोग में विशिष्ट घोर।
प्रकटे पीड़ा क्यों कि उससे हिंसा अनीवार्य।।२२/४४४।।

शब्दश: अर्थ : भिन्न+अभिन्नस्य=कथंचित् भेद और अभेद का; पुन:=फिर; पीडा=कष्ट; सम्पद्यतेतरां=विशेषरूप से प्रकट होता है; घोरा=अति तीव्र; देह-वियोगे=शरीर के वियोग में; यस्मात्=जिस कारण; तस्मात्=उस कारण; अनिवारिता=निवारण नहीं की जा सकनेवाली; हिंसा=प्राणी-घात।

अन्वय : यस्मात् पुन: भिन्नाभिन्नस्य देह-वियोगे घोरा पीडा सम्पद्यतेतरां तस्मात् अनिवारिता हिन्सा।

वचनिका : क्योंकि देह से किसी अपेक्षा भिन्न, किसी अपेक्षा अभिन्न जीव के शरीर का

वियोग होने पर अतिशयता पूर्वक घोर पीड़ा उत्पन्न होती है; अत: अनिवारिता हिंसा होती है।

भावार्थ : लक्षण-भेद से जीव और शरीर भिन्न हैं; तथापि बंध-दृष्टि से अभिन्न हैं; अत: जीव के शरीर का वियोग करने में अवश्य हिंसा होती है—ऐसा जानना।।२२/४४४।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा की सहेतुक हेयता को स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **तत्पर्यायविनाशो दु:खोत्पत्ति: परश्च सङ्क्लेश:।**
य: सा हिन्सा सद्भिर्वर्जयितव्या प्रयत्नेन।।२३/४४५।।

जो उस पर्यय नाश में दुख उत्पत्ति महा क्लेश होता।
प्रयत्न पूर्वक तजनीय वह हिंसा सज्जनों द्वारा।।२३/४४५।।

शब्दश: अर्थ : तत्पर्याय-विनाशे=उस पर्याय के नष्ट होने पर; दु:ख+उत्पत्ति:=दु:ख की प्रकटता; पर:=तीव्र; च=और; सङ्क्लेश:=संक्लेश; य:=जो; सा=वह; हिन्सा=प्राण-घात; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; वर्जयितव्या=छोड़ने-योग्य; प्रयत्नेन=प्रयत्न पूर्वक।

अन्वय : य: तत्पर्याय-विनाशे दु:ख-उत्पत्ति: च पर: सङ्क्लेश: सा हिन्सा प्रयत्नेन सद्भि: वर्जयितव्या।

वचनिका : उस पर्याय का विनाश होने पर जो दु:ख की उत्पत्ति होती है और महा संक्लेश होता है; वह हिंसा, संतों द्वारा प्रयत्न पूर्वक वर्जन करना, योग्य है।।२३/४४५।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा का स्वरूप और फल प्ररूपित है—

आर्या : **प्राणी प्रमाद-कलित: प्राणव्यपरोपणं यदा धत्ते।**
सा हिन्साऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेचजलधारा।।२४/४४६।।

प्राणी प्रमाद-युक्त व्यपरोपण प्राण का करे जब वह।
हिंसा भव-तरु-सिंचन जलधारावत् कही विज्ञ।।२४/४४६।।

शब्दश: अर्थ : प्राणी=जीव; प्रमाद-कलित:=प्रमाद से सहित; प्राण-व्यपरोपणं=प्राणों के घात को; यदा=जब; धत्ते=धारण करता है; सा=वह; हिन्सा=घात; अकथि=कही है; दक्षै:=प्रवीणों द्वारा; भव-वृक्ष-निषेच-जल-धारा=संसाररूपी पेड़ को सींचने के लिए जल की धारा।

अन्वय : यदा प्रमाद-कलित: प्राणी प्राण-व्यपरोपणं धत्ते, दक्षै: सा भव-वृक्ष-निषेच-जल-धारा हिन्सा अकथि।

वचनिका : जो प्राणी, प्रमाद से व्याप्त होता हुआ शरीर आदि प्राणों का व्यपरोपण करता है, घात करता है; वह पंडितों द्वारा हिंसा कही है। वह हिंसा कैसी है? वह संसाररूपी वृक्ष को सींचने के लिए जल-धारा के समान है।

भावार्थ : कषाय-सहित अपने या पर के प्राणों का नाश करना, वह हिंसा का लक्षण कहा है।।२४/४४६।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था निरूपित है—

आर्या : **म्रियतां मा मृत जीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिन्सा।**
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति।।२५/४४७।।

मरे नहिं मरे प्राणी प्रमाद बाहुल्य के नियत हिंसा।
प्राणघात में भी नहिं प्रमाद विरहित के हो हिंसा।।२५/४४७।।

शब्दशः अर्थ : म्रियतां=मर जाए; मा=नहीं; मृतः=मर जाए; जीवः=प्राणी; प्रमाद-बहुलस्य =तीव्र प्रमाद-सहित के; निश्चिता=नियम से; हिन्सा=घात; प्राण=व्यपरोपे=प्राण-घात हो जाने पर; अपि=भी; प्रमाद-हीनस्य=प्रमाद से रहित का; सा=वह; नास्ति=नहीं है।

अन्वय : जीवः म्रियतां मा मृतः प्रमाद-बहुलस्य हिंसा निश्चिता, प्रमाद-हीनस्य प्राण-व्यपरोपे अपि सा नास्ति।

वचनिका : जीव मरे या नहीं मरे; तीव्र प्रमाद-सहित जीव के निश्चयरूप हिंसा है। प्राणों का नाश हो जाने पर भी प्रमाद-रहित के वह हिंसा नहीं है।

भावार्थ : हिंसा का मूल कारण, प्रमाद है। उसके होने पर बाह्य प्राण-व्यपरोपण हो या नहीं; हिंसा अवश्य होती है और उसके विना अप्रमत्त मुनिराज के अवश से/कर्माधीनता आदि वश प्राण-व्यपरोपण हो जाने पर भी हिंसा नहीं कही है।।२५/४४७।।

अब, इस पद्य द्वारा सर्वथा नित्यता में हिंसा का अभाव दिखाते हैं—

आर्या : **यो नित्योऽपरिणामी तस्य न जीवस्य जायते हिन्सा।**
न हि शक्यते निहन्तुं केनापि कदाचनाकाशम्।।२६/४४८।।

जो नित्य अपरिणामी उस प्राणी के नहीं बने हिंसा।
आकाश कब किसी से घातन-सक्षम नहीं होता।।२६/४४८।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; नित्यः=ध्रुव; अपरिणामी=परिणमन-रहित; तस्य=उसका; न=नहीं; जीवस्य=जीव का; जायते=उत्पन्न होता है; हिन्सा=घात; न=नहीं; हि=वास्तव में; शक्यते= समर्थ है; निहन्तुं=घातने के लिए; केन=किससे; अपि=भी; कदाचन=कभी; आकाशं=नभ को।

अन्वय : यः नित्यः अपरिणामी, तस्य जीवस्य हिन्सा न जायते, आकाशं कदाचन केन अपि निहन्तुं न हि शक्यते।

वचनिका : जो नित्य, परिणाम-रहित, कूटस्थ है; उसके जीव की हिंसा नहीं होती है। कोई भी, कभी आकाश का घात करने में समर्थ नहीं होता है; अत: उसका त्याग भी नहीं होता है। इसप्रकार नित्यपने का एकांत, मिथ्या दिखाया है।।२६/४४८।।

सर्वथा क्षणिक में भी हिंसा संभव नहीं है; अब, इस पद्य द्वारा यह निरूपित है—

आर्या : **क्षणिको यो व्ययमान: क्रियमाणा तस्य निष्फला हिन्सा।**
चलमान: पवमान: न चाल्यमान: फलं कुरुते।।२७/४४९।।

क्षणिक जो है व्ययशील हिंसा की गई उसकी है निष्फल।
चलता हुआ पवन नहिं कर सकता चलते चलते कोई फल।।२७/४४९।।

शब्दश: अर्थ : क्षणिक:=क्षण-भंगुर; य:=जो; व्ययमान:=नष्ट होता हुआ; क्रियमाणा=किया गया; तस्य=उसका; निष्फला=व्यर्थ; हिन्सा=प्राण-घात; चलमान:=चलता हुआ; पवमान:= पवन; न=नहीं; चाल्यमान:=चलता हुआ; फलं=फल को; कुरुते=करता है।

अन्वय : य: व्ययमान: क्षणिक: तस्य क्रियमाणा हिंसा निष्फला; चलमान: पवमान: चाल्य-मान: फलं न कुरुते।

वचनिका : जैसे—चलता हुआ पवन, चलते हुए फल को नहीं करता है; उसीप्रकार जो नष्ट होता हुआ क्षणिक जीव है, उसकी की गई हिंसा, निष्फल है।

भावार्थ : जैसे—स्वयं ही चलती हुई हवा, चलती हुई फल क्या करे? उसीप्रकार जो जीव को क्षणिक मानते हैं, उनका स्वयं ही क्षण-क्षण में नाश हुआ; अत: उसकी हिंसा निष्फल हुई। इसप्रकार क्षणिक मानना भी मिथ्या है।।२७/४४९।।

नित्यानित्यात्मक में ही हिंसा का स्वरूप, सिद्ध होता है; इस पद्य द्वारा अब, यह प्रतिपादित है—

आर्या : **यस्मान्नित्यानित्य: कायवियोगे निपीड्यते जीव:।**
तस्माद्युक्ता हिन्सा प्रचुर-कलिल-बन्धवृद्धिकरी।।२८/४५०।।

क्योंकि नित्यानित्य प्राणी तन छूटने से दुख पाता।
अत: प्रचुर पाप बंध की वृद्धि-कर हिंसा उपयुक्ता।।२८/४५०।।

शब्दश: अर्थ : यस्मात्=जिस कारण; नित्य+अनित्य:=स्थाई और अस्थाई; काय-वियोगे=शरीर के नष्ट होने पर; निपीड्यते=पीड़ित/दु:खी होता है; जीव:=प्राणी; तस्मात्=उस कारण; युक्ता=उचित है; हिंसा=प्राणी-घात; प्रचुर-कलिल-बन्ध-वृद्धि-करी=बहुत अधिक पाप के बंध की वृद्धि करनेवाली।

अन्वय : यस्मात् नित्य-अनित्य: जीव: काय-वियोगे निपीड्यते; तस्मात् प्रचुर-कलिल-बन्ध-वृद्धि-करी हिन्सा युक्ता।

वचनिका : क्योंकि कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य स्वरूप जीव, शरीर का वियोग होने पर पीड़ित हो दु:खी होता है; अत: प्रचुर पाप का बंध करनेवाली हिंसा, युक्त है।

भावार्थ : जो स्याद्वाद द्वारा नित्य और अनित्य स्वरूप जीव मानते हैं; उन्हीं को हिंसा का ज्ञान होता है; तभी उन्हीं के त्याग होता है। एकान्ती के हिंसा को जाने विना त्याग नहीं होता है।—ऐसा यहाँ आशय जानना चाहिए।।२८/४४८।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा का फल वर्णित है—

आर्या : **देवातिथि-मन्त्रौषध-पित्रादि-निमित्ततोऽपि सम्पन्ना।**
हिंसाऽऽधत्ते नरकं किं पुनरिह नान्यथा विहिता।।२९/४५१।।

देव अतिथि मंत्रौषध-जनकादि निमित्त से भी संपन्न।
हिंसा धरे नरक में तब फिर क्या अन्य आयोजन?।।२९/४५१।।

शब्दश: अर्थ : देव+अतिथि-मन्त्र+औषध-पितृ+आदि-निमित्तत:=देव, गुरु, मंत्र, औषध, पिता आदि के निमित्त से; अपि=भी; सम्पन्ना=की गई; हिन्सा=प्राण-घात; धत्ते=धरती है; नरके=नरक में; किं=क्या; पुन:=फिर; इह=यहाँ; न=नहीं; अन्यथा=दूसरे प्रकार से; विहिता=की गई।

अन्वय : देव-अतिथि-मन्त्र-औषध-पितृ-आदि-निमित्तत: अपि सम्पन्ना हिन्सा नरके धत्ते, इह पुन: अन्यथा विहिता किं न।

वचनिका : देव, गुरु, मंत्र, औषध, पितर इत्यादि के निमित्त से भी प्राप्त हुई हिंसा, नरक में धरती है; तव यहाँ पुन: अन्य प्रकार से की गई हिंसा, नरक में क्यों नहीं धरेगी? धरती ही है।।२९/४५१।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव के वध के त्याग को सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।**
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्य:।।३०/४५२।।

प्राणी-वध है निज-वध प्राणी-रक्षा स्वयं की रक्षा है।
स्वयं नहीं है वध्य उसका वध तजन योग्य उससे।।३०/४५२।।

शब्दश: अर्थ : आत्म-वध:=अपना घात; जीव-वध:=जीव का घात; तस्य=उस जीव का; च=और; रक्षा=बचाना; आत्मन:=स्वयं का; भवति=होता है; रक्षा=बचाना; आत्मा=

स्वयं; न=नहीं; हि=वास्तव में; हन्तव्य:=मारने-योग्य; तस्य=उसका; वध:=घात; तेन= उससे; मोक्तव्य:=छोड़ देना चाहिए।

अन्वय : जीव-वध: आत्म-वध: च तस्य रक्षा आत्मन: रक्षा भवति, हि आत्मा हन्तव्य: न, तस्य वध: तेन मोक्तव्य:।

वचनिका : जीव का वध, आत्मा का वध है और जीव की रक्षा, आत्मा की रक्षा है। आत्मा हनने-योग्य नहीं है; उस कारण जीव का वध त्यागना, योग्य है।

भावार्थ : जीवों का घात करने में कषाय भाव होता है। उन कषाय भावों से स्वभाव का घात होने पर आत्मा ही का घात हुआ। जीवों की रक्षा करने से कषाय घटती है, तब स्वयं की ही रक्षा हुई। इसप्रकार आत्म-घात करना, योग्य नहीं है; अत: हिंसा का त्याग करना, योग्य है।।३०/४५२।।

अब, इस पद्य द्वारा त्याग करने की पद्धति निरूपित है—

आर्या : **सर्वां विरति: कार्या विशेषयित्वातिचार-भीतेन।**
पौर्वापर्यं दृष्ट्वा सूत्रार्थं तत्त्वतो बुद्ध्वा।।३१/४५३।।

संपूर्ण त्याग करना दोष भयों से विशेषता पूर्वक।
पूर्वापर सब देख रु सूत्रार्थ को तत्त्व से समझकर।।३१/४५३।।

शब्दश: अर्थ : सर्वां=सभी को; विरति:=छोड़ना; कार्या=करना चाहिए; विशेषयित्वा=विशेषता पूर्वक; अतिचार-भीतेन=दोषों के भय से; पौर्व+अपर्यं=पहले और पीछे को; दृष्ट्वा=देखकर; सूत्र+अर्थं=सूत्र के अर्थ को; तत्त्वत:=यथार्थरूप से; बुद्ध्वा=जानकर।

अन्वय : पौर्व-अपर्यं दृष्ट्वा सूत्र-अर्थं तत्त्वत: बुद्ध्वा अतिचार-भीतेन विशेषयित्वा सर्वां विरति: कार्या।

वचनिका : अतिचारों से भय-भीत पुरुष द्वारा, सर्व विरति अर्थात् सभी प्रकार का त्याग, पूर्व और अपर देखकर कहे गए सूत्र के अर्थ को निश्चय से जानकर विशेषता पूर्वक करना, योग्य है।

भावार्थ : यदि त्याग करना है तो इसप्रकार से मेरे त्याग है—ऐसे विशेषण-सहित पूर्व-अपर विचारकर और सूत्र के अर्थ को जानकर; कभी किसी प्रकार से भी प्रतिज्ञा-भंग न हो जाए—इसप्रकार मन में भय रखकर करना। विचार किए विना करना, योग्य नहीं है।।३१/४५३।।

अब, इस पद्य द्वारा त्याग में रखने-योग्य सावधानिआँ प्ररूपित हैं—

आर्या : **शक्त्यनुसारेण बुधैर्विरतिः सर्वापि युज्यते कर्तुम्।**
तामन्यथा दधानो भङ्गं याति प्रतिज्ञायाः।।३२/४५४।।

शक्ति-अनुसार सदा सब ही का त्याग उचित है करना।
इसके विना प्रतिज्ञा धारण का भंग हो जाता।।३२/४५४।।

शब्दशः अर्थ : शक्ति+अनुसारेण=शक्ति के अनुसार; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; विरतिः=त्याग; सर्वा=सभी; अपि=भी; युज्यते=उचित है; कर्तुं=करने के लिए; तां=उसे; अन्यथा=दूसरे प्रकार से; दधानः=धारण करते हुए; भङ्गं=विनाश को; याति=प्राप्त होता है; प्रतिज्ञायाः= प्रतिज्ञा/नियम का।

अन्वय : बुधैः सर्वा अपि विरतिः शक्ति-अनुसारेण कर्तुं युज्यते; तां अन्यथा दधानः प्रतिज्ञायाः भङ्गं याति।

वचनिका : पंडितों द्वारा शक्ति के अनुसार सभी त्याग करना, योग्य है। उस त्याग को अन्यथा अर्थात् शक्ति के विना ही करनेवाला प्राणी, प्रतिज्ञा के भंग को प्राप्त होता है।

भावार्थ : व्रतों को धारण करते समय शक्ति को छिपाना नहीं और शक्ति के अतिरिक्त भी नहीं करना—ऐसा कहा है।।३२/४५४।।

आगे मिथ्यादृष्टि जीव किस प्रकार से हिंसा की स्थापना करते हैं और आचार्य उनका निराकरण कैसे करते हैं—यह बारह पद्यों द्वारा प्ररूपित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस एक पद्य द्वारा उनकी मान्यता निरूपित है—

आर्या : **केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः।**
पर-जीव-रक्षणार्थं धर्मार्थं पाप-नाशार्थम्।।३३/४५५।।

कोई मूरख कहते पर-प्राणी-रक्षणार्थ धर्मार्थ।
प्राणी-घातक प्राणी वध-योग्य हि पाप-नाशार्थ।।३३/४५५।।

शब्दशः अर्थ : केचित्=कोई; वदन्ति=कहते हैं; मूढा=मूर्ख; हन्तव्याः=मारने-योग्य हैं; जीव-घातिनः=प्राणिओं का घात करनेवाले; जीवाः=प्राणी; पर-जीव-रक्षण-अर्थं=अन्य जीवों की रक्षा के लिए; धर्म+अर्थं=धर्म के लिए; पाप-नाश+अर्थं=पाप का नाश करने के लिए।

अन्वय : केचित् मूढा वदन्ति पर-जीव-रक्षण-अर्थं धर्म-अर्थं पाप-नाश-अर्थं जीव-घातिनः जीवाः हन्तव्याः।

वचनिका : कोई मूढ मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि अन्य जीवों की रक्षा के लिए, धर्म के लिए, पाप के नाश के लिए; जीवों को मारनेवाले हिंसक जीव, मारने-योग्य हैं।।३३/४५५।।

अब, इस पद्य द्वारा आचार्यश्री उन्हें समझाते हैं—

आर्या : **युक्तं तन्नैवं सति हिन्स्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम्।**
हिन्सायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः।।३४/४५६।।

ऐसा नहीं है युक्त सब ही जीवों के घातकी होने।
से जन्मी हिंसा का सक्षम हो कौन निषेध करने?।।३४/४५६।।

शब्दशः अर्थ : युक्तं=उचित है, तत्=वह; न=नहीं; एवं=इसप्रकार; सति=होने पर; हिन्स्रत्वात् =हिंसकपने के कारण; प्राणिनां=प्राणिओं के; अशेषाणां=संपूर्ण; हिन्सायाः=हिंसा का; कः= कौन; शक्तः=समर्थ; निषेधने=निषेध करने में; जायमानायाः=उत्पन्न हुई।

अन्वय : तत् न युक्तं; एवं सति अशेषाणां प्राणिनां हिन्स्रत्वात् जायमानायाः हिन्सायाः निषेधने कः शक्तः?

वचनिका : ऐसा कहना, युक्त नहीं है; क्योंकि ऐसा मानने पर हिंसकपने से समस्त जीवों के उत्पन्न हुई हिंसा का निषेध करने में कौन समर्थ है?

भावार्थ : यदि हिंसक जीवों की हिंसा, योग्य हो तो हिंसक जीव तो सभी हैं; तब फिर सभी की हिंसा ठहरेगी; अतः हिंसक जीवों की भी हिंसा करना, योग्य नहीं है।।३४/४५६।।

इस पर वह कहता है कि धर्म के लिए तो हिंसा करनी? अब, इस पद्य द्वारा उसका निषेध करते हैं—

आर्या : **धर्मोऽहिन्साहेतुर्हिन्सातो जायते कथं तथ्यः।**
न हि शालिः शालिभवः कोद्रवतो दृश्यते जातः।।३५/४५७।।

धर्म अहिंसा हेतु हिंसा से वह प्रकट हो कैसे?
चावल हो चावल से नहिं देखा प्रकट कोदों से।।३५/४५७।।

शब्दशः अर्थ : धर्मः=धर्म; अहिन्सा-हेतुः=अहिंसा हेतु/दया के कारण है; हिन्सातः=हिंसा से; जायते=उत्पन्न होता है; कथं=कैसे; तथ्यः=वास्तविक; न=नहीं; हि=निश्चित; शालिः= चावल से उत्पन्न; कोद्रवतः=कोदों से; दृश्यते=देखा जाता है; जातः=उत्पन्न।

अन्वय : अहिंसा-हेतुः तथ्यः धर्मः हिन्सातः कथं जायते; शालि-भवः शालिः कोद्रवतः जातः न हि दृश्यते।

वचनिका : धर्म अहिंसा हेतु है, अहिंसा से उत्पन्न होता है। ऐसा सत्यार्थ धर्म, हिंसा से कैसे उत्पन्न हो सकता है? यहाँ दृष्टांत कहते हैं—धान से उत्पन्न हुआ चावल, कोदों से उत्पन्न हुआ दिखता नहीं है।

भावार्थ : दया की कारणतावाला धर्म, हिंसा से कभी नहीं होता है; क्योंकि कारण के अनुरूप, कार्य होता है; अत: धर्म के लिए हिंसा करना, योग्य नहीं है।।३५/४५७।।

पहले उसने जो कहा था कि पाप के नाश के लिए हिंसकों की हिंसा करना; उसका निषेध अब, इस पद्य द्वारा करते हैं—

आर्या : **पापनिमित्तं हि वध: पापस्य विनाशने न भवति शक्त:।**
छेदनिमित्तं परशु: शक्नोति लतां न वर्धयितुम्।।३६/४५८।।

हिंसा पाप-निमित्तक पाप-विनाशन समर्थ नहिं होती।
छेद-निमित्तक परशु बेल बड़ाने समर्थ हो नहिं ही।।३६/४५८।।

शब्दश: अर्थ : पाप-निमित्तं=पाप का कारण; हि=वास्तव में; वध:=हिंसा; पापस्य=पाप का; विनाशने=विशेष नाश करने में; न=नहीं; भवति=होता है; शक्त:=समर्थ; छेद-निमित्तं =छेद में कारण; परशु:=फरसा; शक्नोति=समर्थ होता है; लतां=बेल को; न=नहीं; वर्धयितुं=बड़ने के लिए।

अन्वय : हि पाप-निमित्तं वध: पापस्य विनाशने शक्त: न भवति, छेद-निमित्तं परशु: लतां वर्धयितुं न शक्नोति।

वचनिका : जैसे—छेदने का कारणभूत फरसा, लता को बड़ाने में समर्थ नहीं होता है; उसीप्रकार पाप का कारणभूत जीवों का घात, पाप का विनाश करने में समर्थ नहीं होता है।।३६/४५८।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म के लिए हिंसक जीवों की हिंसा मानने का निषेध करते हैं—

आर्या : **हिन्स्राणां यदि घाते धर्म: सम्भवति विपुल-फल-दायी।**
सुखविघ्नस्तर्हि गत: परजीव-विघातिनां घाते।।३७/४५९।।

यदि हिंसक के घात में महा फल-दायि धर्म संभव है।
तो पर-जीव-विघातक के घात में सुख में बाधा की है।।३७/४५९।।

शब्दश: अर्थ : हिन्स्राणां=हिंसकों के; यदि=यदि; घाते=घात में; धर्म:=धर्म; सम्भवति=भली-भाँति होता है; विपुल-फल-दायी=बहुत फल देनेवाला; सुख-विघ्न:=सुख में बाधा; तर्हि =तो; गत:=गई; पर-जीव-विघातिनां=अन्य जीवों का घात करनेवालों के; घाते=घात में।

अन्वय : यदि हिन्स्राणां घाते विपुल-फल-दायी धर्म: सम्भवति, तर्हि पर-जीव-विघातिनां घाते सुख-विघ्न: गत:।

वचनिका : यदि हिंसक जीवों के घात में विशाल फल का देनेवाला धर्म संभव है तो अन्य जीवों की हिंसा करनेवालों के घात में सुख में विघ्न आया।

भावार्थ : हिंसक जीवों की हिंसा करनेवाले ने उनके सुख में विघ्न किया—वह हिंसा हुई; धर्म कैसे हुआ?—ऐसा जानना।।३७/४५९।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसक को घोर पाप सिद्ध करते हैं—

आर्या : **यस्माद्गच्छन्ति गतिं निहता गुरुदु:खसङ्कटां हिन्स्राः।**
तस्माद्दु:खं ददतः पापं न भवति कथं घोरम्।।३८/४६०।।

क्योंकि जाते घाते हिंसक बहु दु:ख संकटों मय गति को।
उससे दुख दाता के कैसे नहिं घोर पाप नित हो?।।३८/४६०।।

शब्दशः अर्थ : यस्मात्=जिस कारण से; गच्छन्ति=जाते हैं; गतिं=दशा को; निहताः=मारे गए; गुरु-दु:ख-सङ्कटां=महा दु:ख संकटवाली; हिन्स्राः=हिंसा करनेवाले; तस्मात्=उससे; दु:खं=दु:ख को; ददतः=देनेवाले के; पापं=पाप; न=नहीं; भवति=होता है; कथं=कैसे; घोरं=तीव्र।

अन्वय : यस्मात् निहताः हिन्स्राः गुरु-दु:ख-सङ्कटां गतिं गच्छन्ति, तस्मात् दु:खं ददतः घोरं पापं कथं न भवति?

वचनिका : क्योंकि मारे गए हिंसक, महा दु:ख-संकटवाली गति को जाते हैं; अतः दु:ख देनेवाले को घोर पाप कैसे नहीं होगा?।।३८/४६०।।

अब, इस पद्य द्वारा दु:खी जीवों की हिंसा का निषेध करते हैं—

आर्या : **दु:खवतां भवति वधे धर्मो वेदमपि युज्यते वक्तुम्।**
मरणे नरके दु:खं घोरतरं वार्यते केन।।३९/४६१।।

दुखवानों के वध में धर्म है—ऐसा कभी नहीं कहना।
मरकर नरक में किससे घोरतर दु:ख वारण किया जाता?।।३९/४६१।।

शब्दशः अर्थ : दु:खवतां=दु:खवानों के; भवति=होता है; वधे=घात में; धर्मः=धर्म; न=नहीं; इदं=यह; अपि=भी; युज्यते=उचित है; वक्तुं=कहने के लिए; मरणे=मरण होने पर; नरके=नरक में; दु:खं=कष्ट; घोरतरं=तीव्रतर; वार्यते=रोका जा सकता है; केन=किसके द्वारा।

अन्वय : दु:खवतां वधे धर्मो भवति, इदं अपि वक्तुं न युज्यते, मरणे नरके घोरतरं दु:खं केन वार्यते?

वचनिका : दु:खी जीवों के घात में धर्म होता है—ऐसा भी कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि मरण होने पर नरक में अत्यंत घोर दु:ख किसके द्वारा रोका जा सकता है?

भावार्थ : कोई कहता है कि दु:खी जीवों की हिंसा में धर्म होता है; क्योंकि उसका दु:ख दूर

हुआ। उससे कहते हैं कि वह जीव मरणकर नरक गया; वहाँ महा दु:ख किससे रोका जा सकेगा? इसप्रकार अधिक दु:ख देने से पाप ही है, धर्म नहीं है।।३९/४६१।।

अब, इस पद्य द्वारा सुखिओं के घात में धर्म का निषेध करते हैं—

आर्या : **सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परोधर्मः।**
जीवस्य जायमानो निषेधितुं शक्यते केन?।।४०/४६२।।

सुखिओं के घात में भी पाप-निषेधन से धर्म हो श्रेष्ठ।
प्राणी के होते पाप में निषेध को कौन हो सक्षम?।।४०/४६२।।

शब्दश: अर्थ : सुखितानां=सुखितों के; अपि=भी; घाते=घात में; पाप-प्रतिषेधने=पाप का निषेध करने पर; पर:=श्रेष्ठ; धर्म:=धर्म; जीवस्य=जीव का; जायमाने=प्रकट होने पर; निषेधितुं =निषेध करने के लिए; शक्यते=समर्थ है; केन=किसके द्वारा।

अन्वय : केन शक्यते? इतने से परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सभी अन्वय शैली में ही हैं।

वचनिका : कोई कहता है कि सुखी जीवों के घात में भी विषय-सुखरूप पाप का निषेध हो जाने पर बड़ा धर्म होता है। उससे कहते हैं कि ऐसा नहीं है; क्योंकि जीवों के उत्पन्न होते हुए पाप का निषेध करने में कौन समर्थ हो सकता है?

भावार्थ : वह जीव अन्यत्र उत्पन्न होगा, वहाँ पाप करेगा; इसप्रकार मात्र पाप कराने में धर्म नहीं है, पाप ही है।।४०/४६२।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व-पोषक वचनों के सर्वथा त्याग की प्रेरणा देते हैं—

आर्या : **पौर्वापर्यविरुद्धं सम्यक्त्वमहीध्रपाटने बज्रम्।**
इत्थं विचार्य सद्भिः परवचनं सर्वथा हेयम्।।४१/४६३।।

ऐसा विचार ज्ञानी पूर्वापर हैं विरुद्ध सम्यक्त्व।
गिरि नाशक बज्रोपम अन्य वचन सर्वथा हेय।।४१/४६३।।

शब्दश: अर्थ : पौर्व+अपर्य-विरुद्धं=पहले और बाद से उल्टे; सम्यक्त्व-महीध्र-पाटने= सम्यक्त्वरूपी पर्वत को नष्ट करने में; बज्रं=बज्र के समान; इत्थं=ऐसा; विचार्य=विचारकर; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; पर-वचनं=अन्य के वचन को; सर्वथा=सभी प्रकार से; हेयं=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : सद्भि: इत्थं विचार्य पौर्व-अपर्य-विरुद्धं सम्यक्त्व-महीध्र-पाटने बज्रं पर-वचनं सर्वथा हेयम्।

वचनिका : पंडितों द्वारा इसप्रकार विचारकर पूर्व-अपर-विरुद्ध और सम्यक्त्वरूपी पर्वत

को तोड़ने के लिए बज्र के समान मिथ्यादृष्टिओं के वचन, सर्वथा त्याग करने के योग्य हैं।।४१/४६३।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि अज्ञान-जन्य-दोष, एक-मात्र ज्ञान से ही नष्ट होते हैं—

आर्या : **अज्ञानतो यदेनो जीवानां जायते परमघोरम्।**
तच्छक्यते निहन्तुं ज्ञानव्यतिरेकतः केन?।।४२/४६४।।

प्राणी को परम घोर पाप जो अज्ञान से प्रकट होते।
ज्ञान विना नहिं कोई सक्षम है उन्हें नष्ट करने।।४२/४६४।।

शब्दशः अर्थ : अज्ञानतः=अज्ञान से; यत्=जो; एनः=पाप; जीवानां=जीवों के; जायते=उत्पन्न होता है; परम-घोरं=महा घोर; तत्=वह; शक्यते=समर्थ है; निहन्तुं=नष्ट करने के लिए; ज्ञान-व्यतिरेकतः=ज्ञान के विना; केन=किसके द्वारा।

अन्वय : जीवानां यत् परम-घोरं एनः अज्ञानतः जायते, तत् निहन्तुं ज्ञान-व्यतिरेकतः केन शक्यते।

वचनिका : जीवों के अज्ञान से जो महा घोर पाप उत्पन्न होता है; वह पाप नष्ट करने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त कौन समर्थ हो सकता है?

भावार्थ : अज्ञान-जनित पाप, ज्ञान से ही मिटता है; अन्य से नहीं मिटता है—ऐसा जानना।।४२/४६२।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म के लिए जीव-घात का फल सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **यो धर्मार्थं छिन्ते हिन्स्राहिन्स्रसुखदुःखिनो भविनः।**
पीयूषं स्वीकर्तुं स हन्ति विषविटपिनो नूनम्।।४३/४६५।।

हिंस्र अहिंसक सुखि दुखि जीवों को धर्म हेतु जो मारे।
वह अमृत लेने को वास्तव में विष-तरु काटे।।४३/४६५।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; धर्म+अर्थं=धर्म के लिए; छिन्ते=मारता है; हिन्स्र+अहिन्स्र-सुख-दुःखिनः=हिंसक, अहिंसक, सुखी, दुःखी; भविनः=प्राणिओं को; पीयूषं=अमृत को; स्वीकर्तुं=स्वीकार करने के लिए; सः=वह; हन्ति=काटता है; विष-विटपिनः=विष-वृक्ष को; नूनं=निश्चित ही।

अन्वय : यः हिन्स्र-अहिन्स्र-सुख-दुःखिनः भविनः धर्म-अर्थं छिन्ते सः नूनं पीयूषं स्वीकर्तुं विष-विटपिनः हन्ति।

वचनिका : जो जीव धर्म के लिए हिंसक, अहिंसक, सुखी, दुःखी जीवों को मारता है; वह

निश्चय से अमृत को अंगीकार करने के लिए विष-वृक्ष को हनता है, तोड़ता है; परंतु वहाँ अमृत कैसा?।।४३/४६५।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव-घात का फल निरूपित है—

आर्या : **मनसा वचसा वपुषा हिन्सां विदधाति यो जनो मूढः।**
जन्मवनेऽसौ दीर्घे दीर्घं चश्चूर्यते दुःखी।।४४/४६६।।

जो अज्ञानी प्राणी मन वच तन से सतत करे हिंसा।
वह पीड़ित अति दीर्घ भव-वन में दीर्घ दुख पाता।।४४/४६६।।

शब्दशः अर्थ : मनसा=मन से; वचसा=वचन से; वपुषा=तन से; हिन्सां=हिंसा को; विदधाति=करता रहता है; यः=जो; जनः=प्राणी; मूढः=अज्ञानी; जन्म-वने=संसाररूपी वन में; असौ=वह; दीर्घे=बहुत बड़े; दीर्घं=बहुत काल पर्यंत; चश्चूर्यते=चूर्ण होता रहता है; दुःखी=कष्ट भोगता हुआ।

अन्वय : यः मूढः जनः मनसा वचसा वपुषा हिन्सां विदधाति, असौ दुःखी दीर्घे जन्म-वने दीर्घं चश्चूर्यते।

वचनिका : जो मूढ जन, मन से, वचन से और काय से हिंसा करता है; वह दुःखी होता हुआ संसाररूपी दीर्घ वन में बहुत काल पर्यंत अतिशय पूर्वक चूर्ण होता रहता है/विशेषरूप से पिसता रहता है।।४४/४६६।।

यहाँ पर्यंत अहिंसा-अणुव्रत का वर्णन हुआ।
आगे सत्य-अणुव्रत का वर्णन चौदह पद्यों द्वारा किया जा रहा है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा सत्याणुव्रत का स्वरूप बताते हैं—

आर्या : **यन्म्लेच्छेष्वपि गर्ह्यं यदनादेयं जिघृक्षतां धर्मम्।**
यदनिष्टं साधुजनैस्तद्वचनं नोच्यते सद्भिः।।४५/४६७।।

म्लेच्छों में भी निंदित धर्म-ग्रहण-इच्छु को अनादृत हैं।
साधु-जनों को अनिष्ट ऐसे वच विज्ञ नहिं बोलें।।४५/४६७।।

शब्दशः अर्थ : यत्=जो; म्लेच्छेषु=म्लेच्छों में; अपि=भी; गर्ह्यं=निंदनीय; यत्=जो; अनादेयं=अनादर के योग्य; जिघृक्षतां=ग्रहण करने के इच्छुक; धर्मं=धर्म को; यत्=जो; अनिष्टं =अमान्य; साधु-जनैः=साधु-जनों द्वारा; तत्=वह; वचनं=वाणी; न=नहीं; उच्यते=बोले जाते हैं; सद्भिः=सज्जनों द्वारा।

अन्वय : यत् म्लेच्छेषु अपि गर्ह्यं यत् धर्मं जिघृक्षतां अनादेयं यत् साधु-जनैः अनिष्टं, तत् वचनं सद्भिः न उच्यते।

वचनिका : जो वचन, म्लेच्छों में भी निंदनीय हैं, धर्म को ग्रहण करने की वांक्षा रखनेवाले के लिए आदर के योग्य नहीं हैं, साधु-जनों को इष्ट नहीं हैं; वे असत्य वचन, संत-जनों द्वारा नहीं बोले जाते हैं।।४५/४६७।।

अब, इसी को इस पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **कामक्रोधक्रीडा - प्रमाद-मदलोभमोहविद्वेषै:।**
वचनमसत्यं सन्तो निगदन्ति न धर्मरतचित्ता:।।४६/४६८।।

धर्म लीन मनवाले काम रु क्रोध प्रमाद मद लोभ।
क्रीड़ा मोह विद्वेष से नहिं कहते हैं असत्य वचन।।४६/४६८।।

शब्दश: अर्थ : काम-क्रोध-क्रीडा-प्रमाद-मद-लोभ-मोह-विद्वेषै:=विषय-वासना, क्रोध, क्रीड़ा/खेल, आलस, घमंड, लोभ, मोह, विशिष्ट द्वेष से; वचनं=वाणी; असत्यं=सत्य नहीं/मिथ्या; सन्त:=सज्जन; निगदन्ति=कहते हैं; न=नहीं; धर्म-रत-चित्ता:=धर्म में लीन मनवाले।

अन्वय : धर्म-रत-चित्ता: सन्त: काम-क्रोध-क्रीडा-प्रमाद-मद-लोभ-मोह-विद्वेषै: असत्यं वचनं न निगदन्ति।

वचनिका : धर्म में लीन चित्तवाले संत-जन, काम, क्रोध, क्रीड़ा, प्रमाद, लोभ, द्वेष इत्यादि भावों द्वारा असत्य वचन को नहीं बोलते हैं।।४६/४६८।।

किस प्रकार के सत्य-वचन भी छोड़ने-योग्य हैं? इस प्रश्न का उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

आर्या : **सत्यमपि विमोक्तव्यं परपीडारम्भतापभयजनकम्।**
पापं विमोक्तुकामै: सुजनैरिव पापिनां वृत्तम्।।४७/४६९।।

पाप-त्याग के इच्छुक सुजनों को पापिओं की वार्ता-वत्।
पर-पीड़ा आरंभ ताप रु भय जनक सत्य भी त्याज्य।।४७/४६९।।

शब्दश: अर्थ : सत्यं=सत्य को; अपि=भी; विमोक्तव्यं=छोड़ना-योग्य है; पर-पीडा+आरम्भ-ताप-भय-जनकं=दूसरों को पीड़ा, आरंभ, संताप, डर उत्पन्न करनेवाले; पापं=पाप को; विमोक्तु-कामै:=छोड़ने के इच्छुक; सुजनै:=सज्जनों द्वारा; इव=समान; पापिनां=पापिओं का; वृत्तं=चरित्र को।

अन्वय : पापं विमोक्तु-कामै: सुजनै: पापिनां वृत्तं इव पर-पीडा-आरम्भ-ताप-भय-जनकं सत्यं अपि विमोक्तव्यम्।

वचनिका : पाप-छोड़ने की वांक्षावाले सत्पुरुषों द्वारा पापिओं के चरित्र के समान; अन्य

जीवों को पीड़ा, आरंभ, संताप, भय को उत्पन्न करनेवाले सत्य-वचन भी त्याग करना, योग्य है।।४७/४६९।।

अब, इस एक पद्य द्वारा असत्य वचन का स्वरूप और भेद वर्णित हैं—

आर्या : **भाषन्ते नासत्यं चतु: प्रकारमपि सन्सृतिविभीता:।**
विश्वासधर्मदहनं विषादजननं बुधावमतम्।।४८/४७०।।

भव से भीत नहिं बोलें असत्य चतुधा विषाद उत्पादक।
विश्वास धर्म-दाहक बुध जन से अवज्ञा कारक।।४८/४७०।।

शब्दश: अर्थ : भाषन्ते=बोलते हैं; न=नहीं; असत्यं=झूँठ; चतु:=चार; प्रकारं=भेद को; अपि=भी; सन्सृति-विभीत:=संसार से भय-भीत; विश्वास-धर्म-दहनं=विश्वासरूपी धर्म को जलानेवाला; विषाद-जननं=विषाद को उत्पन्न करनेवाला; बुध+अवमतं=ज्ञानिओं द्वारा अवज्ञा किया जानेवाला।

अन्वय : सन्सृति-विभीत: विश्वास-धर्म-दहनं विषाद-जननं बुध-अवमतं चतु: प्रकारं अपि असत्यं न भाषन्ते।

वचनिका : संसार से भय-भीत पुरुष; असदुद्भावन, भूतनिह्नव, विपरीत और निंद्य—इन चारों ही प्रकार के असत्य वचनों को नहीं बोलते हैं। असत्य वचन कैसा है? वह विश्वासमय प्रतीतिरूप धर्म को जलानेवाला, विषाद को उत्पन्न करनेवाला और पंडितों द्वारा अवज्ञा किया जानेवाला है।।४८/४७०।।

अब, इस पद्य द्वारा असदुद्भावन असत्य का स्वरूप प्रतिपादित है—

आर्या : **असदुद्भावनमाद्यं वचनमसत्यं निगद्यते सद्भि:।**
ऐकान्तिका: समस्तभावा जगतीति तत् ज्ञेयम्।।४९/४७१।।

जग में सभी पदार्थ ऐकांतिक हैं सदा प्रकट करना।
विज्ञों द्वारा पहला असदुद्भावन असत् बताया।।४९/४७१।।

शब्दश: अर्थ : असत्+उत्-भावनं=असत् को विशेषरूप से प्रकट करना; आद्यं=पहला; वचनं=वाणी; असत्यं=मिथ्या; निगद्यते=कहा जाता है; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; ऐकान्तिका:= एक धर्म-स्वरूपवाले; समस्त-भावा:=सभी पदार्थ; जगति=विश्व में; इति=इसप्रकार; तत्=वह; ज्ञेयं=जानना चाहिए।

अन्वय : जगति समस्त-भावा: ऐकान्तिका: इति असत्-उत्-भावनं आद्यं असत्यं वचनं सद्भि: निगद्यते, तत् ज्ञेयम्।

वचनिका : जगत में विद्यमान सभी पदार्थ, एकांत स्वरूप हैं—इसप्रकार असत् अर्थात् अविद्यमान का उद्भावन अर्थात् प्रकट करना; संतों द्वारा प्रथम असत्य वचन कहा गया है—वह जानना, योग्य है।।४९/४७१।।

अब, इस पद्य द्वारा भूत-निह्नव का स्वरूप निरूपित है—

आर्या : **असदलपनं द्वितीयं वितथं कथयन्ति तथ्य-विज्ञाना:।**
सृष्टि-स्थिति-लय-युक्तं किञ्चिन्नास्तीति तदभिहितम्।।५०/४७२।।

ध्रौव्य उत्पाद व्यय युत कुछ नहिं वह कथन दूसरा मिथ्या।
असदलपन भूत-निह्नव कहते सत्यार्थ विज्ञाता।।५०/४७२।।

शब्दश: अर्थ : असत्-अलपनं=असत् को कहना; द्वितीयं=दूसरा; वितथं=असत्य; कथयन्ति =कहते हैं; तथ्य-विज्ञाना:=वस्तु का सत्यार्थ स्वरूप जाननेवाले; सृष्टि-स्थिति-लय-युक्तं=उत्पाद, ध्रौव्य, व्यय-सहित; किञ्चित्=कुछ; नास्ति=नहीं है; इति=इसप्रकार; तत्= वह; अभिहितं=कथन।

अन्वय : सृष्टि-स्थिति-लय-युक्तं किञ्चित् नास्ति तत् अभिहितं असदलपनं द्वितीयं वितथं इति तथ्यविज्ञाना: कथयन्ति।

वचनिका : उत्पाद, स्थिति, नाश-सहित कुछ भी नहीं है—ऐसा कहना, असदलपन अर्थात् भूत-निह्नव, विद्यमान वस्तु का अभाव कहना; उसे सत्य ज्ञान-संपन्न पंडित, दूसरा असत्य कहते हैं।।५०/४७२।।

अब, इस पद्य द्वारा विपरीत असत्य का स्वरूप वर्णित है—

आर्या : **विपरीतमिदं ज्ञेयं तृतीयकं यद्वदन्ति विपरीतम्।**
सग्रन्थं निर्ग्रन्थं निर्ग्रन्थमपीह सग्रन्थम्।।५१/४७३।।

ग्रंथ-सहित निर्ग्रंथ निर्ग्रंथ यहाँ सग्रंथ है ऐसा।
उल्टा कथन तृतीयक विपरीत असत्य जान कहना।।५१/४७३।।

शब्दश: अर्थ : विपरीतं=उल्टा; इदं=यह; ज्ञेयं=जानना चाहिए; तृतीयकं=तीसरा; यत्=जो; वदन्ति=कहते हैं; विपरीतं=विरुद्ध; सग्रन्थं=ग्रंथ-सहित को; निर्ग्रन्थं=ग्रंथ/परिग्रह-रहित; निर्ग्रन्थं=ग्रंथ-रहित को; अपि=भी; इह=यहाँ; सग्रन्थं=ग्रंथ-सहित।

अन्वय : इह सग्रन्थं निर्ग्रन्थं, निर्ग्रन्थं अपि सग्रन्थं यत् विपरीतं वदन्ति (इति) इदं तृतीयकं विपरीतं ज्ञेयम्।

वचनिका : परिग्रह-सहित को निर्ग्रंथ और परिग्रह-रहित को सग्रंथ—ऐसा जो विपरीत/उल्टा बोलता है; वह तीसरा, विपरीत नामक असत्य जानना।।५१/४७३।।

अब, निंद्य नामक असत्य का स्वरूप प्रतिपादित है—

आर्या : **सावद्याप्रिय-गर्ह्य-प्रभेदतो निन्द्यमुच्यते त्रेधा।**
वचनं वितथं दक्षैर्जन्माब्धिनिपातने कुशलम्।।५२/४७४।।

सावद्य अप्रिय गर्हित प्रभेद से निंद्य है कहा त्रेधा।
भव अब्धि निपातन में प्रवीण असत्य वच कहें चौथा।।५२/४७४।।

शब्दश: अर्थ : सावद्य-अप्रिय-गर्ह्य-प्रभेदत:=सावद्य, अप्रिय और गर्हित के प्रभेद से; निन्द्यं=निंदा के योग्य; उच्यते=कहा जाता है; त्रेधा=तीन प्रकारवाला; वचनं=वाणी; वितथं= असत्य; दक्षै:=प्रवीणों द्वारा; जन्म+अब्धि-निपातने=संसाररूपी सागर में गिराने में; कुशलं =चतुर।

अन्वय : दक्षै: जन्म-अब्धि-निपातने कुशलं वितथं निन्द्यं वचनं सावद्य-अप्रिय-गर्ह्य-प्रभेदत: त्रेधा उच्यते।

वचनिका : पंडितों द्वारा सावद्य, अप्रिय और गर्ह्य—इन भेदों द्वारा निंद्य वचन तीन प्रकार वाला कहा गया है। कैसा है यह असत्य वचन? संसाररूपी सागर में गिराने में प्रवीण है।।५२/४७४।।

आगे निंद्य वचन के तीन भेदों में से इस पद्य द्वारा सर्व-प्रथम सावद्य वचन को कहते हैं—

आर्या : **आरम्भा: सावद्या विचित्रभेदा यत: प्रवर्तन्ते।**
सावद्यमिदं ज्ञेयं वचनं सावद्यवित्रस्तै:।।५३/४७५।।

क्योंकि विविध प्रकारी सपाप आरंभ वर्तता इससे।
सावद्य-भीत द्वारा ज्ञेय सतत सावद्य वच सब ये।।५३/४७५।।

शब्दश: अर्थ : आरम्भा:=अनुष्ठान; सावद्या:=पाप-सहित; विचित्र-भेदा:=अनेक प्रकार के भेदवाले; यत:=क्योंकि; प्रवर्तन्ते=प्रवर्तित होते हैं; सावद्यं=सावद्य; इदं=यह; ज्ञेयं=जानना चाहिए; वचनं=वचन; सावद्य-वित्रस्तै:=सावद्य से भय-भीत प्राणिओं द्वारा।

अन्वय : यत: विचित्र-भेदा: सावद्या: आरम्भा: प्रवर्तन्ते; (अत:) इदं वचनं सावद्यं (इति) सावद्य-वित्रस्तै: ज्ञेयम्।

वचनिका : क्योंकि अनेक प्रकार के भेद-युक्त पाप-सहित आरंभ प्रवर्तित होते हैं; अत: यह सावद्य वचन है—ऐसा सावद्य से भय-भीत प्राणिओं द्वारा जानना योग्य है।।५३/४७५।।

अब, इस एक पद्य द्वारा अप्रिय वचन का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

आर्या :

कर्कशनिष्ठुरभेदनविरोधनादिबहुभेदसंयुक्तम्।

अप्रियवचनं प्रोक्तं प्रियवाक्यप्रवणवाणीकैः।।५४/४७६।।

प्रिय वाक्य चतुर वाणी वालों ने भेद-विरोध-कर कर्कश।

निष्ठुर अनेक भेदों युत वचन कहे सदा अप्रिय।।५४/४७६।।

शब्दशः अर्थ : कर्कश-निष्ठुर-भेदन-विरोधन+आदि-बहु-भेद-संयुक्तं=कठोर, निर्दयता पूर्ण, भेद डालनेवाले, विरोध उत्पन्न करनेवाले इत्यादि अनेक भेदों से सहित; अप्रिय-वचनं =प्रिय-रहित वाणी; प्रोक्तं=कहा है; प्रिय-वाक्य-प्रवण-वाणीकैः=प्रिय वचन बोलने में चतुर वाणीवालों द्वारा।

अन्वय : प्रिय-वाक्य-प्रवण-वाणीकैः कर्कश-निष्ठुर-भेदन-विरोधन-आदि-बहु-भेद-संयुक्तं अप्रिय-वचनं प्रोक्तम्।

वचनिका : प्रिय वचन बोलने में चतुर वाणीवाले पुरुषों द्वारा कर्कश अर्थात् कठोर वचन, निष्ठुर वचन, अन्य में भेद/फूट डाल देनेवाले वचन, परस्पर विरोध उत्पन्न कर देनेवाले वचन इत्यादि अनेक भेदों से संयुक्त वचन, अप्रिय कहे हैं।।५४/४७६।।

अब, इस एक पद्य द्वारा गर्ह्य वचन वर्णित हैं—

आर्या : **हिन्सनताडनभीषणसर्वस्वहरणपुरस्सरविशेषम्।**

गर्ह्यवचो भाषन्ते गर्ह्योज्झित-वचन-मार्गज्ञाः।।५५/४७७।।

गर्ह्य-रहित वच-मार्ग ज्ञाता कहते हैं हिंसन ताडन।

भीषण सर्वस्व हरण इत्यादि भेदमय गर्ह्य वचन।।५५/४७७।।

शब्दशः अर्थ : हिन्सन-ताडन-भीषण-सर्वस्व-हरण-पुरस्सर-विशेषं=हिंसा-पोषक, ताड़ना रूप, भयानक, सर्व द्रव्य-हरण स्वरूप इत्यादि भेदमय; गर्ह्य-वचः=गर्ह्य वचन; भाषन्ते=कहते हैं; गर्ह्य+उज्झित-वचन-मार्ग-ज्ञाः=गर्ह्य से रहित वचन के मार्ग को जाननेवाले।

अन्वय : गर्ह्य-उज्झित-वचन-मार्ग-ज्ञाः हिन्सन-ताडन-भीषण-सर्वस्व-हरण-पुरस्सर-विशेषं गर्ह्य-वचः भाषन्ते।

वचनिका : हिंसारूप, ताड़नारूप, भयानक, सर्व द्रव्य-हरण-स्वरूप इत्यादि भेदवाले निंद्य वचन को, निंद्यपना से रहित वचन के मार्ग को जाननेवाले, गर्ह्य वचन कहते हैं।।५५/४७५।।

अब, इस पद्य द्वारा कहने-योग्य और नहीं कहने-योग्य वचन का प्ररूपण है—

आर्या : **अर्थ्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वचो वाच्यम्।**

विपरीतं मोक्तव्यं जिनवचनविचारकैर्नित्यम्।।५६/४७८।।

जिन वचन विचारक को अर्थ-सहित पथ्य तथ्य श्रव्य मधुर।

हितकर वचन ही कहना तज देना इनसे विपरीत।।५६/४७८।।

शब्दश: अर्थ : अर्थ्यं=प्रयोजन-परक; पथ्यं=सुख-कारक; तथ्यं=वास्तविक; श्रव्यं=सुनने-योग्य; मधुरं=मीठे/कर्ण-प्रिय; हितं=हितरूप; वच:=वचन; वाच्यं=कहने-योग्य है; विपरीतं= इससे उल्टा; मोक्तव्यं=छोड़ देना चाहिए; जिन-वचन-विचारकै:=जिनेंद्र भगवान के वचनों का विचार करनेवालों द्वारा; नित्यं=सदा।

अन्वय : जिन-वचन-विचारकै: नित्यं अर्थ्यं पथ्यं तथ्यं श्रव्यं मधुरं हितं वच: वाच्यं विपरीतं मोक्तव्यम्।

वचनिका : जिनेंद्र के वचनों का विचार करनेवाले पुरुषों द्वारा नित्य ही प्रयोजनरूप, सुखकारी, जैसा का तैसा, सुनने-योग्य, मधुर, हितरूप वचन, कहने-योग्य हैं; इनसे विपरीत/उल्टे वचन, त्याग करने-योग्य हैं।।५६/४७८।।

अब, इस पद्य द्वारा असत्य वचन के दुष्परिणाम प्ररूपित हैं—

आर्या : **बैरायासाप्रत्ययविषादकोपादयो महादोषा:।**

जन्यन्तेऽनृतवचसा कुभोजनेनैव रोगगणा:।।५७/४७९।।

रोग समूह कुभोजन से त्यों होते असत्य वच भाषण।

बैर संशय अप्रत्यय विषाद क्रोधादि बहु दोष।।५७/४७९।।

शब्दश: अर्थ : बैर+आयास+अप्रत्यय-विषाद-कोप+आदय:=बैर, संशय, अप्रतीति, विषाद, क्रोध आदि; महा-दोषा:=बड़े दोष; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; अनृतं-वचसा=असत्य वचन द्वारा; कुभोजनेन=खोटे भोजन द्वारा; एव=ही; रोग-गणा:=रोगों का समूह।

अन्वय : (यथा) रोग-गणा: कुभोजनेन एव जन्यन्ते, (तथा) अनृत-वचसा बैर-आयास-अप्रत्यय-विषाद-कोप-आदय: महा-दोषा: जन्यन्ते।

वचनिका : जैसे—खोटे भोजन से वास्तव में रोग उत्पन्न होते हैं; उसीप्रकार असत्य वचन से बैर भाव, भ्रम, अप्रतीति, विषाद, क्रोध इत्यादि महा-दोष उत्पन्न होते हैं।।५७/४७९।।

अब, इस एक पद्य द्वारा असत्य वचन की सर्व-विनाशकता निरूपित है—

आर्या : **वचसानृतेन जन्तोर्व्रतानि सर्वाणि झटिति नाश्यन्ते।**

विपुलफलवन्ति महता दवानलेनेव विपिनानि।।५८/४८०।।

असत्य वचनों से प्राणी के सब व्रत शीघ्र नष्ट हो जाते।

विपुल फलवान जंगल ज्यों बहु दावानल से नष्ट हो जाते।।५८/४८०।।

शब्दश: अर्थ : वचसा=वचन संबंधी; अनृतेन=असत्य से; जन्तो:=प्राणी का; व्रतानि=व्रत; सर्वाणि=सभी; झटिति=शीघ्र; नाश्यन्ते=नष्ट हो जाते हैं; विपुल-फलवन्ति=बहुत अधिक फलों से संपन्न; महता=महान; दव+अनलेन=दवरूप अग्नि द्वारा; इव=समान; विपिनानि=महा वन।

अन्वय : विपुल-फलवन्ति विपिनानि महता दव-अनलेन नाश्यन्ते इव, वचसा अनृतेन जन्तो: सर्वाणि व्रतानि झटिति नाश्यन्ते।

वचनिका : जैसे—महा दावानल से अत्यधिक फलों से सहित वन, नष्ट किए जाते हैं; उसी प्रकार असत्य वचन द्वारा जीव के सभी व्रत शीघ्र नष्ट किए जाते हैं।।५८/४८०।।

इसप्रकार असत्य-त्याग/सत्य-अणुव्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे पाँच पद्यों द्वारा अचौर्य-अणुव्रत का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस एक पद्य द्वारा अचौर्य-अणुव्रत का स्वरूप बताते हैं—

आर्या : **क्षेत्रे ग्रामेऽरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे।**
ग्राह्यं न परद्रव्यं नष्टं भ्रष्टं स्थितं वाऽपि।।५९/४८१।।

खेत गाँव वन गल्ली मार्ग घर कूड़ा-घर घोष आदि में।
पड़ा रखा भूला भी पर-धन लेना नहीं चाहिए।।५९/४८९।।

शब्दश: अर्थ : क्षेत्रे=खेत में; ग्रामे=गाँव में; अरण्ये=जंगल में; रथ्यायां=गली में; पथि=मार्ग में; गृहे=घर में; खले=कूड़ा-घर में; घोषे=गाय आदि पशुओं के निवास में; ग्राह्यं=ग्रहण करने-योग्य; न=नहीं; पर-द्रव्यं=अन्य का धन; नष्टं=गिरा हुआ; भ्रष्टं=भूला हुआ; स्थितं=रखा हुआ; वा=अथवा; अपि=भी।

अन्वय : क्षेत्रे ग्रामे अरण्ये रथ्यायां पथि गृहे खले घोषे नष्टं भ्रष्टं वा स्थितं अपि पर-द्रव्यं ग्राह्यं न।

वचनिका : खेत में, ग्राम में, वन में, गली में, मार्ग में, घर में, घूरे में, गायों के निवास में; दूसरे का पड़ा हुआ, भूला हुआ या रखा हुआ भी द्रव्य, ग्रहण करना, योग्य नहीं है।।५९/४८१।।

अब, इसे ही इस एक पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **तृणमात्रमपि द्रव्यं परकीयं धर्मकाङ्क्षिणा पुन्सा।**
अवितीर्णं नाऽऽदेयं वह्निसमं मन्यमानेन।।६०/४८२।।

धर्मेच्छु जीव द्वारा अनल-सम मान विन दिया पर धन।
नहिं लेना तृण-मात्र भी भाव न करना अचौर्य है अणुव्रत।।६०/४८२।।

शब्दश: अर्थ : तृण-मात्रं=तिनके-जितना; अपि=भी; द्रव्यं=धन; परकीयं=दूसरों का; धर्म-काङ्क्षिणा=धर्म के इच्छुक; पुन्सा=प्राणी द्वारा; अवितीर्णं=विना दिया हुआ; न=नहीं; आदेयं=ग्रहण करने के योग्य; वह्नि-समं=अग्नि के समान; मन्यमानेन=माननेवाले द्वारा।

अन्वय : अवितीर्णं परकीयं द्रव्यं वह्नि-समं मन्यमानेन धर्म-काङ्क्षिणा पुन्सा तृण-मात्रं अपि न आदेयम्।

वचनिका : धर्म के वांक्षक पुरुष द्वारा विना दिया पराया द्रव्य अग्नि-समान मान, उसे तृण-मात्र भी ग्रहण करना, योग्य नहीं है।।६०/४८२।।

अब, इस एक पद्य द्वारा चोरी को पाप कहने का कारण बताते हैं—

आर्या : **यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति।**
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम्।।६१/४८३।।

जो जिसका धन हरता वह उस प्राणी के प्राण ही हरता।
जीवों के स्थिरता-कारक धन बाह्य प्राण दिखता।।६१/४८३।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; यस्य=जिसका; हरति=हरता है; वित्तं=धन; स:=वह; तस्य=उसका; जीवस्य=जीव का; जीवितं=प्राण; हरति=हरता है; आश्वास-करं=स्थिरता करनेवाला; बाह्यं=भिन्न दिखनेवाला बाहर का; जीवानां=जीवों का; जीवितं=प्राण; वित्तं=धन।

अन्वय : (यत:) जीवानां आश्वास-करं वित्तं बाह्यं जीवितं (तत:) य: यस्य वित्तं हरति स: तस्य जीवस्य जीवितं हरति।

वचनिका : जो जिसका धन हरता है, वह उसका प्राण हरता है; क्योंकि जीवों की स्थिरता बड़ानेवाला धन, बाह्य प्राण है।।६१/४८३।।

अब, इस एक पद्य द्वारा धन के संबंध में ज्ञानिओं का विचार प्रस्तुत है—

आर्या : **सदृशं पश्यन्ति बुधा: परकीयं काञ्चनं तृणं वाऽपि।**
सन्तुष्टा निजवित्तै: परतापविभीरवो नित्यम्।।६२/४८४।।

अपने धन में तुष्ट पर-संताप-करण में भय-भीत।
ज्ञानी पर के कंचन को भी माने सदा तृण-वत्।।६२/४८४।।

शब्दश: अर्थ : सदृशं=समान; पश्यन्ति=देखते हैं; बुधा:=ज्ञानी; परकीयं=दूसरे को; काञ्चनं=शुद्ध स्वर्ण को; तृणं=घास; वा=अथवा; अपि=भी; सन्तुष्टा:=तृप्त; निज-वित्तै:=अपने धन से; पर-ताप-विभीरव:=दूसरों को संताप देने में भय-भीत; नित्यं=सदा।

अन्वय : निज-वित्तै: सन्तुष्टा: पर-ताप-विभीरव: बुधा: नित्यं परकीयं काञ्चनं वा तृणं अपि

सदृशं पश्यन्ति।

वचनिका : अपने धन से संतुष्ट और पर को संताप देने में भय-भीत पंडित, अन्य के स्वर्ण को अथवा तृण को समान देखते हैं।।६२/४८४।।

अब, इस एक पद्य द्वारा चोर की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

आर्या : **तैलिकलुब्धकखट्टिकमार्जारव्याघ्रधीवरादिभ्य:।**
स्तेन: कथित: पापी सन्तत-परताप-दान-रत:।।६३/४८५।।

तैलिक लुब्धक खट्टिक बिलाव बाघ धीवरादि से अधिक।
पापी चोर कहा नित पर को दुख देने में तत्पर।।६३/४८५।।

शब्दश: अर्थ : तैलिक-लुब्धक-खट्टिक-मार्जार-व्याघ्र-धीवर+आदिभ्य:=तेली, बहेलिया/शिकारी, खटीक, बिलाव, बाघ, ढीमर आदि से; स्तेन:=चोर; कथित:=कहा है; पापी=पापवाला; सन्तत-पर-ताप-दान-रत:=सदा अन्य को संताप देने में लीन।

अन्वय : सन्तत-पर-ताप-दान-रत: स्तेन: तैलिक-लुब्धक-खट्टिक-मार्जार-व्याघ्र-धीवर-आदिभ्य: पापी कथित:।

वचनिका : निरंतर दूसरे जीवों को दु:ख देने में तत्पर चोर; तेली, बहेलिया, खटीक, बिलाव, बाघ, धीवर/ढीमर आदि से भी अधिक पापी कहा है।।६३/४८५।।

इसप्रकार अचौर्य-अणुव्रत का वर्णन हुआ।

आगे नौ पद्यों द्वारा पर-दारा-त्याग/ब्रम्हचर्य-अणुव्रत को कहते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा स्त्रियों के संबंध में ज्ञानी पुरुष की दृष्टि बताते हैं—

आर्या : **स्वसृमातृदुहितृसदृशी: दृष्ट्वा परकामिनी पटीयान्स:।**
दूरं विवर्जयन्ते भुजगीमिव घोर-दृष्टि-विषाम्।।६४/४८६।।

माता भगिनी कन्या सम देखें विज्ञ सतत पर-स्त्री।
घोर कुदृष्टि विष को दूर तजें सर्पणि-सम ही।।६४/४८६।।

शब्दश: अर्थ : स्वसृ-मातृ-दुहितृ-सदृशी:=बहिन, माता, पुत्री के समान; दृष्ट्वा=देखकर; पर-कामिनी:=अन्य की स्त्री; पटीयान्स:=प्रवीण; दूरं=दूर; विवर्जयन्ते=छोड़ देते हैं; भुजगीं=सर्पणी को; इव=समान; घोर-दृष्टि-विषां=भयानक दृष्टिरूपी जहर को।

अन्वय : पर-कामिनी: स्वसृ-मातृ-दुहितृ-सदृशी: दृष्ट्वा पटीयान्स: घोर-दृष्टि-विषां भुजगीं इव दूरं विवर्जयन्ते।

वचनिका : पंडितजन, अन्य की स्त्रियों में से समान उम्रवाली को बहिन-समान, बड़ी को माता-समान, छोटी को पुत्री-समान देखकर भयानक दृष्टि-विषवाली सर्पणी के समान दूर

छोड़ देते हैं।।६४/४८६।।

अब, इस एक पद्य द्वारा सोदाहरण पर-स्त्री सेवन-त्याग को पुष्ट करते हैं—

आर्या : **न निषेव्या परनारी मदनानलतापितैरपि त्रेधा।**

क्षुत्क्षामैरपि पुरुषैर्न भक्षणीयं परोत्सृष्टम्।।६५/४८७।।

भूख से दुर्बल नर को पर-जूठन भक्षणीय नहिं रंच।

कामानल से तापित को भी पर-स्त्री नहिं सेव्य।।६५/४८७।।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; निषेव्या=सेवन करने-योग्य; पर-नारी=अन्य की स्त्री; मदन+अनल-तापितै:=कामरूपी अग्नि से संतप्त द्वारा; अपि=भी; त्रेधा=तीन प्रकार से; क्षुत्क्षामै:=भूख से दुर्बल द्वारा; अपि=भी; पुरुषै:=मनुष्य द्वारा; न=नहीं; भक्षणीयं=भक्षण करने-योग्य; पर+उत्सृष्टं=दूसरों की जूँठन को।

अन्वय : (यथा) क्षुत्क्षामै: अपि पुरुषै: पर-उत्सृष्टं भक्षणीयं न (तथा) मदन-अनल-तापितै: अपि पर-नारी त्रेधा निषेव्या न।

वचनिका : जैसे—क्षुधा से दुर्बल चतुर पुरुष द्वारा भी अन्य की जूँठन खाना, योग्य नहीं है; उसीप्रकार कामरूपी अग्नि से तप्तायमान जीवों द्वारा भी मन, वचन, काय से पर-स्त्री का सेवन करना, योग्य नहीं है।।६५/४८७।।

अब, इस पद्य द्वारा बुद्धिमान की विचार-धारा निरूपित है—

आर्या : **विषवल्लीमिव हित्वा पररामां सर्वथा त्रिधा दूरम्।**

सन्तोष: कर्तव्य: स्वकलत्रेणैव बुद्धिमता।।६६/४८८।।

विष बेली वत् पर-स्त्री तज करके दूर सर्वथा त्रेधा।

स्व-स्त्री से ही नित संतोष करणीय बुद्धिमान द्वारा।।६६/४८८।।

शब्दश: अर्थ : विष-वल्लीं=विष की बेल को; इव=समान; हित्वा=छोड़कर; पर-रामां=दूसरों की पत्नी को; सर्वथा=पूर्णतया; त्रिधा=तीन प्रकार से; दूरं=दूर; सन्तोष:=संतुष्टि; कर्तव्य:=करना चाहिए; स्व-कलत्रेण=अपनी पत्नी से; एव=ही; बुद्धिमता=बुद्धिमान द्वारा।

अन्वय : विष-वल्लीं इव पर-रामां सर्वथा त्रिधा दूरं हित्वा बुद्धिमता स्वकलत्रेण एव सन्तोष: कर्तव्य:।

वचनिका : पर-स्त्री को विष-बेल के समान सर्वथा मन, वचन, काय से दूर त्यागकर बुद्धिमान पुरुष द्वारा अपनी स्त्री से ही संतोष करना, योग्य है।।६६/४८८।।

अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि अति-आसक्ति सर्वथा त्याज्य है—

आर्या : **नासक्त्या सेवन्ते भार्यां स्वमपि मनोभवाकुलिता:।**

वह्निशिखाप्यासक्त्या शीतार्तैः सेविता दहति।।६७/४८९।।

काम से आकुलित हो आसक्ति से स्वस्त्रि नहिं सेवे।

शीत दुखी भी जलता यदि आसक्ति से अग्नि को सेवे।।६७/४८९।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; आसक्त्या=आसक्ति से; सेवन्ते=सेवन करते हैं; भार्यां=पत्नी को; स्वं=अपनी; अपि=भी; मनोभव+आकुलिता:=काम से व्याकुल हो; वह्नि-शिखा=अग्नि की ज्वाला; अपि=भी; आसक्त्या=आसक्ति से; शीत+आर्तैः=ठंड से दुःखी द्वारा; सेविता= सेवन की गई; दहति=जलाती है।

अन्वय : मनोभव-आकुलिता: स्वं अपि भार्यां आसक्त्या न सेवन्ते, शीत-आर्तैः आसक्त्या सेविता वह्नि-शिखा अपि दहति।

वचनिका : काम से व्याकुल होता हुआ आसक्तिमय गृद्धता पूर्वक अपनी पत्नी का भी सेवन नहीं करता है। शीत से पीड़ित पुरुष द्वारा भी आसक्ति से सेवन की गई अग्नि की शिखा, क्या जलाती नहीं है? जलाती ही है।।६७/४८९।।

अब, इस एक पद्य द्वारा भव्य जीव की प्रवृत्ति वर्णित है—

आर्या : **दृष्टा स्पृष्टा श्लिष्टा दृष्टिविषा याहिमूर्तिरिव हन्ति।**

तां पर-रामां भव्यो मनसापि न सेवते जातु।।६८/४९०।।

अहि-मूर्ती-वत् देखी स्पर्शी आलिंगि दृष्टि विष मारे।

उस पर-स्त्री को मन से भी भवि रंच न सेवे।।६८/४९०।।

शब्दशः अर्थ : दृष्टा=देखी; स्पृष्टा=स्पर्शी; श्लिष्टा=आलिंगी; दृष्टि-विषा=दृष्टि-विषमय; या =जो; अहि-मूर्तिः=सर्प की मूर्ति; इव=समान; हन्ति=मारती है; तां=उस; पर-रामां=पर-स्त्री को; भव्यः=भव्य जीव; मनसा=मन द्वारा; अपि=भी; न=नहीं; सेवते=सेवन करता है; जातु=रंच भी।

अन्वय : या अहिमूर्तिः इव दृष्टा स्पृष्टा श्लिष्टा दृष्टि-विषा हन्ति, भव्यः मनसा अपि तां पर-रामां जातु न सेवते।

वचनिका : जो पर-स्त्री, देखी, स्पर्शी या आलिंगी हुई दृष्टि-विष सर्प की मूर्ति के समान मारती है; उस पर-स्त्री को भव्य-जीव, मन द्वारा भी कभी सेवन नहीं करता है।।६८/४९०।।

अब, इस एक पद्य द्वारा पर-स्त्री-सेवन का फल प्ररूपित है—

आर्या : **दीप्ताकारा तप्ता या स्पृष्टा दहति पावकशिखेव।**

मारयति योपभुक्ता प्ररूढ-विष-विटपि-शाखेव।।६९/४९१।।

दीप्तिमान सुतप्त स्पर्शी अग्नि ज्वाल सम जलाती।
भोगी फैले विष तरु की शाखा सम सतत मारे ही।।६९/४९१।।

शब्दश: अर्थ : दीप्त+आकारा=दीप्तिमान; तप्ता=तप्तायमान; स्पृष्टा=स्पर्शी गई; दहति=जलाती है; पावक-शिखा=अग्नि की ज्वाला; इव=समान; मारयति=मारती है; या=जो; उपभुक्ता= भोग की गई; प्ररूढ-विष-विटपि-शाखा=फैल रही विष-वृक्ष की शाखा; इव=समान।

अन्वय : या दीप्त-आकारा तप्ता स्पृष्टा (सा) पावक-शिखा इव दहति, या उपभुक्ता (सा) प्ररूढ-विष-विटपि-शाखा इव मारयति।

वचनिका : जो देदीप्यमान, तप्तायमान, स्पर्शी हुई है; वह पर-स्त्री अग्नि की शिखा के समान जलाती है और जो भोगी गई है; वह पर-स्त्री फैली हुई विष-वृक्ष की शाखाओं के समान मारती है।।६९/४९१।।

अब, पर-स्त्री-सेवन के दोष को इस एक पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **मोहयति झटिति चित्तं निषेव्यमाना सुरेव या नितराम्।**
या गलमालिङ्गन्ती निपीडयति गण्डमालेव।।७०/४९२।।

सेवन की गई जो नित मदिरा-वत् शीघ्र मोहती मन को।
गंडमाल-वत् पीड़ा दे जो आलिंगन करे गले को।।७०/४९२।।

शब्दश: अर्थ : मोहयति=मोहित करती है; झटिति=शीघ्र; चित्तं=मन को; निषेव्यमाना= सेवन की गई; सुरा=मदिरा; इव=समान; या=जो; नितरां=हमेशा; या=जो; गलं=गले को; आलिङ्गन्ती=आलिंगन करती हुई; निपीडयति=पीड़ित करती है; गण्ड-माला=गंड-माल नामक रोग; इव=समान।

अन्वय : या निषेव्यमाना नितरां सुरा इव झटिति चित्तं मोहयति; या गलं आलिङ्गन्ती गण्ड-माल इव निपीडयति।

वचनिका : जो पर-स्त्री सेवन की गई मदिरा के समान अतिशयता पूर्वक शीघ्र चित्त को मोहित करती है। जो गले को आलिंगन करती लिपटी, गंडमाला नामक रोग के समान पीड़ा उत्पन्न करती है।।७०/४९२।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: पर-स्त्री-सेवन के त्याग की प्रेरणा देते हैं—

आर्या : **व्याघ्रीव याऽऽमिषाशा विलोक्य रभसा जनं विनाशयति।**
पुरुषार्थपरै: सद्भि: परयोषा सा त्रिधा त्याज्या।।७१/४९३।।

आमिष-भक्षी व्याघ्री-वत् नर को देख शीघ्र जो नाशे।

पुरुषार्थ-शील सज्जन वह पर-स्त्री त्रिधा तजते।।७१/४९३।।

शब्दशः अर्थ : व्याघ्री=बाघिन; इव=समान; या=जो; आमिष+आशा=मांस की आशा वाली/मांस-भक्षक; विलोक्य=देखकर; रभसा=शीघ्र; जनं=पुरुष को; विनाशयति=नष्ट करती है; पुरुषार्थ-परैः=पुरुषार्थ-शील; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; पर-योषा=पर-स्त्री; सा=वह; त्रिधा=तीन प्रकार से; त्याज्या=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : या आमिष-आशा व्याघ्री इव जनं विलोक्य रभसा विनाशयति, सा पर-योषा पुरुषार्थ-परैः सद्भिः त्रिधा त्याज्या।

वचनिका : जो पर-स्त्री, मांस-भक्षी व्याघ्री के समान, पुरुष को देखकर जबरदस्ती विनाश करती है; वह पर-स्त्री, पुरुषार्थ में तत्पर संत पुरुषों द्वारा मन, वचन, काय से त्याग करना, योग्य है।।७१/४९३।।

अब, इस एक पद्य द्वारा पर-स्त्री द्वारा दिए गए दुःख निरूपित हैं—

आर्या : **मलिनयति कुलद्वितयं दीपशिखेवोज्ज्वलापि मलजननी।**
पापोपयुज्यमाना परवनिता तापने निपुणा।।७२/४९४।।

दीप-शिखा-सम उज्ज्वल भी पर करती मलिन दोनों कुल।
मल-जननी पाप-युक्ता पर-वनिता ताप में निपुण।।७२/४९४।।

शब्दशः अर्थ : मलिनयति=मलिन करती है; कुलद्वितयं=दोनों कुलों को; दीप-शिखा+इव= दीपक की शिखा/लौं के समान; उज्ज्वला=निर्मल; अपि=भी; मल-जननी=मल को उत्पन्न करनेवाली; पाप+उपयुज्यमाना=पाप में लगी हुई; पर-वनिता=पर-स्त्री; तापने=संताप देने में; निपुणा=चतुर।

अन्वय : मल-जननी पाप-उपयुज्यमाना तापने निपुणा पर-वनिता दीप-शिखा इव उज्ज्वला अपि कुल-द्वितयं मलिनयति।

वचनिका : जो पर-स्त्री, दीपक की लौं के समान उज्ज्वल होने पर भी दोनों कुलों को मलिन करती है, मल को उत्पन्न करती है; वह काजल को उत्पन्न करती है, यह राग-द्वेष को उत्पन्न करती है और पाप में लगी हुई संयोग को प्राप्त करती हुई संताप करने में प्रवीण है।।७२/४९४।।

इसप्रकार पर-स्त्री-त्याग/ब्रह्मचर्य-अणुव्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, परिग्रह-परिमाण नामक व्रत को तीन पद्यों द्वारा कहते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस एक पद्य द्वारा परिमाण करने-योग्य पदार्थ बताते हैं—

आर्या : **वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासीदासं चतुष्पदं भाण्डम्।**

परिमेयं कर्तव्यं सर्वं सन्तोष-कुशलेन।।७३/

४ ९ ५ । ।

संतोष-कुशल द्वारा वास्तु खेत धान्य धन पशु बर्तन।

दासी-दास सु आसन वाहन वस्त्रादि का प्रमाण कर्तव्य।।७३/४९५।।

शब्दश: अर्थ : वास्तु=मकान; क्षेत्रं=खेत; धनं=स्वर्णादि धन; धान्यं=गेहूँ आदि धान्य; दासी-दासं=सेविका-सेवक; चतु:-पदं=चार पैरवाले गाय आदि पशु; भाण्डं=बर्तन, वस्त्र आदि; परिमेयं=प्रमाण/सीमा; कर्तव्यं=करना चाहिए; सर्वं=सब; सन्तोष-कुशलेन=संतोष -धारण करने में चतुर द्वारा।

अन्वय : सन्तोष-कुशलेन वास्तु क्षेत्रं धनं धान्यं दासी-दासं चतुष्पदं भाण्डं सर्वं परिमेयं कर्तव्यम्।

वचनिका : संतोष में प्रवीण पुरुष द्वारा वास्तु अर्थात् हाट-हवेली, क्षेत्र अर्थात् खेती का क्षेत्र, धन अर्थात् स्वर्ण-चाँदी आदि, धान्य अर्थात् चावल-गेहूँ आदि, दासी-दास आदि द्विपद, चतुष्पद अर्थात् घोड़ा-गाय आदि, भांड अर्थात् बर्तन-वस्त्र आदि—इन सभी का परिमाण करना, योग्य है।

भावार्थ : जीव को तीन लोक के पदार्थों की तृष्णा है। वह सब छूटती न जानकर तृष्णा घटाने के लिए पदार्थों का परिमाण कराया है।।७३/४९५।।

अब, इस पद्य द्वारा लोभ का स्वरूप और उसे शांत करने का उपाय प्ररूपित है—

आर्या : **विध्यापयति महात्मा लोभं दावाग्निसन्निभं ज्वलितम्।**

भुवनं तापयमानं सन्तोषोद्गाढ-सलिलेन।।७४/४९६।।

दावाग्नि-वत् जलती लोभ-संताप-कारकी इच्छा।

संतोष महा जल से लोभानल बुझाते महात्मा।।७४/४९६।।

शब्दश: अर्थ : विध्यापयति=बुझाता है; महात्मा=महा-पुरुष; लोभं=लोभ को; दाव+अग्नि-सन्निभं=दावानल के समान; ज्वलितं=जलते; भुवनं=लोक को; तापयमानं=संतप्त करने वाले; सन्तोष+उत्-गाढ-सलिलेन=संतोषरूपी महा प्रवाहमई जल से।

अन्वय : दाव-अग्नि-सन्निभं ज्वलितं भुवनं तापयमानं लोभं महात्मा सन्तोष-उत्-गाढ-सलिलेन विध्यापयति।

वचनिका : महापुरुष, दावानल के समान जलते हुए लोभ को संतोषरूपी महा-जल से बुझाते हैं। कैसा है वह लोभ? जैसे—अग्नि, लोक को संताप उत्पन्न करती है; उसीप्रकार यह लोक

को संतप्त करता है—ऐसा है।।७४/४९६।।

अब, इस एक पद्य द्वारा परिग्रह को कम करने का लाभ दिखाते हैं—

आर्या : **सर्वारम्भा लोके सम्पद्यन्ते परिग्रह-निमित्ता:।**
स्वल्पयते य: सङ्गं स्वल्पयति स: सर्वमारम्भम्।।७५/४९७।।

जग में हिंसादि सब आरंभ सतत परिग्रह-निमित्तक।
जो कम करता परिग्रह करता वह हीन सब आरंभ।।७५/४९७।।

शब्दश: अर्थ : सर्व+आरम्भा:=हिंसादि सभी प्रकार के आरंभ; लोके=विश्व में; सम्पद्यते=संपन्न होते हैं; परिग्रह-निमित्ता:=परिग्रह के कारण; स्वल्पयते=अल्प/सीमित करता है; य:=जो; सङ्गं=परिग्रह को; स्वल्पयति=सीमित करता है; स:=वह; सर्वं=सभी; आरम्भं=आरंभ को।

अन्वय : लोके सर्व-आरम्भा: परिग्रह-निमित्ता: सम्पद्यन्ते, य: सङ्गं स्वल्पयते स: सर्वं आरम्भं स्वल्पयति।

वचनिका : लोक में सभी हिंसादि, आरंभ-परिग्रह के निमित्त से अथवा परिग्रह द्वारा होते हैं; इस कारण से जो परिग्रह को घटाता है, वह सभी आरंभ को घटाता है।।७५/४९७।।

इसप्रकार परिग्रह-परिमाण व्रत का वर्णन समाप्त हुआ।
यहाँ तक पाँच अणुव्रतों का वर्णन हुआ।
आगे तीन गुणव्रतों का वर्णन प्रारंभ होता है।
वहाँ सर्व-प्रथम दो पद्यों द्वारा दिग्विरति नामक प्रथम गुणव्रत को कहते हैं।

उसमें सर्व-प्रथम इस एक पद्य द्वारा दिग्विरति का स्वरूप प्ररूपित है—

आर्या : **ककुबष्टकेऽपि कृत्वा मर्यादां यो न लङ्घयति धन्य:।**
दिग्विरतिस्तस्य जिनैर्गुणव्रतं कथ्यते प्रथमम्।।७६/४९८।।

आठ दिशा की सीमा कर के जो लाँघता नहीं धन्य।
जिन कहते हैं उसका पहला गुणव्रत है यह दिग्व्रत।।७६/४९८।।

शब्दश: अर्थ : ककुप्+अष्टके=आठों दिशाओं में; अपि=भी; कृत्वा=करके; मर्यादां=सीमा को; य:=जो; न=नहीं; लङ्घयति=उल्लंघन करता है; धन्य:=धन्य; दिग्विरति:=दिग्व्रत; तस्य=उसका; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; गुणव्रतं=गुणव्रत; कथ्यते=कहा गया है; प्रथमं=पहला।

अन्वय : य: धन्य: ककुप्-अष्टके अपि मर्यादां कृत्वा न लङ्घयति, तस्य प्रथमं गुणव्रतं दिग्विरति: जिनै: कथ्यते।

वचनिका : जो धन्य पुरुष आठों दिशाओं में मर्यादा करके उनका उल्लंघन नहीं करता है; जिनदेव द्वारा उसके दिग्विरति नामक पहला गुणव्रत कहा गया है।

भावार्थ : पूर्व आदि आठों दिशाओं में और उपलक्षण से नीचे-ऊपर—इसप्रकार दशों

दिशाओं के प्रसिद्ध नदी, पर्वतादि से मर्यादा बनाकर इससे आगे मैं गमनादि नहीं करूँगा — ऐसा संकल्प, प्रथम दिग्विरति नामक गुणव्रत जानना।।७६/४९८।।

अब, इस पद्य द्वारा दिग्विरति का लाभ बताते हैं—

आर्या : **सर्वारम्भनिवृत्तेस्ततः परं तस्य जायते पूतम्।**
पापापायपटीयः सुखकारि महाव्रतं पूर्णम्।।७७/४९९।।

मर्यादा से आगे सब आरंभ निवृत्ति से प्रकटे।
पाप-विनाशन-कुशल पावन सुखकर पूर्ण महाव्रत ये।।७७/४९९।।

शब्दशः अर्थ : सर्व+आरम्भ-निवृत्तेः=सभी प्रकार के आरंभ की निवृत्ति हो जाने से; ततः =उससे; परं=आगे; तस्य=उसका; जायते=प्रकट होता है; पूतं=पवित्र; पाप+अपाय-पटीयः=पापों को नष्ट करने में चतुर; सुख-कारि=सुख को करनेवाला; महाव्रतं=सकल व्रत; पूर्णं=पूरा।

अन्वय : ततः परं सर्व-आरम्भ-निवृत्तेः तस्य पूतं पाप-अपाय-पटीयः सुख-कारि पूर्णं महाव्रतं जायते।

वचनिका : उस दिग्विरति-धारी पुरुष के उस मर्यादा से आगे सभी आरंभ की निवृत्तिरूप त्याग है; अतः सुख-कारक, पाप का नाश करने में प्रवीण, पवित्र पूर्ण महाव्रत होता है।।७७/४९९।।

इसप्रकार दिग्विरति का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, दो पद्यों द्वारा देशविरति का वर्णन प्रारंभ होता है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा देश-विरति का स्वरूप बताते है—

आर्या : **देशावधिमपि कृत्वा यो नाक्रामति सदा पुनस्त्रेधा।**
देशविरतिर्द्वितीयं गुणव्रतं तस्य जायेत*।।७८/५००।।

जो देश की भि अवधि कर त्रेधा नहीं लाँघता उसके।
होता दूसरा गुणव्रत अल्पावधि देशविरति है।।७८/५००।।

शब्दशः अर्थ : देश+अवधिं=अल्प/थोड़ी सीमा को; अपि=भी; कृत्वा=करके; यः=जो; न=नहीं; आक्रामति=उल्लंघन करता है; सदा=हमेशा; पुनः=फिर; त्रेधा=तीन प्रकार से; देश-विरतिः=देश-व्रत; द्वितीयं=दूसरा; गुणव्रतं=गुणव्रत; तस्य=उसका; जायेत=प्रकट होता है; (वर्ण्यते=कहा जाता है)।

*** वर्ण्यते तस्य — इति पाठान्तर।**

अन्वय : य: देश-अवधिं अपि कृत्वा पुन: सदा त्रेधा न आक्रामति, तस्य द्वितीयं गुणव्रतं देशविरति: जायेत (वर्ण्यते)।

वचनिका : दिग्व्रत के अंदर देश की मर्यादा को भी करके जो पुन: मन, वचन, काय से उनका उल्लंघन नहीं करता है; उसके देश-विरति नामक दूसरा गुणव्रत होता है।

भावार्थ : दिग्व्रत में की गई दिशाओं की मर्यादा में भी ग्राम, दुकान, घर, बगीचा, गली, इत्यादि निकालकर नियमरूप मर्यादा करना, देशव्रत है—ऐसा जानना।।७८/५००।।

अब, इस पद्य द्वारा देश-विरति का लाभ वर्णित है—

आर्या : **काष्ठेनैव हुताशं लाभेन विवर्धमानमतिमात्रम्।**
प्रतिदिवसं यो लोभं निषेधयति तस्य क: सदृश:।।७९/५०१।।

ज्यों बहु बड़ती अग्नि ईंधन मिलने से त्यों बड़े लोभ।
प्रतिदिन निषेध करता जो उस-सम अन्य है कौन?।।७९/५०१।।

शब्दश: अर्थ : काष्ठेन=लकड़ी द्वारा; एव=ही; हुताशं=अग्नि; लाभेन=प्राप्त होने से; विवर्धमानं=वृद्धि को प्राप्त होती हुई; अति-मात्रं=अधिक मात्रा-युक्त; प्रति-दिवसं=प्रतिदिन; य:=जो; लोभं=लोभ को; निषेधयति=निषेध करता है; तस्य=उसका; क:=कौन; सदृश: =समान।

अन्वय : काष्ठेन लाभेन एव अतिमात्रं विवर्धमानं हुताशं (इव) लोभं य: प्रति दिवसं निषेधयति तस्य सदृश: क:?

वचनिका : जैसे—काष्ठ से अग्नि, मात्र बड़ती है; उसीप्रकार पदार्थों के लाभ से तृष्णा बड़ती है। जो प्रतिदिन उस लोभ का त्याग करता है, उसके समान और कौन है?।।७९/५०१।।

इसप्रकार देशविरति का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, छह पद्यों द्वारा अनर्थ-दंड-विरति नामक गुणव्रत को स्पष्ट करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अनर्थ-दंड-विरति-व्रत का स्वरूप प्ररूपित है—

आर्या : **योऽनर्थं पञ्चविधं परिहरति विवृद्धशुद्धधर्ममति:।**
सोऽनर्थदण्डविरतिं गुणव्रतं नयति परिपूर्तिम्।।८०/५०२।।

शुद्ध-धर्म में वृद्धिंगत बुद्धि-युत जो अनर्थ पाँचों।
तजता पूरित गुणव्रत अनर्थ-दंड विरति उसके हो।।८०/५०२।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; अन्+अर्थं=प्रयोजन-रहित; पञ्च-विधं=पाँच भेदवाले; परिहरति= छोड़ता है; विवृद्ध-शुद्ध-धर्म-मति:=शुद्ध-धर्म में बुद्धि को बड़ानेवाला; स:=वह; अनर्थ-

दण्ड-विरतिं=अनर्थ-दंड-विरति नामक; गुणव्रतं=गुणव्रत; नयति=ले जाता है; परिपूर्तिं=परिपूर्णता को।

अन्वय : विवृद्ध-शुद्ध-धर्म-मतिः यः पञ्च-विधं अनर्थं परिहरति, सः अनर्थ-दण्ड-विरतिं गुणव्रतं परिपूर्तिं नयति।

वचनिका : विशेषरूप से बड़ती हुई शुद्ध धर्म में बुद्धिवाला जो पुरुष, पाँच प्रकार के अनर्थ का त्याग करता है; वह अनर्थ-दंड-विरति नामक गुणव्रत की पूर्णता को प्राप्त करता है।।८०/५०२।।

अब, इस एक पद्य द्वारा पाँच अनर्थ पापों के नाम निरूपित हैं—

आर्या : **पञ्चानर्था दुष्टाध्यानं पापोपदेशनासक्तिः।**
हिन्सोप-कारि-दानं प्रमाद-चरणं श्रुतिर्दुष्टा।।८१/५०३।।

पापोपदेश हिंसोपकरण दे दुष्ट ध्यान श्रुति दुष्ट।
प्रमाद-चर्या-युक्त पाँच अनर्थ दंड बहु पाप।।८१/५०३।।

शब्दशः अर्थ : पञ्च=पाँच; अन+अर्थाः=प्रयोजन-रहित; दुष्ट-आ-ध्यानं=खोटा ध्यान; पाप+उपदेशन+आसक्तिः=पाप का उपदेश देने में गृद्धता; हिन्सा+उपकारि-दानं=हिंसा के उपकरण देना; प्रमाद-चरणं=प्रमाद-युक्त चर्या; श्रुतिः-दुष्टा=दुष्ट-श्रुति।

अन्वय : पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : शिकार, किसी की जीत, किसी की हार, संग्राम, पर-स्त्री-गमन, चोरी इत्यादि का चिंतन करना, दुष्ट-ध्यान है। चित्राम आदि विद्या, व्यापार, लिखना, खेती करना, सेवा करना इत्यादि हिंसादि आरंभ के उपदेश में आसक्तता, पापोपदेशन-आसक्ति है।

छुरी, विष, अग्नि, तलवार, धनुष इत्यादि हिंसा के उपकरण देना, हिंसोपकरण-दान है। पृथ्वी खोदना, वृक्ष मोड़ना, घास काटना, जल सींचना इत्यादि प्रमाद-चर्या है। रागादि बड़ाने वाली खोटी कथा सुनना इत्यादि दुष्ट-श्रुति है।

इन पाँच अनर्थ पापों का त्याग करना, अनर्थ-दंड-विरति जानना।।८१/५०३।।

अब, इस एक पद्य द्वारा इन्हीं का विशेष कहते हैं—

आर्या : **मण्डलविडालकुक्कुटमयूरशुकसारिकादयो जीवाः।**
हित-कामैर्न ग्राह्याः सर्वे पापोपकार-पराः।।८२/५०४।।

हित इच्छुक को कुत्ता बिलाव मुर्गा मयूर शुक सारी।
आदि पापोपकार में लीन सभी जीव ग्राह्य नहीं।।८२/५०४।।

शब्दश: अर्थ : मण्डल-विडाल-कुक्कुट-मयूर-शुक-सारिका+आदय:=कुत्ता, बिलाव, मुर्गा, मोर, तोता, सारिका आदि; जीवा:=प्राणी; हित-कामै:=कल्याण चाहनेवालों द्वारा; न=नहीं; ग्राह्या:=ग्रहण करने-योग्य; सर्वे=सभी; पाप+उपकार-परा:=पाप को कराने में मग्न।

अन्वय : पाप-उपकार-परा: मण्डल-विडाल-कुक्कुट-मयूर-शुक-सारिका-आदय: सर्वे जीवा: हित-कामै: न ग्राह्या:।

वचनिका : हित के वांक्षक पुरुषों द्वारा कुत्ता, बिलाव, मुर्गा, मोर, तोता, सारिका आदि सभी पाप को करने-कराने में तत्पर जीव, ग्रहण करना, योग्य नहीं है।।८२/५०४।।

अब, इसे ही इस एक पद्य द्वारा पुन: पुष्ट करते हैं—

आर्या : **लोहं लाक्षा नीली कुसुम्भ-मदनं विषं शण: शस्त्रम्।**
सन्धानकं च पुष्पं सर्वं करुणा-परैर्हेयम्।।८३/५०५।।

करुणा-शील को लोहा लाक्षा नीली कुसुंभ फूल शस्त्र।
विष सण संधानक पुष्प इत्यादि सब ही सतत हेय।।८३/५०५।।

शब्दश: अर्थ : लोहं=लोहा; लाक्षा=लाख; नीली=नील; कुसुम्भ-मदनं=कुसुंभ के फूल; विषं=जहर; शण:=सण; शस्त्रं=शस्त्र; सन्धानकं=संधाना/आचार-मुरब्बा; च=और; पुष्पं=फूल; सर्वं=सभी; करुणा-परै:=करुणा-शील द्वारा; हेयं=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : करुणा-परै: लोहं लाक्षा नीली कुसुम्भ-मदनं विषं शण: शस्त्रं सन्धानकं पुष्पं च सर्वं हेयम्।

वचनिका : दया में तत्पर पुरुषों द्वारा लोहा, लाख, नील, कुसुंभ-फूल, विष, सण, शस्त्र, संधाना, पुष्प आदि सभी त्यागना, योग्य है।।८३/५०५।।

अब, इसे ही पुन: इस एक पद्य द्वारा अन्य रूपों में बताते हैं—

आर्या : **नीली सूरणकन्दो दिवसद्वितयोषितो च दधिमथितो।**
विद्धं पुष्पितमन्नं कालिङ्गं द्रोणपुष्पिका त्याज्या।।८४/५०६।।

नीली सूरण कंद दो दिन वासा दही मठा बीधा।
फूल-सहित सब अन्न राई तरबूज आदि सब त्याज्या।।८४/५०६।।

शब्दश: अर्थ : नीली=नील; सूरण-कन्द:=सूरण और कंद; दिवस-द्वितय+उषिते=दो दिन का वासा; च=और; दधि-मथिते=दही और मट्ठा; विद्धं=बीधा हुआ; पुष्पितं=फूल-सहित, टपकी लगा; अन्नं=धान्य; कालिङ्गं=कलींदा/तरबूज; द्रोण-पुष्पिका=राई; त्याज्या=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय शैली में है।

वचनिका : नील, सूरण, कंद, दो दिन का वासा दही और छाँछ, बीधा और फूल-सहित टपकी लगा अन्न, कलींदा, राई आदि त्यागना, योग्य है।।८४/५०६।।

अब, अनर्थ-दण्ड-विरति को आहार के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **आहारो निश्शेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयात:।**
योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढै:।।८५/५०७।।

स्व स्वभाव से अन्य चलित रस-युक्त संपूर्ण भोजन।
अनंत-कायिक भोजन दया-सहित को सभी त्याज्य।।८५/५०७।।

शब्दश: अर्थ : आहार:=भोजन; नि:-शेष:=संपूर्ण; निज-स्वभावात्=अपने स्वभाव से; अन्य-भावं=दूसरे भाव को; उपयात:=प्राप्त; य:=जो; अनन्त-कायिक:=अनंत कायवाला; असौ=वह; परिहर्तव्य:=त्याग करने-योग्य; दया+आलीढै:=दया से सहित द्वारा।

अन्वय : निज-स्वभावात् अन्यभावं उपयात: नि:शेष: आहार: (च) य: अनन्त-कायिक: आहार: असौ दया-आलीढै: परिहर्तव्य:।

वचनिका : जो समस्त आहार अपने स्वभाव से अन्य भाव को प्राप्त, चलित रसवाला है और अनंत काय-सहित है; वह दया-सहित पुरुषों द्वारा त्यागना, योग्य है।।८५/५०७।।

इसप्रकार अनर्थ-दंड-विरति व्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

इसप्रकार तीन गुणव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, चार शिक्षाव्रतों में से सर्व-प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत को दो पद्यों द्वारा कहते हैं।

वहाँ अभी इस पद्य द्वारा सामायिक का स्वरूप बताते हैं—

आर्या : **त्यक्तार्तरौद्रयोगो भक्त्या विदधाति निर्मलध्यानम्।**
सामायिकं महात्मा सामायिक-संयतो जीव:।।८६/५०८।।

तज आर्त-रौद्र योग नित भक्ति से निर्मल-ध्यानी।
सामायिक को धारे सामायिक संयती-प्राणी।।८६/५०८।।

शब्दश: अर्थ : त्यक्त+आर्त-रौद्र-योग:=आर्त और रौद्र संबंधी योग से रहित; भक्त्या= भक्ति से; विदधाति=धारण करता है; निर्मल-ध्यान:=पवित्र ध्यानवाला; सामायिकं=समता भावरूप सामायिक को; महात्मा=महान आत्मा; सामायिक-संयत:=प्रयत्न पूर्वक सामायिक धारण करनेवाला; जीव:=प्राणी।

अन्वय : त्यक्त-आर्त-रौद्र-योग: निर्मल-ध्यान: महात्मा सामायिक-संयत: जीव: भक्त्या सामायिकं विदधाति।

वचनिका : आर्त और रौद्र-ध्यान को छोड़नेवाला, निर्मल ध्यान-संपन्न, महात्मा, राग-द्वेष के त्याग पूर्वक भले प्रकार यत्न-सहित जीव, सामायिक को धारण करता है।

भावार्थ : राग-द्वेष के त्याग से आत्मा में 'सं'=एकरूप होकर, 'अयनं'=परिणमना, वह समय है। समय का भाव, सामायिक है। सामायिक के काल में समस्त सावद्य योगों का त्याग हो जाने से श्रावक को भी उपचार से महाव्रती कहा है।—इतना यहाँ विशेष जानना।।८६/५०८।।

अब, इस पद्य द्वारा सामायिक की पात्रता और विधि बताते हैं—

आर्या : **कालत्रितये त्रेधा कर्तव्या देव-वन्दना सद्भिः।**
त्यक्त्वा सर्वारम्भं भव-मरण-विभीतचेतस्कैः।।८७/५०९।।

जन्म-मरण से बहु भयमय मनवाले सकल सज्जनों द्वारा।
त्रय काल त्रिधा सब ही आरंभ तज देव वंदना करना।।८७/५०९।।

शब्दशः अर्थ : काल-त्रितये=प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न—तीनों कालों में; त्रेधा=मन, वचन, काय—इन तीन से; कर्तव्या=करना चाहिए; देव-वन्दना=अरहंतादि देवों की वंदना; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; त्यक्त्वा=छोड़कर; सर्व+आरम्भं=सभी प्रकार के आरंभ को; भव-मरण-विभीत-चेतस्कैः=जन्म-मरण से भय-भीत चित्तवाले।

अन्वय : भव-मरण-विभीत-चेतस्कैः सद्भिः सर्व-आरम्भं त्यक्त्वा त्रेधा काल-त्रितये देव-वन्दना कर्तव्या।

वचनिका : जन्म-मरण से भय-भीत चित्तवाले सत्पुरुषों द्वारा सभी प्रकार के आरंभ को छोड़कर प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न—इन तीनों कालों में मन, वचन, काय पूर्वक अरहंतादि देवों की वंदना करना, योग्य है।।८७/५०९।।

इसप्रकार सामायिक नामक पहले शिक्षाव्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, चार पद्यों द्वारा प्रोषधोपवास नामक दूसरे शिक्षाव्रत को स्पष्ट करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस एक पद्य द्वारा प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप प्ररूपित है—

आर्या : **सदनारम्भ-निवृत्तैराहार-चतुष्टयं सदा हित्वा।**
पर्व-चतुष्के स्थेयं संयम-यम-साधनोद्युक्तैः।।८८/५१०।।

गृह आरंभ-निवृत्त संयम यम साधना में उद्युक्त।
द्वारा पर्व चतुष्क में भोजन चतु नित्य तज स्थित।।८८/५१०।।

शब्दशः अर्थ : सदन+आरम्भ-निवृत्तैः=घर संबंधी आरंभ से निवृत्त; आहार-चतुष्टयं=खाद्य,

स्वाद्य, लेह्य, पेय—इन चार प्रकार के आहार को; सदा=हमेशा; हित्वा=छोड़कर; पर्व-चतुष्के=एक माह की दो अष्टमी, दो चतुर्दशी—इन चार पर्वों में; स्थेयं=स्थिर होना चाहिए; संयम-यम-साधना+उद्युक्तैः=संयम और यम की साधना में उद्यमी द्वारा।

अन्वय : सदन-आरम्भ-निवृत्तैः संयम-यम-साधना-उद्युक्तैः पर्व-चतुष्के सदा आहार-चतुष्टयं हित्वा स्थेयम्।

वचनिका : गृह के आरंभ से रहित, यावज्जीवन त्यागरूप संयम और अल्प/थोड़े काल त्यागरूप यम में उद्यमी पुरुष द्वारा; एक मास में दो अष्टमी और दो चतुर्दशीरूप पर्व-चतुष्क में खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेयरूप आहार-चतुष्टय का त्यागकर सदा तिष्ठना, योग्य है।

भावार्थ : गृहारंभ का त्यागकर और आहार का त्यागकर संयमरूपी पर्वत पर सदा तिष्ठना, प्रोषधोपवास व्रत जानना।।८८/५१०।।

अब, इस एक पद्य द्वारा प्रोषधोपवास की विधि वर्णित है—

आर्या : **ताम्बूलगन्धमाल्यास्नानाभ्यङ्गादिसर्वसन्स्कारम्।**
ब्रम्हव्रतरतचित्तैः स्थातव्यमुपोषितैस्त्यक्त्वा।।८९/५११।।

तांबूल गंध माला अभ्यंग स्नान आदि सब सजना।
छोड़ उपोषित मनयुत ब्रम्ह व्रत गत चित्त से रहना।।८९/५११।।

शब्दशः अर्थ : ताम्बूल-गन्ध-माल्या-स्नान+अभ्यङ्ग+आदि-सर्व-सन्स्कारं=पान, सुगंध, माला, स्नान, उबटन आदि सभी संस्कार/शृंगार को; ब्रम्ह-व्रत-गत-चित्तैः=ब्रम्ह/आत्मा में व्रत/चर्या में लगे हुए चित्तवाले; स्थातव्यं=रहना चाहिए; उपोषितैः=प्रोषधोपवासवाले द्वारा; त्यक्त्वा=छोड़कर।

अन्वय : ताम्बूल-गन्ध-माल्या-स्नान-अभ्यङ्ग-आदि-सर्व-सन्स्कारं त्यक्त्वा उपोषितैः ब्रम्ह-व्रत-गत-चित्तैः स्थातव्यम्।

वचनिका : तांबूल/पान, गंध, माला, स्नान, उबटन आदि सभी संस्कारों का त्यागकर ब्रम्हचर्य में प्राप्त हुए चित्तवाले प्रोषध-सहित पुरुष द्वारा तिष्ठना, योग्य है।।८९/५११।।

अब, इस एक पद्य द्वारा प्रोषधोपवास के भेद बताते हैं—

आर्या : **उपवासानुपवासैकस्थानेष्वेकमपि विधत्ते यः।**
शक्त्यनुसारपरोऽसौ प्रोषधकारी जिनैरुक्तः।।९०/५१२।।

उपवास अनुपवास एक स्थान में से एक भी धरता।

यथा-शक्ति जो प्रोषध-कारी वह जिन कहें ऐसा।।९०/५१२।।

शब्दश: अर्थ : उपवास+अनुपवास+एक-स्थानेषु=उपवास, अनुपवास और एक-स्थान में; एकं=एक को; अपि=भी; विधत्ते=धारण करता है; य:=जो; शक्ति+अनुसार-पर:= शक्ति के अनुसार प्रयत्न-शील; असौ=वह; प्रोषध-कारी=प्रोषध करनेवाला; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; उक्त:=कहा गया।

अन्वय : उपवास-अनुपवास-एक-स्थानेषु एकं अपि य: शक्ति-अनुसार-पर: विधत्तै:, असौ प्रोषध-कारी (इति) जिनै: उक्त:।

वचनिका : उपवास, अनुपवास और एक-स्थान में से जो एक को भी शक्ति के अनुसार धारण करता है; वह प्रोषध करनेवाला है—ऐसा जिनेंद्र भगवान ने कहा है।।९०/५१२।।

अब, इस पद्य द्वारा इनका स्वरूप प्ररूपित है—

आर्या : **उपवासं जिननाथा निगदन्ति चतुर्विधाशनत्यागम्।**
सजलमनुपवासममी एकस्थानं सकृद्भुक्तिम्।।९१/५१३।।

उपवास चतुर्विध भोजन तजना जल ग्रहण कहा अनुपवास।
एक बार ले भोजन एक स्थान कहें जिनेंद्र भगवान।।९१/५१३।।

शब्दश: अर्थ : उपवासं=उपवास; जिन-नाथ:=जिनेंद्र भगवान; निगदन्ति=कहते हैं; चतु:-विध+अशन-त्यागं=चार प्रकार के भोजन के त्याग को; सजलं=जल-सहित/मात्र जल ग्रहण करने को; अनुपवासं=अनुपवास; अमी=ये; एक-स्थानं=एक-स्थान को; सकृत्-भुक्तिं=एक बार भोजन करने को।

अन्वय : अमी जिन-नाथा: चतु: विध-अशन-त्यागं उपवासं सजलं अनुपवासं सकृत्-भुक्तिं एक-स्थानं निगदन्ति।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान, चार प्रकार के आहार के त्याग को उपवास, जल-सहित को अनुपवास और एक बार भोजन को एक-स्थान कहते हैं।

भावार्थ : यहाँ जल-मात्र लेने को अनुपवास कहा है—इसका अर्थ 'उपवास का अभाव' नहीं लेना; वरन् 'किंचित् उपवास'—ऐसा अर्थ ग्रहण करना।।९१/५१३।।

इसप्रकार प्रोषधोपवास व्रत नामक दूसरे शिक्षाव्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे दो पद्यों द्वारा भोगोपभोग-परिमाण व्रत नामक शिक्षाव्रत को स्पष्ट करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा भोगोपभोग-परिमाण व्रत का स्वरूप निरूपित है—

आर्या : **भोगोपभोगसङ्ख्या विधीयते येन शक्तितो भक्त्या।**
भोगोपभोगसङ्ख्या शिक्षाव्रतमुच्यते सद्भि:।।९२/५१४।।

भोगोपभोग सीमा शक्ति-अनुसार भक्ति से करना।
भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत सज्जनों ने कहा।।९२/५१४।।

शब्दश: अर्थ : भोग-उपभोग-सङ्ख्या=भोग और उपभोग के योग्य पदार्थों की संख्या; विधीयते=की जाती है; येन=जिसके द्वारा; शक्तित:=शक्ति के अनुसार; भक्त्या=भक्ति से; भोग-उपभोग-सङ्ख्या=भोग-उपभोग-परिमाण नामक; शिक्षाव्रतं=शिक्षा-व्रत; उच्यते=कहा गया है; सद्भि:=सज्जनों द्वारा।

अन्वय : येन शक्तित: भक्त्या भोगोपभोग-सङ्ख्या विधीयते, (तत्) सद्भि: भोग-उपभोग-सङ्ख्या शिक्षाव्रतं उच्यते।

वचनिका : जिसके द्वारा शक्ति के अनुसार भक्ति पूर्वक भोग और उपभोग की संख्या की जाती है; वह भोगोपभोग-परिमाण नामक शिक्षाव्रत, संतों द्वारा कहा गया है।।९२/५१४।।

अब, इस एक पद्य द्वारा भोग और उपभोगवाले पदार्थ प्ररूपित हैं—

आर्या : **ताम्बूल-गन्ध-लेपनमज्जनभोजनपुरोगमो भोग:।**
उपभोगो भूषास्त्री-शयनासन-वस्त्र-वाहाद्य:।।९३/५१५।।

तांबूल गंध उबटन स्नान आहार आदि हैं भोग।
भूषण स्त्री शयनासन वाहन वस्त्रादि उपभोग।।९३/५१५।।

शब्दश: अर्थ : ताम्बूल-गन्ध-लेपन-मज्जन-भोजन-पुर:-गम:=पान, सुगंध, उबटन, स्नान, भोजन आदि प्रधान; भोग:=भोग/एक बार भोगने में आनेवाले; उपभोग:=उपभोग/बार-बार भोगने में आनेवाले; भूषा-स्त्री-शयन+आसन-वस्त्र-वाह+आद्य:=आभूषण, स्त्री, शैया, आसन, वस्त्र, वाहन आदि प्रधान।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : तांबूल, सुगंध, लेपन, स्नान, भोजन इत्यादि, भोग हैं और भूषण, स्त्री, शयन, आसन, वस्त्र, वाहन इत्यादि, उपभोग हैं। जो एक बार भोगने में आता है, वह भोग है और जो बार-बार भोगने में आता है, वह उपभोग है—ऐसा जानना।।९३/५१५।।

इसप्रकार भोगोपभोग-परिमाण व्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चार पद्यों द्वारा अतिथि-संविभाग व्रत वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अतिथि-संविभाग व्रत का स्वरूप प्ररूपित है—

आर्या : **परिकल्प्य सम्विभागं स्वनिमित्तकृताशनौषधादीनाम्।**
भोक्तव्यं सागारैरतिथि-व्रत-पालिभिर्नित्यम्।।९४/५१६।।

अपने हेतु बनाए अशनौषध आदि का विभाग करके।

अतिथि-व्रत पालक श्रावक उनको देकर सदा भोगे।।९४/५१६।।

शब्दशः अर्थ : परिकल्प्य=विचार पूर्वक करके; सम्विभागं=समान विभाग को; स्व-निमित्त-कृत+अशन+औषध+आदीनां=अपने लिए किए गए भोजन, औषध आदि का; भोक्तव्यं=भोग करना चाहिए; सागारैः=गृहस्थ द्वारा; अतिथि-व्रत-पालिभिः=अतिथि का व्रत पालन करनेवाले के द्वारा; नित्यं=सदा।

अन्वय : अतिथि-व्रत-पालिभिः सागारैः नित्यं स्व-निमित्त-कृत-अशन-औषध-आदीनां सम्विभागं परिकल्प्य भोक्तव्यम्।

वचनिका : अतिथि-व्रत का पालन करनेवाले श्रावकों द्वारा हमेशा अपने लिए किए गए भोजन, औषध आदि का भले प्रकार विभागकर पात्र को देकर भोजन करना, योग्य है।।९४/५१६।।

अब, इस पद्य द्वारा 'अतिथि' शब्द का व्युत्पत्ति परक अर्थ निरूपित है—

आर्या : **अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननाहूतः।**

यः सोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थ-विचक्षणैः पुरुषैः।।९५/५१७।।

अविराधित संयम रख विना बुलाए स्वयं ही घर आते।

शब्दार्थ विचक्षण ज्ञानी उन्हें हि अतिथि सदा कहते।।९५/५१७।।

शब्दशः अर्थ : अतति=आता है; स्वयं-एव=अपने आप ही; गृहं=घर को; संयमं=संयम को; अविराधयन्=विराधना नहीं करता हुआ; अनाहूतः=विना बुलाया; यः=जो; सः=वह; अतिथिः=अतिथि; उद्दिष्टः=कहा गया है; शब्द+अर्थ-विचक्षणैः=शब्द के अर्थ को जानने में निपुण; पुरुषैः=पुरुषों द्वारा।

अन्वय : यः संयमं अविराधयन् अनाहूतः स्वयं एव गृहं अतति सः अतिथिः (इति) शब्द-अर्थ-विचक्षणैः पुरुषैः उद्दिष्टः।

वचनिका : शब्दार्थ में विचक्षण पुरुष द्वारा वह साधु, अतिथि कहा गया है। वह कौन? जो संयम की विराधना नहीं करता हुआ विना बुलाए, स्वयं ही घर की ओर अतति अर्थात् गमन करता है, आता है।।९५/५१७।।

अब, इस पद्य द्वारा विभाग के योग्य पदार्थ बताते हैं—

आर्या : **अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यमिति निगद्यते चतुर्भेदम्।**

अशनमतिथेर्विधेयो निज-शक्त्या सम्विभागोऽस्य।।९६/५१८।।

अशन पेय स्वाद्य खाद्य यों भोजन चतुर्भेद बतलाया।
उसका निज शक्ति से अतिथि हेतु विभाग करना।।९६/५१८।।

शब्दश: अर्थ : अशनं=भोजन; पेयं=पान; स्वाद्यं=स्वाद लेने-योग्य; खाद्यं=खाने-योग्य; इति=इसप्रकार; निगद्यते=कहा है; चतु:-भेदं=चार प्रकारवाला; अशनं=आहार; अतिथे:= अतिथि के लिए; विधेय:=करना चाहिए; निज-शक्त्या=अपनी शक्ति के अनुसार; सम्विभाग: =समान विभाग; अस्य=उसका।

अन्वय : अशनं पेयं स्वाद्यं खाद्यं इति अशनं चतु: भेदं निगद्यते; अस्य निज-शक्त्या अतिथे: सम्विभाग: विधेय:।

वचनिका : अशन, पेय, स्वाद्य और खाद्य—ये चार प्रकार का आहार कहलाता है। उसका विभाग अर्थात् बटवारा; अपनी शक्ति के अनुसार इस अतिथि-पात्र के लिए विभाग करना, योग्य है।

भावार्थ : अपने लिए किए गए आहार में से पात्र के लिए शक्ति के अनुसार देना, योग्य है।।९६/५१८।।

अब, इस पद्य द्वारा अशन आदि में आनेवाले पदार्थ निरूपित हैं—

आर्या : **मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्यं मतं जिनै: पेयम्***।
ताम्बूलदाडिमाद्यं स्वाद्यं खाद्यं च पूपाद्यम्।।९७/५१९।।

मूँग भातादि अशन दूध जलादि हैं पेय तांबूल।
अनार आदि स्वाद्य पूपादि खाद्य जिन वर्णित।।९७/५१९।।

शब्दश: अर्थ : मुद्ग+औदन+आद्यं=मूँग, भात आदि प्रधान; अशनं=अशन; क्षीर-जल +आद्यं=दूध, जल आदि प्रधान; मतं=मान्य है; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; पेयं=पेय; गेयं=कहा है; ताम्बूल-दाडिम+आद्यं=पान, अनार आदि प्रधान; स्वाद्यं=स्वाद्य; खाद्यं=खाद्य; च=और; पूप+आद्यं=पूआ आदि प्रधान।

अन्वय : जिनै: मुद्ग-औदन-आद्यं अशनं, क्षीर-जल-आद्यं पेयं, ताम्बूल-दाडिम-आद्यं स्वाद्यं च पूप-आद्यं खाद्यं मतं/गेयम्।

वचनिका : मूँग, भात इत्यादि को अशन; दूध, जल आदि को जिनदेव ने पेय कहा है। तांबूल, दाडिम आदि को स्वाद्य और पूआ आदि को खाद्य कहा है—ऐसा जानना।।९७/५१७।।

---

* गेयम् – इति पाठान्तर।

इसप्रकार अतिथि-संविभाग-व्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे दो पद्यों द्वारा शिक्षाव्रत के अंतिम, चौथे भेद सल्लेखना को स्पष्ट करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम सल्लेखना की पात्रता इस पद्य द्वारा वर्णित है—

आर्या : **ज्ञात्वा मरणागमनं तत्त्वमतिर्दुर्निवारमतिगहनम्।**
पृष्ट्वा बान्धववर्गं करोति सल्लेखनां धीरः।।९८/५२०।।

अति गहन दुर्निवार मृत्यु आना सुजान तत्त्वमती।
बंधु-वर्ग से पूछ करता सल्लेखना धीरी।।९८/५२०।।

शब्दश: अर्थ : ज्ञात्वा=जानकर; मरण+आगमनं=मरण के आने को; तत्त्व-मतिः=वस्तु स्वरूप की समझरूप बुद्धिवाला; दुर्निवारं=निवारण करना अशक्य; अति-गहनं=भयानक; पृष्ट्वा=पूछकर; बान्धव-वर्गं=बंधुओं के समूह को; करोति=करता है; सल्लेखनां=सल्लेखना को; धीरः=धैर्य-संपन्न।

अन्वय : दुर्निवारं अति-गहनं मरण-आगमनं ज्ञात्वा बान्धव-वर्गं पृष्ट्वा धीरः तत्त्वमतिः सल्लेखनां करोति।

वचनिका : दुर्निवार और अति-गहन अर्थात् भयानक मरण के आगमन को जानकर निश्चल बुद्धिवाला धीर पुरुष, बांधवों के समूह को पूछकर मोह को छुड़ाकर श्रावक आगम-प्रमाण सल्लेखना-विधि को माड़ता/अपनाता है—ऐसा जानना।।९८/५२०।।

अब, इस एक पद्य द्वारा सल्लेखना का फल दिखाते हैं—

वसंत-तिलका : **आराधनां भगवतीं हृदये विधत्ते,**
सज्ञान-दर्शन-चरित्र-तपोमयीं यः।
निर्धूत-कर्ममल-पङ्कमसौ महात्मा,
शर्मोदकं शिव-सरोवरमेति हन्सः।।९९/५२१।।

सज्ज्ञान-दर्शन-चरित्र-तपोमयी जो,
आराधना भगवती उर में धरे वो।
उत्कृष्ट आतम मराल सकर्म मल धो,
पाता सुशर्म जल मय शिव सरोवर को।।९९/५२१।।

शब्दश: अर्थ : आराधनां=आराधना को; भगवतीं=परम पूज्य; हृदये=उपयोग में; विधत्ते=धारण करता है; सज्ञान-दर्शन-चरित्र-तपोमयीं=सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तपमई को; यः=जो; निर्धूत-कर्म-मल-पङ्कं=कर्मरूपी मल और कीचड़ को धोनेवाले; असौ=वह; महात्मा= महान आत्मा; शर्म+उदकं=सुखरूपी जलमय; शिव-सरोवरं=मोक्षरूपी सरोवर को; एति=

प्राप्त होता है; हन्स:=हंस।

अन्वय : य: सज्ञान-दर्शन-चरित्र-तपोमयीं भगवतीं आराधनां हृदये विधत्ते, असौ हन्स: महात्मा निर्धूत-कर्म-मल-पङ्कं शर्म-उदकं शिव-सरोवरं एति।

वचनिका : जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तपमई भगवती आराधना को हृदय में धारण करता है; वह महात्मा हंस, मोक्षरूपी सरोवर को प्राप्त होता है। वह मोक्षरूपी सरोवर कैसा है? जिसमें से कर्म-मलरूपी कीचड़ नष्ट हो गया है और सुखरूपी जल से परिपूर्ण है—ऐसा है।

भावार्थ : जो संन्यास पूर्वक मरण करता है, वह थोड़े ही काल में मोक्ष को प्राप्त होता है—ऐसा नियम जानना।।९९/५२१।।

इसप्रकार चार शिक्षाव्रतों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, इस पद्य द्वारा अधिकार का समापन करते हुए इन बारह व्रतों को धारण करने का फल बताते हैं—

पृथ्वी : **जिनेश्वर-निवेदितं मनन-दर्शनालङ्कृतं,**
द्विषड्विधमिदं व्रतं विपुलबुद्धिभिर्धारितम्।
विधाय नरखेचरत्रिदशसम्पदं पावनीं,
ददाति मुनिपुङ्ग्वामितगतिस्तुतां निर्वृतिम्।।१००/५२२।।

जिनेश्वर निरूपित दर्श-ज्ञान-शोभित,
विशालधी के द्वारा ये बारह व्रत धारित।
नर अमर खेचरों की संपदा प्राप्तकर,
पवित्र मोक्ष दे अमितगति मुनिवरों से पूजित।।१००/५२२।।

शब्दश: अर्थ : जिनेश्वर-निवेदितं=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्ररूपित; मनन-दर्शन-अलङ्कृतं= ज्ञान और दर्शन से सुशोभित; द्विषट्-विधं=बारह प्रकारवाला; इदं=यह; व्रतं=व्रत; विपुल-बुद्धिभि:=महा-बुद्धि के धारक द्वारा; धारितं=धारण किए गए; विधाय=देकर; नर-खेचर-त्रिदश-सम्पदं=मनुष्य, विद्याधर, देवों की संपत्ति को; पावनीं=पवित्र; ददाति=देता है; मुनि-पुङ्गव+अमित-गति-स्तुतां=असीम महिमावाले मुनिओं में श्रेष्ठ द्वारा स्तुति की जानेवाली; निर्वृतिं=मुक्ति को।

अन्वय : जिनेश्वर-निवेदितं मनन-दर्शन-अलङ्कृतं विपुल-बुद्धिभि: धारितं इदं द्विषट्-विधं व्रतं नर-खेचर-त्रिदश-सम्पदं विधाय मुनि-पुङ्गव-अमित-गति-स्तुतां निर्वृतिं ददाति।

वचनिका : जिनेश्वर देवों द्वारा कहे गए, ज्ञान और दर्शन से सुशोभित, महा-बुद्धिओं द्वारा

धारण किए गए, ये बारह प्रकार के व्रत; मनुष्य, विद्याधर, देवों की पवित्र संपदा को प्राप्त कराकर निर्वाण अवस्था को देते हैं। वह निर्वाण अवस्था कैसी है? अप्रमाण महिमावाले मुनिओं में श्रेष्ठ मुनिओं द्वारा स्तुति–गोचर की गई है।

भावार्थ : मुनींद्र जिसकी स्तुति करते हैं, उस मुक्ति को प्राप्त करते हैं।।१००/५२२।।

सवैया तेईसा : **पाँच अणुव्रत तीन गुण–व्रत सिक्षाव्रत पुनि निर्मल चार,**
सम्यग्दर्सन–ग्यान–सहित जो धारै तीव्र प्रमाद निवार।
नर विद्याधर अमर संपदा अद्भुत भोगि भोग जगसार,
लहै अमितगति सुखमय सिव पद वंदूँ चरण तास अविकार।।

अर्थ : तीव्र प्रमाद का निवारणकर, सम्यग्दर्शन–ज्ञान–सहित जो पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और निर्मल चार शिक्षाव्रतों को धारण करता है; वह मनुष्य, विद्याधर, देवों की संपदा–संपन्न, जगत के सारभूत, अद्भुत भोगों को भोगकर अमितगति–युक्त, सुखमय शिवपद को प्राप्त करता है। उनके अविकारी चरणों की मैं वंदना करता हूँ।

इसप्रकार श्री अमितगति आचार्य–विरचित श्रावकाचार में षष्ठ (छठवाँ) परिच्छेद समाप्त हुआ।।६।।

सप्तम परिच्छेद

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण व्रतों की महिमा दिखाते हैं—

उपजाति : **व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि।**

सस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि।।१/५२३।।

अतिचार-विरहित सेवन किए व्रत प्राणी को होते हैं पुण्य कारण।

जग में कहीं क्या फलती है सस्य कभी भी कूड़ादि मल-संयुक्त?।।१/५२३।।

शब्दश: अर्थ : व्रतानि=व्रत; पुण्याय=पुण्य के लिए; भवन्ति=होते हैं; जन्तो:=प्राणी के; न=नहीं; स+अतिचाराणि=अतिचार/दोष-सहित; निषेवितानि=सेवन किए गए; सस्यानि=धान्य; किं=क्या; क्व=कहीं; अपि=भी; फलन्ति=फलते हैं; लोके=लोक में; मल+उपलीढानि=कूड़ा आदि मल से सहित; कदाचन=कभी; अपि=भी।

अन्वय : सातिचाराणि न निषेवितानि व्रतानि जन्तो: पुण्याय भवन्ति; किं लोके मल-उपलीढानि सस्यानि क्व अपि कदाचन अपि फलन्ति?

वचनिका : जीव के, अतिचार-रहित सेवन किए गए व्रत, पुण्य के लिए होते हैं। यहाँ दृष्टांत कहते हैं; जैसे—लोक में निँदाई किए विना, कूड़ा-सहित, मल-सहित सस्य/धान्य कहीं भी, कभी भी क्या फलता है? अपितु नहीं फलता है।।१/५२३।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक निरतिचार व्रत-पालन की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **मत्वेति सद्भि: परिवर्जनीया व्रते व्रते ते खलु पञ्च पञ्च।**

उपेयनिष्पत्तिमपेक्षमाणा भवन्त्युपाये सुधिय: सयत्ना:।।२/५२४।।

यों मान ज्ञानी-जन छोड़ देते वे पाँच पाँच प्रत्येक व्रत में।

प्राप्तव्य उत्पत्ति अपेक्षा से उपाय में ज्ञानी यत्न करते।।२/५२४।।

शब्दश: अर्थ : मत्वा=मानकर; इति=इसप्रकार; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; परिवर्जनीया:=छोड़ देने-योग्य हैं; व्रते-व्रते=प्रत्येक व्रत में; ते=वे; खलु=वास्तव में; पञ्च=पाँच; पञ्च=पाँच; उपेय-निष्पत्तिं=जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, उसकी उत्पत्ति को; अपेक्षमाणा:= अपेक्षा-रखने/चाहनेवाले; भवन्ति=होते हैं; उपाये=उपाय में; सुधिय:=ज्ञानी-जन; सयत्ना:= सम्यक् प्रयत्न करनेवाले।

अन्वय : इति मत्वा सद्भि: खलु ते व्रते व्रते पञ्च पञ्च परिवर्जनीया:; (यत:) उपेय-निष्पत्तिं अपेक्षमाणा: सुधिय: उपाये सयत्ना: भवन्ति।

वचनिका : ऐसा मानकर ज्ञानिओं द्वारा प्रत्येक व्रत में पाँच-पाँच अतिचार, त्याग करने-योग्य

हैं; क्योंकि जिसके लिए उपाय कर रहे हैं, उस कार्यरूप उपेय की उत्पत्ति को चाहनेवाले ज्ञानी, उपाय में यत्न-सहित होते हैं।

भावार्थ : व्रत, उपेय हैं और अतिचारों का त्याग, उपाय है। जो व्रतों को चाहते हैं, वे अतिचारों का त्याग करें—ऐसा उपदेश जानना।।२/५२४।।

अब, यहाँ से अतिचारों का वर्णन प्रारंभ होता है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अहिंसा-अणुव्रत के अतिचार कहते हैं—

उपजाति : **भारातिमात्रव्यतिरोपघातच्छेदान्नपान-प्रतिषेध-बन्धाः।**
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पञ्चापराधाः प्रतिषेधनीयाः।।३/५२५।।

अति भार आरोपण घात छेद आहार-पानी अवरुद्ध बंध।
प्रवीण द्वारा पहले अणुव्रत के पाँच अतिचार निषेध-योग्य।।३/५२५।।

शब्दशः अर्थ : भार+अति-मात्र-व्यपरोप-घात-छेद+अन्न-पान-प्रतिषेध-बन्धाः=भार के प्रमाण का उल्लंघनकर लादना, मारना, छेदना, भोजन-पान का निषेध करना, बाँधना; अणुव्रतस्य=अणुव्रत का; प्रथमस्य=पहले अहिंसा का; दक्षैः=प्रवीणों द्वारा; पञ्च+अपराधाः =पाँच दोष; प्रतिषेधनीयाः=त्याग करने-योग्य।

अन्वय : दक्षैः प्रथमस्य अणुव्रतस्य भार-अति-मात्र-व्यपरोप-घात-छेद-अन्न-पान-प्रतिषेध-बन्धाः (एते) पञ्च-अपराधाः प्रतिषेधनीयाः।

वचनिका : प्रमाण का उल्लंघनकर भार धरना; घात अर्थात् पीड़ा के कारणभूत लाठी, बैंत आदि से मारना; यहाँ घात का अर्थ प्राणों का नाश, ग्रहण नहीं करना; क्योंकि वह तो अनाचार-स्वरूप ही है। कान, नासिका आदि अंगों के छेदनेरूप छेद; अन्न-जल को रोकना; वांक्षित स्थान को जाने नहीं देना, रस्सी आदि से बाँधना इत्यादि बंध; प्रथम अणुव्रत के ये पाँच अतिचार, पंडितों द्वारा त्याग करना, योग्य है।।३/५२५।।

अब, इस पद्य द्वारा सत्य-अणुव्रत के अतिचार निरूपित हैं—

उपजाति : **न्यासापहारः परमन्त्रभेदो मिथ्योपदेशः परकूटलेखः।**
प्रकाशना गुह्यविचेष्टितानां पञ्चातिचाराः कथिता द्वितीये।।४/५२६।।

न्यासापहारक परमंत्रभेदन मिथ्योपदेशन पर कूट लेखन।
पर गुप्त चेष्टाओं का प्रकाशन सत्याणुव्रत के अतिचार पंच।।४/५२६।।

शब्दशः अर्थ : न्यास+अपहारः=धरोहर का अपहरण; पर-मन्त्र-भेदः=अन्य के अभिप्राय को प्रकाशित करना; मिथ्या+उपदेशः=झूँठा उपदेश देना; पर-कूट-लेखः=अन्य के झूँठे

लेख लिखना; प्रकाशना=प्रकाशित करना; गुह्य-विचेष्टितानां=गुप्त, विशिष्ट चेष्टाओं का; पञ्च+अतिचारा:=पाँच अतिचार; कथिता:=कहे हैं; द्वितीये=दूसरे/सत्याणुव्रत में।

अन्वय : द्वितीये न्यास-अपहार:, पर-मन्त्र-भेद:, मिथ्या-उपदेश:, पर-कूट-लेख:, गुह्य-विचेष्टितानां प्रकाशना (एते) पञ्च-अतिचारा: कथिता:।

वचनिका : न्यास-अपहार=किसी ने द्रव्य सौंपा था, उसे वह भूलकर कम माँगता है, तब कहना कि इतना ही है; पर-मंत्र-भेद=अंग-विकार आदि से अन्य के अभिप्राय को जानकर ईर्ष्या से उसका प्रकाशन करना; स्वर्ग और मोक्ष की कारणभूत क्रिया-विशेषों में अन्यथा प्रवृत्ति करानेरूप मिथ्या उपदेश; किसी अन्य को ठगने के लिए दूसरे के कहने से झूँठ लिखना, कूट-लेख क्रिया; स्त्री-पुरुष आदि के गुप्त चरित्र का प्रकाशन करना, रहोभ्याख्यान; — ये पाँच अतिचार, दूसरे सत्य-अणुव्रत में कहे हैं।।४/५२६।।

अब, इस पद्य द्वारा अचौर्य-अणुव्रत के अतिचार प्ररूपित हैं—

आर्या : **व्यवहार: कृत्रिमज: स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।**
ते मान-वैपरीत्यं विरुद्ध-राज्य-व्यतिक्रमणम्।।५/५२७।।

कृत्रिम व्यवहार रचित स्तेन नियोग तदाहृतादान।
मानोन्मान-वैपरीत्य विरुद्ध राज्य व्यतिक्रमण।।५/५२७।।

शब्दश: अर्थ : व्यवहार:=बनवाना; कृत्रिमक:=नकली; स्तेन-नियोग:=चोरी में लगाना; तत्-आहृता+आदानं=उसके द्वारा लाई वस्तुओं को लेना; ते=वे; मान-वैपरीत्यं=नापने में विपरीतता; विरुद्ध-राज्य-व्यतिक्रमणं=राज्य के नियमों आदि का उल्लंघन करना।

अन्वय : कृत्रिमक: व्यवहार: स्तेन-नियोग: तत्-आहृता-आदानं, मान-वैपरीत्यं, विरुद्ध-राज्य-व्यतिक्रमणं ते (अचौर्याणुव्रते अतिचारा:)।

वचनिका : झूँठे स्वर्णादि बनवाना, कृत्रिम-व्यवहार; चोर को चोरी में लगाना, स्तेन-प्रयोग; चोर द्वारा लाए गए द्रव्य को ग्रहण करना, तदाहृतादान; बड़े मान/माप से लेना और छोटे मान से देना, मान-वैपरीत्य; राज्य के नियमों का उल्लंघन करना, महसूल/कर आदि चोरना, विरुद्ध-राज्य-व्यतिक्रमण — तीसरे अचौर्य-अणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं।।५/५२७।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री-त्याग/ब्रम्हचर्य-अणुव्रत के अतिचार प्ररूपित हैं—

उपजाति : **आत्तानुपात्तेत्वरिकाङ्ग-सङ्गावनङ्ग-सङ्गो मदनाति-सङ्ग:।**
परोपयामस्य विधानमेते पञ्चातिचारा: गदिताश्चतुर्थे।।६/५२८।।

आत्त अनुपात्त व्यभिचारिका गमन अनंग संग कामाति संग।
पर का विवाह करना चतुर्थ पर-स्त्री-त्याग में अतिचार पंच।।६/५२८।।

शब्दश: अर्थ : आत्त-अनुपात्त+इत्वरिका+अङ्ग-सङ्गौ=अन्य द्वारा ग्रहण की गई और ग्रहण नहीं की गई व्यभिचारिणी स्त्री के शरीर का संग करना; अन्-अङ्ग-सङ्गः=अनंग से संग करना; मदन+अति-सङ्गः=काम का तीव्र परिणाम; पर+उपयामस्य=दूसरे के विवाह का; विधानं=पद्धति करना; एते=ये; पञ्च=पाँच; अतिचाराः=दोष; गदिताः=कहे हैं; चतुर्थे= चौथे/ब्रम्हचर्य अणुव्रत में।

अन्वय : आत्त-इत्वरिका-अङ्ग-सङ्गः, अनुपात्त-इत्वरिका-अङ्ग-सङ्गः, अन्-अङ्ग-सङ्गः, मदन-अति सङ्गः, पर-उपयामस्य विधानं एते पञ्च-अतिचाराः चतुर्थे गदिताः।

वचनिका : अन्य द्वारा ग्रहण की हुई और ग्रहण नहीं की हुई व्यभिचारिणी स्त्री के अंग का संग करना, उनके पास गमन करना; हस्त आदि से क्रीड़ा करनेरूप अनंग-संग; काम का तीव्र परिणाम, दूसरों का विवाह कराना—ब्रम्हचर्य-अणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं।।६/५२८।।

अब, इस पद्य द्वारा परिग्रह-परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं—

स्वागता : **क्षेत्रवास्तुधनधान्यहिरण्यस्वर्णकर्मकरकुप्यकसङ्ख्याः।**
योऽतिलङ्घति परिग्रहलोभस्तस्य पञ्चकमवाचि मलानाम्।।७/५२९।।

क्षेत्र वास्तु धन धान्य हिरण्य स्वर्ण कर्मकर बर्तन वस्त्र।
सीमा लाँघे परिग्रह-लोभ उसके दोष कहे ये पंचक।।७/५२९।।

शब्दश: अर्थ : क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-हिरण्य-स्वर्ण-कर्मकर-कुप्यक-सङ्ख्याः=खेत-मकान, धन-धान्य, हिरण्य-स्वर्ण, दास-दासी आदि कर्मकर/सेवक, वस्त्र-बर्तन आदि कुप्यक की संख्या/सीमा; यः=जो; अतिलङ्घति=उल्लंघन करता है; परिग्रह-लोभः=परिग्रह के लोभवाला; तस्य=उसका; पञ्चकं=पाँच का समूह; अवाचि=कहा है; मलानां=मलों के।

अन्वय : परिग्रह-लोभः यः क्षेत्र-वास्तु-धन-धान्य-हिरण्य-स्वर्ण-कर्मकर-कुप्यक-सङ्ख्याः अतिलङ्घति, तस्य मलानां पञ्चकं अवाचि।

वचनिका : क्षेत्र=खेती का स्थान, वास्तु=घर—इन दोनों का एक; हिरण्य=चाँदी, स्वर्ण= सोना—इनका एक स्थान; गाय आदि धन और गेहूँ आदि धान्य—इनका एक स्थान; दासी-दास आदि कर्मकर; वस्त्र, बर्तन आदि कुप्य; परिग्रह के लोभ-सहित जो इन पाँचों की संख्या का उल्लंघन करता है; उसके अतिचारों का पंचक कहा है।।७/५२९।।

अब, इस पद्य द्वारा दिग्विरति-व्रत के अतिचार वर्णित हैं—

आर्या : **स्मृत्यन्तर-परिकल्पनमूर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमाः प्रोक्ताः।**
क्षेत्र-विवृद्धिः प्राज्ञैरतिचाराः पञ्च दिग्विरतेः।।८/५३०।।

स्मृति अंतर परिकल्पन ऊर्ध्व अध: तिर्यग्सीम उल्लंघन।

प्राज्ञों द्वारा क्षेत्र वृद्धि कहे दिग्विरति दोष।।८/५३०।।

शब्दश: अर्थ : स्मृति-अन्तर-परिकल्पनं=की गई सीमा को भूल, अन्य कर लेना; ऊर्ध्व-अध:-तिर्यक्-व्यतिक्रमा:=ऊपर का उल्लंघन, नीचे का उल्लंघन, समान धरातल का उल्लंघन; प्रोक्ता:=कहे हैं; क्षेत्र-विवृद्धि:=क्षेत्र को, बड़ा लेना; प्राज्ञै:=बुद्धिमानों द्वारा; अतिचारा:=दोष; पञ्च=पाँच; दिग्विरते:=दिग्विरति का।

अन्वय : प्राज्ञै: दिग्विरते: स्मृति-अन्तर-परिकल्पनं, ऊर्ध्व-व्यतिक्रम:, अध:-व्यतिक्रम:, तिर्यग्व्यतिक्रम:, क्षेत्र-विवृद्धि: (एते) पञ्च अतिचारा: प्रोक्ता:।

वचनिका : योजनादि का जो परिमाण किया था, उसे भूलकर अन्य की कल्पना करना; ऊपर, नीचे, तिरछे—इन तीनों का उल्लंघन करना अर्थात् पर्वतादि पर चड़ना, कूप आदि में उतरना, बिल आदि में घुसना—ये तीन हुए; लोभ के वश से क्षेत्र की वृद्धि चाहना;—दिग्विरति के ये पाँच अतिचार, पंडितों ने कहे हैं।।८/५३०।।

अब, इस पद्य द्वारा देश-विरति-व्रत के अतिचार प्ररूपित हैं—

आर्या : **आनयनयुज्ययोजनपुद्गलजल्पनशरीरसञ्ज्ञाख्या:।**

अपराधा: पञ्च मता देशव्रते गोचरा: सद्भि:।।९/५३१।।

आनयन योज्य-योजन पुद्गल-क्षेपण वचन तनू दर्शन।

देशव्रत में ये दोष संतों ने कहे हैं पाँच।।९/५३१।।

शब्दश: अर्थ : आनयन-योज्य-योजन-पुद्गल-जल्पन-शरीर-सञ्ज्ञा+आख्या:=आनयन, योज्य में प्रयोग, पुद्गल-क्षेपण, बोलना, आकार दिखाना नामक कहे; अपराधा:=दोष; पञ्च:=पाँच; मता:=माने हैं; देशव्रते=देशव्रत में; गोचरा:=ज्ञात होनेवाले; सद्भि:=संतों द्वारा।

अन्वय : सद्भि: गोचरा: देशव्रते आनयन-योज्य-योजन-पुद्गल-जल्पन-शरीर-सञ्ज्ञा-आख्या: (एते) पञ्च अपराधा: मता:।

वचनिका : मर्यादा के बाहर से आनयन=बुलाना; मर्यादा से बाहर योज्य में योजन=प्रयोग; मर्यादा से बाहर लोष्ठ आदि फेककर कार्य करानेरूप पुद्गल का क्षेप; मर्यादा के बाहर व्यक्ति से वचन बोलना और मर्यादा के बाहर शरीर का आकार दिखाकर कार्य कराना; देशव्रत संबंधी ये पाँच अतिचार, संतों ने कहे हैं।।५/५३१।।

अब, इस पद्य द्वारा अनर्थ-दंड-विरति-व्रत के अतिचार वर्णित हैं—

आर्या : **असमीक्षित-कारित्वं प्राहुर्भोगोपभोगनैरर्थ्यम्।**

कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमनर्थदण्डस्य।।१०/५३२।।

असमीक्षित-कारीपन संग्रह भोगोपभोग का व्यर्थ।

कंदर्प कौत्कुच्य मौखर्य अनर्थदंडविरति दोष।।१०/५३२।।

शब्दशः अर्थ : अ-सम्+ईक्षित-कारित्वं=भली-भाँति देखे विना करनापना; प्राहुः=कहा है; भोग-उपभोग-नैः-अर्थ्यं=प्रयोजन के विना भोगोपभोग का संग्रह करना; कन्दर्पं=स-हास्य अयोग्य वचन कहना; कौत्कुच्यं=शरीर की कुत्सित चेष्टा करना; मौखर्यं=असमीचीन बहुत प्रलाप करना; अनर्थ-दण्डस्य=अनर्थ-दंड का।

अन्वय : अनर्थ-दण्डस्य असमीक्षित-कारित्वं भोगोपभोग-नैरर्थ्यं कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यं (एते पञ्च-दोषाः) प्राहुः।

वचनिका : भली-भाँति देखे विना कार्य करना, भोग और उपभोग-योग्य पदार्थों का निष्प्रयोजन संचय करना, तीव्र राग के उदय से हास्य-मिश्रित अयोग्य वचन कहनेरूप कंदर्प, तीव्र राग और अयोग्य वचन—इन दोनों से सहित हो शरीर की कुत्सित चेष्टा करनेरूप कौत्कुच्य, ढीटपने-सहित असमीचीन बहुत प्रलाप करनेरूप मौखर्य—अनर्थ-दंड-विरति-व्रत के ये पाँच अतिचार हैं।।१०/५३२।।

अब, इस पद्य द्वारा सामायिक-व्रत के अतिचार निरूपित हैं—

आर्या : **योगा दुष्प्रणिधानाः स्मृत्यनुपस्थानमादराभावः।**

सामायिकस्य जैनैरतिचाराः पञ्च विज्ञेयाः।।११/५३३।।

योगों का दुष्प्रणिधान विस्मरण अनादर मई भाव।

सामायिक के दोष जैनों को पंच जानना योग्य।।११/५३३।।

शब्दशः अर्थ : योगाः=मन, वचन, काय की प्रवृत्ति; दुष्प्रणिधानाः=पापरूप या अन्यथा करना; स्मृति+अनुपस्थानं=स्मरण नहीं रहना; आदर+अभावः=आदर नहीं होना; सामायिकस्य=सामायिक का; जैनैः=जैनों द्वारा; अतिचाराः=दोष; पञ्च=पाँच; विज्ञेयाः= जानना चाहिए।

अन्वय : जैनैः सामायिकस्य योगाः दुष्प्रणिधानाः स्मृति-अनुपस्थानं आदर-अभावः (एते) पञ्च अतिचाराः विज्ञेयाः।

वचनिका : दुष्प्रणिधान=पापरूप या अन्यथा, मन-वचन-कायमय तीन योगरूप अन्यथा प्रवृत्ति—ये तीन; स्मरण नहीं आना, आदर का अभाव—सामायिक-व्रत के ये पाँच अतिचार जैनों द्वारा जानने-योग्य हैं।।११/५३३।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रोषधोपवास-व्रत के अतिचार वर्णित हैं—

आर्या : **ज्ञेया गतोपयोगा उत्सर्गादानसन्स्तरकविधाः।**
उपवासे मुनिमुख्यैरनादरः स्मृत्यसमवस्था।।१२/५३४।।

विन दर्शन शोधन विन उत्सर्गादान संस्तर बिछावन।
उपवास में अनादर विस्मृत होना ये पाँच दोष।।१२/५३४।।

शब्दशः अर्थ : ज्ञेयाः=जानना चाहिए; गत+उपयोगाः=उपयोग स्थिर किए विना; उत्सर्ग+आदान-सन्स्तरक-विधाः=छोड़ना, ग्रहण करना, संस्तर बिछाना आदि; उपवासे=उपवास में; मुनि-मुख्यैः=मुनिओं में प्रधानों द्वारा; अनादरः=आदर का नहीं होना; स्मृति-असं-अवस्था=स्मृति का उपस्थित नहीं होना।

अन्वय : मुनि-मुख्यैः गत-उपयोगाः उत्सर्ग-आदान-सन्स्तरक-विधाः उपवासे अनादरः स्मृति-असमवस्था (एते पञ्च दोषाः) ज्ञेयाः।

वचनिका : गत-उपयोग=विना देखे या विना प्रतिलेखन किए भूमि पर मल, मूत्र आदि को छोड़ना; अरहंतादि की पूजा के उपकरण, गंध, माला आदि अथवा अपने ओड़ने आदि के लिए वस्त्रादि का ग्रहण करना; संस्तर बिछाना—ये तीन; आवश्यकों में उत्साह के अभावरूप अनादर और प्रोषध का विस्मरण हो जाना—मुख्य आचार्यों ने प्रोषधोपवास-व्रत में ये पाँच अतिचार कहे हैं।।१२/५३४।।

अब, इस पद्य द्वारा भोगोपभोग-परिमाण-व्रत के दोष निरूपित हैं—

आर्या : **सहचित्तं सम्बद्धं मिश्रं दुष्पक्वमभिषवाहारः।**
भोगोपभोगविरतेरतिचाराः पञ्च परिवर्ज्याः।।१३/५३५।।

सचित सचित-स्पर्शित मिश्रण दुष्पक्व अभिषवाहार।
भोगोपभोग सीमन व्रत के ये पाँच दोष परिवर्ज्य।।१३/५३५।।

शब्दशः अर्थ : सह-चित्तं=चित्त-सहित/सचित्त; सम्बद्धं=सचित्त से स्पर्शित; मिश्रं=सचित्त से मिली हुई; दुष्पक्वं=बुरी पकी; अभिषव+आहारः=कामोत्तेजक आहार; भोग+उपभोग-विरतेः=भोग-उपभोग-विरति का; अतिचाराः=दोष; पञ्च=पाँच; परिवर्ज्याः=छोड़ने-योग्य।

अन्वय : भोग-उपभोग-विरतेः सह चित्तं, चित्तं सम्बद्धं, चित्तं मिश्रं, दुष्पक्वं, अभिषव-आहारः (एते) पञ्च अतिचाराः परिवर्ज्याः।

वचनिका : सचित्त वस्तु, सचित्त वस्तु से स्पर्शित वस्तु, सचित्त से मिली वस्तु, दुःख/गलत विधि से पकी वस्तु, काम/विषय-वासना बड़ानेवाली वस्तु का आहार—भोगोपभोग-विरति-व्रत के ये पाँच अतिचार, त्यागने-योग्य हैं।।१३/५३५।।

अब, इस पद्य द्वारा दान/अतिथि-संविभाग-व्रत के अतिचार प्ररूपित हैं—

आर्या : **मत्सरकालातिक्रमसचित्तनिक्षेपणा पिधानानि।**
दानेऽन्य-व्यपदेशः परिहर्तव्या मलाः पञ्च।।१४/५३६।।

मत्सर कालातिक्रम सचित्त निक्षेप आवरण सचित्त।
पर व्यपदेश से दान दान में दोष पाँच ये त्याज्य।।१४/५३६।।

शब्दशः अर्थ : मत्सर-काल+अतिक्रम-सचित्त-निक्षेपणाः=मात्सर्य, समय का उल्लंघन, सचित्त पर रखना; पिधानानि=सचित्त से ढाँकना; दाने=दान में; अन्य-व्यपदेशः=दूसरों की आज्ञा; परिहर्तव्याः=छोड़ने-योग्य; मलाः=दोष; पञ्च=पाँच।

अन्वय : मत्सर-काल-अतिक्रम-सचित्त-निक्षेपणाः, सचित्त-पिधानानि, अन्य-व्यपदेशः दाने (एते) पञ्च मलाः परिहर्तव्याः।

वचनिका : दानादि में अनादर भावरूप मात्सर्य; योग्य काल का उल्लंघन करना; कमल-पत्रादि सचित्त पर भोजन रखना, सचित्त से ढाँकना, आज्ञा देकर अन्य से दिलाना—दान में ये पाँच अतिचार त्यागना, योग्य है।।१४/५३६।।

अब, इस पद्य द्वारा सल्लेखना-व्रत के अतिचार वर्णित हैं—

आर्या : **जीवितमरणाशन्सा निदानमित्रानुरागसुखशन्साः।**
सन्न्यासे मल-पञ्चकमिदमाहुर्विदित-विज्ञेयाः।।१५/५३७।।

जीवन मृत्यु शंसा निदान मित्रानुराग सुखशंसा।
दोष पाँच सल्लेखना जान सभी देव बतलाया।।१५/५३७।।

शब्दशः अर्थ : जीवित-मरण-आशन्सा=जीने की भावना, मरने की भावना; निदान-मित्र+अनुराग-सुख-शन्सा=आगामी भोगों की कामनारूप निदान, मित्रों के प्रति अनुराग, सुख की भावना; सन्न्यासे=संन्यास में; मल-पञ्चकं=पाँच दोष; इदं=यह; आहुः=कहा है; विदित-विज्ञेयाः=जानने-योग्य सब जाननेवाले सर्वज्ञों ने।

अन्वय : सन्न्यासे जीवित-आशन्सा, मरण-आशन्सा, निदान-मित्र-अनुराग-सुख-शन्सा इदं मल-पञ्चकं विदित-विज्ञेयाः आहुः।

वचनिका : यह शरीर अवश्य अनित्य है; यह कैसे टिका रहे?—ऐसी अभिलाषा, जीवित-शंसा; रोग के उपद्रव से आकुलित होकर मरण की वांक्षा करना, मरण-शंसा; पर-लोक में भोगों की वांक्षा करना, निदान; मित्रों के साथ की गई पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण करना, मित्रानुराग; पहले भोगे हुए सुखों का चिंतन करना, सुख-शंसा—संन्यास में अतिचाररूप इस

पंचक को; जानने-योग्य सब कुछ जान लेनेवाले अरहंतादि ने बताया है।।१५/५३७।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दर्शन के अतिचार प्ररूपित हैं—

आर्या : **शङ्का-काङ्क्षा-निन्दा-परशन्सा-सन्स्तवा मला पञ्च।**
परिहर्तव्या सद्भिः सम्यक्त्वविशोधिभिः सततम्।।१६/५३८।।

शंका कांक्षा निंदा पर-शंसा पर-संस्तव पंच।
दोष विशोधक समकित सज्जन द्वारा सतत त्याज्य।।१६/५३८।।

शब्दशः अर्थ : शङ्का=जिन-वचनों में संदेह; काङ्क्षा=भोगों की कामना; निन्दा=ग्लानि करना; पर-शन्सा=अन्य-मत की प्रशंसा करना; सन्स्तवा=अन्य-मत की स्तुति करना; मलाः=दोष; पञ्च=पाँच; परिहर्तव्याः=छोड़ने-योग्य; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; सम्यक्त्व-विशोधिभिः=सम्यक्त्व का विशोधन करनेवालों के द्वारा; सततं=हमेशा।

अन्वय : सम्यक्त्व-विशोधिभिः सद्भिः शङ्का-काङ्क्षा-निन्दा-पर-शन्सा-पर-सन्स्तवाः (एते) पञ्च मलाः सततं परिहर्तव्याः।

वचनिका : जिन-वचन में शंका करना, भोगों की कामना करना, धर्मात्माओं की निंदा/ग्लानि करना; पर-शंसा=मिथ्यादृष्ट्यिों की प्रशंसा करना, पर-संस्तव=मिथ्यादृष्टिओं की स्तुति करना—ये पाँच अतिचार, सम्यक्त्व का विशोधन करनेवाले सत्पुरुषों द्वारा निरंतर त्यागना, योग्य है।।१६/५३८।।

अब, इस पद्य द्वारा अतिचारों का त्याग करने का फल दिखाते हैं—

स्वागता : **सप्ततिं परिहरन्ति मलानामेवमुत्तमधियो व्रतशुद्ध्यै।**
श्रावका जगति ये शुभचित्तास्ते भवन्ति भुवनोत्तमनाथाः।।१७/५३९।।

जो उत्तम-धी व्रत शुद्धि के लिए तजें सत्तर दोषों ही।
को शुभ-चित्ती श्रावक जग में होते वे लोकोत्तम स्वामी।।१७/५३९।।

शब्दशः अर्थ : सप्ततिं=सत्तर को; परिहरन्ति=छोड़ते हैं; मलानां=दोषों के; एव=ही; उत्तम-धियः=उत्कृष्ट ज्ञानवाले; व्रत-शुद्ध्यै=व्रतों की शुद्धि के लिए; श्रावकाः=श्रावक; जगति=लोक में; ये=जो; शुभ-चित्ताः=कल्याणमय मनवाले; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; भुवन+उत्तम-नाथाः=लोक के उत्तम स्वामी।

अन्वय : जगति ये उत्तम-धियः श्रावकाः व्रत-शुद्ध्यै मलानां एव सप्ततिं परिहरन्ति, शुभ-चित्ताः ते भुवन-उत्तम-नाथाः भवन्ति।

वचनिका : लोक में उत्तम-बुद्धि जो श्रावक, व्रतों की शुद्धि के लिए अतिचारों की सप्तति

अर्थात् सत्तर के समूह का त्याग करते हैं; शुभ-चित्तवाले वे, लोक के उत्तम-नाथ होते हैं।।१७/५३९।।

इसप्रकार अतिचारों का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, तीन शल्यों का वर्णन प्रारंभ होता है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा शल्यों का निषेध करते हैं—

उपजाति : **निदान-माया-विपरीत-दृष्टीर्नाराचपङ्क्तीरिव दु:ख-कर्त्री:।**
ये वर्जयन्ते सुख-भागिनस्ते निश्शल्यता शर्मकरी हि लोके।।१८/५४०।।

निदान माया विपरीत दृष्टि बाणों की पंक्ति-वत् दु:ख-कारी।
जो छोड़ते होते सौख्य-भागी निश्शल्यता जग में शर्म-कारी।।१८/५४०।।

शब्दश: अर्थ : निदान-माया-विपरीत-दृष्टी:=निदान, माया और विपरीत दृष्टि; नाराच-पङ्क्ती:=बाणों की पंक्ति; इव=समान; दु:ख-कर्त्री:=दु:खों को करनेवाली; ये=जो; वर्जयन्ते=छोड़ते हैं; सुख-भागिन:=सुख के पात्र; ते=वे; निश्शल्यता=शल्य से रहितपना; शर्म-करी =सुख को करनेवाली; हि=वास्तव में; लोके=विश्व में।

अन्वय : ये नाराच-पङ्क्ती: इव दु:ख-कर्त्री: निदान-माया-विपरीत-दृष्टी: वर्जयन्ते, ते सुख-भागिन:, हि लोके निश्शल्यता शर्म-करी।

वचनिका : जो प्राणी, बाणों की पंक्ति के समान दु:खों को करनेवाली भोगों की कामनारूप निदान, कुटिल भावरूप माया और विपरीत दृष्टि अर्थात् मिथ्यादृष्टि—इन तीनों को छोड़ देते हैं, वे सुख को भोगनेवाले हैं; क्योंकि लोक में नि:शल्यपना सुख-कारी है—ऐसा जानना।।१८/५४०।।

अब, इस पद्य द्वारा शल्य से होनेवाली हानिआँ वर्णित हैं—

उपजाति : **यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिधेयं व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य।**
स्थिते शरीरं ह्यवगाह्य काण्डे जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि।।१९/५४१।।

जिसके हृदय में हैं तीन शल्य उसके सभी व्रत होते हैं नष्ट।
शरीर में घुसकर बाण स्थित कैसे मनुज पाए सौख्य रंच?।।१९/५४१।।

शब्दश: अर्थ : यस्य=जिसका; अस्ति=है; शल्यं=शल्य; हृदये=हृदय में; त्रिधा=तीन प्रकार वाली; इयं=यह; व्रतानि=व्रत; नश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं; अखिलानि=सभी; तस्य=उसका; स्थिते=स्थित होने पर; शरीरं=देह को; हि=वास्तव में; अवगाह्य=प्रवेशकर; काण्डे=बाण में; जनस्य=प्राणी का; सौख्यानि=सौख्य; कुतस्तनानि=कैसे?

अन्वय : यस्य हृदये त्रिधा इयं शल्यं अस्ति, तस्य अखिलानि व्रतानि नश्यन्ति; हि शरीरं अवगाह्य स्थिते काण्डे जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि।

वचनिका : जिसके हृदय में तीन प्रकारवाली यह शल्य है; उसके समस्त व्रत नाश को प्राप्त हो जाते हैं। मनुष्य के शरीर में घुसे हुए बाण के रहते सुख कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता है।।१९/५४१।।

अब, इस पद्य द्वारा निदान के भेद-प्रभेद प्ररूपित हैं—

उपजाति : **प्रशस्तमन्यच्च निदानमुक्तं निदानमुक्तैर्व्रतिनामृषीन्द्रैः।**
विमुक्तिसन्सारनिमित्तभेदाद्द्विधा प्रशस्तं पुनरभ्यधायि।।२०/५४२।।

निदान अप्रशस्त प्रशस्तरूप व्रतिओं के कहते उससे रहित सब।
संसार मुक्ति के हेतु भेद से है द्विधा कहते जो प्रशस्त।।२०/५४२।।

शब्दश: अर्थ : प्रशस्तं=पुण्यरूप अच्छा; अन्यत्=दूसरा/अप्रशस्त/पापरूप बुरा; च=और; निदानं=निदान; उक्तं=कहा है; निदान-मुक्तैः=निदान से रहित; व्रतिनां=व्रतिओं के; ऋषि+ इन्द्रैः=मुनिओं के इंद्र/भगवान द्वारा; विमुक्ति-सन्सार-निमित्त-भेदात्=मोक्ष और संसार के कारण के भेद से; द्विधा=दो प्रकारवाला; प्रशस्तं=पुण्यरूप भला; पुनः=फिर; अभ्यधायि= कहा है।

अन्वय : निदान-मुक्तैः ऋषि-इन्द्रैः व्रतिनां निदानं प्रशस्तं च अन्यत् उक्तं; पुनः प्रशस्तं विमुक्ति -सन्सार-निमित्त-भेदात् द्विधा अभ्यधायि।

वचनिका : निदान-रहित मुनींद्रों द्वारा व्रतिओं का निदान, प्रशस्त और अप्रशस्तरूप में दो प्रकार का कहा गया है। उसमें से भी प्रशस्त निदान, मोक्ष के और संसार के कारण की अपेक्षा दो प्रकार का कहा है।

भावार्थ : निदान के दो भेद हैं—१. प्रशस्त निदान, २. अप्रशस्त निदान। प्रशस्त निदान के भी दो भेद हैं—१. मुक्ति-निमित्तक, २. संसार-निमित्तक; ऐसा जानना।।२०/५४२।।

अब, इस पद्य द्वारा मुक्ति-निमित्तक निदान का स्वरूप बताते हैं—

उपजाति : **कर्मव्यपायं भवदु:खहानिं बोधिं समाधिं जिनबोधसिद्धिम्।**
आकाङ्क्षतः क्षीणकषायवृत्तेर्विमुक्तिहेतुः कथितं निदानम्।।२१/५४३।।

कषाय वृत्ति की मंदता से वश चाह कर्मों का नाश भव-दु:ख।
हो नष्ट बोधि जिन-बोध सिद्धि समाधि मुक्ति हेतु निदान।।२१/४३।।

शब्दश: अर्थ : कर्म-व्यपायं=कर्मों के अभाव को; भव-दु:ख-हानिं=संसार के दु:ख के

नाश को; बोधिं=सम्यक् रत्नत्रय को; समाधिं=समता पूर्वक देह-त्याग को; जिन-बोध-सिद्धिं=जिनेंद्र भगवान के ज्ञान/सर्वज्ञता की सिद्धि को; आकाङ्क्षत:=इच्छा से; क्षीण-कषाय-वृत्ते:=कषाय की मंद-वृत्तिवाले का; विमुक्ति-हेतु:=मोक्ष के लिए; कथितं=कहा है; निदानं=निदान।

अन्वय : क्षीण-कषाय-वृत्ते: कर्म-व्यपायं, भव-दु:ख-हानिं बोधिं समाधिं जिन-बोध-सिद्धिं आकाङ्क्षत: निदानं विमुक्ति-हेतु: कथितम्।

वचनिका : कर्मों के अभाव, संसार के दु:ख की हानि; दर्शन, ज्ञान, तप/चारित्र स्वरूप बोधि; ज्ञान-सहित मरणरूप समाधि, जिनेंद्र भगवान के ज्ञान/केवलज्ञान की सिद्धि को चाहनेवाले, मंद-कषाय की प्रवृत्तिवाले प्राणी का निदान, मुक्ति का कारणभूत निदान कहा है।

भावार्थ : वांक्षा को निदान कहते हैं। इनमें मुक्ति की ही वांक्षा है; क्योंकि मुक्ति के विना कर्मादि का अभाव नहीं होता है; अत: वह निदान, मुक्तिहेतु कहा है—ऐसा जानना।।२१/५४३।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार-निमित्तक प्रशस्त निदान का स्वरूप वर्णित है—

उपजाति : **जातिं कुलं बान्धव-वर्जितत्वं दरिद्रतां वा जिनधर्मसिद्ध्यै।**
प्रयाचमानस्य विशुद्धवृत्ते: सन्सारहेतुर्गदितं जिनेन्द्रै:।।२२/५४४।।

कुल जाति बांधव की हो रहितता जिनधर्म सिद्धि हेतु दरिद्रता।
विशुद्ध वृत्ति वाला है चाहता जिनेंद्र ने भव हेतु इसे कहा।।२२/५४४।।

शब्दश: अर्थ : जातिं=माता पक्ष को; कुलं=पिता पक्ष को; बान्धव-वर्जितत्वं=बंधुओं से रहितपना; दरिद्रतां=निर्धनता को; वा=या; जिन-धर्म-सिद्ध्यै=जिनेंद्र भगवान द्वारा कथित धर्म की सिद्धि के लिए; प्रयाचमानस्य=चाहनेवाला का; विशुद्ध-वृत्ते:=विशुद्ध प्रवृत्तिवाले का; सन्सार-हेतु:=संसार का कारण; गदितं=कहा गया है; जिनेन्द्रै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा।

अन्वय : जिन-धर्म-सिद्ध्यै जातिं कुलं बान्धव-वर्जितत्वं वा दरिद्रतां प्रयाचमानस्य विशुद्ध-वृत्ते: (निदानं) जिनेन्द्रै: सन्सार-हेतु: गदितम्।

वचनिका : जिनधर्म की सिद्धि के लिए जाति को, कुल को, बांधवों की रहितता को या दरिद्रता को चाहनेवाले, निर्मल प्रवृत्तिवाले प्राणी के निदान को जिनेंद्र भगवान ने संसार का कारणभूत प्रशस्त निदान कहा है।

भावार्थ : कोई चाहता है कि जाति और कुल अच्छा मिले; जिसमें जिनधर्म सध जाए। बांधवादि, आकुलता के कारण हैं; इनसे रहित हो जाऊँ; जिससे धर्म सध जाए। धन, पाप का कारण है; अत: मैं धन से रहित हो जाऊँ; जिससे धर्म सध जाए। धर्म के आशय से इत्यादि प्रकार की वांक्षा, कथंचित् भली है; तथापि जाति आदि संसार के विना नहीं होती

हैं; अत: यह संसार हेतु प्रशस्त निदान कहा है।।२२/५४४।।

अब, इस पद्य द्वारा यही सहेतुक पुष्ट करते हैं—

उपजाति : **उत्पत्ति-हीनस्य जनस्य नूनं लाभो न जातिप्रभृते: कदाचित्।**
उत्पत्तिमाहुर्भवमुद्ध-बोधा भवं च सन्सारमनेक-कष्टम्।।२३/५४५।।

निश्चय जनम-विरहित जीव को नहिं हो लाभ जाति आदि का कब ही।
कहते जनम भव परिपूर्ण-ज्ञानी भव तो विविध दुख संसारयुत ही।।२३/५४५।।

शब्दश: अर्थ : उत्पत्ति-हीनस्य=जन्म से रहित का; जनस्य=प्राणी का; नूनं=वास्तव में; लाभ:=उपलब्धि; न=नहीं; जाति-प्रभृते:=जाति आदि का; कदाचित्=कभी; उत्पत्तिं=जन्म को; आहु:=कहा है; भवं=संसार; उद्ध-बोधा:=परिपूर्ण ज्ञानवाले/भगवान ने; भवं=संसार; च=और; सन्सारं=संसार को; अनेक-कष्टं=विविध दु:खोंमय।

अन्वय : नूनं कदाचित् उत्पत्ति-हीनस्य जनस्य जाति-प्रभृते: लाभ: न। उद्ध-बोधा: उत्पत्तिं भवं आहु: च भवं अनेक-कष्टं सन्सारम्।

वचनिका : उत्पत्ति से रहित जीव को वास्तव में जाति आदि का लाभ कभी नहीं होता है। उद्धत-ज्ञानवाले ज्ञानी पुरुषों ने उत्पत्ति को भव कहा है और भव तो अनेक दु:खरूप संसार ही है।

भावार्थ : जाति आदि संसार के विना नहीं होते हैं; अत: आत्मा को उनकी चाह से, संसार की ही चाह है—ऐसा जानना।।२३/५४५।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: वही दृढ करते हैं—

उपजाति : **सन्सारलाभो विदधाति दु:खं शरीरिणां मानसमाङ्गिकं च।**
यतस्तत: सन्सृतिदु:खभीतैस्त्रिधा निदानं न तदर्थमिष्टम्।।२४/५४६।।

नित प्राणिओं को संसार-प्राप्ति मानस व शारीरिक दु:ख देती।
संसार दुख से भय-भीत जो भी निदान त्रयधा उससे करें नहिं।।२४/५४६।

शब्दश: अर्थ : सन्सार-लाभ:=संसार की प्राप्ति; विदधाति=देती है; दु:खं=कष्ट को; शरीरिणां =प्राणिओं के; मानसं=मानसिक; आङ्गिकं=शारीरिक; च=और; यत:=क्योंकि; तत:=उससे; सन्सृति-दु:ख-भीतै:=संसार के दु:खों से भय-भीत द्वारा; त्रिधा=तीन प्रकार से; निदानं=निदान; न=नहीं; तत्-अर्थं=उसके लिए; इष्टं=स्वीकार।

अन्वय : यत: शरीरिणां सन्सार-लाभ: मानसं च आङ्गिकं दु:खं विदधाति; तत: सन्सृति-दु:ख-भीतै: तत्-अर्थं त्रिधा निदानं इष्टं न।

वचनिका : क्योंकि संसार का लाभ, जीवों को शरीर संबंधी और मन संबंधी दु:ख करता है; अत: संसार के दु:खों से भय-भीत प्राणिओं द्वारा संसार के लिए निदान; मन, वचन, काय से इच्छा, करने-योग्य नहीं है—ऐसा जानना।।२४/५४६।।

अब, इस पद्य द्वारा अप्रशस्त ध्यान का स्वरूप प्ररूपित है—

उपजाति : **भोगाय मानाय निदानमीशैर्यदप्रशस्तं द्विविधं तदिष्टम्।**
विमुक्ति-लाभ-प्रतिबन्ध-हेतो: सन्सार-कान्तार-निपात-कारि।।२५/५४७।।

अशुभ निदान भगवान कहते द्विधा हैं हेतु भोग मान के वे।
प्रतिबंध-कारक शिव-प्राप्ति के वे भव-वन पतन-कारक हैं सदा वे।।२५/५४७।।

शब्दश: अर्थ : भोगाय=भोग के लिए; मानाय=मान के लिए; निदानं=निदान; ईशै:=भगवान द्वारा; यत्=जो; अप्रशस्त=अशुभ/बुरा; द्विविधं=दो प्रकार; तत्=वह; इष्टं=मान्य; विमुक्ति-लाभ-प्रतिबन्ध-हेतो:=मोक्ष की प्राप्ति को रोकनेवाले कारण होने से; सन्सार-कान्तार-निपात-कारि=संसाररूपी जंगल में गिराने को करनेवाले।

अन्वय : ईशै: विमुक्ति-लाभ-प्रतिबन्ध-हेतो: सन्सार-कान्तार-निपात-कारि यत् अप्रशस्तं निदानं तत् भोगाय मानाय द्विविधं इष्टम्।

वचनिका : आचार्यों ने अप्रशस्त अर्थात् खोटे निदान को; भोग के लिए और मान के लिए—इस रूप में दो प्रकार का इष्ट किया है। वह अप्रशस्त निदान कैसा है? मुक्ति के लाभ को रोकने में कारणभूत संसाररूपी वन में गिरानेवाला है—ऐसा है।

भावार्थ : पंचेंद्रियों के विषयों की अभिलाषा, भोगार्थ निदान है और अपनी महंतता के लिए वांक्षा, मानार्थ निदान है। ये खोटे निदान, संसार के कारण हैं—ऐसा जानना।।२५/५४७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण विषय-भोग का फल निरूपित है—

उपजाति : **ये सन्ति दोषा भुवनान्तराले तानङ्गभाजां वितनोति भोग:।**
के तेऽपराधा जननिन्दनीया न दुर्जनो यान् रभसा करोति।।२६/५४८।।

हैं लोक में जितने दोष सब ही विस्तृत करें भोग शरीरधारी।
हैं कौन निंदित अपराध पृथ्वी पर नहिं करे दुर्जन जबरदस्ती।।२६/५४८।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; सन्ति=हैं; दोषा:=अपराध; भुवन+अन्तराले=लोक में; तान्=उन्हें; अङ्ग-भाजां=देह-धारिओं को; वितनोति=विस्तृत करता है; भोग:=भोग; के=कौन; ते=वे; अपराधा:=दोष; जन-निन्दनीया:=प्राणिओं द्वारा निंदित; न=नहीं; दुर्जन:=दुष्ट मनुष्य; यान् =जिन्हें; रभसा=जबरदस्ती; करोति=करता है।

अन्वय : भुवन-अन्तराले ये दोषा: सन्ति, भोग: तान् अङ्ग-भाजां वितनोति; जन-निन्दनीया: अपराधा: के ते? यान् दुर्जन: रभसा न करोति।

वचनिका : लोक में जितने जो दोष हैं; उन्हें विषय-भोग, जीवों को विस्तृत करते हैं। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—मनुष्यों में निंदनीय वे कौन-से अपराध हैं; जिन्हें दुष्ट-जन जबरदस्ती नहीं करते हैं? सभी करते हैं।२६/५४८।।

अब, इस पद्य द्वारा भोगों की अति दु:ख-करता प्ररूपित है—

उपजाति : **ये पीडयन्ते परिचर्यमाणा: ये मारयन्ते बत पोष्यमाणा:।**
ते कस्य सौख्याय भवन्ति भोगा जनस्य रोगा इव दुर्निवारा:।।२७/५४९।।

सेवन किए जो अति कष्ट देते पोषण किए जो हा! मारते हैं।
अनिवार रोगों-वत् भोग होते किस जीव को वे सुख के लिए हैं?।।२७/५४९।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; पीडयन्ते=पीड़ित करते हैं; परिचर्यमाणा:=सेवन किए गए; ये=जो; मारयन्ते=मारते हैं; बत=हाय!; पोष्यमाणा:=पुष्ट किए गए; ते=वे; कस्य=किसका; सौख्याय=सुख के लिए; भवन्ति=होते हैं; भोगा:=भोग; जनस्य=प्राणी का; रोगा:=रोग; इव=समान; दुर्निवारा:=महा कष्ट से नष्ट होनेवाले।

अन्वय : बत! परिचर्यमाणा: ये पीडयन्ते पोष्यमाणा: ये मारयन्ते, दुर्निवारा: रोगा: इव ते भोगा: कस्य जनस्य सौख्याय भवन्ति।

वचनिका : आचार्य कहते हैं कि बड़े खेद की बात है कि जो भोग आचरण किए गए, सेवन किए गए पीड़ा उत्पन्न करते हैं; पुष्ट किए गए जो मारते हैं; रोगों के समान दुर्निवार वे भोग, किस प्राणी को सुख के लिए होते हैं? अपितु नहीं होते हैं—ऐसा जानना।।२७/५४९।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक भोगों की असेवनीयता वर्णित है—

उपजाति : **विनश्वरात्मा गुरुपङ्ककारी मेघो जलानीव विवर्धमान:।**
ददाति यो दु:खशतानि कृष्ण: स कस्य भोगो विदुषो निषेव्य:?।।२८/५५०।।

क्षणिक महा कीचड़ करे वृद्धि जल मेघ-वत् देते बहुत दुख ही।
हैं नित मलिन जो बहु बंध-कारी किस विज्ञ को सेवन-योग्य भोग हि?।।२८/५५०।

शब्दश: अर्थ : विनश्वर+आत्मा=विनाश-शील; गुरु-पङ्क-कारी=अत्यधिक कीचड़ करनेवाला; मेघ:=बादल; जलानि=पानी; इव=समान; विवर्धमान:=बड़ा हुआ; ददाति=देता है; य:=जो; दु:ख-शतानि=सैकड़ों दु:ख; कृष्ण:=काले/मलिन; स:=वह; कस्य=किसका; भोग:=भोग; विदुषा=विद्वान द्वारा; निषेव्य:=सेवन करने-योग्य।

अन्वय : य: विनश्वर-आत्मा गुरु-पङ्क-कारी कृष्ण: विवर्धमान: मेघ: जलानि इव दु:ख-शतानि ददाति, कस्य स: भोग: विदुषा निषेव्य:?

वचनिका : किस विषय का वह भोग, पंडितजनों द्वारा सेवन करने-योग्य है? अपितु नहीं है। वह विषय-भोग कैसा है? जैसे—बड़ा हुआ मेघ, जल को देता है; उसीप्रकार यह सैकड़ों दु:खों को देता है। जैसे—मेघ, विनाश-शील हैं; उसीप्रकार भोग भी विनाश-शील है। जैसे—मेघ, महा कीचड़ करता है और काला है; उसीप्रकार भोग भी महा बंध-कारक है और मलिन है—ऐसा जानना।।२८/५५०।।

अब, सोदाहरण, काम/विषय-वासना की भयंकरता को स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **यो बाधते शक्रममेयशक्तिं स कस्य बाधां कुरुते न काम:?।**
य: प्लोषते पर्वतवर्गमग्नि: स मुञ्चते किं तृण-काष्ठ-राशिम्।।२९/५५१।।

असीम शक्तिमय शक्र को जो पीड़े न पीड़े वह काम किसको?
जो आग दहती बहु पर्वतों को छोड़े कहाँ काष्ठ समूह तृण को।।२९/५५१।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; बाधते=कष्ट देता है; शक्रं=इंद्र को; अमेय-शक्तिं=असीम शक्तिवाले; स:=वह; कस्य=किसका; बाधां=कष्ट को; कुरुते=करता है; न=नहीं; काम:=विषय-वासना; य:=जो; प्लोषते=जला देती है; पर्वत-वर्गं=पर्वतों के समूह को; अग्नि:=आग; स:=वह; मुञ्चते=छोड़ती है; किं:=क्या; तृण-काष्ठ-राशिं=घास और काष्ठ की राशि को।

अन्वय : य: काम: अमेय-शक्तिं शक्रं बाधते स: कस्य बाधां न कुरुते? य: अग्निं पर्वत-वर्गं प्लोषते स: तृण-काष्ठ-राशिं किं मुञ्चते?

वचनिका : जो काम, अप्रमाण शक्तिवाले इंद्र को भी पीड़ित करता है; वह काम, किसे बाधा नहीं करेगा? सभी को करता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—जो अग्नि, पर्वतों के समूह को जला देती है; वह अग्नि, क्या तृण, काष्ठ के समूह को छोड़ती है? अपितु नहीं छोड़ती है—ऐसा जानना।।२९/५५१।।

अब, इस पद्य द्वारा भोगों के निदान की व्यर्थता को सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **समीरणाशीव विभीमरूप: कोपस्वभाव: पररन्ध्रवर्ती।**
अनात्मनीनं परिहर्तुकामैर्न याचनीय: कुटिल: स भोग:।।३०/५५२।।

हैं सर्प-सम भय-कारी स्वभाव क्रोधी प्रवर्ते पर-द्रव्य में वह।
अपने को दुख से परिमुक्त-इच्छुक वे नहीं चाहें सब कुटिल भोग।।३०/५५२।।

शब्दश: अर्थ : समीरण+आशी:=वायु के भोजनवाला/सर्प; इव=समान; विभीम-रूप:=

भयानक रूपवाला; कोप-स्वभाव:=क्रोध के स्वभाववाला; पररन्ध्रवर्ती=अन्य के बिलों में रहनेवाला, पर-द्रव्य में प्रवृत्ति करनेवाला; अन्-आत्मनीनं=अपने लिए अहितकर दु:ख को; परिहर्तु-कामै:=छोड़ने की इच्छावाले के द्वारा; न=नहीं; याचनीय:=माँगने-योग्य; कुटिल:= मायाचार-युक्त; स:=वह; भोग:=भोग।

अन्वय : अनात्मनीनं परिहर्तु-कामै: समीरण-आशी: इव विभीमरूप: कोप-स्वभाव: पर-रन्ध्रवर्ती कुटिल: स: भोग: याचनीय: न।

वचनिका : अपने लिए अहितरूप दु:ख को त्यागने की इच्छावाले प्राणी द्वारा वह विषय-भोग, माँगना योग्य नहीं है। वह भोग, कैसा है? वह सर्प के समान भयानक रूपवाला है। कैसा है सर्प? वह क्रोधरूप स्वभाववाला है; यह भोग भी क्रोध के अभिप्राय-संपन्न है। सर्प, अन्य के बिलों में रहता है; उसीप्रकार भोग भी स्त्री आदि अन्य द्रव्य में प्रवृत्ति करता है। सर्प, कुटिल है; उसीप्रकार भोग भी मायाचार-सहित है—ऐसा जानना।

इसप्रकार भोगों को निंद्य जानकर उनके लिए निदान करना, योग्य नहीं है।।३०/५५२।।

अब, इस पद्य द्वारा मान का फल बताते हैं—

उपजाति : **देवं गुरुं धार्मिकमर्चनीयं मानाकुलात्मा परिभूय भूय:।**
पाथेयमादाय कुकर्मजालं नीचां गतिं गच्छति नीचकर्मा।।३१/५५३।।

मानाकुलित नीच कुकर्मि जीव धार्मिक सुपूज्य गुरुदेव का कर।
अपमान बहुधा दुष्कर्म जाल पाथेय ले जाता गति नीच।।३१/५५३।।

शब्दश: अर्थ : देवं=देव को; गुरुं=गुरु को; धार्मिकं=धर्मात्मा को; अर्चनीयं=पूजनीय को; मान+आकुल+आत्मा=घमंड से व्याकुल स्वरूपवाला; परिभूय=अपमानितकर; भूय:= बारंबार; पाथेयं=नाश्ता को; आदाय=लेकर; कुकर्म-जालं=खोटे कर्मों के समूह को; नीचां =नीच; गतिं=गति को; गच्छति=जाता है; नीच-कर्मा=नीच कर्मवाला।

अन्वय : नीच-कर्मा मान-आकुल-आत्मा भूय: देवं गुरुं धार्मिकं अर्चनीयं परिभूय कुकर्म-जालं पाथेयं आदाय नीचां गतिं गच्छति।

वचनिका : मान से आकुल स्वरूपवाला, नीच-कर्म-युक्त जीव; देव, गुरु, धर्मात्मा, पूजनीय का बारंबार तिरस्कार, अपमानकर पाप-कर्म के समूहरूप बटसारी/नाश्ता को ग्रहण कर नीच गति को जाता है।

भावार्थ : मानी जीव, गुरु का भी अविनय करता है और पाप-कर्म बाँधकर तिर्यंचादि गति को प्राप्त होता है—ऐसा जानना।।३१/५५३।।

मान से यह कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर अब, इन दो पद्यों द्वारा देते हैं—

पंच चामर : **वामन: पामन: कोपनो वञ्चन: कर्कशो रोमश: सिघ्मल: कश्मल:।**
कोलिको मालिक: शालिकश्छिम्पक: किङ्करो लुब्धको मुग्धक: कुष्ठिक:।।३२/५५४।।
चित्रक: कौशिको मूषितो जाहको वञ्जुलो मञ्जुल: पिप्पल: पन्नग:।
कुक्कुरस्तित्तिरो रासभो वायस: कुक्कुटो मर्कटो मानतो जायते।।३३/५५५।।

बौना पामन क्रोधमय कपट युत कर्कशी रोमयुत भूरा रंग पापयुत।
कोली बागवान शिलावट छीपयुत सेवक लोभमय मूर्ख हो कुष्ठ-युत।।३२/५५४।।
चीता उल्लु हो मूषक जाहक वंजुल मंजुल पिपीलिका हो सरप।
श्वान तीतर गधा काग हो कुक्कुट वानर आदि हो मान से नीच सब।।३३/५५५।।

शब्दश: अर्थ : वामन:=बौना/ठिगना; पामन=गमर/खाज-रोगी; कोपन:=क्रोधी; वञ्चन:= ठगिआ; कर्कश:=कठोर; रोमश:=बड़े-बड़े और बहुत रोमवाला; सिघ्मल:=भूरे रंगवाला; कश्मल:=पापी; कोलिक:=कोली; मालिक:=माली; शालिक:=शिलावट; छिम्पक:=छींपा; किङ्कर:=नौकर; लुब्धक:=लोभी/कंजूस; मुग्धक:=मूर्ख; कुष्ठिक:=कोढी।

चित्रक:=चीता; कौशिक:=उल्लू; मूषित:=मूसा; जाहक:=जाहक/कीट-विशेष; वञ्जुल:=वंजुल/बैंत/पक्षी-विशेष; मञ्जुल:=मंजुल/जल-कुक्कुट; पिप्पल:=चूचुक/पीपल का पेड़; पन्नग:=सर्प; कुक्कुर:=कुत्ता; तित्तिर:=तीतर; रासभ:=गधा; वायस:=कौआ; कुक्कुट:=मुर्गा; मर्कट:=बंदर; मानत:=मान से; जायते=उत्पन्न होता है।

अन्वय : दोनों पद्य अन्वय शैली में ही हैं।

वचनिका : मान से जीव जो नीच पर्यायें पाता है; उन्हें कहते हैं—वामन, गमर/खाज-रोगी, क्रोधी, ठगिआ, कठोर, बड़े रोम का धारक रोमश, भूरे रंगवाला सिघ्मल, पापी, कोली, माली, शिलावट, छींपा, चाकर, पराधीन, लोभी, मूढ, कुष्ठी होता है।

चीता, घूघू/उल्लू, मूसा, जाहक, वंजुल, मंजुल, पिप्पल/चूचुक/कोई नीच तिर्यंचविशेष, सर्प, कुत्ता, तीतर, गधा, कौआ, मुर्गा, बंदर इत्यादि नीच मनुष्य, तिर्यंच पर्यायें, जीव मान से प्राप्त करता है; अत: मान-त्यागना, योग्य है—यह तात्पर्य है।।३२-३३/५५४-५५५।।

अब, इस पद्य द्वारा मान के दुष्परिणाम बताते हैं—

उपजाति : **लक्ष्मीक्षमाकीर्तिकृपासपर्या निहत्य सत्या जनपूजनीया:।**
निषेव्यमाणो रभसेन मान: श्वभ्रालये निक्षिपतीति घोरे।।३४/५५६।।

सेवित किया मद जग पूज्य लक्ष्मी करुणा क्षमा पूजा कीर्ति आदि।

कर नष्ट फेके नित जबरदस्ती अति घोर दुख-दायक नरक में ही।।३४/५५६।।

शब्दश: अर्थ : लक्ष्मी-क्षमा-कीर्ति-कृपा-सपर्या:=वैभव, सहन-शीलता, यश, दया, पूजा; निहत्य=नष्टकर; सत्या:=यथार्थ; जन-पूजनीया:=प्राणिओं द्वारा पूज्य; निषेव्यमाण:=सेवन किया गया; रभसेन=जबरदस्ती; मान:=घमंड; श्वभ्र+आलये=नरकरूपी घर में; निक्षिपति=डाल देता है; इति=इसप्रकार; घोरे=घोर/भयंकर।

अन्वय : इति निषेव्यमाण: मान: सत्या: जन-पूजनीया: लक्ष्मी-क्षमा-कीर्ति-कृपा-सपर्या: निहत्य रभसेन घोरे श्वभ्र-आलये निक्षिपति।

वचनिका : सेवन किया गया मान, सत्यार्थरूप और प्राणिओं द्वारा पूज्य लक्ष्मी, क्षमा, कीर्ति, दया, पूजा को नष्टकर बलात्/जबरदस्ती घोर नरक-वास में पटक देता है।।३४/५५६।।

अब, इस पद्य द्वारा सद्गुणों की दुर्लभता वर्णित है—

उपजाति : **अनन्तकालं समवाप्य नीचां यद्येकदा याति जनोऽयमुच्चाम्।**
तथाप्यनन्ता बत याति जातीरुच्चो गुण: कोऽपि न चात्र तस्य।।३५/५५७।।

अनंत कालों तक नीच जाति पाने के बाद पाता उच्च जाति।

यों पा अनंतों भी उच्च जाति पर उच्च गुण उसके नहीं कोई।।३५/५५७।।

शब्दश: अर्थ : अनन्त-कालं=अनंत काल पर्यंत; सम-अवाप्य=प्राप्तकर; नीचां=नीच जाति को; यदि=यदि; एकदा=एक बार; याति=जाता है; जन:=प्राणी; अयं=यह; उच्चां=उच्च जाति को; तथापि=तब भी; अनन्ता:=अनंतों बार; बत=हाय!; याति=प्राप्त हुई; जाती:=जाति; उच्च:=ऊँचा/श्रेष्ठ; गुण:=गुण; क:=कोई; अपि=भी; न=नहीं; च=और; अत्र=यहाँ; तस्य=उसका।

अन्वय : यदि अनन्त-कालं नीचां समवाप्य एकदा अयं जन: उच्चां याति; बत! तथापि अनन्ता: (उच्च) जाती: याति, अत्र तस्य क: अपि उच्च: गुण: न।

वचनिका : यह जीव, अनंत काल पर्यंत नीच जाति को पाने के बाद एक बार उच्च जाति को प्राप्त होता है। आचार्य कहते हैं कि बड़े खेद की बात है कि तो भी जीव अनंत बार उच्च जातिओं को प्राप्त हो जाता है; परंतु यहाँ उस जीव के कोई भी उच्च गुण दिखाई नहीं देता है।

भावार्थ : जीव, अनंत काल से तो निगोद आदि नीच पर्यायों में रहता आ रहा है; कभी क्षत्रिय आदि उच्च कुल में उत्पन्न होता है। इस पर भी वहाँ अनंत बार जन्म हो गया है; तथापि संसार में उच्च गुण, कुछ भी दिखाई नहीं देता है; अत: मान करना, वृथा है—ऐसा जानना।।३५/३५७।।

अब, इस पद्य द्वारा मान कषाय की व्यर्थता सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **उच्चासु नीचासु च हन्त जन्तोर्लब्धासु नो योनिषु वृद्धि-हानी।**
उच्चो व नीचोऽहमपास्तबुद्धिः स मन्यते मानपिशाचवश्यः।।३६/५५८।।

पाई हुई उच्च व नीच योनी हा! नहीं है जीव की वृद्धि-हानि।
मैं उच्च नीचा हूँ मान तो भी मद-भूत के वश हो अस्त बुद्धि।।३६/५५८।।

शब्दशः अर्थ : उच्चासु=उच्च; नीचासु=नीच; च=और; हन्त=हाय; जन्तोः=प्राणी का; लब्धासु=प्राप्त होने पर; वृद्धि-हानी=अधिकता, कमी; उच्चः=उच्च; व=या; नीचः=नीच; अहं=मैं; अपास्त-बुद्धिः=अज्ञानी; सः=वह; मन्यते=मानता है; मान-पिशाच-वश्यः=मान रूपी पिशाच के वश हुआ।

अन्वय : (यद्यपि) उच्चासु च नीचासु योनिषु लब्धासु जन्तोः वृद्धि-हानी नो; तथापि हन्त! मान-पिशाच-वश्यः सः अपास्त-बुद्धिः अहं उच्चः व अहं नीचः (इति) मन्यते।

वचनिका : यद्यपि उच्च जातिओं को या नीच जातिओं को पाए हुए जीव की वृद्धि-हानि नहीं होती है; तथापि मानरूपी पिशाच के वशीभूत वह अज्ञानी जीव, 'मैं ऊँचा हूँ, मैं नीचा हूँ'—ऐसा मानता है; यह बड़े खेद की बात है।।३६/५५८।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा उच्चता और नीचता का स्वरूप वर्णित है—

उपजाति : **उच्चोऽपि नीचं स्वमवेक्षमाणो नीचस्य दुःखं न किमेति घोरम्।**
नीचोऽपि पश्यति यः स्वयमुच्चं स सौख्यमुच्चस्य न किं प्रयाति।।३७/५५९।।
उच्चत्वनीचत्वविकल्प एष विकल्प्यमानः सुख-दुःख-कारी।
उच्चत्वनीचत्वमयी न योनिर्ददाति दुःखानि सुखानि जातु।।३८/५६०।।

हो उच्च भी नीच स्वयं को देखे क्या घोर दुख नीच का नहीं भोगे?
हो नीच भी उच्च स्वयं को देखे क्या उच्च का सुख वह नहीं भोगे?।।३७/५५९।।
उच्चत्व नीचत्व विकल्प है ही विकल्प होता सुख-दुःख-कारी।
नहिं उच्च-नीचत्वमई है योनी थोड़ा भी सुख-दुख नहिं दे कदापि।।३८/५६०।।

शब्दशः अर्थ : उच्चः=ऊँचा; अपि=भी; नीचं=नीच; स्वं=अपने को; अवेक्षमाणः=देखता हुआ; नीचस्य=नीच का; दुःखं=कष्ट; न=नहीं; किं=क्या; एति=प्राप्त होता है; घोरं=तीव्र; नीचः=नीच; अपि=भी; पश्यति=देखता है; यः=जो; स्वयं=अपने को; उच्चं=ऊँचा; सः= वह; सौख्यं=सुख को; उच्चस्य=उच्च का; न=नहीं; किं=क्या; प्रयाति=प्राप्त करता है।

उच्चत्व-नीचत्व-विकल्पः=उच्चता और नीचता का विकल्प; एषः=यह; विकल्प्यमानः= विचार किया गया; सुख-दुःख-कारी=सुख और दुःख को करनेवाला; उच्चत्व-नीचत्व-

मयी=उच्चता और नीचतामई; न=नहीं; योनिः=जाति; ददाति=देता है; दुःखानि=दुःखों को; सुखानि=सुखों को; जातु=रंच-मात्र भी/कभी भी।

अन्वय : स्वं नीचं अवेक्षमाणः उच्चः अपि किं नीचस्य घोरं दुःखं न एति? यः नीचः अपि स्वयं उच्चं पश्यति सः किं उच्चस्य सौख्यं न प्रयाति? एषः उच्चत्व-नीचत्व-विकल्पः विकल्प्यमानः सुख-दुःख-कारी, उच्चत्व-नीचत्वमयी योनिः जातु सुखानि दुःखानि न ददाति।

वचनिका : जो ऊँचा है, वह भी स्वयं को नीचा देखता हुआ क्या नीच के घोर दुःख को प्राप्त नहीं होता है? होता ही है। जो नीच है, वह भी स्वयं को ऊँचा देखता हुआ क्या उच्च पुरुष के सुख को नहीं पाता है? पाता ही है। यह ऊँचपना और नीचपनारूप विकल्प, विचार किए गए सुख-कारी और दुःख-कारी होते हैं। वास्तव में उच्चता और नीचतामय जाति, सुख और दुःख को रंच-मात्र भी नहीं देती है।

भावार्थ : कोई पुरुष, दूसरों से स्वयं बड़ा है; परंतु अपने से बड़ों को देखकर स्वयं को दुःखी मानता है। कोई अन्य पुरुष, दूसरों से छोटा है; परंतु अपने से छोटों को देखकर, स्वयं को बड़ा मानकर सुख भोगता है। इससे सिद्ध है कि वास्तव में मोही जीव की मिथ्या मान्यता में सुख-दुःख है; बाह्य जाति आदि कुछ सुख-दुःख की कारण नहीं हैं—ऐसा जानकर जाति आदि का गर्व नहीं करना, यह यहाँ प्रयोजन जानना।।३७-३८/५५९-५६०।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण निदान करने के दुष्परिणाम बताते हैं—

उपजाति : **हिनस्ति धर्मं लभते न सौख्यं कुबुद्धिरुच्चत्वनिदानकारी।**
उपैति कष्टं सिकतानिपीडी फलं न किञ्चिज्जननिन्दनीयः।।३९/५६१।।

कुबुद्धि उच्चत्व-निदान-कारक घाते परम धर्म न पाए सौख्य।
बालू का पेलक पाता है कष्ट हो निंदनीय पाता न कुछ फल।।३९/५६१।।

शब्दशः अर्थ : हिनस्ति=नष्ट करता है; धर्मं=धर्म को; लभते=प्राप्त करता है; न=नहीं; सौख्यं=सुख को; कुबुद्धिः=खोटी बुद्धिवाला; उच्चत्व-निदान-कारी=उच्चता का निदान करनेवाला; उपैति=पाता है; कष्टं=कष्ट को; सिकता-निपीडी=बालू को पेलनेवाला; फलं=फल को; न=नहीं; किञ्चित्=कुछ; जन-निन्दनीयः=प्राणिओं द्वारा निंदा के योग्य।

अन्वय : उच्चत्व-निदान-कारी कुबुद्धिः धर्मं हिनस्ति सौख्यं न लभते; जन-निन्दनीयः सिकता-निपीडी कष्टं उपैति किञ्चित् फलं न उपैति।

वचनिका : उच्चता का निदान करनेवाला कुबुद्धि प्राणी, धर्म का नाश करता है, सुख को नहीं पाता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं। जैसे—लोक में निंदनीय, बालू को पेलनेवाला व्यक्ति, कष्ट को प्राप्त करता है, कुछ फल को प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ : निदान करने से सुख नहीं मिलता है; क्योंकि सुख तो पुण्योदय के अधीन है और पुण्य के आशय से पुण्य नहीं होता है; अत: जिसप्रकार बालू को पेलने से तेल तो नहीं निकलता है, उल्टा कष्ट ही होता है; उसीप्रकार यह निदान भी जानना।।३९/५६१।।

अब, इस पद्य द्वारा मान से होनेवाली हानिआँ सोदाहरण निरूपित हैं—

उपजाति : **यशान्सि नश्यन्ति समान-वृत्तेर्गदातुरस्येव सुखानि सद्य:।**

विवर्धते तस्य जनापवादो विषाकुलस्येव मनो विमोह:।।४०/५६२।।

बहु रोग पीड़ित-वत् मान-युत के यश सौख्य जल्दी ही नष्ट होते।

मनो विमोह विष आकुली के सम लोक अपवाद बड़े उसी के।।४०/५६२।।

शब्दश: अर्थ : यशान्सि=यश; नश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं; स-मान-वृत्ते:=मान कषाय से सहित वृत्तिवाले का; गद+आतुरस्य=रोग से व्याकुल का; इव=समान; सुखानि=सुख; सद्य:= शीघ्र; विवर्धते=बड़ता है; तस्य=उसका; जन+अपवाद:=प्राणिओं में अपवाद; विष+ आकुलस्य=विष से व्याकुल का; इव=समान; मन:-विमोह:=मन का अचेतनपना।

अन्वय : गद-आतुरस्य इव स-मान-वृत्ते: सद्य: सुखानि यशान्सि नश्यन्ति, विष-आकुलस्य मन:-विमोह: इव तस्य जन-अपवाद: विवर्धते।

वचनिका : जैसे—रोग से पीड़ित प्राणी के सुख, शीघ्र नष्ट हो जाते हैं; उसीप्रकार मान-सहित प्रवृत्तिवाले प्राणी के यश, शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। जैसे—विष से आकुल चित्तवाले के मन में अचेतनपना बड़ता है; उसीप्रकार उसका लोकापवाद बड़ता है—ऐसा जानना।।४०/५६२।।

अब, इस पद्य द्वारा मान के दुष्परिणाम बताते हैं—

उपजाति : **हुताशनेनेव तुषारराशिर्विनश्यतेऽलं विनयो मदेन।**

नैवानुरागं विनयेन हीनो लोके शमेनैव चरित्रमेति।।४१/५६३।।

तुषार-राशि अग्नि से नष्ट मद से विनय होती त्यों विनष्ट।

अनुराग पाता नहिं विनय के विन शम से ही आता जग में चरित्र।।४१/५६३।।

शब्दश: अर्थ : हुत+अशनेन=हुत भोजनवाली अग्नि के द्वारा; इव=समान; तुषार-राशि:= तुषार का समूह; विनश्यते=नष्ट हो जाता है; अलं=बस; विनय:=विनय/कोमलता; मदेन= घमंड से; न=नहीं; एव=ही; अनुरागं=प्रीति; विनयेन=विनय से; हीन:=रहित; लोके=लोक में; शमेन=शम भाव से; एव=ही; चरित्रं=चारित्र; एति=आता है।

अन्वय : हुत-अशनेन तुषार-राशि: इव अलं मदेन विनय: विनश्यते, लोके विनयेन हीन: अनुरागं न एव, शमेन एव चरित्रं एति।

वचनिका : जैसे—अग्नि से तुषार की राशि, विनाश को प्राप्त हो जाती है; उसीप्रकार मान से विनय, नाश को प्राप्त हो जाता है। विनय से हीन प्राणी, लोक में प्रीति-भाव को प्राप्त नहीं होता है; शम-भाव से ही चारित्र को पाता है—ऐसा जानना।।४१/५६३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण गर्व-सहित के गुण-रहितपना स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **पूता गुणा गर्ववत: समस्ता भवन्ति वन्ध्या यमसंयमाद्या:।**
प्ररोप्यमाणा विधिना विचित्रा: किमूषरे भूमिरुहा: फलन्ति।।४२/५६४।।

मद-युक्त के पावन गुण समस्त यम संयमादि परिणाम विरहित।
विधि पूर्वक रोपित वृक्ष ऊषर भू में नहीं फलते हैं विचित्र।।४२/५६४।।

शब्दश: अर्थ : पूता:=पवित्र; गुणा:=गुण; गर्व-वत:=घमंड-युक्त का; समस्ता:=सभी; भवन्ति=होते हैं; वन्ध्या:=फल-रहित; यम-संयम-आद्या:=यम, संयम आदि प्रमुख; प्ररोप्यमाणा:=रोपित किए गए; विधिना=विधि पूर्वक; विचित्रा:=अनेक प्रकारवाले; किं=क्या; ऊषरे=ऊषर/बंजर-भूमि में; भूमिरुहा:=वृक्ष; फलन्ति=फलते हैं।

अन्वय : गर्व-वत: यम-संयम-आद्या: समस्ता: पूता: गुणा: वन्ध्या: भवन्ति, ऊषरे विधिना प्ररोप्यमाणा: विचित्रा: भूमिरुहा: किं फलन्ति?

वचनिका : गर्व-सहित पुरुष के काल की मर्यादारूप नियम-मय यम, इंद्रिय-विषय और हिंसा के त्यागरूप संयम इत्यादि पवित्र गुण, स्वर्गादि फल-रहित होते हैं। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—ऊषर भूमि में विधि-सहित लगाए गए नाना प्रकार के वृक्ष, क्या फलते हैं? अपितु नहीं फलते हैं।।४२/५६४।।

अब, इस पद्य द्वारा मान हेतु निदान का निषेध करते हैं—

उपजाति : **न जातु मानेन निदानमित्थं करोति दोषं परिचिन्त्य चित्रम्।**
प्राणापहारं न विलोकमानो विषेण तृप्तिं वितनोति कोऽपि।।४३/५६५।।

यों विविध दोषों को सोच रंच करता नहीं है मद से निदान।
कोई भी देखे प्राणों का नाश विष से बड़ाएगा तृप्ति तब फिर?।।४३/५६५।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; जातु=रंच-मात्र भी; मानेन=घमंड से; निदानं=निदान को; इत्थं=इस प्रकार; करोति=करता है; दोषं=दोष को; परिचिन्त्य=सोचकर; चित्रं=अनेक प्रकार-युक्त; प्राण-अपहारं=प्राणों के विनाश को; न=नहीं; विलोकमान:=देखते हुए; विषेण=विष से; तृप्तिं=संतुष्टि को; वितनोति=विस्तृत करता है; क:=कौन; अपि=भी।

अन्वय : इत्थं चित्रं दोषं परिचिन्त्य मानेन जातु निदानं न करोति; प्राण-अपहारं विलोकमान: क: अपि विषेण तृप्तिं न वितनोति।

वचनिका : इसप्रकार से मान के नाना प्रकार-युक्त दोषों का विचारकर मान-सहित निदान को रंच-मात्र भी नहीं करता है। प्राण के नाश को देखता हुआ कोई भी व्यक्ति, विष से तृप्ति का विस्तार नहीं करता है।।४३/५६५।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण निदान करने को मूर्खता सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **यो घातकत्वादिनिदानमज्ञः करोति कृत्वाचरणं विचित्रम्।**
हि वर्धयित्वा फलदानदक्षं स नन्दनं भस्मयते वराकः।।४४/५६६।।

जो कर विविध चारित्र घातकत्व आदि को करता मूरख निदान।
नित वह बड़ाकर फल-दान-दक्ष नंदन जलाता होकर वराक।।४४/५६६।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; घातकत्व+आदि-निदानं=घातकता आदि के निदान को; अज्ञः=मूर्ख; करोति=करता है; कृत्वा=करके; चरणं=चारित्र को; विचित्रं=अनेक प्रकार-युक्त; हि=वास्तव में; वर्धयित्वा=बड़ाकर; फल-दान-दक्षं=फल-देने में प्रवीण; सः=वह; नन्दनं=नंदन वन को; भस्मयते=जलाता है; वराकः=अविचारी।

अन्वय : विचित्रं चरणं कृत्वा यः अज्ञः घातकत्व-आदि-निदानं करोति; हि सः वराकः फल-दान-दक्षं नन्दनं वर्धयित्वा भस्मयते।

वचनिका : अनेक प्रकार के चारित्र करके जो अज्ञानी, घातकपना आदि का निदान करता है; वह निर्विचारी प्राणी, फल-देने में प्रवीण नंदन वन को बड़ाकर भस्म करता है।

भावार्थ : जो चारित्र-धारी, द्वीपायन के समान मारने आदि का निदान करता है; वह चारित्र का नाशकर अनंत संसारी होता है—ऐसा जानना।।४४/५६६।।

अब, इस पद्य द्वारा संयम धारणकर भोगों की कांक्षा करनेरूप मूर्खता को सोदाहरण बताते हैं—

उपजाति : **यः संयमः दुष्करमादधानो भोगादिकाङ्क्षां वितनोति मूढः।**
कण्ठे शिलामेष निधाय गुर्वीं विगाहते तोयमलभ्य-मध्यम्।।४५/५६७।।

अति कठिन संयम को किए धारण भोगादि इच्छा विस्तरे मूरख।
यह कंठ पर भारी शिला धर कर अवगाहता मध्य अलभ्य सागर।।४५/५६७।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; संयमं=संयम को; दुष्करं=अति कठिन; आदधानः=धारण किया हुआ; भोग+आदि-काङ्क्षां=भोग आदि की इच्छा को; वितनोति=विस्तृत करता है; मूढः=मूर्ख; कण्ठे=कंठ पर; शिलां=शिला-पाषाण को; एषः=यह; निधाय=धारणकर; गुर्वीं=भारी/विशाल को; विगाहते=अवगाहन करता है; तोयं=जल को; अलभ्य-मध्यं=प्राप्त नहीं होने-योग्य मध्यवाले।

अन्वय : यः मूढः दुष्करं संयमं आदधानः भोग-आदि-काङ्क्षां वितनोति; एषः कण्ठे गुर्वीं शिलां निधाय अलभ्य-मध्यं तोयं विगाहते।

वचनिका : जो मूढ दुष्कर संयम को धारण करता हुआ भोगादि की वांक्षा को विस्तृत करता है; यह कंठ पर बड़ी शिला को धारणकर, नहीं मिलने-योग्य मध्यवाले जल का अवगाहन करता है।।४५/५६७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण निदान के सर्वथा त्याग की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **त्रिधा विधेयं न निदानमित्थं विज्ञाय दोषं चरणं चरद्भिः।**
अपथ्यसेवां रचयन्ति सन्तो विज्ञातदोषा न कृतौषधेच्छाः।।४६/५६८।।

यों जान दोषों को चरित्र-चारी त्रयधा निदान नहिं करें कब ही।
अपथ्य-सेवन की जान हानि करते नहीं औषध-चाह ज्ञानी।।४६/५६८।।

शब्दशः अर्थ : त्रिधा=तीन प्रकार से; विधेयं=करें; न=नहीं; निदानं=निदान; इत्थं=इस प्रकार; विज्ञाय=जानकर; दोषं=दोष को; चरणं=चारित्र को; चरद्भिः=आचरण करनेवालों के द्वारा; अपथ्य-सेवां=अपथ्य-सेवन को; रचयन्ति=करते हैं; सन्तः=सज्जन; विज्ञात-दोषाः=दोषों को जाननेवाले; न=नहीं; कृत-औषध+इच्छाः=औषध की कामना करनेवाले।

अन्वय : इत्थं दोषं विज्ञाय चरणं चरद्भिः त्रिधा निदानं न विधेयं; विज्ञात-दोषाः कृत-औषध-इच्छाः सन्तः अपथ्य-सेवां न रचयन्ति।

वचनिका : अणुव्रत आदिरूप चारित्र का आचरण करनेवाले प्राणिओं द्वारा इसप्रकार निदान के दोष को जानकर, मन, वचन, काय पूर्वक निदान करना, योग्य नहीं है। औषध की इच्छा करनेवाले, अपथ्य के दोष को जाननेवाले सज्जन, अपथ्य का सेवन नहीं करते हैं।

भावार्थ : संसार-रोग की औषधि, चारित्र है और निदान, संसार-रोग को बड़ानेवाला कुपथ्य है। जो चारित्र-धारक हैं और निदान को बुरा जानते हैं; वे निदान नहीं करते हैं— ऐसा जानना।।४६/५६८।।

इसप्रकार निदान-शल्य का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चार पद्यों द्वारा माया-शल्य का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा माया-शल्य का स्वरूप वर्णित है—

उपजाति : **आयास-विश्वास-निराश-शोकद्वेषावसादश्रम-बैर-भेदाः।**
भवन्ति यस्यामवनाविवागाः सा कस्य माया न करोति कष्टम्।।४७/५६९।।

प्रयास विश्वास विना परिश्रम अवसाद द्वेष शोक रु बैर भेद।
जिसके हैं माया नहिं करे कष्ट किसको सदा होते तरु भू पर?।।४७/५६९।।

शब्दश: अर्थ : आयास-विश्वास-निराश-शोक-द्वेष+अवसाद-श्रम-बैर-भेदा:=प्रयत्न और विश्वास के अभाव-युक्त, शोक, द्वेष, कष्ट, श्रम, बैर आदि भेद; भवन्ति=होते हैं; यस्यां=जिसमें; अवनौ=पृथ्वी पर; इव=समान; अगा:=वृक्ष; सा=वह; कस्य=किसका; माया=कुटिलता; न=नहीं; करोति=करती है; कष्टं=पीड़ा को।

अन्वय : अवनौ अगा: इव यस्यां आयास-विश्वास-निराश-शोक-द्वेष-अवसाद-श्रम-बैर-भेदा: भवन्ति, सा माया कस्य कष्टं न करोति?

वचनिका : जैसे—भूमि में वृक्ष होते हैं; उसीप्रकार प्रयास और विश्वास का अभाव तथा शोक, द्वेष, कष्ट, श्रम, बैर इत्यादि भेद, जिसमें होते हैं, वह माया किसे कष्ट नहीं करती है? सभी को करती है।।४७/५६९।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण माया का फल निरूपित है—

उपजाति : **स्वल्पापि सर्वाणि निषेव्यमाणा सत्यानि माया क्षणत: क्षिणोति।**
नाल्पा शिखा किं दहतीन्धनानि प्रवेशिता चित्ररुचेश्चितानि।।४८/५७०।।

सेवी गई माया अल्प-सी भी क्षण में सभी सत्य विनष्ट करती।
प्रवेश पा थोड़ी-सी शिखा भी क्या सभी ईंधन को नहीं दहती।।४८/५७०।।

शब्दश: अर्थ : स्वल्पा+अपि=थोड़ी-सी भी; सर्वाणि=सभी; निषेव्यमाणा=सेवन की गई; सत्यानि=सत्यों को; माया=कुटिलता; क्षणत:=क्षण-मात्र में; क्षिणोति=नष्ट कर देती है; न=नहीं; अल्पा=थोड़ी-सी; शिखा=ज्वाला; किं=क्या; दहति=जलाती है; ईन्धनानि=ईंधन को; प्रवेशिता=प्रविष्ट हुई; चित्र-रुचे:=अग्नि की; चितानि=एकत्रित।

अन्वय : निषेव्यमाणा स्वल्पा अपि माया क्षणत: सर्वाणि सत्यानि क्षिणोति; चित्र-रुचे: प्रवेशिता अल्पा शिखा चितानि ईन्धनानि किं न दहति?

वचनिका : थोड़ी-सी भी सेवन की गई माया, क्षण-मात्र में सभी सत्यों का नाश करती है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—अग्नि की प्रवेश की गई अल्प-ज्वाला, क्या संचित ईंधन को नहीं दहती है? दहती ही है।।४८/५७०।।

अब, इस पद्य द्वारा माया की सामर्थ्य बताते हुए उसे छोड़ने की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **निकर्तितुं वृत्तवनं कुठारी, सन्सारवृक्षं सवितुं धरित्री।**
बोधप्रभां ध्वन्सयितुं त्रियामा माया विवर्ज्या कुशलेन दूरम्।।४९/५७१।।

चारित्र-वन छेदन को कुल्हाड़ी संसार-तरु उत्पादन है पृथ्वी।
ज्ञान-प्रभा नाशन हेतु रात्रि माया तजें कुशली दूर से ही।।४९/५७१।।

शब्दश: अर्थ : निकर्तितुं=काटने के लिए; वृत्तवनं=चारित्ररूपी वन को; कुठारी=कुल्हाड़ी; सन्सार-वृक्षं=संसाररूपी वृक्ष को; सवितुं=उत्पन्न करने के लिए; धरित्री=भूमि; बोध-प्रभां=ज्ञानरूपी प्रकाश को; ध्वन्सयितुं=नष्ट करने के लिए; त्रियामा=रात्रि; माया=कुटिलता; विवर्ज्या=छोड़ने-योग्य; कुशलेन=प्रवीण द्वारा; दूरं=दूर।

अन्वय : वृत्तवनं निकर्तितुं कुठारी, सन्सार-वृक्षं सवितुं धरित्री, बोध-प्रभां ध्वन्सयितुं त्रियामा माया कुशलेन दूरं विवर्ज्या।

वचनिका : प्रवीण प्राणी द्वारा माया, दूर त्यागनी योग्य है। कैसी है वह माया? चारित्र-वन को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान है, संसाररूपी वृक्ष को उत्पन्न करने के लिए पृथ्वी के समान है और ज्ञानरूपी प्रभा/प्रकाश को नष्ट करने के लिए रात्रि के समान है—ऐसा जानना।।४९/५७१।।

अब, इस पद्य द्वारा माया की निंदनीयता को सहेतुक सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **हिनस्ति मैत्रीं वितनोत्यमैत्रीं तनोति पापं वितनोति धर्मम्।**
पुष्णाति दु:खं विधुनोति सौख्यं न वञ्चना किं कुरुते विनिन्द्यम्।।५०/५७२।।

मैत्री मिटाती रिपुता बड़ाती फैलाए पापों को धर्म नशती।
दुख पुष्ट करती सुख नष्ट करती माया विनिंद्य क्या नहीं करती?।।५०/५७२।।

शब्दश: अर्थ : हिनस्ति=नष्ट करती है; मैत्रीं=मित्रता को; वितनोति=बड़ाती है; अमैत्रीं=शत्रुता को; तनोति=विस्तृत करती है; पापं=पाप को; वितनोति=नष्ट करती है; धर्मं=धर्म को; पुष्णाति=पुष्ट करती है; दु:खं=दु:ख को; विधुनोति=नष्ट करती है; सौख्यं=सुख को; न=नहीं; वञ्चना=माया; किं=क्या; कुरुते=करती है; विनिन्द्यं=विशेष निंदा के योग्य।

अन्वय : वञ्चना मैत्रीं हिनस्ति, अमैत्रीं वितनोति, पापं तनोति, धर्मं वितनोति, दु:खं पुष्णाति, सौख्यं विधुनोति (सा वञ्चना) विनिन्द्यं किं न कुरुते?

वचनिका : माया, मैत्री अर्थात् प्रीति का नाश करती है, अप्रीति का विस्तार करती है, पाप को बड़ाती है, धर्म का विध्वंस करती है, दु:ख को पुष्ट करती है, सुख का अभाव करती है; वह माया, निंदा के योग्य क्या नहीं करती है? सभी करती है।।५०/५७२।।

इसप्रकार माया-शल्य का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे पंद्रह पद्यों द्वारा मिथ्यात्व-शल्य का वर्णन है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व का स्वरूप प्ररूपित है—

उपजाति : **न बुध्यते तत्त्वमतत्त्वमङ्गी विमोह्यमानो रभसेन येन।**
त्यजन्ति मिथ्यात्वविषं पटिष्ठा: सदा विभेदं बहुदु:खदायि।।५१/५७३।।

जिससे न जाने प्राणी अतत्त्व तत्त्व बलात् होता हुआ मोहित।

बहु दुःख-दाई बहु भेदयुत नित मिथ्यात्व विष छोड़ें चतुर विज्ञ।।५१/५७३।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; बुध्यते=जानता है; तत्त्वं=वस्तु के स्वरूप को; अतत्त्वं=वस्तु के अस्वरूप को; अङ्गी=प्राणी; विमोह्यमान:=विमोहित हुआ; रभसेन=बलात्/जबरदस्ती; येन=जिससे; त्यजन्ति=छोड़ देते हैं; मिथ्यात्व-विषं=मिथ्यात्वरूपी जहर को; पटिष्ठा:= चतुर विद्वान; सदा=हमेशा; विभेदं=विविध भेदवाले; बहु-दुःख-दायि=बहुत दुःख देनेवाले।

अन्वय : येन रभसेन विमोह्यमानः अङ्गी तत्त्वं अतत्त्वं न बुध्यते (तं) सदा विभेदं बहुदुःख-दायि मिथ्यात्व-विषं पटिष्ठाः त्यजन्ति।

वचनिका : जिस मिथ्यात्व-विष से जबरदस्ती अचेत हुआ जीव, तत्त्व और अतत्त्व को नहीं जानता है; उस बहुत भेदरूप मिथ्यात्व-विष को पंडित-जन छोड़ देते हैं। वह मिथ्यात्व-विष कैसा है? वह बहुत दुःख को देनेवाला है—ऐसा जानना।।५१/५७१।।

आगे मिथ्यात्व के विविध अभिप्रायों का वर्णन करते हुए इस पद्य द्वारा कर्म को नहीं माननेवाले का विचार प्रस्तुत है—

उपजाति : **वदन्ति केचित्सुखदुःखहेतुर्न विद्यते कर्म शरीरभाजाम्।**

मानस्य तस्मिन्निखिलस्य हानेर्मानव्यपेतस्य न चास्ति सिद्धिः।।५२/५७४।।

कोई कहें सुख-दुख हेतु कर्म संसारिओं के नहिं है कहीं कुछ।

सभी प्रमाणों की हानि उसमें प्रमाण विन सिद्धि नहीं लोक।।५२/५७४।।

शब्दशः अर्थ : वदन्ति=कहते हैं; केचित्=कोई; सुख-दुःख-हेतुः=सुख और दुःख में कारणभूत; न=नहीं; विद्यते=है; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म; शरीर-भाजां=शरीर-धारिओं के; मानस्य=प्रमाण का; तस्मिन्=उसमें; निखिलस्य=सभी का; हाने:=अभाव होने से; मान-व्यपेतस्य=प्रमाण-रहित का; न=नहीं; च=और; अस्ति=है; सिद्धिः=सत्ता की सिद्धि।

अन्वय : शरीर-भाजां सुख-दुःख-हेतुः कर्म न विद्यते (इति) केचित् वदन्ति; (यतः) तस्मिन् निखिलस्य मानस्य हाने: च मान-व्यपेतस्य सिद्धिः न अस्ति।

वचनिका : कोई कहते हैं कि जीवों के सुख-दुःख का कारण कर्म नहीं है; क्योंकि उस कर्म में समस्त प्रमाणों की हानि है और प्रमाण-रहित की सिद्धि नहीं है।

भावार्थ : कोई कहते हैं कि सुख-दुःख का कारण कर्म नहीं है; क्योंकि कर्म, इंद्रियों के गोचर नहीं है; उसका कोई लिंग/चिन्ह दिखाई नहीं देता है; कर्म के समान कोई अन्य पदार्थ दिखता नहीं है; कर्म के विना नहीं होनेवाले पदार्थ की अप्राप्ति है; हमारे आगम में भी कर्म

का अभाव कहा है। इसप्रकार वह सभी प्रमाणों के अगोचर है। जो प्रमाण में नहीं आता है, वह वस्तु नहीं है; अत: कर्म नहीं है।।५२/५७४।।

इसे ही वे, इस पद्य द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **सत्त्वेऽपि कर्तुं न सुखादिकार्यं तस्यास्ति शक्तिर्गतचेतनत्वात्।**
प्रवर्तमानाः स्वयमेव दृष्टाः विचेतनाः क्वापि मया न कार्ये।।५३/५७५।।

उस सत्त्व में भी सुख आदि कार्य करने की शक्ति नहीं है अचेतन।
स्वयं प्रवर्तित होवे अचेतन मैंने नहीं देखा कहीं कार्य।।५३/५७५।।

शब्दशः अर्थ : सत्त्वे=सत्ता होने पर; अपि=भी; कर्तुं=करने के लिए; न=नहीं; सुख+आदि-कार्यं=सुख आदिरूप कार्य को; तस्य=उसका; अस्ति=है; शक्तिः=सामर्थ्य; गत-चेतनत्वात् =चेतनता से रहित होने के कारण; प्रवर्तमानाः=प्रवृत्ति करता हुआ; स्वयं=अपने आप; एव=ही; दृष्टाः=देखा गया; विचेतनाः=अचेतन; क्व=कहीं; अपि=भी; मया=मेरे द्वारा; न=नहीं; कार्ये=कार्य में।

अन्वय : सत्त्वे अपि तस्य सुख-आदि-कार्यं कर्तुं शक्तिः न अस्ति; गत-चेतनत्वात्; विचेतनाः क्व अपि कार्ये स्वयं एव प्रवर्तमानाः मया न दृष्टाः।

वचनिका : उसकी सत्ता सिद्ध हो जाने पर भी जीव में सुखादि कार्य को करने की शक्ति उसकी नहीं है; क्योंकि कर्म के अचेतनपना है। मैंने कहीं भी कार्य में अचेतन पदार्थ को स्वयं ही प्रवृत्ति करते हुए नहीं देखा है।

भावार्थ : जीव के सुख, ज्ञानादि का घात करने में कर्म समर्थ नहीं है; क्योंकि वह स्वयं अचेतन है। लोक में अचेतन पदार्थ स्वयं कार्य करते दिखाई नहीं देते हैं।

इसप्रकार उन्होंने कर्म का अभाव सिद्ध किया।।५३/५७५।।

अब, आचार्य इस पद्य द्वारा उनकी इस मान्यता का खंडन करते हैं—

उपजाति : **एषा महामोहपिशाचवश्यैर्न युज्यते गीरभिधीयमाना।**
प्रमाणमस्माकमवध्यमानं यतोऽस्य सिद्धावनुमानमस्ति।।५४/५७६।।

पिशाच के वश अति मोहरूपी द्वारा कही युक्त नहीं है वाणी।
करता हमारा अनुमान है ही सद् ज्ञान पावन सिद्धि करम की।।५४/५७६।।

शब्दशः अर्थ : एषा=यह; महा-मोह-पिशाच-वश्यैः=महा मोहरूपी पिशाच के वश हुओं द्वारा; न=नहीं; युज्यते=उचित है; गीः=वाणी; अभिधीयमाना=कही गई; प्रमाणं=प्रमाण; अस्माकं=हमारा; अवध्यमानं=अबाधित/निर्दोष; यतः=क्योंकि; अस्य=इसको; सिद्धौ= सिद्धि में; अनुमानं=अनुमान; अस्ति=है।

अन्वय : महा-मोह-पिशाच-वश्यैः अभिधीयमाना एषा गीः युज्यते न; यतः अस्माकं अवध्यमानं अनुमानं प्रमाणं अस्य सिद्धौ अस्ति।

वचनिका : महा मोहरूपी पिशाच के वशीभूत मिथ्या-दृष्टिओं द्वारा कही यह वाणी युक्त नहीं है; क्योंकि इस कर्म की सिद्धि में हमारा अबाधित अनुमान प्रमाण है।।५४/५७६।।

अब, इस पद्य द्वारा कर्म की सिद्धि करनेवाले उस अनुमान को दिखाते हैं—

स्वागता : **रागद्वेषमदमत्सरशोकक्रोधलोभभयमन्मथमोहाः।**
सर्वजन्तुनिवहैरनुभूताः कर्मणा किमु भवन्ति विनैते?।।५५/५७७।।

राग द्वेष मद मत्सर शोक क्रोध लोभ भय मन्मथ मोह।
सभी प्राणिओं को अनुभूत होते हैं क्या ये विन कर्म?।।५५/५७७।।

शब्दशः अर्थ : राग-द्वेष-मद-मत्सर-शोक-क्रोध-लोभ-भय-मन्मथ-मोहाः=राग, द्वेष, घमंड, ईर्ष्या, शोक, क्रोध, लोभ, भय, काम, मोह; सर्व-जन्तु-निवहैः=सभी प्राणिओं के समूह द्वारा; अनुभूताः=अनुभव किए हुए; कर्मणा=कर्म से; किमु=क्या; भवन्ति=होते हैं; विना=अतिरिक्त; एते=ये।

अन्वय : सर्व-जन्तु-निवहैः अनुभूताः एते राग-द्वेष-मद-मत्सर-शोक-क्रोध-लोभ-भय-मन्मथ-मोहाः किमु कर्मणा विना भवन्ति?

वचनिका : जीवों के सभी समूहों द्वारा अनुभव किए ये राग, द्वेष, मद, मत्सर, शोक, क्रोध, लोभ, भय, काम, मोह इत्यादि विकार; कर्म के विना कैसे होते हैं?

भावार्थ : संसारी जीवों के कर्म, बँधे हैं; क्योंकि कर्मों के उदय के कार्यरूप रागादि-भाव, सभी जीवों द्वारा स्व-संवेदन प्रत्यक्ष से ज्ञात हैं। कर्मोदय-विना रागादि कैसे हों? जिसके कर्म-बंध नहीं; वह रागादि-सहित नहीं है; जैसे—मुक्त जीव।

यहाँ कार्य-लिंग से अनुमान किया है।।५५/५७७।।

इस संबंध में आशंका का समाधान अब प्रस्तुत है—

उपजाति : **ते जीवजन्याः प्रभवन्ति नूनं नैषापि भाषा खलु युक्तियुक्ता।**
नित्यप्रसक्तिः कथमन्यथैषां सम्पद्यमाना प्रतिषेधनीया।।५६/५७८।।

वे जीव से ही उत्पन्न होते ऐसा कथन युक्ति-युत नहीं है।
यों अन्यथा नित्य प्रसंग से ये निषेधनीय हो सकें कैसे?।।५६/५७८।।

शब्दशः अर्थ : ते=वे/रागादि; जीव-जन्याः=जीव से उत्पन्न होने-योग्य; प्रभवन्ति=होते हैं; नूनं=वास्तव में; न=नहीं; एषा=यह; अपि=भी; भाषा=कथन; खलु=निश्चय से; युक्ति-युक्ता=युक्ति-पूर्ण; नित्य-प्रसक्तिः=नित्य प्रसंगवाले; कथं=कैसे; अन्यथा=अन्य प्रकार

से; एषां=इनका; सम्पद्यमाना:=संपन्न होना; प्रतिषेधनीया:=निषेध करने-योग्य।

अन्वय : नूनं ते जीव-जन्या: प्रभवन्ति; खलु एषा अपि भाषा युक्ति-युक्ता न; अन्यथा एषां नित्य-प्रसक्ति: प्रतिषेधनीया: कथं सम्पद्यमाना:?

वचनिका : वादी कहते हैं कि रागादि भाव जीव से ही उत्पन्न हुए हैं। उनसे आचार्य कहते हैं कि वास्तव में ऐसी वाणी युक्ति-पूर्ण नहीं है। यदि ये रागादि जीव से ही उत्पन्न हुए हैं तो इन रागादि की नित्य-संबंधता आई; तब ये निषेध करने-योग्य कैसे हुए?

भावार्थ : यदि रागादि भाव, आत्मा के स्वभाव हैं; तो स्वभाव का अभाव नहीं होने से, उन्हें सभी अवस्थाओं में रहना चाहिए; तब फिर जीव का मोक्ष कैसे होगा? अत: रागादि, कर्मोदय के निमित्त-विना नहीं होते हैं—ऐसा जानना।।५६/५७८।।

इसे ही पुन: इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

शालिनी : **नित्ये जीवे सर्वदा विद्यमाने कादाचित्का हेतुना केन सन्ति।**
निर्मुक्तानां जायमाना निषेद्धुं तेऽशक्यन्ते केन मुक्तिश्च तेभ्य:।।५७/५७९।।

शाश्वत प्राणी में सदा विद्यमान किस हेतु से वे हुए कादाचित्क।
मुक्तों के हैं व्यक्त संभव निषेध न हो उनसे मुक्ति कैसे बने तब?।।५७/५७९।।

शब्दश: अर्थ : नित्ये=शाश्वत; जीवे=जीव में; सर्वदा=हमेशा; विद्यमाने=उपस्थित रहने पर; कादाचित्का:=कभी होते, कभी नहीं होते—यह स्थिति; हेतुना=कारण से; केन=किससे; सन्ति=हैं; निर्मुक्तानां=मुक्तों के; जायमाना:=प्रकट होते हुए; निषेद्धुं=निषेध करने के लिए; ते=वे; अशक्यन्ते=समर्थ नहीं हैं; केन=किससे; मुक्ति:=छुटकारा; च=और; तेभ्य:=उनसे।

अन्वय : सर्वदा विद्यमाने नित्ये जीवे केन हेतुना कादाचित्का: सन्ति; निर्मुक्तानां जायमाना: ते निषेद्धुं अशक्यन्ते च तेभ्य: मुक्ति: केन?

वचनिका : सदा काल विद्यमान नित्य जीव में, कभी होने, कभी नहीं होनेरूप कादाचित्क स्वभाववाले रागादि किस कारण से होते हैं? मुक्त जीवों के उत्पन्न हुए रागादि किससे निषेध किए जा सकेंगे और उनसे मुक्ति किससे होगी?

भावार्थ : जैसे—स्फटिक-मणि सदा निर्मल है। उसमें काला, पीला आदि जैसा डाँक लगता है; उसप्रकार का परिणमन हो जाता है। वह परिणमन डाँक के अनुसार कदाचित् होता है; अत: उसे कादाचित्क कहते हैं; उसीप्रकार आत्मा तो नित्य है। मोहादि कर्म का निमित्त मिलने पर उसका रागादिरूप परिणमन होता है; अत: वह परिणमन कादाचित्क है।

यदि वे रागादि, कर्म के निमित्त-विना होते हैं तो रागादि, नित्य-स्वभाव ठहरेंगे; तब

उनका मुक्त जीवों के भी अभाव कैसे होगा और उनसे कैसे छूटें? अत: कर्मों का अस्तित्व मानना, योग्य है।।५७/५७९।।

अब, इस पद्य द्वारा कर्म का अस्तित्व अन्य हेतु से सिद्ध करते हैं—

उपजाति : **तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां केचिद्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम्।**
परे न तामत्र निगद्यतां मे कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतु:।।५८/५८०।।

प्रताप उद्यम साहस समानों में कार्य-सिद्धि होती किन्हीं को।
नहिं अन्य को इसका हेतु मुझको बतलाओ कर्मों के विना हो तो।।५८/५८०।।

शब्दश: अर्थ : तुल्य-प्रताप+उद्यम-साहसानां=एक-समान प्रताप, उद्यम, साहसों के; केचित्=कोई; लभन्ते=प्राप्त करते हैं; निज-कार्य-सिद्धिं=अपने कार्य की सिद्धि को; परे= दूसरे; न=नहीं; तां=उसे; अत्र=यहाँ; निगद्यतां=कहिए; मे=मेरे लिए; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म; अस्ति=है; हित्वा=छोड़कर; यदि=यदि; क:=कोई; अपि=भी; हेतु:=कारण।

अन्वय : तुल्य-प्रताप-उद्यम-साहसानां निज-कार्य-सिद्धिं केचित् लभन्ते परे न लभन्ते; अत्र कर्म हित्वा यदि क: अपि हेतु: अस्ति? तां मे निगद्यताम्।

वचनिका : एक-समान प्रताप, उद्यम और साहसवाले प्राणिओं के मध्य कोई अपने कार्य की सिद्धि को पाते हैं और दूसरे उस कार्य की सिद्धि को नहीं पाते हैं। इसमें यदि कर्म को छोड़कर अन्य कोई भी कारण हो तो मुझे कहिए।

भावार्थ : समान पुरुष, समान उद्यम करते हैं; तथापि किसी के सिद्धि होती है और किसी के नहीं होती है; इसमें कर्म के सिवाय और कोई कारण नहीं है—ऐसा जानना।।५८/५८०।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही अन्य घटनाओं से स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विचित्रदेहाकृतिवर्णगन्धप्रभावजातिप्रभवस्वभावा:।**
केन क्रियन्ते भुवनेऽङ्गिवर्गाश्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्रा:।।५९/५८१।।

विचित्र तन आकृति वर्ण गंध प्रभाव जाति प्रकटक स्वभाव।
किसने किए त्रिभुवन प्राणि-वर्ग चिरंतना कर्म विना विचित्र।।५९/५८१।।

शब्दश: अर्थ : विचित्र-देह+आकृति-वर्ण-गन्ध-प्रभाव-जाति-प्रभव-स्वभावा:=अनेक प्रकार की शरीर की आकृति, रंग, गंध, प्रभाव, जाति को उत्पन्न करनेरूप स्वभाव; केन= किसके द्वारा; क्रियन्ते=किए जाते हैं; भुवने=लोक में; अङ्गि-वर्गा:=प्राणिओं का समूह; चिरन्तनं=प्राचीन; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म को; निरस्य=छोड़कर; चित्रा:=अनेक प्रकारवाले।

अन्वय : भुवने विचित्र-देह-आकृति-वर्ण-गन्ध-प्रभाव-जाति-प्रभव-स्वभावा: चित्रा: अङ्गि-वर्गा: चिरन्तनं कर्म निरस्य केन क्रियन्ते।

वचनिका : लोक में अनेक प्रकारवाले शरीर, आकृति, रंग, गंध, प्रभाव, जाति को उत्पन्न करनेवाले स्वभाव-युक्त अनेक जीवों के समूह, पहले पुरातन कर्मों के विना किसके द्वारा किए जाते हैं?

भावार्थ : पहले के कर्म नहीं हों तो आगामी अनेक शरीर किससे उत्पन्न होंगे? अत: प्राचीन कर्म मानना, योग्य है।।५९/५८१।।

अब, इस पद्य द्वारा वही पुन: स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विवर्ध्य मासान्नव गर्भ-मध्ये बहुप्रकारैः कलिलादि-भावैः।**
उद्वर्त्य निष्कासयते सवित्र्याः को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम्।।६०/५८२।।

बहुत प्रकारी कलिलादि भावों द्वारा बड़ा नौ महिने गरभ में।
उन पूर्व कर्मों विन कौन उल्टा करके निकाले माँ के गरभ से।।६०/५८२।।

शब्दश: अर्थ : विवर्ध्य=बड़कर; मासात्=माह से; नव=नौ; गर्भ-मध्ये=गर्भ में; बहु-प्रकारै:=अनेक प्रकारवाले; कलिल+आदि-भावै:=कलिल आदि पदार्थों द्वारा; उद्वर्त्य=उलटकर; निष्कासयते=निकालता है; सवित्र्या:=माता का; क:=कौन; गर्भत:=गर्भ से; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म को; विहाय=छोड़कर; पूर्वं=पहलेवाले।

अन्वय : गर्भ-मध्ये नव-मासात् बहु-प्रकारै: कलिल-आदि-भावै: विवर्ध्य उद्वर्त्य सवित्र्या: गर्भत: पूर्वं कर्म विहाय क: निष्कासयते?

वचनिका : गर्भ में नौ मास पर्यंत अनेक प्रकारवाले रुधिर आदि भावों द्वारा बड़ाकर, पलटकर माता के गर्भ से, पूर्व कर्म के विना कौन निकालता है?

भावार्थ : पहले के कर्म नहीं हों तो गर्भ में वृद्धि होना, मुख पलटकर गर्भ से निकालना इत्यादि कार्य कैसे हों? अत: पूर्व-कर्म अवश्य मानना।।६०/५८२।।

यह सब सुनकर वादी कहता है कि कर्म, अचेतन है; वह कार्य कैसे करेगा? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **विलोकमानाः स्वयमेव शक्तिं विकारहेतुं विषमद्य-जाताम्।**
अचेतनं कर्म करोति कार्यं कथं वदन्तीति कथं विदग्धाः?।।६१/५८३।।

विष मद्य से व्यक्त विकार कारण स्वयमेव शक्ति अवलोक विज्ञ।
कैसे अचेतन कुछ कार्य करता कहते हैं कैसे वे कैसे विज्ञ?।।६१/५८३।।

शब्दश: अर्थ : विलोकमाना:=देखनेवाले; स्वयं=आप; एव=ही; शक्तिं=सामर्थ्य को; विकार-हेतुं=विकार उत्पन्न करने में कारणभूत; विष-मद्य-जातां=विष, मदिरा से उत्पन्न;

अचेतनं=जड़; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म; करोति=करता है; कार्यं=कार्य को; कथं=कैसे; वदन्ति=कहते हैं; इति=इसप्रकार; कथं=कैसे; विदग्धा:=प्रवीण।

अन्वय : विष-मद्य-जातां विकार-हेतुं शक्तिं स्वयमेव विलोकमाना: अचेतनं कर्म कार्यं कथं करोति इति कथं वदन्ति?

वचनिका : विष, मदिरा आदि अचेतन से उत्पन्न हुई, विकार में कारणभूत शक्ति को स्वयं ही देखनेवाले चतुर पुरुष, 'अचेतन कर्म, कार्य को कैसे करता है?'—ऐसा कैसे कहते हैं?

भावार्थ : मदिरा आदि अचेतन वस्तु, जैसे गहलपना उत्पन्न करती है; उसीप्रकार कर्म भी अचेतन है, वह अपना कार्य करता है—इसमें शंका कहाँ है? अचेतन का कार्य प्रत्यक्ष दिखाई देता है।।६१/५८३।।

अब, यही इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **नाना-प्रकारा भुवि वृक्ष-जातिर्विधूय पत्राणि पुरातनानि।**
अचेतन: किं न करोति काल: प्रत्यग्रपुष्पप्रसवादिरम्या:।।६२/५८४।।

भू पर विविध जाति युत तरु के प्राचीन पत्तों को झड़ा करता।
नये प्रसून पत्रादि द्वारा रमणीय तरु को जड़ काल दिखता।।६२/५८४।।

शब्दश: अर्थ : नाना-प्रकारा:=अनेक प्रकारवाले; भुवि=पृथ्वी पर; वृक्ष-जाति:=वृक्षों की जाति; विधूय=गिराकर; पत्राणि=पत्ते; पुरातनानि=पुराने; अचेतन:=ज्ञान-रहित; किं=क्या; न=नहीं; करोति=करता है; काल:=काल; प्रत्यग्र-पुष्प-प्रसव+आदि-रम्या:=नवीन फूल, पत्ते आदि से मनोहर।

अन्वय : अचेतन: काल: भुवि नाना प्रकारा: वृक्ष-जाति: पुरातनानि पत्राणि विधूय प्रत्यग्र-पुष्प-प्रसव-आदि-रम्या: किं न करोति?

वचनिका : पृथ्वी पर अचेतन काल, नाना प्रकार के वृक्षों की जातिओं के पुराने पत्तों को झाड़कर नवीन पुष्प, पत्रादि से मनोहर क्या नहीं करता है? करता ही है।

भावार्थ : जैसे—अचेतन काल, वृक्षों के पुराने पत्ते झड़ाकर नवीन पत्ते आदि करता है; उसी प्रकार अचेतन कर्म भी अपना कार्य करता है—ऐसा जानना।।६२/५८४।।

अब, इस पद्य द्वारा वही पुन: वर्णित है—

शालिनी : **यैर्निश्शेषं चेतनामुक्तमुक्तं कार्याकारि ध्वस्तकार्यावबोधै:।**
धर्माधर्माकाशकालादिसर्वं द्रव्यं तेषां निष्फलत्वं प्रयाति।।६३/५८५।।

कार्य के बोध विन जो कहें नित सभी अचेतन कार्य करते नहीं कुछ।
धर्माधर्माकाश कालादि सब ही द्रव्य उनके प्राप्त हों निष्फलत्व।।६३/५८५।।

शब्दश: अर्थ : यै:=जिनके द्वारा; निश्शेषं=संपूर्ण; चेतना-मुक्तं=चेतना से रहित; उक्तं=कहा है; कार्य+अकारि=कार्य नहीं करनेवाला; ध्वस्त-कार्य+अवबोधै:=कार्य के ज्ञान से रहित; धर्म+अधर्म+आकाश-काल+आदि-सर्वं=धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि सभी; द्रव्यं=द्रव्य को; तेषां=उनके; निष्फलत्वं=निष्फलता; प्रयाति=प्राप्त होती है।

अन्वय : ध्वस्त-कार्य-अवबोधै: यै: निश्शेषं चेतना-मुक्तं कार्य-अकारि उक्तं; तेषां धर्म-अधर्म-आकाश-काल-आदि-सर्वं द्रव्यं निष्फलत्वं प्रयाति।

वचनिका : कार्य के ज्ञान से रहित जिन पुरुषों द्वारा; 'चेतना-रहित अचेतन द्रव्य, सर्वथा कार्य को करनेवाला नहीं है'—ऐसा कहा जाता है; उनके धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि सभी द्रव्य निष्फलपने को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ : जो सर्वथा अचेतन को कार्य का करनेवाला नहीं मानते हैं; उनके यहाँ धर्मादि सभी अचेतन द्रव्य, निष्फल ठहरते हैं। उन्हें कार्य-कारणपने का ज्ञान नहीं है। यद्यपि धर्मादि द्रव्य, प्रेरक कर्ता नहीं हैं; तथापि निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र परस्पर कार्य-कारणपना है। इसप्रकार स्याद्वाद से अविरुद्ध सिद्ध होता है।।६३/५८५।।

कोई कहता है कि अमूर्तिक जीव के साथ मूर्तिक कर्म नहीं बँधता है; अब, इस पद्य द्वारा उसका समाधान करते हैं—

उपजाति : **जीवैरमूर्तैः सह कर्म मूर्तं सम्बध्यते नेति वचो न वाच्यम्।**
अनादिभूतं हि जिनेन्द्रचन्द्राः कर्माङ्गिसम्बन्धमुदाहरन्ति।।६४/५८६।।

अमूर्त जीवों के साथ मूर्तिक कर्मों का संबंध नहीं न कहना।
अनादि से कर्म शरीर-धारी संबंध तीर्थंकर ने बताया।।६४/५८६।।

शब्दश: अर्थ : जीवै:=जीवों से; अमूर्तै:=वर्णादि से रहित; सह=साथ; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म; मूर्तं=वर्णादि से सहित; सम्बध्यते=भली-भाँति बँधा है; न=नहीं; इति=ऐसा; वच:=वचन; न=नहीं; वाच्यं=कहने-योग्य; अनादि-भूतं=अनादि काल से; हि=वास्तव में; जिनेन्द्र-चन्द्रा:=तीर्थंकर अरहंत भगवान; कर्म+अङ्गि-सम्बन्धं=कर्म और प्राणी के संबंध को; उदाहरन्ति=बता रहे हैं।

अन्वय : अमूर्तै: जीवै: सह मूर्तं कर्म न सम्बध्यते, इति वच: न वाच्यं; हि जिनेन्द्र-चन्द्रा: कर्म-अङ्गि-सम्बन्धं अनादिभूतं उदाहरन्ति।

वचनिका : अमूर्तिक जीवों के साथ मूर्तिक कर्म नहीं बँधते हैं—ऐसा कहना, योग्य नहीं है; क्योंकि जिनेंद्र-चंद्र, कर्म और जीवों का अनादि से संबंध कह रहे हैं।

भावार्थ : जीव और कर्म का अनादि से संबंध है। अनादि-स्वभाव में तर्क नहीं होता है— ऐसा जानना।।६४/५८६।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यात्व का त्याग करने की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **इत्यादि मिथ्यात्वमनेकभेदं यथार्थतत्त्वप्रतिपत्तिमूदि।**

विवर्जनीयं त्रिविधेन सद्भिर्जैनं व्रतं रत्नमिवाश्रयद्भिः।।६५/५८७।।

यथार्थ तत्त्वों का ज्ञान-नाशक मिथ्यात्व बहुविध युत त्याग-योग्य।

जो जैन व्रत का रत्नों समान आश्रय करें तज दें त्रिधा विज्ञ।।६५/५८७।।

शब्दश: अर्थ : इत्यादि=पहले बताए गए जैसे और भी; मिथ्यात्वं=उल्टापना; अनेक-भेदं= अनेक प्रकारवाला; यथार्थ-तत्त्व-प्रतिपत्ति-मूदि=तत्त्व की यथार्थ जानकारी को नष्ट करनेवाले; विवर्जनीयं=त्यागने-योग्य; त्रि-विधेन=तीन प्रकार से; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; जैनं=जैन संबंधी; व्रतं=व्रत को; रत्नं=रत्न को; इव=समान; आश्रयद्भिः=आश्रय लेनेवालों द्वारा।

अन्वय : इत्यादि यथार्थ-तत्त्व-प्रतिपत्ति-मूदि-अनेक-भेदं मिथ्यात्वं, जैनं व्रतं रत्नं इव आश्रयद्भिः सद्भिः त्रिविधेन विवर्जनीयम्।

वचनिका : संतों द्वारा इत्यादि यथार्थ तत्त्व-ज्ञान को नष्ट करनेवाला अनेक प्रकार का मिथ्यात्व; मन, वचन, काय द्वारा त्यागना, योग्य है। वे संत कैसे हैं? वे संत जिन भगवान के व्रतों का रत्न के समान सेवन करते हैं।।६५/५८७।।

इसप्रकार तीन शल्यों का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे तेरह पद्यों द्वारा ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उन्हें धारण करने की आवश्यकता प्रतिपादित है—

उपजाति : **एकादशोक्ता विदितार्थतत्त्वैरुपासकाचारविधेर्विभेदाः।**

पवित्रमारोढुमनन्यलभ्यं सोपानमार्गा इव सिद्धिसौधम्।।६६/५८८।।

सर्वज्ञ ने श्रावक आचरण की विधि के विभेद बतलाए ग्यारह।

अनन्य-लभ्य शिव-सौध चढ़ने-हेतु है पावन सोपान-पथ-वत्।।६६/५८८।।

शब्दश: अर्थ : एकादश+उक्ता:=ग्यारह कहे हैं; विदित+अर्थ-तत्त्वैः=अर्थों के तत्त्वों/ तत्त्वार्थों को जाननेवाले सर्वज्ञ भगवान द्वारा; उपासक+आचार-विधेः=श्रावकों के आचरण की विधि से; विभेदा:=भेद; पवित्रं=पावन; आरोढुं=चढ़ने के लिए; अन्+अन्य-लभ्यं=दूसरों को प्राप्त नहीं होने-योग्य; सोपान-मार्गा:=सीढ़िओं का रास्ता; इव=समान; सिद्धि-सौधं=मोक्ष-महल को।

अन्वय : विदित-अर्थ-तत्त्वैः उपासक-आचार-विधेः अनन्य-लभ्यं पवित्रं सिद्धि-सौधं आरोढुं सोपान-मार्गाः इव विभेदाः एकादश उक्ताः।

वचनिका : पदार्थों के स्वरूप को जाननेवाले अरहंतादि द्वारा श्रावक के आचार की विधि के भेद, ग्यारह कहे गए हैं। वे भेद, पवित्र मोक्ष-महल पर चढ़ने को सीढ़िओं के मार्ग-समान हैं। वह मोक्ष-महल कैसा है? अन्य सामान्य-जन द्वारा प्राप्त करने-योग्य नहीं है—ऐसा जानना।। ६६/५८८।।

अब, इस पद्य द्वारा पहली दर्शन प्रतिमा का स्वरूप प्रतिपादित है—

उपजाति : **यो निर्मलां दृष्टिमनन्यचित्तः पवित्रवृत्तामिव हारयष्टिम्।**
गुणावनद्धां हृदये निधत्ते स दर्शनी धन्यतमोऽभ्यधायि।।६७/५८९।।

एकाग्र-मन-युत बहु गुणों बद्ध पवित्र वृत्त माला-समान।
निर्मल सुदृष्टि उर धरे जो वह है धन्यतम कहते दर्श-युक्त।।६७/५८९।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; निर्मलां=पवित्र; दृष्टिं=श्रद्धा को; अनन्य-चित्तः=एकाग्र मनवाला; पवित्र-वृत्तां=पावन और चारित्र या गोल; इव=समान; हार-यष्टिं=माला को; गुण+अवनद्धां= गुणों में बँधी हुई; हृदये=उर में; निधत्ते=धारण करता है; सः=वह; दर्शनी=दर्शन से सहित; धन्यतमः=विशेष-धन्य; अभ्यधायि=कहा है।

अन्वय : अनन्य-चित्तः यः गुण-अवनद्धां पवित्र-वृत्तां हार-यष्टिं इव निर्मलां दृष्टिं हृदये निधत्ते, सः धन्यतमः दर्शनी अभ्यधायि।

वचनिका : एकाग्र मनवाला जो प्राणी पावन चारित्र-युत/पवित्र और गोल हार की लड़ी के समान निर्मल दृष्टि को हृदय में धारण करता है; वह दर्शन-सहित प्राणी, विशेषरूप से धन्य कहा है। हार की लड़ी कैसी होती है? गुण अर्थात् डोरे/धागे से बँधी है और निर्मल दृष्टि, वात्सल्य आदि गुणों से बँधी है—ऐसा जानना।।६७/५८९।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रतिमा का स्वरूप निरूपित है—

उपजाति : **विभूषणानीव दधाति धीरो व्रतानि यः सर्वसुखाकराणि।**
आक्रष्टुमीशानि पवित्रलक्ष्मीं तं वर्णयन्ते व्रतिनं वरिष्ठाः।।६८/५९०।।

जो धीर सब सुख भंडार व्रत को आभूषणों-वत् धारे उसी को।
आचार्य व्रत-धारि कहें समर्थ है खीचने में पावन विभव को।।६८/५९०।।

शब्दशः अर्थ : विभूषणानि=आभूषणों को; इव=समान; दधाति=धारण करता है; धीरः=धैर्य-शाली; व्रतानि=व्रतों को; यः=जो; सर्व-सुख+आकराणि=सभी सुखों के भंडार; आक्रष्टुं

=खीचने के लिए; ईशानि=समर्थ; पवित्र-लक्ष्मीं=पावन संपत्ति को; तं=उसे; वर्णयन्ते=कहते हैं; व्रतिनं=व्रती; वरिष्ठाः=आचार्य।

अन्वय : यः धीरः सर्व-सुख-आकराणि पवित्र-लक्ष्मीं आक्रष्टुं ईशानि व्रतानि विभूषणानि इव दधाति, वरिष्ठाः तं व्रतिनं वर्णयन्ते।

वचनिका : सभी सुखों के स्थानभूत बारह व्रतों को जो धैर्य-शाली धारण करता है; आचार्य उसे, व्रती कहते हैं। वे बारह व्रत कैसे हैं? स्वर्ग और मोक्ष की पवित्र लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ हैं—ऐसा जानना।।६८/५९०।।

अब, इस पद्य द्वारा सामायिक-प्रतिमा वर्णित है—

उपजाति : **रौद्रार्तमुक्तो भव-दुःख-मोची, निरस्त-निःशेष-कषाय-दोषः।**
सामायिकं यः कुरुते त्रिकालं सामायिकस्थः कथितः स तथ्यम्।।६९/५९१।।

विन आर्त-रौद्र भव-दुःख-विरहित संपूर्ण दोषादि कषाय-मुक्त।
करता सदा सामायिक त्रिकाल कहा वही सत् सामायिकस्थ।।६९/५९१।।

शब्दशः अर्थ : रौद्र+आर्त-मुक्तः=रौद्र और आर्त से रहित; भव-दुःख-मोची=सांसारिक दुःखों का त्याग करनेवाला; निरस्त-निश्शेष-कषाय-दोषः=संपूर्ण कषायों और दोषों को छोड़नेवाला; सामायिकं=सामायिक को; यः=जो; कुरुते=करता है; त्रिकालं=तीनों समयों -वाली; सामायिकस्थः=सामायिक में स्थित; कथितः=कहा है; सः=वह; तथ्यं=सत्यार्थ।

अन्वय : रौद्र-आर्त-मुक्तः, भव-दुःख-मोची, निरस्त-निश्शेष-कषाय-दोषः यः त्रिकालं तथ्यं सामायिकं कुरुते; सः सामायिकस्थः कथितः।

वचनिका : आर्त और रौद्ररूप खोटे ध्यानों से रहित, संसार-दुःखों का त्याग करनेवाला, क्रोधादि समस्त कषायों और दोषों को दूर करनेवाला जो, त्रिकाल सत्यार्थ सामायिक करता है; वह सत्यार्थ सामायिक में बैठा हुआ कहा गया है।।६९/५९१।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रोषध-प्रतिमा प्ररूपित है—

उपजाति : **मन्दी-कृताक्षार्थ-सुखाभिलाषः करोति यः पर्व-चतुष्टयेऽपि।**
सदोपवासं पर-कर्म-मुक्त्वा सः प्रौषधी शुद्धधियामभीष्टः।।७०/५९२।।

इंद्रिय विषय सुख इच्छा कमी युत पर-कर्म तज जो उपवास करता।
नित चार पर्वों में है अभीष्ट वह शुद्ध-धी को प्रौषधी माना।।७०/५९२।।

शब्दशः अर्थ : मन्दी-कृत+अक्ष+अर्थ-सुख-अभिलाषः=इंद्रिय-विषय-जनित सुख की अभिलाषा को मंद करनेवाला; करोति=करता है; यः=जो; पर्व-चतुष्टये=चार पर्वों में; अपि =भी; सदा=हमेशा; उपवासं=उपवास को; पर-कर्म-मुक्त्वा=आरंभ-जनित कार्यों को

छोड़कर; सः=वह; प्रौषधी=प्रोषधोपवास करनेवाला; शुद्ध-धियां=शुद्ध-बुद्धिओं को; अभीष्टः=सब ओर से मान्य।

अन्वय : मन्दी-कृत-अक्ष-अर्थ-सुख-अभिलाषः यः पर-कर्म-मुक्त्वा पर्व-चतुष्टये अपि सदा उपवासं करोति; सः शुद्ध-धियां अभीष्टः प्रौषधी।

वचनिका : इंद्रिय-विषय-जनित-सुख की इच्छा को मंद करनेवाला जो प्राणी, पर्व-चतुष्टय अर्थात् एक माह की दो अष्टमी और दो चतुर्दशी—इन चार पर्वों में आरंभ छोड़कर वास्तव में सदा उपवास करता है; वह प्रोषध-प्रतिमा-धारी, शुद्ध-बुद्धिओं को अभीष्ट अर्थात् वांक्षित है।।७०/५९२।।

अब, इस पद्य द्वारा सचित्त-त्याग-प्रतिमा वर्णित है—

उपजाति : **दयार्द्रचित्तः जिनवाक्यवेदी न वल्भते किञ्चन यः सचित्तम्।**
अनन्य-साधारण-धर्मपोषी सचित्तमोची च कषायमोची।।७१/५९३।।

जिन-वचन-ज्ञाता मन अति दया-युत जो नहीं लेता कुछ भी सचित्त।
अनन्य साधारण धर्म पोषक सचित्त-त्यागी है कषाय-मोचक।।७१/५९३।।

शब्दशः अर्थ : दया+आर्द्र-चित्तः=दया से भीगे चित्तवाला; जिन-वाक्य-वेदी=जिनेंद्र भगवान के वचनों को जाननेवाला; न=नहीं; वल्भते=खाता है; किञ्चन=कुछ; यः=जो; सचित्तं=सचित्त को; अन्+अन्य-साधारण-धर्म-पोषी=दूसरों के समान नहीं/असाधारण भाव से धर्म को पुष्ट करनेवाला; सचित्त-मोची=सचित्त का त्याग करनेवाला; सः=वह; कषाय-मोची=कषाय का त्याग करनेवाला।

अन्वय : दया-आर्द्र-चित्तः जिन-वाक्य-वेदी यः किञ्चन सचित्तं न वल्भते; अन्-अन्य-साधारण-धर्म-पोषी कषाय-मोची सः सचित्त-मोची।

वचनिका : दया से भीगे हुए चित्तवाला, जिनेंद्र के वचनों को जाननेवाला जो प्राणी, कुछ भी सचित्त नहीं खाता है; वह अन्य की समानता से रहित असाधारण भाव से धर्म को पुष्ट करनेवाला, कषाय-रहित, सचित्त-त्यागी कहलाता है।।७१/५९३।।

अब, इस पद्य द्वारा रात्रि-भोजन-त्याग या दिन में अब्रम्ह-त्याग-प्रतिमा निरूपित है—

उपजाति : **निषेवते यो दिवसे न नारीमुद्दाम-कन्दर्प-मदापसारी।**
कटाक्ष-विक्षेपशरीरविद्धो बुधैर्दिनब्रम्हचरः स बुद्धः।।७२/५९४।।

कटाक्ष विक्षेप शरीर वीधे उद्दाम कंदर्प घमंड नाशक।
जो पत्नि को दिन में नहीं सेता वह बुधों से ज्ञात दिन ब्रम्हचर्य।।७२/५९४।।

शब्दश: अर्थ : निषेवते=सेवन करता है; य:=जो; दिवसे=दिन में; न=नहीं; नारीं=पत्नी को; उद्दाम-कन्दर्प-मद+अपसारी=उद्दंड काम के घमंड को दूर करनेवाला; कटाक्ष-विक्षेप-शरीर-विद्ध:=स्त्री के कटाक्षों के चलानेरूप बाणों से विधे; बुधै:=ज्ञानिओं द्वारा; दिन-ब्रम्ह-चर:=दिवा-मैथुन-त्यागी; स:=वह; बुद्ध:=जाना गया है।

अन्वय : कटाक्ष-विक्षेप-शरीर-विद्ध: उद्दाम-कन्दर्प-मद-अपसारी य: दिवसे नारीं न निषेवते, स: दिन-ब्रम्ह-चर: (इति) बुधै: बुद्ध:।

वचनिका : तीव्र काम के मद को दूर करनेवाला जो पुरुष, दिन में स्त्री का सेवन नहीं करता है; स्त्री-कटाक्ष के चलानेरूप बाणों से नहीं भेदा गया वह, दिन में ब्रम्हचारी, पंडितों द्वारा कहा गया है। दिन में स्त्री का सेवन नहीं करना, वह दिन-ब्रम्हचारी है। यह रात्रि-भोजन का भी त्यागी है; अत: इसी का नाम रात्रि-भोजन-त्यागी भी कहा है—ऐसा जानना।।७२/५९४।।

अब, इस पद्य द्वारा ब्रम्हचर्य-प्रतिमा वर्णित है—

उपजाति : **यो मन्यमानो गुणरत्नचौरीं विरक्तचित्तस्त्रिविधेन नारीम्।**
पवित्रचारित्रपदानुसारी स ब्रम्हचारी विषयापहारी।।७३/५९५।।

गुण-रत्न-चोरी-कर मानता है नारी त्रिविध से वैराग्य हृदयी।
विषयों का त्यागी चारित्र पद का अनुसरणकर पावन ब्रम्हचारी।।७३/५९५।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; मन्यमान:=मानता हुआ; गुण-रत्न-चौरीं=गुणरूपी रत्न को चुरानेवाली; विरक्त-चित्त:=वैरागी हृदयवाला; त्रि-विधेन=तीन प्रकार से; नारीं=स्त्री को; पवित्र-चारित्र-पद+अनुसारी=निर्दोष चारित्र के पद का अनुसरण करनेवाला; स:=वह; ब्रम्हचारी=ब्रम्ह में आचरण करनेवाला; विषय+अपहारी=विषय का त्याग करनेवाला।

अन्वय : विरक्त-चित्त: य: नारीं गुण-रत्न-चौरीं मन्यमान: त्रिविधेन विषय-अपहारी; स: पवित्र-चारित्र-पद-अनुसारी ब्रम्हचारी।

वचनिका : जो विरक्त पुरुष, स्त्री को मन, वचन, काय से गुणरूपी रत्नों को चुरानेवाली मानता हुआ विषयों का त्यागी होता है; वह पवित्र चारित्र के पद का अनुसरण करनेवाला ब्रम्हचारी कहलाता है।।७३/५९५।।

अब, इस पद्य द्वारा आरंभ-त्याग प्रतिमा का प्ररूपण है—

उपजाति : **विलोक्य षड्जीवविघातमुच्चैरारम्भमत्यस्यति यो विवेकी।**
आरम्भ-मुक्त: स मतो मुनीन्द्रैर्विरागिक: संयमवृक्षसेची।।७४/५९६।।

अनेक षट्कायिक घात लखकर आरंभ तज देता जो विवेकी।
मुनींद्र सम्मत आरंभ-मुक्त संयम-तरु सिंचक वह विरागी।।७४/५९६।।

शब्दश: अर्थ : विलोक्य=देखकर; षट्-जीव-विघातं=षट्-कायिक जीवों के घात को; उच्चैः=उत्कृष्ट/अत्यधिक मात्रा में; आरम्भं=आरंभ को; अत्यस्यति=छोड़ देता है; यः=जो; विवेकी=विवेकवान; आरम्भ-मुक्तः=आरंभ से रहित; सः=वह; मतः=माना है; मुनीन्द्रैः= मुनींद्रों द्वारा; विरागिकः=वैराग्य-युक्त; संयम-वृक्ष-सेची=संयमरूपी वृक्ष को सीचनेवाला।
अन्वय : उच्चैः षट्-जीव-विघातं विलोक्य यः विवेकी आरम्भं अत्यस्यति; मुनीन्द्रैः सः विरागिकः संयम-वृक्ष-सेची आरम्भ-मुक्तः मतः।
वचनिका : अत्यधिक मात्रा में षट्-कायिक जीवों का घात देखकर जो विवेकी, आरंभ को छोड़ देता है; वह मुनींद्रों द्वारा आरंभ-रहित कहा है। कैसा है वह? वह वैरागी और संयम रूपी वृक्ष को सीचनेवाला है।।७४/५९६।।

अब, इस पद्य द्वारा परिग्रह-त्याग-प्रतिमा का निरूपण है—

उपजाति : **यो रक्षणोपार्जननश्वरत्वैर्ददाति दुःखानि दुरुत्तराणि।**
विमुच्यते येन परिग्रहोऽसौ गीतोपसङ्गैरपरिग्रहोऽसौ।।७५/५९७।।

बहु दुःख देता जो उपार्जन रक्षण विनश्वरता से सदा ही।
जो वह परिग्रह तजता कहा है मुनींद्र ने उसको अपरिग्रही ही।।७५/५९७।।

शब्दश: अर्थ : यः=जो; रक्षण+उपार्जन-नश्वरत्वैः=रक्षा करने, एकत्रित करने में नश्वरता के कारण; ददाति=देता है; दुःखानि=दुःखों को; दुः-उत्तराणि=कठिनाई से सहन होनेवाले; विमुच्यते=छोड़ दिया जाता है; येन=जिसके द्वारा; परिग्रहः=परिग्रह; असौ=वह; गीतः=कहा गया; अपसङ्गैः=संग/परिग्रह से पूर्णतया-रहित द्वारा; अपरिग्रहः=परिग्रह-रहित; असौ=वह।
अन्वय : यः रक्षण-उपार्जन-नश्वरत्वैः दुः-उत्तराणि दुःखानि ददाति, असौ परिग्रहः येन विमुच्यते, असौ अपरिग्रहः (इति) अपसङ्गैः गीतः।
वचनिका : जो परिग्रह, रक्षा करने, उपार्जन करने, विनश्वरता के माध्यम से अति कठिनता पूर्वक सहन होनेवाले दुःखों को देता है—ऐसा वह परिग्रह, जिसके द्वारा त्यागा गया है; वह, परिग्रह-रहित मुनिओं द्वारा अपरिग्रही कहा गया है।।७५/५९७।।

अब, इस पद्य द्वारा अनुमति-त्याग-प्रतिमा वर्णित है—

उपजाति : **आरम्भसन्दर्भविहीनचित्तः कार्येषु मारीमिव हिन्स्ररूपाम्।**
यो धर्ममन्तानुमतिं न दत्ते निगद्यते सोऽननुमन्तृमुख्यः।।७६/५९८।।

आरंभ करने से रहित मन-युत धर्मानुमोदक जो नहीं देता।
हिंसादि कार्यों में मारि-वत् है अनुमति अननुमोदक मुख्य होता।।७६/५९८।।

शब्दश: अर्थ : आरम्भ-सन्दर्भ-विहीन-चित्त:=आरंभ करने के भाव से रहित मनवाला; कार्येषु=कार्यों में; मारीं=मारी को; इव=समान; हिन्स्र-रूपां=हिंसारूप; य:=जो; धर्म-मन्ता=धर्म की अनुमोदना करनेवाला; अनुमतिं=स्वीकृति को; न=नहीं; दत्ते=देता है; निगद्यते=कहा गया है; स:=वह; अन्+अनुमन्तृ-मुख्य:=अनुमोदना नहीं करनेवालों में प्रधान।

अन्वय : आरम्भ-सन्दर्भ-विहीन-चित्त: धर्म-मन्ता य: मारीं इव हिन्स्र-रूपां कार्येषु अनुमतिं न दत्ते, स: अननुमन्तृ-मुख्य: निगद्यते।

वचनिका : आरंभ की रचना करने से रहित मनवाला, धर्म की अनुमोदना करनेवाला जो प्राणी हिंसकरूप मारी के समान पाप कार्यों में अनुमति अर्थात् सलाह नहीं देता है; वह अनुमोदना नहीं करनेवालों में प्रधान कहलाता है।

भावार्थ : पापकर्म की अनुमोदना का त्याग करनेवाला; अनुमति-त्यागी, दशम प्रतिमा-धारी कहलाता है—ऐसा जानना।।७६/५९८।।

अब, इस पद्य द्वारा उद्दिष्ट-त्याग-प्रतिमा निरूपित है—

उपजाति : **यो बन्धुराबन्धुर-तुल्यचित्तो गृह्णाति भोज्यं नव-कोटि-शुद्धम्।**
उद्दिष्टवर्जी गुणिभि: स गीतो विभीलुक: सन्सृतिमातुधान्या:।।७७/५९९।।

भले बुरे में समचित्त जो ले सुविशुद्ध भोज्य नव-कोटिओं से।
उद्दिष्ट-त्यागी गुणवान कहते भय-भीत भवरूपी राक्षसी से।।७७/५९९।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; बन्धुर-अबन्धुर-तुल्य-चित्त:=भले-बुरे में समान चित्तवाला; गृह्णाति=ग्रहण करता है; भोज्यं=आहार को; नव-कोटि-शुद्धं=नौ कोटिओं से शुद्ध; उद्दिष्ट-वर्जी=उद्दिष्ट का त्याग करनेवाला; गुणिभि:=गुणिओं द्वारा; स:=वह; गीत:=कहा गया है; विभीलुक:=भय-भीत; सन्सृति-मातुधान्या:=संसाररूपी राक्षसी से।

अन्वय : बन्धुर-अबन्धुर-तुल्य-चित्त: य: नव-कोटि-शुद्धं भोज्यं गृह्णाति, सन्सृति-मातुधान्या: विभीलुक: स: उद्दिष्ट-वर्जी (इति) गुणिभि: गीत:।

वचनिका : भले-बुरे आहार में समान चित्तवाला जो नव-कोटी से शुद्ध अर्थात् मन, वचन, काय द्वारा किया नहीं, कराया नहीं, किए हुए की अनुमोदना नहीं किए गए आहार को ग्रहण करता है; वह उद्दिष्ट-त्यागी है—ऐसा गुणवानों ने कहा है। कैसा है वह? संसाररूपी राक्षसी से भय-भीत है।।७७/५९९।।

इसप्रकार ग्यारह प्रतिमाओं का वर्णन हुआ।

यहाँ संक्षेप ऐसा है कि मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय के उदय का अभाव होने पर अविरत-सम्यक्त्व होता है। इनके साथ ही अप्रत्याख्यानावरण के उदय का अभाव होने पर देश-विरति नामक पंचम गुणस्थान होता है। उसके दर्शन-प्रतिमा से लेकर ऊपर-ऊपर/आगे-आगे विशुद्धता की अधिकता से ग्यारह भेद कहे हैं। सम्यक्त्व-सहित बारह व्रतों की ही ऊपर-ऊपर निर्मलता होती जाती है—ऐसा जानना।

प्रश्न : देशव्रत के घातक अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव हो जाने पर अब, हीनाधिक विशुद्धता किस कर्म के उदय से होती है?

उत्तर : यद्यपि यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नहीं है; तथापि प्रत्याख्यानावरण कषाय के तीव्र-मंद उदय से हीन-अधिक विशुद्धता होती है। जैसे—षष्ठम आदि गुणस्थानों में प्रत्याख्यानावरण कषाय का अभाव होने पर भी संज्वलन के तीव्र-मंद उदय से हीनाधिक विशुद्धता होती है; उसीप्रकार यहाँ जानना।

अब, इस पद्य द्वारा ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करने का फल प्ररूपित है—

शिखरिणी : **क्रमेणामून्श्चित्ते निदधति मुदैकादश गुणा-**
नलं निन्दागर्हा-निहित-मनसो येऽस्ततमसः।
भवान् द्वित्रान् भ्रान्त्वाऽमरमनुजयोर्भूरिमहसो-
विंधूतैर्नो बन्धाः *परमपदवीं यान्ति सुखदाम्।।७८/६००।।

निंदा गर्हा सयुक्त हर्षित मन-युत मोह तम से है विरहित,
क्रमशः ये ग्यारह गुण मन में धारे जो सदा भव परिभ्रम।
दो तीन सुर-नर में करके बहु तेजो-मय शुद्ध हो नित्य धोकर,
सब बंधन सुख-दायक उत्तम पदवी को करे शीघ्र प्राप्त।।७८/६००।।

शब्दशः अर्थ : क्रमेण=क्रमशः; अमून्=इन; चित्ते=उपयोग में; निदधति=धारण करता है; मुदः=प्रसन्नता-पूर्वक; एकादश=ग्यारह; गुणान्=गुणों/प्रतिमाओं को; अलं=पर्याप्त; निन्दा-गर्हा-अनीहित-मनसः=निंदा और गर्हा में लगे हुए मनवाले के; ये=जो; अस्त-तमसः=मोहांधकार से रहितवाले के; भवान्=भव को; द्वि-त्रान्=दो, तीन; भ्रान्त्वा=परिभ्रमणकर; अमर-मनुजयोः=देव और मनुष्य के; भूरि=अत्यधिक; महसोः=तेजवान के; विधूतैः=नष्ट कर देने से; नो बन्धाः=सभी प्रकार के बंधवाले; परम-पदवीं=उत्कृष्ट स्थान को/परम-

* परमपदमायान्ति सुखदम् - इति पाठान्तरम्।

पदं=उत्कृष्ट पद को; यान्ति=जाते हैं/आयान्ति=प्राप्त होते हैं; सुखदां=सुख देनेवाली/सुखदं-सुख-दायक।

अन्वय : निन्दा-गर्हा-अनीहित-मनसः अस्त-तमसः ये मुदा क्रमेण, अमून् अलं एकादश-गुणान् चित्ते निदधति भूरि-महसोः अमर-मनुजयोः द्वि-त्रान् भवान् भ्रान्त्वा विधूतैः नो बन्धाः (ते) सुखदां परम-पदवीं यान्ति/सुखदं परम-पदं आयान्ति।

वचनिका : अज्ञान-अंधकार से पूर्णतया-रहित, निंदा और गर्हा में मन लगानेवाले जो प्राणी, विशेष हर्ष-सहित इन पूर्वोक्त ग्यारह गुणों को क्रमशः चित्त में धारण करते हैं; बड़े हुए तेजवाले देव और मनुष्यों में दो-तीन भव घूमकर, सभी कर्मों को नष्ट करनेवाले वे, सुख को देनेवाली परम पदवी/सुखदाई परम पद मुक्ति को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ : जो सम्यग्दृष्टि ग्यारह प्रतिमा को धारण करते हैं; अपनी निंदा और गर्हा को करते हैं; वे दो-तीन भव देवादि के सुख भोगकर सिद्ध होते हैं—ऐसा जानना।।७८/६००।।

अब, इस पद्य द्वारा चारित्र को धारण करने का फल बताते हैं—

शिखरिणी : **इदं धत्ते भक्त्या गृहिजनहितं योऽत्र चरितं,**
मद-क्रोधायास-प्रमद-मदनारम्भ-मकरम्।
भवाम्भोधिं तीर्त्वा जननमरणावर्तनिचितं,
व्रजत्येषोऽध्यात्मामितगतिमतं निर्वृतिपदम्।।७९/६०१।।

यहाँ जो भक्ति से धारे चारित्र गृहि हितकर,
प्रमद मदन आरंभ मद क्रोध स्वेद मय मकर।
जन्म-मरण भँवरों युत भव सागर को सदा तिरकर,
अमितगति से सम्मत मुक्ति पाता अध्यात्मी यह।।७९/६०१।।

शब्दशः अर्थ : इदं=यह; धत्ते=धारण करता है; भक्त्या=भक्ति से; गृहि-जन-हितं=गृहस्थ-प्राणिओं का हित करनेवाला; यः=जो; अत्र=यहाँ; चरितं=चारित्र; मद-क्रोध+आयास-प्रमद-मदन+आरम्भ-मकरं=घमंड, क्रोध, स्वेद, हर्ष, काम, आरंभरूपी मगरमय; भव+अम्बोधिं=संसार-सागर को; तीर्त्वा=पारकर; जनन-मरण+आवर्त-निचितं=जन्म और मरणरूपी भँवरों से रहित; व्रजति=जाता है; एषः=यह; अध्यात्मा=ज्ञानी आत्मा; अमितगति-मतं=सर्वज्ञ भगवान द्वारा स्वीकृत; निर्वृति-पदं=मोक्ष पद को।

अन्वय : यः अत्र गृहि-जन-हितं इदं चरितं भक्त्या धत्ते; एषः अध्यात्मा मद-क्रोध-आयास-प्रमद-मदन-आरम्भ-मकरं जनन-मरण-आवर्त-निचितं भव-अम्भोधिं तीर्त्वा अमितगति-मतं निर्वृति-पदं व्रजति।

वचनिका : जो प्राणी, यहाँ भक्ति पूर्वक गृहस्थ-जन को हितरूप चारित्र को धारण करता है; यह ज्ञानी आत्मा, संसार-समुद्र को तिरकर सर्वज्ञ देव द्वारा बताए गए शिव-पद को प्राप्त होता है। वह संसार-समुद्र कैसा है? घमंड, क्रोध, स्वेद, हर्ष, काम, आरंभरूपी मगर और जन्म-मरणरूपी भँवरों से व्याप्त है।।७९/६०१।।

कवित्त छंद : **दरसन व्रत सामायिक प्रोसध सचित रात्रिभोजन परिहार।**
ब्रम्हचर्य आरंभ परिग्रह अनुमति विरति दसम सुखकार।।
पुनि उद्दिस्ट त्याग पडिमा इम धारत जो स्रावक दुखहार।
सो स्वर्गादि संपदा लहिकै होय अमितगति पद अविकार।।

अर्थ : दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्त-त्याग, रात्रि-भोजन-परिहार, ब्रम्हचर्य, आरंभ-त्याग, परिग्रह-त्याग, दशमी सुख-कारक अनुमति-विरति और उद्दिष्ट-त्याग प्रतिमा; दुःख का हरण करनेवालीं इन्हें जो श्रावक, धारण करता है, वह स्वर्गादि संपदा को प्राप्तकर अमित-गतियुत अविकार पद-संपन्न हो जाता है।।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में सप्तम परिच्छेद समाप्त हुआ।।७।।

अष्टम परिच्छेद

यहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अपने इष्ट-देव को नमनकर षट्-आवश्यक कहने का भाव व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **जिनं प्रणम्य सार्वीयं सर्वज्ञं सर्वतो मुखम्।**
आवश्यकं मया षोढा सङ्क्षेपेण निगद्यते।।१/६०२।।

सर्वतो-मुख सर्वज्ञ सर्वीय जिन नमनकर।
संक्षेप से कहता हूँ मैं यहाँ षट् आवश्यक।।१/६०२।।

शब्दश: अर्थ : जिनं=जिनेंद्र भगवान को; प्रणम्य=प्रणामकर; सार्वीयं=सभी ज्ञेयाकारोंरूप परिणमित ज्ञान-स्वरूपवाले; सर्वज्ञं=सब जाननेवाले; सर्वत:-मुखं=सब ओर मुखवाले; आवश्यकं=अवश्य करने-योग्य कार्य; मया=मेरे द्वारा; षोढा=छह प्रकारवाले; सङ्क्षेपेण=संक्षेप से; निगद्यते=कहे जाते हैं।

अन्वय : सार्वीयं सर्वज्ञं सर्वत: मुखं जिनं प्रणम्य मया सङ्क्षेपेण षोढा आवश्यकं निगद्यते।

वचनिका : जिनदेव को नमनकर मेरे द्वारा संक्षेप में छह प्रकार के आवश्यक कहे जाते हैं। वे जिनदेव कैसे हैं? सार्वीय अर्थात् सर्व ज्ञेयाकाररूप परिणमित ज्ञान-स्वरूप हैं, सभी को जाननेवाले सर्वज्ञ हैं और सभी ओर मुखवाले सर्व-दर्शी हैं।।१/६०२।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे विस्तार से कहने की असमर्थता को सकारण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आगमोऽनन्तपर्यायो यतो जैनो व्यवस्थित:।**
अभिधातुं तत: केन विस्तरेण स शक्यते।।२/६०३।।

यत: जिन-भाषित आगम अनंत भेद स्वरूप है।
अत: विस्तार से कहने उसे कौन समर्थ है?।।२/६०३।।

शब्दश: अर्थ : आगम:=वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक; अन्+अन्त-पर्याय:=अनंत भेदवाला; यत:=क्योंकि; जैन:=जिनेंद्र भगवान संबंधी; व्यवस्थित:=प्रतिपादित; अभिधातुं=कहने के लिए; तत:=इसलिए; केन=किसके द्वारा; विस्तरेण=विस्तार से; स:=वह; शक्यते=समर्थ है।

अन्वय : यत: जैन: व्यवस्थित: आगम: अनन्त-पर्याय:; अत: स: विस्तरेण अभिधातुं केन शक्यते।

वचनिका : क्योंकि जिन-भाषित आगम, अनंत भेद-स्वरूप व्यवस्थित है; अत: उसे विस्तार-सहित कहने में कौन समर्थ हो सकता है?।।२/६०३।।

ऐसा होने पर भी इस प्रतिपादन का कारण अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **मत्तोऽपि सन्ति ये बालाश्चित्राकारेषु जन्तुषु।**
अस्याव-बोधतस्तेषा-मुपकारो भविष्यति।।३/६०४।।

विविध प्राणिओं में जो मुझसे अधिक अज्ञ हैं।
उनका भी होगा उपकार इसके सत् अवबोध से।।३/६०४।।

शब्दश: अर्थ : मत्त:=मुझसे; अपि=भी; सन्ति=हैं; ये=जो; बाला:=अज्ञानी; चित्र+आकारेषु =अनेक प्रकारवाले; जन्तुषु=प्राणिओं में; अस्य=इसका; अवबोधत:=ज्ञान से; तेषां=उनके; उपकार:=भला; भविष्यति=होगा।

अन्वय : चित्र-आकारेषु जन्तुषु ये बाला: मत्त: अपि सन्ति; तेषां उपकार: अस्य अवबोधत: भविष्यति।

वचनिका : अनेक प्रकार के जीवों में मुझसे भी अधिक अज्ञानी हैं; उनका उपकार, इसके ज्ञान से होगा।

भावार्थ : आगम तो अनंत हैं; संपूर्ण कौन कह सकता है? परंतु यहाँ संक्षेप-मात्र आवश्यक का स्वरूप कहते हैं। मुझसे भी मंद-ज्ञानिओं का उपकार उसे जानने से होगा—ऐसा जानना।।३/६०४।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा सोदाहरण आवश्यक की सफलता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **आवश्यकं न कर्तव्यं नैष्फल्यादित्यसाम्प्रतम्।**
प्रशस्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धित:।।४/६०५।।
प्रशस्ताध्यवसायेन सञ्चितं कर्म नश्यते।
काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम्।।५/६०६।।

आवश्यक नहीं करना निष्फलता से मत कहो।
प्रशस्त परिणामों मय फल उपलब्धि यहाँ हो।।४/६०५।।
प्रशस्त परिणामों से नष्ट हों संचित करम।
जाज्वल्यमान अग्नि से काष्ठ हो निश्चित भसम।।५/६०६।।

शब्दश: अर्थ : आवश्यकं=आवश्यक; न=नहीं; कर्तव्यं=करना चाहिए; नैष्फल्यात्=फल-रहितपना होने से; इति=ऐसा; असाम्प्रतं=अयोग्य; प्रशस्त+अध्यवसायस्य=प्रशस्त परिणाम/पुण्य-भाव मय; फलस्य=फल का; अत्र=यहाँ; उपलब्धित:=प्राप्ति होने से।

प्रशस्त+अध्यवसायेन=पुण्य-परिणाम से; सञ्चितं=एकत्रित हुए; कर्म=पाप-कर्म; नश्यते=नष्ट हो जाते हैं; काष्ठं=लकड़ी; काष्ठ+अन्तकेन=लकड़ी की यम/अग्नि से; इव=समान;

दीप्यमानेन=जाज्वल्यमान; निश्चितं=नियम से।

अन्वय : नैष्फल्यात् आवश्यकं न कर्तव्यं इति असाम्प्रतं, अत्र प्रशस्त-अध्यवसायस्य फलस्य उपलब्धितः। दीप्यमानेन काष्ठ-अन्तकेन काष्ठं इव प्रशस्त-अध्यवसायेन सञ्चितं कर्म निश्चितं नश्यते।

वचनिका : कोई कहता है कि आवश्यक करना, योग्य नहीं है; क्योंकि उसके फल-रहितपना है। आचार्य उससे कहते हैं कि ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि इस आवश्यक में प्रशस्त-परिणामों की प्राप्ति है। जैसे—जाज्वल्यमान अग्नि द्वारा काष्ठ नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार प्रशस्त-परिणामों द्वारा, संचित कर्म नियम से नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : कोई कहता है कि आवश्यक का कुछ फल नहीं है; अत: वे आवश्यक नहीं करना चाहिए। उससे कहते हैं कि आवश्यक क्रिया करने से भले परिणाम होते हैं; उनसे कर्मों का नाश होता है; अत: आवश्यक-क्रिया, निष्फल नहीं है।।५/६०६।।

आवश्यक-क्रिया सर्वत्र संभव है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **जायते न स सर्वत्र न वाच्यमिति कोविदैः।**
स्फुटं सम्यक्कृते तत्र तस्य सर्वत्र सम्भवात्।।६/६०७।।

आवश्यक सर्वत्र न होते विज्ञ ऐसा नहिं कहें।
भली-भाँति करने पर वे संभव सर्वत्र हैं।।६/६०७।।

शब्दश: अर्थ : जायते=होता है; न=नहीं; स:=वह; सर्वत्र=सब जगह; न=नहीं; वाच्यं=कहने-योग्य; इति=ऐसा; कोविदैः=पंडितों द्वारा; स्फुटं=स्पष्टरूप में; सम्यक्-कृते=भली-भाँति किए जाने पर; तत्र=वहाँ; तस्य=उसका; सर्वत्र=सब जगह; सम्भवात्=संभव होने से।

अन्वय : तत्र सम्यक्-कृते स्फुटं तस्य सर्वत्र सम्भवात् स: सर्वत्र न जायते इति कोविदैः न वाच्यम्।

वचनिका : वह आवश्यक क्रिया, सब जगह नहीं होती है—पंडितों द्वारा ऐसा कहना योग्य नहीं है; क्योंकि आवश्यक क्रियाओं को भले प्रकार करने पर वे, सब जगह संभव हैं।

भावार्थ : कोई कहते हैं कि आवश्यक, सर्वत्र नहीं होते हैं। आचार्य उनसे कहते हैं कि भले प्रकार से करने पर वे सर्वत्र होते हैं; इसमें संदेह नहीं करना।।६/६०७।।

अब, इस पद्य द्वारा शास्त्रों को कहने का कारण प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **न सम्यक्करणं तस्य जायते ज्ञानतो विना।**
शास्त्रतो न विना ज्ञानं शास्त्रं तेनाभिधीयते।।७/६०८।।

भली-भाँति उसका करना ज्ञान विन होता नहीं।
ज्ञान शास्त्र विना नहीं हो अत: शास्त्र अभिधेय ही।।७/६०८।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; भली-भाँति करना; तस्य=उस/आवश्यक का; जायते=होता है; ज्ञानत:=ज्ञान से; विना=अतिरिक्त; शास्त्रत:=शास्त्र से; न=नहीं; विना=अतिरिक्त; ज्ञानं=ज्ञान; शास्त्रं=शास्त्र; तेन=उससे; अभिधीयते=कहा जाता है।

अन्वय : तस्य सम्यक्करणं ज्ञानत: विना न जायते, ज्ञानं शास्त्रतो विना न, तेन शास्त्रं अभिधीयते।

वचनिका : आवश्यक-क्रिया का भली-भाँति करना, उसके ज्ञान-विना नहीं होता है। ज्ञान, शास्त्र के विना नहीं होता है; अत: शास्त्र कहते हैं।।७/६०८।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे निष्कांक्ष-भाव से करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **लाभपूजायशोऽर्थित्वैस्तस्य सम्यक्कृतावपि।**
प्रशस्ताध्यवसायस्य सम्भवो नोपलभ्यते।।८/६०९।।

लाभ यश पूजा हेतु उसके सम्यक् करने पर।
भी नहिं पुण्य भावों का प्राप्त करना हो संभव।।८/६०९।।

शब्दश: अर्थ : लाभ-पूजा-यश+अर्थित्वे=लाभ, पूजा, यश की कामना होने पर; तस्य=उसका; सम्यक्-कृतौ=भली-भाँति किया होने पर; अपि=भी; प्रशस्त+अध्यवसायस्य= पुण्य-भाव का; सम्भव:=होना; न=नहीं; उपलभ्यते=पाया जाता है।

अन्वय : संपूर्ण पद्य अन्वय शैली में ही है।

वचनिका : लाभ, पूजा, यश के अर्थीपने से वांक्षा-सहित हो उस आवश्यक क्रिया को भली-भाँति करने पर भी प्रशस्त परिणाम का होना, प्राप्त नहीं होता है।।८/६०९।।

अब, इस पद्य द्वारा आवश्यक क्रिया के अधिकारी की पात्रता बताने का कारण प्ररूपित है —

अनुष्टुभ् : **तदयुक्तं यतो नेदं सम्यक्करणमुच्यते।**
अतएवात्र मृग्यन्ते सम्यक्कृत्यधिकारिण:।।९/६१०।।

यत: अयुक्त वह उसको सम्यक् करना नहीं कहें।
इसीलिए सम्यक् करने के अधिकारी खोजते।।९/६१०।।

शब्दश: अर्थ : तत्=वह; अयुक्तं=अनुचित; यत:=क्योंकि; न=नहीं; इदं=यह; सम्यक्-करणं=भली-भाँति करना; उच्यते=कहा है; अतएव=इसीलिए; अत्र=यहाँ; मृग्यन्ते=खोजते हैं; सम्यक्-कृति-अधिकारिण:=भली-भाँति करने के अधिकारिओं को।

अन्वय : यत: इदं सम्यक्-करणं न उच्यते, तत् अयुक्तं; अतएव अत्र सम्यक्-कृति-अधिकारिण: मृग्यन्ते।

वचनिका : वह लाभ, पूजा आदि की वांक्षा-सहित करना, योग्य नहीं है; क्योंकि वांक्षा-सहित यह करना, भला नहीं कहा है; इसीलिए यहाँ भली-भाँति करने के अधिकारी खोजते हैं।

भावार्थ : आवश्यक क्रिया को भले प्रकार करनेवाले का स्वरूप कहते हैं।।९/६१०।।

अब, इस पद्य द्वारा आवश्यक क्रिया करनेवाले की पात्रता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **सन्सारदेहभोगानां योऽसारत्वमवेक्षते।**
कषायेन्द्रिययोगानां जयनिग्रहरोधकृत्।।१०/६११।।

कषाय-जय इंद्रिय-निग्रह योग-रोध करे सदा।
संसार-तन-भोगों की असारता जो देखता।।१०/६११।।

शब्दश: अर्थ : सन्सार-देह-भोगानां=संसार, शरीर और भोगों का; य:=जो; असारत्वं= असारता को; अवेक्षते=देखता है; कषाय-इन्द्रिय-योगानां=कषाय, इंद्रिय और योगों का (क्रमश:); जय-निग्रह-रोध-कृत्=जय, निग्रह और निरोध करनेवाला।

अन्वय : कषाय-इन्द्रिय-योगानां (क्रमश:) जय-निग्रह-रोध-कृत् य: सन्सार-देह-भोगानां असारत्वं अवेक्षते।

वचनिका : जो प्राणी, संसार, शरीर और भोगों का असारपना देखता है और कषाय, इंद्रिय, योगों का यथाक्रम से जय, निग्रह, रोध करता है।

भावार्थ : कषायों को जीतता है, इंद्रियों का दमन करता है, मन-वचन-काय-संबंधी योगों को रोकता है; वह आवश्यक क्रिया का अधिकारी है।।१०/६११।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा संसार का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अनेकयोनि-पाताले विचित्र-गतिपत्तने।**
जन्ममृत्यु-जरावर्ते भूरिकल्मष-पायसि।।११/६१२।।
सन्सार-सागरे भीमे दु:ख-कल्लोल-सङ्कुले।
राग-द्वेष-महानक्रे रौद्रव्याधि-झषाकुले।।१२/६१३।।
चिरं बम्भ्रम्यमाणानां जिनेन्द्रपदवन्दना।
दुराया जायतेऽत्यर्थमिति यो हृदि मन्यते।।१३/६१४।।

अनेक योनीमय पाताल विविध गतिरूप पत्तन।
जन्म मृत्यु जरा भँवरें महा पापमई सजल।।११/६१२।।

दु:ख लहरों से व्याप्त राग द्वेष महा मगर।
भयंकर रोग मच्छों से भयानक भव सागर।।१२/६१३।।
यहाँ चिर से भ्रमित भवि को जिनेंद्र पद वंदना।
मिलना महा महा दुर्लभ ऐसा जो उर मानता।।१३/६१४।।

शब्दश: अर्थ : अनेक-योनि-पाताले=अनेक प्रकार की योनिओंरूपी पाताल-युक्त; विचित्र-गति-पत्तने=अनेक प्रकार की गतिओंरूपी पत्तन/बंदरगाहवाले; जन्म-मृत्यु-जरा-आवर्ते=जन्म, मरण, बुढापारूपी भँवरोंवाले; भूरि-कल्मष-पायसि=महा-पापोंरूपी जल से परिपूर्ण।

सन्सार-सागरे=संसाररूपी समुद्र में; भीमे=भयानक; दु:ख-कल्लोल-सङ्कुले=दु:खरूपी लहरों से व्याप्त; राग-द्वेष-महा-नक्रे=राग, द्वेषरूपी महा-मगरों से युक्त; रौद्र-व्याधि-झष+आकुले=भयंकर रोगोंरूपी मच्छों से आपूर्ण।

चिरं=अनादि काल से; बम्भ्रम्यमाणानां=भटकनेवालों के; जिनेन्द्र-पद-वन्दना=जिनेंद्र भगवान के चरण-कमलों की स्तुति आदि; दुराया=अति दुर्लभता से; जायते=होता है; अति+अर्थं=अत्यधिक; इति=इसप्रकार; य:=जो; हृदि=हृदय में; मन्यते=मानता है।

अन्वय : पहला ११वाँ पद्य अन्वय शैली में ही है। दूसरे १२वें पद्य में प्रथम चरण को चतुर्थ चरण के बाद 'भीमे सन्सार-सागरे'—इसप्रकार लेना है। तीसरे १३वें पद्य में 'अत्यर्थं' को 'वन्दना' के बाद और दुराया के पूर्व रखना है। शेष यथावत् हैं।

वचनिका : अनेक योनिओंरूपी पातालवाले, नाना प्रकार की गतिमय पत्तन/पुर/बंदरगाह से युक्त, जन्म-जरा-मृत्युरूपी आवर्तों/भँवरों से भरे हुए, महा-पापरूपी जलमय, दु:खरूपी लहरों से व्याप्त, राग-द्वेषरूपी विशाल मगरों से परिपूर्ण, भयानक रोगोंरूपी मच्छों से आपूर्ण भयानक संसार-समुद्र में अनादि-कालीन दीर्घ-काल से अत्यधिक भटकते हुए जीवों को, जिनेंद्र भगवान के चरणों की वंदना अत्यधिक दुर्लभ है—ऐसा जो हृदय में मानता है (वह संसार के स्वरूप का जानकार है।)।।११-१३/६१२-६१४।।

अब, इस पद्य द्वारा इसकी मान्यता को और भी स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अनर्थकारिण: कान्ता-जननी-जनकादय:।**
स्वस्योपकारिणो येऽलं बुध्यते परमेष्ठिन:।।१४/६१५।।

पत्नी माता पिता आदि अनर्थकारी जानता।
उपकारी अपने मात्र पाँचों परमेष्ठी सदा।।१४/६१५।।

शब्दश: अर्थ : अन्+अर्थ-कारिण:=बुरा करनेवाले; कान्ता-जननी-जनक+आदय:=पत्नी,

माता, पिता आदि; स्वस्य=अपना; उपकारिण:=अच्छा करनेवाला; य:=जो; अलं=मात्र; बुध्यते=जानता है; परमेष्ठिन:=परमेष्ठिओं को।

अन्वय : कान्ता-जननी-जनक-आदय: स्वस्य अनर्थ-कारिण:, स्वस्य उपकारिण: अलं परमेष्ठिन: (इति) बुध्यते।

वचनिका : जो स्त्री, माता, पिता आदि को अपना अनर्थ/बुरा करनेवाला और अपना उपकार/भला करनेवाले, मात्र पंच परमेष्ठिओं को मानता है (वह संसार-ज्ञ है।)।।१४/६१५।।

अब, इसे ही सात पद्यों द्वारा विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सर्वाणि गृहकार्याणि परकार्याणि पश्यति।**
शुद्धधीर्धर्मकार्याणि निजकार्याणि य: सदा*।।१५/६१६।।
यौवनं जीवितं धिष्ण्यमैश्वर्यं जनपूजितम्।
नश्वरं वीक्षते सर्वं शरदभ्रमिवानिशम्।।१६/६१७।।
दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयं भव-कानने।
जानीते दुर्लभं भूयो भ्रष्टं रत्नमिवाम्बुधौ।।१७/६१८।।
मयूरस्येव मेघौघे वियुक्तस्येव बान्धवे।
तृष्णार्तस्येव पानीये विबद्धस्येव मोक्षणे।।१८/६१९।।
सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने।
जायते यस्य सन्तोषो जिनवक्त्रविलोकने।।१९/६२०।।
परीषह-सह: शान्तो जिन-सूत्र-विशारद:।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरु-भक्त: प्रियम्वद:।।२०/६२१।।
आवश्यकमिदं धीर: सर्व-कर्म-निषूदनम्।
सम्यक्कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता।।२१/६२२।।

जो शुद्धधी घर के सब कार्यों को पर कार्य ही।
देखता धर्म-कार्यों को अपना कार्य सदा सभी।।१५/६१६।।
जवानी जीवन सौध ऐश्वर्य जन-पूज्यता।
सदा सभी शरद बादल-वत् नश्वर देखता।।१६/६१७।।
भव-वन में सद् दर्शन ज्ञान चारित्र एकता।
सागर में गए रत्न-वत् बहु दुर्लभ जानता।।१७/६१८।।
घनों में मोर को विछुड़े को बंधु-संयोग में।
प्यासे को जल में हर्ष बँधे हुए को मोक्ष में।।१८/६१९।।

* मन्यते – ऐसा पाठांतर है।

निरोगता में रोगी को नेत्र-विन को नेत्र में।
जिनेंद्र मुख दर्शन में जिसे संतोष हर्ष है।।१९/६२०।।
परीषह-विजयी शांत जिन-सूत्रों में निपुण।
सम्यग्दृष्टि गुरुभक्त प्रियवादी है मान विन।।२०/६२१।।
ऐसा धीर है योग्य सर्व कर्म विनाशकी।
आवश्यक सम्यक् करने अन्य योग्य नहीं कभी।।२१/६२२।।

शब्दशः अर्थ : सर्वाणि=सभी; गृह-कार्याणि=घर के कार्य; पर-कार्याणि=दूसरों के कार्य; पश्यति=देखता है; शुद्ध-धीः=सम्यग्ज्ञानी; धर्म-कार्याणि=धर्म कार्यों को; निज-कार्याणि=अपने कार्य; यः=जो; सदा=हमेशा/मन्यते=मानता है; यौवनं=जवानी; जीवितं=जीवन; धिष्ण्यं=महल; ऐश्वर्यं=वैभव; जन-पूजितं=मनुष्यों से पूज्य होना; नश्वरं=क्षणिक; वीक्षते=देखता है; सर्वं=सभी को; शरत्+अभ्रं=शरद-कालीन बादलों को; इव=समान; अनिशं=निरंतर। दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयं=दर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्रितय/एकपना; भव-कानने=संसाररूपी वन में; जानीते=जानता है; दुर्लभं=दुर्लभ; भूयः=पुनः; भ्रष्टं=गिरा हुआ; रत्नं=रत्न; इव=समान; अम्बुधौ=समुद्र में।

मयूरस्य=मोर का; इव=समान; मेघ+औघे=बादलों के समूह में; वियुक्तस्य=विछुड़े हुए का; इव=समान; बान्धवे=बन्धुओं के मिलने में; तृषा+आर्तस्य=प्यास से पीड़ित का; इव=समान; पानीये=जल में; विबद्धस्य=बँधे हुए का; इव=समान; मोक्षणे=छूटने में। स-व्याधेः=रोग से सहित का; इव=समान; कल्पत्वे=निरोगता में; वि-दृष्टेः=दृष्टि-विहीन का; लोचने=नेत्र में; जायते=उत्पन्न होता है; यस्य=जिसका; सन्तोषः=संतोष; जिन-वक्त्र-विलोकने=जिनेंद्र भगवान का मुख देखने में।

परीषह-सहः=परिषह को सहनेवाला; शान्तः=कषायों की मंदतावाला; जिन-सूत्र-विशारदः=जिन-सूत्र में प्रवीण; सम्यग्दृष्टिः=समीचीन दृष्टि-संपन्न; अन्+आविष्टः=मान-रहित; गुरु-भक्तः=गुरुओं का भक्त; प्रियम्वदः=प्रिय बोलनेवाला। आवश्यकं=आवश्यक को; इदं=यह; धीरः=धैर्यवान; सर्व-कर्म-निषूदनं=सभी कर्मों को नष्ट करनेवाला; सम्यक्-कर्तुं=भली-भाँति करने के लिए; असौ=वह; योग्यः=योग्य; न=नहीं; अपरस्य=दूसरे का; अस्ति=है; योग्यता=करने की क्षमता।

अन्वय : यः शुद्ध-धीः सदा सर्वाणि गृह-कार्याणि पर-कार्याणि पश्यति, धर्म-कार्याणि

निज-कार्याणि पश्यति/मन्यते। शरत्-अभ्रं इव यौवनं जीवितं धिष्ण्यं ऐश्वर्यं जन-पूजितं सर्वं अनिशं नश्वरं वीक्षते। अम्बुधौ भ्रष्टं रत्नं इव भव-कानने भूय: दर्शन-ज्ञान-चारित्र-त्रितयं दुर्लभं जानीते।

यह १८वाँ पद्य अन्वय शैली में ही है।

इस १९वें पद्य के भी प्रथम दो चरण अन्वय शैली में ही हैं। शेष का अन्वय इसप्रकार है—यस्य जिन-वक्त्र-विलोकने सन्तोष: जायते।

यह २०वाँ पद्य अन्वय शैली में ही है।

असौ धीर: सर्व-कर्म-निषूदनं इदं आवश्यकं सम्यक्-कर्तुं योग्य:, अपरस्य योग्यता न अस्ति।

वचनिका : जो सुबुद्धि, गृह संबंधी सभी कार्यों को अन्य के कार्य मानता है और धर्म-कार्यों को सदा, अपने कार्य मानता है। जो यौवन, जीवन, घर, लोक-मान्य ऐश्वर्य आदि सभी को शरद-कालीन मेघ के समान निरंतर विनाशीक देखता है। समुद्र में गिरे हुए रत्न की पुन: प्राप्ति जैसे दुर्लभ है; उसीप्रकार संसार-वन में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के त्रितय को दुर्लभ मानता है।

जैसे—मयूरों को मेघों के समूह में हर्ष होता है, बिछुड़े हुए को बांधव मिलने में हर्ष होता है, प्यास से पीड़ित पुरुष को जल में हर्ष होता है, बँधे हुए को छूटने में हर्ष होता है, रोग-सहित को निरोगता में हर्ष होता है, अंधे को नेत्र-प्राप्ति में हर्ष होता है; उसीप्रकार जिसे जिनेंद्र का मुख देखने में हर्ष/संतोष होता है।

जो क्षुधादि परिषहों को सहनेवाला, शांत, जिन-सूत्र में प्रवीण, सम्यग्दृष्टि, मान-रहित, गुरु-भक्त, प्रिय बोलनेवाला है; वह धीर पुरुष, सभी कर्मों को नष्ट करनेवाले आवश्यक को करने के लिए योग्य है। अन्य में उसे करने की योग्यता नहीं है—ऐसा जानना।।१५-२१/६१६-६२२।।

इसे ही इन दो पद्यों द्वारा पुन: कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **औचित्य-वेदक: श्राद्धो विधान-करणोद्यत:।**
कर्म-निर्जरणाकाङ्क्षी स्व-वशीकृत-मानस:।।२२/६२३।।
भाक्तिको बुद्धिमानर्थी बहुमान-परायण:।
पठने श्रवणे योग्यो विनयोद्यम-भूषित:।।२३/६२४।।

औचित्य-विद श्रद्धावान विधानकरण उद्यमी।
कर्म निर्जरा वांक्षक है स्वाधीन मानसी।।२२/६२३।।

भक्ति-धीयुत धर्मार्थी परायण बहु विनय में।
सविनय उद्यम भूषित पठन-श्रवण-योग्य है।।२३/६२४।।

शब्दश: अर्थ : औचित्य-वेदक:=उचितपने को जाननेवाला; श्राद्ध:=श्रद्धावान; विधान-करण+उद्यत:=आवश्यकरूप परिणमन करने में उद्यमी; कर्म-निर्जरण+आकाङ्क्षी=कर्मों की निर्जरा करने का इच्छुक; स्ववशी-कृत-मानस:=मन को अपने वश में करनेवाला।

भाक्तिक:=भक्ति-संपन्न; बुद्धिमान्=बुद्धि-सहित; अर्थी=धर्म का इच्छुक; बहु-मान-परायण:=अति विनयवान; पठने=पढ़ने में; श्रवणे=सुनने में; योग्य:=पात्रता-संपन्न; विनय+उद्यम-भूषित:=सविनय आवश्यक के उद्यम से सज्जित।

अन्वय : दोनों पद्य अन्वय-शैली में हैं।

वचनिका : ये कालादि, आवश्यक के उचित/योग्य हैं इत्यादिरूप में उचितपने को जाननेवाला, श्रद्धावान, आवश्यक का विधान/अनुष्ठान करने में उद्यमी, कर्म की निर्जरा का वांक्षक, मन को अपने वश में करनेवाला, भक्तिवान, बुद्धिमान, धर्मार्थी, अति विनय में तत्पर, पढ़ने-सुनने में योग्य, विनय पूर्वक आवश्यक के उद्यम से सुशोभित (व्यक्ति आवश्यक करने का पात्र है)।।२२-२३/६२३-६२४।।

अब, इसे ही उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **गुणाय जायते शान्ते जिनेन्द्र-वचनामृतम्।**
उपशान्त-ज्वरे पूतं भैषज्यमिव योजितम्।।२४/६२५।।

पूत औषधि गुणकारी शांत ज्वर में जिन-वचन।
मय अमृत गुण हेतु हो शांत में यह सत् वचन।।२४/६२५।।

शब्दश: अर्थ : गुणाय=गुण के लिए; जायते=होता है; शान्ते=कषायों की मंदता में; जिनेन्द्र-वचन+अमृतं=जिनेंद्र भगवान के वचनरूपी अमृत; उपशान्त-ज्वरे=ज्वर/बुखार के मंद होने पर; पूतं=पवित्र; भैषज्यं=औषधि; इव=समान; योजितं=ग्रहण की गई।

अन्वय : उपशान्त-ज्वरे योजितं पूतं भैषज्यं इव शान्ते जिनेन्द्र-वचन-अमृतं गुणाय जायते।

वचनिका : जैसे—ज्वर के मंद हो जाने पर ग्रहण की गई पवित्र औषधि, गुण-कारी/लाभ-दायक होती है; उसीप्रकार राग-द्वेष की मंदतावाले व्यक्ति में जिनेंद्र के वचनरूपी अमृत, गुण के लिए होता है।।२४/६२५।।

अयोग्य के लिए जिन-वचन अनर्थ-कारक हैं; इस पद्य द्वारा अब, यह निरूपित है—

अनुष्टुभ् : अयोग्यस्य वचो जैनं जायतेऽनर्थ-हेतवे।
यतस्ततः प्रयत्नेन मृग्यो योग्यो मनीषिभिः।।२५/६२६।।

अनर्थ हेतु होते हैं अयोग्य को ये जिन-वचन।
अतः मनीषिओं द्वारा खोजना योग्य सद्-यतन।।२५/६२६।।

शब्दशः अर्थ : अयोग्यस्य=अपात्र का; वचः=वचन; जैनं=जिन संबंधी; जायते=उत्पन्न होता है; अनर्थ-हेतवे=अनर्थ में कारण होने के लिए; यतः=क्योंकि; ततः=इसलिए; प्रयत्नेन=प्रयास पूर्वक; मृग्यः=खोजना चाहिए; योग्यः=उचित पात्र; मनीषिभिः=विद्वानों द्वारा।

अन्वय : यतः जैनं वचः अयोग्यस्य अनर्थ-हेतवे जायते ततः मनीषिभिः प्रयत्नेन योग्यः मृग्यः।

वचनिका : क्योंकि अयोग्य व्यक्ति के लिए जिनेंद्र के वचन, अनर्थ में निमित्त हो जाते हैं; अर्थात् मिथ्यादृष्टि, जिन-वचन का प्रयोजन नहीं जानकर उल्टा एकांत पकड़कर अपना बिगाड़ करता है; अतः पंडितों द्वारा प्रयत्न पूर्वक योग्य व्यक्ति देखना, उचित है।।२५/६२६।।

अब, इसे ही उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : कषायाकूलिते व्यर्थं जायते जिनशासनम्।
सन्निपात-ज्वरालीढे दत्तं पथ्यमिवौषधम्।।२६/६२७।।

सन्निपात ज्वरी को ज्यों पथ्य औषध व्यर्थ है।
कषाय से आकुल को त्यों जिन-शासन व्यर्थ है।।२६/६२७।।

शब्दशः अर्थ : कषाय+आकुलिते=कषाय से आकुलित/पीड़ित में; व्यर्थं=निरर्थक; जायते= होता है; जिन-शासनं=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्व; सन्निपात-ज्वर+आलीढे= सन्निपातवाले ज्वर से सहित में; दत्तं=दिया गया; पथ्यं=हितकर; इव=समान; औषधं=औषधि।

अन्वय : सन्निपात-ज्वर-आलीढे दत्तं पथ्यं औषधं इव कषाय-आकुलिते जिन-शासनं व्यर्थं जायते।

वचनिका : जैसे—सन्निपात ज्वर से सहित दशा में दिया गया पथ्य-औषध व्यर्थ होता है; उसीप्रकार कषाय से आकुलित व्यक्ति में जिन-शासन निरर्थक होता है।

भावार्थ : तीव्र-कषायी को जिन-वचन नहीं रुचते हैं—ऐसा जानना।।२६/६२७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा आवश्यक करनेवाले के चिन्ह बताते हैं—

अनुष्टुभ् : सत्कथा-श्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम्।।२७/६२८।।
कालक्रम-व्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्दवम्।
विज्ञेयानीति चिन्हानि षडावश्यककारिणः।।२८/६२९।।

सत्कथा श्रवणानंदी त्यागी निंदा-श्रवण का।
अलोभी उत्साही हो त्यागी निंदित-कर्म का।।२७/६२८।।
समय-सीमा प्रतिबद्ध शांतयुत निर्मानता।
षडावश्यक-कारी के चिन्ह ये सब जानना।।२८/६२९।।

शब्दश: अर्थ : सत्कथा-श्रवण+आनन्द:=अच्छी कथा/चर्चा को सुनने में आनंद; निन्दा-श्रवण-वर्जनं=निंदा-सुनने का त्याग; अलुब्धत्वं=निर्लोभता; अनालस्यं=आलस से रहितपना; निन्द्य-कर्म-व्यपोहनं=निंदा के योग्य कार्य का त्याग। काल-क्रम-व्युदासित्वं=समय के उल्लंघन का त्यागपना; उपशान्तत्वं+आर्दवं=आर्दव/ मान की मंदता; अथवा उपशान्तत्व-मार्दवं=शांतता और निर्मानता; विज्ञेयानि=जानना चाहिए; इति=इसप्रकार; चिन्हानि=लक्षण; षट्+आवश्यक-कारिण:=छह आवश्यक करनेवाले के।

अन्वय : पहला २७वाँ पद्य और दूसरे २८वें पद्य के दो चरण अन्वय में ही हैं; शेष दो चरणों का अन्वय इसप्रकार है—इति षट्-आवश्यक-कारिण: चिन्हानि विज्ञेयानि।

वचनिका : भली कथा को सुनने में आनंद, पर-निंदा को सुनने का त्याग; निर्लोभपना, आलस्य-रहितपना, निंद्य-कर्म का त्याग, काल के उल्लंघन का त्यागीपना, मान-रहितपना इत्यादि चिन्ह, षट्-आवश्यक को करनेवाले उपशान्त-व्यक्ति के जानने-योग्य हैं।।२७-२८/६२८-६२९।।

अब, यहाँ से षडावश्यक का वर्णन प्रारंभ होता है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा छह आवश्यक के नाम निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सामायिकं स्तव: प्राज्ञैर्वन्दना सप्रतिक्रमा।**
प्रत्याख्यानं तनूत्सर्ग: षोढावश्यकमीरितम्।।२९/६३०।।

सामायिक स्तव कहते वंदना सप्रतिक्रमण।
प्रत्याख्यान तनूत्सर्ग छह आवश्यक विज्ञजन।।२९/६३०।।

शब्दश: अर्थ : सामायिकं=सामायिक; स्तव:=स्तवन; प्राज्ञै:=विशिष्ट ज्ञानिओं द्वारा; वन्दना=वंदना; सप्रतिक्रमा=प्रतिक्रमण-सहित; प्रत्याख्यानं=प्रत्याख्यान; तनु+उत्सर्ग:=शरीर से ममत्व-त्याग/कायोत्सर्ग; षोढा=छह; आवश्यकं=आवश्यक; ईरितं=कहे गए हैं।

अन्वय : सामायिकं स्तव: वन्दना सप्रतिक्रमा प्रत्याख्यानं तनु-उत्सर्ग: षोढा आवश्यकं प्राज्ञै: ईरितम्।

वचनिका : १. सामायिक, २. स्तवन, ३. वंदना, ४. प्रतिक्रमण, ५. प्रत्याख्यान,

६. कायोत्सर्ग—ये छह प्रकार-युक्त आवश्यक, पंडितों द्वारा कहे गए हैं।।२९/६३०।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रत्येक के साथ ये छह-छह लगाने का निर्देश देते हैं—

अनुष्टुभ् : **द्रव्यतः क्षेत्रतः सम्यक्कालतो भावतो बुधैः।**
नामतो न्यासतो ज्ञात्वा प्रत्येकं तन्नियुज्यते।।३०/६३१।।
द्रव्य से क्षेत्र से काल भाव से नाम से सभी।
स्थापना से सम्यक् जान विज्ञ जोड़ें नित सभी।।३०/६३१।।

शब्दशः अर्थ : द्रव्यतः=द्रव्य से; क्षेत्रतः=क्षेत्र से; सम्यक्=भली-भाँति; कालतः=काल से; भावतः=भाव से; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; नामतः=नाम से; न्यासतः=स्थापना से; ज्ञात्वा =जानकर; प्रत्येकं=एक-एक/सभी में; तत्=उन्हें; नियुज्यते=लगाना चाहिए।

अन्वय : द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतः नामतः न्यासतः सम्यक् ज्ञात्वा तत् बुधैः प्रत्येकं नियुज्यते।

वचनिका : द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से, भाव से, नाम से, स्थापना से भले प्रकार जानकर ज्ञानी उन्हें प्रत्येक आवश्यक पर लगाते हैं।

भावार्थ : सामायिक आदि छहों क्रियाओं में नामादि छह-छह लगाते हैं; जैसे—द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक, भाव सामायिक, नाम सामायिक, स्थापना सामायिक। इसी प्रकार स्तव आदि में लगा लेना।।३०/६३१।।

अब, इस पद्य द्वारा सामायिक का स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **जीविते मरणे योगे वियोगे विप्रिये प्रिये।**
शत्रौ मित्रे सुखे दुःखे साम्यं सामायिकं विदुः।।३१/६३२।।
जीवन मरण संयोग वियोग अप्रिय प्रिय।
शत्रु मित्र सुख दुख में समता सामायिक समझ।।३१/६३२।।

शब्दशः अर्थ : जीविते=जीवन में; मरणे=मृत्यु में; योगे=संयोग में; वियोगे=वियोग में; विप्रिये=अप्रिय में; प्रिये=प्रिय में; शत्रौ=शत्रु में; मित्रे=मित्र में; सुखे=सुख में; दुःखे=दुःख में; साम्यं=समता को; सामायिकं=सामायिक; विदुः=कहते हैं।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : जीने में, मरने में; संयोग में, वियोग में; अप्रिय में, प्रिय में; शत्रु में, मित्र में; सुख में, दुःख में सम-भाव को सामायिक कहते हैं।

भावार्थ : जीने, मरने आदि सभी को ज्ञेयपने से समान जानकर राग-द्वेष नहीं करना, सामायिक कहलाता है।।३१/६३२।।

अब, इस पद्य द्वारा स्तव का स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **जिनानां जितजेयानामनन्त-गुण-भागिनाम्।**
स्तवोऽस्तावि गुणस्तोत्रं नामनिर्वचनं तथा।।३२/६३३।।

अनंत गुण संपन्न जितजेयी जिनेंद्र का।
गुण-स्तोत्र निरुक्ति-नाम वैसा स्तव जानना।।३२/६३३।।

शब्दश: अर्थ : जिनानां=जिनों/भगवान के; जित-जेयानां=जीतने-योग्य कर्मादि को जीतनेवालों के; अनन्त-गुण-भागिनां=अनंत गुण-संपन्न के; स्तव:=स्तव; अस्तावि=कहा है; गुण-स्तोत्रं=गुणों का स्तोत्र; नाम-निर्वचनं=नाम की निरुक्ति; तथा=उसप्रकार।

अन्वय : जित-जेयानां अनन्त-गुण-भागिनां जिनानां गुण-स्तोत्रं तथा नाम-निर्वचनं स्तव: अस्तावि।

वचनिका : जीतने-योग्य कर्मों को जीतनेवाले, अनंत गुणों से संपन्न जिन-अरहंत के गुणों का स्तोत्र तथा नाम की निरुक्ति करना, स्तव कहा है।

भावार्थ : जिनदेव के अनंत-ज्ञानादि गुणों का स्तोत्र पढ़ना तथा कर्म-बैरिओं को जीतें, वे जिन; इत्यादि रूप में नामों की निरुक्ति करना, स्तव है।।३२/६३३।।

अब, इस पद्य द्वारा वंदना का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **कर्मारण्यहुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनाम्।**
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्ध्या त्रिविधा बुधै:।।३३/६३४।।

कर्म-वन-दाहक अग्नि-वत् पाँचों परमेष्ठि को।
त्रिविधा त्रय शुद्धि पूर्वक नमन है वंदना सुनो।।३३/६३४।।

शब्दश: अर्थ : कर्म+अरण्य-हुताशानां=कर्मरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि के समान; पञ्चानां=पाँचों; परमेष्ठिनां=परमेष्ठिओं के; प्रणति:=नमन करना; वन्दना=वंदना; अवादि =कहा है; त्रि-शुद्ध्या=तीन की शुद्धि पूर्वक; त्रिविधा=तीन प्रकार से; बुधै:=ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : कर्म-अरण्य-हुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनां त्रिशुद्ध्या त्रिविधा प्रणति: बुधै: वन्दना अवादि।

वचनिका : कर्मरूपी वन को भस्म करने हेतु अग्नि-समान पंच-परमेष्ठिओं को मन, वचन, काय—तीन प्रकार की शुद्धि पूर्वक तीन प्रकार युक्त नमन करना, पंडितों द्वारा वंदना कही गई है।

भावार्थ : पंच परमेष्ठिओं को प्रणाम करना, वंदना है।।३३/६३४।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रतिक्रमण का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **द्रव्य-क्षेत्रादिसम्पन्न-दोषजाल-विशोधनम्।**
निन्दा-गर्हा-क्रियालीढं प्रतिक्रमणमुच्यते।।३४/६३५।।

द्रव्य क्षेत्रादि से प्रकटे दोषों के शोधन-निमित।
निंदा-गर्हा-क्रिया-संयुत विज्ञ कहते प्रतिक्रमण।।३४/६३५।।

शब्दश: अर्थ : द्रव्य-क्षेत्र+आदि-सम्पन्न-दोष-जाल-विशोधनं=द्रव्य, क्षेत्र आदि से लगे दोष के समूह की विशिष्ट शुद्धि करनेवाला; निन्दा-गर्हा-क्रिया+आलीढं=निंदा-गर्हामय क्रिया से संपन्न; प्रतिक्रमणं=प्रतिक्रमण; उच्यते=कहा है।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में ही है।

वचनिका : द्रव्य, क्षेत्र; आदि शब्द से काल और भाव से लगे दोष के समूह को निंदा, गर्हा आदि क्रिया-सहित विशेष शोधना, प्रतिक्रमण कहलाता है।

भावार्थ : लगे हुए दोषों को यादकर निंदा, गर्हा-सहित निराकरण करना, प्रतिक्रमण है।।३४/६३५।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रत्याख्यान का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम्।**
प्रत्याख्यानं समाख्यातमागाम्यागो निषिद्धये।।३५/६३६।।

आगामी पाप तजने को अयोग्य छह नामादि का।
त्रिधा विवर्जन करना, प्रत्याख्यान कहा गया।।३५/६३६।।

शब्दश: अर्थ : नाम+आदीनां=नाम आदि का; अयोग्यानां=अनुचित का; षण्णां=छहों का; त्रेधा=तीन प्रकार से; विवर्जनं=त्याग करना; प्रत्याख्यानं=प्रत्याख्यान; सम्+आख्यातं= कहा है; आगामी+आग:=भविष्य-कालीन पाप; निषिद्धये=छोड़ने के लिए।

अन्वय : आगामी-आग: निषिद्धये अयोग्यानां नाम-आदीनां षण्णां त्रेधा विवर्जनं प्रत्याख्यानं सं-आख्यातम्।

वचनिका : आगामी पाप का निषेध करने हेतु अयोग्य नामादि अर्थात् नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव—इन छहों का मन, वचन, काय पूर्वक त्याग करना, प्रत्याख्यान कहा है।

भावार्थ : आगामी पाप का त्याग करने के लिए अयोग्य द्रव्यादि का त्याग करना, प्रत्याख्यान कहलाता है।।३५/६३६।।

अब, इस पद्य द्वारा कायोत्सर्ग का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आवश्यकेषु सर्वेषु यथा-कालमनाकुलः।**
कायोत्सर्गस्तनूत्सर्गः प्रशस्तध्यानवर्धकः।।३६/६३७।।

यथा-समय सभी आवश्यक क्रिया में अनाकुल।
कायोत्सर्ग तनूत्सर्ग प्रशस्त-ध्यान-वर्धक।।३६/६३७।।

शब्दशः अर्थ : आवश्यकेषु=आवश्यकों में; सर्वेषु=सभी; यथा-कालं=यथा-समय; अन्+आकुलः=आकुलता-रहित; काय+उत्सर्गः=कायोत्सर्ग; तनु+उत्सर्गः=शरीर के प्रति ममत्व का त्याग; प्रशस्त-ध्यान-वर्धकः=प्रशस्त ध्यान को बड़ानेवाला।

अन्वय : सर्वेषु आवश्यकेषु यथा-कालं अनाकुलः तनु-उत्सर्गः प्रशस्त-ध्यान-वर्धकः कायोत्सर्गः।

वचनिका : सभी आवश्यक क्रियाओं में जिस काल चाहिए उसी काल आकुलता-रहित हो शरीर में ममत्व का त्याग, प्रशस्त ध्यान को बड़ानेवाला कायोत्सर्ग है।

भावार्थ : सामायिकादि क्रियाओं में यथा-काल शरीर से ममत्व छोड़ना, कायोत्सर्ग कहलाता है।।३६/६३७।।

अब, इस पद्य द्वारा आवश्यक क्रियाओं में आसन आदि का विधान कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **ज्ञेयास्तत्रासनं स्थानं कालो मुद्रा तनूत्सृतिः।**
प्रणामावर्तप्रमा दोषाः षडावश्यक-कारिभिः।।३७/६३८।।

जानना आसन स्थान काल मुद्रा तनूत्सृति।
प्रणामावर्त प्रमाण-दोष षडावश्यक-कारकी।।३७/६३८।।

शब्दशः अर्थ : ज्ञेयाः=जानना चाहिए; तत्र=वहाँ; आसनं=आसन; स्थानं=स्थान; कालः=काल; मुद्रा=आकार; तनु+उत्सृतिः=कायोत्सर्ग; प्रणाम+आवर्त-प्रमा-दोषाः=नमन, आवर्त, प्रमाण-दोष; षट्+आवश्यक-कारिभिः=छह आवश्यकों को करनेवालों द्वारा।

अन्वय : षट्-आवश्यक-कारिभिः तत्र आसनं स्थानं कालः मुद्रा तनु-उत्सृतिः प्रणाम-आवर्त-प्रमा-दोषाः ज्ञेयाः।

वचनिका : छह आवश्यक करनेवाले व्यक्तिओं द्वारा वहाँ १. आसन, २. स्थान, ३. काल, ४. मुद्रा, ५. कायोत्सर्ग, ६. प्रणाम, ७. आवर्त, ८. प्रमाण-दोष—इतनी वस्तुओं को जानना योग्य है।।३७/६३८।।

अब, इस पद्य द्वारा आसन शब्द का निरुक्ति-परक अर्थ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः।**
तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम्।।३८/६३९।।

वंदना-उद्यमी जिसमें जिससे स्थिर हों सदा।
देश पद्मासनादि सब उनको आसन जानना।।३८/६३९।।

शब्दश: अर्थ : आस्यते=बैठता है; स्थीयते=स्थिर होता है; यत्र=जिसमें; येन=जिससे; वा=अथवा; वन्दना+उद्यतै:=वंदना में उद्यमी व्यक्तिओं द्वारा; तत्=वह; आसनं=आसन; विबोद्धव्यं=जानना चाहिए; देश-पद्म+आसन+आदिकं=देश, पद्मासन आदि।

अन्वय : वन्दना-उद्यतै: यत्र वा येन आस्यते स्थीयते तत् देश-पद्मासन-आदिकं आसनं विबोद्धव्यम्।

वचनिका : वंदना करने में उद्यमी व्यक्ति द्वारा जिसमें या जिसके द्वारा आस्यते अर्थात् स्थिररूप हुआ जाता है; वह देश अर्थात् क्षेत्र और पद्मासनादि आसन जानने-योग्य हैं। इस प्रकार आसन शब्द की निरुक्ति की है।।३८/६३९।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा आवश्यक करने के लिए अयोग्य क्षेत्रों को कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **संसक्त: प्रचुरच्छिद्रस्तृणपान्श्वादिदूषित:।**
विक्षोभको हृषीकाणां रूपगन्धरसादिभि:।।३९/६४०।।
परीषहकरो दन्श-शीत-वातातपादिभि:।
असम्बद्ध-जनालाप: सावद्यारम्भगर्हित:।।४०/६४१।।
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्ट: समाधाननिषूदक:।
योऽशिष्टजन-सञ्चार: प्रदेशं तं विवर्जयेत्।।४१/६४२।।

संसक्त अति छिद्रोंयुत तृण धूलादि से मलिन।
रूप गंध रसादि से इंद्रियों को विक्षुब्धकर।।३९/६४०।।
दंश शीत पवन आतप आदि से परिषहकरी।
असंबद्ध-जनालाप निंदित पापारंभमई।।४०/६४१।।
गीला अनिष्टकर मन का समाधान-विनाशकी।
अशिष्टजन-संचारी स्थल जो वह त्याज्य ही।।४१/६४२।।

शब्दश: अर्थ : संसक्त:=भीड़-भाड़मय; प्रचुर-छिद्र:=अनेक छिद्र-युक्त; तृण-पान्शु+आदि-दूषित:=घास, धूल आदि से अपवित्र; विक्षोभक:=विशेष क्षुब्ध करनेवाला; हृषीकाणां= इंद्रियों के; रूप-गन्ध-रस+आदिभि:=रूप, गंध, रस आदि के द्वारा।

परीषहकर:=बाधा करनेवाला; दन्श-शीत-वात+आतप+आदिभि:=डाँस, ठंड, वायु, आतप आदि द्वारा; असम्बद्ध-जन+आलाप:=मनुष्यों के निरर्थक वार्तालापवाला; सावद्य+आरम्भ-गर्हित:=पापमय आरंभ से निंदित।

आर्द्रीभूत:=गीला; मन:+अनिष्ट:=मन का बुरा करनेवाला; समाधान-निषूदक:=समाधान का नाश करनेवाला; य:=जो; अशिष्ट-जन-सञ्चार:=असदाचारी व्यक्तिओं के आवागमन-युक्त; प्रदेशं=स्थान; तं=वह; विवर्जयेत्=छोड़ देना चाहिए।

अन्वय : य: सन्सक्त: प्रचुर-छिद्र: तृण-पान्शु-आदि-दूषित: रूप-गन्ध-रस+आदिभि: हृषीकाणां विक्षोभक: दन्श-शीत-वात-आतप-आदिभि: परीषहकर: असम्बद्ध-जन-आलाप: सावद्य-आरम्भ-गर्हित: आर्द्रीभूत: मन: अनिष्ट: समाधान-निषूदक: अशिष्ट-जन-सञ्चार: तं प्रदेशं विवर्जयेत्।

वचनिका : संसक्त अर्थात् स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि की भीड़वाला; अनेक छिद्रों से युक्त; घास, धूल आदि से दूषित; रूप, गंध, रस आदि द्वारा इंद्रियों को विशेष क्षुब्ध करनेवाला; ठंड, वायु, डाँस, आतप आदि द्वारा परिषह/बाधाएं करनेवाला; असंबद्ध अर्थात् संबंध से रहित निष्प्रयोजनीय, मनुष्यों के वचनालापवाला; पाप-सहित आरंभ द्वारा निंदित; गीला, मन का अनिष्ट करनेवाला, समाधान का नाश करनेवाला, नीच व्यक्तिओं के संचार-युक्त जो स्थान है; उसका त्याग कर देना चाहिए।

भावार्थ : चित्त को क्षोभ-कारक जानकर पूर्वोक्त क्षेत्र को, आवश्यक करनेवाला छोड़ दे।।३९-४१/६४०-६४२।।

अब, आवश्यक के योग्य-स्थान दो पद्यों द्वारा वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् :

विविक्त: प्राषुक: सेव्य: समाधानविवर्धक:।
देवर्जुदृष्टि-सम्पात-वर्जितो देव-दक्षिण:।।४२/६४३।।
जनसञ्चारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुल:।
नासन्नो नातिदूरस्थ: सर्वोपद्रव-वर्जित:।।४३।।६४४।।

एकांत प्राषुक सेव्य समाधान बड़ाए नित।
देव दृष्टि-गत न हों दाहिने हों देव नित।।४२/६४३।।
जन संचार से मुक्त नाति दूर न अति निकट।
सर्वोपद्रव से विरहित आकुलता विन थल ग्रहण।।४३/६४४।।

शब्दश: अर्थ : विविक्त:=पवित्र-निर्जन; प्राषुक:=अचित्त; सेव्य:=साधकों द्वारा सेवन-योग्य; समाधान-विवर्धक:=समाधान को बड़ानेवाला; देव-ऋजु-दृष्टि-सम्पात-वर्जित:=देव/जिन-बिंब पर सीधी दृष्टि पड़ने से रहित; देव-दक्षिण:=देव के दक्षिण/दाहिनेवाला। जन-सञ्चार-निर्मुक्त:=प्राणिओं के आवागमन से रहित; ग्राह्य:=ग्रहण करने-योग्य; देश:=स्थान;

निः+आकुलः=आकुलता से रहित; न=नहीं; आसन्नः=निकट; न=नहीं; अति-दूरस्थः= बहुत दूर स्थित; सर्व+उपद्रव-वर्जितः=सभी प्रकार की बाधाओं से रहित।

अन्वय : विविक्तः ..... वर्जितः देशः ग्राह्यः।

वचनिका : एकांत, प्राषुक, व्रतिओं द्वारा सेवन करने-योग्य, समाधान को बड़ानेवाला, देव अर्थात् जिन-बिंब पर सीधी दृष्टि पड़ने से रहित/प्रतिमादि की संमुखता से रहित, जिन-चैत्यादि की दाहिनी ओर वाला, मनुष्यों के आने-जाने से रहित, न अति निकट, न अति दूर, सभी उपद्रवों से रहित, निराकुल क्षेत्र, ग्रहण करने-योग्य हैं।

भावार्थ : ऐसे क्षेत्र में सामायिक करें।।४२-४३/६४३-६४४।।

अब, इस पद्य द्वारा बैठने-योग्य सामग्री का स्वरूप कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्थेयोऽछिद्रं सुखस्पर्शं विशब्दकमजन्तुकम्।**
तृणकाष्ठादिकं ग्राह्यं विनयस्योपबृंहकम्।।४४/६४५।।

स्थिर अछिद्र इष्ट-स्पर्श शब्द-विन जंतु-रहित।
विनय का वर्धक ग्राह्य तृण काष्ठादि संस्तर।।४४/६४५।।

शब्दशः अर्थ : स्थेयः=स्थिर; अछिद्रं=छिद्र-रहित; सुख-स्पर्शं=सुखरूप स्पर्शवाला; विशब्दकं=शब्द-रहित; अजन्तुकं=जीव-रहित; तृण-काष्ठ-आदिकं=घास, लकड़ी आदि; ग्राह्यं=ग्रहण करने-योग्य; विनयस्य=विनय का; उपबृंहकं=बड़ानेवाला।

अन्वय : मात्र 'ग्राह्यं' पद को अंत में करना है; शेष संपूर्ण अन्वयरूप है।

वचनिका : स्थिर, छिद्र-रहित, सुखरूप स्पर्शवाला, शब्द-रहित, जीव-रहित, विनय को बड़ानेवाला, तृण-काष्ठ आदि का संस्तर ग्रहण करने के योग्य है।।४४/६४५।।

अब, इस पद्य द्वारा पद्मासन का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जङ्घाया जङ्घयाश्लेषे समभागे प्रकीर्तितम्।**
पद्मासनं सुखाधायि सुसाध्यं सकलैर्जनैः।।४५/६४६।।

जंघा का जंघा से श्लिष्ट हो सम भाग में।
सुखाधार सभी जन से सुसाध्य पद्मासन कहें।।४५/६४६।।

शब्दशः अर्थ : जङ्घायाः=जंघा का; जङ्घया=जंघा से; आश्लेषे=गाढ चिपटने पर; सम-भागे =समान भाग में; प्रकीर्तितं=कहा है; पद्म+आसनं=पद्मासन; सुख+आधायि=सुख का आधार; सुसाध्यं=भली-भाँति साध्य; सकलैः=सभी; जनैः=मनुष्यों द्वारा।

अन्वय : सम-भागे जङ्घया जङ्घायाः आश्लेषे सुख-आधायि सकलैः जनैः सुसाध्यं पद्मासनं प्रकीर्तितम्।

वचनिका : समभाग में जंघा से जंघा का आश्लेष अर्थात् गाढ चिपटना होने पर सुख का आधार, सभी मनुष्यों द्वारा सुख से/सरलता-पूर्वक साधने-योग्य पद्मासन कहा है।।४५/६४६।।

अब, इस पद्य द्वारा पर्यंकासन का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **बुधैरुपर्यधो-भागे जङ्घयोरुभयोरपि।**
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम्।।४६/६४७।।
सकल दोनों जंघाएं अधो ऊपर भाग में।
करें पर्यंक आसन सब ज्ञानी जन उसे कहें।।४६/६४७।।

शब्दशः अर्थ : बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; उपरि=ऊपर; अधो-भागे=नीचे भाग में; जङ्घयोः=जंघा के; उभयोः=दोनों; अपि=भी; समस्तयोः=संपूर्ण; कृते=करने पर; ज्ञेयं=जानना चाहिए; पर्यङ्कासनं=पर्यंकासन/पालथी; आसनं=आसन।

अन्वय : समस्तयोः उभयोः अपि जङ्घयोः उपरि-अधो-भागे कृते बुधैः पर्यङ्कासनं आसनं ज्ञेयम्।

वचनिका : सभी दोनों जंघाओं को ऊपर और अधो भाग में करने पर पंडित-जनों द्वारा पर्यंकासन नामक आसन जानने-योग्य है।।४६/६४७।।।

अब, इस पद्य द्वारा वीरासन का स्वरूप निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति।**
वीरासनं जिरं कर्तुं शक्यं वीरैर्न कातरैः।।४७/६४८।।
जंघा ऊपर पैरों को रखने पर वीरासन।
दीर्घ करने में सक्षम वीर ही नहिं कायर।।४७/६४८।।

शब्दशः अर्थ : ऊर्वोः=जंघा के; उपरि=ऊपर; निक्षेपे=रखने पर; पादयोः=पैरों को; विहिते सति=किए जाने पर; वीर+आसनं=वीरासन; जिरं=दीर्घ-काल पर्यंत; कर्तुं=करने के लिए; शक्यं=समर्थ; वीरैः=वीरों द्वारा; न=नहीं; कातरैः=कायरों द्वारा।

अन्वय : ऊर्वोः उपरि पादयोः निक्षेपे विहिते सति वीरासनं, वीरैः जिरं कर्तुं शक्यं कातरैः न।

वचनिका : दोनों पैरों को ऊरू अर्थात् जंघा के ऊपर रखने पर वीरासन नामक आसन होता है। इस वीरासन को वीर पुरुष ही बहुत काल पर्यंत करने में समर्थ हैं; कायर, समर्थ नहीं हैं—ऐसा जानना।।४७/६४८।।

अब, इस पद्य द्वारा उत्कुटुकासन और गवासन वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **युतपार्ष्णिभवे योगे स्मृतमुत्कुटुकासनम्।**
गवासनं जिनैरुक्तमार्याणां यति-वन्दने।।४८/६४९।।

दोनों एड़ी के जुड़ने पर उत्कुटुकासन है कहा।
आर्यिका को यती-वंदन में गवासन जिन कहा।।४/६४९।।

शब्दश: अर्थ : युत-पार्ष्णि-भवे=दोनों एड़िओं का होने पर; योगे=योग/जुड़ान; स्मृतं=जानना; उत्कुटुक+आसनं=उत्कुटुकासन; गो+आसनं=गवासन; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; उक्तं= कहा है; आर्याणां=आर्यिकाओं का; यति-वन्दने=मुनि की वंदना में।

अन्वय : युत-पार्ष्णि-योगे भवे उत्कुटुक-आसनं स्मृतं यति-वन्दने आर्याणां गवासनं जिनै: उक्तम्।

वचनिका : दोनों एड़िओं के योग में उत्कुटुकासन जानना चाहिए। आर्यिकाएँ जब मुनिराजों की वंदना करती हैं; तब जिनेंद्र भगवान द्वारा उनका आसन, गवासन कहा गया है।।४८/६४९।।

अब, इस पद्य द्वारा आसनों का नियम बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **विनयासक्त-चित्तानां कृतिकर्म-विधायिनाम्।**
न कार्य-व्यतिरेकेण परमासनमिष्यते।।४९/६५०।।

विनयासक्त मनवाले कृति कर्म सुकारकी।
के कार्य विन नहीं अन्य आसनें मानी गईं।।४९/६५०।।

शब्दश: अर्थ : विनय+आसक्त-चित्तानां=विनय में आसक्त मनवाले; कृति-कर्म-विधायिनां= कृति-कर्म करनेवालों के; न=नहीं; कार्य-व्यतिरेकेण=कार्य के विना; परं=अन्य; आसनं= आसन; इष्यते=स्वीकार है।

अन्वय : विनय-आसक्त-चित्तानां कृति-कर्म-विधायिनां कार्य-व्यतिरेकेण परं आसनं न इष्यते।

वचनिका : विनय में आसक्त चित्तवाले, कृति-कर्म-करनेवाले व्यक्तिओं को कार्य के विना अन्य आसन स्वीकार नहीं हैं।

भावार्थ : पद्मासन और कायोत्सर्ग—इन आसनों के विना अन्य आसन, कुछ कार्य-विशेष हो तो करें। कार्य के विना ये दो ही आसन करना, योग्य है—ऐसा जानना।।४९/६५०।।

इसप्रकार ४५ से ४९ पर्यंत ५ पद्यों द्वारा आसन का वर्णन किया।

अब, इस पद्य द्वारा स्थान का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **स्थीयते येन तत् स्थानं द्वि:-प्रकारमुदाहृतम्।**
वन्दना क्रियते यस्मादूर्ध्वीभूयोपविश्य वा।।५०/६५१।।

जिससे स्थिर होते वह स्थान द्विधा कहा।
क्योंकि खड़े हो अथवा बैठ करते वंदना।।५०/६५१।।

शब्दश: अर्थ : स्थीयते=स्थिर होता है; येन=जिससे; तत्=वह; स्थानं=स्थान; द्वि:प्रकारं=दो प्रकारवाला; उदाहृतं=कहा गया; वन्दना=वंदना; क्रियते=की जाती है; यस्मात्=क्योंकि; ऊर्ध्वीभूय=खड़े होकर; उपविश्य=बैठकर; वा=अथवा।

अन्वय : येन स्थीयते तत् स्थानं यस्मात् ऊर्ध्वीभूय वा उपविश्य वन्दना क्रियते (अत:) तत् द्वि:प्रकारं उदाहृतम्।

वचनिका : जिससे स्थिर होता है, वह स्थान है; क्योंकि खड़े रहकर या बैठकर वंदना की जाती है; अत: स्थान के दो प्रकार कहे हैं।

भावार्थ : खड़े रहना या बैठना—इसप्रकार दो भेदवाला स्थान जानना चाहिए।

अब, इस पद्य द्वारा काल का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **घटिकानां मतं षट्कं सन्ध्यानां त्रितयं जिनै:।**
कार्यस्यापेक्षया काल: पुनरन्यो निगद्यते।।५१/६५२।।

छह घड़ी कहते तीनों संध्याओं का काल जिन।
कार्य की अपेक्षा से काल अन्य भि कहें जिन।।५१/६५२।।

शब्दश: अर्थ : घटिकानां=घड़िओं के; मतं=स्वीकृत है; षट्कं=छह; सन्ध्यानां=संध्याओं के; त्रितये=तीनों में; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; कार्यस्य=कार्य का; अपेक्षया=अपेक्षा से; काल:=काल; पुन:=फिर; अन्य:=दूसरा; निगद्यते=कहा है।

अन्वय : जिनै: त्रितये सन्ध्यानां षट्कं घटिकानां मतं पुन: कार्यस्य अपेक्षया अन्य: काल: निगद्यते।

वचनिका : प्रभात, मध्याह्न, सायं-कालरूप काल-त्रयमय तीनों संध्याओं में छह-छह घड़ी काल, जिनदेवों ने आवश्यक का कहा है; पुन: कार्य की अपेक्षा से अन्य कहा है।

भावार्थ : मुख्य काल तो छह घड़ी ही काल कहा है। कार्य की अपेक्षा से दो घड़ी आदि भी कहा है।।५१/६५२।।

अब, इसके बाद पाँच पद्यों द्वारा मुद्रा का वर्णन करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मुद्रा के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **जिनेन्द्र-वन्दना-योग-मुक्ताशुक्ति-विभेदत:।**
चतु-र्विधोदिता मुद्रा मुद्रा-मार्ग-विशारदै:।।५२/६५३।।

जिनेंद्र वंदना योग मुक्ताशुक्ति भेद से।
चतुर्विध कही मुद्रा मुद्रा-मार्ग-प्रवीण ने।।५२/६५३।।

शब्दश: अर्थ : जिनेन्द्र-वन्दना-योग-मुक्ताशुक्ति-विभेदत:=जिनेंद्र मुद्रा, वंदना मुद्रा, योग मुद्रा, मुक्ता-शुक्ति मुद्रा के विशिष्ट भेद से; चतु:-विधा+उदिता:=चार प्रकारवाली कही हैं; मुद्रा=मुद्रा; मुद्रा-मार्ग-विशारदै:=मुद्रा के मार्ग में प्रवीणों द्वारा।

अन्वय : जिनेन्द्र-वन्दना-योग-मुक्ता-शुक्ति-विभेदत: चतु:-विधा मुद्रा मुद्रा-मार्ग-विशारदै: उदिता:।

वचनिका : १. जिनेंद्र मुद्रा, २. वंदना मुद्रा, ३. योग मुद्रा, ४. मुक्ता-शुक्ति मुद्रा—इन भेदों से चार प्रकार की मुद्रा; मुद्रा के मार्ग में प्रवीण पुरुषों द्वारा कही गईं हैं।।५२/६५३।।

अब, इस पद्य द्वारा जिन-मुद्रा का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।**
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम्।।५३/६५४।।

दोनों पदों में चारांगुल अंतरकर दोनों भुजा।
लंबित घुटनों के ऊपर स्थित जिन-मुद्रा कहा।।५३/६५४।।

शब्दश: अर्थ : जिन-मुद्रा=जिनेंद्र भगवान की मुद्रा; अन्तरं=अंतर को; कृत्वा=करके; पादयो:=पैरों का; चतु:+अङ्गुलं=चार अंगुल; ऊर्ध्व-जानो:=घुटनों के ऊपर; अवस्थानं= स्थित; प्रलम्बित-भुज-द्वयं=लंबायमान दोनों भुजाओं को।

अन्वय : पादयो: चतु:-अङ्गुलं अन्तरं कृत्वा प्रलम्बित-भुज-द्वयं ऊर्ध्व-जानो: अवस्थानं जिन-मुद्रा।

वचनिका : दोनों पादों का चार अंगुल अंतरकर जिसमें लंबायमान दोनों भुजाएँ घुटनों के ऊपर स्थित हैं, उसे जिन-मुद्रा जानना चाहिए।।५३/६५४।।

अब, इस एक पद्य द्वारा वंदना-मुद्रा का स्वरूप निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **मुकुली-भूतमाधाय जठरोपरि-कूर्परम्।**
स्थितस्य वन्दना मुद्रा करद्वन्द्वं निवेदितम्।।५४/६५५।।

मुकुलीभूत विनती कर दोनों कर हैं कोहनी।
पेट ऊपर धरे स्थित वंदना मुद्रा कही।।५४/६५५।।

शब्दश: अर्थ : मुकुलीभूतं=कमल की डोडी के समान खुलने को तत्पर-जैसा आकार; आधाय=रखकर; जठर+उपरि=पेट के ऊपर; कूर्परं=कुटनी/कुहनी; स्थितस्य=स्थित का; वन्दना-मुद्रा=वंदना की मुद्रा; कर-द्वन्द्वं=दोनों हाथ; निवेदितं=विनती करनेवाला।

अन्वय : मुकुलीभूतं कूर्परं जठर-उपरि आधाय निवेदितं कर-द्वन्द्वं स्थितस्य वन्दना-मुद्रा।
वचनिका : मुकुलीभूत अर्थात् कमल की डोडी के समान, पेट के ऊपर कुटनी/कुहनी रखकर विनती करनेवाले हस्त-युगल को धारणकर स्थित व्यक्ति की वंदना-मुद्रा कही है।।५४/६५५।।

अब, इस पद्य द्वारा योग-मुद्रा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **जिना: पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम्।**
उत्तान-कर-युग्मस्य योग-मुद्रां वभाषिरे।।५५/६५६।।

ऊँचे मुख हथेली युत दोनों हाथों को रखें।
पद्मासनादि के अंक मध्य मुद्रा योग है।।५५/६५६।।

शब्दश: अर्थ : जिना:=जिनेंद्र भगवान; पद्म+आसन+आदीनां=पद्मासन आदि की; अङ्क-मध्ये=अंक/गोद के बीच में; निवेशनं=रखने को; उत्तान-कर-युग्मस्य=ऊँची हथेलीवाले दोनों हाथों की; योग-मुद्रां=योग-मुद्रा को; वभाषिरे=कहते हैं।
अन्वय : उत्तान-कर-युग्मस्य पद्मासनादीनां अङ्क-मध्ये निवेशनं जिना: योग-मुद्रां वभाषिरे।
वचनिका : हथेली के ऊँचे मुखवाले दोनों हाथों को पद्मासनादि की अंक/ओली/गोद के मध्य में रखने को अरहंतादि जिनेंद्र भगवान योग-मुद्रा कहते हैं।।५५/६५६।।

अब, इस पद्य द्वारा मुक्ता-शुक्ति-मुद्रा का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **मुक्ता-शुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्।**
ऊर्ध्वजानो: करद्वन्द्वं सन्लग्नाङ्गुलि सूरिभि:।।५६/६५७।।

पेट के ऊपर कुहनी घुटनों ऊपर कर-युगल।
अंगुली हैं संलग्न मुक्ता-शुक्ति है जैन-मत।।५६/६५७।।

शब्दश: अर्थ : मुक्ता-शुक्ति:=मुक्ता-शुक्ति नामक; मता=स्वीकृत है; मुद्रा=मुद्रा; जठर+उपरि=पेट के ऊपर; कूर्परं=कुहनी; ऊर्ध्व-जानो:=घुटनों के ऊपर; कर-द्वन्द्वं=दोनों हाथ; सन्लग्न+अङ्गुलि:=भली-भाँति जुड़ी अंगुलीवाली; सूरिभि:=आचार्यों द्वारा।
अन्वय : जठर-उपरि कूर्परं ऊर्ध्व-जानो: कर-द्वन्द्वं सन्लग्न-अङ्गुलि: मुक्ता-शुक्ति: मुद्रा सूरिभि: मता।
वचनिका : जिसमें पेट के ऊपर कुहनी, घुटनों के ऊपर दोनों हाथ और अंगुली भली-भाँति मिली हुई होती है; उसे मुक्ता-शुक्ति-मुद्रा, आचार्यों ने कहा है।

अब, इन पाँच पद्यों द्वारा कार्योत्सर्ग वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा भेद-सहित कायोत्सर्ग को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **त्यागो देह-ममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।**
उपविष्टोपविष्टादि-विभेदेन चतुर्विधा।।५७/६५८।।

तन-ममत्व का त्याग कायोत्सर्ग कहा गया।
उपविष्टोपविष्टादि भेदों से वह चतु: विधा।।५७/६५८।।

शब्दश: अर्थ : त्याग:=छोड़ना; देह-ममत्वस्य=शरीर से ममता का; तनु+उत्सृति:=कायोत्सर्ग; उदाहृता=कहा है; उपविष्ट-उपविष्ट+आदि-विभेदेन=उपविष्टोपविष्ट आदि विशिष्ट भेद से; चतु:-विधा=चार प्रकारवाला।

अन्वय : देह-ममत्वस्य त्याग: —शेष अन्वय में ही है।

वचनिका : शरीर में ममत्व का त्याग, कायोत्सर्ग है; वह उपविष्टोपविष्ट आदि भेद से चार प्रकारवाला कहा है।।५७/६५८।।

अब, इस पद्य द्वारा कायोत्सर्ग का प्रथम भेद उपविष्टोपविष्ट प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **आर्त-रौद्र-द्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।**
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृति:।।५८/६५९।।

जिसमें बैठकर चिंतन आर्त-रौद्रमई रहे।
कायोत्सर्ग उपविष्टोपविष्ट नामक कहें उसे।।५८/६५९।।

शब्दश: अर्थ : आर्त-रौद्र-द्वयं=आर्त और रौद्र—दोनों को; यस्यां=जिसमें; उपविष्टेन=बैठने से; चिन्त्यते=सोचा जाता है; उपविष्ट+उपविष्ट+आख्या=उपविष्टोपविष्ट नामक; कथ्यते=कहा है; सा=वह; तनु+उत्सृति:=कायोत्सर्ग।

अन्वय : यस्यां उपविष्टेन आर्त-रौद्र-द्वयं चिन्त्यते सा उपविष्ट-उपविष्ट-आख्या तनु-उत्सृति: कथ्यते।

वचनिका : जिसमें आर्त-रौद्र-ध्यान—दोनों, बैठकर चिंतित हैं; वह उपविष्टोपविष्ट नामक कायोत्सर्ग कहलाता है।

भावार्थ : जिसमें जीवों के परिणाम और शरीर—दोनों पड़ते/गिरते हैं; उससे वह उपविष्टोपविष्ट कहलाता है।।५८/६५९।।

अब, इसके दूसरे भेद उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग को इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **धर्म-शुक्ल-द्वयं यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।**
उपविष्टोत्थितां सन्तस्तां वदन्ति तनूत्सृतिम्।।५९/६६०।।

जिसमें बैठकर चिंतन धर्म-शुक्लमई रहे।
उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग संत-जन उसको कहें।।५९/६६०।।

शब्दश: अर्थ : धर्म-शुक्ल-द्वयं=धर्म और शुक्ल — दोनों ध्यानों को; यस्यां=जिसमें; उपविष्टेन= बैठने से; चिन्त्यते=सोचा जाता है; उपविष्ट+उत्थितां=उपविष्टोत्थित; सन्त:=संत-जन; तां=उसे; वदन्ति=कहते हैं; तनु+उत्सृतिं=कायोत्सर्ग को।

अन्वय : यस्यां धर्म-शुक्ल-द्वयं उपविष्टेन चिन्त्यते तां सन्त: उपविष्टोत्थितां तनूत्सृतिं वदन्ति।

वचनिका : जिसमें धर्म और शुक्ल — दोनों ध्यान बैठकर सोचते हैं; उसे संत-जन उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं।

भावार्थ : इसमें शरीर तो बैठा है और परिणाम चढ़ रहे हैं; अत: इसे उपविष्टोत्थित कहा है।।५९/६६०।।

अब, इस पद्य द्वारा उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग वर्णित है —

अनुष्टुभ् : **आर्त-रौद्र-द्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।**
तामुत्थितोपविष्टाह्वां निगदन्ति महाधिय:।।६०/६६१।।

जिसमें खड़े हो आर्त-रौद्र दो करते रहें।
उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग बुद्धिमान उसे कहें।।६०/६६१।।

शब्दश: अर्थ : आर्त-रौद्र-द्वयं=आर्त और रौद्र — दोनों ध्यानों को; यस्यां=जिसमें; उत्थितेन= खड़े होकर; विधीयते=किया जाता है; तां=उसे; उत्थित+उपविष्ट+आह्वां=उत्थितोपविष्ट नामक; निगदन्ति=कहते हैं; महा-धिय:=अति बुद्धि-शाली।

अन्वय : यस्यां आर्त-रौद्र-द्वयं उत्थितेन विधीयते तां महाधिय: उत्थितोपविष्ट-आह्वां निगदन्ति।

वचनिका : जिसमें आर्त और रौद्र — दोनों ध्यान खड़े होकर करते हैं; उसे महा-बुद्धिमान पुरुष उत्थितोपविष्ट नामक कायोत्सर्ग कहते हैं।

भावार्थ : इसमें परिणाम तो गिरे हुए हैं; परंतु शरीर खड़ा है; अत: इसे उत्थितोपविष्ट कहा है।।६०/६६१।।

अब, इस पद्य द्वारा उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग का प्ररूपण है —

अनुष्टुभ् : **धर्म-शुक्ल-द्वयं यस्यामुत्थितेन विधीयते।**
उत्थितोत्थितनामानं तं भाषन्ते विपश्चित:।।६१/६६२।।

जिसमें खड़े हो धर्म-शुक्ल दो करते रहें।
उत्थितोत्थित नामक कायोत्सर्ग उसे कहें।।६१/६६२।।

शब्दश: अर्थ : धर्म-शुक्ल-द्वयं=धर्म और शुक्ल — दोनों को; यस्यां=जिसमें; उत्थितेन=खड़े होकर; विधीयते=किया जाता है; उत्थित+उत्थित-नामानं=उत्थितोत्थित नामवाला; तं=उसे; भाषन्ते=कहते हैं; विपश्चित:=विद्वान-जन।

अन्वय : यस्यां धर्म-शुक्ल-द्वयं उत्थितेन विधीयते तं विपश्चित: उत्थितोत्थितनामानं भाषन्ते।

वचनिका : जिसमें धर्म और शुक्ल — दोनों ध्यान खड़े होकर करते हैं; उसे ज्ञानी, उत्थितोत्थित कायोत्सर्ग कहते हैं।

भावार्थ : जिसमें परिणाम भी चड़ते हैं और शरीर भी खड़ा है; उसे उत्थितोत्थित कहा है — ऐसा जानना।।६१/६६२।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा भेद-सहित प्रणाम का वर्णन है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा प्रणाम का स्वरूप प्ररूपित है —

अनुष्टुभ् :

एकद्वित्रिचतु:पञ्चदेहान्शप्रणतेर्मत:।
प्रणाम: पञ्चधा देवै: पादानतनरामरै:।।६२/६६३।।

एक दो तीन चतु पंच तन अंगों के नमन से।
प्रणाम पंचधा सुर-नर-पूज्य देव सदा कहें।।६२/६६३।।

शब्दश: अर्थ : एक-द्वि-त्रि-चतु:-पञ्च-देह+अन्श-प्रणते:=शरीर के एक, दो, तीन, चार, पाँच अंशों के नमन से; मत:=स्वीकृत है; प्रणाम:=प्रणाम; पञ्चधा=पाँच प्रकारवाला; देवै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; पाद+आनत-नर+अमरै:=चरणों में सब ओर से झुके हुए देव-मनुष्यवाले।

अन्वय : पाद-आनत-नर-अमरै: देवै: एक-द्वि-त्रि-चतु: पञ्च देह-अन्श-प्रणते: प्रणाम: पञ्चधा मत:।

वचनिका : जिनके चरणों में सब ओर से देव और मनुष्य नमन करते हैं, उन जिनदेव ने शरीर के एक, दो, तीन, चार, पाँच अंगों के नमन से पाँच प्रकार का प्रणाम कहा है।।६२/६६३।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा नमस्कार के भेद बताते हैं —

अनुष्टुभ् :

एकाङ्ग: शिरसो नामे सद्व्यङ्ग: करयोर्द्वयो:।
त्रयाणां मूर्धहस्तानां सत्र्यङ्गो नमने मत:।।६३/६६४।।
चतुर्णां करजानूनां नमने चतुरङ्गक:।
करमस्तकजानूनां पञ्चाङ्ग: पञ्चक्षनते।।६४/६६५।।

एकांग मात्र नत मस्तक दो हाथों से द्व्यंग है।
मस्तक दोनों हाथों के नमने से त्र्यंग है।।६३/६६४।।

दो हाथ दो घुटनों के नमने से चतुरंगक।
मस्तक हाथ घुटनों के नमने से पंचाग नत।।६४/६६५।।

शब्दश: अर्थ : एक+अङ्गः=एकांग; शिरसः=शिर के; नामे=झुकने पर; स-द्वि+अङ्गः=द्व्यंग; करयोः=हाथों के; द्वयोः=दोनों; त्रयाणां=तीनों के; मूर्ध-हस्तानां=मस्तक और दोनों हाथों के; सत्र्यङ्गः=त्र्यंग; नमने=झुकने में; मतः=स्वीकृत है; चतुर्णां=चारों के; कर-जानूनां=हाथ और घुटनों के; नमने=झुकने में; चतुः-अङ्गकः=चतुरंगक; कर-मस्तक-जानूनां=हाथ, मस्तक, घुटनों के; पञ्चाङ्गः=पंचांग; पञ्चक्ष-नते=पाँचों के झुकने पर।

अन्वय : शिरसः नामे एकाङ्गः, द्वयोः करयोः नामे सद्व्यङ्गः मूर्ध-हस्तानां त्रयाणां नमने सत्र्यङ्गः मतः; कर-जानूनां चतुर्णां नमने चतुरङ्गकः कर-मस्तक-जानूनां पञ्चक्ष-नते पञ्चाङ्गः।

वचनिका : मात्र मस्तक को ही नमाने में एकांग नमस्कार; दोनों हाथों को नमाने में द्व्यंग अर्थात् दोनों अंगों से नमस्कार; मस्तक और दोनों हाथों के नमाने में त्र्यंग अर्थात् तीनों अंगों से नमस्कार; दो हाथ और दो घुटने—इन चारों के नमन में चतुरंगक अर्थात् चार अंगों से नमस्कार और दो हाथ, एक मस्तक, दो घुटने—इन पाँचों को नमाने पर पंचांग नमस्कार है; ऐसा जानना।।६३-६४/६६४-६६५।।

अब, इस पद्य द्वारा आवर्त का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्।**
स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः।।६५/६६६।।

स्तव सामायिक आदि अंत में तन वचन मन।
का परिवर्तन आवर्त कहा बारह बार वह।।६५/६६६।।

शब्दश: अर्थ : कथिताः=कहा है; द्वादश+आवर्ताः=बारह आवर्त; वपुः-वचन-चेतसां= शरीर, वचन, मन का; स्तव-सामायिक+आदि+अन्त-परावर्तन-लक्षणाः=स्तव, सामायिक के आदि और अंत में परिवर्तन लक्षणवाले।

अन्वय : वपुः-वचन-चेतसां स्तव-सामायिक-आदि-अन्त-परावर्तन-लक्षणाः द्वादश-आवर्ताः कथिताः।

वचनिका : शरीर, वचन, मन का स्तवन और सामायिक के आदि-अंत में आवर्तन अर्थात् परिवर्तन लक्षणवाले बारह आवर्त कहे हैं।

भावार्थ : सामायिकादि के आदि-अंत में मन, वचन, काय के योग को हाथ जोड़कर तीन बार भक्ति-सहित पलटना; इसके बाद एक बार मस्तक नवाना; ऐसे चार बार मस्तक नवाने में बारह आवर्त जानना।।६५/६६६।।

अब, इस पद्य द्वारा कायोत्सर्ग की संख्या कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **अष्टाविन्शतिसङ्ख्याना: कायोत्सर्गा मता जिनै:।**
अहो-रात्र-गता: सर्वे षडावश्यक-कारिणाम्।।६६/६६७।।

षट् आवश्यक करनेवालों के दिन रात में।
कायोत्सर्ग अट्ठाईस संख्या कुल जिनवर कहें।।६६/६६७।।

शब्दश: अर्थ : अष्टा-विन्शति-सङ्ख्याना:=अट्ठाईस संख्यावाले; कायोत्सर्ग:=कायोत्सर्ग; मता:=स्वीकृत हैं; जिनै:=जिनेंद्र भगवान द्वारा; अहो-रात्र-गता:=दिन-रात संबंधी; सर्वे= सभी; षट्-आवश्यक-कारिणां=छह आवश्यक करनेवालों के।

अन्वय : षडावश्यक-कारिणां अहो-रात्र-गता: सर्वे अष्टाविन्शति: सङ्ख्याना: कायोत्सर्गा: जिनै: मता:।

वचनिका : छह आवश्यक करनेवालों के दिन-रात संबंधी सभी अट्ठाईस कायोत्सर्ग जिनदेव ने कहे हैं।।६६/६६७।।

उन अट्ठाईस कायोत्सर्ग में से कितने कहाँ होते हैं? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **स्वाध्याये द्वादश-प्राज्ञैर्वन्दनायां षडीरिता:।**
अष्टौ प्रतिक्रमे योगभक्तौ तौ द्वावुदाहृतौ।।६७/६६८।।

स्वाध्याय में बारह वंदना में छह कहे।
प्रतिक्रमण में अष्ट योग भक्ति में दो कहे।।६७/६६८।।।

शब्दश: अर्थ : स्वाध्याये=स्वाध्याय में; द्वादश=बारह; प्राज्ञै:=विद्वानों द्वारा; वन्दनायां=वंदना में; षट्+ईरिता:=छह कहे हैं; अष्टौ=आठ; प्रतिक्रमे=प्रतिक्रमण में; योग-भक्तौ=योग-भक्ति में; तौ=वे/कायोत्सर्ग; द्वौ=दो; उदाहृतौ=कहे हैं।

अन्वय : प्राज्ञै: स्वाध्याये द्वादश वन्दनायां षट् ईरिता: प्रतिक्रमे अष्टौ योग-भक्तौ तौ द्वौ उदाहृतौ।

वचनिका : पंडितों ने स्वाध्याय में बारह, वंदना में छह, प्रतिक्रमण में आठ और योग-भक्ति में दो कायोत्सर्ग कहे हैं। इसप्रकार सभी मिलकर कुल अट्ठाईस कायोत्सर्ग करने का अवसर जानना।।६७/६६८।।

कौन-सा कायोत्सर्ग, कितने उच्छ्वास पर्यंत करना? इसके उत्तर में अब, इस पद्य द्वारा उसका प्रमाण कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **अष्टोत्तरशतोच्छ्वास: कायोत्सर्ग: प्रतिक्रमे।**
सान्ध्ये प्राभातिके वार्धमन्यस्तत्सप्तविन्शति:।।६८/६६९।।

एक सौ आठ उच्छ्वासमय कायोत्सर्ग प्रतिक्रमण।
सांध्य में आधे प्रात: शेष सत्ताईस श्वास।।६८/६६९।।

शब्दश: अर्थ : अष्ट+उत्तर-शत+उच्छ्वास:=एक सौ आठ श्वासोच्छ्वास; काय+उत्सर्ग:= शरीर में ममत्व-त्याग; प्रतिक्रमे=प्रतिक्रमण में; सान्ध्ये=संध्या-कालीन; प्राभातिके=प्रभात-कालीन; वा=और; अर्धं=आधा/चौवन श्वासोच्छ्वास; अन्य:=शेष रहे दूसरे; तत्=वे/कायोत्सर्ग; सप्तविन्शति:=सत्ताईस।

अन्वय : सान्ध्ये प्रतिक्रमे कायोत्सर्ग: अष्ट-उत्तर-शत-उच्छ्वास: वा प्राभातिके अर्धं अन्य: तत् सप्तविन्शति:।

वचनिका : संध्या संबंधी प्रतिक्रमण में कायोत्सर्ग एक सौ आठ उच्छ्वास-मात्र कहा है; प्रभात संबंधी प्रतिक्रमण में आधा अर्थात् चौवन उच्छ्वास-मात्र और शेष रहे अन्य में कायोत्सर्ग सत्ताईस उच्छ्वास-मात्र कहा है।।६८/६६९।।

अब, इस पद्य द्वारा सत्ताईस श्वासोच्छ्वास की विधि बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **सप्तविन्शतिरुच्छ्वासा: सन्सारोन्मूलनक्षमे।**
सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति।।६९/६७०।।

संसार-नाश में सक्षम पंच नमोकार चिंतवन।
नौ बार करने पर हों सत्ताईस उच्छ्वास।।६९/६७०।।

शब्दश: अर्थ : सप्तविन्शति:=सत्ताईस; उच्छ्वासा:=श्वासोच्छ्वास; सन्सार-उन्मूलन-क्षमे=संसार का नाश करने में समर्थ; सन्ति=होते हैं; पञ्च+नमस्कारे=पंच नमस्कार में; नवधा=नौ बार; चिन्तिते सति=चिंतन करने पर।

अन्वय : सन्सार-उन्मूलन-क्षमे पञ्च-नमस्कारे नवधा चिन्तिते सति सप्त-विन्शति: उच्छ्वासा: सन्ति।

वचनिका : संसार का नाश करने में समर्थ पंच-नमस्कार मंत्र का नौ बार चिंतन करने पर सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं।

भावार्थ : णमोकार मंत्र का एक जाप तीन उच्छ्वास में करते हैं। ऐसे नौ बार जाप करने से सत्ताईस श्वासोच्छ्वास जानना।।६९/६७०।।

कौन-सी क्रिया, कितनी बार करनी चाहिए? अब, उसे स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रतिक्रमद्वयं प्राज्ञै: स्वाध्यायानां चतुष्टयम्।**
वन्दना त्रितयं योग-भक्ति-द्वितयमिष्यते।।७०/६७१।।

प्रतिक्रमण दो स्वाध्याय चार त्रय धा वंदना।
योग-भक्ति दो बार प्रतिदिन विज्ञ ने कहा।।७०/६७१।।

शब्दश: अर्थ : प्रतिक्रम-द्वयं=दो बार प्रतिक्रमण; प्राज्ञै:=विद्वानों द्वारा; स्वाध्यायानां=स्वाध्यायों के; चतुष्टयं=चार बार; वन्दना=वंदना; त्रितयं=तीन बार; योग-भक्ति-द्वितयं=योग-भक्ति दो बार; इष्यते=स्वीकृत है।

अन्वय : प्राज्ञै: प्रतिक्रमद्वयं .... इष्यते।

वचनिका : (प्रतिदिन के) प्रतिक्रमण दो, स्वाध्याय चार, वंदना तीन, योग-भक्ति दो बार पंडितों द्वारा मान्य है।।७०/६७१।।

अब, इस पद्य द्वारा इन सबकी अनिवार्यता का नियम बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **उत्कृष्ट-श्रावकेणैते विधातव्या: प्रयत्नत:।**
अन्यैरेते यथाशक्ति सन्सारान्तं यियासुभि:।।७१/६७२।।

उत्कृष्ट श्रावक को ये सप्रयत करणीय नित।
भव-पार-इच्छुक अन्य यथा-शक्ति करें सतत।।७१/६७२।।

शब्दश: अर्थ : उत्कृष्ट-श्रावकेण=उत्कृष्ट श्रावक के द्वारा; एते=ये; विधातव्य:=विशेषरूप से करने-योग्य हैं; प्रयत्नत:=प्रयत्न पूर्वक; अन्यै:=और दूसरों द्वारा; एते=ये; यथा-शक्ति=सामर्थ्य के अनुसार; सन्सारान्तं=संसार का अंत; यियासुभि:=चाहनेवालों के द्वारा।

अन्वय : उत्कृष्ट श्रावकेण एते प्रयत्नत: विधातव्य: सन्सार-अन्तं यियासुभि: अन्यै: एते यथा-शक्ति विधातव्या:।

वचनिका : पहले कहे हुए उत्कृष्ट श्रावकों को भली-भाँति जानकर ये प्रतिक्रमणादि, करने योग्य हैं। संसार का पार पाने के इच्छुक अन्य प्राणिओं को भी ये प्रतिक्रमणादि, शक्ति के अनुसार करने योग्य हैं।।७१/६७२।।

अब, इस पद्य द्वारा व्रती की अन्य के साथ प्रवृत्ति बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **इच्छाकारं समाचारं संयमासंयमस्थिति:।**
विशुद्ध-वृत्तिभि: सार्धं विदधाति प्रियम्वदा:।।७२/६७३।।

संयमासंयम वाला प्रियवादी सदा करे।
इच्छाकार समाचार विशुद्ध वृत्तिवान से।।७२/६७३।।

शब्दश: अर्थ : इच्छाकारं=मैं यह चाहता हूँ—ऐसा इच्छाकार नामक; सम्+आचारं=समान आचरण/समतामय व्यवहार को; संयम+असंयम-स्थिति:=कुछ संयम और कुछ असंयम

में वर्तनेवाला; विशुद्ध-वृत्तिभि:=विशुद्ध-वृत्तिवालों से; सार्धं=साथ; विदधाति=करता है; प्रियम्वदा:=प्रिय बोलनेवाला।

अन्वय : संयम-असंयम-स्थिति: प्रियम्वदा: विशुद्ध-वृत्तिभि: सार्धं इच्छाकारं समाचारं विदधाति।

वचनिका : एक ही समय में त्रस-हिंसा के त्यागी और स्थावर-हिंसा के अत्यागी इत्यादि रूप देशव्रतमय संयमासंयमी, प्रिय वचन बोलनेवाला, निर्मल प्रवृत्तिवाले आचार्यादि के साथ इच्छाकार नामक समाचार करता है।

भावार्थ : आचार्यादि के उपदेश में इच्छा करता हुआ श्रावक कहता है कि हे भगवन! आपका कहा हुआ मैं चाहता हूँ—ऐसा जानना।।७२/६७३।।

अब, इस पद्य द्वारा उत्कृष्ट श्रावक की चर्या बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम्।**
उत्कृष्टः कारयत्येष मुण्डनं तुण्ड-मुण्डयोः।।७३/६७४।।

वैराग्य की परम-भूमि संयम का निकेतन।
मुख शिर-केश का मुंडन कराता यह उत्तम।।७३/६७४।।

शब्दश: अर्थ : वैराग्यस्य=वैराग्य का; परां=श्रेष्ठ, भूमिं=स्थान; संयमस्य=संयम का; निकेतनं =भवन; उत्कृष्ट:=उत्कृष्ट श्रावक; कारयति=कराता है; एष:=यह; मुण्डनं=मुंडन को; तुण्ड-मुण्डयो:=मुख और शिर के बालों का।

अन्वय : एष: उत्कृष्ट: वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनं तुण्ड-मुण्डयो: मुण्डनं कारयति।

वचनिका : यह उत्कृष्ट श्रावक, वैराग्य की परम भूमिका और संयम का ठिकानारूप; तुंड अर्थात् मुख पर दाढी-मूछ के और मुंड अर्थात् शिर के केशों का मुंडन/मूड़ना कराता है।

भावार्थ : ग्यारह प्रतिमा का धारी उत्कृष्ट श्रावक, दाढी-मूछ और शिर के बाल कतरवाता/बनवाता है—ऐसा जानना।।७३/६७४।।

अब, इस पद्य द्वारा इसकी चर्या को पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ।**
एक-स्थानान्न-पानीयो निन्द-गर्हा-परायणः।।७४/६७५।।

मात्र कौपीन या वस्त्र-युक्त एक स्थान पर।
ग्रहण करता भोजन पान निंदा-गर्हा में तत्पर।।७४/६७५।।

शब्दश: अर्थ : केवलं=मात्र; वा=अथवा; स-वस्त्र=वस्त्र-सहित; वा=और; कौपीनं=

कौपीन; स्वीकरोति=स्वीकार करता है; असौ=वह; एक-स्थान+अन्न-पानीय:=एक स्थान पर ही भोजन-पान लेनेवाला; निन्द-गर्हा-परायण:=अपनी निंदा, गर्हा करने में प्रवीण।

अन्वय : एक-स्थान-अन्न-पानीय: निन्द-गर्हा-परायण: असौ केवलं कौपीनं वा सवस्त्रं कौपीनं स्वीकरोति।

वचनिका : एक स्थान पर ही अन्न-पान को लेनेवाला, अपनी निंदा और गर्हा करने में प्रवीण यह उत्कृष्ट श्रावक; मात्र कौपीन (ऐलक) या वस्त्र/चादर-सहित कौपीन (क्षुल्लक) को अंगीकार करता है।।७४/६७५।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी भिक्षा-विधि को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् :

स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमम्।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरणसूदनीम्।।७५/६७६।।

धर्म-लाभ शब्दों से सपात्री वह सुधा-सम।
जरा-मरण-क्षय-कारी भिक्षा माँगे प्रतिघर।।७५/७६।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह/उत्कृष्ट श्रावक; धर्म-लाभ-शब्देन=धर्म-लाभ शब्द द्वारा; प्रति-वेश्म=प्रत्येक घर; सुधा+उपमं=अमृत के समान; स-पात्र:=पात्र-सहित; याचते=माँगता है; भिक्षां=भिक्षा को; जरा-मरण-सूदनीं=बुढापा और मरण को नष्ट करनेवाली।

अन्वय : सपात्र: स: सुधा उपमं जरा-मरण-सूदनीं भिक्षां धर्म-लाभ-शब्देन प्रति-वेश्म याचते।

वचनिका : पात्र-सहित वह श्रावक प्रत्येक घर 'धर्म-लाभ' शब्द द्वारा अमृत-समान, जरा और मरण को नष्ट करनेवाली भिक्षा को माँगता है—ऐसा जानना।।७५/६७६।।

अब, इन ग्यारह पद्यों द्वारा वंदना संबंधी बत्तीस दोषों का प्ररूपण है—

अनुष्टुभ् :

समस्तादर-निर्मुक्तो मदाष्टक-वशीकृत:।
प्रतीक्ष्य पीडताकारी कूर्च-मूर्धज-कुञ्चक:।।७६/६७७।।
चलयन्निखिलं कायं दोलारूढ इवाभित:।
अग्रत: पार्श्वत: पश्चाद्रिन्षन् कूर्म इवाभित:।।७७/६७८।।
करटीवाङ्कुशारूढ: कुर्वन् मूर्ध-नतोन्नती।
क्षिप्रं मत्स्य इवोत्प्लुत्य* परेषां निपतन् पुर:।।७८/६७९।।
कुर्वन् वक्षो भुजद्वन्द्वं विज्ञप्तीं द्राविडीमिव।
पूज्यात्मासादनाकारी गुर्वादि-जनभीषित:।।७९/६८०।।

* इवोत्पत्य – इति पाठान्तरम्।

भय–सप्तक–वित्रस्तः परिवारर्धि–गर्वितः।
समाजतो बहिर्भूय किञ्चिल्लज्जाकुलाशयः।।८०।।६८१।।
प्रतिकूलो गुरोर्भूत्वा कुर्वाणो जल्पनादिकम्।
कस्यचिदुपरि क्रुद्धस्तस्याकृत्वा क्षमां त्रिधा।।८१।।६८२।।
ज्ञास्यते वन्दनां कृत्वा भ्रमयन्स्तर्जनीमिति।
हसनोद्धट्टने कुर्वन् भृकुटी कुटिलालकः।।८२/६८३।।
निकटी–भूय गुर्वादे–राचार्यादिभिरीक्षितः।
करदानं गणेर्मत्वा कृत्वा दृष्टिपथं गुरोः।।८३/६८४।।
लब्ध्वोपकरणादीनि तेषां लाभाशयापि च।
असम्पूर्ण–विधानेन सूत्रोदित–पिधायकम्।।८४/६८५।।
कुर्वन् मूक इवात्यर्थं हुङ्कारादि–पुरस्सरः।
वन्दारूणां स्वशब्देन परेषां छादयन् ध्वनिम्।।८५/६८६।।
गुर्वादे–रग्रतो भूत्वा मूर्धोपरिक्रम–भ्रमी।
द्वात्रिन्शदिति मोक्तव्या दोषा वन्दनकारिणाम्।।८६/६८७।।

समस्त आदर से विरहित आठ मद संपन्नता।
देख अंगों को पीड़े मुख–शिर केश मरोड़ता।।७६/६७७।।
डोला बैठे–सम सब ओर से सब तन हिलता हुआ।
आगे पीछे अगल बगल सब कछुआ–सम चेष्टा।।७७/६७८।।
अँगूठा करे अंकुश–सम माथा नत उन्नत करे।
उछल कर शीघ्र मछली–सम पड़ना आगे अन्य के।।७८/६७९।।
द्राविड़ी विज्ञप्ति–वत् दोनों भुज कर वक्ष पर।
पूज्य आसादना करके गुरु आदि से भीत रह।।७९/६८०।।
सात भय से पीड़ित हो परिवारादि ऋद्धिमद।
समाज से बहिर् किंचित् लज्जा से आकुल हृदय।।८०/६८१।।
हो प्रतिकूल गुरुओं से करते वचनालाप को।
किसी पर क्रोध कर त्रियोग से उस पर क्षमा न हो।।८१/६८२।।
तर्जनी को घुमाते कर वंदना बतला रहा।
अंग रगड़ हसे भृकुटी टेड़ी करता है सदा।।८२/६८३।।

निकट हो गुरु आदि के आचार्यादि देखते।
संघ में मान कर-दान गुरु से ओझल करे।।८३/६८४।।
उपकरणादि पा करना उपकरणादि चाहना।
अपूर्ण विधि से करना सूत्र-वर्णन ढाँकना।।८४/६८५।।
मूक-सम हुंकारादि बहुत कर वंदन करे।
अन्य की वंदन-ध्वनि को अपने शब्द से ढाँक दे।।८५/६८६।।
गुरु आदि से आगे हो मूर्धा में क्रम-भ्रमी।
इन बत्तीस दोषों को छोड़ते वंदन-कृती।।८६/६८७।।

शब्दश: अर्थ : समस्त+आदर-निर्मुक्त:=सभी प्रकार के आदर से पूर्णतया रहित; मद+अष्टक-वशीकृत:=आठ मदों के अधीन हुआ; प्रतीक्ष्य=देखकर; पीडता-कारी=अंगों को पीड़ने/दबानेवाला; कूर्च-मूर्ध-ज-कुञ्चक:=दाढी, मूछ और शिर के केश मरोड़नेवाला; चलयन्=चलता/हिलता हुआ; निखिलं=संपूर्ण; कायं=शरीर; दोला+आरूढ:=डोला में बैठा हुआ; इव=समान; अभित:=सब ओर से; अग्रत:=आगे से; पार्श्वत:=अगल-बगल से; पश्चात्=पीछे से; रिन्षन्=चेष्टा करते हुए; कूर्म:=कछुआ; इव=समान; अभित:=सब ओर से; करटी=हाथ का अँगूठा; इव=समान; अङ्कुश+आरूढ:=अंकुश चड़ा/लगा; कुर्वन्=करता हुआ; मूर्ध-नत+उन्नती=शिर का झुकना, ऊपर उठना; क्षिप्रं=शीघ्र; मत्स्य:=मछली; इव=समान; उत्प्लुत्य=उछलकर/उत्पत्य=तड़फड़ाते हुए; परेषां=दूसरों के; निपतन्=पड़ता/गिरता हुआ; पुर:=आगे।

कुर्वन्=करता हुआ; वक्ष:=छाती; भुज-द्वन्द्वं=दोनों भुजाओं को; विज्ञप्तीं=निवेदन को; द्राविड़ीं=द्रविड़ देश-वासी के; इव=समान; पूज्य+आत्मा+आसादना-कारी=पूज्य पुरुषों की आसादना करनेवाला; गुरु+आदि-जन-भीषित:=गुरु आदि जनों से भय-भीत; भय-सप्तक-वित्रस्त:=सात भयों से विशिष्ट दु:खी; परिवार+ऋद्धि-गर्वित:=परिवाररूप संपदा से घमंड-युक्त; समाजत:=समाज से; बहि:-भूय=बाहर होकर; किञ्चित्=कुछ; लज्जा+आकुल+आशय:=लज्जा से खेदित मनवाला; प्रतिकूल:=विरुद्ध; गुरो:=गुरु से; भूत्वा=होकर; कुर्वाण:=करता हुआ; जल्पन+ आदिकं=बोलना आदि को; कस्यचित्=किसी का; उपरि=ऊपर; क्रुद्ध:=क्रोधी हो; तस्य=उसका; अकृत्वा=नहीं कर; क्षमां=क्षमा को; त्रिधा=तीन प्रकार से।

ज्ञास्यते=ज्ञात हो; वन्दनां=वंदना को; कृत्वा=करके; भ्रमयन्=घुमाते हुए; तर्जनीं=

तर्जनी/अँगूठे के पासवाली अँगुली को; इति=इसप्रकार; हसन+उद्धट्टने=हसना, घर्षण में; कुर्वन्=करते हुए; भृकुटी=भौंहें; कुटिल+आलक:=टेड़ी करनेवाला; निकटीभूय=समीप होकर; गुरु+आदे:=गुरु आदि के; आचार्य+आदिभि:=आचार्य आदि द्वारा; ईक्षित:=देखे हुए से; कर-दानं=हाथ का देना/सहारा; गणे=संघ में; मत्वा=मानकर; कृत्वा=करके; दृष्टि-पथं=देखने के मार्ग को/अदृश्य; गुरो:=गुरु से।

लब्ध्वा=प्राप्तकर; उपकरण+आदीनि=उपकरण आदि को; तेषां=उनके; लाभ+आशया=प्राप्त होने की आशा से; अपि=भी; च=और; असम्पूर्ण-विधानेन=अपूर्ण पद्धति से; सूत्र+उदित+पिधायकं=सूत्र के अर्थ को छिपानेवाला; कुर्वन्=करते हुए; मूक:=नहीं बोलनेवाला; इव=समान; अति+अर्थं=बहुत अधिक; हुङ्कार+आदि-पुरस्सर:=मुख से ध्वनि निकालना आदि पूर्वक; वन्दारूणां=वंदना करनेवाले के; स्व-शब्देन=अपने शब्द से; परेषां=दूसरों के; छादयन्=ढाँकता हुआ; ध्वनिं=आवाज को; गुरु+आदे:=गुरु आदि से; अग्रत:=आगे; भूत्वा=होकर; मूर्धा+उपरि=चूलिका के ऊपर; क्रम-भ्रमी=क्रम में भ्रमित होनेवाला; द्वा-त्रिन्शत्=बत्तीस; इति=इसप्रकार; मोक्तव्या:=छोड़ना चाहिए; दोषा:=अपराध; वन्दन-कारिणां=वंदना करनेवालों के।

अन्वय : पहला ७६वाँ पद्य अन्वय में ही है। दोला-आरूढ: इव अभित: निखिलं कायं चलयन् कूर्म: इव अग्रत: पार्श्वत: पश्चात् अभित: रिन्षन्। अङ्कुश-आरूढ: करटी इव मूर्धा-नत-उन्नती कुर्वन् मत्स्य: इव क्षिप्रं उत्प्लुत्य/उत्पत्य परेषां पुर: निपतन्। द्राविडीं विज्ञप्तीं इव भुज-द्वन्द्वं वक्ष: कुर्वन्—शेष अन्वय में है।

यह ८०वाँ पद्य अन्वय में ही है। गुरो: प्रतिकूल: भूत्वा जल्पन-आदिकं कुर्वाण: कस्यचित् उपरि क्रुद्ध: त्रिधा क्षमां अकृत्वा; तर्जनीं भ्रमयन् ज्ञास्यते इति वन्दनां कृत्वा—शेष अन्वय में ही है। गुरु-आदे: निकटीभूय आचार्यादिभि: ईक्षित: गणे कर-दानं मत्वा गुरो: दृष्टि-पथं कृत्वा; उपकरण-आदीनि लब्ध्वा च तेषां लाभ-आशया अपि—शेष अन्वय में है। मूक: इव अत्यर्थं हुङ्कारादि पुरस्सर: कुर्वन् स्व-शब्देन वन्दारूणां परेषां ध्वनिं छादयन्। इस ८६वें पद्य का पूर्वार्ध अन्वय में है। इति द्वात्रिन्शत् दोषा: वन्दन-कारिणां मोक्तव्या:।

वचनिका : **१.** समस्त आदर-रहित क्रिया-कर्म करना, **अनादृत दोष**; **२.** जाति आदि अष्ट मद के वशीभूत हो वंदना करना, **स्तब्ध दोष**; **३.** प्रतीक्ष्य अर्थात् देखकर अंगों को पीड़ना, दाबना, **पीड़ित दोष**; **४.** दाढी, मूछ और शिर के केशों को मरोड़ना, **कुंचित दोष**; **५.** डोला में बैठे हुए के समान समस्त शरीर को चलाते हुए वंदना करना, **दोलायित दोष**; **६.** कछुवे के समान अंगों का संकोच-विस्तार करते हुए आगे से, पार्श्व से, पीछे से सब ओर से चेष्टा

करना, **कच्छपैंगित दोष**; ७. हाथ के अँगूठे को मस्तक पर अंकुश के समान लगाकर उसी के समान मस्तक को नीचा-ऊँचा करना, **अंकुशित दोष**; ८. मच्छ के समान उछलकर दूसरों के आगे पड़ना या मछली के समान तड़फड़ाना, **मत्स्योद्वर्त दोष**; ९. द्रविड़ देश के व्यक्ति की विनती के समान वक्षस्थल पर दोनों हाथ करके वंदना करना, **द्राविड़ी-विज्ञप्ति दोष** अथवा **वेदिका-बद्ध दोष**; १०. आचार्यादि पूज्य-पुरुषों की विराधना करते हुए वंदना करना, **आसादना दोष**; ११. गुरु आदि के भय से वंदना करना, **विभीत दोष**; १२. मरणादि सात भयों से भय-भीत हो वंदना करना, **भय दोष**; १३. परिवार ऋद्धि से गर्वित होते हुए वंदना करना, **ऋद्धि-गौरव दोष**; १४. साधर्मिओं की समाज से बाहर होकर मानो लज्जा से किंचित् आकुलित हो वंदना करना, **लज्जित दोष**; १५. गुरु के प्रतिकूल होकर वंदना करना, **प्रतिकूल दोष**; १६. वचनालाप आदि करते हुए वंदना करना, **शब्द दोष**; १७. किसी के ऊपर क्रोधित हो उससे मन, वचन, काय द्वारा क्षमा नहीं कराके वंदना करना, **प्रदुष्ट दोष**; १८. कोई जान लेगा—इस रूप में अंगुली को घुमाते हुए वंदना करना, **मनो दुष्ट दोष**; १९. हसते और अंग-घिसना करते हुए वंदना करना, **हसनोद्घट्टन दोष**; २०. भौंह टेड़ी कर वंदना करना, **भृकुटी-कुटिल दोष**; २१. गुरु आदि के अति निकट होकर वंदना करना, **प्रविष्ट दोष**; २२. आचार्यादि के देखते हुए वंदना करना अर्थात् आचार्यादि के समक्ष तो भले प्रकार से करना, अन्यथा यद्वा-तद्वा करना, **दृष्ट दोष**; २३. संघ में कर-दान कर अर्थात् संघ में खुशी रहने के लिए अथवा संघ से भक्ति आदि की वांक्षाकर वंदना करना, **कर-मोचन दोष**; २४. गुरु की आँख छिपाकर वंदना करना, **अदृष्ट दोष**; २५. उपकरण आदि पाकर वंदना करना, **आलब्ध दोष**; २६. उपकरण आदि को पाने की कामना से वंदना करना, **अनालब्ध दोष**; २७. असंपूर्ण विधान अर्थात् काल, शब्द, अर्थ इत्यादि से हीन वंदना करना, **हीन दोष**; २८. सूत्र के अर्थ को ढाँककर वंदना करना, **पिधायक दोष**; २९. गूँगे के समान अधिकता से हुंकारादि करते हुए वंदना करना, **मूक दोष**; ३०. वंदना करनेवालों के शब्दों को अपने शब्दों से दबाकर वंदना करना, **दर्दुर दोष**; ३१. गुरु आदि के आगे होकर वंदना करना, **अग्र दोष**; ३२. अंत में वंदना की चूलिका में क्रम भूल, जल्दी करना अर्थात् जब वंदना थोड़ी-सी शेष रहे, तब जल्दी-जल्दी कर क्रम भूल जाना, **उत्तर चूलिका दोष**—ये बत्तीस दोष, वंदना करनेवालों को त्याग करने योग्य हैं।।७६-८६/६७७-६८७।।

अब, इस पद्य द्वारा निर्दोष वंदना का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **क्रियमाणा प्रयत्नेन क्षिप्रं कृषिरिवेप्सितम्।**
निराकृतमला दत्ते वंदना फलमुल्वणम्।।८७/६८८।।

प्रयत्न से की गई खेती शीघ्र देती इष्ट फल।
त्यों दोष-विरहित वंदना देती सदा वांक्षित सुफल।।८७/६८८।।

शब्दश: अर्थ : क्रियमाणा=की गई; प्रयत्नेन=प्रयत्न द्वारा; क्षिप्रं=शीघ्र; कृषि:=खेती; इव= समान; ईप्सितं=वांक्षित; निराकृत-मला=दोषों से रहित; दत्ते=देती है; वन्दना=वंदना; फलं=फल; उल्वणं=बहुत बड़ा।

अन्वय : प्रयत्नेन क्रियमाणा कृषि: क्षिप्रं ईप्सितं इव निराकृत-मला वन्दना उल्वणं फलं दत्ते।

वचनिका : जैसे—प्रयत्न-पूर्वक तृण, कंटकादि मल से रहित की गई खेती, महा-फल देती है; उसी प्रकार प्रयत्न-पूर्वक दोषों से रहित की गई वंदना, वांक्षित महा-फल देती है—ऐसा जानना।।८७/६८८।।

अब, इन ग्यारह पद्यों द्वारा कायोत्सर्ग के बत्तीस दोष वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् :

स्तब्धीकृतैक-पादस्य स्थानमश्चपतेरिव।
चलनं वात-धूताया लताया इव सर्वत:।।८८/६८९।।
श्रयणं स्तम्भकुड्यादे: पट्टकाद्युपरिस्थिति:।
उपरि मालमालम्ब्य शिरसावस्थिति: कृता।।८९/६९०।।
निगडेनेव बद्धस्य विकटाङ्घ्रिरवस्थिति:।
कराभ्यां जघनाच्छाद: किरात-युवतेरिव।।९०/६९१।।
शिरसो नमनं कृत्वा विधायोन्नमनस्थिति:।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्ष: शिशोर्धात्र्या इव स्तनम्।।९१/६९२।।
काकस्येव चलाक्षस्य सर्वत: पार्श्ववीक्षणम्।
ऊर्ध्वाध: कम्पनं मूर्ध्न: खलीनार्तहरेरिव।।९२/६९३।।
स्कन्धारूढ-गजस्येव कृत-ग्रीवानतोन्नती।
सकपित्थ-करस्येव मुष्टिबन्धन-कारिण:।।९३/६९४।।
कुर्वत: शिरस: कम्पं मूकसञ्ज्ञाविधायिन:।
अङ्गुली-गणनादीनि भ्रूनृत्यादिक-कल्पनम्।।९४/६९५।।
मदिराकुलितस्येव घूर्णनं दिगवेक्षणम्।
ग्रीवोर्ध्वनयनं भूरि ग्रीवाधो-नयनादिकम्।।९५/६९६।।
निष्ठीवनं वपुस्पर्श: प्रपञ्चबहुला स्थिति:।
सूत्रोदित-विधेर्नूनं वयोपेक्षा विवर्जनम्।।९६/६९७।।

कालापेक्षाव्यतिक्रान्तिः व्याक्षेपासक्तचित्तता।
लोभाकुलितचित्तत्वं पापकार्योद्यमः परः।।९७/६९८।।
कृत्याकृत्यविमूढत्वं द्वात्रिन्शदिति सर्वथा।
कायोत्सर्गविधेर्दोषास्त्याज्या निर्जरणार्थिभिः।।९८/६९९।।

घोड़े जैसा स्थिर कर एक पाद खड़ा रहे।
लता पवन से हिलती-सम सब ओर से हिले।।८८/६८९।।
खंभा भीतादि का आश्रय स्थिति पाटादि पर।
माला का आलंबन कर हो अवस्थिति शीश पर।।८९/६९०।।
बेड़ी बद्ध के वत् हो टेड़ी स्थिति चरण की।
किरात युवती-वत् कर से जंघा का आच्छादनी।।९०/६९१।।
शिर को झुकाकर बैठे शिर उठाकर बैठना।
शिशु को धाय स्तन-सम उर ऊँचा कर बैठना।।९१/६९२।।
चंचल नेत्री कौआ-सम पार्श्व सब ओर देखना।
लगाम पीड़ित घोड़े-वत् शिर ऊपर नीचे काँपना।।९२/६९३।।
कंधे चड़ा नर गज-वत् ग्रीवा ऊपर नत करे।
कैंथ युत हाथों के ज्यों मुट्ठी को बाँधा करे।।९३/६९४।।
शिर का कंपन करते मूक-सम संकेत हों।
अंगुली गणना आदि नृत्यादि-सम भौंह हों।।९४/६९५।।
मदिरा-मत्त-वत् घूमे दिशाएं देखा करे।
ग्रीवा ऊपर करे अति ही ग्रीवा को नीची करे।।९५/६९६।।
निष्ठीवन तन-स्पर्शन माया-बहुल बैठना।
सूत्र-भाषित विधि कम हो वयोपेक्षा को छोड़ना।।९६/६९७।।
कालानुसार नहिं करना सदा मन की व्यग्रता।
लोभ से आकुल मन-युत पाप कार्य प्रधानता।।९७/६९८।।
कृत्याकृत्य अविवेकी कायोत्सर्ग विधि के ये।
बत्तीस दोष नित त्याज्य निर्जरार्थी के लिए।।९८/६९९।।

शब्दशः अर्थ : स्तब्धी-कृता=पूर्णतया स्थिर किया; एक-पादस्य=एक चरण का; स्थान-मश्चपतेः=घोड़े के; इव=समान; चलनं=हिलना; वात-धूतायाः=वायु से हिलती हुई;

लताया:=बेल के; इव=समान; सर्वत:=सब ओर से; श्रयणं=आश्रय लेना; स्तम्भ-कुट्य+आदे:=खंभे, दीवाल आदि का; पट्टका+आदि+उपरि-स्थिति:=पाटा आदि के ऊपर बैठना; उपरि=ऊपर; मालं=माला को; आलम्ब्य=आश्रय कर; शिरसा=शिर से; अवस्थिति:=स्थिर होना; कृता=किया; निगडेन=बेड़ी से; इव=समान; बद्धस्य=बँधे का; विकट+अङ्घ्रि+अवस्थिति: =तिरछे चरणकर स्थित होना; कराभ्यां=हाथों से; जघन+आच्छाद:=जंघा को ढँकना; किरात-युवते:=भील की स्त्री का; इव=समान।

शिरस:=शिर से; नमनं=नमा/झुका; कृत्वा=कर; विधाय-उन्नमन-स्थिति:=उठाकर बैठना; उन्नमय्य=ऊँचाकर; स्थिति:=बैठना; वक्ष:=छाती; शिशो:=शिशु का; धात्र्या:=धाय का; इव=समान; स्तनं=स्तन को; काकस्य=कौआ का; चल+अक्षस्य=चंचल आँख का; सर्वत:=सब ओर से; पार्श्वे-ईक्षणं=अगल-बगल में देखना; ऊर्ध्व+अध:=ऊपर-नीचे; कम्पनं=काँपना; मूर्ध्न:=शिर से; खलीना=लगाम से; आर्त-हरे:=पीड़ित घोड़े का; इव=समान; स्कन्ध+आरूढ-गजस्य=कंधों पर चड़े पुरुषवाले हाथी का; इव=समान; कृत-ग्रीवा-नत-उन्नती=ग्रीवा/गरदन को नीचे-ऊपर करना; स-कपित्थ-करस्य=कैंथ-सहित हाथ का; इव=समान; मुष्टि-बन्धन-कारिण:=मुट्ठी बाँधनेवाला।

कुर्वत:=करते हुए; शिरस:=शिर से; कम्पं=हिलना; मूक-सञ्ज्ञा-विधायिन:=गूँगे-जैसी चेष्टाएँ करनेवाला; अङ्गुली-गणना+आदीनि=अंगुलिओं की गिनती आदि; भ्रू-नृत्यादिक-कल्पनं=भौंहें नचाने आदि के समान; मदिरा+आकुलितस्य=मदिरा के नशे से आकुल का; इव=समान; घूर्णनं=घूमना; दिगो+ईक्षणं=दिशाओं को देखना; ग्रीवा+ऊर्ध्व-नयनं=ग्रीवा को ऊपर उठाना; भूरि=बारंबार; ग्रीवा+अधो-नयन+आदिकं=ग्रीवा को नीची करना आदि; निष्ठीवनं=खकारना; वपु-स्पर्श:=शरीर का स्पर्श करना; प्रपञ्च-बहुला-स्थिति:=माया से बहुत विस्तारकर बैठना; सूत्र+उदित+विधे:=सूत्र में कही विधि से; नूनं=कम करना; वय:-अपेक्षा-विवर्जनं=उम्र की अपेक्षा का त्याग करना।

काल+अपेक्षा-व्यतिक्रान्ति:=समय की अपेक्षा का उल्लंघन करना; व्याक्षेप+आसक्त-चित्तता=व्यग्रता में मन का आसक्तपना; लोभ+आकुलित-चित्तत्वं=लोभ से व्याकुल चित्तपना; पाप-कार्य+उद्यम-पर:=पाप के कार्यों के प्रयत्न में लगना।

कृत्य+अकृत्य-विमूढत्वं=करने-योग्य, नहीं करने-योग्य में अज्ञानता; द्वात्रिन्शत्=बत्तीस; इति=इसप्रकार; सर्वथा=सभी प्रकार से; कायोत्सर्ग-विधे:=कायोत्सर्ग की प्रक्रिया का; दोषा:=दोष; त्याज्या:=छोड़ने-योग्य हैं; निर्जरण+अर्थिभि:=निर्जरा करने के इच्छुकों द्वारा।

अन्वय : स्थानमश्चपते: इव स्तब्धीकृत-एक-पादस्य वात-धूताया: लताया: इव सर्वत: चलनं; स्तम्भ-कुट्या आदे: श्रयणं पट्टकादि-उपरि-स्थिति: मालं आलम्ब्य शिरसा उपरि अवस्थिति: कृता; निगडेन बद्धस्य इव विकट-अङ्घ्रि: अवस्थिति: किरात-युवते: इव कराभ्यां जघन-आच्छाद:; शिरस: नमनं कृत्वा उन्नमन-स्थिति: विधाय शिशो: धात्र्या: स्तनं इव वक्ष: उन्नमय्य स्थिति:; चल-अक्षस्य काकस्य इव सर्वत: पार्श्वे ईक्षणं खलीना आर्त-हरे: इव मूर्ध्न: ऊर्ध्व-अध: कम्पनं।

यह ९३वाँ पद्य अन्वय में ही है।

शिरस: कम्पं कुर्वत: ...-शेष ९४वाँ पद्य अन्वय में ही है।

९५ से ९७ पर्यंत ये तीन पद्य अन्वय में ही हैं।

कृत्य-अकृत्य-विमूढत्वं इति कायोत्सर्ग-विधे: द्वात्रिन्शत् दोषा: निर्जरण-अर्थिभि: सर्वथा त्याज्या:।

वचनिका : **१.** घोड़े के समान एक पैर उठाकर खड़े रहना, **घोटक दोष**; २. पवन से हिलती हुई लता के समान सब ओर चलना, **लता दोष**; **३.** थंभ, भींत आदि का आश्रय लेना, **स्तंभ-कुड्य दोष**; ४. पाट आदि पर बैठकर कायोत्सर्ग करना, **पट्टिका दोष**; ५. शिर के ऊपर माला का अवलम्बन ले बैठना, **माला दोष**; ६. बेड़ी से बँधे पुरुष के समान टेड़े पैर रखकर बैठना, **निगड दोष**; ७. भील की स्त्री के समान हाथों से जंघा को ढाँकना, **किरात-युवति दोष**; ८. शिर को झुकाकर बैठना, **शिरोनमन दोष**; ९. ऊँचा शिर करके बैठना, **उन्नमन दोष**; **१०.** बालक को धाय के स्तन के समान छाती को ऊँची करके बैठना, **धात्री दोष**; **११.** चंचल नेत्रवाले काक के समान सब ओर अगल-बगल में देखना, **वायस दोष**; **१२.** लगाम से पीड़ित घोड़े के समान ऊपर-नीचे मस्तक को नमाना, **खलीन दोष**; **१३.** कंधे पर आरूढ पुरुषवाले हाथी के समान ग्रीवा को नमाना-ऊँचा करना, **गज दोष या युग दोष**; **१४.** कैंथ-सहित हाथ के समान मुट्ठी बंधन करना, **कपित्थ दोष**; **१५.** शिर को कँपाना, **शिर: प्रकंपित दोष**; **१६.** गूँगे के समान नासिका आदि अंगों से संकेत करना, **मूक दोष**; **१७.** कायोत्सर्ग में अंगुली गिनना, **अंगुली दोष**; **१८.** कायोत्सर्ग में भृकुटी नचाना आदि, **भ्रूदोष**; **१९.** मदिरा से आकुलित पुरुष के समान घूमना, **मदिरा-पायी दोष**; २०. कार्योत्सर्ग में दशों दिशाओं की ओर देखना, **दिगवेक्षण दोष**; **२१.** ग्रीवा को बहुत ऊपर करना, **ग्रीवोर्ध्वनयन दोष**; २२. ग्रीवा को नीची करना, **ग्रीवाधोनयनादि दोष**; २३. खकारना, **निष्ठीवन दोष**; २४. अंगों का स्पर्श करना, **वपु: स्पर्शन दोष**; २५. माया पूर्वक बहुत प्रपंच-सहित बैठना, **प्रपंच**

बहुल दोष; २६. सूत्र-भाषित विधि की हीनता करना, **विधि-न्यून दोष**; २७. वृद्धादि वय की अपेक्षादि का त्याग करना, अपनी अवस्था देखे विना कायोत्सर्ग करना, **वयोपेक्षादिवर्जन दोष**; २८. काल की अपेक्षा का उल्लंघन करना, कायोत्सर्ग के समय कायोत्सर्ग नहीं करना, **कालापेक्षा-व्यतिक्रांत दोष**; २९. चित्त की विक्षिप्तता के कारण में आसक्तचित्तपना, **आक्षेपासक्त चित्तता दोष**; ३०. लोभ से आकुलितचित्तपना, **लोभाकुलित दोष**; ३१. कायोत्सर्ग में पाप कार्य में परम उद्यम करना, **पापकार्योद्यम दोष**; ३२. करने-योग्य, नहीं करने-योग्य में मूढपना, **मूढ दोष**;—कायोत्सर्ग की विधि के ये बत्तीस दोष हैं। निर्जरा के इच्छुक पुरुषों द्वारा ये सभी प्रकार से त्याग करने-योग्य हैं।।८८-९८/६८९-६९९।।

अब, इन सात पद्यों द्वारा आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **सामाहित-मनोवृत्तिः कृत-द्रव्यादि-शोधनः।**
विविक्तं स्थानमास्थाय* कृतेर्यापथ-शोधनः।।९९/७००।।
गुर्वादि-वन्दनां कृत्वा पर्यङ्कासनमास्थितः।
विधाय वन्दना-मुद्रां सामान्योक्त-नमस्कृतिः।।१००/७०१।।
ऊर्ध्वः सामायिक-स्तोत्रं समुक्ता-मुक्त-मुद्रकः।
पठित्वा वर्तितावर्तौ विदधाति तनूत्सृतिम्।।१०१/७०२।।
कृत्वा जैनेश्वरीं मुद्रां ध्यात्वा पञ्चनमस्कृतिम्।
उक्त्वा तीर्थकर-स्तोत्रमुपविश्य यथोचितम्।।१०२/७०३।।
चैत्यभक्तिं समुच्चार्य भूयः कृत्वा तनूत्सृतिम्।
उक्त्वा पञ्चगुरुस्तोत्रं कृत्वा ध्यानं यथाबलम्।।१०३/७०४।।
विधाय वन्दनां सूरेः कृति-कर्म-पुरस्सराम्।
गृहीत्वा नियमं शक्त्या विधत्ते साधुवन्दनाम्।।१०४/७०५।।
आवश्यकमिदं प्रोक्तं नित्यं व्रत-विधायिनाम्।
नैमित्तिकं पुनः कार्यं यथागममतन्द्रितैः।।१०५/७०६।।

एकाग्र मन की वृत्ति द्रव्यादि शोधन करे।
एकांत स्थल पर बैठ ईर्या-पथ शोधन करे।।९९/७००।।
गुरु आदि को वंदन कर पर्यंकासन बैठता।
वंदना मुद्रा रचकर सामान्यतः नमन करता।।१००/७०१।।

---

* स्थानमासाद्य – इति पाठान्तरम्।

भली-भाँति सामायिक पाठ पढ़ मुद्रा तजे।
आवर्त वर्तन करके कायोत्सर्ग ग्रहण करे।।१०१/७०२।।
जिन-मुद्रा बना पंच नमस्कृति का ध्यान कर।
तीर्थंकर स्तुति कहकर यथोचित अब बैठकर।।१०२/७०३।।
चैत्यभक्ति पढ़े विधिवत् पुन: तन उत्सर्ग कर।
पंच गुरु-स्तुति पढ़कर यथाशक्ति सु ध्यान कर।।१०३/७०४।।
कृतिकर्म पूर्वक करके वंदना आचार्य की।
यथा-शक्ति नियम लेकर वंदना कर साधु की।।१०४/७०५।।
व्रत-धारी को नित्य आवश्यक ये निरालसी।
द्वारा कहे नैमित्तिक यथागम कर्तव्य ही।।१०५/७०६।।

शब्दश: अर्थ : सामाहित-मनोवृत्ति:=मन की एकाग्रता-संपन्न वृत्तिवाला; कृत-द्रव्य+आदि शोधन:=द्रव्यादि का शोधन करनेवाला; विविक्तं=पवित्र, निर्जन; स्थानं=स्थल को; आस्थाय= बैठकर/आसाद्य=प्राप्त होकर; कृत+ईर्या-पथ-शोधनं=ईर्या-पथ का शोधन करनेवाला। गुरु +आदि-वंदनां=गुरु आदि की वंदना को; कृत्वा=करके; पर्यङ्क+आसनं=पर्यंकासन में; आस्थित:=बैठता है; विधाय=बनाकर; वन्दना-मुद्रां=वंदना की मुद्रा को; सामान्य+उक्त-नमस्कृति:=सामान्यरूप से नमस्कार करनेवाला।

ऊर्ध्व:=तत्पश्चात्; सामायिक-स्तोत्रं=सामायिक-स्तोत्र/पाठ को; समुक्ता-मुक्त-मुद्रक:=भली-भाँति, मुद्रा को छोड़; पठित्वा=पढ़कर; वर्तित+आवर्तौ=आवर्त में प्रवर्तित हो; विदधाति=धारण करता है; तनु+उत्सृतिं=शरीर से ममत्व के त्याग को।

कृत्वा=करके; जैनेश्वरीं=जिनेंद्र भगवान की; मुद्रां=मुद्रा को; ध्यात्वा=ध्याकर; पञ्च-नमस्कृतिं=पंच नमस्कार को; उक्त्वा=कहकर; तीर्थकर-स्तोत्रं=तीर्थंकर के स्तोत्र को; उपविश्य=बैठकर; यथा-उचितं=यथा-योग्य।

चैत्य-भक्तिं=चैत्य-भक्ति को; समुच्चार्य=पढ़कर; भूय:=पुन:; कृत्वा=करके; तनु+ उत्सृतिं=शरीर से ममत्व का त्याग; उक्त्वा=पढ़कर; पञ्च-गुरु-स्तोत्रं=पंच परमेष्ठिओं का स्तोत्र; कृत्वा=करके; ध्यानं=एकाग्रता/आत्म-ध्यान; यथा-बलं=यथा-शक्ति।

विधाय=करके; वन्दनां=वंदना को; सूरे:=आचार्य की; कृति-कर्म-पुरस्सरां=कृति-कर्म पूर्वक; गृहीत्वा=ग्रहणकर; नियमं=नियम को; शक्त्या=सामर्थ्य के अनुसार; विधत्ते=करे; साधु-वन्दनां=साधु की वंदना को।

आवश्यकं=आवश्यक; इदं=यह; प्रोक्तं=कहा है; नित्यं=सदा; व्रत-विधायिनां=व्रत करनेवालों को; नैमित्तिकं=किसी विशिष्ट प्रसंग पर; पुन:=फिर; कार्यं=करना चाहिए; यथा+ आगमं=जिनागम के अनुसार; अतन्द्रितै:=निरालसी/जागरूकों द्वारा।

अन्वय : प्रथम ९९वाँ पद्य अन्वयरूप ही है।

वन्दना-मुद्रां विधाय... शेष १००वाँ पद्य अन्वय में ही है।

ऊर्ध्व: समुक्ता-मुक्त-मुद्रक: सामायिक-स्तोत्रं पठित्वा वर्तित-आवर्तौ तनु-उत्सृतिं विदधाति; जैनेश्वरीं मुद्रां कृत्वा पञ्च-नमस्कृतिं ध्यात्वा तीर्थकर-स्तोत्रं उक्त्वा यथा-उचितं उपविश्य; चैत्य-भक्तिं समुच्चार्य भूय: तनु-उत्सृतिं कृत्वा पञ्च-गुरु-स्तोत्रं उक्त्वा यथा-बलं ध्यानं कृत्वा; कृतिकर्म-पुरस्सरां सूरे: वन्दनां विधाय शक्त्या नियमं गृहीत्वा साधु-वन्दनां विधत्ते। व्रत-विधायिनां नित्यं इदं आवश्यकं पुन: यथा-आगमं नैमित्तिकं कार्यं (इति) अतन्द्रितै: प्रोक्तम्।

वचनिका : मन की एकाग्रता वृत्तिवाला, द्रव्यादि का शोधन करनेवाला, पवित्र-एकांत स्थान पर बैठकर/स्थान को प्राप्त होकर ईर्यापथ का शोधन करनेवाला, गुरु आदि की वंदनाकर पर्यंकासन से बैठ, वंदना-मुद्रा को रचकर सामान्यरूप से नमस्कार करता है। तत्पश्चात् उस मुद्रा को छोड़नेवाला वह भली-भाँति सामायिक-स्तोत्र पाठ पढ़कर आवर्त करता हुआ कायोत्सर्ग करता है।

तदुपरांत जैनेश्वरी मुद्राकर पंच नमस्कार मंत्र का ध्यानकर तीर्थंकर स्तोत्र पढ़कर यथा-योग्य बैठकर चैत्यभक्ति का पाठकर पुन: कायोत्सर्गकर पंच-गुरु-स्तोत्र का पाठकर यथा-शक्ति ध्यानकर कृति-कर्म पूर्वक आचार्य की वंदनाकर यथा-शक्ति नियम ग्रहणकर साधु की वंदना करता है।

व्रत करनेवालों को यह आवश्यक नित्य और आगम के अनुसार नैमित्तिक अर्थात् पर्वादि का निमित्त पाकर करना योग्य है—ऐसा आलस-रहित पुरुषों द्वारा कहा गया है।

भावार्थ : एकाग्र-चित्त होकर और द्रव्य, क्षेत्रादि का शोधनकर एकांत स्थान में बैठकर प्रथम ईर्यापथ दंडक पढ़ें। तत्पश्चात् गुरु आदि की वंदनाकर पर्यंकासन से बैठ पूर्वोक्त वंदना-मुद्रा रचकर सामान्य नमस्कार कहकर मुद्रा को छोड़ भली-भाँति सामायिक-पाठ पढ़कर आवर्तादि करते हुए कायोत्सर्ग करें।

तदुपरांत पूर्वोक्त जैनेश्वरी मुद्रा करके पंच नमस्कार का ध्यानकर तीर्थंकर-स्तोत्र पढ़कर यथा-योग्य बैठकर चैत्य-भक्ति का पाठकर कायोत्सर्गकर पंच-परमेष्ठी का स्तोत्र पढ़कर

यथा-शक्ति ध्यानकर नमस्कार, शिरोनति, आवर्तादि कृति-कर्म पूर्वक आचार्य-वंदना कर यथा-शक्ति नियम को ग्रहणकर साधु-वंदना करता है।

यह आवश्यक तो नित्य ही करें। इसके अतिरिक्त अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व में तथा और भी निमित्त पाकर आगम के अनुसार आवश्यक करना, योग्य है।।९९-१०५/७००-७०६।।

अब, इस पद्य द्वारा आवश्यक करने की विधि बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **येन केन च सम्पन्नं कालुष्यं दैवयोगतः।**
क्षमयित्वैव तं त्रेधा कर्तव्यावश्यकक्रिया।।१०६/७०७।।

कर्मोदय से कालुष्य जिस किसी से हो गया।
तो त्रेधा क्षमाकर ही करना आवश्यक क्रिया।।१०६/७०७।।

शब्दशः अर्थ : येन=जिससे; केन=किससे; च=और; सम्पन्नं=घटित हो गया; कालुष्यं= कलुषता/कोई कषाय का प्रसंग; दैव-योगतः=कर्मोदय के कारण; क्षमयित्वा=क्षमा कराकर; एव=ही; तं=उसे; त्रेधा=तीनों प्रकार से; कर्तव्या=करना चाहिए; आवश्यक-क्रिया= षडावश्यकरूप अनुष्ठान।

अन्वय : दैव-योगतः येन केन कालुष्यं सम्पन्नं च तं त्रेधा क्षमयित्वा एव आवश्यक-क्रिया कर्तव्या।

वचनिका : कर्म के योग से जिस-किसी व्यक्ति के साथ यदि परिणामों में मलिनपना, कलुषपना/कषायमय विकार उत्पन्न हो गया हो तो मन, वचन, काय पूर्वक क्षमा कराकर ही आवश्यक क्रिया करनी योग्य है।।१०६/७०७।।

अब, इस पद्य द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि क्षमा के विना क्रिया, फल-दायक नहीं है—

अनुष्टुभ् : **क्रियां पक्षभवां मूढश्चतुर्मासभवां च यः।**
विधत्तेऽक्षमयित्वासौ न तस्याः फलमश्नुते।।१०७/७०८।।

क्षमा नहीं करा पाक्षिक चातुर्मासिक क्रिया करें।
उस मूढ को नहीं मिलता फल ऐसा जिनवर कहें।।१०७/७०८।।

शब्दशः अर्थ : क्रियां=आवश्यक क्रिया को; पक्ष-भवां=पंद्रह दिन में होनेवाली; मूढः=मूर्ख; चातुर्मास-भवां=चार माह में होनेवाली; च=और; यः=जो; विधत्ते=करता है; अक्षमयित्वा= क्षमा नहीं कराकर; असौ=वह; न=नहीं; तस्याः=उसका; फलं=फल/लाभ; अश्नुते=प्राप्त करता है।

अन्वय : यः मूढः अक्षमयित्वा पक्षभवां च चतुर्मासभवां क्रियां विधत्ते असौ तस्याः फलं न अश्नुते।

वचनिका : जो मूढ, विना क्षमा कराए पक्ष-जनित क्रिया को और चतुर्मास-जनित क्रिया को करता है; वह उस क्रिया के फल को नहीं पाता है।

भावार्थ : प्रतिक्रमण आदि को पंद्रह दिन में करना, पक्ष की क्रिया और चार माह में करना, चातुर्मासिक क्रिया कहलाती है। जिससे कलुषता हुई है, उससे क्षमा कराए विना परिणामों में शल्य रहने के कारण इन क्रियाओं को करने पर भी इनका फल प्राप्त नहीं होता है।।१०७/७०८।।

अब, इस पद्य द्वारा वन्दना करनेवाले की स्थिति निरूपित है—

स्वागता : **देवनराद्यैः कृतमुपसर्गं वन्दनकारी सहति समस्तम्।**
कम्पनमुक्तो गिरिरिव धीरो दुष्कृतकर्मक्षपणमवेक्ष्य।।१०८/७०९।।

सुर नर आदि कृत उपसर्ग गिरि-सम कंपन-रहित सधीर।
वंदन-कारक सहे समस्त पाप-कर्म क्षय सोचे नित्य।।१०८/७०९।।

शब्दशः अर्थ : देव-नर+आद्यैः=देव, मनुष्य आदि द्वारा; कृतं=किए गए; उपसर्गं=उपसर्ग को; वन्दन-कारी=वंदना करनेवाला; सहति=सहता है; समस्तं=सभी को; कम्पन-मुक्तः =कंपन से रहित; गिरिः=पर्वत; इव=समान; धीरः=धैर्य-शाली; दुष्कृत-कर्म-क्षपणं=पाप कर्मों के नाश को; अवेक्ष्य=सोचते हुए।

अन्वय : गिरिः इव कम्पन-मुक्तः धीरः (सः) वन्दन-कारी दुष्कृत-कर्म-क्षपणं अवेक्ष्य देव-नर+आद्यैः कृतं समस्तं उपसर्गं सहति।

वचनिका : पर्वत के समान कंप-रहित, धीर वह वंदना करनेवाला मनुष्य; पाप-कर्म की निर्जरा का विचारकर देव, मनुष्य आदि द्वारा किए गए समस्त उपसर्ग को सहता है।।१०८/७०९।।

अब, इस पद्य द्वारा कृति-कर्म का फल बताते हुए अधिकार समाप्त करते हैं—

स्वागता : **इत्थमदोषं सततमनूनं निर्मलचित्तो रचयति नूनम्।**
यः कृतिकर्मामितगतिदृष्टं याति स नित्यं पदमनदृष्टम्।।१०९/७१०।।

अमितगति-दर्शित निर्दोष हीन-रहित कृति-कर्म करे जो।
निर्मल-चित्ती वह पाता है नियत अदृष्ट नित्य शिव पद को।।१०९/७१०।।

शब्दशः अर्थ : इत्थं=इसप्रकार; अदोषं=निर्दोष; सतत=हमेशा; अनूनं=न्यूनता-रहित; निर्मल -चित्तः=पवित्र हृदयी; रचयति=करता है; नूनं=वास्तव में; यः=जो; कृति-कर्म+अमित-गति-दृष्टं=अमित-गति अर्थात् अनंत-ज्ञानवाले सर्वज्ञ-देव द्वारा बताए गए कृति-कर्म को;

याति=प्राप्त होता है; सः=वह; नित्यं=स्थाई; पदं=पद को; अनदृष्टं=आँखों आदि से नहीं दिखनेवाले।

अन्वय : निर्मल-चित्तः यः अमित-गति-दृष्टं अदोषं इत्थं कृति-कर्म सततं अनूनं रचयति सः नूनं नित्यं अनदृष्टं पदं याति।

वचनिका : निर्मल-चित्तवाला जो पुरुष इसप्रकार निर्दोष, न्यूनता-रहित, निरंतर, अमित-गति अर्थात् अनंत-ज्ञानवाले सर्वज्ञ-देव द्वारा बताया गया, कृति-कर्म अर्थात् आवश्यक क्रिया करता है; वह नित्य और नेत्रादि द्वारा देखने में नहीं आनेवाले मोक्ष-पद को नियम से प्राप्त होता है—ऐसा जानना।।१०९/७०९।।

अडिल्ल : **राग-द्वेष तजि सामायिक भजि कीजे तीर्थंकर गुणगान।**
पंच परम गुरु चरण वंदि नित पूर्व दोष कौ करि अवसान।।
आगामी अघ-त्यागि देह सौं ममता-भाव निवारि सुजान।
षट्आवश्यक साधि जीव इम लहै अमितगति पद निरवान।।

अर्थ : राग-द्वेष को छोड़कर सामायिक कीजिए, तीर्थंकर का गुण-गान कीजिए, पंच परम-गुरु/परमेष्ठिओं के चरणों की वंदना करके, सदा पूर्व-कृत दोषों को समाप्तकर, आगामी-पापों का त्यागकर, भली-भाँति जानकर शरीर से ममता-भाव का निवारण कीजिए। जो जीव इसप्रकार षट् आवश्यकों को साधता है; वह अमित-गति/अनंत-ज्ञान-संपन्न मोक्ष-पद को प्राप्त होता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में आठवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।८।।

नवम परिच्छेद

अब, नौवाँ परिच्छेद प्रारंभ होता है।

इसमें सर्व-प्रथम पहले पद्य द्वारा श्रावक-धर्म वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **दानं पूजा जिनैः शीलमुपवासश्चतुर्विधः।**
श्रावकाणां मतो धर्मः सन्साराण्यपावकः।।१/७११।।

भव-वन को पावक-वत् दान पूजा शील वा।
उपवास चतुर्धा धर्म श्रावकों का जिन कहा।।१/७११।।

शब्दशः अर्थ : दानं=दान देना; पूजा=पूजन करना; जिनैः=जिनेंद्र भगवान द्वारा; शीलं=शील पालना; उपवासः=उपवास करना; चतुः-विधः=चार प्रकारवाला; श्रावकाणां=श्रावकों के; मतः=निरूपित है; धर्मः=धर्म; सन्सार+अरण्य-पावकः=संसाररूपी वन को भस्म करने हेतु अग्नि के समान।

अन्वय : सन्सार-अरण्य-पावकः दानं पूजा शीलं उपवासः श्रावकाणां चतुः-विधः धर्मः जिनैः मतः।

वचनिका : १. दान, २. पूजा, ३. शील, ४. उपवास—ये, संसार-वन को अग्नि-समान चार धर्म; श्रावकों के जिनदेव ने कहे हैं।।१/७११।।

अब, इस पद्य द्वारा पहले दान में प्रवृत्ति हेतु जानने-योग्य विषय को बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **दानं वितरता दात्रा देयं पात्रं विधिर्मतिः।**
फलैषिणाऽवबोद्धव्यानि धीमता पञ्च तत्त्वतः।।२/७१२।।

फल-इच्छुक बुद्धिमान तत्त्वतः जाने इन्हें।
दाता देय सत्पात्र विधि मति पाँच दान दें।।२/७१२।

शब्दशः अर्थ : दानं=दान को; वितरता=देनेवाले द्वारा; दाता=देनेवाला; देयं=देने-योग्य सामग्री; पात्रं=दान को लेनेवाला; विधिः=देने की पद्धति; मतिः=उपयोग/फल; फल+एषिणा =फल की इच्छावाले द्वारा; अवबोद्धव्यानि=जानना चाहिए; धीमता=बुद्धिमान द्वारा; पञ्च =पाँच; तत्त्वतः=यथार्थरूप से।

अन्वय : फल-एषिणा धीमता दानं वितरता दाता देयं पात्रं विधिः मतिः पञ्च तत्त्वतः अवबोद्धव्यानि।

वचनिका : फल के वांक्षक, बुद्धि-सहित, दान देनेवाले को १. दाता, २. देने-योग्य-वस्तु, ३. पात्र, ४. विधि, ५. मति—ये पाँच, स्वरूप-सहित जानना, योग्य हैं।

भावार्थ : दान देनेवाले को पूर्वोक्त पाँच वस्तु का स्वरूप जानना, योग्य है।।२/७१२।।

अब, इस पद्य द्वारा दाता की विशेषताएँ गिनाते हैं—

अनुष्टुभ् : **भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपम्।**
सात्त्विकं क्षमकं सन्तो दातारं सप्तधा विदुः।।३/७१३।।

भक्ति तुष्टि श्रद्धा-युत सविज्ञान अलुब्धता।
शक्तिमान क्षमा-शील दाता में सात जानना।।३/७१३।।

शब्दशः अर्थ : भाक्तिकं=भक्ति-सहित; तौष्टिकं=संतुष्टि-संपन्न/प्रसन्न-चित्त; श्राद्धं=श्रद्धा-सहित; सविज्ञानं=विशिष्ट ज्ञान-सहित; अलोलुपं=लोलुपता-रहित; सात्त्विकं=सत्त्व-संपन्न/शक्तिमान; क्षमकं=क्षमावान; सन्तः=संत-जन; दातारं=दाता को; सप्तधा=सात विशेषता-वाला; विदुः=कहा/जानता है।

अन्वय : सन्तः दातारं भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानं अलोलुपं सात्त्विकं क्षमकं सप्तधा विदुः।

वचनिका : संत-जन दाता को सात प्रकारवाला कहते हैं—१. भक्ति-सहित, २. प्रसन्न-चित्त, ३. श्रद्धा-सहित, ४. विज्ञान-सहित, ५. लोलुपता-रहित, ६. सात्त्विक अर्थात् शक्तिमान, ७.क्षमावान—ऐसा जानना।।३/७१३।।

अब, इस पद्य द्वारा भाक्तिक गुण को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **यो धर्म-धारिणां धत्ते स्वयं सेवा-परायणः।**
निरालस्योऽशठः शान्तो भाक्तिकः स मतो बुधैः।।४/७१४।।

धर्म-धारक की सेवा में तत्पर स्वयं रहे।
निरालसी बुद्धिमान शांत भाक्तिक बुध कहें।।४/७१४।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; धर्म-धारिणां=धर्म-धारकों के; धत्ते=धारण करता है; स्वयं=निरपेक्ष भाव से; सेवा-परायणः=सेवा में लगा हुआ; निः+आलस्यः=आलस्य-रहित; अशठः=बुद्धिमान; शान्तः=शांत; भाक्तिकः=भक्ति-संपन्न; सः=वह; मतः=माना है; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : स्वयं सेवा-परायणः यः धर्म-धारिणां धत्ते सः बुधैः निः-आलस्यः अशठः शान्तः भाक्तिकः मतः।

वचनिका : स्वयं अर्थात् अपेक्षा-रहित आप ही सेवा में तत्पर होता हुआ जो व्यक्ति, धर्म-धारण करनेवालों को स्वीकार करता है; वह ज्ञानिओं द्वारा आलस्य-रहित, बुद्धिमान, शांत-चित्त, भाक्तिक अर्थात् भक्ति-सहित कहा गया है।

भावार्थ : जो धर्मात्माओं की सेवा करता है, वह भाक्तिक है।।४/७१४।।

अब, इस पद्य द्वारा तुष्टि गुण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **तुष्टिर्दत्तवतो यस्य ददतश्च प्रवर्तते।**
देयासक्तमतेः शुद्धास्तमाहुस्तौष्टिकं जिनाः।।५/७१५।।

जिस देने वाले के हर्ष है देते हुए।
देय में आसक्ति नहिं शुद्ध जिन तौष्टिक कहें।।५/७१५।।

शब्दशः अर्थ : तुष्टिः=हर्ष; दत्तवतः=देनेवाले का; यस्य=जिसको; ददतः=देते हुए; च=और; प्रवर्तते=रहता है; देय+अ+सक्त-मतेः=देने-योग्य में आसक्ति बुद्धि से रहित; शुद्धाः=कर्म-मल-रहित; तं=उसे; आहुः=कहा है; तौष्टिकं=तुष्टि-संपन्न/हर्ष-सहित; जिनाः=जिनेंद्र भगवान।

अन्वय : देय-अ-सक्त-मतेः यस्य दत्तवतः च ददतः तुष्टिः प्रवर्तते तं शुद्धाः जिनाः तौष्टिकं आहुः।

वचनिका : देने-योग्य वस्तु में लोभ से रहित बुद्धिवाले जिस देनेवाले को और देते हुए हर्ष रहता है; उसे कर्म-मल से रहित शुद्ध जिनदेव तौष्टिक अर्थात् हर्ष-सहित कहते हैं।।५/७१५।।

अब, इस पद्य द्वारा श्राद्ध गुण निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **साधुभ्यो ददता दानं लभ्यते फलमीक्षितम्।**
यस्यैषा जायते श्रद्धा नित्यं श्राद्धं वदन्ति तम्।।६/७१६।।

साधु को दान देने से इष्ट फल मिलता सदा।
ऐसी श्रद्धा सदा जिसके उसे श्राद्ध कहें सदा।।६/७१६।।

शब्दशः अर्थ : साधुभ्यः=साधुओं के लिए; ददता=देने से; दानं=दान को; लभ्यते=प्राप्त होता है; फलं=फल; ईक्षितं=वांछित; यस्य=जिसका; एषा=यह; जायते=व्यक्त रहती है; श्रद्धा=प्रतीति; नित्यं=सदा; श्राद्धं=श्रद्धा-सहित; वदन्ति=कहते हैं; तं=उसे।

अन्वय : साधुभ्यः दानं ददता ईक्षितं फलं लभ्यते यस्य नित्यं एषा श्रद्धा जायते तं श्राद्धं वदन्ति।

वचनिका : साधुओं के लिए दान देने से वांछित फल प्राप्त होता है—ऐसी जिसके सदा ही श्रद्धा, प्रतीति है; उसे आचार्य श्रद्धावान कहते हैं।।६/७१६।।

अब, इस पद्य द्वारा सविज्ञान का प्ररूपण है—

अनुष्टुभ् : **द्रव्यं क्षेत्रं सुधीः कालं भावं सम्यक् विवेच्य यः।**
साधुभ्यो ददते दानं सविज्ञानमिमं विदुः।।७/७१७।।

द्रव्य क्षेत्र समय भाव सुधी सम्यक् विचार कर।
साधु को देता दान सविज्ञान यही समझ।।७/७१७।।

शब्दशः अर्थ : द्रव्यं=सामग्री को; क्षेत्रं=देश/स्थान को; सुधी:=सुबुद्धि-संपन्न; कालं=शीत, उष्ण आदि समय को; भावं=परिणाम को; सम्यक्=भली-भाँति; विवेच्य=सोच-विचार कर; य:=जो; साधुभ्य:=साधुओं के लिए; ददते=देता है; दानं=दान को; सविज्ञानं=विशिष्ट ज्ञान-सहित; इमं=इसे; विदुः=कहा है।

अन्वय : य: सुधी: द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं सम्यक् विविच्य साधुभ्य: दानं ददते इमं सविज्ञानं विदुः।

वचनिका : जो सुबुद्धि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का भली-भाँति विचारकर साधुओं के लिए दान देता है; आचार्य उसे सविज्ञान कहते हैं।।७/७१७।।

अब, इस पद्य द्वारा अलोलुपता गुण को बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **त्रिधापि याचते किञ्चिद्यो न सान्सारिकं फलम्।**
ददानो योगिनां दानं भाषन्ते तमलोलुपम्।।८/७१८।।

साधु को दान देते भी त्रिधा जो नहीं माँगता।
कुछ भी फल सांसारिक वह अलोलुप जिन कहा।।८/७१८।।

शब्दशः अर्थ : त्रिधा=मन, वचन, काय—तीन प्रकार से; अपि=भी; याचते=माँगता है; किञ्चित्=कुछ; य:=जो; न=नहीं; सान्सारिकं=संसार-संबंधी; फलं=फल को; ददान:=देता हुआ; योगिनां=योगिओं के; दानं=दान; भाषन्ते=कहते हैं; तं=उसे; अलोलुपं=लोभ-रहित।

अन्वय : योगिनां दानं ददान: त्रिधा अपि य: किञ्चित् सान्सारिकं फलं न याचते तं अलोलुपं भाषन्ते।

वचनिका : योगिओं को दान देता हुआ मन, वचन, काय से भी जो, कुछ भी सांसारिक फल नहीं माँगता/चाहता है; उसे आचार्य अलोलुप कहते हैं।।८/७१८।।

अब, इस पद्य द्वारा सात्त्विक गुण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **स्वल्प-वित्तोऽपि यो दत्ते भक्ति-भार-वशीकृत:।**
स्वाढ्याश्चर्य-करं दानं सात्त्विकं तं प्रचक्षते।।९/७१९।।

अत्यधिक भक्ति के वश बहु-धनी आश्चर्य-कर।
स्वल्प-धन युत भी देता दान जो वह सात्त्विक।।९/७१९।।

शब्दशः अर्थ : स्वल्प-वित्त:=थोड़े धनवाला; अपि=भी; य:=जो; दत्ते=देता है; भक्ति-भार-वशीकृत:=भक्ति के भार से वशीभूत हो/अत्यधिक भक्ति के कारण; स्व+आढ्य+

आश्चर्य-करं=बहुत धनवानों को आश्चर्य-करनेवाला; दानं=दान; सात्त्विकं=सात्त्विक/शक्ति-शाली; तं=उसे; प्रचक्षते=कहा है।

अन्वय : भक्ति-भार-वशीकृत: य: स्वल्पवित्त: अपि स्व-आढ्य-आश्चर्य-करं दानं दत्ते तं सात्त्विकं प्रचक्षते।

वचनिका : भक्ति के भार से वश किया हुआ जो थोड़ा धनवान होने पर भी बहुत धनवानों को आश्चर्य-चकित करनेवाला दान देता है; आचार्य उसे सात्त्विक कहते हैं।

भावार्थ : धन-रहित होने पर भी जो भक्ति-पूर्वक दान देता है; जिसे देखकर धनवान भी आश्चर्य मानते हैं कि यह धन्य है जो ऐसा दान देता है; उस व्यक्ति को सात्त्विक कहा है।।९/७१९।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षमावान गुण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **कालुष्य-कारणे जाते दुर्निवारे महीयसि।**
यो न कुप्यति केभ्योऽपि क्षमक: कथयन्ति तम्।।१०/७२०।।

दुर्निवार बड़ा कारण कालुषता का हो प्रकट।
करे नहीं किसी से भी तथापि क्रोध है क्षमक।।१०/७२०।।

शब्दश: अर्थ : कालुष्य-कारणे=कलुषता का कारण; जाते=प्रकट होने पर; दुर्निवारे=रोका जाना अति कठिन; महीयसि=बहुत बड़ा; य:=जो; न=नहीं; कुप्यति=क्रोध करता है; केभ्य:=किन्हीं से; अपि=भी; क्षमक:=क्षमा करनेवाला; कथयन्ति=कहते हैं; तं=उसे।

अन्वय : दुर्निवारे महीयसि कालुष्य-कारणे जाते य: केभ्य: अपि न कुप्यति तं क्षमक: कथयन्ति।

वचनिका : क्रोधरूप मलिन परिणाम का दुर्निवार महा कारण उत्पन्न होने पर भी जो किसी से/पर भी क्रोध नहीं करता है; आचार्य उसे क्षमावान कहते हैं।।१०/७२०।।

अब, इस पद्य द्वारा दाता के भेद स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सर्वैरलङ्कृतो वर्यो जघन्यो वर्जितो गुणै:।**
मध्यमोऽनेकधाऽवाचि दाता दानविचक्षणै:।।११/७२१।।

सभी से मंडित उत्तम जघन्य सब गुण-रहित।
दान-चतुर कहें दाता मध्यम हैं बहुभेद-युत।।११/७२१।।

शब्दश: अर्थ : सर्वै:=सभी से; अलङ्कृत:=सुशोभित; वर्य:=उत्कृष्ट; जघन्य:=सबसे छोटा; वर्जित:=रहित; गुणै:=गुणों से; मध्यम:=मध्यवाला; अनेकधा=अनेक प्रकारवाला; अवाचि=कहा है; दाता=देनेवाला; दान-विचक्षणै:=दान में प्रवीण पुरुषों द्वारा।

अन्वय : सर्वैः अलङ्कृतः वर्यः गुणैः वर्जितः जघन्यः अनेकधा मध्यमः दाता दान-विचक्षणैः अवाचि।

वचनिका : पूर्वोक्त भक्ति, तुष्टि आदि गुणों और आगे कहे जानेवाले सभी गुणों से भूषित, उत्कृष्ट-दाता; उन सभी गुणों से रहित, जघन्य-दाता है। दान देने में विचक्षण पुरुषों द्वारा मध्यम-दाता, अनेक प्रकारवाला कहा गया है।।११/७२१।।

अब, इन पाँच पद्यों द्वारा दाता के विशेष गुण प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **विनीतो धार्मिकः सेव्यस्तत्कालक्रमवेदकः।**
जिनेश-शासनोऽभिज्ञो भोगनिष्पृहमानसः।।१२/७२२।।
दयालुः सर्व-जीवानां राग-द्वेषादि-वर्जितः।
सन्सारासारता-वेदी सम-दर्शी महोद्यमः।।१३/७२३।।
परीषह-सहो धीरो निर्जिताक्षो विमत्सरः।
[*]वरात्मसमयाभिज्ञः प्रियवादी निरुत्सुका।।१४/७२४।।
वासितो व्रतिनां पूतैः परासाधारणैर्गुणैः।
लोकलोकोत्तराचार-विचारी सङ्घवत्सलः।।१५/७२५।।
आस्तिको निरहङ्कारो वैयावृत्त्य-परायणः।
सम्यक्त्वालङ्कृतो दाता जायते भुवनोत्तमः।।१६/७२६।।

विनयी धार्मिक सेवन-योग्य काल-क्रम को जानता।
जिन-शासन विज्ञाता भोगेच्छा विहीनता।।१२/७२२।।
दयालु सर्व जीवों पर राग द्वेषादि से रहित।
संसार निस्सारता ज्ञाता समदर्शी उद्यम-सहित।।१३/७२३।।
परीषह-सही धीर जितेंद्रिय मत्सर-रहित।
श्रेष्ठ अध्यात्म शास्त्र-ज्ञ प्रिय-वादी उत्सुक-रहित।।१४/७२४।।
वैशिष्ट्य अन्य से पावन गुण व्रती से सुशोभित।
लौकिक-अलौकिक आचार विचारक संघ-वत्सल।।१५/७२५।।
आस्तिक्यवान निर्मानी वैयावृत्त्य-परायणी।
समकित से सुसज्जित जग उत्तम दाता है यही।।१६/७२६।।

शब्दशः अर्थ : विनीतः=विनयवान; धार्मिकः=धर्म-संपन्न; सेव्यः=अन्य द्वारा अपनाने-

* परात्म.... – इति पाठान्तरम्।

योग्य; तत्काल-क्रम-वेदक:=उस समय के योग्य को जाननेवाला; जिन-शासन:+अभिज्ञ:= जिनेंद्र भगवान के शासन को भली-भाँति जाननेवाला; भोग-निष्पृह-मानस:=भोगों की लालसा से रहित मनवाला; दयालु:=दया-संपन्न; सर्व-जीवानां=सभी जीवों के; राग-द्वेष+आदि-वर्जित:=राग, द्वेष आदि से रहित; सन्सार-असारता-वेदी=संसार के असारपने का ज्ञाता; सम-दर्शी=सभी को समान देखनेवाला; महा-उद्यम:=बहुत पुरुषार्थ करनेवाला।

परीषह-सह:=परिषह को सहने/जीतनेवाला; धीर:=धैर्य-युक्त; नि+जित+अक्ष:= इंद्रियों को जीतनेवाला/जितेंद्रिय; विमत्सर:=मत्सर/ईर्ष्या से रहित; वर/पर+आत्म-समय+अभिज्ञ:=श्रेष्ठ अध्यात्म शास्त्र/अन्य के और अपने सिद्धांत को जाननेवाला; प्रिय-वादी=प्रिय बोलनेवाला; नि:+उत्सुका=उत्सुकता/कौतूहली वृत्ति से रहित; वासित:=संपन्न; व्रतिनां=व्रतिओं के; पूतै:=पवित्र; पर+असाधारणै:=दूसरों से विशिष्ट; गुणै:=गुणों से; लोक-लोकोत्तर+आचार-विचारी=लौकिक और अलौकिक आचार/व्यवहार का विचार करनेवाला; सङ्घ-वत्सल:=संघ से अनुराग रखनेवाला।

आस्तिक:=परोक्षादि को माननेवाला; नि:+अहङ्कार:=मान से रहित; वैयावृत्त्य-परायण:=वैयावृत्त्य करने में संलग्न; सम्यक्त्व+अलङ्कृत:=सम्यक्त्व से सुशोभित; दाता= देनेवाला; जायते=होता है; भुवन+उत्तम:=तीन लोक में श्रेष्ठ।

अन्वय : प्रारंभिक तीन पद्य अन्वय में हैं।

व्रतिनां पर+असाधारणै: पूतै: गुणै: वासित:... शेष उत्तरार्ध, अगले का पूर्वार्ध अन्वय में है। उत्तरार्ध में दाता भुवन-उत्तम: जायते—मात्र इतना ही स्थान परिवर्तित है।

वचनिका : विनयवान, धर्मात्मा, क्रूरता आदि का अभाव होने से अन्य द्वारा सेवन करने/आश्रय लेने के योग्य, तत्काल-क्रम को जाननेवाला अर्थात् जिस समय जैसी वस्तु आदि चाहिए—उसका जानकार, जिनेंद्र के उपदेश का ज्ञाता, भोगों में वांक्षा-रहित मनवाला; सभी जीवों पर दया-सहित, राग-द्वेष आदि से रहित, संसार की असारता को जाननेवाला, सभी को समान देखनेवाला अर्थात् इष्ट-अनिष्टपने से किसी को हीन-अधिक नहीं देखनेवाला, बहुत उद्यम करनेवाला; परिषहों को सहन करनेवाला, धैर्य-संपन्न, जितेंद्रिय, मत्सरता-रहित, श्रेष्ठ अध्यात्म-शास्त्र/स्व-पर के सिद्धांत का ज्ञाता, प्रिय वचन बोलनेवाला, विषयों की वांक्षा-रहित; अन्य में नहीं पाए जानेवाले व्रतिओं के असाधारण पवित्र गुणों से वासित अर्थात् व्रतिओं के गुणों में अनुरागी, लौकिक आचार और लोकोत्तर अर्थात् पारमार्थिक आचार के विचार-सहित, चार प्रकार के संघ में वत्स से गाय के समान प्रीति-सहित;

आस्तिक अर्थात् 'पर-लोकादि हैं'—इसप्रकार अस्ति-बुद्धि-सहित अथवा 'पर-लोक नहीं है, पुण्य नहीं हैं, पाप नहीं हैं'—इत्यादि प्रकार की नास्तिक बुद्धि से रहित; अहंकार-रहित, धर्मात्माओं की टहल-चाकरी आदि वैयावृत्ति में तत्पर, सम्यक्त्व से भूषित दाता, लोक में उत्तम है।

भावार्थ : जो इन गुण-सहित है, उसे उत्तम-दाता जानना चाहिए।।१२-१६/७२२-७२६।।

अब, इस पद्य द्वारा धन के संबंध में इसकी विचार-धारा को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आत्मीयं मन्यते द्रव्यं यो दत्तं व्रतवर्तिनाम्।**
शेषं पुत्र-कलत्राद्यैस्तस्करैरिव लुण्ठितम्।।१७/७२७।।

व्रतिओं को दिया जो वह अपना द्रव्य मानता।
शेष तस्कर-सम पुत्र पत्नी ने लूटा सदा।।१७/७२७।।

शब्दशः अर्थ : आत्मीयं=अपना; मन्यते=मानता है; द्रव्यं=धनादि सामग्री को; यः=जो; दत्तं=दी है; व्रतवर्तिनां=व्रत-धारिओं के; शेषं=इसके अतिरिक्त को; पुत्र-कलत्र+आद्यैः= पुत्र, पत्नी आदि द्वारा; तस्करैः=चोरों द्वारा; इव=समान; लुण्ठितं=लूटा हुआ।

अन्वय : व्रत-वर्तिनां यः द्रव्यं दत्तं (तं) आत्मीयं मन्यते शेषं तस्करैः इव पुत्र-कलत्र-आद्यैः लुण्ठितम्।

वचनिका : यह दाता, व्रतिओं के लिए जो द्रव्य दिया है, उसे अपना मानता है। इसके अतिरिक्त द्रव्य को चोरों के समान पुत्र, स्त्री आदि द्वारा मानों लूट लिया गया है—ऐसा मानता है।

भावार्थ : पात्रों को दान देने में जो धन लगा है; वह तो पुण्य-बंध का कारण होने से इस-भव में और पर-भव में स्वयं को सुख-दायक है; अतः अपना है और पुत्र, स्त्री आदि में लगा धन, पाप-बंध का कारण होने से दोनों भवों में दुःख-दायक है; अतः अपना नहीं है, चोरों द्वारा लूट लिए के समान है—ऐसा जानना।।१७/७२७।।

अब, इस पद्य द्वारा इसी भाव को और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **ये लोक-द्वितये सौख्यं कुर्वते मम साधवः।**
बान्धवा दारुणं दुःखमिति पश्यति चेतसा।।१८/७२८।।

साधु दोनों लोकों में सौख्य करते हैं मुझे।
बांधव दारुण दुख देते दाता मन में सोचते।।१८/७२८।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; लोक-द्वितये=दोनों लोक में; सौख्यं=सौख्य को; कुर्वते=करता है; मम=मेरा; साधवः=साधुजन; बान्धवाः=बंधुगण; दारुणं=भयानक; दुःखं=दुःख को; इति=इस

प्रकार; पश्यति=देखता है; चेतसा=मन से।

अन्वय : ये साधव: (ते) लोक-द्वितये मम सौख्यं कुर्वते बान्धवा: दारुणं दु:खं इति (दाता) चेतसा पश्यति।

वचनिका : जो साधुजन हैं; वे इस-भव और पर-भव में मेरे/मुझे सुख को करते हैं और बांधव, भयानक दु:ख को करते हैं—दाता मन में ऐसा विचार करता है।।१८/७२८।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: इसी भाव को पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **योऽत्रैव स्थावरं वेत्ति गृहकार्ये नियोजितम्।**
सहगामि परं वित्तं धर्मकार्ये यथोचितम्।।१९/७२९।।

गृह कार्य में लगाया धन यहाँ ही रहता समझ।
केवल धर्म कार्यों में यथोचित धन अनुगमन।।१९/७२९।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; अत्र=यहाँ; एव=ही; स्थावरं=सामग्री; वेत्ति=जानता है; गृह-कार्ये=घर के काम में; नियोजितं=लगाया गया; सह-गामि=साथ जानेवाला; परं=मात्र; वित्तं=धन; धर्म-कार्ये=धर्म के काम में; यथा+उचितं=यथा-योग्य।

अन्वय : य: गृह-कार्ये नियोजितं स्थावरं अत्र एव परं धर्म-कार्ये यथा-उचितं वित्तं सह-गामि वेत्ति।

वचनिका : जो व्यक्ति घर के कार्य में लगाए द्रव्य को यहाँ ही रहनेवाला और मात्र धर्म-कार्य में लगाया योग्य द्रव्य, अपने साथ जानेवाला मानता है; वह दाता होता है।

भावार्थ : विवाह आदि कार्य में द्रव्य लगाया, वह तो इस लोक में रहा। इसके अतिरिक्त धर्म-कार्य में लगाया धन, पुण्य-बंध का कारण होने से अपने साथ जाता है—ऐसा जानना।।१९/७२९।।

दान कौन देता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **शरदभ्रसमाकारं जीवितं यौवनं धनम्।**
यो जानाति विचारज्ञो दत्ते दानं स सर्वदा।।२०/७३०।।

शरद-बादल-वत् नश्वर जीवन यौवन धन सदा।
जो जाने विचारक हो देता दान सर्वदा।।२०/७३०।।

शब्दश: अर्थ : शरद्+अभ्र-सम+आकारं=शरद-कालीन बादलों के समान नश्वर; जीवितं =जीवन; यौवनं=जवानी; धनं=संपत्ति को; य:=जो; जानाति=जानता है; विचार-ज्ञ:=विचार को जाननेवाला; दत्ते=देता है; दानं=दान को; स:=वह; सर्वदा=हमेशा।

अन्वय : य: जीवितं यौवनं धनं शरद-अभ्र-सम-आकारं जानाति विचारज्ञ: स: सर्वदा दानं दत्ते।

वचनिका : जो व्यक्ति जीवन, यौवन और धन को शरद-कालीन बादलों के समान नश्वर जानता है; विचार को जाननेवाला वह सदा काल दान देता है।।२०/७३०।।

अब, इस पद्य द्वारा दान नहीं देनेवाले की निकृष्टता बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यो न दत्ते तपस्विभ्य: प्राषुकं दानमञ्जसा।**
न तस्याऽऽत्मम्भरे: कोऽपि विशेषो विद्यते पशो:।।२१/७३१।।

तपस्वी को नहीं देता सम्यक् प्राषुक दान जो।
उस आपा-पोषी के पशु के अंतर न हो।।२१/७३१।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; न=नहीं; दत्ते=देता है; तपस्विभ्य:=तपस्विओं के लिए; प्राषुकं= निर्दोष; दानं=दान; अञ्जसा=भली-भाँति; न=नहीं; तस्य=उसका; आत्मम्भरे:=अपना ही पोषण करनेवाले का; क:=कुछ; अपि=भी; विशेष:=अंतर; विद्यते=है; पशो:=पशु से।

अन्वय : य: तपस्विभ्य: अञ्जसा प्राषुकं दानं न दत्ते तस्य आत्मम्भरे: (च) पशो: क: अपि विशेष: न विद्यते।

वचनिका : जो व्यक्ति तपस्विओं के लिए भली-भाँति प्राषुक दान नहीं देता है; उस आत्म-पोषी और पशु के कुछ भी विशेष नहीं है।

भावार्थ : दान नहीं देनेवाला पशु के समान है; क्योंकि अपना उदर तो पशु भी भर लेता है। मनुष्यपने की विशेषता तो दान ही से है।।२१/७३१।।

कौन-सा घर कैसा है? अब, इस पद्य द्वारा उसका उत्तर देते हैं—

अनुष्टुभ् : **गृहं तदुच्यते तुङ्गं तर्प्यन्ते यत्र योगिन:।**
निगद्यते परं प्राज्ञै: शारदं घनमण्डलम्।।२२/७३२।।

जिसमें साधु को तृप्ति-कर दान वह उच्च घर।
अन्यथा कहते विज्ञ शारद घन-समूह-सम।।२२/७३२।।

शब्दश: अर्थ : गृहं=घर; तत्=वह; उच्यते=कहा है; तुङ्गं=उच्च; तर्प्यन्ते=तृप्त किए जाते हैं; यत्र=जिसमें; योगिन:=योगी-जन; निगद्यते=कहा है; परं=दूसरा/दान-रहित घर; प्राज्ञै: =विद्वानों द्वारा; शारदं=शरद ऋतु संबंधी; घन-मण्डलं=बादलों का समूह।

अन्वय : यत्र योगिन: तर्प्यन्ते तत् तुङ्गं गृहं उच्यते परं शारदं घन-मण्डलं (इति) प्राज्ञै: निगद्यते।

वचनिका : जिसमें योगीश्वर तृप्त किए जाते हैं, योगीश्वरों को दान दिया जाता है, वह उच्च-

घर कहलाता है। दान-रहित केवल घर तो पंडितों द्वारा शरद-काल के बादलों का मंडल कहा गया है।।२२/७३२।।

अब, इसे ही और विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **धौतपादाम्भसा सिक्तं साधूनां सौधमुच्यते।**
अपरं कर्दमालिप्तं मर्त्य-चारक-बन्धनम्।।२३/७३३।।

साधु के चरण धोने के जल से सिक्त सौध है।
अन्य तो कीचड़-लिप्त नर-चारक का निगड है।।२३/७३३।।

शब्दश: अर्थ : धौत-पाद+अम्भसा=धोए हुए चरणों के जल द्वारा; सिक्तं=सींचा गया; साधूनां=साधुओं के; सौधं=सौध/भवन; उच्यते=कहा है; अपरं=इसके अतिरिक्त दूसरा; कर्दम +आलिप्तं=कीचड़ से लिपा हुआ; मर्त्य-चारक-बन्धनं=मनुष्यरूप चरनेवाले का बंधन।

अन्वय : साधूनां धौत-पाद-अम्भसा सिक्तं सौधं उच्यते... शेष अन्वयरूप है।

वचनिका : साधुओं के धोए हुए जल से सींचे गए घर को सौध कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य घर तो कीचड़ से लिप्त मनुष्यरूप चरनेवाले का बंधन है।।२३/७३३।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **स गेही मन्यते भव्यो यो दत्ते दानमञ्जसा।**
न परो गेहयुक्तोऽपि पतत्रीव कदाचन।।२४/७३४।।

जो भली-भाँति देता दान वह गेही भव्य मानते।
अन्यथा घर होते भी पक्षी-वत् ही मानते।।२४/७३४।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह; गेही=गृहस्थ; मन्यते=मानता है; भव्य:=भव्य; य:=जो; दत्ते=देता है; दानं=दान; अञ्जसा=भली-भाँति; न=नहीं; पर:=दूसरा/दान नहीं देनेवाला; गेह-युक्त:=घर-सहित; अपि=भी; पतत्रि=पक्षी; इव=समान; कदाचन=कभी।

अन्वय : य: अञ्जसा दानं दत्ते स: गेही भव्य: मन्यते पर: कदाचन गेह-युक्त: अपि पतत्रि इव गेही न।

वचनिका : जो भली-भाँति दान देता है, वह गृहस्थ है—ऐसा भव्य मानता है। इसके अतिरिक्त दान-रहित कदाचित् गृह-सहित होने पर भी पक्षी के समान गृहस्थ नहीं है।

भावार्थ : दान देता है, वह गृहस्थ है; अन्यथा दान-रहित केवल घर तो पक्षी के भी होता है; अत: दान के विना मात्र घर से ही गृहस्थ नहीं कहलाता है—ऐसा जानना।।२४/७३४।।

अब, इस पद्य द्वारा उस विषय पर हृदय-स्पर्शी वाक्य प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुभ् : **किं द्रव्येण कुवेरस्य किं समुद्रस्य वारिणा।**
किमन्धसा गृहस्थस्य भुक्तिर्यत्र न योगिनाम्।।२५/७३५।।

योगी का नहीं भोजन क्या प्रयोजन कुवेर-धन।
समुद्र-जल से क्या लाभ क्या गृहस्थ का भोजन?।।२५/७३५।।

शब्दश: अर्थ : किं=क्या; द्रव्येण=धन से; कुवेरस्य=कुवेर का; किं=क्या; समुद्रस्य=समुद्र का; वारिणा=जल से; किं=क्या; अन्धसा=भोजन से; गृहस्थस्य=गृहस्थ का; भुक्ति:= आहार; यत्र=जहाँ; न=नहीं; योगिनां=योगिओं के।

अन्वय : यत्र योगिनां भुक्ति: न (तत्र) कुवेरस्य द्रव्येण किं समुद्रस्य वारिणा किं गृहस्थस्य अन्धसा किम्?

वचनिका : जहाँ योगीश्वरों का भोजन नहीं है, उस कुवेर के द्रव्य से क्या? समुद्र के जल से क्या? गृहस्थ के भोजन से क्या?

भावार्थ : जहाँ दान नहीं है; वहाँ उन बहुत द्रव्यादि से क्या साध्य है? कुछ साध्य नहीं— ऐसा जानना।।२५/७३५।।

किससे कौन सुशोभित होता है? इस प्रश्न का उत्तर अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **ध्यानेन शोभते योगी संयमेन तपोधन:।**
सत्येन वचसा राजा गृही दानेन चारुणा।।२६/७३६।।

ध्यान से शोभित योगी संयम से तपोधनी।
सत्य वचनों से राजा सुंदर दान से गृही।।२६/७३६।।

शब्दश: अर्थ : ध्यानेन=ध्यान से; शोभते=शोभा पाता है; योगी=योगी; संयमेन=संयम से; तपोधन:=तपरूपी धनवाले तपस्वी; सत्येन=यथार्थ; वचसा=वचन से; राजा=प्रजा का स्वामी; गृही=गृहस्थ; दानेन=दान से; चारुणा=सुंदर।

अन्वय : योगी ध्यानेन तपोधन: संयमेन राजा सत्येन वचसा गृही चारुणा दानेन शोभते।

वचनिका : योगी ध्यान से, तपोधन अर्थात् तपस्वी संयम से, राजा सत्य वचन से और गृहस्थ सुंदर दान से सुशोभित होता है।।२६/७३६।।

हाथ में आए चिंतामणि को छोड़ने-सम कौन है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **तपोधनं गृहायातं यो न गृह्णाति भक्तित:।**
चिन्तामणिं करप्राप्तं स कुधीस्त्यजति स्फुटम्।।२७/७३७।।

घर में आए तपोधन को भक्ति से जो नहिं ग्रहे।
वह कुधी कर में आए चिंतामणि को ही तजे।।२७/७३७।।

शब्दश: अर्थ : तपोधनं=तपस्वी को; गृह+आयातं=घर में आया; य:=जो; न=नहीं; गृह्णाति =ग्रहण करता है; भक्तित:=भक्ति से; चिन्तामणिं=चिंतामणि रत्न को; कर-प्राप्तं=हाथ में आया; स:=वह; कुधी:=खोटी बुद्धिवाला; त्यजति=छोड़ता है; स्फुटं=वास्तव में।

अन्वय : य: गृह-आयातं तपोधन: भक्तित: न गृह्णाति कुधी: स: स्फुटं कर-पात्रं चिन्तामणिं त्यजति।

वचनिका : जो घर में आए तपोधन का भक्ति-पूर्वक पड़गाहन नहीं करता है; खोटी बुद्धिवाला वह प्रकटरूप से हाथ में आए चिंतामणि को छोड़ देता है।।२७/७३७।।

स्वयं से स्वयं को कौन ठगता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **विद्यमानं धनं धिष्ण्ये साधुभ्यो यो न यच्छति।**
स वञ्चयति मूढात्मा स्वयमात्मानमात्मना।।२८/७३८।।

घर में धन होते भी साधु को जो नहीं दे।
कुधी वह स्वयं द्वारा स्वयं को स्वयं ठगे।।२८/७३८।।

शब्दश: अर्थ : विद्यमानं=वर्तमान में प्राप्त; धनं=संपत्ति; धिष्ण्ये=घर में होने पर भी; साधुभ्य:= साधुओं के लिए; य:=जो; न=नहीं; यच्छति=देता है; स:=वह; वञ्चयति=ठगता है; मूढात्मा =मूर्ख; स्वयं=आप; आत्मानं=अपने को; आत्मना=अपने से।

अन्वय : य: धिष्ण्ये विद्यमानं धनं साधुभ्य: न यच्छति मूढात्मा स: स्वयं आत्मानं आत्मना वञ्चयति।

वचनिका : जो घर में विद्यमान धन को साधुओं के लिए नहीं देता है; मूढात्मा वह आप ही अपने द्वारा आपको ठगता है।

भावार्थ : घर में धन होने पर भी मुनिओं को आहारादि दान नहीं देना; स्वयं को ठगना है।।२८/७३८।।

घर का स्वामी और सेवक कौन है? इसे अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **स भण्यते गृहस्वामी यो भोजयति योगिन:।**
कुर्वाणो गृह-कर्माणि परं कर्मकरं विदु:।।२९/७३९।।

योगिओं को भोजन जो कराता गृहस्वामि वह।
दूसरा पर-कामों को करता सेवक ही समझ।।२९/७३९।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह; भण्यते=कहलाता है; गृह-स्वामी=घर का धनी; य:=जो; भोजयति=भोजन कराता है; योगिन:=योगी के लिए; कुर्वाण:=करते हुए; गृह-कर्माणि=घर के कार्य; परं=अन्य; कर्मकरं=कार्य करनेवाला सेवक; विदु:=कहा है।

अन्वय : य: योगिन: भोजयति स: गृहस्वामी भण्यते परं गृहकर्माणि कुर्वाण: कर्मकरं विदु:।

वचनिका : जो योगिओं को भोजन कराता है, वह गृह-स्वामी कहलाता है। दान के विना मात्र घर के कार्य करते हुए को पंडित-जन कर्म-चारी, सेवक कहते हैं—ऐसा जानना।।२९/७३९।।

अब, इस पद्य द्वारा भावना का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **य: सर्वदा क्षुधां धृत्वा साधुवेलां प्रतीक्षते।**
स: साधूनामलाभेऽपि दान-पुण्येन युज्यते।।३०/७४०।।

जो प्रतीक्षा करे साधु-वेला की भूख धारकर।
पाता दान का पुण्य साधु अप्राप्ति में भि वह।।३०/७४०।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; सर्वदा=हमेशा; क्षुधां=भूख को; धृत्वा=धारणकर; साधु-वेलां=साधु के आहार-चर्या को; प्रतीक्षते=प्रतीक्षा करता है; स:=वह; साधूनां=साधुओं के; अलाभे=प्राप्त नहीं होने पर; अपि=भी; दान-पुण्येन=दान के पुण्य से; युज्यते=युक्त होता है।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : जो सदा क्षुधा धारणकर साधु के आहार की वेला की प्रतीक्षा करता है और आहार-वेला समाप्ति के बाद भोजन करता है; वह व्यक्ति, साधुओं का लाभ नहीं होने पर भी दान के पुण्य से युक्त हो जाता है।।३०/७४०।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुन: पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निशि।**
यो धत्ते योगिनश्चित्ते दत्तं तेभ्योऽमुना ध्रुवम्।।३१/७४१।।

योगी को जो धरे मन में भवन नगर ग्राम में।
वन दिवस रात्रि में उससे निश्चित दान दिया उन्हें।।३१/७४१।।

शब्दश: अर्थ : भवने=महल में; नगरे=नगर में; ग्रामे=गाँव में; कानने=वन में; दिवसे=दिन में; निशि=रात्रि में; य:=जो; धत्ते=धारण करता है; योगिन:=योगिओं को; चित्ते=मन में; दत्तं=देता है; तेभ्य:=उन्हें; अमुना=उससे; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : य: भवने नगरे ग्रामे कानने दिवसे निशि योगिन: चित्ते धत्ते अमुना ध्रुवं तेभ्य: दत्तम्।

वचनिका : जो व्यक्ति घर में, नगर में, ग्राम में, वन में, दिन में, रात्रि में योगीश्वरों को चित्त में धारण करता है; वह इस वृत्ति द्वारा निश्चय से मुनिओं के लिए दान, सदा देता है।

भावार्थ : जो सदा मुनीश्वरों की भक्ति का परिणाम रखता है; उसे मुनिओं का मिलना नहीं होने पर भी भावना की शुद्धि से दान का पुण्य होता है।।३१/७४१।।

अब, इस पद्य द्वारा इन भावनाओं का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यः सामान्येन साधूनां दानं दातुं प्रवर्तते।**
त्रिकालगोचरास्तेन योगिनो भोजिताः स्तुताः।।३२/७४२।।

साधुओं को दान देने में सामान्य से जो वर्तता।
आहार स्तुति का कर्ता वह त्रिकाली योगि का।।३२/७४२।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; सामान्येन=सामान्य से; साधूनां=साधुओं के; दानं=दान को; दातुं =देने के लिए; प्रवर्तते=प्रवृत्ति करता है; त्रिकाल-गोचराः=तीन-कालवर्ती; तेन=उससे; योगिनः=योगी-गण; भोजिताः=आहार कराए गए; स्तुताः=स्तुति किए गए।

अन्वय : तेन त्रिकाल-गोचराः—शेष पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : जो सामान्य से साधुओं को दान देने में प्रवृत्ति करता है; उस व्यक्ति द्वारा भूत, भविष्य और वर्तमान-कालीन सभी योगीश्वर जिमाए और स्तुति-गोचर किए गए।

भावार्थ : मुनि-मात्र को दान देने में जिसकी हर्ष-पूर्वक प्रवृत्ति है; उसे सभी मुनिओं की भक्ति होने से उसने सभी को दान दिया और सभी की स्तुति की है—ऐसा जानना।।३२/७४२।।

अब, इस पद्य द्वारा गृहस्थ की मनोवृत्ति वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **दत्ते दूरेऽपि यो गत्वा विमृश्य व्रतशालिनः।**
सः स्वयं गृहमायाते कथं दत्ते न योगिनि।।३३/७४३।।

दूर जा खोज व्रतिओं को जो देता वह स्वयं ही।
घर आए योगी को कैसे दान दे नहीं?।।३३/७४३।।

शब्दशः अर्थ : दत्ते=देता है; दूरे=दूर होने पर; अपि=भी; यः=जो; गत्वा=जाकर; विमृश्य =शोधकर; व्रत-शालिनः=व्रत-धारिओं को; सः=वह; स्वयं=आप; गृहं=घर को; आयाते= आए; कथं=कैसे; दत्ते=देता है; न=नहीं; योगिनि=योगिओं को।

अन्वय : यः दूरे अपि गत्वा विमृश्य व्रत-शालिनः दत्ते सः स्वयं गृहं आयाते योगिनि कथं न दत्ते?

वचनिका : जो दूर जाकर भी व्रतिओं को शोधकर दान देता है; वह स्वयं ही घर में आए

योगीश्वरों को दान कैसे नहीं देगा? देता ही है।।३३/७४३।।

अब, इस पद्य द्वारा दाता का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सद्रव्याद्रव्ययोर्मध्ये य: पात्रं प्राप्य भक्तित:।**
ददान: कथ्यते दाता न दाता भक्ति-वर्जित:।।३४/७४४।।

सधन निर्धन में से जो पात्र पाकर भक्ति से।
देता दाता कहें दाता नहीं जो हीन भक्ति से।।३४/७४४।।

शब्दश: अर्थ : सद्रव्य+अद्रव्ययो:=धन-सामग्री-सहित और उनसे रहित के; मध्ये=बीच में; य:=जो; पात्रं=पात्र को; प्राप्य=पाकर; भक्तित:=भक्ति से; ददान:=देता है; कथ्यते=कहलाता है; दाता=देनेवाला; न=नहीं; दाता=देनेवाला; भक्ति-वर्जित:=भक्ति से रहित।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। ददान: दाता कथ्यते भक्ति-वर्जित: दाता न कथ्यते।

वचनिका : एक तो द्रव्य/सामग्री/धन-सहित व्यक्ति और एक इनसे रहित व्यक्ति—इन दोनों में से जो पात्र को पाकर भक्ति से दान देता है, वह दाता कहलाता है। जो भक्ति से रहित है, वह दाता नहीं कहलाता है—ऐसा जानना।।३४/७४४।।

अब, इस पद्य द्वारा दान में काल के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पात्रे ददाति योऽकाले तस्य दानं निरर्थकम्।**
क्षेत्रेऽप्युप्तं विना कालं कुत्र वीजं प्ररोहति।।३५/७४५।।

असमय में पात्र को देता व्यर्थ उसका दान है।
असमय में खेत में बोया बीज उगता नहीं है।।३५/७४५।।

शब्दश: अर्थ : पात्रे=पात्र में; ददाति=देता है; य:=जो; अकाले=असमय में; तस्य=उसका; दानं=दान; निरर्थकं=व्यर्थ; क्षेत्रे=खेत में; अपि=भी; उप्तं=बोया गया; विना=रहित; कालं =समय; कुत्र=कहाँ; वीजं=बीज; प्ररोहति=उगता है।

अन्वय : य: अकाले पात्रे ददाति तस्य दानं निरर्थकं विना कालं क्षेत्रे अपि उप्तं वीजं कुत्र प्ररोहति।

वचनिका : जैसे—असमय में खेत में बोया गया बीज क्या उगता है? नहीं उगता; उसीप्रकार अकाल में पात्र के लिए दिया गया दान, निरर्थक होता है—ऐसा जानना।।३५/७४५।।

अब, इस पद्य द्वारा अपात्र को दान देने का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **काले ददाति योऽपात्रे वितीर्णं तस्य नश्यति।**
निक्षिप्तमूषरे वीजं किं कदाचिदवाप्यते।।३६/७४६।।

अपात्र को दिया दान काल में भी नष्ट हो।
ऊषर में बोया बीज कभी भी नहिं प्राप्त हो।।३६/७४६।।

शब्दश: अर्थ : काले=समय पर; ददाति=देता है; य:=जो; अपात्रे=अपात्र में; वितीर्णं=दान; तस्य=उसका; नश्यति=नष्ट होता है; निक्षिप्तं=डाला गया; ऊषरे=ऊषर/बंजरभूमि में; वीजं=बीज; किं=क्या; कदाचित्=कभी; अवाप्यते=प्राप्त होता है।

अन्वय : य: अपात्रे काले ददाति तस्य वितीर्णं नश्यति किं ऊषरे निक्षिप्तं वीजं कदाचित् अवाप्यते?

वचनिका : ऊषर भूमि में बोया बीज, क्या कभी प्राप्त होता है? अपितु नहीं; उसीप्रकार जो अपात्र को काल में भी देता है, उसका दान (का फल) नष्ट हो जाता है।।३६/७४६।।

अब, इस पद्य द्वारा दान-विधि का महत्त्व प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **प्रक्रमेण विना बन्ध्यं वितीर्णं पात्र-कालयो:।**
फलाय किमसन्स्कारं निक्षिप्तं क्षेत्र-कालयो:।।३७/७४७।।

विधि के विना दान पात्र काल में भी नहीं।
फले संस्कार-विन भू पर समय पर फलता नहीं।।३७/७४७।।

शब्दश: अर्थ : प्रक्रमेण=प्रक्रिया/विधि से; विना=रहित; वन्ध्यं=नहीं; वितीर्णं=दान; पात्र-कालयो:=पात्र और समय में; फलाय=फल के लिए; किं=क्या; असन्स्कारं=जुताई आदि द्वारा व्यवस्थित किए विना; निक्षिप्तं=डाला गया; क्षेत्र-कालयो:=खेत और समय पर।

अन्वय : प्रक्रमेण विना पात्र-कालयो: वितीर्णं फलाय वन्ध्यं किं असन्स्कारं क्षेत्र-कालयो: निक्षिप्तं फलाय?

वचनिका : सुंदर क्षेत्र और योग्य काल में भी धरती को जोतना आदि संस्कार-रहित भूमि पर बोया बीज क्या फल के लिए होता है? अपितु नहीं; उसीप्रकार पात्र और काल—इन दोनों में दिया दान भी दान की विधि के विना निष्फल है।।३७/७४७।।

अब, इस पद्य द्वारा विवेक पूर्वक दिए गए दान का फल सोदाहरण निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा दत्तं स्वल्पमपि स्फुटम्।**
उप्तं वीजमिव प्राज्ञैर्विधत्ते विपुलं फलम्।।३८/७४८।।

स्वल्प भी देता योग्य काल पात्र विधि समझ।
बीज बोए-वत् ज्ञानी कहें फलता विपुल फल।।३८/७४८।।

शब्दश: अर्थ : कालं=समय को; पात्रं=लेनेवाले को; विधिं=पद्धति को; ज्ञात्वा=जानकर;

दत्तं=दिया; स्वल्पं=थोड़ा; अपि=भी; स्फुटं=प्रकटरूप में; उप्तं=बोए गए; वीजं=बीज को; इव=समान; प्राज्ञै:=ज्ञानिओं द्वारा; विधत्ते=धारण करता है; विपुलं=बहुत अधिक; फलं=फल को।

अन्वय : प्राज्ञै: उप्तं वीजं इव कालं पात्रं विधिं ज्ञात्वा स्फुटं स्वल्पं अपि दत्तं विपुलं फलं विधत्ते।

वचनिका : काल, पात्र, विधि को जानकर थोड़ा भी दिया हुआ दान; विवेकिओं द्वारा बोए गए बीज के समान प्रकटरूप से विस्तीर्ण फल को धारण करता है—ऐसा जानना।।३८/७४८।।

अब, इस पद्य द्वारा दान देने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **देयं स्तोकादपि स्तोकं व्यपेक्षो न महोदय:।**
इच्छानुसारिणी शक्ति: कदा कस्य प्रजायते।।३९/७४९।।

थोड़े से भी थोड़ा दो बहुत की चाह न रखो।
इच्छानुसार शक्ति कब किसके उत्पन्न हो?।।३९/७४९।।

शब्दश: अर्थ : देयं=देने-योग्य है; स्तोकात्=थोड़े से; अपि=भी; स्तोकं=थोड़ा; व्यपेक्ष:=अपेक्षा/चाह; न=नहीं; महा+उदय:=विशाल वैभव की प्राप्ति; इच्छा+अनुसारिणी=इच्छा के अनुसार; शक्ति:=सामग्री; कदा=कब; कस्य=किसका; प्रजायते=प्रकट होती है।

अन्वय : स्तोकादपि स्तोकं देयं महा-उदय: व्यपेक्ष: न... शेष अन्वय में है।

वचनिका : थोड़े से भी थोड़ा देना, योग्य है; महा-उदय/बहुत वैभव की अपेक्षा करना, योग्य नहीं है; क्योंकि इच्छानुसार शक्ति कहीं किसी के होती है? अपितु नहीं होती है।

भावार्थ : आपके पास थोड़ा भी धन है तो थोड़े में से भी थोड़ा धन दान में लगाना। ऐसा विचार नहीं करना कि जब हमारे बहुत धन होगा, तब दान करेंगे; क्योंकि जितनी इच्छा है, उतना धन तो कहीं किसी के होता नहीं है—ऐसा जानना।।३९/७४९।।

अब, प्रस्तुत पद्य द्वारा इस प्रसंग पर उत्तम आदि का भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **श्रुत्वा दानमतिर्वर्यो भण्यते वीक्ष्य मध्यम:।**
श्रुत्वा दृष्ट्वा च यो दत्ते दानं स च जघन्यक:।।४०/७५०।।

सुनकर दान बुद्धि श्रेष्ठ देखकर मध्यम कहें।
सुनकर देखकर भी जो नहीं देता जघन्य है।।४०/७५०।।

शब्दश: अर्थ : श्रुत्वा=सुनकर; दान-मति:=दान देने की बुद्धि होना; वर्य:=श्रेष्ठ/उत्तम;

भण्यते=कहा है; वीक्ष्य=देखकर; मध्यम:=मध्यम; श्रुत्वा=सुनकर; दृष्ट्वा=देखकर; च=और; य:=जो; दत्ते=देता है; न=नहीं; दानं=दान; स:=वह; जघन्यक:=जघन्य।

अन्वय : श्रुत्वा दान-मति: वर्य: वीक्ष्य दान-मति: मध्यम: श्रुत्वा च दृष्ट्वा य: दानं न दत्ते स: जघन्यक: भण्यते।

वचनिका : दान देते को सुनकर दान देने में जिसकी बुद्धि हो जाती है, वह उत्कृष्ट व्यक्ति है; दान देते को देखकर जिसकी दान देने की बुद्धि हो जाती है, वह मध्यम व्यक्ति है और सुनकर, देखकर भी जो दान नहीं देता है, वह जघन्य अर्थात् अधम व्यक्ति है।।४०/७५०।।

दाता कौन नहीं है? यह अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **ताडनं पीडनं स्तेयं रोषणं दूषणं भयम्।**
य: कृत्वा ददते दानं स दाता न मतो जिनै:।।४१/७५१।।
ताड़ना पीड़ना चोरी क्रोध दूषण भयादि।
करके जो देता दान जिन-मत का दाता नहीं।।४१/७५१।।

शब्दश: अर्थ : ताडनं=ताड़ना; पीडनं=पीड़ना/कष्ट; स्तेयं=चोरी; रोषणं=क्रोध; दूषणं=तृष्णादि दोष; भयं=भय; य:=जो; कृत्वा=करके; ददते=देता है; दानं=दान; स:=वह; दाता=देनेवाला; न=नहीं; मत:=कहा; जिनै:=जिन-देव द्वारा।

अन्वय : य: ताडनं कृत्वा पीडनं कृत्वा स्तेयं कृत्वा रोषणं कृत्वा दूषणं कृत्वा भयं कृत्वा दानं ददते स: जिनै: दाता न मत:।

वचनिका : जो अन्य जीवों की ताड़नाकर, पीड़नाकर, चोरीकर, रोषकर, तृष्णादि दूषणकर, भयकर दान देता है; वह जिनेंद्र भगवान द्वारा दाता नहीं कहा है।।४१/७५१।।

अब, इस पद्य द्वारा दान में प्रिय वचन की प्रधानता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **पटीयसा सदा दानं प्रदेयं प्रियवादिना।**
प्रियेण रहितं दत्तं परमं वैरकारणम्।।४२/७५२।।
बुद्धिमान प्रिय-वादी को सदा दान प्रदेय है।
प्रिय-वादित्व विन उत्तम दान भी बैर हेतु है।।४२/७५२।।

शब्दश: अर्थ : पटीयसा=बुद्धिमान द्वारा; सदा=नित्य; दानं=दान; प्रदेयं=देने-योग्य; प्रिय--वादिना=प्रिय बोलनेवाले द्वारा; प्रियेण=प्रिय-वादिता से; रहितं=शून्य; दत्तं=दिया गया; परमं=उत्तम/बहुत; वैर-कारणं=बैर का हेतु।

अन्वय : पटीयसा प्रिय-वादिना सदा दानं प्रदेयं... शेष अन्वय में है।

वचनिका : बुद्धिमान व्यक्ति को प्रिय वचन-सहित सदा दान देना योग्य है। प्रिय वचनों के विना दिया गया उत्तम या बहुत दान भी बैर का कारण हो जाता है।

भावार्थ : यदि दान देना है तो मीठे वचन-सहित ही देना। मीठे वचनों के विना दान भी बैर का कारण है; क्योंकि कटुक वचन सभी को बुरे लगते हैं।।४२/७५०।।

अब, इस पद्य द्वारा दान में सम-भाव का महत्त्व बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यः शमायाकृतं वित्तं विश्राणयति दुर्मतिः।**
कलिं गृह्णाति मूल्येन दुर्निवारमसौ ध्रुवम्।।४३/७५३।।
जो दुर्बुद्धि समता से रहित धन दे वह सदा।
दुर्निवार सुनिश्चित पाप मूल्य दे ग्रहता सदा।।४३/७५३।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; शम+आयाकृतं=समता से रहित; वित्तं=धन को; विश्राणयति=देता है; दुर्मतिः=खोटी बुद्धिवाला; कलिं=पाप को; गृह्णाति=ग्रहण करता है; मूल्येन=मूल्य से; दुर्निवारं=महा कष्ट से निवारण किए जानेवाले; असौ=वह; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : यः दुर्मतिः शम-आयाकृतं वित्तं विश्राणयति असौ ध्रुवं मूल्येन दुर्निवारं कलिं गृह्णाति।

वचनिका : जो दुर्बुद्धि व्यक्ति सम-भाव-रहित धन को देता है; वह कष्ट-पूर्वक नष्ट किए जानेवाले दुर्निवार पाप को वास्तव में मूल्य द्वारा ग्रहण करता है।

भावार्थ : क्रोध-सहित दान देने से उल्टा पाप-बंध होता है; अतः समता-सहित दान देना, योग्य है।।४३/७५३।।

किनका दान नहीं देना चाहिए? इसका उत्तर अब, इन दो पद्यों द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जीवा येन निहन्यन्ते येन पात्रं विनश्यते।**
रागो विवर्धते येन यस्मात् सम्पद्यते भयम्।।४४/७५४।।
आरम्भा येन जन्यन्ते दुःखितं यच्च जायते।
धर्म-कामैर्न तद्देयं कदाचन निगद्यते।।४५/७५५।।
जीव मरते हैं जिससे पात्र का भी नाश हो।
राग बड़ता है जिससे अथवा भय उत्पन्न हो।।४४/७५४।।
आरंभ होता है जिससे दुःख भी उत्पन्न हो।
धर्म-इच्छुक को ऐसा कुछ भी नहिं देय हो।।४५/७५५।।

शब्दशः अर्थ : जीवाः=प्राणी; येन=जिससे; निहन्यन्ते=मारे जाते हैं; येन=जिससे; पात्रं= पात्र-जन; विनश्यते=नष्ट हो जाता है; रागः=अन्य में लालसा; विवर्धते=बड़ जाता है;

येन=जिस कारण; यस्मात्=जिससे; सम्पद्यते=उत्पन्न होता है; भयं=भय।

आरम्भा:=जीव-विघातक कार्य; येन=जिससे; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; दु:खितं=दु:खमय दशा; यत्=जिससे; च=और; जायते=उत्पन्न होती है; धर्म-कामै:=धर्म के इच्छुकों द्वारा; न=नहीं; तत्=वह; देयं=देने-योग्य; कदाचन=कभी भी; निगद्यते=कहा है।

अन्वय : येन जीवा: निहन्यन्ते येन पात्रं विनश्यते येन राग: विवर्धते यस्मात् भयं सम्पद्यते येन आरम्भा: जन्यन्ते च यत् दु:खितं जायते तत् धर्म-कामै: कदाचन देयं न निगद्यते।

वचनिका : जिससे जीवों का घात होता है, जिससे पात्र-जन का नाश होता है, जिससे राग बड़ता है, जिससे भय उत्पन्न होता है, जिससे आरंभ उत्पन्न होता है, जिससे दु:खी होता है— ऐसी वस्तु, धर्म के वांक्षक व्यक्तिओं द्वारा देने-योग्य कभी भी नहीं कही है।।४४-४५/ ७५४-७५५।।

अब, इस पद्य द्वारा भू-दान का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **हलैर्विदार्य-माणायां गर्भिण्यामिव योषिति।**
म्रियन्ते प्राणिनो यस्यां सा भू: किं ददते फलम्।।४६/७५६।।

गर्भवती नारी जो हल से विदारी गई।
सम जिसमें मरते प्राणी उस भूदान का फल नहीं।।४६/७५६।।

शब्दश: अर्थ : हलै:=हल से; विदार्यमाणायां=विदारी गई; इव=समान; योषिति=स्त्री में; म्रियन्ते=मरते हैं; प्राणिन:=प्राणी; यस्यां=जिसमें; सा=वह; भू:=पृथ्वी; किं=क्या; ददते=देती है; फलं=फल को।

अन्वय : हलै: विदार्यमाणायां गर्भिण्यां योषिति इव यस्यां प्राणिन: म्रियन्ते सा भू: किं फलं ददते?

वचनिका : हल से विदारी गई गर्भिणी स्त्री के समान जिसमें प्राणी मरते हैं; वह पृथ्वी क्या फल देती है? अपितु नहीं देती है।

भावार्थ : जैसे—गर्भिणी स्त्री के गर्भ में बालक है; उसीप्रकार पृथ्वी के गर्भ में अनेक जीव बसते/रहते हैं। उसे हलादि द्वारा जोतने आदि पर अनेक जीवों की हिंसा होती है; अत: भूमि-दान में पुण्य नहीं है; पाप ही है—ऐसा जानना।।४६/७५६।।

अब, इस पद्य द्वारा लोह-दान का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सर्वत्र भ्रमता येन कृतान्तेनेव देहिन:।**
विपाद्यन्ते न तल्लोहं दत्तं कस्यापि शान्तये।।४७/७५७।।

सर्वत्र घूमते यम-सम जिससे प्राणी नष्ट हों।
दान में दिया लोहा किसको शांति हेतु हो?।।४७/७५७।।

शब्दशः अर्थ : सर्वत्र=सब जगह; भ्रमता=घूमता हुआ; येन=जिससे; कृतान्तेन=यम से; इव=समान; देहिन:=शरीर-धारी; विपाद्यन्ते=नष्ट होते हैं; न=नहीं; तत्=वह; लोहं=लोहा; दत्तं=दिया हुआ; कस्य=किसका; अपि=भी; शान्तये=शांति के लिए।

अन्वय : सर्वत्र भ्रमता कृतान्तेन इव येन देहिन: विपाद्यन्ते तत् दत्तं लोहं कस्य अपि शान्तये न।

वचनिका : सब जगह भ्रमण करनेवाले यम के समान जिससे जीव नष्ट हो जाते हैं; वह दिया हुआ लोहा किसी की भी शांति के लिए नहीं है।

भावार्थ : लोहा जहाँ भी जाता है, वहाँ हिंसा होती है; अत: लोह-दान, पुण्य के लिए नहीं है, पाप के लिए ही है।।४७/७५७।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा स्वर्ण-दान का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **यदर्थं हिन्स्यते पात्रं यत्सदा भय-कारणम्।**
संयमा येन हीयन्ते दुष्कालेनेव मानवा:।।४८/७५८।।
राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-मनोभवा:।
जन्यन्ते तापका येन काष्ठेनेव हुताशना:।।४९/७५९।।
तद्येनाष्टापदं यस्य दीयते हित-काम्यया।
स तस्याष्टापदं मन्ये दत्ते जीवित-शान्तये।।५०/७६०।।

जिस हेतु पात्र की हिंसा जो सदा भय हेतु हो।
दुष्काल में मानव-सम जिससे संयम हीन हों।।४८/७५८।।
काष्ठ से अग्नि-सम हों जिससे ताप-कारकी।
राग द्वेष अहं क्रोध लोभ मोह कुशील भी।।४९/७५९।।
हित हेतु दिया जिसको अष्टापद उसको दिया।
जीवन-शांति हेतु से अष्टापद यों मानता।।५०/७६०।।

शब्दशः अर्थ : यत्+अर्थं=जिसके लिए; हिन्स्यते=मारता है; पात्रं=पात्र को; यत्=जो; सदा=नित्य; भय-कारणं=भय का कारण; संयमा:=संयम; येन=जिससे; हीयन्ते=हीन हो जाते हैं; दुष्कालेन=अकाल द्वारा; इव=समान; मानवा:=मनुष्य।

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-मनो-भवा:=राग, द्वेष, मान, क्रोध, लोभ, मोह,

काम/विषय-वासना; जन्यन्ते=प्रकट होते हैं; तापका:=संतप्त करनेवाले; येन=जिससे; काष्ठेन=लकड़ी द्वारा; इव=समान; हुताशना:=अग्नि।

तत्=वह; येन=जिसके द्वारा; अष्टापदं=स्वर्ण; यस्य=जिसका; दीयते=दिया जाता है; हित-काम्यया=हित की कामना से; स:=वह; तस्य=उसका; अष्टापदं=अष्टापद नामक क्रूर-प्राणी; मन्ये=मानता हूँ; दत्ते=दिया है; जीवित-शान्तये=जीवन की शांति के लिए।

अन्वय : यत् अर्थं पात्रं हिन्स्यते यत् सदा भय-कारणं दुष्कालेन मानवा: इव येन संयमा: हीयन्ते; काष्ठेन हुताशना: इव येन तापका: राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह-मनो-भवा: जन्यन्ते; तत् अष्टापदं येन यस्य हित-काम्यया दीयते स तस्य जीवित-शान्तये अष्टापदं दत्ते (इति) मन्ये।

वचनिका : जिसके लिए पात्र की हिंसा कर देते हैं, जो सदा भय का कारण है; जैसे—दुर्भिक्ष द्वारा मनुष्य हीन हो जाते हैं; उसीप्रकार जिससे संयम हीन हो जाता है; जैसे—काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होती है; उसीप्रकार जिससे संताप-कारक राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह, काम उत्पन्न होते हैं; वह अष्टापद अर्थात् स्वर्ण, जिसने जिसकी हित की कामना से दिया है; उसने उसके जीवन की शांति के लिए अष्टापद नामक क्रूर हिंसक जीव दिया है—ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ : जैसे—किसी को जीवन के लिए किसी ने उसे अष्टापद नामक हिंसक जीव को दिया तो उससे उसका मरण ही होता है; उसीप्रकार धर्म के लिए मिथ्यादृष्टि को दिए गए सुवर्ण से हिंसादि होने के कारण दूसरों को और स्वयं को पाप ही होता है—ऐसा जानना।।४८-५०/७५८-७६०।।

अब, इस पद्य द्वारा तिल-दान का निषेध निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **सन्सजन्त्यङ्गिनो येषु भूरिशस्त्रस-कायिका:।**
फलं विश्राणने तेषां तिलानां कल्मषं परम्।।५१/७६१।।

जिनमें अनेक त्रस-कायिक प्राणी जन्मते सदा।
उन तिलों को देने में मात्र पाप फले सदा।।५१/७६१।।

शब्दश: अर्थ : सन्सजन्ति=उत्पन्न होते हैं; अङ्गिन:=प्राणी; येषु=जिनमें; भूरिश:=अनेकों; त्रस-कायिका:=त्रस-कायवाले; फलं=फल; विश्राणने=देने में; तेषां=उनका; तिलानां=तिलों का; कल्मषं=पाप; परं=मात्र।

अन्वय : येषु भूरिश: त्रस-कायिका: अङ्गिन: सन्सजन्ति तेषां तिलानां विश्राणने परं कल्मषं फलम्।

वचनिका : जिनमें अनेकों त्रस-कायिक जीव उत्पन्न होते हैं; उन तिलों को देने में मात्र पाप ही फल है।

भावार्थ : तिल देने में त्रस-कायिक जीवों की हिंसा होने से मात्र पाप ही है; पुण्य नहीं है।।५१/७६१।।

अब, इस पद्य द्वारा गृह-दान का निषेध वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **प्रारम्भा यत्र जायन्ते चित्रा: सन्सार-हेतव:।**
तत्सद्म ददतो घोरं केवलं कलिलं फलम्।।५२/७६२।।

जहाँ संसार हेतुमय अनेकों आरंभ हैं।
उस घर को देनेवाला मात्र बहु पाप फल लहे।।५२/७६२।।

शब्दश: अर्थ : प्रारम्भा:=हिंसादिमय आरंभ; यत्र=जिसमें; जायन्ते=होते हैं; चित्रा:=अनेक प्रकार; सन्सार-हेतव:=संसार के कारणभूत; तत्=उस; सद्म=घर को; ददत:=देता हुआ; घोरं=भयानक; केवलं=मात्र; कलिलं=पाप; फलं=फल को।

अन्वय : यत्र सन्सार-हेतव: चित्रा: प्रारम्भा: जायन्ते तत् सद्म ददत: केवलं घोरं कलिलं फलम्।

वचनिका : जिसमें संसार के कारणभूत अनेक प्रकार के आरंभ होते हैं; उस घर को देनेवाले को मात्र घोर पापरूप फल ही प्राप्त होता है।।५२/७६२।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा गो-दान का निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पीडा सम्पद्यते यस्या वियोगे गो-निकायत:।**
यस्या जीवा: निहन्यन्ते पुच्छशृङ्गखुरादिभि:।।५३/७६३।।
यस्यां च दुह्यमानायां तर्णक: पीड्यतेतराम्।
तां गां वितरता श्रेयो लभ्यते न मनागपि।।५४/७६४।।

गो गण से हटाने में पीड़ा जिसके बहुत है।
पूँछ सींग खुरादि से जीव मरते अनेक हैं।।५३/७६३।।
जिसको दुहने से सुत अत्यधिक पीड़ित रहे।
उस गो को देने से रंच श्रेय नहीं लहें।।५४/७६४।।

शब्दश: अर्थ : पीडा=कष्ट; सम्पद्यते=होता है; यस्या:=जिसकी; वियोगे=विछुड़ने में; गो-निकायत:=गायों के समूह से; यस्या:=जिसकी; जीवा:=शरीर-धारी; निहन्यन्ते=घाते जाते हैं; पुच्छ-शृङ्ग-खुर+आदिभि:=पूँछ, सींग, खुर आदि द्वारा।

यस्यां=जिसमें; च=और; दुह्यमानायां=दुहने पर; तर्णक:=दूध पीनेवाली संतान; पीड्यतेतरां=अत्यधिक दु:खी होती है; तां=उस; गां=गाय को; वितरता=देते हुए द्वारा; श्रेय: =पुण्य; लभ्यते=प्राप्त किया जाता है; न=नहीं; मनाक्=थोड़ा; अपि=भी।

अन्वय : गो-निकायत: वियोगे यस्या: पीडा सम्पद्यते यस्या: पुच्छ-शृङ्ग-खुर-आदिभि: जीवा: निहन्यन्ते; च यस्यां दुह्यमानायां तर्णक: पीड्यतेतरां तां गां वितरता मनाक् अपि श्रेय: न लभ्यते।

वचनिका : गायों के समूह से विछड़ने पर जिसे पीड़ा उत्पन्न होती है; जिसके पूँछ, सींग, खुर आदि से जीव मारे जाते हैं; जिसे दुहने पर दूध पीनेवाली उसकी संतान अत्यधिक कष्ट पाती है; उस गाय को देनेवाले व्यक्ति को कुछ भी पुण्य प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : गाय को देने में पुण्य का अंश भी नहीं है; पाप ही होता है।।५३-५४/७६३-७६४।।

अब, इस पद्य द्वारा गाय को देने-लेने का निषेध जैनेतरों की मान्यता द्वारा पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **या सर्व-तीर्थ-देवानां निवासीभूत-विग्रहा।**
दीयते गृह्यते सा गौ: कथं दुर्गतिगामिभि:।।५५/७६५।।

जो सर्व तीर्थ देवों के रहने का स्थान है।
उस गाय को कुगतिगामी कैसे देते ले सकें?।।५५/७६५।।

शब्दश: अर्थ : या=जो; सर्व-तीर्थ-देवानां=सभी तीर्थों और देवों के; निवासी-भूत-विग्रहा=रहने के स्थानमय शरीरवाली; दीयते=दी जाती है; गृह्यते=ली जाती है; सा=वह; गौ:=गाय; कथं=कैसे; दुर्गति-गामिभि:=खोटी गति में गमन करनेवालों द्वारा।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में ही है; शेष इसप्रकार—सा गौ: दुर्गति-गामिभि: कथं दीयते गृह्यते?

वचनिका : जो गाय, सभी तीर्थों और देवों के बसने के स्थानमय शरीरवाली है; वह गाय, दुर्गति को जानेवालों द्वारा कैसे दी जाती है और कैसे ग्रहण की जाती है?

भावार्थ : (जैनेतरों की मान्यता के अनुसार) गाय के शरीर में सभी तीर्थ और देव रहते हैं—ऐसा मिथ्यादृष्टि मानते हैं। ऐसी गाय को पापी कैसे देते हैं और कैसे लेते हैं?—ऐसा तर्क किया है।।५५/७६५।।

हम साक्षात् गाय नहीं लेंगे; तिलादि के समूह में गाय का संकल्प कर ले लेंगे—ऐसा भाव व्यक्त करनेवाले का अब, इस पद्य द्वारा निराकरण करते हैं—

आर्या : **तिल-धेनुं घृत-धेनुं काञ्चन-धेनुं च रुक्म-धेनुं च।**
परिकल्प्य भक्षयन्तश्चाण्डालेभ्यस्तरां पापाः।।५६/७६६।।
तिल-धेनु घी-धेनु स्वर्ण की धेनु व गाय चाँदी की।
ऐसा मान भखें जो वे चांडालों से अधिक पापी।।५६/७६६।।

शब्दशः अर्थ : तिल-धेनुं=तिलों की गाय; घृत-धेनुं=घी की गाय; काञ्चन-धेनुं=सोने की गाय; च=और; रुक्म-धेनुं=चाँदी की गाय; च=और; परिकल्प्य=मानकर; भक्षयन्तः=भक्षण करते हुए; चाण्डालेभ्यः=चांडालों से; तरां=अधिक; पापाः=पापमय।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : तिलों की गाय, घृत की गाय, स्वर्ण की गाय, चाँदी की गाय बना-बनाकर जो भखते/खाते हैं; वे चांडाल से भी अधिक पापी हैं।

भावार्थ : चांडाल गाय नहीं खाता है; परंतु इन मिथ्यादृष्टिओं ने तिलादि की बनाकर गाय भी खा ली; अतः वे चांडाल से भी अधिक पापी हैं—ऐसा जानना।।५६/७६६।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा कन्या-दान का निषेध करते हैं—

आर्या : **या धर्मवन-कुठारी पातक-वसतिस्तपोदयाचौरी।**
वैरायासासूया-विषाद-शोक-श्रम-क्षोणी।।५७/७६७।।
यस्यां सक्ता जीवाः दुःखतमान्नोत्तरन्ति भवजलधेः।
कः कन्यायां तस्यां दत्तायां विद्यते धर्मः।।५८/७६८।।
जो धर्म-वन-कुल्हाड़ी पापों की वसति तप दया-चौरी।
बैर प्रयास असूया विषाद शोक रु परिश्रम भूमी।।५७/७६७।।
इसमें आसक्त जीव अति दुखमय भव-समुद्र नहिं तरते।
उस कन्या को देने में तब फिर हो धर्म क्या कैसे?।।५८/७६८।।

शब्दशः अर्थ : या=जो; धर्म-वन-कुठारी=धर्मरूपी वन को काटने के लिए कुल्हाड़ी; पातक-वसति=पापों को वसति/रहने की जगह; तपः-दया-चौरी=तप और दया को चुरानेवाली; वैर+आयास+असूया-विषाद-शोक-श्रम-क्षोणी=बैर, प्रयास, ईर्ष्या, खेद, शोक, श्रम की भूमि; यस्यां=जिसमें; सक्ताः=आसक्त; जीवाः=जीव; दुःखतमात्=घोर दुःखमय; न=नहीं; उत्तरन्ति=पार होते हैं; भव-जलधेः=संसार-सागर से; कः=क्या; कन्यायां =कन्या में; तस्यां=उसमें; दत्तायां=देने में; विद्यते=है; धर्मः=धर्म।

अन्वय : पहला पद्य और दूसरे पद्य का प्रथम चरण अन्वय में है; शेष का इसप्रकार है—

दु:खतमात् भव-जलधे: न उत्तरन्ति तस्यां कन्यायां दत्तायां क: धर्म: विद्यते?।

वचनिका : जो कन्या, धर्म-वन को काटने के लिए कुल्हाड़ी के समान, पाप की वसति/घर, तपश्चरण और दया को चुरानेवाली; बैर, प्रयास, ईर्ष्या, विषाद, शोक, श्रम की भूमि है; जिसमें आसक्त जीव घोर दु:ख-स्वरूप संसार-समुद्र से नहीं तिरते हैं; उस कन्या को देने पर क्या धर्म होता है? पाप ही होता है।

भावार्थ : कन्या-दान से पूर्वोक्त पापों की परम्परा बड़ती है; अत: वह पाप ही है; धर्म नहीं—ऐसा जानना।।५७-५८/७६७-७६८।।

अब, इस पद्य द्वारा विवाह की मीमांसा करते हैं—

आर्या : **सर्वारम्भ-करं ये वीवाहं कारयन्ति धर्माय।**
ते तरुखण्डविवृद्धयै क्षिपन्ति वह्निं ज्वलज्ज्वालम्।।५९/७६९।।

धर्म हेतु जो कराते सर्वारंभी विवाह वे डालें।
वन की वृद्धि हेतु तीव्र धधकती आग को उसमें।।५९/७६९।।

शब्दश: अर्थ : सर्व+आरम्भ-करं=सभी प्रकार के आरंभ को करनेवाले; ये=जो; वीवाहं=विवाह को; कारयन्ति=कराते हैं; धर्माय=धर्म के लिए; ते=वे; तरु-खण्ड-विवृद्धयै=वृक्षों के वन की वृद्धि के लिए; क्षिपन्ति=डालते हैं; वह्निं=अग्नि को; ज्वलत्-ज्वालं=जाज्वल्यमान ज्वालावाली/धधकती।

अन्वय : ये धर्माय सर्व-आरम्भ-करं वीवाहं कारयन्ति ते तरु-खण्ड-विवृद्धयै ज्वलत्-ज्वालं वह्निं क्षिपन्ति।

वचनिका : जो व्यक्ति हिंसादि सभी आरंभ को करनेवाले विवाह को धर्म के लिए कराते हैं; वे वृक्षों के वन को बड़ाने के लिए उन पर जाज्वल्यमान ज्वालाओंवाली अग्नि को डालते हैं।

भावार्थ : जैसे—अग्नि से वन बड़ता नहीं है; उल्टा नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार विवाह कराने से धर्म बड़ता नहीं है; धर्म का नाश हो जाता है।।५९/७६९।।

अब, इस पद्य द्वारा किन्हीं विशिष्ट कालों में दानादि का निषेध करते हैं—

आर्या : **य: सङ्क्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति मूढमति:।**
सम्यक्त्ववत्त्वनं छित्त्वा मिथ्यात्व-वनं वपत्येष:।।६०/७७०।।

संक्रांति ग्रहण रवि वारादि में जो कुबुद्धि धन देता।
सम्यक्त्व वन मिटाकर वह मिथ्यात्व वन बोता।।६०/७७०।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; सङ्क्रान्तौ=परिवर्तन में; ग्रहणे=ग्रहण में; वारे=वार में; वित्तं=धन

को; ददाति=देता है; मूढमतिः=खोटी बुद्धिवाला; सम्यक्त्व-वनं=सम्यक्त्वरूपी वन को; छित्त्वा=छेदकर; मिथ्यात्व-वनं=मिथ्यात्वरूपी वन को; वपति=बोता है; एषः=यह।

अन्वय : यः मूढमतिः सङ्क्रान्तौ ग्रहणे वारे वित्तं ददाति एषः सम्यक्त्व-वनं छित्त्वा मिथ्यात्व-वनं वपति।

वचनिका : जो मूढबुद्धि व्यक्ति संक्रांति में, ग्रहण में, रविवारादि वार में धन को देता है; वह सम्यक्त्वरूपी वन को छेदकर मिथ्यात्वरूपी वन को बोता है।।६०/७७०।।

अब, इस पद्य द्वारा मृत की तृप्ति हेतु दान का निषेध करते हैं—

आर्या : **ये ददते मृत-तृप्त्यै बहुधा दानानि नूनमस्तधियः।**
पल्लवयितुं तरुं ते भस्मीभूतं निषिञ्चन्ति।।६१/७७१।।

जो निर्बुद्धि मृत की तृप्ति हेतु दें वित्त बहु विध-विध।
वे भस्म हुए तरु को सीचें हेतु हों नित पल्लव।।६१/७७१।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; ददते=देते हैं; मृत-तृप्त्यै=मृत की तृप्ति के लिए; बहुधा=अनेक प्रकार का; दानानि=दान; नूनं=वास्तव में; अस्त-धियः=नष्ट-बुद्धिवाले; पल्लवयितुं=हरा-भरा करने के लिए; तरुं=वृक्ष को; ते=वे; भस्मीभूतं=भस्म हुए; निषिञ्चन्ति=सीचते हैं।

अन्वय : ये अस्त-धियः मृत-तृप्त्यै बहुधा दानानि ददते ते नूनं भस्मीभूतं तरुं पल्लवयितुं निषिञ्चन्ति।

वचनिका : जो निर्बुद्धि व्यक्ति मरे हुए जीवों की तृप्ति के लिए बहुत प्रकार का दान देते हैं; वे वास्तव में अग्नि द्वारा भस्म हुए वृक्ष को पत्र-सहित करने के लिए सींचते हैं।

भावार्थ : जैसे—भस्म हुए वृक्ष को सींचने से वह हरा-भरा नहीं होता है, उसे सींचना निष्फल है; उसीप्रकार मरे हुए पितरों की तृप्ति के लिए दान देना, व्यर्थ है; मिथ्यात्व पुष्ट होने से पाप ही है।।६१/७७१।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे सतर्क पुष्ट करते हैं—

आर्या : **विप्रगणे सति भुक्ते तृप्तिः सम्पद्यते यदपि नृणाम्।**
नान्येन घृते पीते भवति तदान्यः कथं पुष्टः।।६२/७७२।।

विप्रगणों के भोजन से यदि तृप्ति मनुष्य की होती।
तब अन्य पिए घृत से कैसे नहिं पुष्टि हो अन्य की?।।६२/७७२।।

शब्दशः अर्थ : विप्र-गणे=ब्राम्हण के समूह में; सति=होने पर; भुक्ते=भोजन में; तृप्तिः=संतुष्टि; सम्पद्यते=होती है; यत्=जो; अपि=भी; नृणां=मनुष्यों का; न=नहीं; अन्येन=अन्य द्वारा; घृते

=घी; पीते=पिए जाने पर; भवति=होता है; तदा=तब; अन्य:=दूसरा; कथं=कैसे; पुष्टं=पुष्ट।
अन्वय : यदपि विप्र-गणे भुक्ते सति नृणां तृप्ति: सम्पद्यते तदा अन्येन घृते पीते अन्य: पुष्ट: कथं न भवति?

वचनिका : ब्राम्हण के समूह को भोजन कराने पर यदि पितर के तृप्तिता होती है तो अन्य द्वारा घी पिए जाने पर अन्य पुष्ट कैसे/क्यों नहीं होता है?।।६२/७७२।।

अब, इस पद्य द्वारा वही पुन: स्पष्ट करते हैं—

आर्या : **दानं दत्ते पुत्रैर्मुच्यन्ते पापतोऽत्र यदि पितर:।**
विहिते तदा चरित्रे परेण मुक्तिं परो याति।।६३/७७३।।

यदि सुत द्वारा देने से कोइ पितर पाप से छूटें।
तो हो मुक्ति अन्य कि अन्य के चारित्र पालन से?।।६३/७७३।।

शब्दश: अर्थ : दाने=दान; दत्ते=दिए जाने पर; पुत्रै:=पुत्रों द्वारा; मुच्यन्ते=छूट जाते हैं; पापत:=पाप से; अत्र=यहाँ; यदि=यदि; पितर:=पितर; विहिते=करने पर; तदा=तब; चरित्रे=चारित्र-पालन; परेण=अन्य द्वारा; मुक्तिं=मोक्ष को; पर:=अन्य; याति=प्राप्त हो।
अन्वय : यदि अत्र पुत्रै: दाने दत्ते पितर: पापत: मुच्यन्ते तदा परेण चरित्रे विहिते पर: मुक्तिं याति?

वचनिका : यदि यहाँ पुत्रों द्वारा दान दिए जाने पर पितर पाप से छूट जाते हैं; तब फिर अन्य द्वारा चारित्र-पालन करने पर अन्य मोक्ष को प्राप्त हो जाए।।६३/७७३।।

अब, इस पद्य द्वारा अस्थि-विसर्जन की विपरीत मान्यता का निषेध निरूपित है—

आर्या : **गङ्गागतेऽस्थिजाले भवति सुखी यदि मृतोऽत्र चिरकालम्।**
भस्मीकृतस्तदाम्भ: सिक्त: पल्लवयते वृक्ष:।।६४/७७४।।

अस्थि-समूह गंगागत से यदि सुखी मृतक चिरकाल।
तो भस्म हुआ पादप जल-सिंचन से पल्लवों-युक्त।।६४/७७४।।

शब्दश: अर्थ : गङ्गा-गते=गंगा नदी में जाने पर; अस्थि-जाले=हड्डिओं के समूह में; भवति =होता है; सुखी=सुखमय; यदि=यदि; मृत:=मृत-प्राणी; अत्र=यहाँ; चिर-कालं=दीर्घ-काल पर्यंत; भस्मी-कृत:=भस्म हुआ; तदा=तब; अम्भ:=जल से; सिक्त:=सींचा गया; पल्लवयते=हरा-भरा/पत्तोंवाला हो जाता; वृक्ष:=पेड़।
अन्वय : यदि अत्र अस्थि-जाले गङ्गा-गते मृत: चिर-कालं सुखी भवति तदा भस्मी-कृत: अम्भ: सिक्त: वृक्ष: पल्लवयते।

वचनिका : हड्डिओं के समूह को गंगा नदी में जाने पर यदि यहाँ मृत प्राणी चिर-काल पर्यंत

सुखी रहता है; तो भस्म हुआ, जल से सींचा गया वृक्ष, हरा-भरा/पत्तों आदि से संपन्न हो जाता।।६४/७७४।।

दान देकर धन माँगनेवालों को अब, इस पद्य द्वारा समझाते हैं—

आर्या : **उपयाचन्ते देवान्नष्टधियो ये धनानि ददमानाः।**
ते सर्वस्वं दत्त्वा नूनं क्रीणन्ति दुःखानि।।६५/७७५।।

माँगें देव से धन को देनेवाले जो दान दुर्बुद्धि।
वे अपना सब धन दे खरीदते दुःख बहु नित ही।।६५/७७५।।

शब्दशः अर्थ : उपयाचन्ते=माँगते हैं; देवात्=देव से; नष्ट-धियः=नष्ट-बुद्धिवाले; ये=जो; धनानि=धन को; ददमानाः=दान देते हुए; ते=वे; सर्व-स्वं=अपना संपूर्ण धन; दत्त्वा=देकर; नूनं=वास्तव में; क्रीणन्ति=खरीदते हैं; दुःखानि=दुःख।

अन्वय : ये नष्ट-धियः ददमानाः देवात् धनानि उपयाचन्ते ते नूनं सर्व-स्वं दत्त्वा दुःखानि क्रीणन्ति।

वचनिका : जो नष्ट-बुद्धि दान देते हुए भी देव से धन माँगते हैं; वे वास्तव में अपना संपूर्ण धन देकर दुःखों को खरीदते हैं।।६५/७७५।।

प्रतिबिंबों से रक्षा चाहनेवालों को अब, इस पद्य द्वारा संबोधित करते हैं—

आर्या : **पूर्णे काले देवैर्न रक्ष्यते कोऽपि नूनमुपयातैः।**
चित्रमिदं प्रतिबिम्बैरचेतनैः रक्ष्यते तेषाम्।।६६/७७६।।

काल पूर्ण होने पर आए देवों से कोइ नहिं रक्षित।
जड़ प्रतिबिंबों से तब कैसे होंगे कभी रक्षित?।।६६/७७६।।

शब्दशः अर्थ : पूर्णे=पूर्ण होने पर; काले=समय/आयु; देवैः=देवों द्वारा; न=नहीं; रक्ष्यते=रक्षा की जाती है; कः=कोई; अपि=भी; नूनं=वास्तव में; उपयातैः=निकट आए; चित्रं=आश्चर्य; इदं=यह; प्रतिबिम्बैः=प्रतिकृति द्वारा; अचेतनैः=जड़; रक्ष्यते=रक्षा की जाती है; तेषां=उनके।

अन्वय : काले पूर्णे नूनं कः अपि उपयातैः देवैः न रक्ष्यते तेषां अचेतनैः प्रतिबिम्बैः रक्ष्यते इदं चित्रम्।

वचनिका : काल/आयु के पूर्ण हो जाने पर वास्तव में कोई भी व्यक्ति, निकट आए देवों द्वारा भी रक्षित नहीं है; तब फिर उन देवों के अचेतन प्रतिबिंबों से रक्षा मानना—यह बड़ा आश्चर्य है।

भावार्थ : कोई मिथ्यादृष्टि, कुदेवों की प्रतिमा बनाकर उनके आगे अपना जीवन चाहते

हैं। आचार्य उनसे कहते हैं कि आयु पूर्ण हो जाने पर साक्षात् देव भी रक्षा नहीं कर सकते हैं; तब फिर उनके अचेतन प्रतिबिंबों से जीवितव्य चाहना—यह बड़े आश्चर्य की बात है।।६६/७७६।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस को देने-लेने का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **मान्सं यच्छन्ति ये मूढा ये च गृह्णन्ति लोलुपाः।**
द्वये वसन्ति ते श्वभ्रे हिन्सामार्गप्रवर्तिनः।।६७/७७७।।

जो मूर्ख मांस को देते जो लेते हैं लोलुपी।
हिंसामार्ग प्रवर्तक वे दोनों रहते नरक ही।।६७/७७७।।

शब्दशः अर्थ : मान्सं=मांस को; यच्छन्ति=देते हैं; ये=जो; मूढाः=मूर्ख; ये=जो; च=और; गृह्णन्ति=ग्रहण करते हैं; लोलुपाः=मांस के लोभी; द्वये=दोनों; वसन्ति=रहते हैं; ते=वे; श्वभ्रे=नरक में; हिन्सा-मार्ग-प्रवर्तिनः=हिंसा के मार्ग को चलानेवाले।

अन्वय : ये मूढाः मान्सं यच्छन्ति च ये लोलुपाः गृह्णन्ति हिन्सा-मार्ग-प्रवर्तिनः ते द्वये श्वभ्रे वसन्ति।

वचनिका : जो मूढ मांस को देते हैं और जो लोलुपी मांस को ग्रहण करते हैं; हिंसा के मार्ग की प्रवृत्ति करनेवाले वे दोनों, नरक में वास करते हैं।।६७/७७७।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म के लिए मांस देने का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **धर्मार्थं ददते मान्सं ये नूनं मूढबुद्धयः।**
जिजीविषन्ति ते दीर्घं कालकूटविषाशने।।६८/७७८।।

जो मूढबुद्धि देते धर्म हेतु मांस को।
वे कालकूट विष खाकर जीवन चाहें दीर्घ हो।।६८/७७८।।

शब्दशः अर्थ : धर्म+अर्थं=धर्म के लिए; ददते=देते हैं; मान्सं=मांस को; ये=जो; नूनं=वास्तव में; मूढ-बुद्धयः=दुर्बुद्धि; जिजीविषन्ति=जीने की इच्छा करते हैं; ते=वे; दीर्घं=बहुत काल पर्यंत; काल-कूट विष+अशने=कालकूट जहर के भक्षण में।

अन्वय : ये मूढ-बुद्धयः धर्मार्थं मान्सं ददते ते नूनं काल-कूट-विष-अशने दीर्घं जिजीविषन्ति।

वचनिका : जो मूढ-बुद्धि, धर्म के लिए मांस देते हैं; वे वास्तव में काल-कूट विष को खाकर दीर्घ जीवन की इच्छा करते हैं।।६८/७७८।।

अब, इस पद्य द्वारा जानकर दोष करनेवाले को महा-पापरूप फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **तादृशं यच्छतां नास्ति पापं दोषमजानताम्।**
यादृशं गृह्णन्तां मान्सं जानतां दोषमूर्जितम्।।६९/७७९।।
दोष नहिं जानते दाता को हो वैसा पाप नहिं।
दोष जान ले मांस जैसा पाप बहुल ही।।६९/७७९।।

शब्दशः अर्थ : तादृशं=उसप्रकार का; यच्छतां=देते हुए को; नास्ति=नहीं है; पापं=पाप; दोषं=दोष को; अजानतां=नहीं जानते हुए को; यादृशं=जैसा; गृह्णन्तां=ग्रहण करते हुए को; मान्सं=मांस को; जानतां=जानते हुए को; दोषं=दोष; ऊर्जितं=पाप।

अन्वय : दोषं अजानतां यच्छतां तादृशं पापं नास्ति यादृशं दोषं जानतां मान्सं गृह्णन्तां ऊर्जितम्।

वचनिका : दोष के स्वरूप को नहीं जानते हुए दान देनेवाले को उसप्रकार का पाप नहीं है; जैसा महा-पाप दोष को जानते हुए मांस ग्रहण करनेवाले को है।

भावार्थ : कुदान को देनेवाला यदि अज्ञान से धर्म जानकर दान देता है तो पापी है ही; परंतु जो जानकर दोष-सहित दान ग्रहण करता है, वह उससे भी अधिक, महा-पापी है; क्योंकि भोले जीवों की अपेक्षा, जानकर प्रपंच/छल करनेवाले को कषाय अधिक है—ऐसा जानना।।६९/७७९।।

अब, इसे ही प्रस्तुत पद्य द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **दाता दोषमजानानो दत्ते धर्मधियाऽखिलम्।**
यः स्वीकरोति तद्दानं पात्रं त्वेष न सर्वथा।।७०/७८०।।
दोष नहिं जान सब देता दाता धर्म-बुद्धि से।
उस दान को जो लेता सर्वथा नहिं पात्र है।।७०/७८०।।

शब्दशः अर्थ : दाता=देनेवाला; दोषं=दोष को; अजानानः=नहीं जानता हुआ; दत्ते=देता है; धर्म-धिया=धर्म-बुद्धि से; अखिलं=सब; यः=जो; स्वीकरोति=स्वीकार करता है; तत्=वह; दानं=दान; पात्रं=पात्र; तु=परंतु; एषः=यह; न=नहीं; सर्वथा=सभी प्रकार से/ रंच-मात्र भी।

अन्वय : दोषं अजानानः दाता धर्म-धिया अखिलं दत्ते तु यः तत् दानं स्वीकरोति एषः सर्वथा पात्रं न।

वचनिका : दोषों को नहीं जानता हुआ दाता तो धर्म-बुद्धि से सब दान देता है; परंतु जो कुदान को स्वीकार करता है, वह सर्वथा पात्र नहीं है।।७०/७८०।।

वास्तव में इन्हें दान कहना भी उचित नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **बहूनि तानि दानानि विधेयैषा न शेमुषी।**
विपद्यतेतरां प्राणी भूरिभिर्भक्षितैर्विषैः।।७१/७८१।।

दान वे अनेकों हैं यह वाणी उचित नहीं।
अत्यधिक विष भक्षण से पाता बहुविध दुःख ही।।७१/७८१।।

शब्दशः अर्थ : बहूनि=अनेकों; तानि=वे; दानानि=दान; विधेया=योग्य हैं; एषा=यह; न=नहीं; शेमुषी=वाणी; विपद्यतेतरां=अत्यधिक कष्ट पाता है; प्राणी=देह-धारी; भूरिभिः= बहुत; भक्षितैः=खाए गए; विषैः=विष से।

अन्वय : तानि बहूनि दानानि एषा शेमुषी न विधेया भूरिभिः विषैः भक्षितैः प्राणी विपद्यतेतराम्।

वचनिका : पहले कहे वे बहुत प्रकार के दान हैं—ऐसी यह वाणी कहना योग्य नहीं है; क्योंकि बहुत खाए हुए विष से जीव विशेषरूप से नष्ट किया जाता है।

भावार्थ : पहले कहे गए बहुत कुदानों को 'वे दान हैं'—ऐसा भी कहना योग्य नहीं है; क्योंकि जैसे—बहुत विष खाए प्राणी का विशेषरूप से मरण ही होता है; उसीप्रकार कुदान से पाप ही होता है।।७१/७८१।।

अब, इस पद्य द्वारा थोड़े दान की बहु-फलता को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अल्पं जिनमतं दानं वदन्तीमं न कोविदाः।**
पीयूषेणोपभुक्तेन किं नाल्पेनापि जीव्यते।।७२/७८२।।

जिन-मत वाला दान थोड़ा है विद न कहें।
अल्प अमृत खाने से क्या ये जीवन नहिं रहे?।।७२/७८२।।

शब्दशः अर्थ : अल्पं=थोड़ा; जिन-मतं=जिन-मत में बताया गया; दानं=दान; वदन्ति=कहते हैं; इमं=यह; न=नहीं; कोविदाः=पंडित-जन; पीयूषेण=अमृत द्वारा; उपभुक्तेन=खाए गए; किं=क्या; न=नहीं; अल्पेन=थोड़ा; अपि=भी; जीव्यते=जीवित रहता है।

अन्वय : जिन-मतं दानं अल्पं इमं कोविदाः न वदन्ति अल्पेन अपि उपभुक्तेन पीयूषेण किं न जीव्यते?

वचनिका : यह जिन-मत का कहा दान अल्प है—ऐसा पंडित-जन नहीं कहते हैं; क्योंकि खाए गए थोड़े से भी अमृत से क्या जीते नहीं हैं? जीते ही हैं।

भावार्थ : कोई कहता है कि जैन-मत में बताया गया दान तो थोड़ा है; उससे क्या भला होगा? आचार्य उससे कहते हैं कि थोड़ा-सा भी सुदान महा-पुण्य उत्पन्न करता है। जैसे—थोड़ा-सा भी अमृत जीवित ही रखता है; उसीप्रकार जिन-भाषित-दान, थोड़ा नहीं जानना।।७२/७८२।।

कुदान से पाप ही होता है; अब इसे इन तीन पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **ग्रहीतुः कुरुते सौख्यं दानैस्तैरखिलैर्यतः।**
पुण्य-भागी ततो दाता नेदं वचनमञ्चितम्।।७३/७८३।।
आपाते लभ्यते सौख्यं विपाके दुःखमुल्वणम्।
अपथ्यैरिव तै-र्दानै-र्दुर्जरै-र्जन-निन्दितैः।।७४/७८४।।
आपाते सुखदैः पुण्यमन्ते दुःखवितारिभिः।
भूमि-दानादिभिर्दत्तैर्न किं-पाक-फलैरिव।।७५/७८५।।

उन सब दानों से होता सौख्य लेता जो उसे।
दाता पुण्य-भागी यों यह वचन अयोग्य है।।७३/७८३।।
पाक दुखकर जन निंदित अपथ्यों-वत् दान से।
वर्तमान सुखाभास तीव्र दुःख विपाक में।।७४/७८४।।
किंपाक फल-वत् भूमि-दानादि तत्क्षण सुखद।
अंत में दुःख-विस्तारक अतः नहीं है रंच पुण्य।।७५/७८५।।

शब्दशः अर्थ : ग्रहीतुः=ग्रहण करनेवाले के लिए; कुरुते=करता है; सौख्यं=सौख्य; दानैः=दानों से; तैः=उन; अखिलैः=सभी; यतः=क्योंकि; पुण्य-भागी=पुण्य का पात्र; ततः=इसलिए; दाता=देनेवाला; न=नहीं; इदं=यह; वचनं=वचन; अञ्चितं=योग्य।

आपाते=वर्तमान में; लभ्यते=प्राप्त होता है; सौख्यं=सौख्य; विपाके=फलोदय में; दुःख=आकुलता; उल्वणं=तीव्र; अपथ्यैः=अपथ्य से; इव=समान; तैः=उन; दानैः=दानों द्वारा; दुर्जरैः=कष्ट पूर्वक पचनेवाले; जन-निन्दितैः=लोक में निंदित।

आपाते=वर्तमान में; सुखदैः=सुख देनेवाले; पुण्यं=पुण्य; अन्ते=अंत में; दुःख-वितारिभिः=दुःखों को बड़ानेवाले; भूमि-दान+आदिभिः=पृथ्वी के दान आदि से; दत्तैः=दिए गए; न=नहीं; किं-पाक-फलैः=किं-पाक-फल से; इव=समान।

अन्वय : यतः तैः अखिलैः दानैः ग्रहीतुः सौख्यं कुरुते ततः दाता पुण्य-भागी इदं वचनं अञ्चितं न। दुर्जरैः जन-निन्दितैः अपथ्यैः इव तैः दानैः आपाते सौख्यं लभ्यते विपाके दुःखं उल्वणम्। आपाते सुखदैः अन्ते दुःख-वितारिभिः किंपाकफलैः इव भूमि-दानाभिः दत्तैः पुण्यं न।

वचनिका : क्योंकि पहले कहे गए उन सभी दानों द्वारा दान ग्रहण करनेवाले के सुख करता है; इसलिए दाता, पुण्य का भजनेवाला/पात्र होता है—ऐसा वचन योग्य नहीं है; क्योंकि दुःख से पचनेवाले और लोक-निंदित कुपथ्यों के समान उन कुदानों द्वारा वर्तमान में सुख प्राप्त

होता है; परंतु विपाक में अत्यंत दु:ख होता है। वर्तमान में सुख-दायक और अंत में दु:ख को बड़ानेवाले किंपाक-फल के समान दिए गए भूमि-दानादि अनेक कुदानों द्वारा पुण्य नहीं होता है।

भावार्थ : कोई कहता है कि पृथ्वी दानादि लेनेवाला सुखी होता है; अत: दाता को पुण्य होता है।

उससे कहते हैं कि जैसे—कुपथ्य, वर्तमान में तो मीठा लगता है; परंतु प्राण ही हरता है। जैसे—किंपाक का फल, खाने में तो मीठा लगता है; परंतु बाद में प्राण हरता है; उसी प्रकार पृथ्वी आदि दानों में वर्तमान में सुख-सा भासित होता है; परंतु हिंसादि के योग से लेनेवाले को आगामी नरकादि में तीव्र दु:ख उत्पन्न करता है; अत: देनेवाले को पुण्य नहीं; पाप ही है।।७३-७५/७८३-७८५।।

पात्र की पुष्टि हेतु की गई हिंसा भी धर्म नहीं है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **प्रचुरापात्रसङ्घाते मर्दयित्वाऽपि पोषिते।**
पात्रे सम्पद्यते धर्मो नैषा भाषा प्रशस्यते।।७६/७८६।।

अपात्र अनेकों मर्दित कर के भी पुष्टि पात्र की।
कहना धर्म बहुत होता कदापि उचित नहीं।।७६/७८६।।

शब्दश: अर्थ : प्रचुर:=बहुत; अपात्र-सङ्घाते=अपात्र के समूह को; मर्दयित्वा=मर्दितकर; पोषिते=पुष्ट करने पर; पात्रं=पात्र को; सम्पद्यते=होता है; धर्म:=धर्म; न=नहीं; एषा=यह; भाषा=कथन; प्रशस्यते=उचित।

अन्वय : अपात्र-सङ्घाते मर्दयित्वा अपि पात्रे पोषिते प्रचुर: धर्म: सम्पद्यते एषा भाषा प्रशस्यते न।

वचनिका : अपात्र जीवों के समूह को नष्टकर भी पात्र का पोषण करने पर प्रचुर धर्म होता है—ऐसी वाणी प्रशंसा-योग्य नहीं है।।७६/७८६।।

अब, इस पद्य द्वारा यही दृष्टांत-पूर्वक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **निहत्य भेक-सन्दर्भं य: प्रीणाति भुजङ्गमम्।**
सोऽश्नुते यादृशं पुण्यं नूनमन्योऽपि तादृशम्।।७७/७८७।।

मैंढक-समूह हनकर जो पुष्ट करता भुजंग को।
वह पाता जैसा पुण्य वैसा निश्चित अन्य को।।७७/७८७।।

शब्दश: अर्थ : निहत्य=मारकर; भेक-सन्दर्भं=मैंढक-समूह को; य:=जो; प्रीणाति=पुष्ट

करता है; भुजङ्गमं=महा-सर्प को; स:=वह; अश्नुते=प्राप्त करता है; यादृशं=जैसा; पुण्यं=पुण्य; नूनं=वास्तव में; अन्य:=दूसरा; अपि=भी; तादृशं=उसप्रकार।

अन्वय : य: भेक-सन्दर्भं निहत्य भुजङ्गमं प्रीणाति स: यादृशं पुण्यं अश्नुते नूनं अन्य: अपि तादृशं अश्नुते।

वचनिका : मैंढकों के समूह को नष्टकर जो सर्प को पुष्ट करता है; वह व्यक्ति जैसा पुण्य ग्रहण करता है; उसप्रकार का पुण्य वास्तव में अन्य भी ग्रहण करता है।

भावार्थ : जैसे—अनेकों मैंढकों को मारकर कोई सर्प को पुष्ट करे; उसे पाप होता है; उसी प्रकार अन्य जीवों को मारकर ब्राम्हणादि को पुष्ट करने से पाप होता है; पुण्य नहीं—ऐसा जानना।।७७/७८७।।

अब, इस पद्य द्वारा पात्रता की पहिचान कराते हैं—

अनुष्टुभ् : **आत्मीकरोति यो दानं जीवमर्दन-सम्भवम्।**
आकाङ्क्षन्नात्मन: सौख्यं पात्रता तस्य कीदृशी।।७८/७८८।।

अपने सुख की इच्छा से जीव-हिंसा से प्रकट।
दान को जो ले उसके पात्रता कैसी? समझ।।७८/७८८।।

शब्दश: अर्थ : आत्मीकरोति=स्वीकार करता है; य:=जो; दानं=दान को; जीव-मर्दन-सम्भवं=जीव-घात से उत्पन्न; आकाङ्क्षन्=चाहता हुआ; आत्मन:=अपने; सौख्यं=सुख को; पात्रता=पात्रपना; तस्य=उसका; कीदृशी=कैसी।

अन्वय : आत्मन: सौख्यं आकाङ्क्षन् य: जीव-मर्दन-सम्भवं दानं आत्मीकरोति तस्य पात्रता कीदृशी?

वचनिका : स्वयं के सुख को चाहता हुआ जो जीवों के घात से उत्पन्न दान को ग्रहण करता है; उसके पात्रता कैसी?

भावार्थ : अयोग्य दान लेनेवाला, पात्र कैसा? वह तो अपात्र ही है।।७८/७८८।।

अब, इस पद्य द्वारा अदेय आदि का विशेष प्रतिपादन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न सुवर्णादिकं देयं न दाता तस्य दायक:।**
न च पात्रं ग्रहीतास्य जिनानामिति शासनम्।।७९/७८९।।

स्वर्णादि नहीं देय उनको दे दाता नहीं।
लेने वाला नहीं पात्र जिनों का शासन यही।।७९/७८९।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; सुवर्ण+आदिकं=स्वर्ण आदि; देयं=देने-योग्य; न=नहीं; दाता=

देनेवाला; तस्य=उसका; दायक:=देनेवाला; न=नहीं; च=और; पात्रं=पात्र; ग्रहीता=लेने वाला; अस्य=उसका; जिनानां=जिनेंद्र भगवान का; इति=ऐसा; शासनं=शासन/उपदेश।
अन्वय : सुवर्ण-आदिकं देयं न; तस्य दायक: दाता न; च अस्य ग्रहीता पात्रं न इति जिनानां शासनम्।
वचनिका : स्वर्णादि, देने योग्य वस्तु नहीं है; उस स्वर्णादि को देनेवाला, दाता नहीं है; इस दान को ग्रहण करनेवाला, पात्र नहीं है—इसप्रकार जिनदेव का शासन है, उनकी आज्ञा है।।७९/७८९।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वर्णादि दान की हानि-कारकता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **पात्रं विनाशितं तेन तेनाधर्म: प्रवर्तित:।**
येन स्वर्णादिकं दत्तं सर्वानर्थविधायकम्।।८०/७९०।।

उसने पात्र किया नष्ट वर्तन किया अधर्म का।
जिसने अनर्थ-कारक सब स्वर्ण आदि को दिया।।८०/७९०।।

शब्दश: अर्थ : पात्रं=पात्र को; विनाशितं=नष्ट किया गया; तेन=उसके द्वारा, तेन=उसके द्वारा; अधर्म:=अधर्म; प्रवर्तित:=प्रवर्तित किया गया; येन=जिसके द्वारा; स्वर्ण+आदिकं= स्वर्ण आदि; दत्तं=दिया गया; सर्व+अनर्थ-विधायकं=सभी अनर्थों को करनेवाला।
अन्वय : येन सर्व-अनर्थ-विधायकं स्वर्ण-आदिकं दत्तं तेन पात्रं विनाशितं तेन अधर्म: प्रवर्तित:।
वचनिका : जिसने सभी अनर्थों को करनेवाला स्वर्णादि दिया; उसने पात्र का विनाश किया और अधर्म की प्रवृत्ति की।
भावार्थ : स्वर्णादि से हिंसादि पाप उत्पन्न होते हैं; अत: उसे देनेवाले ने लेनेवाले का नाश किया और अधर्म की प्रवृत्ति की; अत: कुदान देना, योग्य नहीं है।।८०/७९०।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा देने-योग्य वस्तुओं की विशेषताएँ वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **रागो निषूद्यते येन येन धर्मो विवर्धयते।**
संयम: पोष्यते येन विवेको येन जन्यते।।८१/७९१।।
आत्मोपशम्यते येन येनोपक्रियते पर:।
न येन नाश्यते पात्रं तद्दातव्यं प्रशस्यते।।८२/७९२।।

जिससे राग हो नष्ट धर्म जिससे नित बड़े।
जिससे संयम हो पुष्ट विवेक जिससे जन्म ले।।८१/७९१।।

आत्म-शांति हो जिससे जिससे पर उपकार नित।
पात्र नष्ट नहीं जिससे वह ही देने-योग्य शुभ।।८२/७९२।।

शब्दश: अर्थ : राग:=राग; निषूद्यते=नष्ट हो जाता है; येन=जिससे; येन=जिससे; धर्म:=धर्म; विवर्धयते=बड़ता है; संयम:=संयम; पोष्यते=पुष्ट होता है; येन=जिससे; विवेक:=विवेक; येन=जिससे; जन्यते=प्रकट होता है।

आत्मा=स्वयं; उपशाम्यते=उपशांत होता है; येन=जिससे; येन=जिससे; उपक्रियते=उपकार होता है; पर:=अन्य; न=नहीं; येन=जिससे; नाश्यते=नष्ट किया जाता है; पात्रं=पात्र; तत्=वह; दातव्यं=देने-योग्य; प्रशस्यते=प्रशंसा के योग्य है।

अन्वय : येन राग: निषूद्यते, येन धर्म: विवर्धयते, येन संयम: पोष्यते, येन विवेक: जन्यते, येन आत्मा उपशाम्यते, येन पर: उपक्रियते, येन पात्रं न नाश्यते तत् दातव्यं प्रशस्यते।

वचनिका : जिससे राग, नष्ट हो जाता है; जिससे धर्म, वृद्धि को प्राप्त होता है; जिससे संयम, पुष्ट होता है; जिससे विवेक, उत्पन्न होता है; जिससे आत्मा, उपशांत होता है; जिससे अन्य का उपकार होता है; जिससे पात्र का बिगाड़/अहित नहीं हो; वह देने-योग्य वस्तु, प्रशंसनीय है।।८१-८२/७९१-७९२।।

अब, देने-योग्य वस्तु के विशेष/भेद कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **अभयान्नौषध-ज्ञान-भेदतस्तच्चतुर्विधम्।**
दानं निगद्यते सद्भिः प्राणिनामुपकारकम्।।८३/७९३।।

प्राणिओं का उपकारक अभय भोजन औषध।
ज्ञान भेद से संतों ने कहा दान चतुर्विध।।८३/७९३।।

शब्दश: अर्थ : अभय+अन्न+औषध-ज्ञान-भेदत:=अभय, अन्न, औषध, ज्ञान के भेद से; चतु:-विधं=चार प्रकारवाला; दानं=दान; निगद्यते=कहा है; सद्भि:=संतों द्वारा; प्राणिनां=प्राणिओं का; उपकारकं=उपकार करनेवाला।

अन्वय : प्राणिनां उपकारकं तत् दानं सद्भिः अभय-अन्न-औषध-ज्ञान-भेदत: चतुर्विधं निगद्यते।

वचनिका : प्राणिओं का उपकार करनेवाला वह दान संतों द्वारा १. अभयदान, २. अन्न/आहारदान, ३. औषधदान, ४. ज्ञानदान—इन भेदों से चार प्रकार का कहा गया है।।८३/७९३।।

अब, यहाँ से चार पद्यों में निबद्ध अभय-दान का वर्णन प्रारंभ होता है।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अभय-दान का महत्त्व प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितव्ये यत: स्थिति:।**
तद्दानतस्ततो दत्तास्ते सर्वे सन्ति देहिनाम्।।८४/७९४।।

यत: जीवन में स्थिति धर्म धन काम मोक्ष की।
अत: उस दान से देते प्राणिओं को नित सभी।।८४/७९४।।

शब्दश: अर्थ : धर्म+अर्थ-काम-मोक्षाणां=धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थ की; जीवितव्ये= जीवन रहने पर; यत:=क्योंकि; स्थिति:=सत्ता है; तत्=उस/अभय; दानत:=दान से; तत:=इसलिए; दत्ता=दिए; ते=वे; सर्वे=सभी; सन्ति=हैं; देहिनां=प्राणिओं के।

अन्वय : यत: धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणां स्थिति: जीवितव्ये तत: तत् दानत: देहिनां ते सर्वे दत्ता: सन्ति।

वचनिका : क्योंकि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की स्थिति जीवन होने पर होती है; अत: उस अभय-दान से जीवों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि वे सभी दिए हैं।

भावार्थ : जिसने जीवों को अभय-दानादि दिए; उसने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी दिए; क्योंकि धर्मादि का आधार जीवन ही है।।८४/७९४।।

अब, इस पद्य द्वारा अपने जीवन के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **देवैरुक्तो वृणीष्वैकं त्रैलोक्यप्राणितव्ययो:।**
त्रैलोक्यं वृणुते कोऽपि न परित्यज्य जीवितम्।।८५/७९५।।

तीन-लोक, जीवन में से कोई एक लो कहा।
कोई भी जीवन तजकर तीन लोक नहीं लिया।।८५/७९५।।

शब्दश: अर्थ : देवै:=देवों द्वारा; उक्त:=कहा गया; वृणीषु=ग्रहण करो; एकं=एक; त्रैलोक्य-प्राणितव्ययो:=तीन-लोक और जीवितव्य में से; त्रैलोक्यं=तीन-लोक को; वृणुते=ग्रहण करता है; क:=कौन/कोई; अपि=भी; न=नहीं; परित्यज्य=छोड़कर; जीवितं=जीवन को।

अन्वय : देवै: उक्त: त्रैलोक्य-प्राणितव्ययो: एकं वृणीषु (तदा) क: अपि जीवितं परित्यज्य त्रैलोक्यं न वृणुते।

वचनिका : देवों ने कहा कि तीन-लोक और जीवितव्य/जीवन—इन दो में से कोई एक ग्रहण करो; तब क्या कोई भी व्यक्ति जीवितव्य को छोड़कर तीन-लोक को ग्रहण करता है? अपितु नहीं करता है।

भावार्थ : जीवितव्य के आगे तीन-लोक की संपदा कुछ भी नहीं है; क्योंकि जीवितव्य को छोड़कर कोई भी तीन-लोक को नहीं चाहता है।।८५/७९५।।

पूर्वोक्त निरूपण के बल पर इस पद्य द्वारा अब, अभयदान का महत्त्व बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **त्रैलोक्यं न यतो मूल्यं जीवितव्यस्य जायते।**
तद्रक्षता ततो दत्तं प्राणिनां किं न काङ्क्षितम्।।८६/७९६।।

यत: जीवन का मूल्य तीन-लोक से हो नहीं।
अत: उसके रक्षक ने चाहा-योग्य दिया सभी।।८६/७९६।।

शब्दश: अर्थ : त्रैलोक्यं=तीन-लोक; न=नहीं; यत:=क्योंकि; मूल्यं=मूल्य; जीवितव्यस्य= जीवितव्य/जीवन का; जायते=होता है; तत्=उसकी; रक्षता=रक्षा करते हुए द्वारा; तत:= इसलिए; दत्तं=दिया गया; प्राणिनां=प्राणिओं के; किं=क्या; न=नहीं; काङ्क्षितं=चाहा हुआ।

अन्वय : यत: जीवितव्यस्य मूल्यं त्रैलोक्यं न जायते तत: तद्रक्षता प्राणिनां काङ्क्षितं किं न दत्तम्?

वचनिका : क्योंकि जीवितव्य/जीवन का मूल्य, तीन-लोक भी नहीं है; अत: जीवितव्य की रक्षा करनेवाले व्यक्ति द्वारा प्राणिओं की वांक्षित कौन-सी वस्तु नहीं दी गई? अपितु सब ही दिया।।८६/७९६।।

अब, इस पद्य द्वारा अभय-दान की महिमा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **नाभीति-दानतो दानं समस्ताधार-कारणम्।**
महीयो निर्मलं नित्यं गगनादिव विद्यते।।८७/७९७।।

नभ-सम समस्त आधार कारण महान शाश्वत।
निर्मल दान नहीं कोई इस निर्भयता दान-वत्।।८७/७९७।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; अभीती-दानत:=अभय-दान से; दानं=दान; समस्त+आधार-कारणं=सभी का आधारभूत कारण; महीय:=महान; निर्मलं=पवित्र; नित्यं=शाश्वत; गगनात्= आकाश से; इव=समान; विद्यते=है।

अन्वय : गगनात् इव अभीति-दानत: समस्त-आधार-कारणं महीय: निर्मलं नित्यं दानं न विद्यते।

वचनिका : आकाश के समान सभी के आधार का कारण, बड़ा, निर्मल, नित्यरूप अभय-दान-जैसा, अन्य दान नहीं है।।८७/७९७।।

इसप्रकार अभय-दान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, बारह पद्यों द्वारा आहार-दान को स्पष्ट करते हैं।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा आहार-दान का महत्त्व वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आहारेण विना पुन्सां जीवितव्यं न तिष्ठति।**
आहारं यच्छता दत्तं ततो भवति जीवितम्।।८८/७९८।।

आहार के विना जीवन प्राणी का रहता नहीं।
अत: आहार-दाता ने दिया जीवन-दान ही।।८८/७९८।।

शब्दश: अर्थ : आहारेण=आहार से; विना=रहित; पुन्सां=प्राणी के; जीवितव्यं=जीवन; न=नहीं; तिष्ठति=रहता है; आहारं=आहार को; यच्छता=देते हुए द्वारा; दत्तं=दिया; ततः =इसलिए; भवति=होता है; जीवितं=जीवन।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में ही है; शेष इसप्रकार है—ततः आहारं यच्छता जीवितं दत्तं भवति।

वचनिका : आहार के विना प्राणी का जीवितव्य नहीं रहता है; अत: आहार को देनेवाले द्वारा, जीवन दिया ही होता है।।८८/७९८।।

अब, इस पद्य द्वारा भोजन को देह-रहने का कारण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **नेत्रानन्द-करं सेव्यं सर्व-चेष्टा-प्रवर्तिनम्।**
अन्धसा धार्यते देहं जीवितेनेव जन्मिनाम्।।८९/७९९।।

नेत्र आनंद-कर सेव्य सभी चेष्टा प्रवर्तिनी।
देह ज्यों आयु से रहती भोजन से भी जीव की।।८९/७९९।।

शब्दश: अर्थ : नेत्र+आनन्द-करं=नेत्रों को आनंद देनेवाला; सेव्यं=सेवन करने-योग्य; सर्व-चेष्टा-प्रवर्तिनं=सभी चेष्टाओं में प्रवर्तनेवाला; अन्धसा=भोजन द्वारा; धार्यते=रहता है; देहं=शरीर; जीवितेन=आयु द्वारा; इव=समान; जन्मिनां=प्राणिओं के।

अन्वय : जन्मिनां नेत्र-आनन्द-करं सेव्यं सर्व-चेष्टा-प्रवर्तिनं देहं जीवितेन इव अन्धसा धार्यते।

वचनिका : प्राणिओं की नेत्रों को आनंद देनेवाली, सेवन करने-योग्य, सभी चेष्टाओं में प्रवृत्ति करनेवाली देह; आयु-कर्म के समान भोजन द्वारा भी रहती है।।८९/७९९।।

आहार से रहित देह को क्या-क्या छोड़ देते हैं? उन्हें अब, इन दो पद्यों द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **कान्तिः कीर्तिर्मतिः क्षान्तिः शान्तिर्नीतिर्गती रतिः।**
उक्तिः शक्तिर्द्युतिः प्रीतिः प्रतीतिः श्रीर्व्यवस्थितिः।।९०/८००।।
आहार-वर्जितं देहं सर्वे मुञ्चन्ति तत्त्वतः।
द्रविणापाकृतं मर्त्यं वेश्या इव मनोरमाः।।९१/८०१।।

कांति कीर्ति मति क्षांति शांति नीति गती रति।
वाणी शक्ति द्युति प्रीति प्रतीति श्री व्यवस्थिति।।९०/८००।।
ये सभी छोड़ते निश्चित निराहारी शरीर को।
ज्यों मनोरम वेश्या तज देती निर्धन मनुज को।।९१/८०१।।

शब्दश: अर्थ : कान्ति:=तेज; कीर्ति:=यश; मति:=बुद्धि; क्षान्ति:=क्षमा; शान्ति:=शांति; नीति:=नीति; गती=उन्नति; रति:=प्रीति; उक्ति:=वाणी; शक्ति:=बल; द्युति:=प्रभाव; प्रीति:=आकर्षण; प्रतीति:=विश्वास; श्री:=संपत्ति; व्यवस्थिति:=स्थिरता।

आहार-वर्जितं=भोजन से रहित; देहं=शरीर को; सर्वे=सभी; मुञ्चन्ति=छोड़ देते हैं; तत्त्वत:=निश्चय से/वास्तव में; द्रविण+अपाकृतं=धन से रहित; मर्त्यं=पुरुष को; वेश्या:=वेश्या; इव=समान; मनोरमा:=मन को रमानेवाली/सुंदर।

अन्वय : पहला पद्य अन्वय में ही है। द्वितीय का अन्वय इसप्रकार है—मनोरमा: वेश्या: द्रविण-अपाकृतं मर्त्यं इव तत्त्वत: सर्वे आहार-वर्जितं देहं मुञ्चन्ति।

वचनिका : जैसे—मन को प्यारी वेश्याएं, धन-रहित पुरुष को छोड़ देती हैं; उसीप्रकार वास्तव में कांति, कीर्ति, बुद्धि, क्षमा, शांति, नीति, गति, रति, वाणी, शक्ति, दीप्ति, प्रीति, प्रतीति, लक्ष्मी, स्थिरता—ये सभी, आहार से रहित शरीर को छोड़ देती हैं।।९०-९१/८००-८०१।।

भोजन देनेवाला व्यक्ति क्या-क्या देता है? यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **शमो दमो दया धर्म: संयमो विनयो नय:।**
तपो यशो वचोदाक्ष्यं दीयतेऽन्न-प्रदायिना।।९२/८०२।।

आहार-दाता देता शम दम विनय संयम।
तप यश दया धर्म नय वाणी चातुर्य सब।।९२/८०२।।

शब्दश: अर्थ : शम:=कषायों की मंदता; दम:=इंद्रियों का दमन; दया=करुणा; धर्म:=धर्म; संयम:=संयम; विनय=नम्रता; नय:=दृष्टिकोण; तप:=इच्छाओं का निरोध; यश:=कीर्ति; वच:-दाक्ष्यं=वचनों की चतुरता; दीयते=दिया जाता है; अन्न-प्रदायिना=अन्न देनेवाले द्वारा।

अन्वय : अन्न-प्रदायिना दीयते; शेष यथावत् है।

वचनिका : कषायों की मंदतारूप शम, इंद्रियों का दमन, दया, धर्म, संयम, विनय, नय, तप, यश, वचन का चतुरपना—ये सभी; अन्न देनेवाले व्यक्ति द्वारा दिए जाते हैं।।९२/८०२।।

अब, इस पद्य द्वारा क्षुधा और आहार का घनिष्ठतम संबंध वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **क्षुद्रोगेण समो व्याधिराहारेण समौषधिः।**

नासीन्नास्ति न च भावि सर्वव्यापारकारिणी।।९३/८०३।।

क्षुधा रोग-वत् व्याधि आहार-सम औषधि।

सभी व्यापार-कारक नहिं हुई है होगी नहीं।।९३/८०३।।

शब्दशः अर्थ : क्षुत्+रोगेण=क्षुधारूपी रोग से; समः=समान; व्याधिः=बीमारी; आहारेण= भोजन से; सम-औषधिः=समान औषधि/दवा; न=नहीं; आसीत्=थी; न=नहीं; अस्ति= है; न=नहीं; च=और; भावि=होगी; सर्व-व्यापार-कारिणी=सभी व्यापारों/कार्यों को करानेवाली।

अन्वय : क्षुत्-रोगेण समः व्याधिः आहारेण सम-सर्व-व्यापार-कारिणी औषधिः न आसीत् न अस्ति च न भावि।

वचनिका : क्षुधारूपी रोग के समान रोग और भोजन के समान सभी व्यापारों को करानेवाली औषधि, न तो पहले हुई है, न अभी है और न आगे होगी।।९३/८०३।।

भोजन के विना शरीर की दशा का चित्रण अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **दुर्गन्धि-कुथितं शीर्णं विवर्णं नष्टचेष्टितम्।**

भोजनेन विना गात्रं जायते मृतकोपमम्।।९४/८०४।।

भोजन विन मृतक-सम शीर्ण दुर्गंधित चेष्टा-रहित।

सड़ा विद्रूप हो जाता अल्प क्षण में यही तन।।८४/८०४।।

शब्दशः अर्थ : दुर्गन्धि-कुथितं=दुर्गंधमय विगड़ा हुआ; शीर्णं=सड़ा; विवर्णं=अन्य वर्ण को प्राप्त/विद्रूप; नष्ट-चेष्टितं=चेष्टा/क्रिया-रहित; भोजनेन=भोजन से; विना=रहित; गात्रं=शरीर; जायते=हो जाता है; मृतक+उपमं=मृतक के समान।

अन्वय : भोजनेन विना गात्रं मृतक-उपमं दुर्गन्धि-कुथितं शीर्णं विवर्णं नष्ट-चेष्टितं जायते।

वचनिका : भोजन के विना यह शरीर, मृतक के समान दुर्गंधरूप बिगड़ा, सड़ा, अन्य वर्ण वाला, चेष्टा से रहित हो जाता है।।९४/८०४।।

अब, इस पद्य द्वारा भोजन के विना व्यक्ति की दशा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **न पश्यति न जानाति न शृणोति न जिघ्रति।**

न स्पृशति न वा वक्ति भोजनेन विना जनः।।९५/८०५।।

भोजन के विना प्राणी नहिं देखे नहिं जानता।

सुने नहीं नहीं सूँघे नहिं छुए नहिं बोलता।।९५/८०५।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; पश्यति=देखता है; न=नहीं; जानाति=जानता है; न=नहीं; शृणोति=सुनता है; न=नहीं; जिघ्रति=सूँघता है; न=नहीं; स्पृशति=स्पर्श करता/छूता है; न=नहीं; वा=अथवा/और; वक्ति=बोलता है; भोजनेन=भोजन से; विना=रहित; जनः=प्राणी।

अन्वय : भोजनेन विना जनः—शेष यथावत् है।

वचनिका : भोजन के विना प्राणी न देखता है, न जानता है, न सुनता है, न सूँघता है, न छूता है और न बोलता है अर्थात् उसकी सभी चेष्टाएं नष्ट हो जाती हैं।।९५/८०५।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्न के अभाव संबंधी कष्ट की असह्यता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **प्रविक्रीयान्न-कृच्छ्रेषु कान्ताकन्यातनूभुवः।**
आहारं गृह्णते लोका बल्लभानपि निश्चितम्।।९६/८०६।।

भूखा होने पर प्राणी स्त्री सुत सुतादि प्रिय।
को भी बेचकर करता भोजनादि ग्रहण नियत।।९६/८०६।।

शब्दशः अर्थ : प्रविक्रीय=प्रकृष्टरूप से बेचकर; अन्न-कृच्छ्रेषु=अन्न के अभाव में भूख का कष्ट होने पर; कान्ता-कन्या-तनूभुवः=पत्नी, कन्या, पुत्र को; आहारं=भोजन को; गृह्णते=ग्रहण करता है; लोकाः=प्राणी; बल्लभान्=अति-प्रिय को; अपि=भी; निश्चितं=निश्चित।

अन्वय : अन्न-कृच्छ्रेषु लोकाः निश्चितं बल्लभान् अपि कान्ता-कन्या-तनूभुवः प्रविक्रीय आहारं गृह्णते।

वचनिका : अन्न का कष्ट होने पर/अन्न नहीं मिलने पर लोक/प्राणी, नियम से प्रिय होने पर भी स्त्री, कन्या, पुत्र को बेचकर आहार को ग्रहण करता है।।९६/८०६।।

अब, इस पद्य द्वारा भोजन की आवश्यकता स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **यया खादन्त्यभक्ष्याणि क्षुधाया क्षपिता जनाः।**
सा हन्यतेऽशनेनैव राक्षसीव भयङ्करा।।९७/८०७।।

जिस क्षुधा से पीड़ित जन अभक्ष्य भी खाता सदा।
राक्षसी-सम भयंकर वह भोजन से हि मिटे सदा।।९७/८०७।।

शब्दशः अर्थ : यया=जिससे; खादन्ति=खाते हैं; अभक्ष्याणि=अभक्ष्य; क्षुधया=भूख से; क्षपिताः=पीड़ित; जनाः=प्राणी; सा=वह; हन्यते=नष्ट होती है; अशनेन=भोजन द्वारा; एव=ही; राक्षसी=राक्षसी/अघोरी वृत्तिवाली; इव=समान; भयङ्करा=भय करनेवाली।

अन्वय : यया क्षुधया क्षपिताः जनाः अभक्ष्याणि खादन्ति राक्षसी इव भयङ्करा सा अशनेन एव हन्यते।

वचनिका : जिस क्षुधा से पीड़ित प्राणी अभक्ष्य खाते हैं; राक्षसी के समान भयंकर वह क्षुधा, भोजन द्वारा ही नष्ट होती है।।९७/८०७।।

अब, इस पद्य द्वारा आहार का महत्त्व प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **यथैवाहार-मात्रेण शरीरं रक्ष्यते नृणाम्।**
चामीकरस्य कोटीभिर्बह्वीभिरपि नो तथा।।९८/८०८।।

प्राणी का तन रक्षित है जैसा आहार मात्र से।
नहीं वैसा रहे रंच अनेकों कोटि स्वर्ण से।।९८/८०८।।

शब्दश: अर्थ : यथा=जैसा; एव=ही; आहार-मात्रेण=भोजन-मात्र से; शरीरं=देह; रक्ष्यते= सुरक्षित रहता है; नृणां=प्राणिओं के; चामीकरस्य=स्वर्ण का; कोटीभि:=करोड़ों से; बह्वीभि:=अनेकों से; अपि=भी; नो=नहीं; तथा=उसप्रकार।

अन्वय : नृणां शरीरं आहार-मात्रेण यथा एव रक्ष्यते, तथा चामीकरस्य बह्वीभि: कोटीभि: अपि नो रक्ष्यते।

वचनिका : प्राणिओं के शरीर की जैसी रक्षा, आहार-मात्र से होती है; उसप्रकार की रक्षा, अनेकों करोड़ों स्वर्ण द्वारा भी नहीं होती है।।९०/८०८।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: उसी आहार की महिमा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **क्षिप्रं प्रकाश्यते सर्वमाहारेण कलेवरम्।**
नभो दिवाकरेणेव तमोजालावगुण्ठितम्।।९१/८०९।।

अंधकार-ग्रसित नभ ज्यों सूर्य से हो प्रकाशित।
सर्व देह अती शीघ्र भोजन से हो प्रकाशित।।९१/८०९।।

शब्दश: अर्थ : क्षिप्रं=शीघ्र; प्रकाश्यते=प्रकाशित होता है; सर्वं=संपूर्ण; आहारेण=भोजन द्वारा; कलेवरं=शरीर; नभ:=आकाश; दिवाकरेण=सूर्य द्वारा; इव=समान; तम:-जाल+ अवगुण्ठितं=अंधकार के समूह से आच्छादित।

अन्वय : तम:-जाल-अवगुण्ठितं नभ: दिवाकरेण इव सर्वं कलेवरं आहारेण क्षिप्रं प्रकाश्यते।

वचनिका : जैसे—अंधकार से व्याप्त आकाश, सूर्य द्वारा प्रकाशित हो जाता है; उसीप्रकार संपूर्ण शरीर, आहार द्वारा शीघ्र प्रकाशित हो जाता है।।९९/८०९।।

इसप्रकार आहार-दान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा औषधि-दान प्ररूपित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा औषधि-दान की आवश्यकता प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **न शक्नोति तपः कर्तुं सरोगः संयतो यतः।**

ततो रोगापहारार्थं देयं प्राषुकमौषधम्॥१००/८१०॥

रोग संयुत साधु को तप करना संभव नहीं।

अतः रोग मिटाने को प्राषुक औषध देय ही॥१००/८१०॥

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; शक्नोति=समर्थ है; तपः=तप को; कर्तुं=करने के लिए; सरोगः=रोग-सहित; संयतः=संयमी; यतः=क्योंकि; ततः=इसलिए; रोग+अपहार+अर्थं=रोग का निराकरण करने के लिए; देयं=देने-योग्य है; प्राषुकं=निर्दोष; औषधं=औषध/दवा।

अन्वय : यतः सरोगः संयतः तपः कर्तुं न शक्नोति ततः रोग-अपहार-अर्थं प्राषुकं औषधं देयम्।

वचनिका : क्योंकि रोग-सहित संयमी, तप करने के लिए समर्थ नहीं होता है; अतः रोग को दूर करने के लिए प्राषुक औषधि देने-योग्य है॥१००/८१०॥

अब, इस पद्य द्वारा पुनः वही स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न देहेन विना धर्मो न धर्मेण विना सुखम्।**

यतोऽतो देहरक्षार्थं भैषज्यं दीयते यतेः॥१०१/८११॥

नहीं तन विना धर्म धर्म के विन सुख नहीं।

अतः तन-रक्षार्थ मुनि को देय औषधि॥१०१/८११॥

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; देहेन=शरीर से; विना=रहित; धर्मः=धर्म; न=नहीं; धर्मेण=धर्म से; विना=रहित; सुखं=सुख; यतः=क्योंकि; अतः=इसलिए; देह-रक्षार्थं=शरीर की रक्षा के लिए; भैषज्यं=औषधि; दीयते=दी जाती है; यतेः=साधु के लिए।

अन्वय : यतः देहेन विना धर्मः न, धर्मेण विना सुखं न; अतः देह-रक्षार्थं यतेः भैषज्यं दीयते।

वचनिका : क्योंकि देह के विना धर्म नहीं है, धर्म के विना सुख नहीं है; अतः देह की रक्षा के लिए साधु को औषध देना, योग्य है॥१०१/८११॥

अब, इस पद्य द्वारा मोक्षार्थी को कर्तव्य का बोध कराते हैं—

अनुष्टुभ् : **शरीरं संयमाधारं रक्षणीयं तपस्विनाम्।**

प्राषुकैरौषधैः पुन्सा यत्नतो मुक्ति-काङ्क्षिणा॥१०२/८१२॥

तपस्वी का तन संयम का आधार प्रयत्न से।

मोक्षार्थी करें रक्षण प्राषुक ही औषधि से॥१०२/८१२॥

शब्दशः अर्थ : शरीरं=देह; संयम+आधारं=संयम का आधार; रक्षणीयं=रक्षा करने-योग्य; तपस्विनां=तप करनेवालों के; प्राषुकैः=निर्दोष; औषधैः=औषधि से; पुन्सा=व्यक्ति द्वारा;

यत्नत:=प्रयत्न पूर्वक; मुक्ति-काङ्क्षिणा=मोक्ष के इच्छुक द्वारा।

अन्वय : तपस्विनां शरीरं संयमाधारं मुक्ति-काङ्क्षिणा पुन्सा यत्नत: प्राषुकै: औषधै: रक्षणीयम्।

वचनिका : तपस्विओं का शरीर, संयम का आधार है; अत: मुक्ति के इच्छुक व्यक्ति द्वारा यत्न से प्राषुक औषधि द्वारा रक्षा करने-योग्य है।।१०२/८१२।।

इसप्रकार औषधि-दान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा शास्त्र-दान को स्पष्ट करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इन दो पद्यों द्वारा देने-योग्य शास्त्र का स्वरूप बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **विवेको जन्यते येन संयमो येन पाल्यते।**
धर्म: प्रकाश्यते येन मोहो येन निहन्यते।।१०३/८१३।।
मनो नियम्यते येन रागो येन निकृत्यते।
तद्देयं भव्यजीवानां शास्त्रं निर्धूतकल्मषम्।।१०४/८१४।।

विवेक जन्मे जिससे जिससे संयम नित पले।
प्रकाशित जिससे धर्म जिससे मोह नित नशे।।१०३/८१३।।
चित्त जिससे हो निश्चल राग जिससे नष्ट हो।
वह ही निष्कलुष शास्त्र देने-योग्य भव्य को।।१०४/८१४।।

शब्दश: अर्थ : विवेक:=स्व-पर का भेद-विज्ञान; जन्यते=प्रकट होता है; येन=जिससे; संयम:=संयम; येन=जिससे; पाल्यते=पाला जाता है; धर्म:=धर्म; प्रकाश्यते=प्रकाशित होता है; येन=जिससे; मोह:=मोह; येन=जिससे; निहन्यते=नष्ट होता है।

मन:=मन; नियम्यते=स्थिर होता है; येन=जिससे; राग:=राग; येन=जिससे; निकृत्यते =छेदा जाता है; तत्=वह; देयं=देने-योग्य; भव्य-जीवानां=भव्य-प्राणिओं के; शास्त्रं= जिनागम; निर्धूत-कल्मषं=पाप को धो देनेवाला।

अन्वय : येन विवेक: जन्यते येन संयम: पाल्यते येन धर्म: प्रकाश्यते येन मोह: निहन्यते; येन मन: नियम्यते येन राग: निकृत्यते तत् निर्धूतकल्मषं शास्त्रं भव्य-जीवानां देयम्।

वचनिका : जिससे विवेक उत्पन्न होता है, जिससे संयम पाला जाता है, जिससे धर्म प्रकाशित होता है, जिससे मोह नष्ट होता है, जिससे मन निश्चल होता है, जिससे राग छेदा जाता है; पापों को नष्ट करनेवाला वह शास्त्र, भव्य-प्राणिओं को देना, योग्य है।।१०३-१०४/८१३-८१४।।

अब, इस पद्य द्वारा शास्त्र-दान की आवश्यकता प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **विवेको न विना शास्त्रं तमृते न तपो यत:।**
ततस्तपोविधानार्थं देयं शास्त्रमनिन्दितम्।।१०५/८१५।।

नहीं विवेक शास्त्रों विन नहीं तप उसके विना।
अत: तप करने हेतु देय पावन श्रुत सदा।।१०५/८१५।।

शब्दश: अर्थ : विवेक:=स्व-पर का भेद-विज्ञान; न=नहीं; विना=रहित; शास्त्रं=जिनागम; तं=उसे; ऋते=विना; न=नहीं; तप:=तप; यत:=क्योंकि; तत:=इसलिए; तप:=तप को; विधान+अर्थं=करने के लिए; देयं=देने-योग्य; शास्त्रं=जिनागम; अनिन्दितं=निंदा-रहित/प्रशंसनीय।

अन्वय : यत: शास्त्रं विना विवेक: न तं ऋते तप: न तत: तप: विधान-अर्थं अनिन्दितं शास्त्रं देयम्।

वचनिका : क्योंकि शास्त्र के विना विवेक नहीं है और उस विवेक के विना तप नहीं है; अत: तप करने के लिए अनिंदित शास्त्र देना, योग्य है।।१०५/८१५।।

इसप्रकार शास्त्र-दान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, इन दो पद्यों द्वारा देने-योग्य अन्य वस्तुएँ वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **वस्त्रपात्राश्रयादीनि पराण्यपि यथोचितम्।**
दातव्यानि विधानेन रत्न-त्रितय-वृद्धये।।१०६/८१६।।
वर्यमध्यजघन्यानां पात्राणामुपकारकम्।
दानं यथा-यथं देयं वैयावृत्त्य-विधायिना।।१०७/८१७।।

रत्नत्रय वृद्धि हेतु वस्त्र, पात्र, निवास भी।
यथा-योग्य विधि पूर्वक अन्य को नित देय भी।।१०६/८१६।।
वैयावृत्त्य-कारी को उत्तम मध्यम जघन्य भी।
पात्रों का उपकारक दान यथोचित है देय भी।।१०७/८१७।।

शब्दश: अर्थ : वस्त्र-पात्र+आश्रय+आदीनि=वस्त्र/कपड़ा, बर्तन, वसतिका/निवास-स्थान इत्यादि; पराणि=अन्य; अपि=भी; यथा+उचितं=जैसा-योग्य; दातव्यानि=देना-योग्य; विधानेन=विधान-सहित; रत्न-त्रितय-वृद्धये=तीन रत्नों की वृद्धि के लिए।

वर्य-मध्य-जघन्यानां=उत्तम, मध्यम, जघन्यों के; पात्राणां=पात्रों के; उपकारकं=उपकार करनेवाला; दानं=दान; यथा-यथं=जैसा-योग्य; देयं=देने-योग्य; वैयावृत्त्य-विधायिना =वैयावृत्त्य करनेवाले द्वारा।

अन्वय : रत्न-त्रितय-वृद्धये विधानेन यथा-उचितं वस्त्र-पात्र-आश्रय-आदीनि पराणि अपि दातव्यानि। वैयावृत्त्य-विधायिना वर्य-मध्य-जघन्यानां पात्राणां उपकारकं यथायथं दानं देयम्।
वचनिका : रत्नत्रय की वृद्धि के लिए विधान-सहित यथा-योग्य वस्त्र, बर्तन, वसतिका/निवास-स्थान आदि अन्य भी देने-योग्य हैं। वैयावृत्त्य करनेवाले द्वारा उत्तम, मध्यम, जघन्य पात्रों का उपकार करनेवाला यथा-योग्य दान, देने-योग्य है।
भावार्थ : पंच महाव्रत के धारक साधु, उत्तम पात्र हैं; देशव्रती श्रावक, मध्यम पात्र हैं और अविरत-सम्यग्दृष्टि, जघन्य पात्र हैं। उन्हें यथा-योग्य दान देना; अर्थात् साधुओं को साधुओं के योग्य आहारादि देना; श्रावकों को और अविरत-सम्यग्दृष्टिओं को यथा-योग्य वस्त्र, पात्र आदि देना—इसप्रकार जिस पद में जो वस्तु देना, योग्य है; उसे देना।—ऐसा जानना।।१०६-१०७/८१६-८१७।।

अब, इस प्रकरण का समापन करते हुए दाता का महत्त्व प्ररूपित है—

स्रग्धरा : **पोष्यन्ते येन चित्राः सकलसुखफलस्तोमरोपप्रवीणाः,**
सम्यक्त्वज्ञानचर्या यमनियमतपोवृक्षजातिप्रबन्धाः।
भव्य-क्षोणीषु तद्यः क्षतनिखिलमलं मुञ्चते दानतोयं,
तुल्यस्तस्योपकारी मधुर-प्रकृतो भव्यमेघस्य नान्यः।।१०८/८१८।।

सकल सुख फल समूह धारण में वह निपुण यम नियम चर्या,
समकित सुज्ञान तपमय तरु-जाति बंध बहु विधता।
के पोषक पूर्ण निर्मल दानमई जल दें भव्य-भू में,
मधुरध्वनि भव्य बादल-वत् वह उपकारी नहीं पर है।।१०८/८१८।।

शब्दशः अर्थ : पोष्यन्ते=पुष्ट किया जाता है; येन=जिससे; चित्राः=अनेक प्रकारवाले; सकल-सुख-फलस्तोमर+उपप्रवीणाः=सभी प्रकार के सुखरूपी फलों के समूह को धारण करने में कुशल; सम्यक्त्व-ज्ञान-चर्या-यम-नियम-तपः-वृक्ष-जाति-प्रबन्धाः=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, यम, नियम, तपरूपी वृक्षों की जातिओं के प्रबंध/विशिष्ट स्थान; भव्य-क्षोणीषु=भव्य प्राणिओंरूपी पृथ्विओं में; तत्=वह; यः=जो; क्षत-निखिल-मलं=समाप्त हुए सभी मल/अति निर्मल; मुञ्चते=डालता है; दान-तोयं=दानरूपी जल को; तुल्यः=समान; तस्य=उसका; उपकारी=उपकार करनेवाला; मधुर-प्रकृतः=अच्छी ध्वनिवाला; भव्य-मेघस्य=भव्य-प्राणीरूपी बादल का; न=नहीं; अन्यः=दूसरा।
अन्वय : सकल-सुख-फलस्तोमर-उपप्रवीणाः चित्राः सम्यक्त्व-ज्ञान-चर्या-यम-नियम-

तप:-वृक्ष-जाति-प्रबन्धा: येन पोष्यन्ते क्षत-निखिल-मलं तत् दान-तोयं य: भव्य-क्षोणीषु मुञ्चते तस्य मधुर-प्रकृत: भव्य-मेघस्य तुल्य: उपकारी अन्य: न।

वचनिका : समस्त सुखरूपी फलों के समूह को धारण करने में प्रवीण; अनेक भेदवाले सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, यम, नियम, तपरूपी वृक्षों/पेड़ों की जातिओं के प्रबंध जिसके द्वारा पुष्ट किए जाते हैं; सभी मलों का नाशक/अति निर्मल उस दानरूपी जल को जो भव्य-प्राणिओंरूपी पृथ्विओं में छोड़ता है, बरसाता है; उस मधुर-ध्वनि करनेवाले भव्यरूपी मेघ के समान उपकारी अन्य नहीं है।

भावार्थ : दान देनेवाला व्यक्ति मेघ के समान है। मेघ के पूर्वोक्त विशेषण, दाता के संभव हैं; अन्य कृपण के संभव नहीं हैं—ऐसा जानना।।१०८/८१८।।

अब, इस पद्य द्वारा दान का फल उद्घोषित है—

स्रग्धरा : **वात्सल्यासक्त-चित्तो नय-विनय-परो दर्शनालङ्कृतात्मा,**
देयादेये विदित्वा वितरति विधिना यो यतिभ्योऽत्र दानम्।
कीर्तिंकुन्दावदातामभित-गतिमतां पूरयन्तीं त्रि-लोकं,
लब्ध्वा क्षिप्रं प्रयाति क्षपितभवभयं मोक्षमक्षीणसौख्यम्।।१०९/८१९।।

वत्सलतामई मन-युत नीति मृदुतामई सत सुसम्यक्त्वी,
देयादेय सुविज्ञ विधि से दे दान यतिओं को नित्य दानी।
अमितगति युक्त कहते त्रिलोक-व्यापी कुंदप्रभा-सम सुयश को,
पा अति शीघ्र हि पाता भव-भय-विरहित असीम सुख शुद्ध शिव को।।१०९/८१९।।

शब्दश: अर्थ : वात्सल्य+आसक्त-चित्त:=प्रीति-भाव में आसक्त मनवाला; नय-विनय-पर:=नीति और मृदुता-संपन्न; दर्शन+अलङ्कृत+आत्मा=सम्यग्दर्शन से सुशोभित आत्मा; देय+अदेये=देने-योग्य और नहीं देने-योग्य को; विदित्वा=जानकर; वितरति=देता है; विधिना=विधि पूर्वक; य:=जो; यतिभ्य:=यतिओं के लिए; अत्र=यहाँ; दानं=दान; कीर्तिं=यश को; कुन्द+अवदातां=कुंद-पुष्प के समान निर्मल; अमित-गति-मतां=अनंत ज्ञानवालों द्वारा मान्य; पूरयन्ती=पूर्ण करनेवाला/व्याप्त; त्रिलोकं=तीन-लोक को; लब्ध्वा=प्राप्तकर; क्षिप्रं=शीघ्र; प्रयाति=प्राप्त करता है; क्षपित-भव-भयं=संसार के भय से पूर्णतया रहित; मोक्षं=सिद्ध दशा को; अक्षीण-सौख्यं=अक्षय-सौख्य-संपन्न।

अन्वय : अत्र वात्सल्य-आसक्त-चित्त: नय-विनय-पर: दर्शन-अलङ्कृत-आत्मा य: देय-अदेये विदित्वा विधिना यतिभ्य: दानं वितरति (स:) अत्र अमित-गति-मतां कुन्द-अवदातां

त्रिलोकं पूरयन्ती कीर्तिं लब्ध्वा क्षिप्रं क्षपित-भव-भयं अक्षीण-सौख्यं मोक्षं प्रयाति।

वचनिका : यहाँ वात्सल्य अर्थात् प्रीति-भाव में आसक्त मनवाला, नीति और विनय में परायण, सम्यग्दर्शन से भूषित स्वरूप-संपन्न जो व्यक्ति; देने-योग्य और नहीं देने-योग्य वस्तु को जानकर विधि-सहित यतिओं के लिए दान देता है; वह इस भव में अनंत ज्ञानिओं द्वारा कही गई, कुंद के पुष्प के समान निर्मल, तीन-लोक में व्याप्त कीर्ति को प्राप्तकर शीघ्र ही संसार के भय से पूर्णतया रहित; अक्षय-सुख-संपन्न मोक्ष को प्राप्त होता है।

भावार्थ : दानी व्यक्ति इस भव में तो निर्मल कीर्ति प्राप्त करता है और परंपरा से मोक्ष को प्राप्त होता है। यह दान का फल है—ऐसा जानना।।१०९/८१९।।

छप्पय : **धर्म माँहि अति प्रीति विनयजुत रीति-नीति-मति,**
सम्यग्दर्शन विमल रत्न भूषित पुनीत अति।।
जोग अजोग विचार देत जो दान सहित विधि,
साधु जननि के अर्थि देखि गुण-मणि अपार-निधि।।
सो तीन लोक मैं विमल जस पाय अमितगति जिन-कथित,
पुनि लहै मोक्षपद अखय सुख ग्यानमयी भव-भय-रहित।।

अर्थ : धर्म में अति प्रीतिवाला, विनय-संपन्न, रीति और नीति संबंधी बुद्धि-युक्त, सम्यग्दर्शन रूपी पवित्र रत्न से सुसज्जित, अति पवित्र जो योग्य और अयोग्य का विचारकर गुणरूपी अपार मणिओं के भंडार साधुजनों को देखकर उन्हें विधि-पूर्वक दान देता है; वह अमित-गति/अनंत-ज्ञान-संपन्न जिनेंद्र द्वारा कहे गए, तीन-लोक में व्याप्त, निर्मल यश को प्राप्तकर अक्षय-सुख-संपन्न, ज्ञानमई भव-भय से रहित मोक्ष-पद को प्राप्त होता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में नवमाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।९।।

दशम परिच्छेद

अब, यहाँ से पात्रादि का प्रकरण प्रारंभ होता है।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा भूमिका प्रस्तुत है—

आर्या : **पात्रकुपात्रापात्राण्यवबुद्ध्य फलार्थिना सदा देयम्।**
क्षेत्रमनवबुद्ध्योप्तं वीजं नहि फलति फलमिष्टम्।।१/८२०।।

पात्र कुपात्र अपात्र सभी समझ फलार्थी सदा देते।
क्षेत्र-समझ विन बोए बीज नहीं वे इष्ट फल देते।।१/८२०।।

शब्दश: अर्थ : पात्र-कुपात्र+अपात्राणि=पात्र, कुपात्र, अपात्र को; अवबुद्ध्य=भली-भाँति जानकर; फल+अर्थिना=फल को चाहनेवाले द्वारा; सदा=हमेशा; देयं=देने-योग्य; क्षेत्रं=खेत को; अनवबुद्ध्य=भली-भाँति नहीं जानकर; उप्तं=बोया गया; वीजं=बीज; न=नहीं; हि= वास्तव में; फलति=फलता है; फलं=फल को; इष्टं=वांक्षित।

अन्वय : (यत:) क्षेत्रं अनवबुद्ध्य उप्तं वीजं हि इष्टं फलं न फलति (अत:) फलार्थिना सदा पात्र-कुपात्र-अपात्राणि अवबुद्ध्य देयम्।

वचनिका : क्योंकि क्षेत्र/खेत को जाने विना बोया गया बीज वांक्षित फल को नहीं फलता है; अत: फल के इच्छुक प्राणी को सदा पात्र, कुपात्र, अपात्र को भली-भाँति जानकर दान देना योग्य है।।१/८२०।।

अब, इन बत्तीस पद्यों द्वारा भेदों-सहित पात्रों का स्वरूप वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा पात्र के भेद प्रस्तुत हैं—

आर्या : **पात्रं तत्त्व-पटिष्ठैरुत्तम-मध्यम-जघन्य-भेदेन।**
त्रेधा क्षेत्रमिवोक्तं त्रिविधफलनिमित्ततो ज्ञात्वा।।२/८२१।।

क्षेत्र-वत् त्रिविध फल से समझ कहे निपुण तत्त्व-ज्ञानी ने।
उत्तम मध्य जघन्य भेद-त्रय सतत पात्रों के।।२/८२१।।

शब्दश: अर्थ : पात्रं=पात्र को; तत्त्व-पटिष्ठै:=तत्त्व-ज्ञानिओं द्वारा; उत्तम-मध्यम-जघन्य-भेदेन=उत्कृष्ट, मध्यम, जघन्य के भेद से; त्रेधा=तीन भेद; क्षेत्रं=खेत को; इव=समान; उक्तं=कहा है; त्रि-विध-फल-निमित्तत:=तीन प्रकार के फल की कारणता से; ज्ञात्वा=जानकर।

अन्वय : क्षेत्रं इव त्रि-विध-फल-निमित्तत: ज्ञात्वा तत्त्व-पटिष्ठै: उत्तम-मध्यम-जघन्य-भेदेन पात्रं त्रेधा उक्तम्।

वचनिका : क्षेत्र/खेत के समान तीन प्रकार के फल की कारणता से जानकर तत्त्व-ज्ञानिओं द्वारा उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से पात्र तीन प्रकार-युक्त कहे हैं।।२/८२१।।

अब, इस पद्य द्वारा पात्र को पहिचानने का उपाय प्ररूपित है—

आर्या : **उत्तममुत्तमगुणतो मध्यमगुणतोऽथ मध्यमं पात्रम्।**
विज्ञेयं बुद्धिमता जघन्य-गुणतो जघन्यं च।।३/८२२।।

उत्तम गुण से उत्तम मध्यम गुण से समझ सतत मध्यम।
जघन्य गुण से जानें पात्र जघन्य सुबुद्धि नित।।३/८२२।।

शब्दश: अर्थ : उत्तमं=उत्कृष्ट को; उत्तम-गुणत:=उत्कृष्ट गुण से; मध्यम-गुणत:=मध्यम गुण से; अथ=अब; मध्यमं=मध्यम को; पात्रं=पात्र; विज्ञेयं=जानना चाहिए; बुद्धिमता=बुद्धिमान द्वारा; जघन्य-गुणत:=जघन्य गुण से; जघन्यं=जघन्य को; च=और।

अन्वय : अथ बुद्धिमता उत्तम-गुणत: उत्तमं मध्यम-गुणत: मध्यमं च जघन्य-गुणत: जघन्यं पात्रं विज्ञेयम्।

वचनिका : बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा उत्तम गुण से उत्तम पात्र, मध्यम गुण से मध्यम पात्र और जघन्य गुण से जघन्य पात्र जानना योग्य है।।३/८२२।।

ये पात्र कौन हैं? इसका उत्तर अब इस पद्य द्वारा देते हैं—

आर्या : **तत्रोतमं तपस्वी विरताविरतश्च मध्यमं ज्ञेयम्।**
सम्यग्दर्शन-भूष: प्राणी पात्रं जघन्यं च*।।४/८२३।।

उत्तम पात्र तपस्वी मध्यम विरताविरतमई श्रावक।
जानो जघन्य पात्र सम्यग्दर्शन-सहित अविरत।।४/८२३।।

शब्दश: अर्थ : तत्र=वहाँ; उत्तमं=उत्कृष्ट; तपस्वी=तप-संपन्न साधु; विरत+अविरत:=संयम-असंयममय; च=और; मध्यमं=मध्यम; ज्ञेयं=जानना चाहिए; सम्यग्दर्शन-भूष:=सम्यग्दर्शन से सुसज्जित; प्राणी=व्यक्ति; पात्रं=पात्र; जघन्यं=जघन्य; च=और/स्यात्=होना चाहिए/होते हैं।

अन्वय : तत्र तपस्वी उत्तमं विरत-अविरत: च मध्यमं च/स्यात् सम्यग्दर्शन-भूष: प्राणी जघन्यं पात्रं ज्ञेयम्।

वचनिका : वहाँ तपस्वी साधु, उत्तम; विरताविरत श्रावक, मध्यम और सम्यग्दर्शन-युक्त अविरत प्राणी, जघन्य पात्र जानना।।४/८२३।।

---

* स्यात् – इति पाठान्तरम्।

अब, इन चौदह पद्यों द्वारा उत्तम पात्र का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

आर्या : जीवगुणमार्गणविधिं विधानतो यो विबुद्ध्य निःशेषम्।
रक्षति जीव-निकायं सवितेव परोपकार-परः।।५/८२४।।
पथ्यं तथ्यं श्रव्यं वचनं हृदयङ्गमं गुण-गरिष्ठम्।
यो ब्रूते हित-कारी परमानस-तापतो भीतः।।६/८२५।।
निर्माल्यकमिव मत्वा पर-वित्तं यस्त्रिधापि नादत्ते।
दन्तान्तर-शोधनमपि पतितं दृष्ट्वाप्यदत्त-मतिः।।७/८२६।।
तिर्यङ्मानव-देवाचेतन-भेदां चतुर्विधां योषाम्।
परिहरति यः स्थिरात्मा मारीमिव सर्वथा घोराम्।।८/८२७।।
विविधं* चेतन-जातं सङ्गं चेतनमचेतनं त्यक्त्वा।
यो नादत्ते भूयो वान्तमिवान्नं त्रिधा धीरः।।९/८२८।।
त्रिविधालम्बन-शुद्धिः प्राषुकमार्गेण यो दयाधारः।
युगमात्रान्तर-दृष्टिः परिहर-माणोऽङ्गिनो याति।।१०/८२९।।
हृदयं विभूषयन्तीं वाणीं तापापहारिणी-मलाम्।
मुक्तानामिव मालां यो ब्रूते सूत्र-सम्बद्धाम्।।११/८३०।।
षट्चत्वारिन्शद्दोषापोढां यो विशुद्ध-नव-कोटीम्।
मृष्टामृष्ट-समानो भुक्तिं विदधाति विजिताक्षः।।१२/८३१।।
द्रव्यं विकृति-पुरस्सरमङ्गिग्राम-प्रपालनासक्तः।
गृह्णाति यो विमुञ्चति यत्नेन दयाङ्गनाश्लिष्टः।।१३/८३२।।
निर्जन्तुकेऽविरोधे दूरे गूढे विसङ्कटे क्षिपति।
उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्माद्यं यः शरीर-मलम्।।१४/८३३।।
जिनवचनपञ्जरस्थं विधाय बहुदुःखकारणं क्षिप्रम्।
विदधाति यः स्ववश्यं मर्कटमिव चञ्चलं चित्तम्।।१५/८३४।।
यो वचनौषधमनघं जाति-जरा-मरणरोगहरणपरम्।
बहुशो मौनविधायी ददाति भव्याङ्गिनां महितम्।।१६/८३५।।
कायोत्सर्ग-विधायी कर्मक्षय-कारणाय भवभीतः।
कृत्याकृत्य-परो यः कार्यं वितनोति सूत्र-मतम्।।१७/८३६।।

* त्रिविधं – इति पाठान्तरम्।

यस्येत्थं स्थेयस्य सम्यग्व्रत-समिति-गुप्तय: सन्ति।
प्रोक्त: सपात्रमुत्तममुत्तम-गुण-भाजनं जैनै:।।१८/८३७।।

जीव-गुण-मार्गण-स्थान पूर्ण विधि को विधान से समझ सतत।
जीव समूह सुरक्षा करता रवि-वत् परोपकार।।५/८२४।।
पर-मन-ताप से डरकर जो बोले पथ्य सत्य गुण-भारी।
हृदयंगम श्रवणीय यथार्थ भाषा सुहितकारी।।६/८२५।।
गिरी देख भी त्रय-विध नहीं लेता एक सींक जितनी भी।
निर्माल्य-सम समझता सदा सभी अन्य धन को भी।।७/८२६।।
भयंकर रोग मारी-वत् जो तजता तिर्यक् मनुज, देव।
जड़ यों चतुधा स्त्री स्थिर-चित्ती सदा जीव।।८/८२७।।
चेतन-जन्मा चेतन जड़ परिग्रह को जो तजे विविधा।
वमन-अन्न-वत् फिर से नहिं लेता धीर जो त्रेधा।।९/८२८।।
जो दयाधार प्राषुक पथ से त्रय-शुद्धि का ले अवलंबन।
कर चार दृष्टि रख लख चलता कर जीव संरक्षण।।१०/८२९।।
ताप-हारिणी पावन हृदय विभूषित रु सूत्र संबद्ध।
मुक्ताओं की माला-वत् वाणी बोलता सत्य।।११/८३०।।
छ्यालीस दोष-विरहित नौ कोटी-शुद्ध भोज्य लेता जो।
विजितेंद्रिय सुस्वादु दुस्वादु में सदा सम हो।।१२/८३१।।
प्राणी-समूह-रक्षण में तत्पर सर्व अंग करुणामय।
अति सावधान होकर लेता धरता सभी द्रव्य।।१३/८३२।।
निर्जंतुक अविरोध संकट विन दूर गुप्त विस्तीर्ण।
स्थल में मल मूत्र कफ आदि छोड़ता तन मल।।१४/८३३।।
बहु दु:ख हेतु वानर-वत् चंचल मन जिन-वचन पिंजरा।
में स्थित कर शीघ्र चिंतन कर स्व-वशी करता।।१५/८३४।।
नाशक जन्म जरा रुज् मृत्यु पावन सुपूज्य वचनौषध।
जो देता भव्यों को अथवा मौनी रहे बहुतर।।१६/८३५।।
कर्म-नाश करने को भव से डर करे काय उत्सर्ग।
कृत्य-अकृत्य सुविज्ञ जिन-मत-सम्मत करे कार्य।।१७/८३६।।

ये सम्यक् व्रत समिति गुप्ति हैं जिन मुनीश्वर के।
जिनवर कहते उत्तम गुण-धारी पात्र उत्तम वे।।१८/८३७।।

शब्दश: अर्थ : जीव-गुण-मार्गण-विधिं=जीवस्थान/जीव-समास, गुण-स्थान, मार्गणा-स्थान की विधि को; विधानत:=विधान से/जिनागम के अनुसार भेद-प्रभेद-सहित; य:=जो; विबुद्ध्य=समझकर; नि:शेषं=संपूर्ण; रक्षति=रक्षा करता है; जीव-निकायं=प्राणिओं के समूह को; सविता=सूर्य; इव=समान; पर+उपकार-पर:=दूसरों के उपकार में लगा हुआ। पथ्यं=लाभ-कारी; तथ्यं=यथार्थ; श्रव्यं=सुनने-योग्य; वचनं=वचन को; हृदयङ्गमं= हृदय से स्वीकार करने-योग्य; गुण-गरिष्ठं=विविध गुणों से परिपूर्ण; य:=जो; ब्रूते=कहता है; हित-कारी=हित करनेवाले; पर-मानस-तापत:=दूसरों के मन में उत्पन्न हुए संताप से; भीत:=डरनेवाला।

निर्माल्यकं=निर्माल्य को; इव=समान; मत्वा=मानकर; पर-वित्तं=अन्य के धन को; य:=जो; त्रिधा=तीन प्रकार से; अपि=भी; न=नहीं; आदत्ते=ग्रहण करता है; दन्त+अन्तर-शोधनं=दाँतों के मध्य की शुद्धि करने हेतु एक सींक को; अपि=भी; पतितं=गिरी हुई; दृष्ट्वा=देखकर; अपि=भी; अदत्त-मति:=अदत्त की बुद्धिवाला। तिर्यक्-मानव-देव-अचेतन-भेदां=तिर्यंच, मनुष्य, देव, अचेतन के भेदवाली; चतु:-विधां=चार प्रकार-युक्त; योषां=स्त्री को; परिहरति=छोड़ता है; य:=जो; स्थिर+आत्मा=निश्चल प्राणी; मारीं=महा-मारी/व्यापक रोग को; इव=समान; सर्वथा=पूर्णरूप से; घोरां=भयानक।

विविधं=अनेक भेदवाला/त्रि-विधं=तीन भेदवाला; चेतन-जातं=चेतन से उत्पन्न/पुत्र, पुत्री आदि; सङ्गं=परिग्रह को; चेतनं=चेतन को; अचेतनं=अचेतन को; त्यक्त्वा=छोड़कर; य:=जो; न=नहीं; आदत्ते=ग्रहण करता है; भूय:=पुन:; वान्तं=वमन को; इव=समान; अन्नं=भोजन को; त्रिधा=तीन प्रकार से; धीर:=धैर्य-शाली। त्रिविध+आलम्बन-शुद्धि:=तीन प्रकार के आलंबन की शुद्धि-युक्त; प्राषुक-मार्गेण=शुद्ध पथ से; य:=जो; दया+आधार:=दया के आधारमय; युग-मात्र+अन्तर-दृष्टि:=चार हाथ प्रमाण आगे की भूमि को देखनेवाला; परिहरमाण:=बचाता हुआ; अङ्गिन:=प्राणिओं को; याति=जाता है।

हृदयं=हृदय को; विभूषयन्तीं=सुशोभित करती हुई; वाणीं=वाणी को; ताप-अपहारिणीं =तपन का हरण करनेवाली; अमलां=निर्मल; मुक्तानां=मोतिओं के; इव=समान; मालां=माला /हार को; य:=जो; ब्रूते=बोलता है; सूत्र-सम्बद्धां=सूत्र से बँधी हुई/जिनागम के अनुसार।

षट्-चत्वारिन्शत्-दोष+अपोढां=छ्यालीस दोषों से रहित को; य:=जो; विशुद्ध-नव-

कोटीं=नौ कोटिओं से विशिष्ट शुद्ध को; मृष्ट+अमृष्ट-समान:=रुचिकर और अरुचिकर में समान-भाववाला; भुक्तिं=भोजन को; विदधाति=ग्रहण करता है; विजित+अक्ष:=इंद्रियों को जीतनेवाला। द्रव्यं=पदार्थ; विकृतिपुरस्सरं=विकृति आदि को लेकर; अङ्गि-ग्राम-प्रपालन+आसक्त:=प्राणिओं के समूह का प्रकृष्टता से पालन करने में लीन भाववाला; गृह्णाति=ग्रहण करता है; य:=जो; विमुञ्चति=छोड़ता है; यत्नेन=सावधानी से; दया+अङ्गं+आश्लिष्ट:=दया से ओत-प्रोत शरीरवाला।

निर्जन्तुके=प्राणिओं से रहित में; अविरोधे=विरोध-रहित में; दूरे=निवास-स्थल से दूर में; गूढे=गुप्त में; विसङ्कटे=संकट-रहित/विस्तीर्ण में; क्षिपति=डालता है; उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्मा+आद्यं=मल, मूत्र, कफ आदि को; य:=जो; शरीर-मलं=शारीरिक मल को। जिन-वचन-पञ्जर-स्थं=जिनेंद्र भगवान के वचनरूपी पिंजरे में स्थित को; विधाय=लेकर; बहु-दु:ख-कारणं=अनेक प्रकार के दु:खों के हेतु को; क्षिप्रं=शीघ्र; विदधाति=धारण करता है; य:=जो; स्व-वश्यं=अपने अधीन को; मर्कटं=वानर को; इव=समान; चञ्चलं=अस्थिर; चित्तं=मन को।

य:=जो; वचन+औषधं=वचनरूपी औषध को; अनघं=निर्दोष को; जाति-जरा-मरण-रोग-हरण-परं=जन्म, बुढापा, मृत्यु, रोग को नष्ट करने में संलग्न को; बहुश:=अधिकतर; मौन-विधायी=मौन-धारण करनेवाला; ददाति=देता है; भव्य+अङ्गिनां=भव्य-प्राणिओं को; महितं=पूजित को। काय+उत्सर्ग-विधायी=शरीर के प्रति ममत्व के त्याग का धारक; कर्म-क्षय-कारणाय=कर्मों का क्षय करने के लिए; भव-भीत:=संसार से डरा हुआ; कृत्य+अकृत्य-पर:=करने-योग्य और नहीं करने-योग्य को समझनेवाला; य:=जो; कार्यं=काम को; वितनोति=करता है; सूत्र-मतं=जिनागम के अनुसार।

यस्य=जिसका; इत्थं=इसप्रकार; स्थेयस्य=साधु का; सम्यक्-व्रत-समिति-गुप्तय:=यथार्थ व्रत, समिति, गुप्ति; सन्ति=हैं; प्रोक्त:=कहा है; स:=वह; पात्रं=पात्र को; उत्तमं=उत्कृष्ट को; उत्तम-गुण-भाजनं=उत्कृष्ट गुणों के धारक को; जैनै:=जैनों/जैनिओं द्वारा।

अन्वय : सविता इव पर-उपकार-पर: य: नि:शेषं जीव-गुण-मार्गण-विधिं विधानत: विबुद्ध्य जीव-निकायं रक्षति। हित-कारी पर-मानस-तापत: भीत: य: पथ्यं तथ्यं श्रव्यं हृदयङ्गमं गुण-गरिष्ठं वचनं ब्रूते। अदत्त-मति: य: पतितं दृष्ट्वा अपि निर्माल्यकं इव मत्त्वा दन्त-अन्तर-शोधनं अपि पर-वित्तं त्रिधा अपि न आदत्ते। स्थिर आत्मा य: तिर्यक्-मानव-देव-अचेतन-भेदां चतु:-विधां योषां घोरां मारीं इव सर्वथा परिहरति। धीर: य: चेतन-जातं चेतनं

अचेतनं विविधं/त्रि-विधं सङ्गं त्यक्त्वा वान्तं अन्नं इव भूय: न आदत्ते।

त्रिविध-आलम्बन-शुद्धि: दयाधार: युग-मात्र-अन्तर-दृष्टि: अङ्गिन: परिहरमाण: य: प्राषुक-मार्गेण याति। य: मुक्तानां मालां इव हृदयं विभूषयन्तीं ताप-अपहारिणीं अमलां सूत्र-सम्बद्धां वाणीं ब्रूते। मृष्ट-अमृष्ट-समान: विजित-अक्ष: य: षट्-चत्वारिन्शत्-दोष-अपोढां विशुद्ध-नव-कोटीं भुक्तिं विदधाति। अङ्गि-ग्राम-प्रपालन-आसक्त: दया-अङ्गं आश्लिष्ट: य: विकृति-पुरस्सरं द्रव्यं यत्नेन गृह्णाति विमुञ्चति। य: उच्चार-प्रश्रवण-श्लेष्मा-आद्यं शरीर-मलं निर्जन्तुके अविरोधे दूरे गूढे विसङ्कटे क्षिपति।

य: बहु-दु:ख-कारणं मर्कटं इव चञ्चलं चित्तं जिन-वचन-पञ्जरस्थं विधाय क्षिप्रं स्व-वश्यं विदधाति। बहुश: मौन-विधायी य: जाति-जरा-मरण-रोग-हरण-परं अनघं महितं वचन-औषधं भव्य-अङ्गिनां ददाति। भव-भीत: कर्म-क्षय-कारणाय काय-उत्सर्ग-विधायी कृत्य-अकृत्य-पर: य: सूत्रमतं कार्यं वितनोति। यस्य स्थेयस्य इत्थं सम्यक् व्रत-समिति-गुप्तय: सन्ति स: उत्तम-गुण-भाजनं उत्तमं पात्रं जैनै: प्रोक्त:।

वचनिका : जो जीव-स्थान, गुण-स्थान, मार्गणा-स्थान के भेदों को विधान से जानकर जीवों के समूह की रक्षा करता है और सूर्य के समान अन्य का उपकार करने में तत्पर है; अर्थात् जैसे—सूर्य, अपेक्षा-रहित हो जीवों के लिए प्रकाश करता है; उसीप्रकार अपेक्षा के विना जो पर का उपकार करने में तत्पर है।

हित को करनेवाला, अन्य के मन में ताप उत्पन्न करने से भय-भीत, जो हितरूप, सत्यार्थ, सुनने-योग्य, हृदय को प्रिय, गुणों से भारी/परिपूर्ण वचन को बोलता है।

अदत्त की बुद्धिवाला जो गिरा हुआ देखकर भी अन्य के धन को निर्माल्य के समान मानकर दाँत का अंतर-शोधन करने हेतु तृणादि/सींक आदि मात्र भी मन, वचन, काय से ग्रहण नहीं करता है; अर्थात् पड़ी वस्तु को भी देखकर अदत्त मानकर ग्रहण नहीं करता है।

स्थिर आत्मा/मनवाला जो तिर्यंचनी, मनुष्यनी, देवांगना, अचेतन पुतली आदि भेदरूप चार प्रकार की स्त्रिओं को भयानक मारी-रोग के समान सर्वथा त्याग देता है।

धैर्यवान जो चेतन से उत्पन्न पुत्रादि, चेतन स्त्री आदि और अचेतन धन-धान्यादि—इन अनेक प्रकार/तीन प्रकार के परिग्रह का त्यागकर वमन किए भोजन के समान पुन: ग्रहण नहीं करता है।

मन-वचन-कायरूप तीन प्रकार के आलम्बन से शुद्धि-संपन्न, दया का आधार, युग-प्रमाण अंतर-युक्त दृष्टिवाला/चार हाथ आगे की भूमि देखनेवाला जो, प्राणिओं को बचाता

हुआ प्राषुक मार्ग से गमन करता है; अर्थात् दिन में चार हाथ पर्यंत भूमि देखकर चलता है।

जो मोतिओं की माला के समान हृदय को भूषित करती हुई आतप को हरनेवाली, सूत्रों से भली-भाँति बँधी हुई वाणी को बोलता है; अर्थात् मोतिओं की माला हृदय को शोभित करती है, यह वाणी हृदयरूप मन को शोभित करती है; माला आताप हरण करती है, यह वाणी रागादि का आताप हरण करती है; माला-सूत्र अर्थात् डोरा से बँधी है/मोती धागे में पिरोए गए हैं, यह वाणी जिन-भाषित सूत्रों से बँधी है।—इसप्रकार समान उपमा जाननी।

भले-बुरे आहार में समान बुद्धिवाला, इंद्रियों को जीतनेवाला जो, छ्यालीस दोष-रहित, नौ कोटी से शुद्ध आहार को ग्रहण करता है।

जीवों के समूह का पालन करने में आसक्त मनवाला, दया के अंग से लिपटा हुआ/दया से ओत-प्रोत जो विकृति अर्थात् हाथ धोना आदि कार्य के लिए भस्म और आदि शब्द द्वारा पीछी, कमंडलु, संथारा इत्यादि वस्तुओं को यत्न-सहित ग्रहण करता है, धरता है।

जो मल, मूत्र, कफ आदि शारीरिक-मल को जीव-रहित, विरोध-रहित, दूर, गुप्त, संकट-रहित विस्तीर्ण क्षेत्र में डालता है।

बहुत दुःख के कारण, वानर के समान चंचल मन को जिनेंद्र भगवान के वचनरूपी पिंजरे में बैठाकर जो, शीघ्र अपने वश में कर लेता है।

बहुधा मौन धारण करनेवाला जो, जन्म, जरा, मरणरूपी रोग को हरने में तत्पर, निर्दोष, पूजित वचनरूपी औषध, भव्य-जीवों को देता है; अर्थात् जो मुख्यरूप से तो मौन ही रहता है। यदि कभी बोलता है तो सभी के हित-कारक वचन बोलता है।

करने-योग्य और नहीं करने-योग्य का ज्ञाता जो कर्मों का क्षय करने के लिए कायोत्सर्ग करता है। संसार से भय-भीत जो जिन-सूत्र-भाषित कार्य करता है।

जिस मुनि के इसप्रकार सम्यक् पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति हैं; उत्तम गुणों का भंडार वह उत्तम पात्र, जैनिओं द्वारा कहा गया है।

इसप्रकार तेरह पद्यों द्वारा तेरह प्रकार के चारित्र का वर्णन किया। जो इसे धारण करता है, वह उत्तम-पात्र है—ऐसा जानना।।५-१८/८२४-८३७।।

अब, आगे आठ पद्यों द्वारा इसी उत्तम-पात्र का विशेष स्वरूप प्ररूपित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उनके विकारों की रहितता वर्णित है—

आर्या : **रागो द्वेषो मोहो लोभः क्रोधो मदः स्मरो माया।**
यं परिहरन्ति दूरं दिवाकरमिवान्ध-कार-चयाः।।१९/८३८।।

तम-समूह रवि-वत् मद राग द्वेष रु क्रोध लोभ माया।
काम मोह सब छोड़ें जिसको अति दूर स्वयं हि सदा।।१९/८३८।।

शब्दश: अर्थ : राग:=राग; द्वेष:=द्वेष, मोह:=मोह; लोभ:=लोभ; क्रोध:=क्रोध; मद:=मद; स्मर:=काम; माया=छल; यं=जिसे; परिहरन्ति=छोड़ देते हैं; दूरं=दूर; दिवा+आकरं=सूर्य को; इव=समान; अन्धकार-चया:=अंधकार का समूह।

अन्वय : अन्धकार-चया: दिवा-आकरं इव राग: द्वेष: मोह: लोभ: क्रोध: मद: स्मर: माया यं दूरं परिहरन्ति।

वचनिका : जैसे—अंधकार का समूह, सूर्य को दूर छोड़ देता है; उसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, क्रोध, लोभ, मान, काम, माया जिस मुनि को दूर छोड़ देते हैं।

भावार्थ : जिसके रागादि का अभाव हुआ है; वह उत्तम-पात्र है।।१९/८३८।।

अब, इस पद्य द्वारा उनके सम्यक् रत्नत्रय की विद्यमानता निरूपित है—

आर्या : **दर्शनबोधचरित्रत्रितयं यस्यास्ति निर्मलं हृदये।**
आनन्दितभव्यजनं विमुक्तिलक्ष्मीवशीकरणम्।।२०/८३९।।

भव्य जनों को सुखकर मुक्ति लक्ष्मी वशीकरणकर है।
दर्शन ज्ञान चरित्र तीनों निर्मल रहें उर में।।२०/८३९।।

शब्दश: अर्थ : दर्शन-बोध-चरित्र-त्रितयं=दर्शन, ज्ञान, चारित्र—तीनों की एकता को; यस्य=जिसका; अस्ति=है; निर्मलं=निर्दोष/पवित्र; हृदये=हृदय में; आनन्दित-भव्यजनं=भव्य-जनों को आनंदमय करनेवाले को; विमुक्ति-लक्ष्मी-वशी-करणं=मोक्षरूपी लक्ष्मी को वश में करनेवाले को।

अन्वय : यस्य हृदये आनन्दित-भव्य-जनं विमुक्ति-लक्ष्मी-वशीकरणं निर्मलं दर्शन-बोध-चरित्र-त्रितयं अस्ति।

वचनिका : जिसके हृदय में भव्य-जनों को आनंदित करनेवाला, मोक्ष-लक्ष्मी को वश में करनेवाला, निर्मल, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्रितय व्यक्त है; वह उत्तम-पात्र है।।२०/८३९।।

अब, इस पद्य द्वारा उसके शरीर की विशेषता वर्णित है—

आर्या : **यस्यानवद्यवृत्तेर्जङ्गममिव मन्दिरं तपोलक्ष्म्या:।**
काय-क्लेशैरुग्रैर्वशी-कृतं राजते गात्रम्।।२१/८४०।।

पाप-रहित चर्यामय जिसका तन हो रहा है यों शोभित।
उग्र काय-क्लेश द्वारा वश किया तप लक्ष्मी का चल मंदिर।।२१/८४०।।

शब्दश: अर्थ : यस्य=जिसका; अनवद्यवृत्ते:=पाप-रहित आचरण करनेवाले का; जङ्गमं=अस्थिर/चल को; इव=समान; मन्दिरं=भवन को; तप:-लक्ष्म्या:=तपरूपी लक्ष्मी का; काय-क्लेशै:=काय-क्लेश द्वारा; उग्रै:=उग्र; वशीकृतं=वश/अपने अधीन किया गया; राजते=सुशोभित होता है; गात्रं=शरीर।

अन्वय : अनवद्य-वृत्ते: यस्य गात्रं उग्रै: काय-क्लेशै: वशीकृतं तप: लक्ष्म्या: जङ्गमं मन्दिरं इव राजते।

वचनिका : पाप-रहित/निर्दोष आचरण करनेवाले जिसका शरीर, उग्र काय-क्लेश द्वारा वश में किए गए तपरूपी लक्ष्मी के चलायमान मंदिर के समान सुशोभित है।।२१/८४०।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी इंद्रिय-विजय-शीलता वर्णित है—

आर्या : **यैर्विजिता जगदीशा विविधा विपद: सदा प्रपद्यन्ते।**
तानीन्द्रियाणि सद्यो महीयसा येन जीयन्ते।।२२/८४१।।

जिनसे विजित बहुत विध विपदाएं भोगते हैं इंद्रादि।
महिमा-मंडित जिसने वे इंद्रिय शीघ्र नित जीतीं।।२२/८४१।।

शब्दश: अर्थ : यै:=जिनके द्वारा; विजिता:=जीते गए; जगत्+ईशा:=लोक के स्वामी/इंद्रादि; विविधा:=अनेक प्रकारवालीं; विपद:=विपत्तिआँ; सदा=हमेशा; प्रपद्यन्ते=प्राप्त करते हैं; तानि=वे; इन्द्रियाणि=इंद्रियाँ; सद्य:=उसी समय/शीघ्र; महीयसा=महात्मा द्वारा; येन=जिससे; जीयन्ते=जीत ली गई हैं।

अन्वय : यै: विजिता: जगत्-ईशा: सदा विविधा: विपद: प्रपद्यन्ते तानि इंद्रियाणि येन महीयसा सद्य: जीयन्ते।

वचनिका : जिन इंद्रियों द्वारा जीते गए इंद्रादि सदा अनेक प्रकार की विपत्तिओं को प्राप्त होते हैं; वे इंद्रियाँ, जिस महात्मा द्वारा तत्काल जीत ली गईं हैं; वह उत्तम-पात्र है।

भावार्थ : वे साधु इंद्रियों को वश में करनेवाले हैं।।२२/८४१।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी प्रवृत्ति बताते हैं—

आर्या : **पूजायामपमाने सौख्ये दु:खे समागमे विगमे।**
क्षुभ्यति यस्य न चेतो पात्रमसावुत्तमं साधु:।।२३/८४२।।

पूजा में निंदा में सुख में दुख में सुलाभ हानि में।
जिसका मन नहिं क्षोभित वह साधु पात्र उत्तम है।।२३/८४२।।

शब्दश: अर्थ : पूजायां=पूजा/प्रशंसा में; अपमाने=अपमान/निंदा में; सौख्ये=सुख/अनुकूलता

में; दु:खे=दु:ख/प्रतिकूलता में; समागमे=संयोग/लाभ में; विगमे=वियोग/अलाभ/हानि में; क्षुभ्यति=क्षोभ/राग-द्वेष को प्राप्त होता है; यस्य=जिसका; न=नहीं; चेत:=मन; पात्रं=पात्र; असौ=वह; उत्तमं=उत्कृष्ट; साधु:=मुनि।

अन्वय : यस्य चेत: पूजायां अपमाने सौख्ये दु:खे समागमे विगमे न क्षुभ्यति असौ साधु: उत्तमं पात्रम्।

वचनिका : जिसका चित्त पूजा और अपमान में, सुख और दु:ख में, लाभ और अलाभ में राग-द्वेष को प्राप्त नहीं होता है; वह साधु उत्तम-पात्र है।।२३/८४२।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी परिणति प्ररूपित है—

आर्या : **यस्य स्वपरविभागो न विद्यते निर्ममत्वचित्तस्य।**
निर्बाध-बोध-दीप-प्रकाशिताशेष-तत्त्वस्य।।२४/८४३।।

निर्बाध ज्ञानज्योति से नित जाने समस्त तत्त्वों को।
स्व-पर भेद नहीं पर में निर्ममता-युक्त चित्ती को।।२४/८४३।।

शब्दश: अर्थ : यस्य=जिसका; स्व-पर-विभाग:=अपने और पराए का भेद; न=नहीं; विद्यते=है; निर्ममत्व-चित्तस्य=ममता-रहित चित्तवाले का; नि:-बाध-बोध-दीप-प्रकाशित+ अशेष-तत्त्वस्य=बाधा-रहित ज्ञानरूपी दीपक से प्रकाशित सभी तत्त्वों को जाननेवाले का।

अन्वय : निर्ममत्व-चित्तस्य निर्बाध-बोध-दीप-प्रकाशित-अशेष-तत्त्वस्य यस्य स्व-पर-विभाग: न विद्यते।

वचनिका : पर-वस्तुओं में ममता-रहित चित्तवाले, बाधा-रहित ज्ञान-दीपक से प्रकाशित समस्त पदार्थों को जाननेवाले जिस मुनि को पर में स्व-पर का विभाग नहीं है।

भावार्थ : मोह का अभाव हो जाने से जिस मुनि को पर-द्रव्य में 'यह मेरा है, यह पराया है'—ऐसा भेद नहीं है। जो सभी को ज्ञेय-मात्र जानता है; वह उत्तम-पात्र है।।२४/८४३।।

ये मुनि क्या धारण करते हैं? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

आर्या : **सन्सार-वन-कुठारं दातुं कल्पद्रुमं फलमभीष्टम्।**
यो धत्ते निरवद्यं क्षमादि-गुण-साधनं धर्मम्।।२५/८४४।।

संसार वन कुल्हाड़ा इच्छित फल हेतु कल्पद्रुम।
निर्मल क्षमादि गुणमय साधनयुत धर्म जो धारण।।२५/८४४।।

शब्दश: अर्थ : सन्सार-वन-कुठारं=संसाररूपी जंगल को छेदने के लिए कुठार/कुल्हाड़ा-

सम; दातुं=देने के लिए; कल्प-द्रुमं=कल्प-वृक्ष; फलं=फल को; अभीष्टं=इच्छित; य:=जो; धत्ते=धारण करता है; निरवद्यं=निर्दोष; क्षमा+आदि-गुण-साधनं=क्षमा आदि गुणों से साधा जानेवाला; धर्मं=धर्म को।

अन्वय : सन्सार-वन-कुठारं अभीष्टं फलं दातुं कल्प-द्रुमं निरवद्यं क्षमा-आदि-गुण-साधनं धर्मं य: धत्ते।

वचनिका : संसाररूपी वन को छेदने के लिए कुठार के समान, वांछित फल को देने के लिए कल्प-वृक्ष के समान, निर्दोष, क्षमादि गुणों द्वारा साधे जानेवाले धर्म को जो मुनि धारण करता है; वह उत्तम-पात्र है।।२५/८४४।।

अब, उन मुनि की बाह्य-प्रवृत्ति बताते हैं—

आर्या : **लोकाचारनिवृत्तः कर्ममहाशत्रुमर्दनोद्युक्तः।**
यो जातरूपधारी संयत पात्रं मतं वर्यम्।।२६/८४५।।

लोकाचार परांमुख कर्म महा-शत्रु नाश को उद्यत।
रूप यथाजात धारक जो संयत पात्र वह उत्तम।।२६/८४५।।

शब्दश: अर्थ : लोक+आचार-निवृत्त:=लौकिक आचार/व्यवहार से शून्य; कर्म-महा-शत्रु-मर्दन+उद्युक्त:=कर्मरूपी महा-शत्रु को नष्ट करने में प्रयत्न-शील; य:=जो; जात-रूप-धारी=जन्म के समय-जैसा नग्नरूप धारण करनेवाला; संयत:=मुनि; पात्रं=पात्र; मतं=माना है; वर्यं=श्रेष्ठ।

अन्वय : य: लोक-आचार-निवृत्त: कर्म-महा-शत्रु-मर्दन-उद्युक्त: जात-रूप-धारी संयत: (स:) वर्यं पात्रं मतम्।

वचनिका : जो लौकिक आचार/व्यवहार से निवृत्त, कर्मरूपी महा-शत्रु को नष्ट करने में उद्यमी, जातरूप अर्थात् माता के गर्भ से उत्पन्न हुए के समान नग्नरूप का धारी मुनि है; (वह) उत्तम-पात्र कहा गया है।।२६/८४५।।

इसप्रकार उत्तम पात्र का स्वरूप कहा।

अब, आगे चार पद्यों द्वारा मध्यम-पात्र का स्वरूप वर्णित है—

उपजाति : **राकाशशाङ्कोज्ज्वलदृष्टिभूषः, प्रवर्धमानव्रतशीललक्ष्मीः।**
सामायिकारोपित-चित्तवृत्तिर्निरन्तरोपोषित-शोषिताङ्गः।।२७/८४६।।
सचेतनाहार-निवृत्त-चित्तो वैरङ्गिको मुक्त-दिनव्यवायः।
निरस्त-शश्वद्वनितोपभोगो निराकृतासंयम-कारि-कर्मा।।२८/८४७।।

निवारिताशेष–परिग्रहेच्छः सावद्य–कर्मानुमतेरकर्ता।
औद्देशिकाहार–निवृत्तबुद्धिर्दुरन्त–सन्सार–निपातभीतः।।२९/८४८।।
उपासकाचारविधिप्रवीणो मन्दीकृताशेषकषायवृत्तिः।
उत्तिष्ठते यो जनन–व्यपाये तं मध्यमं पात्रमुदाहरन्ति।।३०/८४९।।

जो पूर्णिमा शशि–सम स्वच्छ समकित भूषित विवर्धित व्रत शील वैभव।
है लीन सामायिक मनोवृत्ति प्रोषध प्रवर्तन से शुष्क है तन।।२७/८४६।।
सचित्त भोजन त्यागी विरागी त्यागी दिवा मैथुन निशिभुक्ति।
परिपूर्ण मैथुन तज ब्रम्हचारी अविरती–कारक आरंभ–त्यागी।।२८/८४७।।
संपूर्ण परिग्रह इच्छा–विनाशक सावद्य अनुमोदक नहीं रंच।
उद्दिष्ट आहारादि तजे नित दुरंत संसार पतन से भीत।।२९/४८८।।
है निपुण श्रावक आचरण विधि में काषायिकी वृत्ति मंदतामय।
संसार–छेदन में नित्य उद्यत वह पात्र मध्यम कहते जिनेंद्र।।३०/४८९।।

शब्दशः अर्थ : राका–शशाङ्क–उज्ज्वल–दृष्टि–भूषः=पूर्णिमा के चंद्रमा के समान निर्मल दृष्टि से भूषित/सम्यग्दृष्टि दर्शन प्रतिमा–धारी; प्रवर्धमान–व्रत–शील–लक्ष्मीः=बड़ी हुई व्रत और शीलरूप लक्ष्मी–युक्त/व्रत प्रतिमा–धारी; सामायिक+आरोपित–चित्त–वृत्तिः=मन की वृत्ति को सामायिक में लगानेवाला/सामायिक प्रतिमा–धारी; निरन्तर+उपोषित–शोषित+अङ्गः= सदा प्रोषधोपवास से शोषण किए गए शरीरवाला/प्रोषधोपवास प्रतिमा–धारी।

सचेतन+आहार–निवृत्त–चित्तः=सचित्त आहार के त्यागरूप मनवाला/सचित्त–त्याग प्रतिमा–धारी; वैरङ्गिकः=वैरागी; मुक्त–दिन–व्यवायः=दिन में मैथुन से रहित/दिवा–मैथुन–त्याग प्रतिमा–धारी; निरस्त–शश्वत्–वनिता+उपभोगः=स्त्री के उपभोग का हमेशा को त्यागी/ब्रम्हचर्य प्रतिमा–धारी; निराकृत+असंयम–कारि–कर्मा=असंयम को करनेवाले कार्यों का निराकरण करनेवाला/आरंभ–त्याग प्रतिमा–धारी।

निवारित–अशेष–परिग्रह+इच्छः=संपूर्ण परिग्रह की इच्छा दूर कर देनेवाला/परिग्रह–त्याग प्रतिमा–धारी; सावद्य–कर्म–अनुमतेः=सावद्य/हिंसादि–युक्त कार्यों की अनुमोदना का; अकर्ता=नहीं करनेवाला/अनुमति–त्याग प्रतिमा–धारी; औद्देशिक+आहार–निवृत्त–बुद्धिः=उद्दिष्ट आहार के त्याग में बुद्धि–संपन्न/उद्दिष्ट–त्याग प्रतिमा–धारी; दुरन्त–सन्सार–निपात–भीतः=कठिनता से समाप्त होनेवाले संसार में गिरने से डरा हुआ।

उपासक+आचार–विधि–प्रवीणः=उपासना करनेवाले/श्रावक के आचरण की विधि में

निपुण; मन्दीकृत+अशेष-कषाय-वृत्तिः=संपूर्ण कषायों की वृत्ति को मंद करनेवाला; उत्तिष्ठते=प्रयत्न-शील; यः=जो; जनन-व्यपाये=संसार का नाश करने में; तं=उसे; मध्यमं= मध्यम; पात्रं=पात्र; उदाहरन्ति=कहते हैं।

अन्वय : प्रारंभिक साड़े तीन पद्य अन्वयरूप ही हैं। शेष आधे का अन्वय इसप्रकार है—यः जनन-व्यपाये उत्तिष्ठते तं मध्यमं पात्रं उदाहरन्ति।

वचनिका : पूर्णमासी के चंद्रमा-समान निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी आभूषण से सुशोभित, वृद्धिंगत पाँच अणुव्रत और सात शीलमय लक्ष्मी-संपन्न, सामायिक में आरोपित मनो-वृत्तिवाला, सदा प्रोषधोपवास से सूखे शरीर-युक्त, सचित्त आहार से निवृत्त-मनी, विमुक्तरूप, दिवा-मैथुन का त्यागी, स्त्री के उपभोग को निरंतर दूर करनेवाला, असंयम को करनेवाले कार्यों का त्याग करनेवाला, समस्त परिग्रह की इच्छा का विनाशक, पाप-सहित कार्यों की अनुमोदना नहीं करनेवाला, अपने उद्देश्य से किए आहार में निवृत्त-बुद्धि-संपन्न, कठिनता से समाप्त होनेवाले संसार में गिरने से भय-भीत, उपासकाचार की विधि में प्रवीण, सभी कषायों की प्रवृत्ति को मंद करनेवाला जो व्यक्ति संसार का नाश करने में उद्यमी है; वही मध्यम-पात्र है।

भावार्थ : दर्शन प्रतिमा से लेकर उद्दिष्ट आहार-विरति पर्यंत ग्यारह प्रतिमाओं के धारक श्रावक, मध्यम-पात्र हैं। यहाँ इतना और जानना कि पहली दर्शन प्रतिमा तो अवश्य चाहिए। उसके होने पर शेष दो प्रतिमा से ग्यारह प्रतिमा पर्यंत श्रावक ही है।।२७-३०/८४६-८४९।।

इसप्रकार मध्यम-पात्र का स्वरूप कहा।

अब, आगे तीन पद्यों द्वारा जघन्य-पात्र का स्वरूप कहते हैं—

द्रुत-विलंबित : **कुमुदबान्धवदीधितिदर्शनो भवजरामरणार्तिविभीलुकः।**
कृतचतुर्विध-सङ्गहिते हितो जननभोगशरीरविरक्तधीः।।३१/८५०।।
भवति यो जिनशासनभासकः सततनिन्दनगर्हणचञ्चुरः।
स्वपरतत्त्वविचारणकोविदो व्रतविधाननिरुत्सुकमानसः।।३२/८५१।।
जिनपतीरिततत्त्वविचक्षणो विपुलधर्मफलेक्षणतोषितः।
सकलजन्तुदयार्द्रितचेतनस्तमिह पात्रमुशन्ति जघन्यकम्।।३३/८५२।।

चंद्र-कर-वत् उज्ज्वल सद्दरश जन्म-जर-मृत्यु पीड़ा से डर।
चतुर्विध संघ के हित में मगन भवज भोग शरीर-विरक्त-मन।।३१/८५०।।
प्रकाशक जिन शासन का सतत है स्वनिंदा गर्हण में चतुर।
स्व-पर तत्त्व-विचारण दक्ष-चित व्रत विधान अनुत्साही हृदय।।३२/८५१।।

जिन-कथित तत्त्वों में विचक्षण धर्म बहु-फल लोकन में मगन।

जीव-करुणा से भीगा हृदय कहें जिन यह पात्र जघन्य सत्।।३३/८५२।।

शब्दश: अर्थ : कुमुद-बान्धव-दीधिति-दर्शन:=चंद्रमा की किरणों के समान निर्मल सम्यग्दर्शन-संपन्न; भव-जरा-मरण+आर्ति-विभीलुक:=जन्म, बुढापा, मृत्यु के कष्ट से भय-भीत; कृत-चतु:-विध-सङ्घ-हिते=चार प्रकार के संघ का हित करने में; हित:=रुचि-प्रीति-संपन्न; जनन-भोग-शरीर-विरक्त-धी:=सांसारिक भोगों और शरीर में विरक्त-बुद्धिवाला।

भवति=है; य:=जो; जिन-शासन-भासक:=जिनेंद्र भगवान के शासन को प्रकाशित करनेवाला; सतत-निन्दन-गर्हण-चञ्चुर:=हमेशा अपनी निंदा, गर्हा करने में चतुर; स्व-पर-तत्त्व-विचारण-कोविद:=अपने और पराए तत्त्व का विचार करने में विद्वान; व्रत-विधान-नि:-उत्सुक-मानस:=व्रतों का आचरण करने में उत्सुकता-रहित मनवाला।

जिनपति+ईरित-तत्त्व-विचक्षण:=जिनेंद्र भगवान द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में विचक्षण; विपुल-धर्म-फल+ईक्षण-तोषित:=धर्म का अत्यधिक फल देखने में संतुष्ट; सकल-जन्तु-दया+आर्द्रित-चेतन:=सभी प्राणिओं पर दया से भीगे हुए चित्तवाला; तं=उसे; इह=यहाँ; पात्रं=पात्र; उशन्ति=कहते हैं; जघन्यकं=जघन्य।

अन्वय : दूसरे ३२वें पद्य के प्रथम चरण में 'य: जिन-शासन-भासक: भवति' और तीसरे ३३वें पद्य के चतुर्थ चरण में 'इह तं जघन्यकं पात्रं उशन्ति'—इतने परिवर्तन के अतिरिक्त शेष सभी अन्वय में हैं।

वचनिका : चंद्रमा की किरण-समान निर्मल सम्यग्दर्शन-संपन्न; जन्म, जरा, मरण की पीड़ा से भय-भीत; चार प्रकार के संघ के हित में हित अर्थात् प्रीतिरूप भाव करनेवाला, सांसारिक भोगों और शरीर में विरक्त-बुद्धि-संपन्न; जिन-शासन का प्रकाशक; अपनी निरंतर निंदा, गर्हा में प्रवीण; आत्म-तत्त्व और पर-तत्त्व के विचार में पंडित, व्रतों के आचरण में निरुत्सुक मनवाला अर्थात् व्रतों को धारण नहीं कर सकता है, जिनेंद्र भगवान द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों में विचक्षण, धर्म का बड़ा फल देखने से संतुष्ट अर्थात् धर्म के मुख्य फल मोक्ष के अतिरिक्त अन्य फल को नहीं चाहनेवाला, सभी प्राणिओं पर दया से भीगे हुए चित्त-संयुक्त उस अविरत-सम्यग्दृष्टि को यहाँ जघन्य-पात्र कहते हैं।।३१-३३/८५०-८५२।।

इसप्रकार पात्र का स्वरूप बतानेवाला प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, आगे दो पद्यों द्वारा कुपात्र का स्वरूप कहते हैं—

द्रुत-विलंबित : **चरति यश्चरणं परदुश्चरं विकट-घोर-कुदर्शन-वासित:।**

सकल-सत्त्व-हितोद्यत-चेतनो वितथ-कर्कशवाक्यपराङ्मुख:।।३४/८५३।।

धन-कलत्र-परिग्रहनिष्पृहो नियमसंयमशील-विभूषितः।
कृतकषायहृषीकविनिर्जयः प्रणिगदन्ति कुपात्रमिमं बुधाः।।३५/८५४।।

अन्य दुश्चर चर्या आचरे विकट घोर कुदर्शन सेवता।
सर्व जीवों के हित उद्यमी झूँठ कर्कश वचन न बोलता।।३४/८५३।।
धन कलत्र परिग्रह निष्पृही नियम संयम शील सुशोभित।
विजित इंद्रिय और कषाय को बुध कहें जानो कुपात्र यह।।३५/८५४।।

शब्दशः अर्थ : चरति=आचरता है; यः=जो; चरणं=आचरण को; पर-दुः-चरं=दूसरों के लिए अति कठिन; विकट-घोर-कुदर्शन-वासितः=विकट, भयानक मिथ्यात्व से वासित; सकल-सत्त्व-हित+उद्यत-चेतनः=सभी प्राणिओं के हित में उद्यमी मनवाला; वितथ-कर्कश-वाक्य-पराङ्मुखः=असत्य और कठोर वाक्यों से रहित।

धन-कलत्र-परिग्रह-निष्पृहः=धन, स्त्री, परिग्रह को नहीं चाहनेवाला; नियम-संयम-शील-विभूषितः=नियम, संयम, शील से सुसज्जित; कृत-कषाय-हृषीक-वि-निः-जयः= कषाय और इंद्रियों को पराजित करनेवाला; प्रणिगदन्ति=कहते हैं; कुपात्रं=कुपात्र; इमं=इसे; बुधाः=ज्ञानी-जन।

अन्वय : यः पर-दुश्चरं चरणं चरति... इमं कुपात्रं (इति) बुधाः प्रणिगदन्ति—आदि और अंत के इस परिवर्तन के अतिरिक्त मध्यवर्ती शेष सभी अन्वय में है।

वचनिका : अन्य के लिए कठिन आचरण का जो आचरण करता है, विकट और भयंकर मिथ्यादर्शन से वासित, सभी जीवों के हित में उद्यमी मनवाला, झूँठ और कठोर वचनों से परांमुख; धन, स्त्री, परिग्रह को नहीं चाहनेवाला; नियम, संयम, शील से भूषित; कषाय और इंद्रियों को पराजित करनेवाला;—इसे ज्ञानी-जन, कुपात्र कहते हैं।

भावार्थ : जो काय-क्लेश करता है, व्रतों का धारक है, कषाय और इंद्रियों को भी जीतता है; परंतु सम्यक्त्व से रहित है; वह कुपात्र है—ऐसा जानना।।३४-३५/८५३-८५४।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा अपात्र का स्वरूप निरूपित है—

द्रुत-विलंबित : **गतकृपः प्रणिहन्ति शरीरिणो वदति यो वितथं परुषं वचः।**
हरति वित्तमदत्तमनेकधा मदन-वाण-हतो भजतेऽङ्गनाम्।।३६/८५५।।
विविधदोषविधायि-परिग्रहः पिबति मद्यमयन्त्रितमानसः।
कृमिकुलाकुलितं ग्रसते *पलं कलिलकर्मविधानविशारदः।।३७/८५६।।

* फलं—इति पाठान्तरम्।

दृढकुटुम्ब-परिग्रह-पञ्जरः प्रशम-शील-गुण-व्रतवर्जितः।
गुरुकषाय-भुजङ्गमसेवितं विषय-लोलमपात्रमुशन्ति तम्।।३८/८५७।।

निर्दयी जो प्राणी घातता झूँठ कर्कश वाणी बोलता।
विन दिया धन हरता बहु-विधा काम-पीड़ित स्त्री भोगता।।३६/८५५।।
विविध दोषक परिग्रह जोड़ता पिए मदिरा अस्थिर मन सदा।
भखे बहु जीवों युत मांस भी पाप-कर्म करण में निपुणता।।३७/८५६।।
दृढ कुटुंब-परिग्रह से बँधा तजे गुण व्रत शील सु साम्यता।
भुजग-वत् काषायिक तीव्रता विषय लोलुप पात्र नहीं सदा।।३८/८५७।।

शब्दशः अर्थ : गत-कृपः=दया से रहित; प्रणिहन्ति=मारता है; शरीरिणः=प्राणिओं को; वदति=कहता है; यः=जो; वितथं=झूँठ; परुषं=कठोर; वचः=वचन; हरति=चुराता है; वित्तं=धन; अदत्तं=विना दिया; अनेक-धा=अनेक प्रकार से; मदन-वाण-हतः=काम-वासना से पीड़ित; भजते=भोगता है; अङ्गनां=स्त्री को।

विविध-दोष-विधायि-परिग्रहः=अनेक प्रकार के दोषों को करनेवाला परिग्रह-सहित; पिबति=पीता है; मद्यं=मदिरा को; अयन्त्रित-मानसः=अस्थिर मनवाला; कृमि-कुल+आकुलितं=कीड़ों के समूह से व्याप्त; ग्रसते=खाता है; पलं=मांस को/फलं=पाँच उदंबर फल को; कलिल-कर्म-विधान-विशारदः=पाप कार्यों को करने में अति निपुण।

दृढ-कुटुम्ब-परिग्रह-पञ्जरः=कुटुंब को दृढता से ग्रहण किए हुए पिँजरे-युक्त/कुटुंब के प्रति तीव्र स्नेही; प्रशम-शील-गुण-व्रत-वर्जितः=समता, शील, गुण और व्रत से रहित; गुरु-कषाय-भुजङ्गम-सेवितं=अत्यधिक तीव्र कषायरूपी विशाल सर्पों से सेवित; विषय-लोलं=पंचेंद्रिय-विषयों का लोलुपी; अपात्रं=अपात्र; उशन्ति=कहते हैं; तं=उसे।

अन्वय : गत-कृपः यः शरीरिणः प्रणिहन्ति वितथं परुषं वचः वदति अदत्तं वित्तं अनेकधा हरति मदन-वाण-हतः अङ्गनां भजते।

विविध-दोष-विधायि-परिग्रहः अयन्त्रित-मानसः मद्यं पिबति कृमि-कुल-आकुलितं पलं/फलं ग्रसते... विषय-लोलं तं अपात्रं उशन्ति। बीचवाला अन्वय में है।

वचनिका : दया-रहित जो, जीवों को मारता है, झूँठ और कठोर वचन बोलता है, विना दिए धन को अनेक प्रकार से हरता है, काम-बाण से पीड़ित हुआ स्त्री को भोगता है।

अनेक दोषों को करनेवाले परिग्रह से सहित, अस्थिर-चित्तवाला जो मदिरा पीता है, कीड़ों के समूह से व्याप्त मांस/पाँच उदंबर फल को खाता है, पाप करने में चतुर, कुटुंब-

परिग्रह के दृढ पिँजरे से सहित/कुटुंब से तीव्र स्नेह रखनेवाला; समता, शील, गुण, व्रत से रहित; तीव्र कषायरूपी सर्पों से सेवित, विषयों में लोलुपी को आचार्य, अपात्र कहते हैं।

भावार्थ : सम्यक्त्व और व्रतादि — दोनों से रहित, अपात्र है।।३६-३८/८५५-८५७।।

अब, एक पद्य द्वारा इस निरूपण का प्रयोजन बताते हैं —

उपजाति : **विबुद्ध्य पात्रं बहुधेति पण्डितैर्विशुद्धबुद्ध्या गुणदोषभाजनम्।**
विहाय गर्ह्यं परिगृह्य पावनं शिवाय दानं विधिना वितीर्यते।।३९/८५८।।

यों जान बहुधा गुण-दोष-भाजन पात्रों को निर्मल-धी से सुधीजन।
निंदित तजें पावन ग्रहें विधि से दें दान नित शिव हेतु सुपात्र।।३९/८५८।।

शब्दश: अर्थ : विबुद्ध्य=भली-भाँति जानकर; पात्रं=पात्र को; बहुधा=अनेक प्रकारवाले; इति=इसप्रकार; पण्डितै:=ज्ञानिओं द्वारा; विशुद्ध-बुद्ध्या=निर्मल-बुद्धि से; गुण-दोष-भाजनं=गुण-दोष के स्थान; विहाय=छोड़कर; गर्ह्यं=निंदनीय को; परिगृह्य=ग्रहणकर; पावनं=पवित्र को; शिवाय=मोक्ष के लिए; दानं=दान को; विधिना=विधि पूर्वक; वितीर्यते =दीजिए।

अन्वय : इति पण्डितै: विशुद्ध-बुद्ध्या गुण-दोष-भाजनं बहुधा पात्रं विबुद्ध्य गर्ह्यं विहाय पावनं परिगृह्य शिवाय विधिना दानं वितीर्यते।

वचनिका : इसप्रकार पंडितों द्वारा निर्मल-बुद्धि से गुण और दोषों के भाजन बहुत प्रकार के पात्र जानकर उनमें से निंदनीय का त्यागकर और पवित्र को ग्रहणकर मोक्ष के लिए विधि-सहित दान देने योग्य है।

भावार्थ : इसप्रकार गुण-दोषों से पात्र और अपात्र को जानकर मोक्ष के लिए अपात्रों का त्यागकर पात्रों को दान देना योग्य है।।३९/८५८।।

अब, इन पाँच पद्यों द्वारा उत्तम-पात्रों को आहार देने की विधि वर्णित है —

उपजाति : **कृतोत्तरासङ्ग-पवित्र-विग्रहो निजालय-द्वारगतो निराकुल:।**
ससम्भ्रमं स्वीकुरुते तपोधनं नमोऽस्तु तिष्ठेति कृतध्वनिस्तत:।।४०/८५९।।
सुसन्स्कृते पूज्यतमे गृहान्तरे तपस्विनं स्थापयते विधानत:।
मनीषितानेक-फल-प्रदायकं सुदुर्लभं रत्नमिवास्त-दूषणम्।।४१/८६०।।
अनेक-जन्मार्जित-कर्मकर्तिनस्तपोनिधेस्तत्र पवित्रवारिणा।
स सादर: क्षालयते पदद्वयं विमुक्तये मुक्तिसुखाभिलाषिण:।।४२/८६१।।
प्रसूनगन्धाक्षत-दीपिकादिभि: प्रपूज्य मर्त्यामरवर्गपूजितम्।
मुदा मुमुक्षो: पदपङ्कजद्वयं स वन्दते मस्तकपाणिकुड्मल:।।४३/८६२।।

मनोवचःकाय-विशुद्धिमञ्जसा विधाय विध्वस्तमनोभवद्विषः।
चतुर्विधाहारमहार्यनिश्चयो ददाति सः प्रासुकमात्मकल्पितम्।।४४/८६३।।

धोती दुपट्टा युत तन पवित्री निराकुली निज घर द्वार आए।
भ्रमते मुनि को स्वीकार स्वामी नमोऽस्तु तिष्ठ त्रय बार कहते।।४०/८५९।।
यथेच्छ बहुविध फलदा सुदुर्लभ पावन रतन-वत् मुनि को विधि से।
सुसंस्कृत पूज्य सदन के अंदर ले जा उचित स्थल पर बिठाए।।४१/८६०।।
अनेक भव संचित कर्म-छेदक शिव सौख्य इच्छुक मुनि के विमुक्ति।
हेतु चरण-द्वय प्रक्षाल करता सादर सुपावन जल से वहाँ ही।।४२/८६१।।
मुमुक्षु मुनि के सुर-नर-सुपूजित पद-कमल-पूजन जल अक्षतादि।
से कर सहर्ष मुकुलित करों को शिर से लगा करता नमन वह ही।।४३/८६२।।
मन वचन तन भोजन शुद्धि-युक्त प्राषुक स्व हेतु कृत चतुर्विध वह।
आहार देता मन्मथ-विनाशक मुनि को सदा निश्चल-चित्त-युत वह।।४४/८६३।।

शब्दशः अर्थ : कृत+उत्तरा-सङ्ग-पवित्र-विग्रहः=धोती-दुपट्टा के साथ शरीर को पवित्र किया हुआ; निज+आलय-द्वार-गतः=अपने घर के दरवाजे पर गया हुआ; निः-आकुलः= आकुलता से रहित; ससम्भ्रमं=सावधानी पूर्वक चलनेवाला; स्वीकुरुते=स्वीकार करता है; तपोधनं=मुनि को; नमः+अस्तु=नमस्कार हो; तिष्ठ=ठहरिए; इति=इसप्रकार; कृतध्वनिः= ध्वनि करता हुआ/वाक्य बोलता हुआ; ततः=उससे।

सुसन्स्कृते=भली-भाँति संस्कारित; पूज्यतमे=प्रशंसनीय; गृहान्तरे=घर के अंदर; तपस्विनं=मुनि को; स्थापयते=स्थापित करता है/उच्च-स्थान देता है; विधानतः=विधि पूर्वक; मन+ईषित+अनेक-फल-प्रदायकं=मनोवांक्षित अनेक फलों को देनेवाला; सु-दुर्लभं=महा दुर्लभ; रत्नं=रत्न को; इव=समान; अस्त-दूषणं=निर्दोष।

अनेक-जन्म+अर्जित-कर्म-कर्तिनः=अनेक जन्मों के इकट्ठे हुए कर्मों का छेदन करनेवाला; तपः-निधेः=मुनि का; तत्र=वहाँ; पवित्र-वारिणा=पावन जल से; सः=वह; स+आदरः= आदर-सहित; क्षालयते=प्रक्षालित किया जाता है; पद-द्वयं=दोनों चरणों को; विमुक्तये=मोक्ष के लिए; मुक्ति-सुख+अभिलाषिणः=मोक्ष के सुख की इच्छा करनेवाले का।

प्रसून-गन्ध+अक्षत-दीपक+आदिभिः=पुष्प, गंध/चंदन, अक्षत/चावल, दीपक आदि द्वारा; प्रपूज्य=पूजनकर; मर्त्य+अमर-वर्ग-पूजितं=मनुष्यों, देवों के समूह से पूजित; मुदा= प्रसन्नता पूर्वक; मुमुक्षोः=मोक्ष के अभिलाषी का; पद-पङ्कज-द्वयं=दोनों चरण-कमल को;

स:=वह; वन्दते=नमन करता है; मस्तक-पाणी-कुड्मल:=मुकुलित हाथों को मस्तक से लगा।

मन:-वच:-काय-विशुद्धिं=मन, वचन, काय की विशुद्धि को; अञ्जसा=स्पष्टरूप से; विधाय=धारणकर; विध्वस्त-मन:-भव-द्विष:=मन में उत्पन्न हुए शत्रु/काम/विषय-वासना को नष्ट करनेवाले के लिए; चतु:-विध+आहारं=चार प्रकार का आहार; अहार्य-निश्चय: =नहीं हरे जाने के निश्चयवाला/दृढ-श्रद्धानी; ददाति=देता है; स:=वह; प्राषुकं=निर्दोष; आत्म-कल्पितं=अपने लिए किया गया।

अन्वय : कृत-उत्तरा-सङ्ग-पवित्र-विग्रह: निराकुल: निज-आलय-द्वार-गत: नमोऽस्तु तिष्ठ इति कृतध्वनि: ससम्भ्रमं तपोधनं स्वीकुरुते तत:। सुसन्स्कृते पूज्यतमे गृहान्तरे मनीषित-अनेक-फल-प्रदायकं अस्त-दूषणं रत्नं सुदुर्लभं तपस्विनं विधानत: स्थापयते।

तत्र अनेक-जन्म-अर्जित-कर्म-कर्तिन: मुक्ति-सुख-अभिलाषिण: तपोनिधे: पद-द्वयं विमुक्तये सादर: स: पवित्र-वारिणा क्षालयते। मर्त्य-अमर-वर्ग-पूजितं मुमुक्षो: पदपङ्कज-द्वयं प्रसून-गन्ध-अक्षत-दीपक-आदिभि: प्रपूज्य मुदा मस्तक-पाणि-कुड्मल: स: वन्दते। अहार्य-निश्चय: स: अञ्जसा मन:-वच:-काय-विशुद्धिं विधाय आत्म-कल्पितं प्राषुकं चतु:-विध-आहारं विध्वस्त-मनोभव-द्विष: ददाति।

वचनिका : उज्ज्वल धोती-दुपट्टा-सहित शरीर को पवित्र किया हुआ, अपने घर के द्वार में प्राप्त हुआ/द्वार पर आकर आकुलता-रहित वह, 'नमस्कार हो, हे मुनींद्र! यहाँ ठहरिए' — ऐसे शब्द बोलता हुआ भली-भाँति भ्रमण करते मुनिराज को स्वीकार करता है। उसके बाद भली-भाँति संस्कारित अर्थात् दया-सहित चौका आदि लगे हुए विशेषरूप में प्रशंसा-योग्य घर के अंदर; वांक्षित अनेक फलों के देनेवाले, दूषण-रहित रत्न के समान अति दुर्लभ तपस्वी को विधि पूर्वक स्थापित करता है।

मोक्ष-सुख के अभिलाषी, अनेक जन्मों में उपार्जित कर्मों को काटनेवाले उन तपोनिधि मुनि के चरण-युगल को मोक्ष की भावना से आदर-सहित वह, पवित्र जल से प्रक्षालित करता है। तदनंतर मनुष्य और देवों के समूह द्वारा पूजित, मोक्षाभिलाषी उन मुनि के चरण-कमल-युगल की पुष्प, गंध, अक्षत, दीपक आदि द्वारा पूजनकर हर्ष पूर्वक मुकुलित हाथों को मस्तक से लगा उनकी वंदना करता है।

तत्पश्चात् नहीं हरने-योग्य निश्चयवाला अर्थात् दृढ श्रद्धानी वह स्पष्टरूप में मन, वचन,

काय की विशुद्धि को लेकर अपने लिए किए गए प्राषुक चार प्रकार के आहार को काम-शत्रु को नष्ट करनेवाले मुनि के लिए देता है।।४०-४४/८५९-८६३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण दान का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **अनेन दत्तं विधिना तपस्विनां महा-फलं स्तोकमपि प्रजायते।**
वसुन्धरायां वट-पादपस्य किं न वीजमुप्तं परमेति विस्तरम्।।४५/८६४।।

जो इस विधि से देता मुनि को थोड़ा भी होता बहु फल-प्रदाता।
क्या भूमि में बट-तरु बीज बोते उत्कृष्ट विस्तार नहीं हो उसका?।।४५/८६४।।

शब्दश: अर्थ : अनेन=इससे; दत्तं=दिया; विधिना=विधि से; तपस्विनां=मुनिओं के; महा-फलं=विशाल फल; स्तोकं=थोड़ा; अपि=भी; प्रजायते=उत्पन्न होता है; वसुन्धरायां=पृथ्वी में; वट-पादपस्य=बरगद के वृक्ष का; किं=क्या; न=नहीं; वीजं=बीज; उप्तं=बोया गया; परं=उत्कृष्ट; एति=प्राप्त होता है; विस्तरं=विस्तार को।

अन्वय : अनेन विधिना तपस्विनां स्तोकं अपि दत्तं महा-फलं प्रजायते किं वसुन्धरायां उप्तं वट-पादपस्य वीजं परं विस्तरं न एति।

वचनिका : इस विधि-सहित तपस्विओं को थोड़ा-सा भी दिया दान महा-फल को उत्पन्न करता है; जैसे—पृथ्वी में बोया गया वट-वृक्ष का बीज क्या उत्कृष्ट विस्तार को प्राप्त नहीं होता है? होता ही है।।४५/८६४।।

दान में विधि का क्या महत्त्व है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **निवेशितं वीजमिलातलेऽनघे विना विधानं न फलावहं यथा।**
तथा न पात्राय वितीर्णमञ्जसा ददाति दानं विधिना विना फलम्।।४६/८६५।।

निर्दोष भू में बोया गया भी विधि के विना वीज न फले बहु-विध।
त्यों पात्र को दें निर्दोष दान पर विधी के विन नहिं फले बहु-विध।।४६/८६५।।

शब्दश: अर्थ : निवेशितं=बोया गया; वीजं=बीज; इला-तले=भू-तल में; अनघे=निर्दोष में; विना=रहित; विधानं=सुरक्षा आदि प्रयत्नरूप विधि को; न=नहीं; फलावहं=फल-दाता; यथा=जैसे; तथा=उसीप्रकार; न=नहीं; पात्राय=पात्र के लिए; वितीर्णं=दिया गया; अञ्जसा=निर्दोष; ददाति=देता है; दानं=दान को; विधिना=विधि द्वारा; विना=रहित; फलं=फल को।

अन्वय : यथा अनघे इला-तले निवेशितं वीजं विधानं विना फलावहं न तथा पात्राय अञ्जसा वितीर्णं दानं विधिना विना फलं न ददाति।

वचनिका : जैसे — निर्दोष पृथ्वी-तल में बोया गया बीज, यत्न आदि क्रियारूप विधान के विना फल-दाता नहीं होता है; उसीप्रकार पात्र के लिए भली-भाँति दिया गया दान, पड़गाहन आदि विधि के विना फल को नहीं देता है।।४६/८६५।।

अब, तीन पद्यों द्वारा दाता की विशेषताएं प्रतिपादित हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मिष्ट-भाषण का महत्त्व स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **सदातिथिभ्यो विनयं वितन्वता निजं प्रदेयं प्रियजल्पिना धनम्।**
प्रजायते कर्कश-भाषिण: स्फुटं धनं वितीर्णं गुरुवैरकारणम्।।४७/८६६।।

विनय बड़ाते प्रिय बोलते ही स्व-वस्तु देना पात्रों को नित ही।
कर्कश वचन होते बैर हेतु अति ही दिया दान निरर्थ-कारी।।४७/८६६।।

शब्दश: अर्थ : सदा=हमेशा; अतिथिभ्य:=अतिथि/पात्रों के लिए; विनयं=विनय/नम्रता को; वितन्वता=बड़ाते हुए; निजं=अपना; प्रदेयं=प्रकृष्टरूप से देने-योग्य; प्रिय-जल्पिना=प्रिय/मिष्ट वचन बोलनेवाले द्वारा; धनं=धन/आहारादि सामग्री; प्रजायते=उत्पन्न करता है; कर्कश-भीषण:=कठोर बोलनेवाले के; स्फुटं=वास्तव में; धनं=धन को; वितीर्णं=दिया हुआ; गुरु-वैर-कारणं=अत्यधिक बैर का कारण।

अन्वय : सदा विनयं वितन्वता प्रिय-जल्पिना अतिथिभ्य: निजं धनं प्रदेयं कर्कश-भाषिण: वितीर्णं धनं स्फुटं गुरु-वैर-कारणं प्रजायते।

वचनिका : सदा विनय को बड़ाते हुए मिष्ट वचन बोलते व्यक्ति द्वारा पात्रों के लिए यथा-योग्य आहारादि वस्तुरूप अपना धन देने-योग्य है; क्योंकि कठोर वचन बोलनेवाले के द्वारा दी गई वस्तु भी प्रकटरूप में महा बैर का कारण होती है।।४७/८६६।।

अब, इस पद्य द्वारा कठोर वचन बोलकर दान देने का दुष्परिणाम बताते हैं—

उपजाति : **निगद्य य: कर्कशमस्त-चेतनो निजं च दत्ते द्रविणं शठत्वत:।**
सुखाय दु:खोदय-कारणं परं मूल्येन गृह्णाति स दुर्मन: कलिम्।।४८/८६७।।

निर्बुद्धि शठता से शब्द कर्कश कह दे स्वयं का धन वह सदा ही।
दे मूल्य सुख हेतु दुष्ट-चित्ती ले दु:ख हेतु बहु पाप को ही।।४८/८६७।।

शब्दश: अर्थ : निगद्य=कहकर; य:=जो; कर्कशं=कठोर को; अस्त-चेतन:=निर्बुद्धि; निजं=अपने; च=और; दत्ते=देता है; द्रविणं=धन को; शठत्वत:=शठता के कारण; सुखाय=सुख के लिए; दु:ख+उदय-कारणं=दु:ख की प्रकटता में कारण; परं=बहुत; मूल्येन=कीमत से/खरीदकर; गृह्णाति=लेता है; स:=वह; दु:-मन:=खोटे मनवाला; कलिं=पाप को।

अन्वय : य: अस्त-चेतन: शठत्वत: कर्कशं निगद्य निजं द्रविणं दत्ते च स: दुर्मन: सुखाय दु:ख-उदय-कारणं परं कलिं मूल्येन गृह्णाति।

वचनिका : जो निर्बुद्धि मूर्खता से कठोर वचन बोलकर अपना धन देता है; वास्तव में वह दुष्ट-चित्ती सुख के लिए मात्र दु:ख के उदय के कारणभूत पाप-कलह को मूल्य से ग्रहण करता है।

भावार्थ : जो खोटा वचन बोलकर दान देता है, वह उल्टा पाप-बंध करता है।।४८/८६७।।

अब, इस पद्य द्वारा विवेक पूर्वक दान-देने का फल निरूपित है—

शालिनी : **सम्यग्भक्तिं कुर्वत: संयतेभ्यो द्रव्यं भावं कालमालोक्य दत्तम्।**
दातुर्दानं भूरि पुण्यं विधत्ते सामग्रीत: सर्व-कार्य-प्रसिद्धि:।।४९/८६८।।

सम्यक् भक्ति-युक्त दे दान दाता द्रव्य रु भाव काल सुविचार मुनि को।
पाता बहु-विध पुण्य सामग्रि से ही होती सिद्धी सकल कामों कि सबको।।४९/८६८।।

शब्दश: अर्थ : सम्यक् भक्तिं=सच्ची भक्ति को; कुर्वत:=करते हुए; संयतेभ्य:=मुनिओं के लिए; द्रव्यं=द्रव्य/सामग्री को; भावं=परिणाम को; कालं=समय को; आलोक्य=देखकर/विचारकर; दत्तं=दिया गया; दातु:=दाता का; दानं=दान; भूरि=अत्यधिक; पुण्यं=पुण्य को; विधत्ते=उत्पन्न करता है; सामग्रीत:=सामग्री से; सर्व-कार्य-प्रसिद्धि:=सभी कार्यों की विशेष सिद्धि होती है।

अन्वय : सम्यक् भक्तिं कुर्वत: दातु: द्रव्यं भावं कालं आलोक्य संयतेभ्य: दत्तं दानं भूरि पुण्यं विधत्ते सामग्रीत: सर्व-कार्य-प्रसिद्धि:।

वचनिका : भले प्रकार से भक्ति करते हुए दाता का द्रव्य, भाव, काल का विचारकर मुनि के लिए दिया गया दान, बहुत पुण्य को उत्पन्न करता है; क्योंकि सभी कार्यों की सिद्धि, सामग्री से होती है।

भावार्थ : पहले कहे अनुसार द्रव्यादि का विचारकर पात्रों के लिए भक्ति-सहित थोड़ा भी दिया गया दान, बहुत पुण्य-बंध करता है। यहाँ द्रव्य, भाव और काल तो कहे हैं; क्षेत्र में पात्रों को जान लेना।।४९/८६८।।

दान के फल में अंतर के कारणों को सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

उपजाति : **बलाहकादेक-रसं विनिर्गतं यथा पयो भूरि-रसं निसर्गत:।**
विचित्र-माधारमवाप्य जायते तथा स्फुटं दानमपि प्रदातृत:।।५०/८६९।।

मेघों से निकला जल एक रस ज्यों अनेक रस हो स्व-भाव से ही।
आधार बहु-विध पा त्यों प्रदाता द्वारा दिया दान फले विविध ही।।५०/८६९।।

शब्दश: अर्थ : बलाहकात्=बादल से; एक-रसं=एक रस/स्वादवाला; विनिर्गतं=निकला हुआ; यथा=जैसे; पय:=जल; भूरि-रसं=अनेक रसवाला; निसर्गत:=स्वभाव से; विचित्रं=अनेक प्रकारवाले; आधारं=आधार को; अव्याप्य=पाकर; जायते=हो जाता है; तथा=उसी प्रकार; स्फुटं=वास्तव में; दानं=दान; अपि=भी; प्रदातृत:=प्रदाता से।

अन्वय : यथा बलाहकात् विनिर्गतं एक-रसं पय: निसर्गत: विचित्रं आधारं अव्याप्य भूरि-रसं जायते तथा प्रदातृत: विनिर्गतं दानं अपि निसर्गत: विचित्रं आधारं अवाप्य स्फुटं भूरि-रसं जायते।

वचनिका : जैसे—मेघ से निकला एक-रसमय जल, स्वभाव से ही नाना प्रकार के आधारों को प्राप्तकर अनेक रसमय हो जाता है; उसीप्रकार दाता से निकला दान भी प्रकटरूप से अनेक प्रकार के पात्रों को प्राप्तकर अनेक फलरूप परिणमता है।

भावार्थ : जैसे पात्र को दान देते हैं; उसीप्रकार का कर्म-बंध स्वयं ही हो जाता है—ऐसा जानना।।५०/८६९।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **घटे यथाऽऽमे सलिलं निवेशितं पलायते क्षिप्रमसौ च भिद्यते।**
तथा वितीर्णं विगुणाय निष्फलं प्रजायते दानमसौ च नश्यति।।५१/८७०।।

कच्चे घड़े का जल शीघ्र निकले घट को भी फोड़े त्यों नष्ट करता।
गुण-हीन पात्रों को और दाता वह दान भी नित निष्फल ही जाता।।५१/८७०।।

शब्दश: अर्थ : घटे=घड़े में; यथा=जैसे; आमे=कच्चे में; सलिलं=जल; निवेशितं=भरा हुआ; पलायते=निकल जाता है; क्षिप्रं=शीघ्र; असौ=वह/घड़ा; च=और; भिद्यते=फूट जाता है; तथा=उसीप्रकार; वितीर्णं=दिया गया; वि-गुणाय=गुण-रहित के लिए; नि:-फलं=फल-रहित; प्रजायते=होता है; दानं=दान; असौ=वह; च=और; नश्यति=नष्ट होता है।

अन्वय : यथा आमे घटे निवेशितं सलिलं क्षिप्रं पलायते च असौ (आम: घट:) भिद्यते तथा विगुणाय वितीर्णं दानं निष्फलं प्रजायते च असौ नश्यति।

वचनिका : जैसे—कच्चे घड़े में भरा हुआ जल शीघ्र निकल जाता है और घड़ा भी फूट जाता है; उसीप्रकार गुण-रहित व्यक्ति के लिए दिया गया दान निष्फल होता है और लेने (देने) वाला भी नाश को प्राप्त होता है, पाप-बंध करता है—ऐसा जानना।।५१/८७०।।

विधि के विना दान की निष्फलता को अब, सोदाहरण इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विना विवेकेन यथा तपस्विता यथा पटुत्वेन विना सरस्वती।**
तथा विधानेन विना वदान्यता न जायते शर्मकरी कदाचन।।५२/८७१।।

जैसे तपस्वीपन विन विवेक सरस्वती पटुता विन न सुख-कर।
त्यों दान-शीलत्व विधान के विन कभी किसी को भी नहीं सुख-कर।।५२/८७१।।

शब्दश: अर्थ : विना=रहित; विवेकेन=विवेक से; यथा=जैसे; तपस्विता=तपस्वीपना; यथा=जैसे; पटुत्वेन=पटुता/चतुराई से; विना=रहित; सरस्वती=विद्या; तथा=उसीप्रकार; विधानेन=विधान द्वारा; विना=रहित; वदान्यता=दान-शीलता; न=नहीं; जायते=होता है; शर्म-करी=सुख को करनेवाली; कदाचन=कभी।

अन्वय : यथा विवेकेन विना तपस्विता कदाचन शर्म-करी न जायते यथा पटुत्वेन विना सरस्वती कदाचन शर्म-करी न जायते तथा विधानेन विना वदान्यता कदाचन शर्म-करी न जायते।

वचनिका : जैसे—विवेक से रहित तपस्वीपना, चतुराई से रहित सरस्वती/विद्या कभी सुख-कारी नहीं होती है; उसीप्रकार पूर्वोक्त विधान से रहित दान-शीलता कभी सुख-कारी नहीं होती है।।५२/८७१।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण अपात्र को दान देने का फल निरूपित है—

उपजाति : **यथा वितीर्णं भुजगाय पावनं प्रजायते प्राणहरं विषं पय:।**
भवत्यपात्राय धनं गुणोज्ज्वलं तथा प्रदत्तं बहुदोषकारणम्।।५३/८७२।।

भुजग पिला पावन दुग्ध जैसे नित प्राण-हारक विष ही बड़ाता।
दें गुणों से उज्ज्वल धन अपात्र को बहुत दोषों का हेतु होता।।५३/८७२।।

शब्दश: अर्थ : यथा=जैसे; वितीर्णं=दिया/पिलाया गया; भुजगाय=सर्प के लिए; पावनं=पवित्र; प्रजायते=प्रकट होता है; प्राण-हरं=प्राणों का हरण करनेवाला; विषं=जहर; पय:=दुग्ध; भवति=होता है; अपात्राय=अपात्र के लिए; धनं=धन; गुण+उज्ज्वलं=गुणों से उज्ज्वल अथवा उज्ज्वल गुणों को करनेवाला; तथा=उसीप्रकार; प्रदत्तं=दिया गया; बहु-दोष-कारणं=अनेक दोषों का कारण।

अन्वय : यथा भुजगाय वितीर्णं पावनं पय: प्राण-हरं विषं प्रजायते तथा अपात्राय प्रदत्तं गुण-उज्ज्वलं धनं बहु-दोष-कारणं भवति।

वचनिका : जैसे—साँप के लिए दिया गया/पिलाया पवित्र दूध, प्राणों को हरनेवाला विष हो जाता है; उसीप्रकार अपात्र के लिए दिया गया गुणों से उज्ज्वल अथवा उज्ज्वल गुणों को करनेवाला धन, बहुत दोषों का कारण होता है।।५३/८७२।।

अब, इस पद्य द्वारा असंयत मिथ्यादृष्टिओं को दान देने का फल सोदाहरण प्ररूपित है—

उपजाति : **वितीर्य यो दानमसंयतात्मने जन: फलं काङ्क्षति पुण्यलक्षणम्।**
वितीर्य वीजं ज्वलिते स पावके समीहते सस्यमपास्तदूषणम्।।५४/८७३।।

असंयतात्मा को दान दे जो फल पुण्य लक्षण युत चाहता है।
जलते अनल में वह बीज बोकर निर्दोष धान्यादि चाहता है।।५४/८७३।।

शब्दश: अर्थ : वितीर्य=देकर; य:=जो; दानं=दान को; असंयत+आत्मने=असंयत आत्मा के लिए; जन:=मनुष्य; फलं=फल को; काङ्क्षति=चाहता है; पुण्य-लक्षणं=पुण्य लक्षणवाले; वितीर्य=बोकर; वीजं=बीज को; ज्वलिते=जलती हुई; स:=वह; पावके=अग्नि में; समीहते=चाहता है; सस्यं=धान्य को; अपास्त-दूषणं=दोष-रहित/उत्तम।

अन्वय : य: जन: असंयत-आत्मने दानं वितीर्य पुण्य-लक्षणं फलं काङ्क्षति स: ज्वलिते पावके वीजं वितीर्य अपास्त-दूषणं सस्यं समीहते।

वचनिका : जो मनुष्य असंयत-प्राणिओं को दान देकर पुण्य लक्षणवाले फल को चाहता है; वह जलती अग्नि में बीज को बोकर दूषण-रहित/उत्तम धान्य को चाहता है।

भावार्थ : विषय-कषायों से सहित मदोन्मत्त मिथ्यादृष्टिओं को दान देकर पुण्य चाहता है; परंतु वह होता नहीं है।

यहाँ असंयमी के लिए दान का निषेध किया है; परंतु इससे दु:खी जीवों को करुणा-दान का निषेध नहीं किया है—ऐसा जानना।।५४/८७३।।

अब, इसे ही सोदाहरण इस पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विमुच्य य: पात्रमवद्यविच्छिदे कुधीरपात्राय ददाति भोजनम्।**
स कर्षितं क्षेत्रमपोह्य सुन्दरं फलाय वीजं क्षिपते बतोपले।।५५/८७४।।

जो पाप-नाशन तज पात्र देता अपात्र को भोजन कुधी वह तज।
सुंदर जुते खेत को बीज बोता फल हेतु पत्थर पर हाय! खेद।।५५/८७४।।

शब्दश: अर्थ : विमुच्य=छोड़कर; य:=जो; पात्रं=पात्र को; अवद्य-विच्छिदे=पाप को नष्ट करने हेतु; कुधी:=खोटी बुद्धिवाला; अपात्राय=अपात्र के लिए; ददाति=देता है; भोजनं=भोजन; स:=वह; कर्षितं=जुते हुए; क्षेत्रं=खेत को; अपोह्य=छोड़कर; सुन्दरं=भली-भाँति; फलाय=फल के लिए; वीजं=बीज को; क्षिपते=डालता है; बत=हाय! खेद; उपले =पत्थर पर।

अन्वय : य: कुधी: अवद्य-विच्छिदे पात्रं विमुच्य अपात्राय भोजनं ददाति बत! स: फलाय सुन्दरं कर्षितं क्षेत्रं अपोह्य उपले वीजं क्षिपते।

वचनिका : जो व्यक्ति पाप का नाश करने के लिए पात्र को छोड़कर अपात्र को भोजन देता है; वहाँ आचार्य कहते हैं कि बड़े खेद की बात है कि वह फल के लिए सुंदर जुते हुए खेत को छोड़कर पत्थर पर बीज को डालता है।।५५/८७४।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मिथ्यादृष्टि के लिए दिए दान का फल वर्णित है—

उपजाति : **यथा रजोधारिणि पुष्टिकारणं विनश्यति क्षीरमलाबुनि स्थितम्।**
प्ररूढमिथ्यात्वमलाय देहिने तथा प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति।।५६/८७५।।

ज्यों धूल-धारक तुँबड़ी में स्थित मिटता सदा पोषक-युक्त दुग्ध।
मिथ्यात्व मल-व्यापी जीव को त्यों दिया हुआ धन मिटता सदैव।।५६/८७५।।

शब्दश: अर्थ : यथा=जैसे; रज:-धारिणि=धूल को धारण करनेवाली; पुष्टि-कारणं=पुष्टि का कारणभूत; विनश्यति=नष्ट हो जाता है; क्षीरं=दुग्ध; अलाबुनि=तुँबड़ी में; स्थितं=रखा गया; प्ररूढ-मिथ्यात्व-मलाय=मिथ्यात्वरूपी मल से लिप्त; देहिने=प्राणी के लिए; तथा=उसी प्रकार; प्रदत्तं=दिया गया; द्रविणं=धन; विनश्यति=नष्ट हो जाता है।

अन्वय : यथा रजोधारिणि अलाबुनि स्थितं पुष्टि-कारणं क्षीरं विनश्यति तथा प्ररूढ-मिथ्यात्व -मलाय देहिने प्रदत्तं द्रविणं विनश्यति।

वचनिका : जैसे—धूल से भरी हुई तूँबड़ी में रखा गया पुष्टि-कारणभूत दूध नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मल से ओत-प्रोत प्राणी को दिया गया द्रव्य नष्ट हो जाता है।

भावार्थ : जैसे—धूल भरी कड़वी तूँबड़ी में भरा दूध, नाश को प्राप्त होता है और कड़वेरूप परिणमित होता है; उसीप्रकार मिथ्या-दृष्टिओं को दिया धन, नाश को प्राप्त होता है और पाप-बंध करता है—ऐसा जानना।।५६/८७५।।

अब, इस पद्य द्वारा कामी व्यक्ति को दान देने का फल सोदाहरण प्ररूपित है—

शालिनी : **नो दातारं मन्मथाक्रान्तचित्त: सन्सारार्ते: पाति पापावलीढ:।**
अम्भोराशेर्दुस्तराल्लोहमय्या नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम्।।५७/८७६।।

कामासक्त पाप में लीन प्राणी दाता को भव कष्ट से नहिं बचाते।
दुस्तर सागर से करे पार लोहा लोहमई नौका नहीं कोई देखे।।५७/८७६।।

शब्दश: अर्थ : नो=नहीं; दातारं=दाता को; मन्मथ+आक्रान्त-चित्त:=काम से व्याप्त चित्तवाला; सन्सार+आर्ते:=संसार के कष्ट से; पाति=बचाता है; पाप+अवलीढ:=पाप में लव-लीन; अम्भो-राशे:=जल की राशि/समुद्र से; दुस्तरात्=जिससे पार होना अत्यधिक कठिन है—ऐसे; लोहमय्या=लोहे से बनी; नावा=नौका से; लोहं=लोहे को; तार्यमाणं=पार करता हुआ; न=नहीं; दृष्टं=देखा है।

अन्वय : मन्मथ-आक्रान्त-चित्त: पाप-अवलीढः दातारं सन्सार-आर्तेः नो पाति दुस्तरात् अम्भो-राशेः लोह-मय्या नावा लोहं तार्यमाणं न दृष्टम्।

वचनिका : काम से व्याप्त मनवाला, पाप-लीन प्राणी, दाता को संसार की पीड़ा से नहीं बचाता है; क्योंकि दुस्तर समुद्र से लोहमई नाव द्वारा लोहा तिराया गया नहीं दिखाई देता है।।५७/८७६।।

संसाररूपी शत्रु से बचाने में कौन समर्थ नहीं है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **ग्रन्थारम्भक्रोध-लोभादिपुष्टो ग्रन्थारम्भक्रोध-लोभादिपुष्टम्।**
जन्माराते रक्षितुं तुल्यदोषो नूनं शक्तो नो गृहस्थो गृहस्थम्।।५८/८७७।।

परिग्रह आरंभ क्रोध लोभादि पुष्ट गृहस्थ नहिं परिग्रह क्रोध लोभ।
आरंभादि पुष्ट गृहस्थ रक्षण भव-शत्रु से शक्त हैं तुल्य-दोष।।५८/८७७।।

शब्दशः अर्थ : ग्रन्थ-आरम्भ-क्रोध-लोभ+आदि-पुष्टः=परिग्रह, आरंभ, क्रोध, लोभ आदि से पुष्ट; ग्रन्थ-आरम्भ-क्रोध-लोभ-आदि-पुष्टं=परिग्रह, आरंभ, क्रोध, लोभ आदि से पुष्ट को; जन्म+आरातेः=संसाररूपी शत्रु से; रक्षितुं=बचाने में; तुल्य-दोषः=समान दोषवाला; नूनं=वास्तव में; शक्तः=समर्थ; नो=नहीं; गृहस्थः=गृहस्थ; गृहस्थं=गृहस्थ को।

अन्वय : ग्रन्थ-आरम्भ-क्रोध-लोभ-आदि-पुष्टः तुल्य-दोषः गृहस्थः ग्रन्थ-आरम्भ-क्रोध, लोभ-आदि-पुष्टं गृहस्थं जन्म-आरातेः रक्षितुं नूनं शक्तः नो।

वचनिका : यहाँ आचार्य तर्क कर कहते हैं कि अहो! परिग्रह, आरंभ, क्रोध, लोभ इत्यादि से पुष्ट, गृहस्थ के समान दोषवाले, गृहस्थ, परिग्रह-धारी गुरु; परिग्रह, आरंभ, क्रोध, लोभ आदि से पुष्ट गृहस्थ की संसाररूपी बैरी से रक्षा करने में वास्तव में समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ : परिग्रह आदि दोषों से सहित जैसा दाता है; उसीप्रकार पात्र है। वह दोष-सहित पात्र, उसका कैसे क्या भला करेगा? इसप्रकार आचार्य ने तर्क किया है—ऐसा जानना।।५८/८७७।।

कौन किसका उद्धार कर सकता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

स्वागता : **लोभमोहमद-मत्सरहीनो लोभमोहमदमत्सरगेहम्।**
पाति जन्मजलधेरपरागो रागवन्तमपहस्तितपापः।।५९/८७८।।

लोभ मोह मद मत्सर-हीन पाप-रहित विन-रागी करते।
रक्षण लोभ मोह मद मत्सर राग-सहित का भव-सागर से।।५९/८७८।।

शब्दश: अर्थ : लोभ-मोह-मद-मत्सर-हीन:=लोभ, मोह, मान, ईर्ष्या से रहित; लोभ-मोह-मद-मत्सर-गेहं=लोभ, मोह, मान, ईर्ष्या के घर को; पाति=रक्षा करता है; जन्म-जलधे:=संसार-सागर से; अपराग:=राग से रहित; रागवन्तं=रागवान को; अपहस्तित-पाप:=पाप से पूर्णतया रहित।

अन्वय : लोभ-मोह-मद-मत्सर-हीन: अपराग: अपहस्तित-पाप: लोभ-मोह-मद-मत्सर-गेहं रागवन्तं जन्म-जलधे: पाति।

वचनिका : पाप को दूर करनेवाले, वीतराग, लोभ-मोह-मद-मत्सर भावों से रहित पात्र; लोभ, मोह, मद, मत्सर भावों के घर, रागी प्राणी की संसार-सागर से रक्षा करता है।

भावार्थ : रागी जीव को तारने के लिए वीतरागी ही समर्थ है; अन्य नहीं—ऐसा जानना।।५९/८७८।।

दोष-सहित को धन देने का फल अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

स्वागता : *__सर्वदोषनिचिताय फलार्थी यो ददाति धनमस्तविचार:।__

तद्दधाति स मलिम्लुच-हस्ते कानने पुनरपि ग्रहणाय।।६०/८७९।।

सभी दोषवाले को देता फल-अर्थी विचार विन जो धन।

वह फिर से लेने को वन में चोर-हाथ में देता स्व-धन।।६०/८७९।।

शब्दश: अर्थ : सर्व/भूरि-दोष-निचिताय=सभी/अनेकानेक दोषों से परिपूर्ण के लिए; फल+अर्थी=फल का इच्छुक; य:=जो; ददाति=देता है; धनं=धन को; अस्त-विचार:=विचार-रहित; तत्=वह; दधाति=सोंपता है; स:=वह; मलिम्लुच-हस्ते=चोर के हाथ में; कानने=वन में; पुन:=फिर से; अपि=भी; ग्रहणाय=लेने के लिए।

अन्वय : फल-अर्थी अस्त-विचार: य: सर्व/भूरि-दोष-निचिताय धनं ददाति स: पुन: अपि ग्रहणाय कानने मलिम्लुच-हस्ते तत् दधाति।

वचनिका : फल का इच्छुक विचार-रहित जो व्यक्ति, सभी दोषों से परिपूर्ण व्यक्ति के लिए धन देता है; वह फिर से पाने के लिए वन में चोरों के हाथ में उस धन को सोंपता है।।६०/८७९।।

दान के फल में क्या/कैसा भाव होना, योग्य है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

* भूरि – इति पाठान्तरम्।

उपजाति : **दानं यतिभ्यो ददता विधानतो मतिर्विधेया भवदु:खशान्तये।**

दुरन्तसंसारपयोधि-पातिनी न भोग-बुद्धिर्मनसाऽपि धीमता।।६१/८८०।।

विधान से देते दान मुनि को भव-दु:ख-क्षय की ही मति-योग्य।

दुरंत भव-सागर पतन-कारी मन भोग-बुद्धि धीमान अयोग्य।।६१/८८०।।

शब्दश: अर्थ : दानं=दान को; यतिभ्य:=मुनिओं के लिए; ददता=देते हुए; विधानत:=विधि पूर्वक; मति:=बुद्धि; विधेया=करने-योग्य है; भव-दु:ख-शान्तये=संसार के दु:खों की शांति के लिए; दुरन्त-सन्सार-पयोधि-पातिनी=कठिनता पूर्वक समाप्त होनेवाले संसाररूपी समुद्र में गिरानेवाली; न=नहीं; भोग-बुद्धि:=भोगों की बुद्धि; मनसा=मन से; अपि=भी; धीमता=बुद्धिमान द्वारा।

अन्वय : यतिभ्य: विधानत: दानं ददता धीमता भव-दु:ख-शान्तये मति: विधेया दुरन्त-सन्सार-पयोधि-पातिनी भोग-बुद्धि: मनसा अपि न विधेया।

वचनिका : यतिओं के लिए विधान-सहित/विधि पूर्वक दान देते हुए बुद्धिमान द्वारा सांसारिक दु:ख की शांति के लिए बुद्धि करने-योग्य है; परंतु कठिनाई से समाप्त होनेवाले संसार-समुद्र में गिरानेवाले भोगों की बुद्धि, उस बुद्धिमान द्वारा मन से भी करने-योग्य नहीं है।

भावार्थ : दान देकर परमार्थ ही की बुद्धि करनी चाहिए; भोगों की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए।।६१/८८०।।

दान के फल में भोग चाहनेवाला कैसा है? इसका उत्तर सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

उपजाति : **प्रदाय दानं व्रतिनां महात्मनां यो याचते भोगमनर्थ-कारणम्।**

मनीषितानेक-सुख-प्रदं मणिं प्रदाय गृह्णाति स दुर्जरं विषम्।।६२/८८१।।

व्रती महात्मा को दान देकर जो माँगता भोग अनर्थ-कारण।

वांक्षित अनेकों सुख-प्रद मणि को दे ग्रहण करता वह विष हलाहल।।६२/८८१।।

शब्दश: अर्थ : प्रदाय=देकर; दानं=दान को; व्रतिनां=व्रतिओं के; महात्मनां=महात्माओं के; य:=जो; याचते=माँगता है; भोगं=भोग को; अन्+अर्थ-कारणं=अनर्थ के कारण; मनीषित+अनेक-सुख-प्रदं=चाहे हुए अनेकों सुख-देनेवाले मणि को; प्रदाय=देकर; गृह्णाति= ग्रहण करता है; स:=वह; दुर्जरं=हलाहल; विषं=विष को।

अन्वय : य: महात्मनां व्रतिनां दानं प्रदाय अनर्थ-कारणं याचते स: मनीषित-अनेक-सुख-प्रदं मणिं प्रदाय दुर्जरं विषं गृह्णाति।

वचनिका : जो व्यक्ति, महात्मा व्रतिओं को दान देकर अनर्थ के कारणभूत भोग को चाहता है; वह वांक्षित अनेकों सुख देनेवाले मणि को देकर दुर्जर/हलाहल विष को ग्रहण करता है।।६२/८८१।।

बुद्धिमान, भोग नहीं चाहते हैं; इसे सहेतुक अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

स्रग्विणी : **पन्नगानामिव प्राणि-वित्रासिनामर्जने रक्षणे पोषणे सेवने।**

याति घोराणि दु:खानि येषां जन: सन्ति भोगा: कथं ते मता: धीमताम्।।६३/८८२।।

प्राणिओं को दुखद सर्प-सम भोग हैं जिनके अर्जन रक्षण पोषण में।

भोगने में महा दु:ख पाता रहे बुद्धिमानों को स्वीकृत वे कैसे कहें?।।६३/८८२।।

शब्दश: अर्थ : पन्नगानां=सर्पों के; इव=समान; प्राणि-वित्रासिनां=प्राणिओं को बहुत कष्ट देनेवाले; अर्जने=एकत्रित करने में; रक्षणे=रक्षा करने में; पोषणे=पुष्ट करने में; सेवने=सेवन करने/भोगने में; याति=प्राप्त होता है; घोराणि=घोर/भयानक; दु:खानि=दु:खों को; येषां= जिनके; जन:=प्राणी; सन्ति=हैं; भोगा:=भोग; कथं=कैसे; ते=वे; मता:=स्वीकार हैं; धीमतां=बुद्धिमानों को।

अन्वय : येषां अर्जने रक्षणे पोषणे सेवने जन: घोराणि दु:खानि याति प्राणि-वित्रासिनां पन्नगानां इव ते भोगा: धीमतां कथं मता: सन्ति?

वचनिका : जिनके अर्जन, रक्षण, पोषण, सेवन में प्राणी भयानक दु:खों को प्राप्त होता है; प्राणिओं को दु:ख देनेवाले सर्पों के समान वे भोग, बुद्धिमानों को मान्य कैसे हो सकते हैं?

भावार्थ : बुद्धिमान, भोगों को सुख-कारी कैसे मान सकते हैं? अपितु नहीं मानते हैं। वे उन्हें महा कष्ट-कारी ही मानते हैं।।६३/८८२।।

अब, इसे ही पुष्ट करने हेतु इस पद्य द्वारा भोगों का स्वभाव वर्णित है—

उपजाति : **श्रद्धीयमाणा अपि वञ्चयन्ते निषेव्यमाणा अपि मारयन्ते।**

ये पोष्यमाणा अपि पीडयन्ते ते सन्ति भोगा: कथमर्थनीया:।।६४/८८३।।

प्रीति किए भी ठगते सदा हैं सेवन किए भी नित मारते हैं।

पोषे गए भी जो कष्ट देते हैं चाह-योग्य वे भोग कैसे?।।६४/८८३।।

शब्दश: अर्थ : श्रद्धीयमाणा:=प्रीति किए गए; अपि=भी; वञ्चयन्ते=ठगते हैं; निषेव्यमाणा:= सेवन किए गए; अपि=भी; मारयन्ते=मारते हैं; ये=जो; पोष्यमाणा:=पोषे गए; अपि=भी; पीडयन्ते=पीड़ा उत्पन्न करते हैं; ते=वे; सन्ति=हैं; भोगा:=भोग; कथं=कैसे; अर्थनीया:=इच्छा करने-योग्य।

अन्वय : ये भोगा: श्रद्धीयमाणा: अपि वञ्चयन्ते निषेव्यमाणा: अपि मारयन्ते पोष्यमाणा: अपि पीडयन्ते ते भोगा: अर्थनीया: कथं सन्ति।

वचनिका : जो भोग प्रीति किए गए भी ठगते हैं, सेवन किए गए भी मारते हैं, पोषे गए भी पीड़ा उत्पन्न करते हैं; वे भोग, वांक्षा के योग्य कैसे हो सकते हैं? अपितु नहीं होते हैं।।६४/८८३।।

इंद्रिय-भोग, वांछा-योग्य क्यों नहीं हैं? इसे अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **उत्पद्यमाना निलयं स्वकीयं ये हव्यवाहा इव धार्यमाणा:।**
प्रप्लोषयन्ते हृदयं ज्वलन्तस्ते याचनीया: कथमिन्द्रियार्था:।।६५/८८४।।

जलती प्रकट आग जलाए निज घर त्यों प्रकट हो मन में भोग इच्छा।
उर नित जलाती तब योग्य कैसे हो इंद्रियों के भोगों की इच्छा?।।६५/८८४।।

शब्दश: अर्थ : उत्पद्यमाना:=उत्पन्न होनेवाले; निलयं=घर को; स्वकीयं=अपने; ये=जो; हव्यवाहा:=अग्नि; इव=समान; धार्यमाणा:=धारण करनेवाली/जलानेवाली; प्रप्लोषयन्ते= जलाते हैं; हृदयं=हृदय को; ज्वलन्त:=जलते हुए; ते:=वे; याचनीया:=माँगने/चाहने-योग्य; कथं=कैसे; इंद्रिय+अर्था:=इंद्रियों के विषय।

अन्वय : धार्यमाणा: उत्पद्यमाना: स्वकीयं निलयं हव्यवाहा: प्रप्लोषयन्ते इव ये धार्यमाणा: ज्वलन्त: हृदयं प्रप्लोषयन्ते ते इन्द्रिय-अर्था: याचनीया: कथम्?

वचनिका : जैसे—जाज्वल्यमान प्रकट हुई अग्नि अपने स्थान को जलाती है; उसीप्रकार जो भोग, इच्छा किए गए प्रकट हुए मन में जलते हुए हृदय को जलाते हैं; इंद्रियों के वे भोग, वांक्षा के योग्य कैसे हो सकते हैं?।।६५/८८४।।

अब, इस पद्य द्वारा भोग की ज्वर के साथ समानता वर्णित है—

उपजाति : **दत्तप्रलापभ्रम-शोक-मूर्छा: सन्तापयन्त: सकलं शरीरम्।**
ये दुर्निवारां जनयन्ति तृष्णां ज्वरा इवैते न सुखाय सन्ति।।६६/८८५।।

जो दें प्रलाप भ्रम शोक मूर्छा संपूर्ण तन को संतप्त करते।
पैदा करें दुर्नीवार तृष्णा ज्वर-वत् ये भोग सुख हेतु नहिं हैं।।६६/८८५।।

शब्दश: अर्थ : दत्त-प्रलाप-भ्रम-शोक-मूर्छा:=प्रलाप अर्थात् व्यर्थ की बकवाद, भ्रम अर्थात् और का और जानना, शोक, मूर्छा अर्थात् अचेतनपना/बेहोशी देनेवाले; सन्तापयन्त:=संतप्त करते हुए; सकलं=संपूर्ण; शरीरं=देह को; ये=जो; दुर्निवारां=कठिनता से नष्ट होनेवाली; जनयन्ति=उत्पन्न करते हैं; तृष्णां=तृष्णा/लालसा को; ज्वरा:=ज्वरों/बुखार; इव=समान; एते=ये; न=नहीं; सुखाय=सुख के लिए; सन्ति=हैं।

अन्वय : ज्वरा: इव ये दत्त-प्रलाप-भ्रम-शोक-मूर्छा: सकलं शरीरं सन्तापयन्त: दुर्निवारां तृष्णां जनयन्ति एते सुखाय न सन्ति।

वचनिका : ज्वर के समान जिन्होंने प्रलाप अर्थात् वृथा बकवाद, भ्रम अर्थात् और का और जानना, शोक और अचेतनपना दिया है; संपूर्ण शरीर को संताप उत्पन्न करनेवाले और दुर्निवार तृष्णा को उत्पन्न करनेवाले वे भोग, सुख के लिए नहीं हैं।।६६/८८५।।

अब, इस पद्य द्वारा मुनि को दान दे भोगों की चाहरूप अज्ञानता को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विश्राण्य दानं कुधियो यतिभ्यो ये प्रार्थयन्ते विषयोपभोगम्।**
ते लाङ्गलैर्गां खलु काञ्चनीयैर्विलिख्य किम्पाकवनं बपन्ति।।६७/८८६।।

विषयोपभोग चाहें मुनि को दे दान दुर्बुद्धि जो हैं बोते।
किंपाक वन बहु दुख-दाह स्वर्णिम हल से जुताईकर भूमि में वे।।६७/८८६।।

शब्दश: अर्थ : विश्राण्य=देकर; दानं=दान को; कुधिय:=कुबुद्धि; यतिभ्य:=मुनिओं के लिए; ये=जो; प्रार्थयन्ते=चाहते हैं; विषय-उपभोगं=विषयों के उपभोग को; ते=वे; लाङ्गलै: =हल द्वारा; गां=भूमि को; खलु=वास्तव में; काञ्चनीयै:=स्वर्ण-निर्मित; विलिख्य= जोतकर; किम्पाक-वनं=किंपाक के वन को; बपन्ति=बोते हैं।

अन्वय : यतिभ्य: दानं विश्राण्य ये कुधिय: विषय-उपभोगं प्रार्थयन्ते खलु ते काञ्चनीयै: लाङ्गलै: गां विलिख्य किम्पाक-वनं बपन्ति।

वचनिका : यतिओं के लिए दान देकर जो कुबुद्धि, विषयों के भोग-उपभोग को चाहते हैं; वे स्वर्णमई हल द्वारा पृथ्वी को जोतकर किंपाक के वन को बोते हैं।

भावार्थ : किंपाक का फल खाने में तो प्रिय लगता है; परंतु बाद में प्राण-हरण करता है; उसीप्रकार विषय भी भोगते समय तो अच्छे लगते हैं; परंतु परिपाक में महा-दु:ख देते हैं; अत: यह दृष्टांत दिया है।।६७/८८६।।

भोगों के लिए दान देने की अज्ञानता को अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **भिन्दन्ति सूत्राय मणिं महार्घं काष्ठाय ते कल्पतरुं लुनन्ति।**
नावं च लोहाय विपाटयन्ते भोगाय दानं ननु ये ददन्ते।।६८/८८७।।

जो भोग हेतु दें दान फोड़ें वे सूत्र हेतु बहु-मूल्य मणि को।
वे काष्ठ हेतु तरु-कल्प काटें लोहार्थि हो तोड़ें नाव ही को।।६८/८८७।।

शब्दश: अर्थ : भिन्दन्ति=फोड़ते हैं; सूत्राय=डोरे/धागे के लिए; मणिं=मणि को; महा+अर्घं

=बहु-मूल्य; काष्ठाय=लकड़ी के लिए; ते=वे; कल्प-तरुं=कल्प-वृक्ष को; लुनन्ति=काटते हैं; नावं=नौका को; च=और; लोहाय=लोहे के लिए; विपाटयन्ते=तोड़ते हैं; भोगाय=भोग के लिए; दानं=दान को; ननु=वास्तव में; ये=जो; ददन्ते=देते हैं।

अन्वय : ये भोगाय दानं ददन्ते ननु ते सूत्राय महार्घं मणिं भिन्दन्ति ते काष्ठाय कल्प-तरुं लुनन्ति च लोहाय नावं विपाटयन्ते।

वचनिका : आचार्य तर्क करते हैं कि जो व्यक्ति भोगों के लिए दान देते हैं; वास्तव में वे डोरा/धागा के लिए महा-मूल्यवान रत्न को फोड़ते हैं; काष्ठ/लकड़ी के लिए कल्प-वृक्ष को काटते हैं और लोहा के लिए जहाज को तोड़ते हैं।।६८/८८७।।

विषयों के लिए धर्म करने की अज्ञानता को अब, सोदाहरण इस पद्य द्वारा बताते हैं—

उपजाति : **परैरशक्यं दमितेन्द्रियाश्वाश्चरन्ति धर्मं विषयार्थिनो ये।**
पाषाणमाधाय गले महान्तं विशन्ति ते तीरमलभ्यपारम्।।६९/८८८।।

अशक्य अन्यों से अक्ष-हय के दमकार जो विषयों हेतु धर्म।
करते गले पर चट्टान धर वे चाहें उतरना निस्सीम सागर।।६९/८८८।।

शब्दशः अर्थ : परैः=दूसरों के द्वारा; अशक्यं=नहीं कर सकने-योग्य; दमित+इन्द्रिय+अश्वाः= इंद्रियरूपी घोड़ों का दमन करनेवाले; चरन्ति=आचरण करते हैं; धर्मं=धर्म को; विषय+अर्थिनः =विषयों के इच्छुक होते हुए; ये=जो; पाषाणं=पत्थर को; आधाय=धारणकर; गले=कंठ पर; महान्तं=बहुत विशाल; विशन्ति=प्रवेश करते हैं; ते=वे; तीरं=जल/समुद्र को; अलभ्य-पारं=पार नहीं पाने-योग्य।

अन्वय : दमित-इन्द्रिय-अश्वाः ये विषय-अर्थिनः परैः अशक्यं धर्मं चरन्ति ते गले महान्तं पाषाणं आधाय अलभ्य-पारं तीरं विशन्ति।

वचनिका : इंद्रियरूपी घोड़ों का दमन करनेवाले जो पुरुष विषयों के इच्छुक होते हुए अन्य द्वारा अशक्य धर्म का आचरण करते हैं; वे बड़े-बड़े पत्थरों को गले पर धारणकर पार नहीं पाने-योग्य जल में प्रवेश करते हैं।।६९/८८८।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक भोगों की इच्छा का निषेध वर्णित है—

उपजाति : **दिने दिने ये परिचर्यमाणा विवर्धमानाः परिपीडयन्ते।**
ते कस्य रोगा इव सन्ति भोगा विनिन्दनीया विदुषोऽर्थनीयाः।।७०/८८९।।

प्रत्येक दिन भोगे भोग रोगों-वत् नित बड़ाते बहु कष्ट घोर।
निंदित सदा वे विद्वान को हों कैसे कभी वांक्षा-योग्य भोग?।।७०/८८९।।

शब्दश: अर्थ : दिने-दिने=प्रति-दिन; ये=जो; परिचर्यमाणा:=सेवन किए गए; विवर्धमाना:= बड़े हुए; परिपीडयन्ते=बहुत कष्ट देते हैं; ते=वे; कस्य=किसका; रोगा:=रोग; इव=समान; सन्ति=हैं; भोगा:=भोग; विनिन्दनीया:=विशेष निंदा के योग्य; विदुष:=विद्वान/ज्ञानी का; अर्थनीया:=चाहने-योग्य।

अन्वय : दिने-दिने परिचर्यमाणा: ये भोगा: विवर्धमाना: रोगा: इव परिपीडयन्ते विनिन्दनीया: ते भोगा: कस्य विदुष: अर्थनीया: सन्ति?

वचनिका : प्रति-दिन भोगे गए जो भोग बड़े हुए रोग के समान घोर पीड़ा उत्पन्न करते हैं; वे निंदनीय भोग, किस पंडित को कामना के योग्य हो सकते हैं? किसी को भी नहीं।।७०/८८९।।

भोग किसी के लिए भी सुख-दायक नहीं हैं; यह अब, सोदाहरण इस पद्य द्वारा निरूपित है —

भुजंग-प्रयात : **प्रयच्छन्ति सौख्यं सुराधीश्वरेभ्यो, न ये जातु भोगा: कथं ते परेभ्य:।**
निशुम्भन्ति ये मत्तमत्र द्विपेन्द्रं, न कण्ठीरवास्ते कुरङ्गं त्यजन्ति।।७१/८९०।।

जो भोग इंद्रों को देते न किंचित्, सुख तब वे कैसे दें सामान्य जन को?
जो सिंह मत्त गजेंद्रों को मारें, यहाँ छोड़ दें वे कभी क्या हिरण को?।।७१/८९०।।

शब्दश: अर्थ : प्रयच्छन्ति=देते हैं; सौख्यं=सुख को; सुर+अधि+ईश्वरेभ्य:=देवों के नायक/इंद्रों के लिए; न=नहीं; ये=जो; जातु=रंच-मात्र; भोगा:=भोग; कथं=कैसे; ते=वे; परेभ्य:=दूसरों के लिए; निशुम्भन्ति=मारते हैं; ये=जो; मत्तं=मतवाले; अत्र=यहाँ; द्विपेन्द्रं= हाथी के नेता को; न=नहीं; कण्ठीरवा:=सिंह; ते=वे; कुरङ्गं=हिरण को; त्यजन्ति=छोड़ते हैं।

अन्वय : ये भोगा: सुर-अधीश्वरेभ्य: जातु सौख्यं न प्रयच्छन्ति ते परेभ्य: कथं? ये कण्ठीरवा: अत्र मत्तं द्विपेन्द्रं निशुम्भन्ति ते कुरङ्गं न त्यजन्ति।

वचनिका : जो भोग देवों के नायक इंद्रों के लिए भी रंच-मात्र सुख नहीं देते हैं; वे अन्यों के लिए उसे कैसे दे सकते हैं? यहाँ दृष्टांत देते हैं—इस लोक में जो सिंह, मतवाले गजेंद्र को मारते हैं; वे, हिरण को नहीं छोड़ते हैं।।७१/८९०।।

ज्ञानी को भोगों की इच्छा रंच-मात्र नहीं करना चाहिए; यह अब, सोदाहरण इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

उपजाति : **न याचनीया विदुषेति दोषं विज्ञाय रोगा इव जातु भोगा:।**
किं प्राणहारित्वमवेक्षमाणो जिजीविषु: खादति कालकूटम्।।७२/८९१।।

विद्वान को रोग-समान भोग वांक्षित न रंच सब समझ दोष।

क्या प्राण-हारीपन देख खाता जीने का इच्छुक कब कालकूट?।।७२/८९१।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; याचनीया:=याचना-योग्य; विदुषा=विद्वान द्वारा; इति=इसप्रकार; दोषं=दोष को; विज्ञाय=भली-भाँति जानकर; रोगा:=रोग; इव=समान; जातु=रंच-मात्र; भोगा:=भोग; किं=क्या; प्राण-हारित्वं=प्राणों को नष्ट करनापना; अवेक्षमाण:=देखता हुआ; जिजीविषु:=जीवन को चाहनेवाला; खादति=खाता है; कालकूटं=हलाहल जहर को।

अन्वय : इति दोषं विज्ञाय विदुषा रोगा: इव भोगा: जातु न याचनीया:; प्राण-हारित्वं अवेक्षमाण: जिजीविषु: किं कालकूटं खादति?

वचनिका : इसप्रकार दोष को जानकर पंडित-जन द्वारा रोग के समान भोग रंच-मात्र चाहने-योग्य नहीं हैं। इसके लिए यहाँ दृष्टांत देते हैं— प्राण-हारीपना/मृत्यु का कारण देखते हुए जीवन का वांक्षक व्यक्ति क्या कालकूट को खाता है? अपितु नहीं खाता है।।७२/८९१।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: उसे ही स्पष्ट करते हैं—

स्रग्धरा : **भोगा: सम्पद्यमाना: सुरमनुजभवाश्चिन्तितप्राप्तसौख्या,**

याच्यन्ते लब्धुकामै: कथमपि विपदं धर्मतो मुक्तिकान्ताम्।

सस्यं स्वीकर्तु-कामा: क्षुदुरुतरतमस्काण्ड-विच्छेद-दक्षं,

स्वीकर्तुं किं पलालं फलममलधिय: कुर्वते कर्षणं हि।।७३/८९२।।

धर्म से मोक्ष-लक्ष्मी पाने इच्छुक विपत्तिमय सतत भोग,

सुर-नर-भव के स-चिंतित सहज मिले सब चाहे क्यों अन्य सौख्य?

क्षुत्पीड़ा घोर तम के नाशन में दक्ष धान्य का है जो इच्छुक,

ज्ञानी करता कृषि क्या पाने को नित्य दूसरा फल पुलाल?।।७३/८९२।।

शब्दश: अर्थ : भोगा:=भोग; सम्पद्यमाना:=प्राप्त हुए; सुर-मनुज-भवा:=देवों और मनुष्यों में होनेवाले; चिन्तित-प्राप्त-सौख्या:=चाहे हुए प्राप्त सुखमय; याच्यन्ते=चाहते हैं; लब्धु-कामै:=प्राप्त करने के इच्छुक; कथं=कैसे; अपि=भी; विपदं=विपत्तिरूप अथवा 'अपविपदं' भी पाठ है, जिसका अर्थ है विपत्ति से रहित; धर्मत:=धर्म से; मुक्ति-कान्तां=मोक्षरूपी स्त्री को; सस्यं=धान्य को; स्वीकर्तु-कामा:=ग्रहण करने का इच्छुक; क्षुत्+उरुतर-तम:-काण्ड-विच्छेद-दक्षं=क्षुधा/भूख की घोर पीड़ामय अंधकार के समूह का नाश करने में प्रवीण; स्वीकर्तुं=स्वीकार करने के लिए; किं=क्या; पलालं=पुलाल/पियार; फलं=फल को; अमल-धिय:=निर्मल बुद्धिवाला; कुर्वते=करता है; कर्षणं=खेती; हि=वास्तव में।

अन्वय : धर्मत: अपविपदं मुक्ति-कान्तां लब्धु-कामै: चिन्तित-प्राप्त-सौख्या: सुर-मनुज-भवा: सम्पद्यमाना: अपि विपदं भोगा: कथं याच्यन्ते; क्षुत्-उरुतर-तम:-काण्ड-विच्छेद-दक्षं सस्यं स्वीकर्तु:-कामा: अमल-धिय: हि पलालं फलं स्वीकर्तुं किं कर्षणं कुर्वते?

वचनिका : धर्म से सभी आपत्तिओं से रहित मुक्ति-स्त्री को प्राप्त करने के इच्छुक पुरुष द्वारा वांक्षित प्राप्त हुए सुख-संपन्न देव और मनुष्य भव संबंधी विपत्तिओंरूप सहज प्राप्त भोग भी कैसे चाहे जा सकते हैं? वे उन्हें कभी भी नहीं चाहते हैं। क्षुधा की पीड़ारूपी महा अंधकार के समूह का छेदन करने में प्रवीण धान्य को अंगीकार करने का इच्छुक निर्मल-बुद्धिमान व्यक्ति, क्या पलालरूपी फल को अंगीकार करने के लिए खेती करता है? अपितु नहीं करता है।

भावार्थ : जैसे — खेती में मुख्य फल तो धान्य है; पियार आदि तो स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं; उसीप्रकार धर्म का फल तो मोक्ष है। इंद्रादि पद तो विना चाहे शुभोपयोग से स्वयमेव उत्पन्न हो जाते हैं; अत: उन इंद्रादि पद के लिए धर्म की कामना, योग्य नहीं है।।७३/८९२।।

मुनिओं के लिए दिए गए निष्कांक्षित दान का फल अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

स्रग्धरा : **त्यक्त्वा भोगाभिलाषं भव-मरण-जरारण्य-निर्मूलनार्थं,**
दत्ते दानं मुदा यो नय-विनय-पर: संयतेभ्यो यतिभ्य:।
भुक्त्वा भोगानरोगानमरवर-वधूलोचनाम्भोज-भानु-
र्नित्यां निर्वाण-लक्ष्मीममितगति-यतिप्रार्थनीयां स याति।।७४/८९३।।

जन्म जरा मृत्यु वन क्षय करने को नय विनय में सु तत्पर,
भोगेच्छा तज सुसंयत यति को हर्षित हो सदा देवे दान।
देवी-लोचन-सुपंकज-रवि-वत् वह सब निरोग भोग स्वर्ग भोग,
यति वांक्षित पा जाता अमितगति हो सिद्धि शिव सौख्य नित्य।।७४/८९३।।

शब्दश: अर्थ : त्यक्त्वा=छोड़कर; भोग+अभिलाषं=भोगों की इच्छा को; भव-मरण-जरा +अरण्य-नि:-मूलन+अर्थं=जन्म, मरण, बुढापारूपी वन का क्षय करने के लिए; दत्ते=देता है; दानं=दान को; मुदा=प्रसन्नता पूर्वक; य:=जो; नय-विनय-पर:=नीति और विनय में तत्पर; संयतेभ्य:=संयम-संपन्न; यतिभ्य:=मुनि के लिए; भुक्त्वा=भोगकर; भोगान्=भोगों को; अरोगान्=रोग-रहित; अमर-वर-वधू-लोचन+अम्भोज-भानु:=देवों की श्रेष्ठ स्त्रिओं/देवांगनाओं के नयनरूपी कमलों को विकसित करने हेतु सूर्य-सम; नित्यां=अविनाशी; निर्वाण-लक्ष्मीं=मोक्षरूपी लक्ष्मी को; अमित-गति-यति-प्रार्थनीयां=असीम-ज्ञान-संपन्न यतिओं द्वारा वांक्षा के योग्य को; स:=वह; याति=प्राप्त होता है।

अन्वय : नय-विनय-पर: य: भव-मरण-जरा-अरण्य-निर्मूलन-अर्थं भोग-अभिलाषं त्यक्त्वा मुदा संयतेभ्य: यतिभ्य: दानं दत्ते अमर-वर-वधू-लोचन-अम्भोज-भानु: स: अरोगान् भोगान् भुक्त्वा नित्यां अमित-गति-यति-प्रार्थनीयां निर्वाण-लक्ष्मीं याति।

वचनिका : नीति और विनय में तत्पर जो व्यक्ति जन्म, जरा और बुढापारूपी वन का क्षय करने के लिए भोगों की वांक्षा का त्यागकर सहर्ष संयमी मुनीश्वरों के लिए दान देता है; वह देवांगनाओं के नयन-कमलों को सूर्य-सम देव हो रोग-रहित भोगों को भोग, अविनाशी, असीम ज्ञानवाले या अमित-गति नामक यति द्वारा वांक्षा के योग्य मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त होता है।।७४/८९३।।

दोहा : **भोग चाह तजि साधु कौं देत दान जो जीव।**
सुर सुख सब लहि अमित-गति होय मोक्ष-तिय पीव।।

अर्थ : जो जीव भोगों की चाह छोड़कर साधुओं को दान देता है; वह देवों के सभी सुख प्राप्त कर अमित-गति मोक्षरूपी स्त्री का प्रिय/सिद्ध हो जाता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में दशवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।१०।।

एकादश परिच्छेद

यहाँ सर्व-प्रथम तेरह पद्यों द्वारा अभय-दान का माहात्म्य पूर्वक फल वर्णित है।

उनमें से इस पद्य द्वारा अभय-दान का फल बताने की असमर्थता प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **फलं नाभय-दानस्य वक्तुं केनापि पार्यते।**
यस्याऽऽकल्पं मुखे जिह्वा व्याप्रियन्ते सहस्रश:।।१/८९४।।

कल्प-काल तक मुख में हजारों जीभ-युक्त भी।
अभय-दान के फल को कहने में सक्षम नहीं।।१/८९४।।

शब्दश: अर्थ : फलं=फल को; न=नहीं; अभय-दानस्य=अभय-दान का; वक्तुं=कहने के लिए; केन=किसी से; अपि=भी; पार्यते=पार पाया जा सकता है; यस्य=जिसका; आ-कल्पं=कल्प-काल पर्यंत; मुखे=मुख में; जिह्वा=जीभ; व्याप्रियन्ते=व्यापार/प्रयास किया जाने पर; सहस्रश:=हजारों।

अन्वय : आकल्पं मुखे सहस्रश: जिह्वा व्याप्रियन्ते यस्य अभय-दानस्य फलं वक्तुं केन अपि न पार्यते।

वचनिका : कल्प-काल पर्यंत मुख में हजारों जीभों द्वारा व्यापार किया जाने पर भी जिस अभय-दान का फल कहने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है (वह अकथनीय है)।।१/८९४।।

अब, इस पद्य द्वारा अभय-दान के फल को अस्ति-नास्ति रूप में व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **धर्मार्थकाममोक्षाणां जीवितं मूलमिष्यते।**
तद्रक्षता न किं दत्तं हरता तन्न किं हृतम्।।२/८९५।।

धर्म धन काम मुक्ति का मूल जीवन है सदा।
उसका रक्षक दिया सब कुछ हर्ता ने सब हर लिया।।२/८९५।।

शब्दश: अर्थ : धर्म+अर्थ-काम-मोक्षाणां=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का; जीवितं=जीवन; मूलं=मूल/जड़; इष्यते=माना गया है; तत्-रक्षता=उसकी रक्षा करनेवाले द्वारा; न=नहीं; किं=क्या; दत्तं=दिया गया; हरता=हरण करनेवाले द्वारा; तत्=उसका; न=नहीं; किं=क्या; हृतं=हर लिया।

अन्वय : धर्म-अर्थ-काम-मोक्षाणां मूलं जीवितं इष्यते तद्रक्षता किं न दत्तं तत् हरता किं न हृतम्।

वचनिका : धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों ही पुरुषार्थों का मूल, जीवन कहा है; अत: जीवन की रक्षा करनेवाले ने उसे क्या नहीं दिया? और जीवन का हरण करनेवाले ने उसका क्या नष्ट नहीं किया? सभी नष्ट किया।।२/८९५।।

अब, इस पद्य द्वारा अभय-दाता की पुण्य-भागिता को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **गोबालब्राम्हणस्त्रीतः पुण्य-भागी यदीष्यते।**
सर्व-प्राणि-गण-त्रायी नितरां न तदा कथम्।।३/८९६।।

गाय बाल ब्राम्हण स्त्री रक्षण से पुण्य-भागिता।
सभी जीवों के रक्षण से तब कैसे नहिं वह सदा?।।३/८९६।।

शब्दशः अर्थ : गो-बाल-ब्राम्हण-स्त्रीतः=गाय, बालक, ब्राम्हण, स्त्री की रक्षा से; पुण्य-भागी=पुण्य का पात्र/पुण्यवान; यदि=यदि; इष्यते=माना जाता है; सर्व-प्राणी-गण-त्रायी =प्राणिओं के सभी समूहों की रक्षा करनेवाला; नितरां=हमेशा; न=नहीं; तदा=तब; कथं= कैसे।

अन्वय : यदि गो-बाल-ब्राम्हण-स्त्रीतः पुण्य-भागी इष्यते तदा सर्व-प्राणी-गण-त्रायी नितरां कथं न?

वचनिका : यदि गाय, बालक, ब्राम्हण, स्त्री की रक्षा करने से जीव पुण्यवान माना जाता है; तब समस्त प्राणिओं के समूह की रक्षा करनेवाला व्यक्ति अधिक पुण्यवान कैसे नहीं है?।।३/८९६।।

इसी की महत्ता को अन्य प्रकार से पुनः अब, इस पद्य द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **यद्येकमेकदा जीवं त्रायमाणः प्रपूज्यते।**
न तदा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः कथं बुधैः।।४/८९७।।

एक बार एक जीव के रक्षण से यदि पूज्य है।
तब सदा सबके रक्षण से कैसे नहिं पूज्य है?।।४/८९७।।

शब्दशः अर्थ : यदि=यदि; एकं=एक को; एकदा=एक बार; जीवं=जीव को; त्रायमाणः= रक्षा करनेवाला; प्रपूज्यते=पूजा जाता है; न=नहीं; तदा=तब; सर्वदा=हमेशा; सर्वं=सभी को; त्रायमाणः=रक्षा करनेवाला; कथं=कैसे; बुधैः=ज्ञानिओं से।

अन्वय : यदि एकदा एकं जीवं त्रायमाणः प्रपूज्यते तदा सर्वदा सर्वं त्रायमाणः बुधैः कथं न प्रपूज्यते।

वचनिका : यदि एक काल/बार एक जीव की रक्षा करनेवाला पूज्य है; तब फिर सदा काल सभी जीवों की रक्षा करनेवाला व्यक्ति, ज्ञानिओं द्वारा पूज्य कैसे नहीं हो? पूज्य होता ही है।।४/८९७।।

अब, इस पद्य द्वारा इसी माहात्म्य को तुलनात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुभ् : **चामीकर-मयीमुर्वीं ददानः पर्वतैः सह।**

एकजीवाभयं नूनं ददानस्य समः कुतः?।।५/८९८।।

पर्वतों-युक्त सोनेमय पृथ्वी का दातार भी।

एक जीव अभय-दाता के समान नहीं कभी।।५/८९८।।

शब्दशः अर्थ : चामीकरमयीं=स्वर्णमई; उर्वीं=पृथ्वी को; ददानः=देनेवाला; पर्वतैः=पर्वतों से; सह=साथ; एक-जीव+अभयं=एक जीव को अभय; नूनं=वास्तव में; ददानस्य=देनेवाले का; समः=समान; कुतः=कैसे।

अन्वय : पर्वतैः सह चामीकरमयीं उर्वीं ददानः नूनं एक-जीव-अभयं ददानस्य समः कुतः?

वचनिका : आचार्य तर्क करते हैं कि पर्वतों-सहित स्वर्ण-मई पृथ्वी को देनेवाला व्यक्ति; एक जीव की रक्षा करनेवाले व्यक्ति के समान कैसे हो सकता है? अपितु नहीं हो सकता है।।५/८९८।।

दयालु ही गुणवान होते हैं; यह अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **गुणानां दुरवापानामर्चितानां महात्मभिः।**

दयालुर्जीयते स्थानं मणीनामिव सागरः।।६/८९९।।

मणिओं के सागर-सम महात्माओं से पूजित।

दुर्लभ गुणों का स्थान दयालु उर ही समझ।।६/८९९।।

शब्दशः अर्थ : गुणानां=गुणों के; दुः+अवापानां=कठिनाई से प्राप्त होनेवाले; अर्चितानां=पूजित; महात्मभिः=महात्माओं द्वारा; दयालुः=दयावान; जीयते=होता है; स्थानं=पात्र; मणीनां=मणिओं के; इव=समान; सागरः=समुद्र।

अन्वय : मणीनां स्थानं सागरः इव महात्मभिः अर्चितानां दुः-अवापानां गुणानां स्थानं दयालुः जीयते।

वचनिका : जैसे—रत्नों का स्थान समुद्र होता है; उसीप्रकार महा-पुरुषों के द्वारा पूजित, दुर्लभ गुणों का स्थान/पात्र, दयालु होता है।।६/८९९।।

संयमादि भी दयालु के ही होते हैं; यह अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **संयमा नियमाः सर्वे दयालोः सन्ति देहिनः।**

जायमाना न दृश्यन्ते भूरुहा धरणीमृते।।७/९००।।

भू-विना वृक्ष नहिं हों त्यों सब ही संयम नियम।

दयालु जीव के होते नहीं होते दया विन।।७/९००।।

शब्दशः अर्थ : संयमाः=संयम; नियमाः=नियम/प्रतिज्ञा आदि; सर्वे=सभी; दयालोः=दयावान

का; संति=होते हैं; देहिन:=प्राणी का; जायमाना:=उत्पन्न होते हुए; न=नहीं; दृश्यन्ते=देखे जाते हैं; भूरुहा:=वृक्ष; धरणीं=पृथ्वी को; ऋते=विना।

अन्वय : (यथा) धरणीं ऋते भूरुहा: जायमाना: न दृश्यन्ते (तथा) दयालो: देहिन: संयमा: नियमा: सर्वे सन्ति।

वचनिका : जैसे—पृथ्वी के विना वृक्ष उत्पन्न होते हुए दिखाई नहीं देते हैं; उसीप्रकार दयावान जीव के संयम, नियम आदि सभी होते हैं।।७/९००।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक बैर-त्याग वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **कारणं सर्ववैराणां प्राणिनां विनिपातनम्।**

तत्सदा त्यज्यतस्त्रेधा कुतो वैरं प्रवर्तते।।८/९०१।।

सभी बैरों का कारण प्राणिओं का घात है।

उसे जो त्रेधा तजता उससे बैर हो किसे?।।८/९०१।।

शब्दश: अर्थ : कारणं=हेतु; सर्व-वैराणां=सभी बैरों के; प्राणिनां=प्राणिओं के; विनिपातनं=घात; तत्=उसे; सदा=हमेशा; त्यजत:=छोड़ते हुए का; त्रेधा=तीन प्रकार से; कुत:=कैसे; वैरं=बैर; प्रवर्तते=प्रकट होता है।

अन्वय : प्राणिनां विनिपातनं सर्व-वैराणां कारणं तत् सदा त्रेधा त्यजत: वैरं कुत: प्रवर्तते?

वचनिका : प्राणिओं का घात, सभी प्रकार के बैर-भावों का कारण है; अत: प्राणिओं के उस घात को मन, वचन, काय से छोड़नेवाले व्यक्ति के बैर-भाव कैसे प्रवर्तित हो सकता है? किसी भी रूप में नहीं हो सकता।।८/९०१।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा अभय-दान का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **मनोभूरिव कान्ताङ्ग: सुवर्णाद्रिरिव स्थिर:।**

सरस्वानिव गम्भीरो विवस्वानिव भास्वर:*।।९/९०२।।

आदेय: सुभग: सौम्यस्त्यागी भोगी यशोनिधि:।

भवत्यभय-दानेन चिरंजीवी निरामय:।।१०/९०३।।

अभय-दान से होता कामदेव-समान तन।

सुंदर मेरु-सम स्थिर सागर-सम गंभीर सम।।९/९०२।।

रवी-प्रभा सभी को प्रिय सुभग सौम्य यशोनिधि।

त्यागी भोगी चिरंजीवी रोग-रहित सदा वही।।१०/९०३।।

---

* भासुर: – इति पाठान्तरम्।

शब्दशः अर्थ : मनः-भूः=मन से उत्पन्न हुआ/काम-देव; इव=समान; कान्त+अङ्गः=सुंदर शरीरवाला; सुवर्ण+आद्रिः=सुमेरु पर्वत; इव=समान; स्थिरः=निश्चल/एकाग्र; सरः-वान् =समुद्र; इव=समान; गम्भीरः=गंभीर; विवस्वान्=सूर्य; इव=समान; भास्वरः=प्रभावान/ भासुरः=प्रकाशमान; आदेयः=सभी को प्रिय; सुभगः=सुंदर; सौम्यः=समता-संपन्न; त्यागी=त्याग-युक्त; भोगी=भोगवान; यशः-निधिः=यश का भंडार; भवति=होता है; अभय -दानेन=अभय-दान द्वारा; चिर-जीवी=बहुत काल जीनेवाला/दीर्घायु-संपन्न; निः+आमयः =रोगों से रहित।

अन्वय : अभय-दानेन..... भवति।

वचनिका : अभय-दान द्वारा काम-देव के समान सुंदर शरीर, मेरु के समान स्थिर, समुद्र के समान गंभीर, सूर्य के समान प्रभावान/प्रकाशमान, सभी को प्यारा, सुभग/सुंदर, सौम्य, अवगुणों का त्यागी, अनुकूलताओं का भोगी, यशों का भंडार, बहुत काल जीनेवाला, रोग-रहित होता है।—ये सभी अभय-दान के फल हैं।।९-१०/९०२-९०३।।

इसी अभय-दान के फल को अब, इस पद्य द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **तीर्थकृच्चक्रिदेवानां सम्पदो बुधवन्दिताः।**
क्षणेनाभय-दानेन दीयन्ते दलितापदः।।११/९०४।।

बुध-वंदित आपत्ति-विन तीर्थंकर चक्री सुरों।
की संपत्ति क्षण-भर में अभयदान से प्राप्त हो।।११/९०४।।

शब्दशः अर्थ : तीर्थ-कृत-चक्रि-देवानां=तीर्थंकर, चक्रवर्ती और देवों के; सम्पदः=संपत्ति; बुध-वन्दिताः=ज्ञानिओं द्वारा पूज्य; क्षणेन=क्षण-मात्र से/अति-शीघ्र; अभय-दानेन=अभय-दान द्वारा; दीयन्ते=दी जाती हैं; दलित+आपदः=आपत्तिओं से रहित।

अन्वय : अभय-दानेन तीर्थकृत्-चक्रि-देवानां बुध-वन्दिताः दलित-आपदः सम्पदः क्षणेन दीयन्ते।

वचनिका : अभय-दान द्वारा तीर्थंकरों, चक्रवर्तिओं, देवों की; पंडितों द्वारा पूजित, आपत्तिओं से रहित, संपत्तिआँ क्षण-भर में दी जाती हैं।।११/९०४।।

अभय-दान से सभी सुख प्राप्त होते हैं; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **तदस्ति न सुखं लोके न भूतं न भविष्यति।**
यन्न सम्पद्यते सद्यो जन्तोरभयदानतः।।१२/९०५।।

लोक में नहिं है होगा नहीं पहले नहीं हुआ।
प्राणी को जो सुख शीघ्र अभय-दान से नहिं मिला।।१२/९०५।।

शब्दश: अर्थ : तत्=वह; अस्ति=है; न=नहीं; सुखं=सुख; लोके=लोक में; न=नहीं; भूतं =हुआ; न=नहीं; भविष्यति=होगा; यत्=जो; न=नहीं; सम्पद्यते=प्राप्त होता है; सद्य:=शीघ्र; जन्तो:=प्राणी का; अभय-दानत:=अभय-दान से।

अन्वय : लोके तत् सुखं न अस्ति न भूतं न भविष्यति यत् अभय-दानत: जन्तो: सद्य: न सम्पद्यते।

वचनिका : लोक में वह सुख वर्तमान में नहीं है, न ही पहले हुआ है और न ही आगे होगा; जो अभय-दान से प्राणी को शीघ्र ही प्राप्त नहीं होता है।।१२/९०५।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: अभय-दान का फल वर्णन करने की असमर्थता व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **शरीरं ध्रियते येन शममेव महा-व्रतम्।**
कस्तस्याभयदानस्य फलं शक्नोति भाषितुम्।।१३/९०६।।

जिससे शरीर हो पुष्ट महाव्रत शम के समान।
उस अभय-दान के फल को कौन कहने में समर्थ?।।१३/९०६।।

शब्दश: अर्थ : शरीरं=तन; ध्रियते=पुष्ट होता है; येन=जिससे; शमं=समता को; इव=समान; महा-व्रतं=महा-व्रत को; क:=कौन; तस्य=उसका; अभय-दानस्य=अभय-दान का; फलं=फल को; शक्नोति=समर्थ है; भाषितुं=कहने के लिए।

अन्वय : महा-व्रतं शमं इव येन शरीरं ध्रियते तस्य अभय-दानस्य फलं भाषितुं क: शक्नोति?

वचनिका : जैसे—महा-व्रत, शम से पुष्ट होते हैं; उसीप्रकार जिससे जीवों का शरीर पुष्ट होता है, उस अभय-दान के फल को कहने के लिए कौन समर्थ है?।।१३/९०६।।

इस प्रकार अभय-दान का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे अठारह पद्यों द्वारा आहार-दान का माहात्म्य वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा आहार-दान की उपयोगिता प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **आहारेण विना कायो न तिष्ठति कथञ्चन।**
भास्करेण विना कुत्र वासरो व्यवतिष्ठते?।।१४/९०७।।

सूर्य के विना दिन ज्यों कभी रह सकता नहीं।
भोजन के विना तन त्यों कभी टिक सकता नहीं।।१४/९०७।।

शब्दश: अर्थ : आहारेण=भोजन से; विना=रहित; काय:=शरीर; न=नहीं; तिष्ठति=रहता है; कथञ्चन=कैसे; भास्करेण=सूर्य से; विना=रहित; कुत्र=कहाँ; वासर:=दिन; व्यवतिष्ठते= रहता है।

अन्वय : (यथा) भास्करेण विना वासर: कुत्र व्यवतिष्ठते (तथा) आहारेण विना काय: कथञ्चन न तिष्ठति।

वचनिका : जैसे—सूर्य के विना दिन कहाँ रह सकता है? दिन नहीं होता है; उसीप्रकार आहार के विना शरीर भी किसी प्रकार भी नहीं टिकता है।।१४/९०७।।

आहार देनेवाला क्या-क्या देता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **शमस्तपो दया धर्म: संयमो नियमो दम:।**

सर्वे तेन वितीर्यन्ते येनाऽऽहारो वितीर्यते।।१५/९०८।।

जिसने भोजन दिया उसने शम दम तप संयम नियम।

दया धर्मादि सब कुछ ही दिए ज्ञानी यों समझ।।१५/९०८।।

शब्दश: अर्थ : शम:=समता; तप:=इच्छा-निरोध; दया=करुणा; धर्म:=धर्म; संयम:=संयम; नियम:=नियम; दम:=इंद्रियादि का दमन; सर्वे=सभी; तेन=उसके द्वारा; वितीर्यन्ते=दिए गए हैं; येन=जिसके द्वारा; आहार:=भोजन; वितीर्यते=दिया जाता है।

अन्वय : येन आहार: वितीर्यते तेन शम: तप: दया धर्म: संयम: नियम: दम: सर्वे वितीर्यन्ते।

वचनिका : जिस व्यक्ति ने आहार दिया है; उसने शम-भाव, तप, दया, धर्म, संयम, नियम, इंद्रियों का दमन आदि सभी कुछ दिया है।।१५/९०८।।

अब, इस पद्य द्वारा आहार-दान का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **चिन्तितं पूजितं भोज्यं क्षीयते तस्य नालये।**

आहारो भक्तितो येन दीयते व्रत-वर्तिनाम्।।१६/९०९।।

व्रतिओं को दिया भोजन जिसने भक्ति पूर्वक।

उसके घर में वांक्षित पूजित भोज्य हो अक्षय।।१६/९०९।।

शब्दश: अर्थ : चिन्तितं=चाहा गया; पूजितं=प्रशंसा-योग्य; भोज्यं=भोजन-सामग्री; क्षीयते=क्षीण हो जाता है; तस्य=उसका; न=नहीं; आहार:=भोजन; भक्तित:=भक्ति से; येन=जिसके द्वारा; दीयते=दिया जाता है; व्रत-वर्तिनां=व्रत-संपन्नों/व्रतिओं के।

अन्वय : येन भक्तित: व्रत-वर्तिनां आहार: दीयते तस्य आलये चिन्तितं पूजितं भोज्यं न क्षीयते।

वचनिका : जिस व्यक्ति द्वारा भक्ति-पूर्वक व्रतिओं को आहार-दान दिया जाता है; उसके घर में वांक्षित, प्रशंसा-योग्य भोजन अक्षीण हो जाता है।।१६/९०९।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **कल्याणामशेषाणां भाजनं स प्रजायते।**

सलिलानामिवाम्भोधिर्येनाहारो वितीर्यते।।१७/९१०।।

सागर के जल-वत् जिसने दान आहार का दिया।

वह सभी कल्याणों का भाजन नित्य हो गया।।१७/९१०।।

शब्दश: अर्थ : कल्याणानां=कल्याणों के; अशेषाणां=संपूर्ण; भाजनं=पात्र; स:=वह; प्रजायते=हो जाता है; सलिलानां=जल के; इव=समान; अम्भोधि:=समुद्र; येन=जिसके द्वारा; आहार:=भोजन; वितीर्यते=दिया जाता है।

अन्वय : येन आहार: वितीर्यते अम्भोधि: सलिलानां इव स: अशेषाणां कल्याणानां भाजनं प्रजायते।

वचनिका : जिस व्यक्ति द्वारा आहार-दान दिया जाता है; वह, जैसे—समुद्र, जल का भाजन होता है; उसीप्रकार समस्त कल्याणों का भाजन होता है।।१७/९१०।।

आहार-दानी को प्राप्त सहज-लाभ को अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्वयमेव श्रियोऽन्विष्य धन्यं दातारमन्धस:।**

आयान्ति तरसा श्रेष्ठा: सुभगं वनिता इव।।१८/९११।।

सुभग को श्रेष्ठ स्त्री-सम भोजन-दाता धन्य को।

स्वयं ही खोजकर लक्ष्मी शीघ्र आ मिल उसी को।।१८/९११।।

शब्दश: अर्थ : स्वयं=अपने आप; एव=ही; श्रिय:=लक्ष्मी; अन्विष्य=खोजकर; धन्यं=धन्य; दातारं=दाता को; अन्धस:=आहार का; आयान्ति=प्राप्त होती हैं; तरसा=शीघ्र; श्रेष्ठा:= सर्वोत्तम; सुभगं=सुभग/सुंदर को; वनिता:=स्त्री; इव=समान।

अन्वय : सुभगं श्रेष्ठा: वनिता: इव अन्धस: दातारं धन्यं स्वयं एव अन्विष्य श्रिय: तरसा आयान्ति।

वचनिका : जैसे—श्रेष्ठ स्त्री, सुंदर पुरुष को प्राप्त होती है; उसीप्रकार आहार-दान देनेवाले धन्य दाता को स्वयं ही खोजकर श्रेष्ठ लक्ष्मी, शीघ्र आकर प्राप्त हो जाती हैं।।१८/९११।।

अब, इसे ही सोदाहरण पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सम्पदस्तीर्थकर्तृणां चक्रिणामर्धचक्रिणाम्।**

भजन्त्यशन-दं सर्वा: पयोधिमिवनिम्नगा:।।१९/९१२।।

समुद्र को नदिओं-सम भोजन-दाता को सभी।

संपत्ति मिलतीं चक्री अर्धचक्री तीर्थेश कीं।।१९/९१२।।

शब्दश: अर्थ : सम्पद:=संपत्ति; तीर्थ-कर्तृणां=तीर्थंकरों के; चक्रिणां=चक्रवर्तिओं के;

अर्ध-चक्रिणां=अर्ध-चक्रवर्तिओं के; भजन्ति=सेवन करते हैं; अशन-दं=आहार देनेवाले को; सर्वा:=सभी; पयोधिं=समुद्र को; इव=समान; निम्नगा:=नदिआँ।

अन्वय : निम्नगा: पयोधिं इव तीर्थ-कर्तृणां चक्रिणां अर्ध-चक्रिणां सर्वा: सम्पद: अशन-दं भजन्ति।

वचनिका : जैसे—नदिआँ, समुद्र का सेवन करती हैं; उसीप्रकार तीर्थंकरों, चक्रवर्तिओं, अर्ध-चक्रवर्तिओं की सभी संपत्तिआँ, आहार देनेवाले व्यक्ति का सेवन करतीं हैं।।१९/९१२।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: सोदाहरण उसी आहार-दान का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रक्षीयन्ते न तस्यार्था ददानस्यापि भूरिश:।**
ददाना जनतानन्दं चन्द्रस्येव मरीचय:।।२०/९१३।।

जनता को आनंद-दाई चंद्र-किरणों-सम सदा।
बहुत दान-दाता की अक्षय रहती संपदा।।२०/९१३।।

शब्दश: अर्थ : प्रक्षीयन्ते=समाप्त हो जाते हैं; न=नहीं; तस्य=उसका; अर्था:=संपत्ति; ददानस्य=देते हुए; अपि=भी; भूरिश:=अनेकों बार; ददाना:=देती हुईं; जनता+आनन्दं= प्राणिओं को आनंद को; चन्द्रस्य=चंद्र का; इव=समान; मरीचय:=किरणें।

अन्वय : जनता-आनन्दं ददाना: चन्द्रस्य मरीचय: इव भूरिश: अपि ददानस्य तस्य अर्था: न प्रक्षीयन्ते।

वचनिका : जैसे—लोगों को आनंद-दाई चंद्रमा की किरणें क्षीण नहीं होती हैं; उसीप्रकार बहुत दान देनेवाले की भी संपत्ति क्षीण नहीं होती है।।२०/९१३।।

अब, इस पद्य द्वारा भू-दान और आहार-दान का अंतर निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **यत्फलं ददत: पृथ्वीं प्राषुकं यच्च भोजनम्।**
अनयोरन्तरं मन्ये तृणाब्धि-जलयोरिव।।२१/९१४।।

भू-दाता प्राषुक भोजन-दाता का जो फल कहा।
तृण समुद्र-सम अंतर दोनों में मैं मानता।।२१/९१४।।

शब्दश: अर्थ : पृथ्वी को देनेवाले और प्राषुक भोजन को देनेवाले व्यक्ति का जो फल है; इन दोनों का अंतर तृण की नोंक और समुद्र के जल-जैसा है—ऐसा मैं मानता हूँ।

भावार्थ : पृथ्वी-दान का फल तो लोक में प्रशंसा-मात्र है और पाप बहुत है; परंतु भोजन-दान का फल, दोनों भवों में सुख-कारी है।—इसप्रकार इन दोनों में बहुत अंतर है—ऐसा जानना।।२१/९१४।।

अब, इस पद्य द्वारा आहार-दान का और भी फल सोदाहरण प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **अन्न-दान-प्रसादेन यत्र यत्र प्रजायते।**
तत्रोज्झ्यते* भोगैर्न भास्वानिव रश्मिभि:।।२२/९१५।।

अन्न-दान के फल से जहाँ-जहाँ जन्म ले।
किरणों द्वारा भानु-वत् नहीं छूटे भोग से।।२२/९१५।।

शब्दश: अर्थ : अन्न-दान-प्रसादेन=भोजन-दान के प्रसाद/फल से; यत्र=जहाँ; यत्र=जहाँ; प्रजायते=उत्पन्न होता है; तत्र=वहाँ; उज्झ्यते=छोड़ा जाता है/आस्यते=रिक्त रहता है; भोगै:= भोगों द्वारा; न=नहीं; भास्वान्=सूर्य; इव=समान; रश्मिभि:=किरणों द्वारा।

अन्वय : अन्न-दान-प्रसादेन यत्र-यत्र प्रजायते रश्मिभि: भास्वान् इव तत्र भोगै: न उज्झ्यते/ आस्यते।

वचनिका : जैसे—सूर्य जहाँ-जहाँ जाता है; वहाँ-वहाँ किरणों द्वारा छूटता नहीं है; उसी प्रकार अन्न-दान के प्रसाद से जीव जहाँ-जहाँ जाता है; वहाँ-वहाँ भोगों द्वारा छूटता नहीं है।।२२/९१५।।

अब, इसी दान के फल को तुलनात्मक विधि से इस पद्य द्वारा व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **ददानोऽशनमात्रं यत्फलं प्राप्नोति मानव:।**
दानात्सुवर्णकोटीनां न कदाचन तद्ध्रुवम्।।२३/९१६।।

भोजन-मात्र देने का जो फल पाता है मनुज।
वह करोड़ स्वर्णों के दान से हो नहिं नियत।।२३/९१६।।

शब्दश: अर्थ : ददान:=देनेवाले का; अशन-मात्रं=भोजन-मात्र को; यत्=जो; फलं=परिणाम; प्राप्नोति=पाता है; मानव:=मनुष्य; दानात्=दान से; सुवर्ण-कोटीनां=करोड़ों स्वर्ण के; न=नहीं; कदाचन=कभी; तत्=वह; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : अशन-मात्रं ददान: मानव: यत् फलं प्राप्नोति तत् ध्रुवं सुवर्ण-कोटीनां दानात् कदाचन न प्राप्नोति।

वचनिका : भोजन-मात्र देने का मनुष्य, जो फल प्राप्त करता है; वह करोड़ों स्वर्ण के देने से भी वास्तव में नहीं पाता है।।२३/९१६।।

अब, इस पद्य द्वारा आहार-दान की उपयोगिता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **विना भोगोपभोगेभ्यश्चिरं जीवति मानव:।**
न विनाऽऽहार-मात्रेण तुष्टिपुष्टि-प्रदायिना।।२४/९१७।।

* तत्र तत्रास्यते – इति पाठान्तरम्।

जीता मनुज भोगोपभोग के विना चिर-काल तक।
तुष्टि-पुष्टि-प्रद भोजन-मात्र विन जीता न वह।।२४/९१७।।

शब्दश: अर्थ : विना=रहित; भोग+उपभोगेभ्य:=भोग और उपभोगों से; चिरं=बहुत काल पर्यंत; जीवति=जीता है; मानव:=मनुष्य; न=नहीं; विना=रहित; आहार-मात्रेण=भोजन-मात्र से; तुष्टि-पुष्टि-प्रदायिना=संतोष और पोषकता को देनेवाले द्वारा।

अन्वय : भोग-उपभोगेभ्य: विना मानव: चिरं जीवति तुष्टि-पुष्टि-प्रदायिना आहार-मात्रेण विना न जीवति।

वचनिका : भोग और उपभोग के विना तो मनुष्य बहुत काल जीता है; परंतु संतोष और पुष्टि को देनेवाले भोजन के विना वह नहीं जीता है।।२४/९१७।।

ज्ञानादि में सर्वोत्कृष्ट क्या-क्या है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **केवलज्ञानतो ज्ञानं निर्वाणसुखत: सुखम्।**
आहार-दानतो दानं नोत्तमं विद्यते परम्।।२५/९१८।।

केवलज्ञान से ज्ञान निर्वाण सुख से सुख।
आहारदान से दान अन्य नहिं है उत्तम।।२५/९१८।।

शब्दश: अर्थ : केवल-ज्ञानत:=केवलज्ञान/सर्वज्ञता से; ज्ञानं=ज्ञान; निर्वाण-सुखत:=मोक्ष-सुख से; सुखं=सुख; आहार-दानत:=आहार-दान से; दानं=दान; न=नहीं; उत्तमं=श्रेष्ठ; विद्यते=है; परं=अन्य।

अन्वय : प्रारंभिक तीन चरण अन्वय में हैं। शेष का इस प्रकार है—परं उत्तमं न विद्यते।

वचनिका : केवलज्ञान से अन्य दूसरा उत्तम ज्ञान नहीं है, मोक्ष-सुख से अन्य दूसरा उत्तम सुख नहीं है और आहार-दान से अन्य दूसरा उत्तम दान नहीं है।।२५/९१८।।

अब, इस पद्य द्वारा तुलनात्मक विधि से भोजन की उपकारकता स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अन्धसा क्रियते यावानुपकार: शरीरिण:।**
न तावान् रत्नकोटीभि: पुञ्जिताभिरपि* स्फुटम्।।२६/९१९।।

उपकार करता प्राणी का जितना आहार है।
करोड़ों रत्न मिलकर भी कभी उतना नहीं करें।।२६/९१९।।

शब्दश: अर्थ : अन्धसा=भोजन द्वारा; क्रियते=किया जाता है; यावान्=जितना; उपकार:=

* रिति – इति पाठान्तरम्।

भला; शरीरिण:=प्राणी का; न=नहीं; तावान्=उतना; रत्न-कोटीभि:=करोड़ों रत्नों द्वारा; पुञ्जिताभि:=एकत्रित हुए; अपि=भी/इति=इसप्रकार; स्फुटं=वास्तव में।

अन्वय : शरीरिण: यावान् उपकार: अन्धसा क्रियते तावान् उपकार: स्फुटं पुञ्जिताभि: रत्न-कोटीभि: अपि/इति न।

वचनिका : प्राणी का जितना उपकार भोजन द्वारा किया जाता है; ऐसा उतना उपकार वास्तव में एकत्रित किए करोड़ों रत्नों द्वारा भी नहीं किया जाता है।।२६/९१९।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण भोजन की आवश्यकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **हीयन्ते निखिलाश्चेष्टा विना भोजनमात्रया।**
गुप्तयो व्यवतिष्ठन्ते विना कुत्र तितिक्षया।।२७/९२०।।
भोजन-मात्र विन सब ही चेष्टाएं विनष्ट हैं।
क्षमा के विना तीनों गुप्तिआँ कैसे रहें?।।२७/९२०।।

शब्दश: अर्थ : हीयन्ते=नष्ट हो जाती हैं; निखिला:=सभी प्रकारवालीं; चेष्टा:=चेष्टाएं/क्रियाएँ; विना=रहित; भोजन-मात्रया=भोजन की मात्रा से; गुप्तय:=गुप्तिआँ; व्यवतिष्ठन्ते=स्थित रहती हैं; विना=रहित; कुत्र=कहाँ; तितिक्षया=क्षमा से।

अन्वय : भोजनमात्रया विना निखिला: चेष्टा: हीयन्ते तितिक्षया विना गुप्तय: कुत्र व्यवतिष्ठन्ते?

वचनिका : भोजनरूप मात्रा के विना समस्त चेष्टाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्षमा के विना मन, वचन, कायरूप गुप्तिआँ कहाँ रह सकती हैं? कहीं भी नहीं रह सकतीं।।२७/९२०।।

अब, इसे ही सोदाहरण इस पद्य द्वारा पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **शीर्यते तरसा गात्रं जन्तो: वर्जितमन्धसा।**
विना नीरं क्व सस्यस्य कोमलस्य व्यवस्थिति:।।२८/९२१।।
भोजन के विना प्राणी का तन शीघ्र क्षीण हो।
कोमल धान की जल विन स्थिति कैसे कहो?।।२८/९२१।।

शब्दश: अर्थ : शीर्यते=क्षीण हो जाता है; तरसा=शीघ्र; गात्रं=शरीर; जन्तो:=प्राणी का; वर्जितं=रहित; अन्धसा=भोजन से; विना=रहित; नीरं=जल; क्व=कहाँ; सस्यस्य=धान का; कोमलस्य=कोमल; व्यवस्थिति:=स्थिरता।

अन्वय : जन्तो: अन्धसा वर्जितं गात्रं तरसा शीर्यते कोमलस्य सस्यस्य नीरं विना क्व व्यवस्थिति:?

वचनिका : प्राणी का भोजन से रहित शरीर शीघ्र क्षीण हो जाता है; कोमल धान की जल

के विना कहाँ स्थिरता होती है? कहीं भी नहीं होती—ऐसा जानना।।२८/९२१।।

अब, सहेतुक आहार की सर्वाधिक प्रियता इस पद्य द्वारा निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **यथाऽऽहार: प्रिय: पुन्सां न तथा किञ्चनापरम्।**
विक्रीयन्ते प्रिया: पुत्रास्तदर्थं कथमन्यथा।।२९/९२२।।

प्राणी को भोजन-जैसा प्रिय कुछ भी नहिं दूसरा।
अन्यथा उस हेतु से प्यारे सुत क्यों बेचता?।।२९/९२२।।

शब्दश: अर्थ : यथा=जैसा; आहार:=भोजन; प्रिय:=प्यारा; पुन्सां=प्राणी को; न=नहीं; तथा=उसप्रकार; किञ्चन=कुछ; अपरं=दूसरा; विक्रीयन्ते=बेचते हैं; प्रिया:=प्यारे; पुत्रा:= पुत्र; तत्+अर्थं=उसके लिए; कथं=कैसे; अन्यथा=अन्य प्रकार से।

अन्वय : पुन्सां यथा आहार: प्रिय: तथा अपरं किञ्चन न अन्यथा तत्-अर्थं प्रिया: पुत्रा: कथं विक्रीयन्ते?

वचनिका : व्यक्ति को जैसा भोजन प्रिय है, उसप्रकार से अन्य कुछ प्रिय नहीं है; यदि ऐसा नहीं होता तो उस भोजन के लिए प्यारे पुत्र कैसे बेच देता? अत: आहार सबसे प्यारा है।।२९/९२२।।

अब, इस पद्य द्वारा आहार-दान का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यत्किञ्चित्-सुन्दरं वस्तु दृश्यते भुवन-त्रये।**
तदन्नदायिना क्षिप्रं लभ्यते लीलयाऽखिलम्।।३०/९२३।।

दिखती जो कुछ सुंदर वस्तु तीनों लोक में।
पाते भोजन-दाता सब शीघ्र सहज स्वभाव में।।३०/९२३।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; किञ्चित्=कुछ; सुन्दरं=अच्छा; वस्तु=पदार्थ; दृश्यते=दिखाई देता है; भुवन-त्रये=तीनों लोक में; तत्=वह; अन्न-दायिना=भोजन-देनेवाले द्वारा; क्षिप्रं= शीघ्र; लभ्यते=प्राप्त किया जाता है; लीलया=सहजता से; अखिलं=सभी।

अन्वय : भुवन-त्रये यत् किञ्चित् सुन्दरं वस्तु दृश्यते तत् अखिलं अन्न-दायिना क्षिप्रं लीलया लभ्यते।

वचनिका : तीन-लोक में जो कुछ सुंदर वस्तु दिखाई देती है; वह सभी आहार-दाता द्वारा शीघ्र लीला-मात्र से प्राप्त कर ली जाती है।।३०/९२३।।

अब, इस पद्य द्वारा उसका फल वर्णन करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **बहुनाऽत्र किमुक्तेन विना सकल-वेदिना।**
फल नाऽऽहारदानस्य परः शक्नोति भाषितुम्।।३१/९२४।।
यहाँ अधिक कहने से क्या? सर्वज्ञ के विना।
नहीं समर्थ कहने में फल आहार-दान का।।३१/९२४।।

शब्दशः अर्थ : बहुना=अधिक/अनेक प्रकार से; अत्र=यहाँ; किं=क्या; उक्तेन=कहने से; विना=रहित; सकल-वेदिना=सब कुछ जाननेवाले सर्वज्ञ से; फलं=फल को; न=नहीं; आहार-दानस्य=आहार-दान का; परः=दूसरा; शक्नोति=समर्थ है; भाषितुं=कहने के लिए।

अन्वय : अत्र बहुना उक्तेन किं? आहार-दानस्य फलं सकल-वेदिना विना परः भाषितुं न शक्नोति।

वचनिका : यहाँ बहुत कहने से क्या? आहार-दान का फल, सर्वज्ञ के विना अन्य कोई कहने में समर्थ नहीं है।।३१/९२४।।

इसप्रकार आहार-दान का फल-वर्णन समाप्त हुआ।

आगे दश पद्यों द्वारा औषध-दान का फल वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम औषध-दान का फल बताने में अपनी असमर्थता इस पद्य द्वारा प्ररूपित है —

अनुष्टुभ् : **रक्ष्यते व्रतिनां येन शरीरं धर्म-साधनम्।**
पार्यते न फलं वक्तुं तस्य भैषज्य-दायिनः।।३२/९२५।।
धर्म-साधन तन-रक्षण व्रतिओं का जिसने किया।
फल कहने नहीं सक्षम उस औषध-दाइ का।।३२/९२५।।

शब्दशः अर्थ : रक्ष्यते=रक्षित किया जाता है; व्रतिनां=व्रतिओं के; येन=जिससे; शरीरं=तन; धर्म-साधनं=धर्म का हेतुभूत; पार्यते=पार पा सकता है; न=नहीं; फलं=फल को; वक्तुं=कहने के लिए; तस्य=उसका; भैषज्य-दायिनः=औषध देनेवाले का।

अन्वय : येन व्रतिनां धर्म-साधनं शरीरं रक्ष्यते तस्य भैषज्य-दायिनः फलं वक्तुं न पार्यते।

वचनिका : जिसके द्वारा व्रतिओं का धर्म का साधन-भूत शरीर रक्षित किया गया है; उस औषध देनेवाले का फल कहने के लिए कोई समर्थ नहीं हैं।।३२/९२५।।

औषध-दान का फल वचनों द्वारा कहना कैसा है? इसे अब, यहाँ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **येनौषध-प्रदस्येह वचनैः कथ्यते फलम्।**
चुलुकैर्मीयते तेन पयो नूनं पयो-निधेः।।३३/९२६।।

जो औषध-दाता के फल को वचनों से कहे।
वह मानों सागर जल नापता है चुल्लु से।।३३/९२६।।

शब्दश: अर्थ : येन=जिसके द्वारा; औषध-प्रदस्य=औषध-दाता का; इह=यहाँ; वचनै:=वचनों से; कथ्यते=कहा जाता है; फलं=फल को; चुलुकै:=चुल्लुओं से; मीयते= नापा जाता है; तेन=उसके द्वारा; पय:=जल; नूनं=वास्तव में; पयोनिधे:=समुद्र का।

अन्वय : इह येन औषध-प्रदस्य फलं वचनै: कथ्यते नूनं तेन पयोनिधे: पय: चुलुकै: मीयते।

वचनिका : आचार्य कहते हैं मैं ऐसा मानता हूँ कि यहाँ लोक में जिसके द्वारा औषध-देनेवाले का फल वचनों से कहा जा रहा है; उसके द्वारा समुद्र का जल चुल्लुओं से नापा जा रहा है।।३३/९२६।।

अब, इस पद्य द्वारा औषध-दान की उपयोगिता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **वात-पित्त-कफोत्थानैर्रोगैरेष न पीड्यते।**
दावैरिव जल-स्थायी भेषजं येन दीयते।।३४/९२७।।

दावानल में जल-बैठे-वत् जिसने औषध दिया।
वात-पित्त-कफज रोगों से यह पीड़ित नहिं हुआ।।३४/९२७।।

शब्दश: अर्थ : वात-पित्त-कफ+उत्थानै:=वात, पित्त, कफ से उत्पन्न हुए; रोगै:=रोगों द्वारा; एष:=यह; न=नहीं; पीड्यते=पीड़ित हुआ; दावै:=दावानल से; इव=समान; जल-स्थायी=जल में बिठाया गया; भेषजं=औषध को; येन=जिसके द्वारा; दीयते=दिया जाता है।

अन्वय : येन दावै: जल-स्थायी इव भेषजं दीयते (तेन) एष: वात-पित्त-कफ-उत्थानै: रोगै: न पीड्यते।

वचनिका : जैसे—दावानल से निकालकर जल में बिठाया गया व्यक्ति पीड़ित नहीं होता है; उसीप्रकार जिसके द्वारा औषध दी गई है; उससे यह वात, पित्त, कफ से उठनेवाले रोगों द्वारा पीड़ित नहीं होता है।।३४/९२७।।

अब, इस पद्य द्वारा औषध-दान की आवश्यकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **रोगैर्निपीडितो योगी न शक्तो व्रत-रक्षणे।**
नास्वस्थै: शक्यते कर्तुं स्वस्थकर्म कदाचन।।३५/९२८।।

रोगों से पीड़ित योगी व्रत-रक्षण-सक्षम नहीं।
निराकुल कार्य करने में आकुली सक्षम नहीं।।३५/९२८।।

शब्दश: अर्थ : रोगै:=रोगों से; निपीडित:=पीड़ित; योगी=साधक; न=नहीं; शक्त:=समर्थ;

व्रत-रक्षणे=व्रतों की रक्षा करने में; न=नहीं; अस्वस्थै:=आकुलतावाले द्वारा; शक्यते=संभव है; कर्तुं=करने के लिए; स्वस्थ-कर्म=निराकुलतावाले कार्य; कदाचन=कभी।

अन्वय : रोगै: निपीडित: योगी व्रत-रक्षणे शक्त: न, अस्वस्थै: कदाचन स्वस्थ-कर्म कर्तुं न शक्यते।

वचनिका : रोगों से पीड़ित साधु व्रतों की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता है। आकुलता-सहित जीवों द्वारा कभी भी निराकुल कार्य करने के लिए सामर्थ्य नहीं होती है।।३५/९२८।।

अब, इस पद्य द्वारा औषध-दान का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **न जायते सरोगत्वं जन्तोरौषध-दायिन:।**
पावकं सेवमानस्य तुषारं हि पलायते।।३६/९२९।।
औषध-दाता प्राणी के नहीं होती सरोगता।
अग्नि सेवन वाले के भाग हि जाती शीतता।।३६/९२९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; जायते=होता है; सरोगत्वं=रोग-सहितपना; जन्तो:=प्राणी का; औषध-दायिन:=औषध देनेवाले का; पावकं=अग्नि को; सेवमानस्य=सेवन करनेवाले का; तुषारं=शीतपना; हि=वास्तव में; पलायते=भाग जाता है।

अन्वय : औषध-दायिन: जन्तो: सरोगत्वं न जायते हि पावकं सेवमानस्य तुषारं पलायते।

वचनिका : औषध देनेवाले प्राणी के सरोगता नहीं होती है; वास्तव में अग्नि का सेवन करने/आग तापनेवाले का तुषार/शीत भाग जाता है।।३६/९२९।।

अब, इस पद्य द्वारा तुलनात्मक विधि से निरोगता की महिमा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **आजन्म जायते यस्य न व्याधिस्तनुतापक:।**
किं सुखं कथ्यते तस्य सिद्धस्येव महात्मन:।।३७/९३०।।
शरीर-तापकी रोग नहीं जिसके जन्म से।
सिद्ध-सम उस महात्मा के सुख का कथन क्या करें?।।३७/९३०।।

शब्दश: अर्थ : आ-जन्म=जन्म से लेकर; जायते=होता है; यस्य=जिसका; न=नहीं; व्याधि:=रोग; तनु-तापक:=शरीर को ताप देनेवाला; किं=क्या; सुखं=सुख; कथ्यते=कहा जाता है; तस्य=उसका; सिद्धस्य=सिद्ध का; इव=समान; महात्मन:=महात्मा का।

अन्वय : यस्य आ-जन्म तनु-तापक: व्याधि: न जायते तस्य सिद्धस्य इव महात्मन: सुखं किं कथ्यते?

वचनिका : जिसके जन्म से लेकर शरीर को ताप उत्पन्न करनेवाला रोग नहीं है; उस सिद्ध के समान महात्मा के सुख का क्या कहा जाए? यहाँ निरोगी को सिद्ध-समान कहा। इसका

भाव यह है कि जैसे—सिद्धों को रोग नहीं है; उसीप्रकार इसे भी रोग नहीं है—इसप्रकार समानता देखकर उपमा दी है। उसे सभी प्रकार से सिद्ध नहीं जान लेना।।३७/९३०।।

अब, इस पद्य द्वारा औषध देने की उपलब्धि वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **निधानमेष कान्तीनां कीर्तीनां कुलमन्दिरम्।**
लावण्यानां नदीनाथो भैषज्यं येन दीयते।।३८/९३१।।

औषध-दाता हो जाता कांति का भंडार नित।
कीर्ति का कुल-मंदिर सौंदर्य सागर सतत।।३८/९३१।।

शब्दश: अर्थ : निधानं=भंडार; एष:=यह; कान्तीनां=कांतिओं/दीप्तिओं के; कीर्तीनां=कीर्तिओं/यशों के; कुल-मन्दिरं=भवन; लावण्यानां=सुंदरताओं के; नदी-नाथ:=नदिओं का स्वामी समुद्र; भैषज्यं=औषध; येन=जिसके द्वारा; दीयते=दी जाती है।

अन्वय : येन भैषज्यं दीयते एष: कान्तीनां निधानं... शेष अन्वय में है।

वचनिका : जिसके द्वारा औषध दी जाती है, वह व्यक्ति कांति अर्थात् दीप्ति का भंडार, कीर्ति का सदा निवासरूप कुल-मंदिर, सुंदरताओं का समुद्र होता है—ऐसा जानना।।३८/९३१।।

औषध-दाता के शरीर से रोग भाग जाते हैं; यह सोदाहरण इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **ध्वान्तं दिवाकरस्येव शीतं चित्ररुचेरिव।**
भैषज्यदायिनो *देहाद्रोगित्वं प्रपलायते।।३९/९३२।।

सूर्य के तम अग्नि के शीत-वत् औषधी के।
दाता के तन से रोगीपना भागे दूर से।।३९/९३२।।

शब्दश: अर्थ : ध्वान्तं=अंधकार; दिवाकरस्य=सूर्य का; इव=समान; शीतं=ठंड; चित्ररुचे:=अग्नि का; इव=समान; भैषज्य-दायिन:=औषध-देनेवाले का; देहात्=शरीर से/तत्-वत्=उसके समान; रोगित्वं=रोगीपना; प्रपलायते=भाग जाता है।

अन्वय : पद्य अन्वयरूप ही है।

वचनिका : जैसे—सूर्य के शरीर से अंधकार दूर भागता है, अग्नि के शरीर से शीत दूर भागती है; उसीप्रकार औषध-देनेवाले व्यक्ति के शरीर से रोगीपना दूर भाग जाता है।।३९/९३२।।

अब, पुन: इस पद्य द्वारा औषधि-दाता की महिमा बताने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हैं—

आरोग्यं क्रियते येन योगिनां योग-मुक्तये।
तदीयस्य न धर्मस्य समर्थ: कोऽपि वर्णने।।४०/९३३।।

---

* दायिनस्तद्वद्रोगित्वं – इति पाठान्तरम्।

जिसने किया आरोग्य योगी का योग-मुक्ति के।
लिए समर्थ कौन उसके धर्म के गुण-गान में?।।४०/९३३।।

शब्दश: अर्थ : आरोग्यं=निरोगता को; क्रियते=किया गया है; येन=जिसके द्वारा; योगिनां=योगिओं के; योग-मुक्तये=योग की मुक्ति के लिए; तदीयस्य=उसका; न=नहीं; धर्मस्य=धर्म का; समर्थ:=सक्षम; क:=कौन; अपि=भी; वर्णने=वर्णन करने में।

अन्वय : येन योग-मुक्तये योगिनां आरोग्यं क्रियते तदीयस्य धर्मस्य वर्णने क: अपि समर्थ: न।

वचनिका : जिसके द्वारा मन, वचन, कायरूपी योग की मुक्ति के लिए योगीश्वरों के रोग-रहितपना किया जाता है; उसके धर्म का वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं है।।४०/९३३।।

अब, पुन: इस पद्य द्वारा प्रस्तुत दान का माहात्म्य वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **चारित्रं दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नय:।**
सर्वेऽपि विहितास्तेन दत्तं येनौषधं सताम्।।४१/९३४।।

जिसने औषध साधु को दी उसने चारित्र विनय।
स्वाध्याय नय दर्शन ज्ञान आदि किया सभी कुछ।।४१/९३४।।

शब्दश: अर्थ : चारित्रं=आचरण; दर्शनं=श्रद्धान; ज्ञानं=जानकारी; स्वाध्याय:=अध्ययन; विनय:=नम्रता; नय:=नीति; सर्वे=सब; अपि=भी; विहिता:=किया; तेन=उसके द्वारा; दत्तं=दिया गया; येन=जिसके द्वारा; औषधं=औषध; सतां=साधुओं को।

अन्वय : येन सतां औषधं दत्तं तेन चारित्रं... शेष अन्वय में है।

वचनिका : जिसने साधुओं को औषध-दान दिया; उसने चारित्र, दर्शन, ज्ञान, स्वाध्याय, विनय, नीति आदि ये सभी किए।

भावार्थ : औषध से शरीर निरोग होता है, तब धर्म के सभी साधन बनते हैं—ऐसा जानना।।४१/९३४।।

इसप्रकार औषध-दान के फल का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे नौ पद्यों द्वारा शास्त्र-दान का माहात्म्य वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम चार पद्यों द्वारा ज्ञान के लाभ बताते हुए शास्त्र/ज्ञान-दाता की महिमा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सन्सृतिश्छिद्यते येन निर्वृत्तिर्येन दीयते।**
मोहो विधूयते येन विवेको येन जन्यते।।४२/९३५।।
कषायो मर्द्यते येन मानसं येन शम्यते।
अकृत्यं त्याज्यते येन कृत्यं येन प्रवर्त्यते।।४३/९३६।।

तत्त्वं प्रकाश्यते येन येनातत्त्वं निषिध्यते।
संयम: क्रियते येन सम्यक्त्वं येन पोष्यते।।४४/९३७।।
देहिभ्यो दीयते येतच्छास्त्रं सिद्धिलब्धये।
कस्तेन सदृशो धन्यो विद्यते भुवनत्रये।।४५/९३८।।

जिससे छेद भव का हो जो देता है मोक्ष को।
मोह धुलता है जिससे जिससे विवेक जन्म हो।।४२/९३५।।
कषायें मिटतीं जिससे जिससे मानस शांत हो।
अकार्य जो छुड़ा देता जिससे कार्य प्रवृत्ति हो।।४३/९३६।।
जिससे तत्त्व प्रकाशित हो अतत्त्व का निषेध हो।
जिससे संयम किया जाता समकित जिससे पुष्ट हो।।४४/९३७।।
मुक्ति हेतु वे शास्त्र जिसने प्राणी को दिए।
उसके समान त्रय-जग में कौन धन्य अन्य है?।।४५/९३८।।

शब्दश: अर्थ : सन्सृति:=संसार; छिद्यते=नष्ट हो जाता है; येन=जिससे; निर्वृत्ति:=मोक्ष; येन=जिससे; दीयते=दिया जाता है; मोह:=मोह; विधूयते=धो दिया जाता है; येन=जिससे; विवेक:=स्व-पर का भेद-विज्ञान; येन=जिससे; जन्यते=प्रकट होता है।

कषाय:=क्रोधादि कषाय; मर्द्यते=मर्दित की जाती है; येन=जिससे; मानसं=मन; येन= जिससे; शम्यते=शांत किया जाता है; अकृत्यं=नहीं करने-योग्य को; त्याज्यते=छुड़ाया जाता है; येन=जिससे; कृत्ये=करने-योग्य में; येन=जिससे; प्रवर्त्यते=प्रवृत्ति कराई जाती है।

तत्त्वं=तत्त्व को; प्रकाश्यते=प्रकाशित किया जाता है; येन=जिससे; येन=जिससे; अतत्त्वं=अतत्त्व को; निषिध्यते=निषेध किया जाता है; संयम:=संयम; क्रियते=किया जाता है; येन=जिससे; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व को; येन=जिससे; पोष्यते=पुष्ट किया जाता है।

देहिभ्य:=प्राणिओं के लिए; दीयते=दिया जाता है; येन=जिससे; तत्=उस; शास्त्रं= शास्त्र/ज्ञान को; सिद्धि-लब्धये=मोक्ष की प्राप्ति के लिए; क:=कौन; तेन=उससे; सदृश:= समान; धन्य:=धन्य; विद्यते=है; भुवन-त्रये=तीन-लोक में।

अन्वय : येन सन्सृति: छिद्यते येन निर्वृत्ति: दीयते येन मोह: विधूयते येन विवेक: जन्यते।
येन कषाय: मर्द्यते येन मानसं शम्यते येन अकृत्यं त्याज्यते येन कृत्ये प्रवर्त्यते।
येन तत्त्वं प्रकाश्यते येन अतत्त्वं निषिध्यते येन संयम: क्रियते येन सम्यक्त्वं पोष्यते।
तत् शास्त्रं सिद्धि-लब्धये येन देहिभ्य: दीयते भुवन-त्रये तेन सदृश: धन्य: क: विद्यते?

वचनिका : जिससे संसार छेदा जाता है, जिससे मोक्ष दिया जाता है, जिससे मोह छुड़ाया जाता है, जिससे विवेक उत्पन्न होता है; जिसके द्वारा क्रोधादि कषाय नष्ट की जाती है, जिससे मन शांत किया जाता है, जिससे अकार्य छुड़ाया जाता है, जिससे कृत्य में प्रवृत्ति कराई जाती है।

जिसके द्वारा पदार्थों का वास्तविक स्वरूप प्रकाशित किया जाता है, जिससे पदार्थों का अन्यथा स्वरूप निषेधा जाता है, जिससे संयम-भाव किया जाता है, जिससे सम्यक्त्व को पुष्ट किया जाता है; ऐसा वह शास्त्र/ज्ञान, मुक्ति की प्राप्ति के लिए जिसके द्वारा प्राणिओं को दिया जाता है; तीन-लोक में उसके समान धन्य व्यक्ति कौन है? कोई नहीं है।।४२-४५/९३५-९३८।।

क्या कुछ लौकिक फल भी ज्ञान-दान से प्राप्त होता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा दिया जाता है—

अनुष्टुभ् : **मुक्तिः प्रदीयते येन शास्त्र-दानेन पावनी।**
लक्ष्मीं सान्सारिकीं तस्य प्रददानस्य कः श्रमः।।४६/९३९।।

दी जाती पावन मुक्ति जिस सत् शास्त्र-दान से।
श्रम क्या उसे सांसारिक लक्ष्मी को देने में?।।४६/९३९।।

शब्दशः अर्थ : मुक्तिः=मोक्ष; प्रदीयते=दिया जाता है; येन=जिस; शास्त्र-दानेन=शास्त्र/ज्ञान के दान से; पावनी=पवित्र; लक्ष्मीं=लक्ष्मी को; सान्सारिकीं=सांसारिक; तस्य=उसका; प्रददानस्य=देने का; कः=क्या; श्रमः=प्रयत्न।

अन्वय : येन शास्त्र-दानेन पावनी मुक्तिः प्रदीयते तस्य सान्सारिकीं लक्ष्मीं प्रददानस्य श्रमः कः?

वचनिका : जिस शास्त्र-दान द्वारा पवित्र मोक्ष दिया जाता है, उसे सांसारिक लक्ष्मी देने का श्रम क्या है?

भावार्थ : जिससे मुक्ति प्राप्त होती है, उससे इंद्रादि पद-पाना दुर्लभ नहीं है।।४६/९३९।।

यही भाव ज्ञान के संदर्भ में अब, इस पद्य द्वारा प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **लभ्यते केवलज्ञानं यतो विश्वावभासकम्।**
अपर-ज्ञान-लाभेषु कीदृशी तस्य वर्णना।।४७/९४०।।

विश्व-प्रकाशक केवलज्ञान जिससे प्राप्त है।
अन्य ज्ञान-प्राप्ति में उसका कैसा कथन है?।।४७/९४०।।

शब्दशः अर्थ : लभ्यते=प्राप्त हो जाता है; केवलज्ञानं=सर्वज्ञता; यतः=जिससे; विश्व+अवभासकं=विश्व को प्रकाशित करनेवाला; अपर-ज्ञान-लाभेषु=अन्य ज्ञानों की प्राप्ति में;

कीदृशी=कैसी; तस्य=उसका; वर्णना=कथनी।

अन्वय : यत: विश्व-अवभासकं केवलज्ञानं लभ्यते तस्य अपर-ज्ञान-लाभेषु कीदृशी वर्णना?

वचनिका : जिस शास्त्र/ज्ञान-दान से विश्व का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है; उसके मति-ज्ञानादि अन्य ज्ञानों की प्राप्ति में कथनी कैसी? अन्य ज्ञान पाना तो सहज ही है।।४७/९४०।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञान-दान का लौकिक और पारमार्थिक फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **मर्त्यामरश्रियं भुक्त्वा भुवनोत्तमपूजिताम्।**
ज्ञानदानप्रसादेन जीवो गच्छति निर्वृत्तिम्।।४८/९४१।।
लोकोत्तम पूजित लक्ष्मी नर सुरों की भोगकर।
ज्ञान दान के फल में जाता मोक्ष वह मनुज।।४८/९४१।।

शब्दश: अर्थ : मर्त्य+अमर-श्रियं=मनुष्य और देवों की लक्ष्मी को; भुक्त्वा=भोगकर; भुवन +उत्तम-पूजितां=लोक में उत्तम और पूज्य; ज्ञान-दान-प्रसादेन=ज्ञान-दान के परिणाम-स्वरूप; जीव:=जीव; गच्छति=जाता है; निर्वृत्तिं=मोक्ष को।

अन्वय : ज्ञान-दान प्रसादेन भुवन-उत्तम-पूजितां मर्त्य-अमर-श्रियं भुक्त्वा जीव: निर्वृत्तिं गच्छति।

वचनिका : ज्ञान-दान के प्रसाद से लोक में उत्तम और पूजित मनुष्यों की और देवों की लक्ष्मी को भोगकर जीव, मुक्ति को प्राप्त होता है।।४८/९४१।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञान-दान के संदर्भ में 'जैसा दिया-वैसा पाया'—इस सूक्ति को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **चतुरङ्गं फलं येन दीयते शास्त्र-दायिना।**
चतुरङ्गं फलं तेन लभ्यते न कथं स्वयम्।।४९/९४२।।
जिस शास्त्र-दाता ने दिया है चतुरंग फल।
उससे स्वयं कैसे नहिं प्राप्त हो चतुरंग फल?।।४९/९४२।।

शब्दश: अर्थ : चतु:+अङ्गं=धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थवाले; फलं=फल को; येन=जिसके द्वारा; दीयते=दिया जाता है; शास्त्र-दायिना=शास्त्र-देनेवाले द्वारा; चतुरङ्गं=धर्मादि चार पुरुषार्थवाले; फलं=फल को; तेन=उसके द्वारा; लभ्यते=प्राप्त किया जाता है; न=नहीं; कथं=कैसे; स्वयं=अपने आप।

अन्वय : येन शास्त्र-दायिना चतु:-अङ्गं फलं दीयते तेन चतु:-अङ्गं फलं स्वयं कथं न लभ्यते?

वचनिका : शास्त्र को देनेवाले जिस व्यक्ति द्वारा चतुरंग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थमय फल दिया जाता है; उसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फल स्वयमेव कैसे नहीं प्राप्त किया जाता है?।।४९/९४२।।

अब, इस पद्य द्वारा शास्त्र-दान का परिणाम प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **शास्त्र-दायी सतां पूज्यः सेवनीयो मनीषिणाम्।**
वादी वाग्मी कविर्मान्यः ख्यात-शिक्षः प्रजायते।।५०/९४३।।

शास्त्र-दाता संतों से पूज्य विद्वत्-सेव्य हो।
वादी वाग्मी कवि मान्य ख्यात-शिक्षावान हो।।५०/९४३।।

शब्दशः अर्थ : शास्त्र-दायी=शास्त्र/ज्ञान देनेवाला; सतां=सज्जनों के; पूज्यः=पूज्य/वंदनीय; सेवनीयः=सेवन करने-योग्य; मनीषिणां=विद्वानों के; वादी=वादिओं को जीतनेवाले वचन-युक्त; वाग्मी=सभा को रंजित करनेवाला वक्ता; कविः=नवीन ग्रंथों की रचना करनेवाला कवि; मान्यः=स्वीकार करने/मानने-योग्य; ख्यात-शिक्षः=विख्यात/प्रसिद्धि-प्राप्त शिक्षावाला; प्रजायते=होता है।

अन्वय : मनीषिणः सेवनीयः—इस परिवर्तन के अतिरिक्त संपूर्ण पद्य अन्वयरूप ही है।

वचनिका : शास्त्र को देनेवाला व्यक्ति संतों द्वारा पूजनीय, पंडितों द्वारा सेवनीय, वादिओं को जीतनेवाले वचन-युक्त वादी, सभा को रंजायमान करनेवाला वक्ता, नवीन ग्रंथों की रचना करनेवाला कवि, मानने-योग्य, ख्याति-प्राप्त शिक्षावाला होता है।।५०/९४३।।

इसप्रकार शास्त्र-दान-फल-प्ररूपण समाप्त हुआ।

अब, इस पद्य द्वारा वसतिका-दान का फल निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **विचित्र-रत्ननिर्माणः प्रोत्तुङ्गो बहुभूमिकः।**
लभ्यते वासदानेन वासश्चन्द्रकरोज्ज्वलः।।५१/९४४।।

वसतिका दान से शशिकर-वत् उज्ज्वल बहु रत्न से।
निर्मित ऊँचा बहुत मंजिलवाला महल सदा मिले।।५१/९४४।।

शब्दशः अर्थ : विचित्र-रत्न-निर्माणः=अनेक प्रकार के रत्नों से बना हुआ; प्र+उत्तुङ्गः=बहुत ऊँचा; बहु-भूमिकः=अनेकों मंजिलवाला; लभ्यते=प्राप्त होता है; वास-दानेन=वसतिका के दान से; वासः=भवन; चन्द्र-कर+उज्ज्वलः=चंद्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल।

अन्वय : वास-दानेन विचित्र-रत्न-निर्माणः प्र-उत्तुङ्गः बहु-भूमिकः चन्द्र-कर-उज्ज्वलः वासः लभ्यते।

वचनिका : वसतिका का दान देने से अनेक रत्नों से बना हुआ, बहुत ऊँचा, अनेक खंडों वाला, चंद्रमा की किरणों के समान उज्ज्वल महल प्राप्त होता है।।५१/९४४।।

अब, इस पद्य द्वारा वस्त्र-दान का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **कोमलानि महार्घ्याणि विशालानि घनानि च।**
वासो दानेन वासान्सि सम्पद्यन्ते सहस्रशः।।५२/९४५।।

वस्त्र-दान से कोमल बहु-मूल्य विशाल भी।
सघन वस्त्र हजारों भी मिलते हैं उसको सभी।।५२/९४५।।

शब्दशः अर्थ : कोमलानि=कोमल/मुलायम; महा+अर्घ्याणि=बहुत मूल्यवान; विशालानि=बड़े; घनानि=सघन; च=और; वासः=वस्त्र का; दानेन=दान से; वासान्सि=वस्त्र; सम्पद्यन्ते=प्राप्त होते हैं; सहस्रशः=हजारों।

अन्वय : वासः दानेन कोमलानि महा-अर्घ्याणि विशालानि च घनानि सहस्रशः वासान्सि सम्पद्यन्ते।

वचनिका : वस्त्र-दान से कोमल, महा-मूल्यवान, विशाल और सघन हजारों वस्त्र प्राप्त होते हैं।

भावार्थ : आर्यिका, श्रावक, श्राविका इत्यादि को वस्त्र-दान करते हैं। उसका फल यहाँ कहा है।।५२/९४५।।

अब, इस पद्य द्वारा पीने-योग्य पदार्थ के दान का फल प्रदर्शित है—

अनुष्टुभ् : **ददती जनतानन्दं चन्द्रकान्तिरिवामला।**
जायते पानदानेन वाणी तापपनोदिनी।।५३/९४६।।

पानक-दान से होती जनता को आनंद-प्रद।
ताप-विनाशकी वाणी निर्मल चंद्रकांति-वत्।।५३/९४६।।

शब्दशः अर्थ : ददती=देती हुई; जनता+आनन्दं=प्राणिओं को आनंद; चन्द्र-कान्तिः=चंद्रमा की कांति/प्रभा अथवा चंद्र-कांत-मणि; इव=समान; अमला=अत्यंत स्वच्छ/दोष-रहित; जायते=होती है; पान-दानेन=पानक के दान से; वाणी=वचन; ताप-पनोदिनी=ताप को नष्ट करनेवाली।

अन्वय : पान-दानेन जनता-आनन्दं ददती चन्द्र-कान्तिः इव अमला ताप-पनोदिनी वाणी जायते।

वचनिका : पीने-योग्य पदार्थ का दान देने से लोगों को आनंद देनेवाली, चंद्रमा की कांति अथवा चंद्र-कांत-मणि के समान निर्मल, ताप को नष्ट करनेवाली वाणी होती है।।५३/९४६।।

अब, इस पद्य द्वारा प्राषुक द्रव्य के दान का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **ददानः प्राषुकं द्रव्यं रत्न-त्रितय-बृंहकम्।**
काङ्क्षितं सकलं द्रव्यं लभते परं दुर्लभम्।।५४/९४७।।
रत्न-त्रय वृद्धि-कारक प्राषुक द्रव्य प्रदान से।
अन्य को दुर्लभ वांक्षित सभी द्रव्य सदा मिलें।।५४/९४७।।

शब्दशः अर्थ : ददान:=देनेवाला; प्र+आसुकं=जीव-रहित/शुद्ध; द्रव्यं=पदार्थ को; रत्न-त्रितय-बृंहकं=सम्यक् रत्न-त्रय को बड़ानेवाले को; काङ्क्षितं=चाहा गया; सकलं=सभी; द्रव्यं =पदार्थ को; लभते=प्राप्त करता है; परं=अन्य को; दुर्लभं=कठिनता से प्राप्त होनेवाले को।

अन्वय : रत्न-त्रितय-बृंहकं प्राषुकं द्रव्यं ददान: परं दुर्लभं काङ्क्षितं सकलं द्रव्यं लभते।

वचनिका : रत्न-त्रय को बड़ाने वाले प्राषुक द्रव्य को देनेवाला व्यक्ति, अन्य को दुर्लभ, चाहे गए सभी पदार्थ प्राप्त करता है।।५४/९४७।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्ति पूर्वक दान का फल निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **विश्राणयति यो दानं सेवमानस्तपस्विनः।**
सेव्यते भुवनाधीशैः स सदा सुख-काङ्क्षिभिः।।५५/९४८।।
तपस्वी की सेवा करते दान जो देता उन्हें।
वह सदा सुख के कांक्षी इंद्रादि से सेव्य है।।५५/९४८।।

शब्दशः अर्थ : विश्राणयति=देता है; य:=जो; दानं=दान को; सेवमान:=सेवा करता हुआ; तपस्विन:=तपस्वी का; सेव्यते=सेव्य होता है; भुवन+अधीशै:=इंद्रों द्वारा; स:=वह; सदा=हमेशा; सुख-काङ्क्षिभि:=सुख के इच्छुकों द्वारा।

अन्वय : तपस्विन: सेवमान: य: दानं विश्राणयति स: सुख-काङ्क्षिभि: भुवन-अधीशै: सदा सेव्यते।

वचनिका : तपस्विओं की सेवा करता हुआ जो दान देता है; वह सुख के वांक्षक इंद्रादि द्वारा सदा सेव्य होता है।।५५/९४८।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रशंसा पूर्वक दान देने का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यः प्रशन्सापरो नत्वा दानं यच्छति योगिनाम्।**
प्रशस्यः स सदा सद्भिर्जिनेन्द्र इव नम्यते।।५६/९४९।।
प्रशंसा पूर्वक नमकर योगी को जो दान दे।
वह प्रशस्य सदा नम्य जिनवर-वत् सत्पुरुष से।।५६/९४९।।

शब्दशः अर्थ : य:=जो; प्रशन्सा-पर:=प्रशंसा में लगा हुआ; नत्वा=नमनकर; दानं=दान

को; यच्छति=देता है; योगिनां=योगिओं के; प्रशस्य:=प्रशंसा के योग्य; स:=वह; सदा= हमेशा; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; जिनेन्द्र:=अरहंत तीर्थंकर; इव=समान; नम्यते=नमन-योग्य होता है।

अन्वय : प्रशन्सा-पर: य: नत्वा योगिनां दानं यच्छति प्रशस्य: स: जिनेन्द्र: इव सद्भिः नम्यते।

वचनिका : प्रशंसा में तत्पर हुआ जो नमनकर योगिओं को दान देता है; प्रशंसा के योग्य वह, जिनेन्द्र भगवान तीर्थंकरदेव के समान सज्जनों द्वारा नमन के योग्य हो जाता है।।५६/९४९।।

अब, इस पद्य द्वारा शुश्रूषा पूर्वक दान देने का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **दत्ते शुश्रूषयित्वा यो दानं संयमशालिनाम्।**
शुश्रूष्यते बुधैरेष भक्त्या गुरुरिवानिशम्।।५७/९५०।।

शुश्रूषा करके जो संयमी को दान दे।
वह गुरु-सम सदा बुध से शुश्रूषा को प्राप्त है।।५७/९५०।।

शब्दश: अर्थ : दत्ते=देता है; शुश्रूषयित्वा=शुश्रूषा करके; य:=जो; दानं=दान को; संयम-शालिनां=संयम-संपन्नों की; शुश्रूष्यते=शुश्रूषा की जाती है; बुधै:=ज्ञानिओं द्वारा; एष:=यह; भक्त्या=भक्ति से; गुरु:=गुरु; इव=समान; अनिशं=सदा।

अन्वय : शुश्रूषयित्वा य: संयम-शालिनां दानं दत्ते एष: गुरु इव अनिशं भक्त्या बुधै: शुश्रूष्यते।

वचनिका : शुश्रूषा करके जो संयमी मुनिओं को दान देते हैं; यह गुरु के समान निरंतर भक्ति से ज्ञानिओं द्वारा शुश्रूषा को प्राप्त होता है।।५७/९५०।।

अब, इस पद्य द्वारा आदर-सहित दान देने का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आदृत्य दीयते दानं साधुभ्यो येन सर्वदा।**
आदरेणैव लोकेन निधानमिव गृह्यते।।५८/९५१।।

दान देता आदर से साधु को जो सर्वदा।
निधान-सम लोगों से यह आदर पाता सदा।।५८/९५१।।

शब्दश: अर्थ : आदृत्य=आदर करके; दीयते=दिया जाता है; दानं=दान; साधुभ्य:=साधुओं के लिए; येन=जिसके द्वारा; सर्वदा=हमेशा; आदरेण=आदर से; एष:=यह; लोकेन=प्राणिओं द्वारा; निधानं=वैभव; इव=समान; गृह्यते=ग्रहण किया जाता है।

अन्वय : येन आदृत्य साधुभ्य: सर्वदा दानं दीयते निधानं इव एष: लोकेन आदरेण गृह्यते।

वचनिका : जिस व्यक्ति द्वारा आदर पूर्वक साधुओं के लिए सदा दान दिया जाता है; निधान के समान यह व्यक्ति, लोक द्वारा आदर पूर्वक ग्रहण किया जाता है।।५८/९५१।।

अब, इस पद्य द्वारा पूजा, स्तुति पूर्वक दान देने का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **पूजापरायणः स्तुत्वा यो यच्छति महात्मनाम्।**
त्रिदशैस्तीर्थकारीव स्तावं स्तावं स पूज्यते।।५९/९५२।।

पूजा-परायणी हो जो स्तुतिकर दे साधु को।
देवों द्वारा तीर्थंकर-वत् स्तुत्य रु पूज्य हो।।५९/९५२।।

शब्दशः अर्थ : पूजा-परायणः=पूजा में तत्पर; स्तुत्वा=स्तुतिकर; यः=जो; यच्छति=देता है; महात्मनां=साधुओं के; त्रिदशैः=देवों द्वारा; तीर्थ-कारी=तीर्थंकर; इव=समान; स्तावं= स्तुतिकर; स्तावं=स्तुतिकर; सः=वह; पूज्यते=पूजा जाता है।

अन्वय : पूजा-परायणः यः स्तुत्वा महात्मनां यच्छति त्रिदशैः तीर्थ-कारी इव सः स्तावं-स्तावं पूज्यते।

वचनिका : पूजा में परायण जो व्यक्ति, स्तुतिकर साधु पुरुषों को दान देता है; वह व्यक्ति, जैसे—देवों द्वारा तीर्थंकर-देव पूज्य हैं; उसीप्रकार स्तुति कर-करके पूज्य हो जाता है।।५९/९५२।।

अब, इस पद्य द्वारा विज्ञ-मान्य दान को भक्ति पूर्वक देने का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **यद्यद्दानं सतामिष्टं तपः संयम पोषकम्।**
तत्तद्वितरता भक्त्या प्राप्यते फलमीक्षितम्।।६०/९५३।।

तप संयम-पोषक जो जो दान सज्जन-मान्य हैं।
भक्ति पूर्वक उन्हें देने से वांक्षित फल प्राप्त हैं।।६०/९५३।।

शब्दशः अर्थ : यत्=जो; यत्=जो; दानं=दान; सतां=सज्जनों के; इष्टं=मान्य है; तपः-संयम-पोषकं=तप और संयम को पुष्ट करनेवाला; तत्=उसको; तत्=उसको; वितरता=देने से; भक्त्या=भक्ति पूर्वक; प्राप्यते=प्राप्त होता है; फलं=फल; ईक्षितं=वांक्षित।

अन्वय : तपः-संयम-पोषकं यत्-यत् दानं सतां इष्टं तत्-तत् भक्त्या वितरता ईक्षितं फलं प्राप्यते।

वचनिका : तप और संयम को पुष्ट करनेवाला जो-जो दान सज्जनों को मान्य हैं; उस-उस को भक्ति पूर्वक देने से वांक्षित फल प्राप्त होता है।।६०/९५३।।

अब, इस पद्य द्वारा विधान पूर्वक दान देने की सीमा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **दानानीमानि यच्छन्ति स्तोकान्यपि महाफलम्।**
वीजानीव वटादीनां निहितानि विधानतः।।६१/९५४।।

विधि पूर्वक थोड़ा भी देता दान विशाल फल।
विधि पूर्वक बोए हैं बरगद बीज-सम सतत।।६१/९५४।।

शब्दशः अर्थ : दानादि=दान; इमानि=ये; यच्छन्ति=देते हैं; स्तोकानि=अल्प; अपि=भी; महा-फलं=विशाल फल को; वीजानि=बीज; इव=समान; वट+आदीनां=बरगद आदि के; निहितानि=बोए गए; विधानत:=विधि पूर्वक।

अन्वय : वट-आदीनां विधानत: निहितानि वीजानि इव विधानत: स्तोकानि अपि इमानि दानादि महा-फलं यच्छन्ति।

वचनिका : जैसे—बरगद आदि के विधि पूर्वक बोए गए बीज, बड़े/बहुत-फल देते हैं; उसी प्रकार विधान पूर्वक थोड़े भी दिए गए ये दान, महा-फल देते हैं।।६१/९५४।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्यादृष्टि के दान का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **पात्रेभ्य: य: प्रकृष्टेभ्य: मिथ्यादृष्टि: प्रयच्छति।**
स याति भोग-भूमीषु प्रकृष्टासु महोदय:।।६२/९५५।।
जो मिथ्यात्वी देता दान उत्तम पात्रों के लिए।
वह महोदय जाता है उत्तम भोगभूमि में।।६२/९५५।।

शब्दशः अर्थ : पात्रेभ्य:=पात्रों के लिए; य:=जो; प्रकृष्टेभ्य:=उत्कृष्टों के लिए; मिथ्यादृष्टि:= विपरीत मान्यतावाला; प्रयच्छति=देता है; स:=वह; याति=जाता है; भोग-भूमीषु=भोग-भूमिओं में; प्रकृष्टासु=उत्कृष्टों में; महा+उदय:=महान उदयवाला।

अन्वय : य: मिथ्यादृष्टि: प्रकृष्टेभ्य: प्रयच्छति महा-उदय: स: प्रकृष्टासु भोग-भूमीषु याति।

वचनिका : जो मिथ्यादृष्टि उत्कृष्ट पात्रों के लिए दान देता है; महान उदयवाला वह उत्कृष्ट भोग-भूमिओं में जाता है।।६२/९५५।।

अब, इस पद्य द्वारा उत्तम भोग-भूमि प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **क्रोश-त्रय-वपुस्तत्र त्रिपल्योपम-जीवित:।**
चिन्ताकल्पित-सान्निध्यं स भोग-सुखमश्नुते।।६३/९५६।।
तीन कोस ऊँचा तन जीवन तीन पल्य वह।
सोचा हुआ निकट स्थित पाता भोगों का हि सुख।।६३/९५६।।

शब्दशः अर्थ : कोश-त्रय-वपु:=तीन कोस शरीर; तत्र=वहाँ; त्रि-पल्य-उपमा-जीवित:=तीन पल्योपमवाला जीवन; चिन्ता-कल्पित-सान्निध्यं=सोचा हुआ तत्क्षण निकट स्थित; स:=वह; भोग-सुखं=भोगों के सुख को; अश्नुते=भोगता है।।६३/९५६।।

अब, इस पद्य द्वारा उस जीव की मन:-स्थिति बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **सदा मनोऽनुकूलाभि: सेव्यमाना दिवानिशम्।**
नारीभिर्न गतं कालं जानन्ते भोग-भूभुव:।।६४/९५७।।
मनोनुकूल नारी से सदा सेवन किए गए।
भोग-भूमिज रत इतने बीता काल न जानते।।६४/९५७।।

शब्दश: अर्थ : सदा=हमेशा; मन:+अनुकूलाभि:=मन के लिए अनुकूल द्वारा; सेव्यमाना:=सेवन किए गए; दिवा-निशं=दिन-रात; नारीभि:=स्त्रिओं द्वारा; न=नहीं; गतं=बीता हुआ; कालं =समय को; जानन्ते=जानते हैं; भोग-भू-भुव:=भोग-भूमि में जन्म लेनेवाले।

अन्वय : मन:-अनुकूलाभि: नारीभि: सदा सेव्यमाना: भोग-भू-भुव: दिवा-निशं गतं कालं न जानन्ते।

वचनिका : मनोनुकूल स्त्रिओं द्वारा सदा सेवन किए गए वे भोग-भूमिज दिन-रात, बीते हुए काल को नहीं जानते हैं।।६४/९५७।।

अब, इस पद्य द्वारा दान के संदर्भ में कारण के अनुरूप कार्य की सूक्ति को घटित करते हैं —

अनुष्टुभ् : **मध्यमानां स पात्राणां दानतो याति मध्यमाम्।**
कारणस्यानुरूपं हि कार्यं जगति जायते।।६५/९५८।।
मध्यम पात्रों को देने से जाता मध्यम में।
कार्य कारण के अनुरूप देखा जाता जगत में।।६५/९५८।।

शब्दश: अर्थ : मध्यमानां=मध्यमों के; स:=वह; पात्राणां=पात्रों के; दानत:=दान से; याति=जाता है; मध्यमां=मध्यम भोग-भूमि को; कारणस्य=कारण का; अनुरूपं=अनुसरण कर; हि=क्योंकि/वास्तव में; कार्यं=काम; जगति=जगत में; जायते=उत्पन्न होता है।

अन्वय : स: मध्यमानां पात्राणां दानत: मध्यमां याति हि जगति कारणस्य अनुरूपं कार्यं जायते।

वचनिका : वह दाता, मध्यम पात्रों को दान देने से मध्यम भोग-भूमि को प्राप्त होता है; क्योंकि लोक में कारण के अनुरूप कार्य/जैसा कारण, वैसा कार्य होता है।।६५/९५८।।

अब, इस पद्य द्वारा मध्यम भोग-भूमि निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **द्वि-क्रोशोच्छ्रय-देहोऽसौ द्विपल्यायुर्निरामय:।**
स तत्रास्ते महावास: कान्ताक्षाम्भोज-षट्पद:।।६६/९५९।।
दो कोस ऊँचे तन दो पल्य आयु निरोगता।
स्त्री नेत्र-कमल-भोंरा महावासी रहे वहाँ।।६६/९५९।।

शब्दश: अर्थ : द्वि-क्रोश+उच्छ्रय-देह:=दो कोस ऊँचे शरीरवाला; असौ=वह; द्वि-पल्य +आयु:=दो पल्य की आयुवाला; नि:+आमय:=रोग-रहित; स:=वह; तत्र=वहाँ; आस्ते= रहता है; महा+आवास:=बड़े निवासवाला; कान्ता+अक्ष+अम्भोज-षट्पद:=स्त्री के नेत्र रूपी कमलों पर भ्रमर के समान।

अन्वय : असौ द्वि-क्रोश-उच्छ्रय-देह: द्वि-पल्य-आयु: नि:-आमय: महा-आवास: कान्ता-अक्ष-अम्भोज-षट्पद: स: तत्र आस्ते।

वचनिका : वह मध्यम भोग-भूमिज, दो कोस ऊँचे शरीरवाला, दो पल्योपम की आयु-युक्त, रोग-रहित, बड़े आवास अर्थात् स्थानवाला, स्त्री के नेत्रोंरूपी कमलों पर भोंरे के समान वहाँ रहता है।।६६/९५९।।

अब, इस पद्य द्वारा जघन्य-पात्र को दान देने का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जघन्येभ्य: स पात्रेभ्य: जघन्यां याति दानत:।**
एक-क्रोशोच्छ्रयं भूमिमेक-पल्योपमस्थितिम्।।६७/९६०।।

जघन्य पात्र को दान से जघन्य भूमि में गया।
एक कोस ऊँचा तन एक पल्य स्थिति वहाँ।।६७/९६०।।

शब्दश: अर्थ : जघन्येभ्य:=जघन्यों के लिए; स:=वह; पात्रेभ्य:=पात्रों के लिए; जघन्यां=जघन्य को; याति=जाता है; दानत:=दान से; एक-क्रोश-उच्छ्रयं=एक कोस ऊँचे; भूमिं=भोग-भूमि को; एक-पल्य+उपमा-स्थितिं=एक पल्योपम की आयु को।

अन्वय : जघन्येभ्य: पात्रेभ्य: दानत: स: एक-क्रोश-उच्छ्रयं एक-पल्योपम-स्थितिं जघन्यां भूमिं याति।

वचनिका : जघन्य-पात्रों के लिए दान देने से वह दाता, एक कोस ऊँचे शरीरवाली, एक पल्योपम की स्थितिवाली जघन्य भोग-भूमि को जाता है।।६७/९६०।।

अब, इस पद्य द्वारा उन भोग-भूमिजों का आहार प्ररूपित है—

आर्या : **वरदामलकविभीतकमात्रं त्रिद्व्येकवासरै: क्रमत:।**
आहारं कल्याणं दिव्य-रसं भुञ्जते धन्य:।।६८/९६१।।

बेर आँवला बहेड़ा जितना क्रमश: दिन तीन दो एक।
से कल्याण सुस्वादु भोजन भोगें सदा धन्य।।६८/९६१।।

शब्दश: अर्थ : वरद+अमलक-विभीतक-मात्रं=बेर, आँवला, बहेड़ा के बराबर; त्रि-द्वि +एक-वासरै:=तीन, दो, एक दिनों द्वारा; क्रमत:=क्रम से; आहारं=भोजन को; कल्याणं= कल्याणरूप; दिव्य-रसं=दिव्य स्वादवाले; भुञ्जते=भोगता है; धन्य:=पुण्य-शाली।

अन्वय : धन्य: क्रमत: त्रि-द्वि-एक-वासरै: वरद-अमलक-विभीतक-मात्रं कल्याणं दिव्य-रसं आहारं भुञ्जते।

वचनिका : वे पुण्यवान भोग-भूमिज, क्रमश: बेर, आँवला, बहेड़ा के बराबर; तीन, दो, एक दिन के अंतर से कल्याणरूप, दिव्य स्वादवाला आहार ग्रहण करते हैं।

भावार्थ : उत्तम भोग-भूमिज, तीन दिन में बेर प्रमाण; मध्यम भोग-भूमिज, दो दिन में आँवला प्रमाण; जघन्य भोग-भूमिज, एक दिन में बहेड़ा प्रमाण अर्थात् क्रमश: इतने दिन के अंतराल से इतना आहार ग्रहण करते हैं—ऐसा जानना।।६८/९६१।।

अब, इस पद्य द्वारा भावों के अनुसार भी भोग-भूमि की प्राप्ति प्ररूपित है—

आर्या : **विश्राणयन् यतीनामुत्तममध्यमजघन्यपरिणामैः।**
दानं यच्छति भूमीरुत्तम-मध्यम-जघन्या वा।।६९/९६२।।

देता उत्तम मध्यम जघन्य भावों से साधु को दान।
इससे उत्तम मध्यम जघन्य भूमि को पाता वह।।६९/९६२।।

शब्दश: अर्थ : विश्राणयन्=देता हुआ; यतीनां=साधुओं के; उत्तम-मध्यम-जघन्य-परिणामैः= उत्तम, मध्यम, जघन्य परिणामों द्वारा; दानं=दान को; यच्छति=पाता है; भूमी:=भोग-भूमिओं को; उत्तम-मध्यम-जघन्या:=उत्तम, मध्यम, जघन्य को; वा=अथवा।

अन्वय : यतीनां उत्तम-मध्यम-जघन्य-परिणामै: दानं विश्राणयन् उत्तम-मध्यम-जघन्या: वा भूमी: यच्छति।

वचनिका : तीन प्रकार के पात्रों के लिए दान देने से तीन प्रकार की भोग-भूमि मिलती हैं—पहले ऐसा कहा था। अब यह कह रहे हैं इसमें दूसरा प्रकार यह भी है कि यतिओं को उत्तम, मध्यम, जघन्य भावों द्वारा दान देनेवाला व्यक्ति क्रमश: उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग-भूमि को पाता है।।६९/९६२।।

अब, इस पद्य द्वारा भोग-भूमिजों का जीवन वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **सर्वे द्वन्द्व-परित्यक्ताः सर्वे क्लेशविवर्जिताः।**
सर्वे यौवनसम्पन्नाः सर्वे सन्ति प्रियम्वदाः।।७०/९६३।।

सभी द्वंद्वों से मुक्त सभी क्लेश-विहीन हैं।
सभी यौवन-संपन्न सभी प्रिय ही बोलते।।७०/९६३।।

शब्दश: अर्थ : सर्वे=सभी; द्वन्द्व-परित्यक्ता:=द्वंद्वों से पूर्णतया रहित; सर्वे=सभी; क्लेश-विवर्जिता:=कष्टों से रहित; सर्वे=सभी; यौवन-सम्पन्ना:=यौवन से संपन्न; सर्वे=सभी; सन्ति=हैं; प्रियम्वदा:=प्रिय बोलनेवाले।

अन्वय : 'सन्ति' को अंत में रखना है। शेष सभी अन्वय में है।

वचनिका : वे सभी भोग-भूमिज आजीविका के द्वंद्व से रहित, सभी क्लेशों से मुक्त, पूर्ण यौवन-संपन्न और प्रिय-वचन बोलते हैं।।७०/९६३।।

अब, इस पद्य द्वारा इन्हें कथंचित् सिद्धों के समान बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **मददैन्यश्रमायास-क्रोधलोभभयक्लमाः।**
मुक्तानामिव नो तेषां नाप्यन्यत्र गमागमः।।७१/९६४।।

क्रोध लोभ मद क्लेश भय श्रम दैन्य यत्न भी।
अन्यत्र जाना-आना सिद्धों-सम उनके नहीं।।७१/९६४।।

शब्दशः अर्थ : मद-दैन्य-श्रम+आयास-क्रोध-लोभ-भय-क्लमाः=घमंड, दीनता, श्रम, प्रयत्न, क्रोध, लोभ, डर, क्लेश; मुक्तानां=सिद्धों के; इव=समान; नो=नहीं; तेषां=उनके; न=नहीं; अपि=भी; अन्यत्र=दूसरे स्थानों पर; गम+आगमः=जाना-आना।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—मुक्तानां इव तेषां नो अन्यत्र गम-आगमः अपि न।

वचनिका : मद, दीनता, श्रम, प्रयास, क्रोध, लोभ, भय, क्लेश—ये सभी; मुक्तात्माओं के समान इनके नहीं हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन-आगमन/जाना-आना भी इनके नहीं है।

यहाँ मुक्तात्माओं का दृष्टांत दिया है; वह प्रकटरूप से मदादिमय कार्य भोग-भूमिजों में नहीं हैं; इसलिए उपचार से ऐसा कहा है। इन्हें सर्वथा वीतराग, मुक्त-आत्माओं के समान नहीं जान लेना।।७१/९६४।।

अब, इस पद्य द्वारा देव और भोग-भूमिजों का अंतर स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **अयमेव विशेषोऽस्ति देवेभ्यो भोगभोगिनाम्*।**
यत्ते यान्ति मृता नाकं देवास्तिर्यङ्नरत्वयोः।।७२/९६५।।

भोग-भूमिज देवों का इतना है विशेष ही।
वे मरकर होते देव देव नर तिर्यंच भी।।७२/९६५।।

शब्दशः अर्थ : अयं=यह; एव=ही; विशेषः=अंतर; अस्ति=है; देवेभ्यः=देवों से; भोग-भोगिनां=भोग-भोगिओं के/भोग-भागिनां=भोग के पात्रों अर्थात् भोगनेवालों के; यत्=जो; ते=वे; यान्ति=जाते हैं; मृता=मरे हुए/मरने के बाद; नाकं=देव को; देवाः=देव; तिर्यक्-नरत्वयोः=तिर्यंच और मनुष्यपने में।

* **भागिनाम् — इति पाठान्तरम्।**

अन्वय : देवेभ्य: भोग-भोगिनां/भागिनां अयं एव विशेष: अस्ति यत् ते मृता नाकं यान्ति देवा: तिर्यक्-नरत्वयो: यान्ति।

वचनिका : देवों से भोग-भूमिजों का यही भेद है कि भोग-भूमिज/भोगनेवाले मरकर देव-गति को प्राप्त होते हैं और देव मरकर तिर्यंच या मनुष्य-गति को प्राप्त होते हैं।।७२/९६५।।

ऐसा क्यों होता है? इसका सकारण उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **यतो मन्दकषायास्ते ततो यान्ति त्रिविष्टपम्।**
उक्तं तीव्र-कषायत्वं दुर्गते: कारणं परम्।।७३/९६६।।
क्योंकि मंद कषायी वे अत: जाते स्वर्ग को।
दुर्गति का परम कारण कहा तीव्र कषाय को।।७३/९६६।।

शब्दश: अर्थ : यत:=क्योंकि; मन्द-कषाया:=मंद-कषायवाले; ते=वे; तत:=इसलिए; यान्ति=जाते हैं; त्रिविष्टपं=स्वर्ग को; उक्तं=कहा है; तीव्र-कषायत्वं=तीव्र-कषायपने को; दुर्गते:=दुर्गति का; कारणं=साधन; परं=श्रेष्ठ।

अन्वय : यत: ते मन्द-कषाया: तत: त्रिविष्टपं यान्ति दुर्गते: परं कारणं तीव्र-कषायत्वं उक्तम्।

वचनिका : क्योंकि वे मंद-कषायी हैं; अत: स्वर्ग/देव-गति को प्राप्त होते हैं। दुर्गति का श्रेष्ठ/मूल कारण तीव्र-कषायपने को कहा है।।७३/९६६।।

उन्हें ये भोग कौन देता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **दीयन्ते चिन्तिता भोगा येषां कल्प-महीरुहै:।**
दशाङ्गै: क: सुखं तेषां शक्तो वर्णयितुं गिरा।।७४/९६७।।
जिन्हें दश कल्प-तरुओं से चिन्तित भोग दिए गए।
वाणी से उनका वर्णन करने कौन समर्थ है?।।७४/९६७।।

शब्दश: अर्थ : दीयन्ते=दिए जाते हैं; चिन्तिता:=सोचे गए; भोगा:=भोग; येषां=जिनके; कल्प-महीरुहै:=कल्प-वृक्षों द्वारा; दश+अङ्गै:=दश भेदवाले द्वारा; क:=कौन; सुखं=सुख को; तेषां=उनके; शक्त:=समर्थ; वर्णयितुं=वर्णन करने के लिए; गिरा=वाणी द्वारा।

अन्वय : येषां चिन्तिता: भोगा: दश-अङ्गै: कल्प-महीरुहै: दीयन्ते तेषां सुखं गिरा वर्णयितुं क: शक्त:?

वचनिका : जिन भोग-भूमिजों के वांक्षित भोग दश प्रकारवाले कल्प-वृक्षों द्वारा दिए जाते हैं; उनके सुख को वाणी द्वारा कहने के लिए कौन समर्थ है?।।७४/९६७।।

वहाँ क्या-क्या नहीं है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **न वियोग: प्रियै: सार्धं न संयोगोऽप्रियै: सह।**
न व्रतं न तपस्तेषां न वैरं न पराभव:।।७५/९६८।।

नहिं वियोग प्रियों का है अप्रिय का संयोग नहिं।
नहीं व्रत नहिं तप उनके नहिं अनादर बैर नहिं।।७५/९६८।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; वियोग:=छूट जाना; प्रियै:=इष्टों द्वारा; सार्धं=साथ; न=नहीं; संयोग:=मिलना; अप्रियै:=अनिष्टों द्वारा; सह=साथ; न=नहीं; व्रतं=पाँच पापों का त्याग; न=नहीं; तप:=इच्छा का निरोध; तेषां=उनके; न=नहीं; वैरं=बैर; न=नहीं; पराभव:=अनादर।

अन्वय : तेषां प्रियै: सार्धं वियोग: न अप्रियै: सह संयोग: न व्रतं न तप: न वैरं न पराभव: न।

वचनिका : उन भोग-भूमिजों के इष्ट पदार्थों के साथ वियोग नहीं है, अनिष्ट वस्तुओं के साथ संयोग नहीं है, व्रत नहीं, तप नहीं, बैर नहीं, पराभव/अनादर नहीं है।।७५/९६८।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक उनके पराधीनता का अभाव वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यत: स्वस्वामिसम्बन्धस्तेषां नास्ति कदाचन।**
पर-छन्दानुवर्तित्त्वं ततस्तेषां कुतस्तनम्।।७६/९६९।।

क्योंकि स्व-स्वामी संबंध उनके कभी है नहीं।
पराधीन प्रवृत्ति तब कैसे उनके हो कभी?।।७६/९६९।।

शब्दश: अर्थ : यत:=क्योंकि; स्व-स्वामि-सम्बन्ध:=स्व-स्वामी/सेवक-मालिक संबंध; तेषां=उनके; नास्ति=नहीं है; कदाचन=कभी; पर-छन्द+अनुवर्तित्त्वं=अन्य की इच्छानुसार प्रवृत्तिपना; तत:=इसलिए; तेषां=उनके; कुतस्तनं=कैसे।

अन्वय : यत: तेषां स्व-स्वामी-सम्बन्ध: कदाचन नास्ति तत: तेषां पर-छन्द-अनुवर्तित्त्वं कुतस्तनम्?

वचनिका : क्योंकि उन भोग-भूमिजों के स्व-स्वामी-संबंध अर्थात् सेवक-स्वामी/ईश्वरपने का संबंध कभी नहीं है; अत: पराधीन प्रवर्तनपना उनके कैसे हो?।।७६/९६९।।

अब, इस पद्य द्वारा उनमें नहीं पाए जानेवाले और कुछ तथ्य निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **नाऽपूर्णे समये सर्वे ते म्रियन्ते कदाचन।**
रचयन्ति न पैशून्यं सुखसागरमध्यगा:।।७७/९७०।।

वे सभी अपूर्ण आयु में कभी मरते नहीं।
सुख-सागर डूबे वे ईर्ष्या भी करते नहीं।।७७/९७०।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; अपूर्णे=अपूर्ण में; समये=काल में; सर्वे=सभी; ते=वे; म्रियन्ते=मरते

हैं; कदाचन=कभी; रचयन्ति=रचते/करते हैं; न=नहीं; पैशून्यं=पिशुनता/ईर्ष्या-भाव को; सुख-सागर-मध्यगा:=सुखरूपी सागर में निमग्न।

अन्वय : सुख-सागर-मध्यगा: ते सर्वे अपूर्णे समये कदाचन न म्रियन्ते पैशून्यं न रचयन्ति।

वचनिका : सुख-सागर के मध्य को प्राप्त वे सभी भोग-भूमिज आयु के अपूर्ण काल में/ अकाल-मरण से कभी नहीं मरते हैं, ईर्ष्या-भाव को नहीं करते हैं।।७७/९७०।।

अब, इस पद्य द्वारा भोग-भूमिजों की मृत्यु के बाह्य चिन्ह बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **आयासेन विना भोगी नीरोगीभूतविग्रह:।**
क्षुतेन पुरुषस्तत्र म्रियते जृम्भयाङ्गना।।७८/९७१।।

खेद से रहित भोगी रोग-रहित शरीर-युत।
पुरुष का छींक से स्त्री का जँभाई से मरण।।७८/९७१।।

शब्दश: अर्थ : आयासेन=यत्न के खेद से; विना=रहित; भोगी=भोग-संपन्न अथवा भोग-भूमिज; नीरोगी-भूत-विग्रह:=रोग-रहित शरीरवाला प्राणी; क्षुतेन=छींक द्वारा; पुरुष:=नर; तत्र=वहाँ; म्रियते=मरता है; जृम्भया=जँभाई से; अङ्गना=स्त्री।

अन्वय : तत्र आयासेन विना भोगी नीरोगी-भूत-विग्रह: पुरुष: क्षुतेन अङ्गना जृम्भया म्रियते।

वचनिका : वहाँ खेद के विना भोगों से सहित, रोग-रहित शरीर-धारी भोग-भूमिज पुरुष, छींक से और स्त्री, जँभाई से मरती है।।७८/९७१।।

अब, इस पद्य द्वारा भोग-भूमिजों की विशेषताएँ वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **ते जायन्ते कलालापा मकरध्वज-सन्निभा:।**
सर्वे भोगक्षमा: रम्या: दिनानां सप्त सप्तकै:।।७९/९७२।।

उनंचास दिनों में वे सब कला वाणी-सहित।
रम्य-भोग सक्षम हों सुंदर कामदेव-वत्।।७९/९७२।।

शब्दश: अर्थ : ते=वे; जायन्ते=हो जाते हैं; कला+आलापा:=सुंदर बोलनेवाले या कला पूर्ण वचन-युक्त; मकरध्वज-सन्निभा:=कामदेव के समान; सर्वे=सब; भोग-क्षमा:=भोग-भोगने में समर्थ; रम्या:=रमणीय; दिनानां=दिनों के; सप्त-सप्तकै:=सात सप्तक/उनंचास द्वारा।

अन्वय : ते सर्वे दिनानां सप्त-सप्तकै: कलालापा: मकर-ध्वज-सन्निभा: रम्या: भोग-क्षमा: जायन्ते।

वचनिका : वे सभी भोग-भूमिज दिनों के सात सप्तक अर्थात् उनंचास दिनों में सुंदर शब्दवाले, काम-देव के समान रूपवान, रमणीय भोग भोगने में समर्थ हो जाते हैं।।७९/९७२।।

अब, इस पद्य द्वारा वहाँ पुरुष और स्त्री के लिए किया जानेवाला संबोधन शब्द प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **कोमलालापया कान्तः कान्तयाऽऽर्यो निगद्यते।**
कान्तेनाऽऽर्या पुनः कान्ता चित्र-चाटुविधायिना।।८०/९७३।।
कोमल शब्दों से स्त्री आर्य कहती पुरुष को।
विविध चाटुकारी नर कहता आर्या नारि को।।८०/९७३।।

शब्दशः अर्थ : कोमल+आलापया=कोमल वचनों द्वारा; कान्तः=पति; कान्तया=स्त्री द्वारा; आर्यः=आर्य; निगद्यते=कहा जाता है; कान्तेन=पति द्वारा; आर्या=आर्या; पुनः=फिर/और; कान्ता=पत्नी; चित्र-चाटु-विधायिना=अनेक प्रकार से चाटुकारिता-संपन्न द्वारा।

अन्वय : कोमल-आलापया कान्तया कान्तः आर्यः निगद्यते पुनः चित्र-चाटु-विधायिना कान्तेन कान्ता आर्या निगद्यते।

वचनिका : कोमल वचन बोलनेवाली स्त्री, भोग-भूमिज अपने पति को आर्य कहती है और अनेक प्रकार से चाटु-कारी/खुसामद करनेवाला पति, भोग-भूमिज अपनी पत्नी को आर्या कहता है।

भावार्थ : स्त्री कोमल-वचन-सहित, पति से बोलती है; पति शुश्रूषा के वचन-सहित, पत्नी से बोलता है।।८०/९७३।।

अब, इस पद्य द्वारा दोनों का पारस्परिक व्यवहार निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **आदेयाः सुभगाः सौम्याः सुन्दराङ्गा वशम्वदाः।**
रमन्ते सह रामाभिः स्व-समाभिर्मिथो मुदा।।८१/९७४।।
आदेय सुंदर सौम्य सुंदर-तन मोहक वचन।
अपने समान पत्नि संग परस्पर रमते प्रसन्न।।८१/९७४।।

शब्दशः अर्थ : आदेयाः=आदर करने-योग्य; सुभगाः=अन्य को सुंदर लगनेवाले; सौम्याः=समता/शांत-स्वरूपी; सुन्दर+अङ्गाः=सुंदर शरीरवाले; वशम्वदाः=मनोहारी बोलनेवाले; रमन्ते=रमते हैं; सह=साथ; रामाभिः=सुंदर स्त्रिओं से; स्व-समाभिः=अपने समान से; मिथः=परस्पर; मुदा=हर्ष से।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—स्व-समाभिः रामाभिः सह मिथः मुदा रमन्ते।

वचनिका : आदेय/आदर करने-योग्य, सुभग, सौम्य, सुंदर शरीरवाले, मन-मोहक वचन

बोलनेवाले वे भोग-भूमिज अपने समान सुंदर स्त्रिओं के साथ परस्पर हर्ष-सहित रमते हैं।।८१/९७४।।

वहाँ शोकादि क्यों नहीं हैं? इसका सहेतुक उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **युग्ममुत्पद्यते सार्धं युग्मं यत्र विपद्यते।**
शोकाक्रन्दादयो दोषास्तत्र सन्ति कुतस्तना: ?।।८२/९७५।।

युगपत् जन्म लें दोनों जहाँ मरते हैं युगल।
शोक आक्रंद आदि दोष वहाँ कैसे होंगे तब?।।८२/९७५।।

शब्दश: अर्थ : युग्मं=दोनों; उत्पद्यते=उत्पन्न होते हैं; सार्धं=साथ; युग्मं=दोनों; यत्र=जहाँ; विपद्यते=मरते हैं; शोक-आक्रन्द+आदय:=शोक, आक्रंदन आदि; दोषा:=दोष; तत्र=वहाँ; संति=हैं; कुतस्तना:=कैसे।

अन्वय : यत्र युग्मं सार्धं उत्पद्यते युग्मं सार्धं विपद्यते तत्र शोक-आक्रन्द-आदय: दोषा: कुतस्तना: सन्ति?

वचनिका : जहाँ स्त्री-पुरुष का युगल एक साथ उत्पन्न होता है और युगल एक साथ ही मरता है; वहाँ शोक, रोना आदि दोष कैसे हो सकते हैं? नहीं होते हैं।।८२/९७५।।

अब, इस पद्य द्वारा वहाँ का मैत्री-पूर्ण वातावरण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **करि-केसरिणौ यत्र तिष्ठन्तौ बान्धवामिव।**
एकत्र सर्वदा प्रीत्यासख्यं तत्र किमुच्यते?।।८३/९७६।।

जहाँ बंधु-वत् रहते हाथी सिंह सर्वदा।
प्रीति से युगपत् कैसे वहाँ कहते शत्रुता?।।८३/९७६।।

शब्दश: अर्थ : करि-केसरिणौ=हाथी और सिंह; यत्र=जहाँ; तिष्ठन्तौ=रहते हैं; बान्धवां=बंधुओं के; इव=समान; एकत्र=एक साथ; सर्वदा=निरंतर; प्रीत्या=प्रीति से; असख्यं=शत्रुता; अथवा प्रीत्या सख्यं—ऐसा भी पाठ है—वहाँ अर्थ है प्रीती से मित्रता; तत्र=वहाँ; किं=क्या; उच्यते=कही जाती है।

अन्वय : यत्र करि-केसरिणौ बान्धवां इव एकत्र सर्वदा प्रीत्या तिष्ठन्तौ तत्र असख्यं/सख्यं किं उच्यते?

वचनिका : जहाँ हाथी और सिंह, बंधुओं के समान एक-साथ सतत प्रीति पूर्वक रहते हैं, वहाँ बैर-भाव का क्या कहना? वह तो वहाँ है ही नहीं? अथवा वहाँ की मित्रता का क्या कहना?—ऐसा जानना।।८३/९७६।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक कुपात्र-दान का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **कुपात्रदानतो याति कुत्सितां भोगमेदिनीम्।**
उप्ते कः कुत्सिते क्षेत्रे सुक्षेत्र-फलमश्नुते।।८४/९७७।।

कुपात्र-दान से कुत्सित भोग-भूमि प्राप्त हो।
कुत्सित क्षेत्र में बोए सुक्षेत्र फल कौन हों?।।८४/९७७।।

शब्दशः अर्थ : कुपात्र-दानतः=कुपात्र को दान देने से; याति=जाता है; कुत्सितां=खोटी; भोग-मेदिनीं=भोग-भूमि को; उप्ते=बोने पर; कः=कौन; कुत्सिते=खोटे; क्षेत्रे=खेत में; सुक्षेत्र-फलं=सुक्षेत्रवाले फल को; अश्नुते=प्राप्त होता है।

अन्वय : कुपात्र-दानतः कुत्सितां भोग-मेदिनीं याति कुत्सिते क्षेत्रे उप्ते सुक्षेत्र-फलं कः अश्नुते?

वचनिका : कुपात्र को दान देने से जीव कुभोग-भूमि को प्राप्त होता है। यहाँ दृष्टांत देते हैं—खोटे क्षेत्र में बीज बोने पर सुक्षेत्र के फल को कौन प्राप्त होता है? कोई नहीं।।८४/९७७।।

कुपात्र-दान से जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **येऽन्तरद्वीपजाः सन्ति ये नरा म्लेच्छखण्डजाः।**
कुपात्र-दानतः सर्वे ते भवन्ति यथायथम्।।८५/९७८।।

जो अंतर द्वीपज हैं म्लेच्छ-खंडज जो मनुज।
कुपात्र दान से होते हैं यथा-योग्य वे सब।।८५/९७८।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; अन्तर-द्वीपजाः=अंतर-द्वीपों में उत्पन्न होनेवाले; सन्ति=हैं; ये=जो; नराः=मनुष्य; म्लेच्छ-खण्डजाः=म्लेच्छ-खंडों में उत्पन्न होनेवाले; कुपात्र-दानतः=कुपात्र को दान देने से; सर्वे=सभी; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; यथायथं=यथा-योग्य।

अन्वय : ये अन्तर-द्वीपजाः म्लेच्छ-खण्डजाः नराः सन्ति ते सर्वे कुपात्र-दानतः यथायथं भवन्ति।

वचनिका : जो अन्तर-द्वीप अर्थात् लवण समुद्र और कालोद समुद्र में कुभोग-भूमि संबंधी छ्यानवै/द्वीप टापू विद्यमान हैं; उनमें उत्पन्न मनुष्य और म्लेच्छ-खंडों में उत्पन्न मनुष्य हैं; वे सभी कुपात्र-दान से यथा-योग्य होते हैं।।८५/९७८।।

अब, इस पद्य द्वारा तिर्यंचों में इसका फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **वर्य-मध्य-जघन्यासु तिर्यञ्चः सन्ति भूमिषु।**
कुपात्रदानवृक्षोत्थं भुञ्जन्ते तेऽखिलाः फलम्।।८६/९७९।।

भोग भू उत्तम मध्यम जघन्य में तिर्यंच हैं।
कुपात्र-दान-पादप से प्रकट फल वे भोगते।।८६/९७९।।

शब्दश: अर्थ : वर्य-मध्य-जघन्यासु=उत्तम, मध्यम, जघन्य में; तिर्यञ्च:=तिर्यंच गति के जीव; सन्ति=हैं; भूमिषु=भूमिओं में; कुपात्र-दान-वृक्ष+उत्थं=कुपात्र-दानरूपी वृक्ष से प्रकट हुए; भुञ्जन्ते=भोगते हैं; ते=वे; अखिला:=सभी; फलं=फल को।

अन्वय : वर्य-मध्य-जघन्यासु भूमिषु तिर्यञ्च: सन्ति ते अखिला: कुपात्र-दान-वृक्ष-उत्थं फलं भुञ्जन्ते।

वचनिका : उत्तम, मध्यम, जघन्य भोग-भूमिओं में जो तिर्यंच हैं; वे सभी कुपात्र-दानरूपी वृक्ष से उत्पन्न हुए फल को भोगते हैं।।८६/९७९।।

अब, इस पद्य द्वारा आर्य-खंड में कुपात्र-दान का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **दासी-दास-द्विप-म्लेच्छसारमेयादयोऽत्र ये।**
कुपात्रदानतो भोगस्तेषां भोगवतां स्फुटम्।।८७/९८०।।
दासी दास गज म्लेच्छ कुत्ता आदि जो यहाँ।
उनके भोग सभी समझो कुपात्र दान से कहा।।८७/९८०।।

शब्दश: अर्थ : दासी-दास-द्विप-म्लेच्छ-सारमेय+आदय:=सेविका, सेवक, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता आदि; अत्र=यहाँ; ये=जो; कुपात्र-दानत:=कुपात्र-दान से; भोग:=भोग; तेषां=उनके; भोगवतां=भोगनेवालों के; स्फुटं=व्यक्त।

अन्वय : अत्र ये दासी.... आदय: तेषां भोगवतां भोग: स्फुटं कुपात्र-दानत:।

वचनिका : यहाँ आर्य-खंड में जो दासी, दास, हाथी, म्लेच्छ, कुत्ता इत्यादि भोगवान जीव हैं; उनके भोग, प्रकटपने कुपात्र-दान से हैं—ऐसा जानना।।८७/९८०।।

अब, यही इस पद्य द्वारा पुन: निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **दृश्यन्ते नीचजातीनां ये भोगा भोगिनामिह।**
सर्वे कुपात्र-दानेन ते दीयन्ते महोदया:।।८८/९८१।।
नीच जाति भोगी के जो महोदय भोग हैं।
वे सभी जानों निश्चित कुपात्र-दान द्वारा दिए।।८८/९८१।।

शब्दश: अर्थ : दृश्यन्ते=देखे जाते हैं; नीच-जातीनां=नीच-जातिओं के; ये=जो; भोगा:= भोग; भोगिनां=भोगिओं के; इह=यहाँ; सर्वे=सभी; कुपात्र-दानेन=कुपात्र-दान द्वारा; ते= वे; दीयन्ते=दिए गए; महा+उदया:=महान उदयवाले।

अन्वय : इह नीच-जातीनां भोगिनां महा उदया: ये भोगा: दृश्यन्ते ते सर्वे कुपात्र-दानेन दीयन्ते।

वचनिका : यहाँ आर्य-खंड में नीच-जातिवाले भोगी-जीवों के महा उदयरूप जो भोग दिखाई देते हैं; वे सभी कुपात्र-दान द्वारा दिए गए हैं।।८८/९८१।।

अब, इस पद्य द्वारा अपात्रों को दान देने का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अपात्राय धनं दत्तं व्यर्थं सम्पद्यतेऽखिलम्।**
ज्वलिते पावके क्षिप्तं वीजं कुत्राङ्कुरीयति।।८९/९८२।।

अपात्र को दिया जो धन व्यर्थ जाता पूर्ण ही।
जलती आग में डाला बीज-सांकुर हो कहीं?।।८९/९८२।।

शब्दश: अर्थ : अपात्राय=अपात्र के लिए; धनं=धन; दत्तं=दिया गया; व्यर्थं=निष्फल; सम्पद्यते=होता है; अखिलं=सभी; ज्वलिते=जलती हुई; पावके=अग्नि में; क्षिप्तं=डाला गया; वीजं=बीज; कुत्र=कहाँ; अङ्कुरीयति=अंकुरित होता है।

अन्वय : अपात्राय दत्तं धनं अखिलं व्यर्थं सम्पद्यते, शेष अन्वय में है।

वचनिका : अपात्र के लिए दिया धन पूर्णतया व्यर्थ जाता है। यहाँ दृष्टांत कहते हैं—जलती अग्नि में डाला बीज कहीं अंकुर-सहित होता है? नहीं होता है।।८९/८९२।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्रतिपादित है कि अपात्र-दान से मात्र पाप ही होता है—

अनुष्टुभ् : **अपात्रदानत: किञ्चिन्न फलं पापत: परम्।**
लभ्यते हि फलं खेदो बालुकापुञ्जपीडने।।९०/९८३।।

अपात्र दान से फलता नित्य केवल पाप ही।
बालू-समूह पीड़न में प्राप्त फल मात्र खेद ही।।९०/९८३।।

शब्दश: अर्थ : अपात्र-दानत:=अपात्र को दान देने से; किञ्चित्=कुछ; न=नहीं; फलं= परिणाम; पापत:=पाप से; परं=अन्य; लभ्यते=प्राप्त होता है; हि=वास्तव में; फलं=परिणाम; खेद:=कष्ट; बालुका-पुञ्ज-पीडने=रेत के समूह के पेलने में।

अन्वय : अपात्र-दानत: पापत: परं किञ्चित् फलं न लभ्यते हि बालुका-पुञ्ज-पीडने फलं खेद: लभ्यते।

वचनिका : अपात्र को दान देने से पाप के अतिरिक्त और कुछ भी फल प्राप्त नहीं होता है; वास्तव में रेत के समूह को पेलने में फल, मात्र खेद ही प्राप्त होता है।।९०/९८३।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि अपात्र-दान महा अनर्थ-कारक है—

अनुष्टुभ् : **विश्राणित-मपात्राय विधत्तेऽनर्थ-मूर्जितम्।**
अपथ्यं भोजनं दत्ते व्याधिं किं न दुरुत्तरम्[१]।।९१/९८४।।

अपात्र को दिया दान महा अनर्थ-कारकी।
अपथ्य भोजन नहिं दे क्या दुरुत्तर व्याधि हि?।।९१/९८४।।

शब्दश: अर्थ : विश्राणितं=दिया गया; अपात्राय=अपात्र के लिए; विधत्ते=करता है; अनर्थं=अहित को; ऊर्जितं=अत्यधिक; अपथ्यं=अहितकर; भोजनं=आहार; दत्ते=देता है; व्याधिं=रोग को; किं=क्या; न=नहीं; दु:-उत्तरं=नष्ट होना अत्यधिक कठिन को/दुरुद्धरं=पार करना अत्यधिक कठिन को।

अन्वय : अपात्राय विश्राणितं ऊर्जितं अनर्थं विधत्ते अपथ्यं भोजनं कि दुरुत्तरं/दुरुद्धरं व्याधिं न दत्ते।

वचनिका : अपात्र के लिए दिया गया दान बहुत बड़ा अनर्थ करता है। अपथ्य भोजन क्या दुरुत्तर/दुरुद्धर व्याधि को नहीं देता है?।।९१/९८४।।

अब, इसे ही इस पद्य द्वारा अन्य उदाहरण से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सन्स्कृत्य सुन्दरं भोज्यं येनापात्राय दीयते।**
उत्पाद्य प्रबलं धान्यं दह्यते तेन दुर्धिया।।९२/९८५।।

सुस्वादु सुंदर भोजन बना देता अपात्र को।
पोषक धान्य पैदाकर जलाता दुर्बुद्धि वो।।९२/९८५।।

शब्दश: अर्थ : सन्स्कृत्य=भली-भाँति बनाकर; सुन्दरं=सुंदर; भोज्यं=भोजन; येन=जिसके द्वारा; अपात्राय=अपात्र के लिए; दीयते=दिया जाता है; उत्पाद्य=उत्पन्नकर; प्रबलं=पुष्टि-कारक; धान्यं=धान्य को; दह्यते=जला दिया जाता है; तेन=उसके द्वारा; दुर्धिया=दुर्बुद्धि के द्वारा।

अन्वय : सुन्दरं भोज्यं सन्स्कृत्य येन अपात्राय दीयते तेन दुर्धिया प्रबलं धान्यं उत्पाद्य दह्यते।

वचनिका : सुंदर भोजन बनाकर जिस व्यक्ति द्वारा अपात्र के लिए दिया जाता है; उस दुर्बुद्धि द्वारा पुष्टि-कारक धान्य उत्पन्नकर उसे जलाया जाता है।।९२/९८५।।

अब, इस पद्य द्वारा सत्पात्र की महिमा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **शीघ्रं पात्रेण सन्सारादेकेनापि गरीयसा[२]।**
तार्यन्ते बहव: लोका: पोतेनेव पयोनिधे:।।९३/९८६।।

---

१. दुरुद्धरम्; २. महीयसा – इति पाठान्तरम्।

जहाज से तिरा जाता सागर-सम संसार से।
गुणवान एक ही पात्र बहुजनों को तार दे।।९३/९८६।।

शब्दश: अर्थ : शीघ्रं=जल्दी; पात्रेण=पात्र द्वारा; सन्सारात्=संसार से; एकेन=एक द्वारा; अपि=भी; गरीयसा/महीयसा=महिमा-युक्त/महान गुणवान द्वारा; तार्यन्ते=तार दिए जाते हैं; बहव:=अनेकों; लोका:=व्यक्ति; पोतेन=जहाज द्वारा; इव=समान; पयोनिधे:=समुद्र से।

अन्वय : पोतेन पयोनिधे: इव गरीयसा/महीयसा एकेन पात्रेण अपि बहव: लोका: सन्सारात् शीघ्रं तार्यन्ते।

वचनिका : जैसे—जहाज द्वारा समुद्र से पार हो जाते हैं; उसीप्रकार विविध गुण-संपन्न गरिष्ठ एक पात्र द्वारा भी अनेकों व्यक्ति संसार से शीघ्र पार हो जाते हैं।।९३/९८६।।

इसी तथ्य को पुन: सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **जगदुद्योतते सर्वमेकेनापि विवस्वता।**
नक्षत्र निवहै: सर्वैरुदितैरपि नो पुन:।।९४/९८७।।

एक सूर्य द्वारा भी प्रकाशित सारा जगत।
नहिं सभी नक्षत्रों के समूहोदय से द्योतित।।९४/९८७।।

शब्दश: अर्थ : जगत्=लोक; उद्योतते=प्रकाशित किया जाता है; सर्वं=संपूर्ण; एकेन=एक द्वारा; अपि=भी; विवस्वता=सूर्य द्वारा; नक्षत्र-निवहै:=नक्षत्रों के समूह द्वारा; सर्वै:=सभी द्वारा; उदितै:=उदय हुए द्वारा; अपि=भी; नो=नहीं; पुन:=फिर/परंतु।

अन्वय : एकेन विवस्वता अपि सर्वं जगत् उद्योतते पुन: उदितै: सर्वै: नक्षत्र-निवहै: अपि नो।

वचनिका : एक सूर्य द्वारा भी समस्त जगत प्रकाशित किया जाता है; परंतु उदय हुए सभी नक्षत्रों के समूह द्वारा भी वह प्रकाशित नहीं किया जाता है।।९४/९८७।।

पूर्वोक्त उदाहरण का सिद्धान्त अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **एकेनापि सुपात्रेण तार्यन्ते भवनीरधे:।**
सहस्रैरप्यपात्राणां पुञ्जितैर्न पुनर्जन:।।९५/९८८।।

सुपात्र एक द्वारा भी भव-सागर से पार हों।
अपात्रों के एकत्रित हजारों द्वारा न हों।।९५/९८८।।

शब्दश: अर्थ : एकेन=एक से; अपि=भी; सुपात्रेण=सुपात्र से; तार्यन्ते=पार हो जाते हैं; भव-नीरधे:=संसार-सागर से; सहस्रै:=हजारों से; अपि=भी; अपात्राणां=अपात्रों के; पुञ्जितै:=एकत्रित हुए से; न=नहीं; पुन:=फिर/परंतु; जन:=जीव।

अन्वय : एकेन सुपात्रेण अपि भव-नीरधेः तार्यन्ते पुनः अपात्राणां पुञ्जितैः सहस्रैः अपि जनः न तार्यन्ते।

वचनिका : पहले दृष्टांत कहा था। यहाँ उसका दार्ष्टांत बता रहे हैं–

एक सुपात्र से भी जीव संसार-सागर से पार हो जाते हैं; परंतु अपात्रों के इकट्ठे हुए सहस्रों /हजारों अपात्रों द्वारा भी इस संसार-सागर से पार नहीं होते हैं–ऐसा जानना।।९५/९८८।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत प्रकरण का मार्ग-दर्शन वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अपात्रदानदोषेभ्यः विभ्यता पुण्यशालिना।**
विबुद्ध्य यत्नतः पात्रं देयं दानं विधानतः।।९६/९८९।।

अपात्र-दान दोषों से डर समझ यत्न से।
पात्र को देना दान पुण्य-शाली विधान से।।९६/९८९।।

शब्दशः अर्थ : अपात्र-दान-दोषेभ्यः=अपात्र को दान देने से होनेवाले दोषों से; विभ्यता=भय-भीत हुए; पुण्य-शालिना=पुण्यवान द्वारा; विबुद्ध्य=जानकर; यत्नतः=प्रयास से; पात्रं=पात्र को; देयं=देने-योग्य; दानं=दान; विधानतः=विधान से।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है-यत्नतः पात्रं विबुद्ध्य विधानतः दानं देयम्।

वचनिका : अपात्र को दान देने के दोषों से डरे हुए पुण्यवान व्यक्ति द्वारा यत्न से पात्र को जानकर विधान पूर्वक दान देना, योग्य है।।९६/९८९।।

पात्र को छोड़कर अपात्र को धन देनेवाले की मूर्खता को अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **अपात्राय धनं दत्ते यो हित्वा पात्रमुत्तमम्।**
साधुं विहाय चौराय तदर्पयति सः स्फुटम्।।९७/९९०।।

उत्तम पात्र तज धन दे अपात्र को जो मान वह।
साधु को तज चौरों को दे रहा है स्वयं धन।।९७/९९०।।

शब्दशः अर्थ : अपात्राय=अपात्र के लिए; धनं=धन को; दत्ते=देता है; यः=जो; हित्वा=छोड़कर; पात्रं=पात्र को; उत्तमं=उत्तम को; साधुं=साधु को; विहाय=छोड़कर; चौराय=चौर के लिए; तत्=उसे; अर्पयति=सोंपता है; सः=वह; स्फुटं=प्रकटरूप में।

अन्वय : यः उत्तमं पात्रं हित्वा अपात्राय धनं दत्ते सः स्फुटं साधुं विहाय तत् चौराय अर्पयति।

वचनिका : जो व्यक्ति उत्तम-पात्र को छोड़कर अपात्र के लिए धन देता है; वह प्रकटरूप में साधु को छोड़कर उस धन को चोर के लिए देता है–ऐसा जानना।।९७/९९०।।

अब, इस पद्य द्वारा पात्र को अपात्र मानने की मूर्खता सोदाहरण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अपात्रमिव यः पात्रं विबुद्धिरवलोकते।**
चिन्तामणिमसौ मन्ये मन्यते लोष्टसन्निभम्।।९८/९९१।।

पात्र को देखे जो निर्बुद्धि अपात्र-वत्।
चिंतामणि को माने मैं मानूँ वह लोष्ट-वत्।।९८/९९१।।

शब्दशः अर्थ : अपात्रं=अपात्र; इव=समान; यः=जो; पात्रं=पात्र को; विबुद्धिः=निर्बुद्धि; अवलोकते=देखता है; चिन्तामणिं=चिंतामणि को; असौ=वह; मन्ये=मानता हूँ; मन्यते=मानता है; लोष्ट-सन्निभं=लोष्ट के समान।

अन्वय : यः विबुद्धिः पात्रं अपात्रं इव अवलोकते असौ चिन्तामणिं लोष्ट-सन्निभं मन्यते (इति अहं) मन्ये।

वचनिका : जो निर्बुद्धि पात्र को अपात्र के समान देखता है; वह चिंतामणि को लोष्ट के समान मानता है—ऐसा मैं मानता हूँ।।९८/९९१।।

अब, उसे ही पुनः इस पद्य द्वारा सोदाहरण व्यक्त करते हैं—

अनुष्टुभ् : **त्यक्त्वा शर्मप्रदं पात्रमपात्रं स्वीकरोति यः।**
स कालकूटमादत्ते मुक्त्वा पीयूषमस्त-धीः।।९९/९९२।।

सुख-प्रद पात्र को तज जो स्वीकारे अपात्र को।
वह निर्बुद्धि अमृत तज लेता कालकूट को।।९९/९९२।।

शब्दशः अर्थ : त्यक्त्वा=छोड़कर; शर्म-प्रदं=सुख-दायक को; पात्रं=पात्र को; अपात्रं=अपात्र को; स्वीकरोति=स्वीकार करता है; यः=जो; सः=वह; कालकूटं=हलाहल विष को; आदत्ते=ग्रहण करता है; मुक्त्वा=छोड़कर; पीयूषं=अमृत को; अस्त-धीः=बुद्धि-रहित।

अन्वय : यः शर्मप्रदं पात्रं त्यक्त्वा अपात्रं स्वीकरोति, सः अस्तधीः पीयूषं मुक्त्वा कालकूटं आदत्ते।

वचनिका : जो सुख-दायक पात्र को छोड़कर अपात्र को अंगीकार करता है; वह निर्बुद्धि अमृत को छोड़कर कालकूट विष को ग्रहण करता है।।९९/९९२।।

अब, इस पद्य द्वारा पिछले प्रकरण के समापन और आगामी प्रकरण के प्रारंभ की सूचना देते हैं—

अनुष्टुभ् : **पात्रापात्र-विभागेन मिथ्यादृष्टेरिदं फलम्।**
उदितं दानजं प्राज्यं सम्यग्दृष्टेर्वदाम्यतः।।१००/९९३।।

मिथ्यादृष्टि का यह फल अपात्र पात्र भेद से।
कहा अब सम्यग्दृष्टि का महा फल दान से।।१००/९९३।।

शब्दश: अर्थ : पात्र+अपात्र-विभागेन=पात्र और अपात्र के भेद से; मिथ्यादृष्टे:=मिथ्यादृष्टि का; इदं=यह; फलं=फल; उदितं=कहा; दानजं=दान से उत्पन्न; प्राज्यं=प्रकृष्ट फल को; सम्यग्दृष्टे:=सम्यग्दृष्टि का; वदामि=कहता हूँ; अत:=इससे आगे।

अन्वय : दानजं इदं फलं पात्र-अपात्र-विभागेन मिथ्यादृष्टे: उदितं अत: सम्यग्दृष्टे: दानजं प्राज्यं फल वदामि।

वचनिका : दान से उत्पन्न यह फल पात्र और अपात्र के भेद से मिथ्यादृष्टि का कहा है। अब, सम्यग्दृष्टि का, दान से उत्पन्न महा-फल कहता हूँ।।१००/९९३।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दृष्टि के दान का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **दानं त्रिविध-पात्राय सम्यग्दृष्टिर्यथागमम्।**
ददानो लभते याच्यां कल्याणानां परम्पराम्।।१०१/९९४।।

शास्त्रानुसार सद्दृष्टि देता त्रि-विध पात्र को।
दान पाता कल्याणों की परंपरा याच्य को।।१०१/९९४।।

शब्दश: अर्थ : दानं=दान को; त्रिविध-पात्राय=तीन प्रकार के पात्र के लिए; सम्यग्दृष्टि:=सत्य दृष्टि/प्रतीतिवाला; यथा+आगमं=शास्त्र के अनुसार; ददान:=देता हुआ; लभते=पाता है; याच्यां=याचना के योग्य को; कल्याणानां=कल्याणों के; परम्परां=परंपरा को।

अन्वय : त्रि-विध-पात्राय यथा-आगमं दानं ददान: सम्यग्दृष्टि: याच्यां कल्याणानां परम्परां लभते।

वचनिका : तीन प्रकार के पात्रों के लिए शास्त्रों के अनुसार दान देता हुआ सम्यग्दृष्टि माँगने-योग्य कल्याणों की परंपरा को प्राप्त होता है।।१०१/९९४।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यग्दृष्टि के दान का आगामी फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **पात्राय विधिना दत्वा दानं मृत्त्वा समाधिना।**
अच्युतान्तेषु कल्पेषु जायन्ते शुद्ध-दृष्टय:।।१०२/९९५।।

सद्दृष्टि पात्र को विधिवत् दान दे मर समाधि से।
अच्युत कल्प सोलहवें स्वर्ग तक में जन्म ले।।१०२/९९५।।

शब्दश: अर्थ : पात्राय=पात्र के लिए; विधिना=विधि पूर्वक; दत्त्वा=देकर; दानं=दान को;

मृत्त्वा=मरकर; समाधिना=समाधि द्वारा; अच्युत+अन्तेषु=अच्युत पर्यंत में; कल्पेषु=कल्पों में; जायन्ते=जाते हैं; शुद्ध-दृष्ट्य:=सम्यग्दृष्टि।

अन्वय : शुद्ध-दृष्ट्य: पात्राय विधिना दानं दत्त्वा समाधिना मृत्त्वा अच्युत-अन्तेषु कल्पेषु जायन्ते।

वचनिका : सम्यग्दृष्टि, पात्र के लिए विधि पूर्वक दान देकर समाधि से मरणकर अच्युत कल्प पर्यंत सोलह स्वर्गों में उत्पन्न होते हैं।।१०२/९९५।।

अब, इस पद्य द्वारा वहाँ जन्म लेनेवाले देव की स्थिति वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **उत्पद्योत्पाद-शैयायां देहोद्योतित-पुष्करा:।**
सुप्तोत्थिता इव क्षिप्रमुत्तिष्ठन्ति दिवौकस:।।१०३/९९६।।
देह-द्योतित नभवान देव उत्पाद शैया पर।
जन्म लें सो उठें-जैसे शीघ्र उठते हैं उधर।।१०३/९९६।।

शब्दश: अर्थ : उत्पद्य=जन्म लेकर; उत्पाद-शैयायां=उत्पाद शैया पर; देह+उद्योतित-पुष्करा:=शरीर द्वारा आकाश को प्रकाशित करनेवाले; सुप्त+उत्थिता:=सोकर उठे हुए; इव=समान; क्षिप्रं=शीघ्र; उत्तिष्ठन्ति=उठते हैं; दिव्+औकस:=स्वर्ग में रहनेवाले देव।

अन्वय : उत्पाद-शैयायां उत्पद्य देह-उद्योतित-पुष्करा: दिवौकस: सुप्त-उत्थिता: इव क्षिप्रं उत्तिष्ठन्ति।

वचनिका : वहाँ स्वर्ग में उत्पाद-शैया पर उत्पन्न होकर देह द्वारा आकाश को प्रकाशित करनेवाले वे देव, सोकर उठे हुए के समान उठते हैं।।१०३/९९६।।

उसके बाद वे देव क्या करते हैं? यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **निषण्णैस्तत्र शैयायां तैरीक्ष्यन्ते समन्तत:।**
निकाया देवदेवीनां रचिताञ्जलिकुड्मला:।।१०४/९९७।।
उस शैया पर बैठे देव देखें सभी तरफ।
खिली करांजली वाले देव-देवी समूह सब।।१०४/९९७।।

शब्दश: अर्थ : निषण्णै:=बैठे हुए द्वारा; तत्र=वहाँ; शैयायां=शैया पर; तै:=उनके द्वारा; ईक्ष्यन्ते=देखे जाते हैं; समन्तत:=सभी ओर; निकाया:=समूह; देव-देवीनां=देव और देविओं के; रचित+अञ्जलि-कुड्मला:=खिली हुई अंजली बनाए हुए।

अन्वय : तत्र शैयायां निषण्णै: तै: समन्तत: रचित-अञ्जलि-कुड्मला: देव-देवीनां निकाया: ईक्ष्यन्ते।

वचनिका : वहाँ शैया पर बैठे हुए उन देवों द्वारा सब ओर खिली हुई हस्तांजली बनाए हुए

देव और देविओं के समूह देखे जाते हैं।।१०४/९९७।।

तदुपरांत की स्थिति अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **स्तुवाना मां स्तवैः श्रव्यैर्भव्याभरणभासुराः।**
मूर्ताः केऽमी विलोक्यन्ते पुण्यपुञ्जा इवाभितः।।१०५/९९८।।

श्रव्य स्तोत्र से स्तुति करते भव्य आभरण।
भासुर पूत-गण मूर्तिक-वत् ये कौन? देख सब।।१०५/९९८।।

शब्दशः अर्थ : स्तुवानाः=स्तुति करते हुए; मां=मेरी; स्तवैः=स्तोत्रों द्वारा; श्रव्यैः=सुनने-योग्य; भव्य+आभरण-भासुराः=सुंदर आभूषणों से देदीप्यमान; मूर्ताः=मूर्त/भौतिक; के=कौन; अमी=ये; विलोक्यन्ते=दिखाई देनेवाले; पुण्य-पुञ्जाः=पुण्य के समूह; इव=समान; अभितः=सब ओर।

अन्वय : श्रव्यैः स्तवैः मां स्तुवानाः भव्य-आभरण-भासुराः मूर्ताः पुण्य-पुञ्जाः इव अभितः विलोक्यन्ते अमी के?

वचनिका : सुनने-योग्य स्तोत्रों द्वारा मेरी स्तुति करनेवाले, सुंदर आभूषणों से देदीप्यमान, पुण्य के मूर्तिक समूह के समान, सब ओर दिखाई देनेवाले ये कौन हैं? नवीन देव ऐसा विचार करता है।।१०५/९९८।।

इस देव की उत्सुकता को अब, इस पद्य द्वारा और भी स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **रम्याः रामा ममेमाः काश्चित्र-चाटुपरायणाः।**
लावण्याम्बुनिधेर्वेला लोकन्ते कलनिस्वनाः।।१०६/९९९।।

विविध चाटु-परायण ये रम्य लावण्य-सागरी।
वेला सुंदर शब्दों मय स्त्रीं मुझे देखतीं।।१०६/९९९।।

शब्दशः अर्थ : रम्याः=रमण करने-योग्य; रामाः=स्त्रिआँ; मम=मुझे; इमाः=ये; कः=कौन; चित्र-चाटु-परायणाः=अनेक प्रकार की चाटुकारिता में संलग्न; लावण्य+अम्बु-निधेः=सुंदरता रूपी समुद्र की; वेलाः=धारा; लोकन्ते=देखनेवाली हैं; कल-निस्वनाः=सुंदर शब्द करनेवालीं।

अन्वय : रम्याः चित्र-चाटु-परायणाः लावण्य-अम्बु-निधेः वेलाः कल-निस्वनाः मम लोकन्ते इमाः रामाः काः?

वचनिका : रमने-योग्य, नाना प्रकार से चाटु-कारिता/खुशामद करने में तत्पर, सुंदरता के सागर की धारा, सुंदर शब्दोंवालीं मुझे देखनेवालीं ये स्त्रिआँ कौन हैं?।।१०६/९९९।।

इस संबंध में उसकी अन्य जिज्ञासाएं अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत हैं—

अनुष्टुभ् : **किमिदं दृश्यते स्थानं रामणीयकमन्दिरम्।**
कथमत्राहमायातः किं स्वप्नोऽयमुतान्यथा।।१०७/१०००।।

सौंदर्यमय मंदिर यह क्या स्थान दिख रहा?
मैं यहाँ कैसे आया क्या यह स्वप्न अन्यथा?।।१०७/१०००।।

शब्दशः अर्थ : किं=क्या; इदं=यह; दृश्यते=दिख रहा है; स्थानं=स्थल; रामणीयक-मन्दिरं =सौंदर्य-संपन्न भवन; कथं=कैसे; अत्र=यहाँ; अहं=मैं; आयातः=आया; किं=क्या; स्वप्नः=स्वप्न; अयं=यह; उत=अथवा; अन्यथा=और कुछ।

अन्वय : रामणीयक-मन्दिरं इदं किं स्थानं दृश्यते? अहं अत्र कथं आयातः? किं अयं स्वप्नः उत अन्यथा?

वचनिका : सुंदरता का मंदिर यह कौन-सा स्थान दिख रहा है? मैं यहाँ कैसे आया? क्या यह स्वप्न है अथवा कुछ अन्य है?।।१०७/१०००।।

इस संबंध में उसके अन्य प्रश्न अब, इस पद्य द्वारा निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **किमकारि मया पुण्यं जातो येनात्र बन्धुरे।**
न पुण्यव्यतिरेकेण लभ्यते सुख-सम्पदा।।१०८/१००१।।

मैंने किया क्या पुण्य जिससे जन्मा हूँ यहाँ?
सुंदर स्थल में पुण्य विन मिले नहिं संपदा।।१०८/१००१।।

शब्दशः अर्थ : किं=क्या; अकारि=किया गया; मया=मेरे द्वारा; पुण्यं=पुण्य; जातः=उत्पन्न हुआ हूँ; येन=जिससे; अत्र=यहाँ; बन्धुरे=मनोहर स्थल में; न=नहीं; पुण्य-व्यतिरेकेण=पुण्य के विना; लभ्यते=प्राप्त होती है; सुख-सम्पदा=अनुकूल संपत्ति।

अन्वय : मया किं पुण्यं अकारि येन अत्र बन्धुरे जातः? पुण्य-व्यतिरेकेण सुख-सम्पदा न लभ्यते।

वचनिका : मेरे द्वारा क्या पुण्य किया गया जिससे यहाँ सुंदर स्थान में उत्पन्न हुआ हूँ? पुण्य के विना सुख-संपदा प्राप्त नहीं होती है।।१०८/१००१।।

इन सब विचारों का फल अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **इत्थं चिन्तयतां तेषां भवकारणकोऽवधिः।**
सम्पद्यते तरां दीप्तः पूर्व-सम्बन्ध-सूचकः।।१०९/१००२।।

ऐसा सोचते उनके पूर्व संबंध जानने।
वाला तीव्र दीप्ति भव हेतुक अवधि जन्म ले।।१०९/१००२।।

शब्दश: अर्थ : इत्थं=इसप्रकार; चिन्तयतां=सोचते हुए के; तेषां=उनके; भव-कारणक:=भव-प्रत्यय; अवधि:=अवधि-ज्ञान; सम्पद्यते=उत्पन्न होता है; तरां=विशिष्ट; दीप्त:=देदीप्यमान; पूर्व-सम्बन्ध-सूचक:=पूर्व भव के संबंध का ज्ञान करानेवाला।

अन्वय : इत्थं चिन्तयतां तेषां तरां दीप्त: पूर्व-सम्बन्ध-सूचक: भव-कारणक: अवधि: सम्पद्यते।

वचनिका : इसप्रकार विचार करते हुए उन देवों के अतिशय देदीप्यमान, पहले के संबंध का सूचक, भव ही है कारण जिसका ऐसा भव-प्रत्यय अवधिज्ञान उत्पन्न हो जाता है।।१०९/१००२।।

अब, इस पद्य द्वारा उस ज्ञान का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **ज्ञानेन तेन विज्ञाय दान-पुण्य-प्रभावत:।**
त्रिदशीभूतमात्मानं ते भजन्ति सुखासिकाम्।।११०/१००३।।

दान-पुण्य की महिमा से मैं देव हुआ यहाँ।
उस ज्ञान से यों जान वे भोगें सुख-शांतता।।११०/१००३।।

शब्दश: अर्थ : ज्ञानेन=ज्ञान से; तेन=उससे; विज्ञाय=जानकर; दान-पुण्य-प्रभावत:=दान-पुण्य के प्रभाव से; त्रिदशीभूतं=देव हुआ; आत्मानं=स्वयं को; ते=वे; भजन्ति=भोगते हैं; सुख+आसिकां=सुखरूप समाधान को।

अन्वय : तेन ज्ञानेन दान-पुण्य-प्रभावत: आत्मानं त्रिदशीभूतं विज्ञाय ते सुख-आसिकां भजन्ति।

वचनिका : उस ज्ञान द्वारा; दान के पुण्य के प्रभाव से स्वयं को देव हुआ जानकर वे देव सुखरूप समाधानता को भोगते हैं।।११०/१००३।।

अब, इस पद्य द्वारा उसके बाद की स्थिति निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **प्रीतेनामर-वर्गेण स्व-सम्बन्धेन सादरम्।**
क्रियमाणास्ततस्तुष्टा भजन्ते जननोत्सवम्।।१११/१००४।।

अपने संबंधी प्रीति-युक्त देवों ने किए।
सहर्ष जन्मोत्सव को तुष्ट हो वे भोगते।।१११/१००४।।

शब्दश: अर्थ : प्रीतेन=प्रीति-युक्त; अमर-वर्गेण=देव-समूह द्वारा; स्व-सम्बन्धेन=अपने संबंध से; स+आदरं=आदर पूर्वक; क्रियमाणा:=किए गए; तत:=उससे; तुष्टा:=संतुष्ट; भजन्ते=भोगते हैं; जनन+उत्सवं=जन्म के उत्सव को।

अन्वय : तत: तुष्टा: क्रियमाणा: स्व-सम्बन्धेन प्रीतेन अमर-वर्गेण सादरं जनन-उत्सवं भजन्ते।

वचनिका : उससे तुष्ट किए गए वे देव; अपने संबंध से प्रीति-युक्त देवों के समूह द्वारा प्रसन्नता पूर्वक किए गए जन्मोत्सव को भोगते हैं।।१११/१००४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसके बाद का कार्य वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **ज्ञात्वा धर्म-प्रभावेन तत्र प्रभवमात्मनः।**
पूजयन्ति जिनार्चास्ते भक्त्या धर्मस्य वृद्धये।।११२/१००५।।

तब वहाँ अपना जन्म जान धर्म प्रभाव से।
धर्म की वृद्धि हेतु भक्ति से जिन पूजते।।११२/१००५।।

शब्दशः अर्थ : ज्ञात्वा=जानकर; धर्म-प्रभावेन=धर्म के प्रभाव से; तत्र=वहाँ; प्रभवं=जन्म को; आत्मनः=अपने; पूजयन्ति=पूजते हैं; जिन+अर्चाः=जिनेंद्र भगवान के पुजारी; ते=वे; भक्त्या=भक्ति से; धर्मस्य=धर्म का; वृद्धये=बड़ाने के लिए।

अन्वय : धर्म-प्रभावेन तत्र आत्मनः प्रभवं ज्ञात्वा जिन-अर्चाः ते धर्मस्य वृद्धये भक्त्या पूजयन्ति।

वचनिका : धर्म के प्रभाव से वहाँ स्वर्ग में अपना जन्म जानकर जिनेंद्र भगवान के पुजारी वे देव, धर्म की वृद्धि के लिए जिन-भगवान की प्रतिमाओं की भक्ति पूर्वक पूजा करते हैं।।११२/१००५।।

तत्पश्चात् वे वहाँ क्या करते हैं? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **सुखवारिनिमग्नास्ते सेव्यमानाः सुधाशिभिः।**
सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते प्रतिबिम्बैरिवात्मनः।।११३/१००६।।

सुख-जल मग्न वे देव अपने प्रतिबिंब-वत्।
अन्य देवों से सेवित रह रहते दीर्घ काल तक।।११३/१००६।।

शब्दशः अर्थ : सुख-वारि-निमग्नाः=सुखरूपी जल में लीन; ते=वे; सेव्यमानाः=सेवन किए गए; सुधा+आशिभिः=अमृत का भोजन करनेवाले देवों द्वारा; सर्वदा=दीर्घ काल पर्यंत; व्यवतिष्ठन्ते=रहते हैं; प्रति-बिम्बैः=प्रति-बिंबों द्वारा; इव=समान; आत्मनः=अपने।

अन्वय : सुख-वारि-निमग्नाः आत्मनः प्रतिबिम्बैः इव सुधाशिभिः सेव्यमानाः ते सर्वदा व्यवतिष्ठन्ते।

वचनिका : सुखरूपी जल में निमग्न, अपने प्रति-बिंब-समान देवों द्वारा सेवित वे देव, दीर्घ काल पर्यंत वहाँ रहते हैं।।११३/१००६।।

वहाँ वे अधिक से अधिक कितने काल पर्यंत रहते हैं? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **ते सर्वे-क्लेशनिर्मुक्ता द्वाविन्शतिमुदन्वताम्।**
आसते तत्र भुञ्जाना दानवृक्षफलं सुरा:।।११४/१००७।।

सभी क्लेशों से मुक्त दान-तरु-फल भोगते।
बाईस सागर पर्यंत वे देव वहाँ रहें।।११४/१००७।।

शब्दश: अर्थ : ते=वे; सर्व-क्लेश-नि:-मुक्ता:=सभी कष्टों से पूर्णतया रहित; द्वाविन्शतिं=बाईस; उदन्वतां=सागर को; आसते=रहते हैं; तत्र=वहाँ; भुञ्जाना:=भोगते हुए; दान-वृक्ष-फलं=दानरूपी पेड़ के फल को; सुरा:=देव।

अन्वय : सर्व-क्लेश-निर्मुक्ता: दान-वृक्ष-फलं भुञ्जाना: ते सुरा: तत्र द्वा-विन्शतिं उदन्वतां आसते।

वचनिका : सभी कलेशों से रहित, दानरूपी वृक्ष के फल को भोगते हुए वे देव वहाँ बाईस सागर पर्यंत रहते हैं।।११४/१००७।।

देवों के सुख का वर्णन करने की असमर्थता को सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तेषां सुखप्रमां वक्ति वचोभिर्यो महात्मनाम्।**
प्रयाति पद-विक्षेपैर्गगनान्तमसौ ध्रुवम्।।११५/१००८।।

उन महात्माओं के सुख-मात्रा का वच से कथन।
पद-विक्षेप से नभ का अंत पाने-वत् नियत।।११५/१००८।।

शब्दश: अर्थ : तेषां=उनके; सुख-प्रमां=सुख की मात्रा को; वक्ति=कहता है; वचोभि:=वचनों द्वारा; य:=जो; महात्मनां=महात्माओं के; प्रयाति=जाता है; पद-विक्षेपै:=पैरों के उठाने-रखनेरूप पद-विक्षेप द्वारा; गगन+अन्तं=आकाश के अंत को; असौ=वह; ध्रुवं=निश्चित।

अन्वय : तेषां महात्मनां सुख-प्रमां य: वचोभि: वक्ति असौ ध्रुवं पद-विक्षेपै: गगन-अन्तं प्रयाति।

वचनिका : उन महात्मा-देवों के सुख के प्रमाण को जो व्यक्ति वचनों द्वारा कहता है; वह वास्तव में पैरों के उठाने-रखनेरूप पद-विक्षेपों द्वारा आकाश के अंत को जाता है।

भावार्थ : उन देवों का सुख वचन से नहीं कहा जा सकता है—ऐसा जानना।।११५/१००८।।

अंतर्मुहूर्त में उनके शरीर की संरचना अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **नव-यौवन-सम्पन्ना: दिव्य-भूषण-भूषिता:।**
ते वरेण्याद्य-सन्स्थाना जायन्तेऽन्तर्मुहूर्तत:।।११६/१००९।।

नव यौवन संपन्न दिव्यभूषण से सजे।
श्रेष्ठ समचतुरस्राकार हों वे अंतर्मुहूर्त में।।११६/१००९।।

शब्दश: अर्थ : नव-यौवन-सम्पन्ना:=नवीन यौवन दशा-युक्त; दिव्य-भूषण-भूषिता:=दिव्य आभूषणों से सुसज्जित; ते=वे/देव; वरेण्य+आद्य-सन्स्थाना:=श्रेष्ठ, पहले संस्थान/सम-चतुरस्र-संस्थानवाले; जायन्ते=हो जाते हैं; अन्तर्मुहूर्तत:=अंतर्मुहूर्त से/में।

अन्वय : ते अन्तर्मुहूर्तत: नव.... जायन्ते।

वचनिका : वे अंतर्मुहूर्त में नवीन यौवन से सहित, दिव्य आभूषणों से सुसज्जित, श्रेष्ठ आदि के/पहले संस्थान सम-चतुरस्र आकारवाले हो जाते हैं।।११६/१००९।।

अब, इस पद्य द्वारा उनके शरीर की विशेषताएं वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **तेषां खेद-मल-स्वेद-जरा-रोगादि-वर्जिता:।**
जायन्ते भास्कराकारा: स्फाटिका इव विग्रहा:।।११७/१०१०।।

उनका खेद मल स्वेद बुढापा रोगादि विन।
स्फटिक-सम दीप्तिमान-आकार युत है नित्य तन।।११७/१०१०।।

शब्दश: अर्थ : तेषां=उनके; खेद-मल-स्वेद-जरा-रोग+आदि-वर्जिता:=खेद, अशुचि/गंदगी, स्वेद/पसीना, जरा/बुढापा, रोग/व्याधि आदि से रहित; जायन्ते=होते हैं; भास्कर+आकारा:=देदीप्यमान आकार/स्वरूपवाला; स्फाटिका:=स्फटिक मणि; इव=समान; विग्रहा:=शरीर।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—स्फाटिका: इव भास्कर-आकारा: विग्रहा: जायन्ते।

वचनिका : उन देवों के खेद, मल, पसेव, जरा, रोग इत्यादि से रहित; स्फटिक-मणि के समान देदीप्यमान आकारवाले शरीर होते हैं।।११७/१०१०।।

अब, इस पद्य द्वारा उनके हार की विशेषता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **राजते हृदये तेषां हार-यष्टिर्विनिर्मला।**
निसर्गसम्भवा मूर्ता सम्यग्दृष्टिरिव स्थिता।।११८/१०११।।

निसर्गज मूर्तिमान सम्यग्दृष्टि-सम टिकीं।
उनके उर पर निर्मल हार लड़िआँ सुशोभतीं।।११८/१०११।।

शब्दश: अर्थ : राजते=शोभा देती हैं; हृदये=हृदय पर; तेषां=उनके; हार-यष्टि:=हार की लड़ी; विनिर्मला=विशिष्ट निर्मल; निसर्ग-सम्भवा=स्वभाव से उत्पन्न; मूर्ता=मूर्तिमान;

सम्यग्दृष्टिः=समीचीन दृष्टि; इव=समान; स्थिता=बैठी है।

अन्वय : निसर्ग-सम्भवा मूर्ता स्थिता सम्यग्दृष्टिः इव तेषां हृदये विनिर्मला हारयष्टिः राजते।

वचनिका : विशेष निर्मल हार की लड़ी उन देवों के हृदय पर ऐसी शोभित होती है, मानो स्वभाव से उत्पन्न हुई मूर्तिमान सम्यग्दृष्टि स्थित है।।११८/१०११।।

अब, इस पद्य द्वारा उनके मुकुट की विशेषता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **मुकुटो मस्तके तेषामुद्योतित दिगन्तरः।**
निषधानामिवादित्यस्तमोध्वन्सीव भासते।।११९/१०१२।।

तम-नाशक भानु-ज्यों निषधाचल पर शोभता।
त्यों मुकुट उनके शिर पर दिग्प्रकाशक सुशोभता।।११९/१०१२।।

शब्दशः अर्थ : मुकुटः=मुकुट; मस्तके=मस्तक पर; तेषां=उनके; उद्योतितः=प्रकाशित करनेवाला; दिक्+अन्तरः=दिशाओं के अंतर/सभी दिशाओं को; निषधानां=निषधों के; इव=समान; आदित्यः=सूर्य; तमः-ध्वन्सी=अंधकार का नाश करनेवाला; इव=समान; भासते=सुशोभित होता है।

अन्वय : निषधानां तमः-ध्वन्सी आदित्यः इव तेषां मस्तके दिक्-अन्तरः उद्योतितः मुकुटः भासते।

वचनिका : जैसे—निषधाचल के ऊपर अंधकार का नाश करनेवाला सूर्य सुशोभित होता है; उसीप्रकार उन देवों के मस्तक पर सभी दिशाओं को प्रकाशित करनेवाला मुकुट सुशोभित होता है।।११९/१०१२।।

अब, इस पद्य द्वारा उनकी देविओं का सौंदर्य निरूपित है—

मालिनी : **निधुवनकुशलाभिः पूर्णचन्द्राननाभिः स्तनभरविनताभिर्मन्मथाध्यासिताभिः।**
पृथुतरजघनाभिर्बन्धुराभिर्वधूभिः सममममलवचोभिः सर्वदा ते रमन्ते।।१२०/१०१३।।

कुशल विषय-सेवन में शशि-सम वदन-युत, स्तन-भर नम्रीभूत मन्मथ से व्याप्त।
विस्तृत जघनों युत सुंदरी देविओं संग रमते वे देव अमल वचनों से नित्य।।१२०/१०१३।।

शब्दशः अर्थ : निधुवन-कुशलाभिः=विषयों के सेवन में निपुण; पूर्ण-चन्द्र+आननाभिः=पूर्ण चंद्रमा के समान मुखवालीं; स्तन-भर-विनताभिः=स्तनों के भार से नम्रीभूत; मन्मथ+अध्यासिताभिः=काम-वासना से व्याप्त; पृथुतर-जघनाभिः=विस्तीर्ण जंघाओंवालीं; बन्धुराभिः=अति सुंदर; वधूभिः=स्त्रिओं से; समं=साथ; अमल-वचोभिः=निर्मल/पवित्र वचनों द्वारा; सर्वदा=निरंतर; ते=वे; रमन्ते=रमण करते हैं।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : काम-सेवन में निपुण, पूर्ण चंद्रमा के समान मुखवालीं, स्तनों के भार से नम्रीभूत, काम से व्याप्त, विस्तीर्ण जंघाओंवालीं सुंदर देविओं के साथ निर्मल वचनों द्वारा वे देव सदा रमण करते हैं।।१२०/१०१३।।

अब, इस पद्य द्वारा उनका आगामी भव वर्णित है—

उपजाति : **दिवोऽवतीर्योर्जित-चित्तवृत्तयो, महानुभावा भुवि पुण्य-शेषतः।**
भवन्ति वन्शेषु बुधार्चितेषु विशुद्ध-सम्यक्त्व-धना नरोत्तमाः।।१२१/१०१४।।

अवशेष पुण्यों से स्वर्ग से आ हों बुधों पूजित भू पर कुलों में।
महानुभाव वृत्ति उदार विशुद्ध समकित धन नरोत्तम हैं।।१२१/१०१४।।

शब्दशः अर्थ : दिवः=स्वर्ग से; अवतीर्य=च्युत होकर; उर्जित-चित्त-वृत्तयः=उदार मनोवृत्तिवाले; महा+अनुभावाः=विशाल वैभव-संपन्न; भुवि=पृथ्वी पर; पुण्य-शेषतः=शेष रहे पुण्य से; भवन्ति=होते हैं; वन्शेषु=कुलों में; बुध+अर्चितेषु=ज्ञानिओं से पूजितों में; विशुद्ध-सम्यक्त्व-धनाः=विशुद्ध सम्यक्त्वरूपी धनवाले; नर+उत्तमाः=मनुष्यों में श्रेष्ठ।

अन्वय : दिवः अवतीर्य पुण्य-शेषतः भुवि बुध-अर्चितेषु वन्शेषु उर्जित-चित्त-वृत्तयः महा-अनुभावाः विशुद्ध-सम्यक्त्व-धनाः नर-उत्तमाः भवन्ति।

वचनिका : वे देव, स्वर्ग से च्युत हो शेष रहे पुण्य से पंडितों से पूजित कुलों में, उदार-चित्त-वृत्तिवाले, महानुभाव/विशाल वैभव-संपन्न, विशुद्ध-सम्यक्त्वरूपी धन से युक्त, मनुष्यों में उत्तम चक्रवर्ती आदि होते हैं।।१२१/१०१४।।

अब, इस पद्य द्वारा वही पुनः पुष्ट करते हैं—

उपजाति : **अवाप्यते चक्रधरादि-सम्पदं मनोरमामत्र विपुण्य-दुर्लभाम्।**
नयन्ति कालं निखिलं निराकुलाः न लभ्यते किं खलु पात्रदानतः।।१२२/१०१५।।

वे पुण्य विन दुर्लभ मनोहारी पा चक्रधर आदि की विभूति।
सब काल जाता हो निराकुल नित क्या नहीं पाते सत्पात्र-दानी?।।१२२/१०१५।।

शब्दशः अर्थ : अवाप्य=प्राप्तकर; ते=वे; चक्रधर+आदि-सम्पदं=चक्रवर्ती आदि की संपत्ति को; मनोरमां=मन को रमानेवाली; अत्र=यहाँ; विपुण्य-दुर्लभां=पुण्य-रहित जीवों को दुर्लभ; नयन्ति=व्यतीत करते हैं; कालं=समय को; निखिलं=संपूर्ण; निः+आकुलाः= आकुलता-रहित; न=नहीं; लभ्यते=प्राप्त होता है; किं=क्या; खलु=वास्तव में; पात्र-दानतः=पात्र को दान देने से।

अन्वय : अत्र मनोरमां विपुण्य-दुर्लभां चक्रधर-आदि-सम्पदं अवाप्य निराकुला: ते निखिलं कालं नयन्ति खलु पात्र-दानत: किं न लभ्यते?

वचनिका : इस लोक में मन को रमानेवाली, पुण्य-रहित जीवों को दुर्लभ, चक्रवर्ती आदि की संपदा को पाकर निराकुल हुए वे जीव संपूर्ण काल को व्यतीत करते हैं। वास्तव में पात्र को दान देने से क्या प्राप्त नहीं होता है? सभी कुछ प्राप्त हो जाता है—ऐसा जानना।।१२२/१०१५।।

अब, इस पद्य द्वारा इसके आगे का फल बताते हैं—

उपजाति : **निषेव्य लक्ष्मीमिति शर्म-कारिणीं प्रथीयसीं द्वित्रि-भवेषु कल्मषम्।**
प्रदह्यते ध्यान-कृशानुनाऽखिलं श्रयन्ति सिद्धिं विधुतापदं सदा।।१२३/१०१६।।

यों भोग सुख-कारी महत् लक्ष्मी दो तीन भव में ध्यानाग्नि द्वारा।
सब कर्म कर भस्म विपत्ति-विरहित सेवन करें शाश्वत सिद्ध-सुख का।।१२३/१०१६।।

शब्दश: अर्थ : निषेव्य=सेवनकर; लक्ष्मीं=संपत्ति को; इति=इसप्रकार; शर्म-कारिणीं=सुख को करनेवाली को; प्रथीयसीं=विशाल को; द्वि-त्रि-भवेषु=दो-तीन भवों में; कल्मषं=कर्म को; प्रदह्यते=जलाकर; ध्यान-कृशानुना=ध्यानरूपी अग्नि द्वारा; अखिलं=संपूर्ण; श्रयन्ति= सेवन करते हैं; सिद्धिं=सिद्ध दशा को; विधूत+आपदं=आपत्तिओं से रहित को; सदा =हमेशा।

अन्वय : इति शर्म-कारिणीं प्रथीयसीं लक्ष्मीं निषेव्य द्वि-त्रि-भवेषु ध्यान-कृशानुना अखिलं कल्मषं प्रदह्यते सदा विधूत-आपदं सिद्धिं श्रयन्ति।

वचनिका : इसप्रकार सुख को करनेवाली, विशाल लक्ष्मी को भोगकर दो-तीन भवों में ध्यानरूपी अग्नि द्वारा समस्त कर्मों को जलाकर वे जीव आपत्ति-रहित मोक्ष-दशा का सदा सेवन करते हैं।।१२३/१०१६।।

अब, इस पद्य द्वारा उसका ही जघन्यरूप प्रस्तुत है—

उपजाति : **विधाय सप्ताष्ट-भवेषु वा स्फुटं जघन्यत: कल्मष-कक्ष-कर्तनम्।**
व्रजन्ति सिद्धिं मुनिदान-वासिता व्रतं चरन्तो जिननाथभाषितम्।।१२४/१०१७।।

मुनि-दान देने की वासना से जिननाथ भाषित व्रत आचरण से।
काटें करम वन अधिकांशत: वे सात आठ भवों में शिव-सिद्धि जाते।।१२४/१०१७।।

शब्दश: अर्थ : विधाय=लेकर; सप्त+अष्ट-भवेषु=सात-आठ भवों में; वा=अथवा; स्फुटं=प्रकट; जघन्यत:=जघन्य से/अधिक से अधिक; कल्मष-कक्ष-कर्तनं=कर्मरूपी वन

को काटनेवाले; व्रजन्ति=जाते हैं; सिद्धिं=मोक्ष को; मुनि-दान-वासिता:=मुनिओं को दान देने की तीव्र भावनावाले; व्रतं=व्रत को; चरन्त:=आचरण करते हुए; जिन-नाथ-भाषितं=जिनेंद्र भगवान द्वारा बताए गए।

अन्वय : वा मुनि-दान-वासिता: जिन-नाथ-भाषितं व्रतं चरन्त: स्फुटं कल्मष-कक्ष-कर्तनं विधाय जघन्यत: सप्त-अष्ट-भवेषु सिद्धिं व्रजन्ति।

वचनिका : अथवा मुनिराजों को दान देने की वासनावाले जीव, जिनेंद्र भगवान द्वारा बताए गए व्रतों का आचरण करते हुए प्रकटरूप में कर्मरूपी वन को काटकर जघन्य से/अधिकतर सात-आठ भवों में मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।।१२४/१०१७।।

अब, इस पद्य द्वारा पात्र-दान के फल का वर्णन करने में असमर्थता व्यक्त करते हैं—

स्वागता : **पात्रदान-महनीय-पादप: शुद्ध-दर्शन-जलेन वर्धित:।**
यद्ददाति फलमर्चितं सतां तस्य को भवति वर्णने क्षम:।।१२५/१०१८।।

पात्र-दानमय पूज्य तरूवर सद्दृष्टि जल से बड़ा हुआ।
कौन समर्थ कथन करने में सज्जन पूजित जो फल देता?।।१२५/१०१८।।

शब्दश: अर्थ : पात्र-दान-महनीय-पादप:=पात्रों को दान देनेरूप सम्माननीय वृक्ष; शुद्ध-दर्शन-जलेन=सम्यग्दर्शनरूपी जल से; वर्धित:=बड़ाया गया; यत्=जो; ददाति=देता है; फलं=फल को; अर्चितं=पूजित; सतां=सज्जनों के; तस्य=उसका; क:=कौन; भवति=होता है; वर्णने=वर्णन में; क्षम:=समर्थ।

अन्वय : शुद्ध-दर्शन-जलेन वर्धित: पात्र-दान-महनीय-पादप: सतां अर्चितं यत् फलं ददाति तस्य वर्णने क: क्षम: भवति?

वचनिका : निर्मल सम्यग्दर्शनरूपी जल से वृद्धि को प्राप्त हुआ पात्र-दानरूपी पूजनीय वृक्ष, सत्पुरुषों के पूजित जो फल देता है; उसका वर्णन करने में कौन समर्थ है? कोई नहीं।।१२५/१०१८।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रकरण की प्रामाणिकता प्ररूपित है—

वंशस्थ : **गणेशिनाऽमित-गतिना यदीरितं न दानजं फलमिदमीर्यते परै:।**
विभासितं दिनमणिना यदम्बरं न भास्यते कथमपि दीपकैरिदम्।।१२६/१०१९।।

अपार ज्ञानी गणधरों द्वारा जो दान फल वर्णित नहीं अन्य।
कह सकें रवि से जो नभ प्रकाशित वह दीपकों से कैसे प्रकाशित?।।१२६/१०१९।।

शब्दश: अर्थ : गण+ईशिना=गणधर द्वारा; अमित-गतिना=अपार ज्ञानवाले; यत्=जो; ईरितं=कहा गया है; न=नहीं; दानजं=दान से प्रकट हुआ; फलं=परिणाम को; इदं=यह;

ईर्यते=कहा जा सकता है; परै:=दूसरों द्वारा; विभासितं=विशेष प्रकाशित है; दिन-मणिना=सूर्य द्वारा; यत्=जो; अम्बरं=आकाश; न=नहीं; भास्यते=प्रकाशित हो सकता है; कथं=कैसे; अपि=भी; दीपकै:=दीपकों द्वारा; इदं=यह।

अन्वय : अमित-गतिना गणेशिना दानजं यत् फलं ईरितं इदं परै: न ईर्यते दिन-मणिना यत् अम्बरं विभासितं इदं दीपकै: कथं अपि न भास्यते?

वचनिका : अपरिमित ज्ञानवाले गणधर-देव द्वारा दान-जनित जो यह फल कहा गया है; यह दूसरों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। जो आकाश सूर्य द्वारा प्रकाशित किया जाता है; वह दीपकों द्वारा किसी भी प्रकार से प्रकाशित नहीं हो सकता है—ऐसा जानना।।१२६/१०१९।।

छप्पय :

पात्र कुपात्र अपात्र भेद भाख्यौ इम जिनपति,
त्याग कुपात्र अपात्र करहु नित पात्र-दान रति।
जा प्रसाद सब भोग भोगि फिर होय महायति,
ध्यान धारि अरि टारि लहै शिव रमा अमितगति।।
तिहि काल अनंतानंत निजरूप माँहि अविचल रहै।
तसु ध्यान सलिल तैं जीव का तुरत सकल कलिमल बहै।।

अर्थ : जिनेंद्र भगवान ने इसप्रकार पात्र, कुपात्र, अपात्र—ये भेद बताए हैं। इनमें से कुपात्र और अपात्र को छोड़कर सदा पात्र-दान में प्रीति कीजिए। इसके प्रभाव से सब भोग भोगकर फिर महा मुनि होकर ध्यान धरकर शत्रुओं को नष्टकर अमित-गति/केवलज्ञान-संपन्न मोक्ष रूपी स्त्री को प्राप्त होता है। वहाँ अनंतानंत काल पर्यंत अपने स्वरूप में निश्चल स्थिर रहते हैं। उस ध्यानरूपी जल से जीव का कर्मरूपी संपूर्ण मल बह जाता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में ग्यारहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।११।।

द्वादश परिच्छेद

यहाँ सर्व-प्रथम चालीस पद्यों द्वारा पूजा का वर्णन है।

उनमें से इस संदर्भ में पूजा के योग्य पंच परमेष्ठिओं का स्वरूप बताते हुए तीर्थंकर भगवान की मुख्यता से अरहंत भगवान का स्वरूप इन ग्यारह पद्यों द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : भाव-द्रव्य-स्वभावैर्यैरुन्नताः कर्म-पर्वताः।
विभिन्ना ध्यान-बज्रेण दुःखव्यालालिसङ्कुलाः।।१/१०२०।।
कर्म-क्षय-भवाः प्राप्ता मुक्ति-दूतीरघच्छिदः।
नव-केवल-लब्धीर्ये पञ्च कल्याण-भागिनः।।२/१०२१।।
सर्व-भाषा-मयी भाषा बोधयन्ती जगत्त्रयीम्।
आश्चर्य-कारिणी येषां ताल्वोष्ठस्पन्द-वर्जितः।।३/१०२२।।
प्रातिहार्याष्टकं कृत्वा येषां लोकातिशायिनीम्।
सपर्यां चक्रिरे सर्वे सादरा भुवनेश्वराः।।४/१०२३।।
वचान्सि ताप-हारीणि पयान्सीव पयोमुचः।
क्षिपन्तो लोक-पुण्येन भूतले विहरन्ति ये।।५/१०२४।।
येषामिन्द्राज्ञया यक्षः स्वर्ग-शोभाभिभाविनीम्।
करोत्यास्थायिकीं कीर्णां लोकत्रितयजन्तुभिः।।६/१०२५।।
आद्यसंहति-सन्स्थाना निःस्वेदा क्षीर-शोणिता।
राजते सुन्दरा येषां सुगन्धिरमला तनुः।।७/१०२६।।
येषां द्विष्टः क्षयं याति तुष्टो लक्ष्मीं प्रपद्यते।
न रुष्यन्ति न तुष्यन्ति ते तयोः सम-वृत्तयः।।८/१०२७।।
लक्ष्मीं सातिशयां येषां भुवन-त्रय-तोषिणीम्।
अनन्य-भाविनीं शक्तो वक्तुं कश्चिन्न विद्यते।।९/१०२८।।
राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोहादयोऽखिलाः।
येषु दोषा न तिष्ठन्ति तप्तेषु न कुला इव।।१०/१०२९।।
शक्तितो भक्तितोऽर्हतो जगती-पति-पूजिताः।
ते द्वेधा पूजया पूज्या द्रव्य-भाव-स्वभावया*।।११/१०३०।।

** स्वरूपया —इति पाठान्तरम्।*

दु:ख अहिवर्ग से संकुल भाव द्रव्य स्वभाव से।
उन्नत कर्मगिरि को जो ध्यान बज्र से भेदते।।१/१०२०।।
पंच कल्याण के पात्र कर्म-क्षय से प्रकट हो।
पाप-छेदी शिव-दूती नौ केवल लब्धी लब्ध जो।।२/१०२१।।
आश्चर्य-कारिणी जिनकी तालु ओष्ठ कंप विन।
सर्व भाषामई वाणी बोध देती सकल जगत।।३/१०२२।।
लोक में अतिशय-कारी पूजा करते इंद्र सब।
जिनकी आदर पूर्वक अष्ट प्रातिहार्य कर।।४/१०२३।।
बादलों से जल-वृष्टि-वत् संताप हरण करे।
वाणी फैलाते भूपर जीव-पुण्य से विहरते।।५/१०२४।।
स्वर्ग-शोभा को जीता त्रिजग-जीवों से भरी।
इंद्राज्ञा से करे यक्ष समवसरण भू जिनेंद्र की।।६/१०२५।।
बज्र वृषभ समचतुरस्र स्वेद-विन श्वेत रक्त-युत।
जिनका तन सुंदर निर्मल सुगंधित अति सुशोभित।।७/१०२६।।
जिनके द्वेषी पाते क्षय भक्त लक्ष्मीवान हैं।
जो नहीं द्वेषी रागी दोनों में समवान हैं।।८/१०२७।।
जिनकी सातिशय लक्ष्मी त्रिजग तुष्टि-कारकी।
अन्य के नहीं ऐसी कहने कोई समर्थ नहिं।।९/१०२८।।
तप्तभू पर नेवले-वत् राग-द्वेष रु क्रोध मद।
लोभ मोहादि सब दोष जिनमें रहते नहीं इक।।१०/१०२९।।
इंद्रादि पूज्य वे अरहंत शक्ति-भक्ति पूर्वक।
द्रव्य भाव से दो रूप पूजा द्वारा पूज्य नित।।११/१०३०।।

शब्दश: अर्थ : भाव-द्रव्य-स्वभावै:=भाव और द्रव्य स्वभावों द्वारा; यै:=जिनके द्वारा; उन्नता:=ऊँचे हुए/विशाल; कर्म-पर्वता:=कर्मरूपी पर्वत; विभिन्ना:=छिन्न-भिन्न कर/फोड़ दिए हैं; ध्यान-बज्रेण=आत्म-ध्यानरूपी बज्र के द्वारा; दु:ख-व्याल-अलि-सङ्कुला:= दु:खरूपी सर्पों से आकुल।

कर्म-क्षय-भवा:=कर्म के क्षय में होनेवालीं; प्राप्ता:=प्राप्त हुए; मुक्ति-दूती:=मोक्ष की दूती; अघच्छिद:=पाप को नष्ट करनेवाली; नव=नौ; केवल-लब्धी:=केवलज्ञान के साथ

होनेवाली प्राप्ति; ये=जो; पञ्च-कल्याण-भागिन:=पाँच कल्याणों के पात्र।

सर्व-भाषा-मयी=सभी भाषाओं-युक्त; भाषा=वाणी; बोधयन्ती=ज्ञान देती हुई; जगत्-त्रयीं=तीनों लोकों को; आश्चर्य-कारिणी=आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली; येषां=जिनके; तालु-ओष्ठ-स्पन्द-वर्जिता=तालु, ओष्ठ के कंपन से रहित।

प्रातिहार्य+अष्टकं=आठ प्रातिहार्यों को; कृत्वा=करके; येषां=जिनके; लोक+अतिशायिनीं=लोक में अतिशय उत्पन्न करनेवाली; सपर्यां=पूजा को; चक्रिरे=करते हैं; सर्वे=सभी; स+आदरा:=आदर-सहित; भुवनेश्वरा:=इंद्र।

वचान्सि=वचन; ताप-हारीणि=ताप को हरण करनेवाले; पयान्सि=जल; इव=समान; पयोमुच:=बादलों का; क्षिपन्त:=विखेरते हुए; लोक-पुण्येन=प्राणिओं के पुण्य से; भूतले=पृथ्वी तल पर; विहरन्ति=विहार करते हैं; ये=जो।

येषां=जिनके; इन्द्र+आज्ञया=इंद्र की आज्ञा से; यक्ष:=कुवेर; स्वर्ग-शोभा+अभिभाविनीं =स्वर्ग की शोभा को जीतनेवाली; करोति=करता है; आस्थायिकीं=अस्थायि समवसरण-भूमि को; कीर्णां=भरी हुई; लोक-त्रितय-जन्तुभि:=तीनों लोकों के प्राणिओं से।

आद्य-संहति-सन्स्थाना=पहले संहनन/बज्र-वृषभ-नाराच, पहले संस्थान/सम-चतुरस्रवाला; नि:-स्वेदा=पसेव/पसीना-रहित; क्षीर-शोणिता=दूध के समान/श्वेत-वर्णी रक्तवाला; राजते=शोभायमान है; सुन्दरा=सुंदर; येषां=जिनके; सुगन्धि:=सुगंध-संपन्न; अमला=निर्मल; तनु:=शरीर।

येषां=जिनके; द्विष्ट:=द्वेष करनेवाले; क्षयं=विनाश को; तुष्ट:=राग/भक्ति करनेवाला; लक्ष्मीं=वैभव को; प्रपद्यते=प्राप्त होता है; न=नहीं; रुष्यन्ति=रोष/क्रोध करते हैं; न=नहीं; तुष्यन्ति=तुष्ट होते/राग करते हैं; ये=जो; तयो:=दोनों में; सम-वृत्तय:=समान वृत्तिवाले।

लक्ष्मीं=वैभव को; स+अतिशयां=अधिकता-सहित; येषां=जिनके; भुवन-त्रय-तोषिणीं=तीनों लोकों को संतुष्ट करनेवाली को; अन्+अन्य-भाविनीं=अन्य में नहीं होनेवाली को; शक्त:=समर्थ; वक्तुं=कहने के लिए; कश्चित्=कोई; विद्यते=है।

राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मोह+आदय:=राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह आदि; अखिला:=संपूर्ण; येषु=जिनमें; दोषा:=दोष; न=नहीं; तिष्ठन्ति=रहते हैं; तप्तेषु=तपी हुई भूमि पर; नकुला=नेवला; इव=समान।

शक्तित:=शक्ति से; भक्तित:=भक्ति से; अर्हत:=अरहंत भगवान की; जगती-पति-

पूजिता:=इंद्रों द्वारा पूजित; ते=वे; द्वेधा=दो प्रकारवाली; पूजया=पूजा से; पूज्या=पूजन करने-योग्य हैं; द्रव्य-भाव-स्वभावया/स्वरूपया=द्रव्य और भाव के स्वभाव/स्वरूप से।

अन्वय : यै: भाव-द्रव्य-स्वभावै: उन्नता: दु:ख-व्याल-अलि-सङ्कुला: कर्म-पर्वता: ध्यान-बज्रेण विभिन्ना:। ये पञ्च-कल्याण-भागिन: कर्म-क्षय-भवा: मुक्ति-दूती: अघच्छिद: नव-केवल-लब्धी: प्राप्ता:। येषां सर्व-भाषा-मयी तालु-ओष्ठ-स्पन्द-वर्जिता आश्चर्य-कारिणी भाषा जगत्त्रयीं बोधयन्ती। सादरा: सर्वे भुवनेश्वरा: प्रातिहार्य-अष्टकं कृत्वा येषां लोक-अतिशायिनीं सपर्यां चक्रिरे।

पयोमुच: पयान्सि इव ताप-हारीणि वचान्सि क्षिपन्त: ये लोक-पुण्येन भूतले विहरन्ति। इन्द्र-आज्ञया यक्ष: येषां स्वर्ग-शोभा-अभिभाविनीं लोक-त्रितय-जन्तुभि: कीर्णां आस्थायिकीं करोति। येषां आद्य-संहति-सन्स्थाना नि:स्वेदा क्षीर-शोणिता सुगन्धि: अमला सुन्दरा तनु: राजते।

इस आठवें पद्य का पूर्वार्ध अन्वय में है। आगे मात्र 'ये' को पहले रख शेष यथावत् है।

येषां भुवन-त्रय-तोषिणीं अनन्य-भावनीं सातिशयां लक्ष्मीं वक्तुं कश्चित् शक्त: न विद्यते। तप्तेषु नकुला: इव राग... अखिला: दोषा: येषु न तिष्ठन्ति। जगती-पति-पूजिता: ते अर्हत: शक्तित: भक्तित: द्रव्य-भाव-स्वभावया/स्वरूपया द्वेधा पूजया पूज्या:।

वचनिका : जिनके द्वारा द्रव्य-भाव स्वभाव से सहित ऊँचे, दु:खरूपी सर्पों की पंक्ति से आकुल कर्मरूपी पर्वत, ध्यानरूपी बज्र द्वारा भेदे गए हैं; अर्थात् जिनेंद्र भगवान ने रागादि भाव-कर्म और ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्मरूप पुद्गल स्कंध, ध्यान द्वारा नष्ट किए हैं। जो गर्भादि पंच-कल्याणों के भोक्ता तीर्थंकर देव; कर्म के क्षय से उत्पन्न, पाप को नष्ट करनेवालीं और मुक्ति की दूती के समान नव केवल-लब्धिओं को प्राप्त हुए हैं।

जिनकी आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाली, सर्व भाषामई, तालु और ओंठ के हलन-चलन से रहित, दिव्य-ध्वनि तीन जगत को ज्ञान कराती है। आदर-सहित, सभी इंद्र छत्र, चँवर आदि अष्ट प्रातिहार्य रचकर जिनकी लोक में अतिशय उत्पन्न करनेवाली पूजा करते हैं। जैसे-मेघ, जल को बरसाता हुआ लोक में विचरण करता है; उसीप्रकार संताप का हरण करनेवाले वचनों को फैलाते हुए जो भगवान, जीवों के पुण्य से पृथ्वी-तल पर/अंतरीक्ष में विहार करते हैं। इंद्र की आज्ञा से कुबेर जिनकी; स्वर्ग की शोभा को जीतनेवाली, तीन लोक के जीवों से भरी समवसरण भूमि को करता है। जिनकी; पहले बज्र-वृषभ-नाराच संहनन

और पहले सम-चतुरस्र संस्थान-युक्त, पसेव-रहित, दूध-समान श्वेत-रक्तवाली, सुंदर, सुगंधरूप निर्मल देह सुशोभित होती है।

जिनका/जिनसे द्वेष करनेवाला क्षय को प्राप्त होता है और भक्ति करनेवाला लक्ष्मी को प्राप्त करता है; परंतु जो भगवान रोष/क्रोध नहीं करते हैं और तोष/राग नहीं करते हैं; दोनों में सम-वृत्ति/समान परिणतिवाले हैं। जिनकी; तीन लोक को संतुष्ट करनेवाली, अन्य हरि-हर आदि देवों में नहीं पाई जानेवाली, अतिशय-सहित लक्ष्मी को कहने में कोई समर्थ नहीं है।

जैसे—तप्त-भूमि में नकुल/नेवले नहीं रहते हैं; उसीप्रकार राग, द्वेष, मद, क्रोध, लोभ, मोह आदि सभी दोष जिनमें नहीं रहते हैं। इंद्रों से पूजित वे अरहंत भगवान शक्ति और भक्ति पूर्वक द्रव्य और भाव स्वभावरूप/स्वरूपमय दो प्रकारवाली पूजा द्वारा पूजन के योग्य हैं।।१-११/१०२०-१०३०।।

अब, इस पद्य द्वारा पूजा के दो भेदों के लक्षण वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **वचोविग्रह-सङ्कोचो द्रव्य-पूजा निगद्यते।**
तत्र मानस-सङ्कोचो भाव-पूजा पुरातनैः।।१२/१०३१।।
वचन तन का संकोच द्रव्य पूजा कहा गया।
मन संकोच भाव पूजा पूर्वाचार्यों ने कहा।।१२/१०३१।।

शब्दशः अर्थ : वचः-विग्रह-सङ्कोचः=वचन और शरीर का संकोच अर्थात् अन्य क्रियाओं से रोककर जिनेंद्र के सम्मुख करना; द्रव्य-पूजा=द्रव्य से की गई पूजा; निगद्यते=कही गई है; तत्र=वहाँ; मानस-सङ्कोचः=मन का संकोच अर्थात् अन्य ओर से रोककर जिन-भक्ति में लगाना; भाव-पूजा=भाव से की गई पूजा; पुरातनैः=पुराण-पुरुषों द्वारा।

अन्वय : तत्र वचः-विग्रह-सङ्कोचः द्रव्य-पूजा मानस-सङ्कोचः भाव-पूजा पुरातनैः निगद्यते।

वचनिका : वहाँ वचन और शरीर का संकोच अर्थात् अन्य क्रियाओं से रोककर दोनों को जिनेंद्र भगवान के सम्मुख करना, द्रव्य-पूजा और मन का संकोच अर्थात् अन्य ओर से रोककर जिन-भक्ति में लगाना, भाव-पूजा है—ऐसा पुराण पुरुषों द्वारा कहा गया है।।१२/१०३१।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य प्रकार से द्रव्य-पूजा को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **गन्ध-प्रसून-सान्नाद्य*दीप-धूपाक्षतादिभिः।**
क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्य-पूजा विधानतः।।१३/१०३२।।

---

* सान्नाय —इति पाठान्तरम्।

गंध पुष्प चरु दीपक धूप अक्षत आदि से।
की गई पूजा जानों द्रव्य-पूजा विधान से।।१३/१०३२।।

शब्दश: अर्थ : गन्ध-प्रसून-सान्नाह्य/स+अन्नाय-दीप-धूप-अक्षत+आदिभि:=गंध/चंदन, प्रसून/पुष्प/पीले चावल; सान्नाह्य/सान्नाय=नैवेद्य/सफेद चिटक, दीप/पीली चिटक, धूप, अक्षत/चावल आदि से; क्रियमाणा=की गई; अथवा=इसके अतिरिक्त; ज्ञेया=जानना चाहिए; द्रव्य-पूजा=द्रव्य से की गई पूजा; विधानत:=विधान से/विधि पूर्वक।

अन्वय : अथवा गन्ध.... आदिभि: विधानत: क्रियमाणा द्रव्य-पूजा ज्ञेया।

वचनिका : अथवा गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, अक्षतों द्वारा तथा इसके अतिरिक्त अन्य द्वारा भी विधान से की गई, द्रव्य-पूजा जाननी।।१३/१०३२।।

अब, इस पद्य द्वारा भाव-पूजा को अन्य प्रकार से परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागत:।**
गुणानां यदनुध्यानं भाव-पूजेयमुच्यते।।१४/१०३३।।

वीतरागी सकलज्ञ जिनों के अनुराग से।
गुणों का जो अनुध्यान भाव-पूजा कहें उसे।।१४/१०३३।।

शब्दश: अर्थ : व्यापकानां=व्यापक/सभी में फैले हुए/सभी को जाननेवालों के; विशुद्धानां= पूर्णतया शुद्ध/वीतरागिओं के; जिनानां=जिनेंद्र भगवान के; अनुरागत:=अनुराग से; गुणानां= गुणों के; यत्=जो; अनुध्यानं=बारंबार चिंतन; भाव-पूजा=भावों से की गई पूजा; इयं=यह; उच्यते=कही है।

अन्वय : व्यापकानां विशुद्धानां जिनानां गुणानां अनुरागत: यत् अनुध्यानं इयं भाव-पूजा उच्यते।

वचनिका : व्यापक अर्थात् सभी को जाननेवाले और रागादि से रहित विशुद्ध जिनराज के गुणों के अनुराग से उनका बारंबार चिंतन करना, यह भाव-पूजा कही है।।१४/१०३३।।

अब, इस पद्य द्वारा दोनों प्रकार से की गई पूजाओं का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **द्वेधापि कुर्वत: पूजां जिनानां जितजन्मनाम्।**
न विद्यते द्वये लोके दुर्लभं वस्तु पूजितम्।।१५/१०३४।।

भव-विजेता जिनेंद्रों की दोनों से पूजा करे।
दोनों लोक में दुर्लभ उत्तम सब वस्तु मिलें।।१५/१०३४।।

शब्दश: अर्थ : द्वेधा=दोनों प्रकार से; अपि=भी; कुर्वत:=करते हुए; पूजां=पूजा को; जिनानां=जिनेंद्र भगवान के; जित-जन्मनां=संसार को जीतनेवालों के; न=नहीं; विद्यते=है;

द्वये=दोनों में; लोके=लोक में; दुर्लभं=बहुत कठिनता से मिलनेवाली; वस्तु=सामग्री को; पूजितं=पूज्य/उत्तम।

अन्वय : जित-जन्मनां जिनानां द्वेधा अपि पूजां कुर्वतः द्वये लोके दुर्लभं पूजितं वस्तु न विद्यते।

वचनिका : संसार को जीतनेवाले जिन-देव की द्रव्य और भाव—दोनों प्रकार से पूजा करनेवाले व्यक्ति को इस-लोक और पर-लोक में उत्तम वस्तु दुर्लभ नहीं है।।१५/१०३४।।

अब, इन नौ पद्यों द्वारा पूजने-योग्य सिद्ध-परमेष्ठी का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ्: **यैः कल्मषाष्टकं प्लुष्ट्वा* विशुद्धध्यानतेजसा।**
प्राप्तमष्ट-गुणैश्वर्य-मात्मनीन-मनव्ययम्।।१६/१०३५।।
क्षुधातृषाश्रमस्वेद-निद्रा-तोषाद्यभावतः।
अन्न-पानासन-स्नान-शयनाभरणादिभिः।।१७/१०३६।।
क्षुधादिनोदनैर्येषां नास्ति जातु प्रयोजनम्।
सिद्धे हि वाञ्छिते कार्ये कारणान्वेषणं वृथा।।१८/१०३७।।
कर्म-व्यपायतो येषां न पुनर्जन्म जायते।
विलयं हि गते वीजे कुतः सम्पद्यतेऽङ्कुरः।।१९/१०३८।।
रागद्वेषादयो दोषा येषां सन्ति न कर्मजाः।
निमित्त-रहितं क्वापि न नैमित्तं विलोक्यते।।२०/१०३९।।
न निर्वृत्तिमयी मुक्त्वा पुनरायान्ति सन्सृतिम्।
शर्मदं हि पदं हित्वा दुःखदं कः प्रपद्यते।।२१।।१०४०।।
सुखस्य प्राप्यते येषां न प्रमाणं कदाचन।
आकाशस्येव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयसः।।२२/१०४१।।
पश्यन्ति ये सुखीभूता लोकाग्रशिखरस्थिताः।
लोकं कर्म-भ्रुकुन्शेन नाट्यमानमनारतम्।।२३/१०४२।।
येषां स्मरण-मात्रेण पुन्सां पापं पलायते।
ते पूज्या न कथं सिद्धा मनोवाक्कायकर्मभिः।।२४/१०४३।।

विशुद्ध ध्यान अग्नि से आठ कर्म जला जिन्हें।
स्व-हित-कर अक्षय अष्ट गुण ऐश्वर्य प्राप्त हैं।।१६/१०३५।।

** प्लुष्टं—इति पाठान्तरम्।*

क्षुधा तृषा भ्रम स्वेद निद्रा तोषादि विना।
अन्न पान आसन स्नान शयन आभरणादि का।।१७/१०३६।।
क्षुधादि मेटनेवाले प्रयोजन रंच नहिं जिन्हें।
वांक्षित कार्य हो जाए कारण-शोधन व्यर्थ है।।१८/१०३७।।
कर्म के विना जिनका नहीं फिर से जन्म है।
बीज नष्ट होने पर कैसे अंकुर हो सके?।।१९/१०३८।।
कर्मज राग द्वेषादि दोष जिनके हैं नहीं।
निमित्त विन नैमित्तिक नहीं दिखता कभी कहीं।।२०/१०३९।।
मोक्ष तज ये नहीं आते कभी भी संसार में।
पद सुखद तज दु:खद को कौन चाहे लोक में?।।२१/१०४०।।
नभ-वत् नित्य महिमा-वान निर्मल सुख की सीम नहिं।
जिनका प्राप्त सुख आत्मज अव्याबाध अनंत ही।।२२/१०४१।।
कर्म-नट द्वारा नित्य नचाते इस लोक को।
लोकाग्र शीश पर स्थित देखते हैं सुखी जो।।२३/१०४२।।
स्मरण मात्र से जिनके पाप भगते जीव के।
वे सिद्ध पूज्य कैसे नहिं मन वचन तन कर्म से?।।२४/१०४३।।

शब्दश: अर्थ : यै:=जिनके द्वारा; कल्मष+अष्टकं=आठों कर्म; प्लुष्ठ्वा=भस्मकर/प्लुष्टं=भस्मीभूत; विशुद्ध-ध्यान-तेजसा=पूर्ण शुद्ध/शुक्ल ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा; प्राप्तं=प्राप्त किए गए हैं; अष्ट-गुण-ऐश्वर्यं=आठ गुणरूपी वैभव को; आत्मनीनं=आत्म-हित-कारक को; अन-व्ययं=व्यय से रहित/अविनाशी को।

क्षुधा-तृषा-भ्रम-स्वेद-निद्रा-तोष+आदि+अभावत:=भूख, प्यास, भ्रम, पसेव, निद्रा, तुष्ट होना/राग आदि का अभाव हो जाने से; अन्न-पान-अशन-स्नान-शयन+आभरण +आदिभि:=अन्न, पान, आसन, स्नान, शयन/शैया, आभरण/आभूषण आदि से; क्षुधा+आदि-नोदनै:=भूख आदि को नष्ट करनेवाले से; येषां=जिनके; न+अस्ति=नहीं है; जातु=रंच-मात्र; प्रयोजनं=आवश्यकता; सिद्धे=सिद्ध हो जाने पर; हि=वास्तव में; वाञ्छिते=चाहे गए; कार्ये=काम में; कारण+अन्वेषणं=साधनों की खोज करना; वृथा=बेकार।

कर्म-व्यापत:=कर्म का अभाव हो जाने से; येषां=जिनके; न=नहीं; पुन:=फिर से; जन्म=अगले शरीर को धारण करना; जायते=होता है; विलयं=क्षय को; हि=वास्तव में;

गते=जाने पर; वीजे=बीज में; कुत:=कैसे; सम्पद्यते=होता है; अङ्कुर:=अंकुर।

राग-द्वेष+आदय:=राग, द्वेष आदि; दोषा:=दोष; येषां=जिनके; सन्ति=हैं; न=नहीं; कर्मजा:=कर्म की निमित्तता में उत्पन्न होनेवाले; निमित्त-रहितं=निमित्त कारण के विना; क्व=कहाँ; अपि=भी; न=नहीं; नैमित्तं=नैमित्तिक कार्य को; विलोक्यते=देखा जाता है।

न=नहीं; निर्वृत्तिं=मोक्ष को; अमी=ये; मुक्त्वा=छोड़कर; पुन:=फिर से; आयान्ति=आते हैं; सन्सृतिं=संसार को; शर्मदं=सुख देनेवाले को; हि=वास्तव में; पदं=स्थान को; हित्वा=छोड़कर; दु:खदं=दु:ख देनेवाले को; क:=कौन; प्रपद्यते=प्राप्त होता है।

सुखस्य=सुख का; प्राप्यते=पाया जाता है; येषां=जिनके; न=नहीं; प्रमाणं=सीमा; कदाचन=कभी; आकाशस्य=आकाश का; इव=समान; नित्यस्य=नित्य/स्थाई का; निर्मलस्य=पवित्र का; गरीयस:=महिमावान का।

पश्यन्ति=देखते हैं; ये=जो; सुखी-भूता:=सुखी हुए; लोक+अग्र-शिखर-स्थिता:=लोक के अग्र-शिखर पर स्थित/विराजमान; लोकं=लोक में स्थित जीवों को; कर्म-भ्रुकुन्शेन=कर्मरूपी नट द्वारा; नाट्यमानं=नचाए जाते हुए को; अनारतं=निरंतर।

येषां=जिनके; स्मरण-मात्रेण=स्मरण-मात्र से; पुन्सां=प्राणिओं के; पापं=पाप/बुरा भाव; पलायते=भाग जाता है; ते=वे; पूज्या:=पूजा के योग्य; न=नहीं; कथं=कैसे; सिद्धा:=सिद्ध परमेष्ठी; मन:-वाक्-काय-कर्मभि:=मन, वचन, कायरूप क्रियाओं द्वारा।

अन्वय : यै: विशुद्ध-ध्यान-तेजसा कल्मष-अष्टकं प्लुष्ट्वा/प्लुष्टं आत्मनीनं अनुव्ययं अष्ट-गुण-ऐश्वर्यं प्राप्तम्।

इस १७वें पद्य का पूर्वार्ध अन्वयरूप ही है। उत्तरार्ध में 'क्षुधा-आदि-नोदनै:' १८वें पद्य का इतना वाक्य प्रारंभ में जुड़कर शेष अन्वय में है। शेष का अन्वय इसप्रकार है—येषां जातु प्रयोजनं नास्ति हि वाञ्छिते कार्ये सिद्धे कारण-अन्वेषणं वृथा।

कर्म-व्यपायत: येषां पुन: जन्म न जायते हि वीजे विलयं गते अङ्कुर: कुत: सम्पद्यते? येषां कर्मजा: राग-द्वेष-आदय: दोषा: न सन्ति क्व अपि निमित्त-रहितं नैमित्तं न विलोक्यते।

अमी निर्वृत्तिं मुक्त्वा पुन: सन्सृतिं न आयान्ति हि शर्मदं पदं हित्वा क: दु:खदं प्रपद्यते?

येषां आकाशस्य इव नित्यस्य निर्मलस्य गरीयस: सुखस्य कदाचन प्रमाणं न प्राप्यते।

सुखीभूता: लोकाग्र-शिखर-स्थिता: ये कर्मभ्रुकुन्शेन अनारतं नाट्यमानं लोकं पश्यन्ति।

२४वें पद्य का पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—ते सिद्धा: मन:-वाक्-काय-कर्मभि: पूज्या: कथं न?

वचनिका : जिन्होंने निर्मल ध्यानरूपी अग्नि द्वारा अष्ट-कर्मों को जलाकर आत्मा के हित-कारक और अविनाशी सम्यक्त्व आदि अष्ट गुणरूप ऐश्वर्य प्राप्त किया है।

क्षुधा, तृषा, भ्रम, पसेव, निद्रा, हर्ष इत्यादि का अभाव हो जाने से क्षुधादि को दूर करनेवाले अन्न, पान, आसन, स्नान, शैया, आभूषण आदि से जिन सिद्धों को कुछ भी प्रयोजन नहीं है। वांछित कार्य की सिद्धि हो जाने पर कारण की खोज व्यर्थ है; अर्थात् लोक में यह देखा जाता है कि क्षुधादि का कष्ट होने पर अन्नादि खोजे जाते हैं। सिद्ध भगवान के क्षुधादि दोष नहीं रहे; तब फिर अन्नादि का खोजना क्यों हो? वे तो सहज ज्ञानानंद में मग्न हैं।

कर्मों का अभाव हो जाने के कारण जिनका पुन: जन्म नहीं होता है। बीज का नाश हो जाने पर अंकुर कैसे हो सकता है? नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जन्म होने का कारण कर्म है। जिनके आठों कर्मों का अभाव हो गया है; उनका जन्म अब कैसे हो?

जिनके कर्म-जनित राग, द्वेष आदि दोष नहीं हैं। कहीं भी निमित्त के विना नैमित्तिक कार्य दिखाई नहीं देता है। मोहादि कर्मों के उदय का निमित्त पाकर नैमित्तिक रागादि होते हैं। सिद्धों के मोहादि कर्मरूप निमित्त नहीं रहा है; तब फिर नैमित्तिक रागादि कहाँ से होंगे? नहीं होते हैं।

ये सिद्ध भगवान मोक्ष अवस्था को छोड़कर पुन: संसार में नहीं आते हैं। सुख-दायक स्थान को छोड़कर दु:ख-दायक स्थान को कौन प्राप्त होता है? कोई नहीं।

जिनके, आकाश के समान नित्य, निर्मल और महान महिमावान सुख का प्रमाण/नाप कभी भी प्राप्त नहीं होता है। सुखी हुए लोक के अग्र शिखर पर स्थित जो कर्मरूपी नट द्वारा निरंतर नचाते हुए लोक को देखते हैं; अर्थात् कर्म द्वारा जीव की अनेक अवस्थाएँ होती हैं। वे उन्हें देखते हैं; परंतु रागादि का अभाव होने से स्वयं सुखरूप ही रहते हैं।

जिनके स्मरण-मात्र से प्राणी के पाप भग जाते हैं; वे सिद्ध भगवान, मन, वचन, काय की क्रिया द्वारा पूजन-योग्य कैसे नहीं हैं? अपितु पूजन-योग्य ही हैं।।१६-२४/१०३५-१०४३।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा पूजन के योग्य आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **चारयन्त्यनुमन्यन्ते पञ्चाचारं चरन्ति ये।**
जनका इव सर्वेषां जीवानां हित-कारणम्।।२५/१०४४।।
येषां पाद-परामर्शे जीवा मुञ्चन्ति पातकम्।
सलिलं हिम-रश्मीनां चन्द्रकान्तोपला इव।।२६/१०४५।।
उपदेशै: स्थिरं येषां चारित्रं क्रियतेतराम्।
ते पूज्यन्ते त्रिधाचार्या: पदं वर्यं यियासुभि:।।२७/१०४६।।

पिता-वत् सब जीवों के हित हेतु पंचाचरण।
स्वयं आचरते अनुमत करवाते पर-आचरण।।२५/१०४४।।
चंद्रकांत उपल छोड़े जल शशिकर स्पर्श से।
त्यों प्राणि पाप को छोड़े जिनके पाद-स्पर्श से।।२६/१०४५।।
जिनके उपदेश से चारित्र विशिष्ट स्थिर हो सदा।
मुमुक्षुओं द्वारा वे आचार्य पूज्य हैं त्रिधा।।२७/१०४६।।

शब्दश: अर्थ : चारयन्ति=आचरण कराते हैं; अनुमन्यन्ते=अनुमोदना करते हैं; पञ्च+आचारं= पाँच आचारों को; चरन्ति=आचरण करते हैं; ये=जो; जनका:=पिता; इव=समान; सर्वेषां= सभी के; जीवानां=जीवों के; हित-कारणं=हित के हेतु को।

येषां=जिनके; पाद-परामर्शे=चरणों के स्पर्श से; जीवा:=जीव; मुञ्चन्ति=छोड़ देते हैं; पातकं=पाप को; सलिलं=जल को; हिम-रश्मीनां=चंद्रमा की किरणों के; चन्द्र-कान्त+उपला =चंद्रकांत पत्थर; इव=समान।

उपदेशै:=उपदेशों से; स्थिरं=दृढ; येषां=जिनके; चारित्रं=चारित्र को; क्रियते-तरां= विशेषरूप से किया जाता है; ते=वे; पूज्यन्ते=पूजा के योग्य होते हैं; त्रिधा=तीन प्रकार से; आचार्या:=आचार्य; पदं=स्थान को; वर्यं=श्रेष्ठ को; यियासुभि:=जाना चाहनेवालों के द्वारा।

अन्वय : ये जनका इव सर्वेषां जीवानां हित-कारणं पञ्च-आचारं चरन्ति चारयन्ति अनुमन्यन्ते।

हिम-रश्मीनां परामर्शे चन्द्रकान्त-उपला सलिलं मुञ्चन्ति इव येषां पादपरामर्शे जीवा पातकं मुञ्चन्ति। येषां उपदेशै:चारित्रं स्थिरं क्रियतेतरां ते आचार्या: वर्यं पदं यियासुभि: त्रिधा पूज्यन्ते।

वचनिका : पिता के समान जो जीवों के हित में कारणभूत दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार, वीर्याचार—इन पाँच आचारों का स्वयं आचरण करते हैं, दूसरों से कराते हैं और करते हुए अनुमोदना करते हैं।

जैसे—चंद्रमा की किरणों का स्पर्श होने पर चंद्रकांत पत्थर, जल को छोड़ देता है; उसी प्रकार जिनके चरणों का स्पर्श होने पर जीव पाप को छोड़ देते हैं। जिनके उपदेशों से चारित्र विशेषरूप में स्थिर किया जाता है; वे आचार्य, श्रेष्ठ-पद मोक्ष-स्थान को जाने के इच्छुक प्राणिओं द्वारा मन, वचन, काय से पूज्य होते हैं।।२५-२७/१०४४-१०४६।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा विद्या के उत्पादक उपाध्याय परमेष्ठी का स्मरण करते हैं—

अनुष्टुभ् : **उन्नतेभ्य: ससत्त्वेभ्यो येभ्यो दलित-कल्मषा:।**
जायन्ते पावना विद्या: पर्वतेभ्य: इवाऽऽपगा:।।२८/१०४७।।

पर्वतों से नदी-वत् जिन उन्नत पराक्रम-सहित।
से उत्पन्न हों कल्मष-नाशकी विद्या पवित्र।।२८/१०४७।।

शब्दश: अर्थ : उन्नतेभ्य:=उच्च/महान से; स-सत्त्वेभ्य:=पराक्रम-सहित से; येभ्य:=जिनसे; दलित-कल्मषा:=पापों को नष्ट करनेवालीं; जायन्ते=उत्पन्न होती हैं; पावना:=पवित्र; विद्या:=विद्या; पर्वतेभ्य:=पर्वतों से; इव=समान; आपगा:=नदिआँ।

अन्वय : पर्वतेभ्य: आपगा: इव उन्नतेभ्य: ससत्त्वेभ्य: येभ्य: दलित-कल्मषा: पावना: विद्या: जायन्ते।

वचनिका : जिसप्रकार पर्वतों से नदिआँ निकलती हैं; उसीप्रकार उन्नत/महान और पराक्रम-सहित जिनके द्वारा पापों को नष्ट करनेवालीं पवित्र विद्याएं उत्पन्न होती हैं।।२८/१०४७।।

अब, इस पद्य द्वारा उनकी प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **चरन्त: पञ्चधाचारं भवारण्य-दवानलम्।**
द्वादशाङ्ग-श्रुतस्कन्धं पाठयन्ति पठन्ति ये।।२९/१०४८।।

भव-वन को दावानल पंचाचार चरण करें।
द्वादशांग श्रुतस्कंध जो पढ़ाते स्वयं पढ़ें।।२९/१०४८।।

शब्दश: अर्थ : चरन्त:=आचरण करते हुए; पञ्च-धा+आचारं=पाँच प्रकार के आचार को; भव+अरण्य-दव+अनलं=संसाररूपी महा-वन को भस्म करने के लिए दावाग्नि को; द्वादशाङ्ग-श्रुत-स्कन्धं=द्वादशांगरूपी श्रुत-स्कंध को; पाठयन्ति=पढ़ाते हैं; पठन्ति=पढ़ते हैं; ये=जो।

अन्वय : भव-अरण्य-दव-अनलं पञ्च-धा-आचारं चरन्त: ये द्वादशाङ्ग-श्रुत-स्कन्धं पाठयन्ति पठन्ति।

वचनिका : संसाररूपी वन को दावानल के समान पंच प्रकार-युक्त आचार का आचरण करते हुए जो बारह अंगरूप श्रुत-स्कंध को पढ़ाते और पढ़ते हैं।।२९/१०४८।।

अब, इस पद्य द्वारा उनकी परोपकारी वृत्ति की विशेषता बताकर पूज्यता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **येषां वचोह्रदे स्नाता न सन्ति मलिना जना:।**
तेऽर्च्यन्ते न कथं दक्षैरुपाध्याया विरेपस:।।३०/१०४९।।

जिनके वच-सर-स्नात प्राणी मलिन नहीं हुए।
पाप-विन वे उपाध्याय कैसे पूज्य न दक्ष से?।।३०/१०४९।।

शब्दश: अर्थ : येषां=जिनके; वच:-ह्रदे=वचनरूपी सरोवर में; स्नाता:=स्नान करनेवाले; न=नहीं; सन्ति=हैं; मलिनां=रागादि से मलिन; जना:=प्राणी; ते=वे; अर्च्यन्ते=पूज्य होते हैं; न=नहीं; कथं=कैसे; दक्षै:=प्रवीणों द्वारा; उपाध्याया:=उपाध्याय; वि:-एपस:=पाप से रहित।

अन्वय : येषां वच:-ह्रदे स्नाता: जना: मलिना: न सन्ति ते विरेपस: उपाध्याया: दक्षै: कथं न अर्च्यन्ते?

वचनिका : जिनके वचनरूपी सरोवर में स्नान करनेवाले प्राणी मलिन नहीं होते हैं; वे पाप से रहित उपाध्याय परमेष्ठी चतुर व्यक्तिओं द्वारा कैसे पूज्य नहीं हैं? हैं ही।।३०/१०४६।।

अब, इन तीन पद्यों द्वारा साधु परमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए उनकी पूज्यता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यै [1]रनङ्गानलस्तीव्र: सन्तापित-जगत्त्रय:।**
विध्यापित: शमाम्भोभि: पापपङ्काप[2]सारिभि:।।३१/१०५०।।
दिधक्षवो भवारण्यं ये कुर्वन्ति तपोऽनघम्।
निराकृताखिलग्रन्था निष्पृहा: स्वतनावपि।।३२/१०५१।।
निधानमिव रक्षन्ति ये रत्नत्रयमादृता:।
ते सद्भिर्वरिवस्यन्ते साधवो भव्य-बान्धवा:।।३३/१०५२।।

त्रि-जग संताप कर कामानल को पाप पंक को।
धोनेवाले समता जल से बुझाते नित्य जो।।३१/१०५०।।
सकल परिग्रह के त्यागी निज तन में भी निष्पृही।
भव-वन दग्ध इच्छुक जो करते तप निष्पाप ही।।३२/१०५१।।
निधान-वत् रत्नत्रय का सादर रक्षण करें।
भव्य-बांधव वे साधु सज्जन से आराध्य हैं।।३३/१०५२।।

शब्दश: अर्थ : यै:=जिनके द्वारा; अनङ्ग+अनल:=कामरूपी अग्नि/विरेपस:=पापरूपी अग्नि; तीव्र:=बहुत तेज; सन्तापित-जगत्-त्रय:=तीनों लोकों को संतप्त करनेवाली; विध्यापित:=बुझा दी गई है; शम+अम्भोभि:=शम/शांत-भाव/समतारूपी जल द्वारा; पाप-पङ्क+अप-सारिभि:/

---

१. विरेपस:; २. हारिभि: —इति पाठान्तरम्।

हारिभि:=पापरूपी कीचड़ को धो/नष्ट कर देनेवाले द्वारा। दिधक्षव:=जलाने के इच्छुक; भव+अरण्यं=संसाररूपी महा-वन को; ये=जो; कुर्वन्ति=करते हैं; तप:-अनघं= पाप-रहित तप को; निराकृत+अखिल-ग्रन्था:=सभी प्रकार के परिग्रह का निराकरण/त्याग करनेवाले; निष्पृहा:=वांक्षा से रहित; स्व-तनौ=अपने शरीर में; अपि=भी।

निधानं=निधान/वैभव के भंडार को; इव=समान; रक्षन्ति=रक्षा करते हैं; ये=जो; रत्नत्रयं= रत्नत्रय को; आदृता:=आदर करनेवाले; ते=वे; सद्भि:=सज्जनों द्वारा; वरिवस्यन्ते=आराधना करने-योग्य हैं; साधव:=साधु परमेष्ठी; भव्य-बान्धवा:=भव्य जीवों के बांधव।

अन्वय : सन्तापित-जगत्-त्रय: तीव्र: अनङ्ग-अनल:/विरेपस: यै: पाप-पङ्क-अपसारिभि:/ अपहारिभि: शम-अम्भोभि: विध्यापित:। भव-अरण्यं दिधक्षव: निराकृत-अखिल-ग्रन्था: स्व-तनौ अपि निष्पृहा: ये अनघं तप: कुर्वन्ति। ये निधानं इव आदृता: रत्नत्रयं रक्षन्ति भव्य-बान्धवा: ते साधव: सद्भि: वरिवस्यन्ते।

वचनिका : तीन-लोक को संतप्त करनेवाली कामरूपी/पापरूपी तीव्र अग्नि, जिनके द्वारा पापरूपी कीचड़ को दूर करनेवाले शांत-भावरूपी जल द्वारा बुझा दी गई है; संसाररूपी वन को दग्ध करने के वांक्षक, अंतरंग और बहिरंग—समस्त परिग्रह का निराकरण करनेवाले, अपने शरीर में भी वांक्षा-रहित जो पाप-रहित तप करते हैं; जो निधान अर्थात् अमूल्य वैभव के भंडार के समान दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप सम्यक् रत्नत्रय की रक्षा करते हैं; भव्य-जीवों के बांधव वे साधु-परमेष्ठी सत्पुरुषों द्वारा आराधना के योग्य हैं।।३१-३३/१०५०-१०५२।।

अब, इस पद्य द्वारा पंच-परमेष्ठिओं की पूजन का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अर्चयद्भ्यस्त्रिधा पुम्भ्य: पञ्चेति परमेष्ठिन:।**
नश्यन्ति तरसा विघ्ना विडलेभ्य इवाऽऽखव:।।३४/१०५३।।

विलावों से चूहों-वत् पंच परमेष्ठि की त्रिविध।
पूजन करते प्राणी के विघ्न नशते शीघ्र सब।।३४/१०५३।।

शब्दश: अर्थ : अर्चयद्भ्य:=पूजन करते हुए से; त्रिधा=तीन प्रकार से; पुम्भ्य:=प्राणिओं से; पञ्च=पाँच; इति=इसप्रकार; परमेष्ठिन:=परमेष्ठिओं का; नश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं; तरसा=शीघ्र; विडलेभ्य:=बिलावों से; इव=समान; अखव:=चूहे।

अन्वय : इति पञ्च-परमेष्ठिन: त्रिधा अर्चयद्भ्य: पुम्भ्य: विडलेभ्य: अखव: इव विघ्ना: तरसा नश्यन्ति।

वचनिका : इसप्रकार पंच-परमेष्ठिओं की मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार से पूजन करनेवाले

प्राणिओं से; बिलावों से मूसों के समान विघ्न शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : पंच-परमेष्ठिओं के पूजनादिरूप शुभ परिणामों से अंतराय-कर्म का अनुभाग हीन होता है, पुण्य-कर्म का बंध होता है। जिनका उदय होने पर विघ्न नहीं होते हैं—ऐसा जानना।।३४/१०५३।।

अब, इस पद्य द्वारा उनकी पूजा नहीं करनेवालों का फल उद्घोषित है—

अनुष्टुभ् : **पूजयन्ति न ये दीना भक्तित: परमेष्ठिन:।**
सम्पद्यते कुतस्तेषां शर्म निन्दितकर्मणाम्?।।३५/१०५४।।

जो दीन नहीं पूजें भक्ति से परमेष्ठि को।
उन निंदित कर्म वालों को सुख कैसे प्राप्त हों?।।३५/१०५४।।

शब्दश: अर्थ : पूजयन्ति=पूजा करते हैं; न=नहीं; ये=जो; दीना:=दीन; भक्तित:=भक्ति से; परमेष्ठिन:=परमेष्ठिओं का; सम्पद्यते=होता है; कुत:=कैसे; तेषां=उनके; शर्म=सुख; निन्दित-कर्मणां=नीच कर्मवालों के।

अन्वय : ये दीना: भक्तित: परमेष्ठिन: न पूजयन्ति तेषां निन्दित-कर्मणां शर्म कुत: सम्पद्यते?

वचनिका : जो दीन अज्ञानी प्राणी भक्ति पूर्वक परमेष्ठिओं की पूजन नहीं करते हैं; उन नीच-कर्मी के सुख कैसे हो? नहीं हो सकता है—ऐसा जानना।।३५/१०५४।।

अब, इस पद्य द्वारा जिन-पूजा का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **इन्द्राणां तीर्थकर्तृणां केशवानां रथाङ्गिनाम्।**
सम्पद: सकला: सद्यो जायन्ते जिनपूजया।।३६/१०५५।।

इंद्रों तीर्थंकरों चक्री अर्धचक्री की सभी।
संपत्ति जिन-पूजा से मिल जातीं अति शीघ्र ही।।३६/१०५५।।

शब्दश: अर्थ : इन्द्राणां=इंद्रों के; तीर्थकर्तृणां=तीर्थंकरों के; केशवानां=अर्ध चक्रवर्ती/नारायणों के; रथ+अङ्गिनां=चक्रवर्तिओं के; सम्पद:=संपत्तिआँ; सकला:=सभी; सद्य:=शीघ्र; जायन्ते=होती हैं; जिन-पूजया=जिनेंद्र भगवान की पूजा से।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वयरूप है। शेष इसप्रकार है—सकला: सम्पद: जिन-पूजया सद्य: जायन्ते।

वचनिका : इंद्रों, तीर्थंकरों, नारायणों, चक्रवर्तिओं की सभी सम्पदाएँ जिनेंद्र भगवान की पूजन से शीघ्र ही प्रकट हो जाती हैं।।३६/१०५५।।

जिनेंद्र भगवान के उपासक, अन्य जीवों द्वारा पूज्य होते हैं; यह तथ्य अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **मानवैर्मानवावासो त्रिदशैस्त्रिदशालये।**
खेचरैः खेचरावासे पूज्यन्ते जिनपूजकाः।।३७/१०५६।।

मानव-लोक में मनुजों स्वर्गों में सब सुरों से।
खेचर-लोक में खेचर से जिन-पूजक पूज्य हैं।।३७/१०५६।।

शब्दशः अर्थ : मानवैः=मनुष्यों द्वारा; मानव+आवासे=मनुष्य-लोक में; त्रिदशैः=देवों द्वारा; त्रि-दश+आलये=देव-लोक में; खेचरैः=विद्याधरों द्वारा; खेचर+आवासे=विद्याधर-लोक में; पूज्यन्ते=पूजे जाते हैं; जिन-पूजकाः=जिन-देव की पूजा करनेवाले।

अन्वय : जिन-पूजकाः को प्रारंभ में और पूज्यन्ते को अंत में रखना है; शेष सब अन्वय में है।

वचनिका : जिन-देव की पूजा करनेवाले प्राणी मनुष्य-लोक में मनुष्यों द्वारा; देव-लोक में देवों द्वारा और विद्याधर-लोक में विद्याधरों द्वारा पूज्य होते हैं।।३७/१०५६।।

जिन-पूजन का सांसारिक अन्य फल अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सकामा मन्मथालापा निविडस्तनमण्डलाः।**
रमण्यो रमणीयाङ्गा रमयन्ति जिनार्चिनः।।३८/१०५७।।

काम-युत सुंदर शब्दोंमय कठोर कुच-मंडली।
सुंदर तन धारी स्त्रीं जिन-पूजक को रमातीं।।३८/१०५७।।

शब्दशः अर्थ : सकामाः=काम-सहित; मन्मथ+आलापाः=मन-मोहक वचन बोलनेवालीं; कठोर-कुच-मंडलवालीं; रमण्यः=स्त्रिआँ; रमणीय+अङ्गाः=सुंदर शरीर-धारी; रमयन्ति=रमण कराती हैं; जिन+अर्चिनः=जिन-देव की पूजन करनेवालों को।

अन्वय : जिन-अर्चिनः स-कामाः... मण्डलाः रमणीय-अङ्गाः रमण्यः रमयन्ति।

वचनिका : जिन-देव की पूजन करनेवाले प्राणिओं को काम-सहित, मधुर शब्दवालीं, कठोर कुच-मंडलवालीं सुंदर-शरीरधारी स्त्रिआँ रमण कराती हैं।

भावार्थ : जिन-पूजा से पुण्य-बंध होता है। उससे देवादि पद में अनेक स्त्रिआँ मिलती हैं।।३८/१०५७।।

जिन-पूजन का अलौकिक फल अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **पवित्रं यन्निरातङ्कं सिद्धानां* पदमव्ययम्।**
दुष्प्राप्यं विदुषामर्थ्यं प्राप्यते तज्जिनार्चकैः।।३९/१०५८।।

** मुक्तानां —इति पाठान्तरम्।*

जिन-पूजक पाते हैं सिद्धों का पद अक्षय।
विज्ञ-वांक्षित भव-रोग-विरहित पावन दुर्लभ।।३९/१०५८।।

शब्दश: अर्थ : पवित्रं=पावन; यत्=जो; नि:+आतङ्कं=रोग-रहित; सिद्धानां=सिद्धों के/ मुक्तानां=मुक्तों के; पदं=स्थान; अव्ययं=अविनाशी; दुष्प्राप्यं=दुर्लभ; विदुषां=विद्वानों के; अर्थ्यं=वांक्षा-योग्य; प्राप्यते=प्राप्त किया जाता है; तत्=वह; जिन+अर्चकै:=जिन-देव की पूजन करनेवालों के द्वारा।

अन्वय : जिन-अर्चकै: सिद्धानां/मुक्तानां यत् पवित्रं नि:-आतङ्कं अव्ययं दुष्प्राप्यं विदुषां अर्थ्यं पदं तत् प्राप्यते।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान की पूजन करनेवालों के द्वारा सिद्ध/मुक्त-जीवों का जो रागादि मल से रहित पावन, संसाररूपी रोग से रहित, अविनाशी, दुर्लभ, ज्ञानिओं द्वारा वांक्षा-योग्य पद है; वह प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ : जिन-पूजन के परिणामों का निमित्त पाकर परंपरा से रत्नत्रय की आराधनाकर मोक्ष प्राप्त होता है।।३९/१०५८।।

अब, इस पद्य द्वारा जिनेंद्र भगवान के सान्निध्य का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **जिनस्तवं जिनस्नानं जिनपूजां जिनोत्सवम्।**
कुर्वाणो भक्तितो लक्ष्मीं लभते याचितां जन:।।४०/१०५९।।

जिन-स्तवन जिन-प्रक्षाल जिन-पूजन जिन-उत्सव।
करता भक्ति से प्राणी पाता वांक्षित वैभव।।४०/१०५९।।

शब्दश: अर्थ : जिन-स्तवं=जिन-देव की स्तुति को; जिन-स्नानं=जिन-बिंब के प्रक्षाल को; जिन-पूजां=जिन-देव की पूजन को; जिन+उत्सवं=जिन-देव के उत्सव को; कुर्वाण:= करता हुआ; भक्तित:=भक्ति से; लक्ष्मीं=वैभव को; लभते=प्राप्त होता है; याचितां=वांक्षित को; जन:-प्राणी।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—भक्तित: कुर्वाण: जन: याचितां लक्ष्मीं लभते।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान के स्तवन, प्रक्षाल, पूजन, उत्सव को भक्ति पूर्वक करता हुआ प्राणी वांक्षित वैभव को प्राप्त करता है।।४०/१०५९।।

यहाँ पर्यंत पूजन का प्रकरण हुआ।
आगे तेरह पद्यों द्वारा शील का वर्णन करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा शील को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सन्साराराति‌भीतस्य व्रतानां गुरुसाक्षिकम्।**
गृहीतानामशेषाणां रक्षणं शीलमुच्यते।।४१/१०६०।।

भव बैरी से डर के गुरु की साक्षी पूर्वक।
ग्रहण किए सभी व्रत का रक्षण शील है सतत।।४१/१०६०।।

शब्दश: अर्थ : सन्सार+अराति-भीतस्य=संसाररूपी शत्रु से डरे हुए का; व्रतानां=व्रतों के; गुरु-साक्षिकं=गुरु की साक्षी पूर्वक; गृहीतानां=ग्रहण किए गए के; अशेषाणां=संपूर्ण के; रक्षणं=सुरक्षा करना; शीलं=शील; उच्यते=कहलाता है।

अन्वय : सन्सार-अराति-भीतस्य गुरु-साक्षिकं गृहीतानां अशेषाणां व्रतानां रक्षणं शीलं उच्यते।

वचनिका : संसाररूपी शत्रु से भय-भीत प्राणी का गुरु की साक्षी पूर्वक ग्रहण किए गए संपूर्ण व्रतों का संरक्षण करना, शील कहलाता है।।४१/१०६०।।

अब, इस पद्य द्वारा व्रत-भंग का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **साक्षीकृता व्रतादाने कुर्वते परमेष्ठिन:।**
भूपा इव महा-दु:खं विचारे व्यभिचारिण:।।४२/१०६१।।

परमेष्ठी साक्षी पूर्वक लिए व्रत में विचार में।
दोष कर्ता को बहु दुख राजा-वत् उससे मिले।।४२/१०६१।।

शब्दश: अर्थ : साक्षी-कृता=साक्षी किए गए; व्रत+आदाने=व्रत को ग्रहण; कुर्वते=करता है; परमेष्ठिन:=परमेष्ठी; भूपा:=राजा; इव=समान; महा-दु:खं=बहुत दु:ख को; विचारे= विचार/आचरणादि में; व्यभिचारिण:=दोष करनेवाले के।

अन्वय : व्रत-आदाने साक्षी कृता: परमेष्ठिन: विचारे व्यभिचारिण: भूपा: इव महा-दु:खं कुर्वते।

वचनिका : व्रतों को ग्रहण करने में साक्षी किए गए परमेष्ठी, विचार-प्रवृत्ति आदि में दोष करनेवाले प्राणी को राजा के समान महा-दु:ख करते हैं।

भावार्थ : जैसे—राजा के समक्ष कोई कुछ प्रतिज्ञा करे; परंतु उसे भूल जाए तो दंड पाता है; उसीप्रकार अरहंतादि की साक्षी में की गई प्रतिज्ञा को भंग करने पर महा-दु:ख प्राप्त होता है। यद्यपि अरहंतादि वीतराग हैं। उनके दु:ख देने का कुछ प्रयोजन नहीं है; तथापि अपने ही परिणामों की मलिनता से पाप बाँधकर, यह जीव नरकादि के दु:ख भोगता है—ऐसा जानना।।४२/१०६१।।

व्रत-भंग का कष्ट राज-दंड से बहुत बड़ा है; अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **एकदा ददते दु:खं नरनाथास्तिरष्कृता:।**

गुरवो न्यक्कृता दु:खं वितरन्ति भवे भवे।।४३/१०६२।।

अपमानित राजा तो दु:ख दे एक बार ही।

गुरुओं के अनादर से मिले बहु भव दु:ख ही।।४३/१०६२।।

शब्दश: अर्थ : एकदा=एक बार; ददते=देता है; दु:खं=दु:ख को; नर-नाथा:=राजा; तिरष्कृता:=अपमान किए गए; गुरव:=गुरु; न्यक्कृता:=अनादर किए गए; दु:खं=कष्ट को; वितरन्ति=विस्तृत करते हैं; भवे-भवे=अनेक भवों में।

अन्वय : तिरष्कृता: नरनाथा: एकदा दु:खं ददते न्यक्कृता: गुरव: भवे-भवे दु:खं वितरन्ति।

वचनिका : तिरष्कार किया हुआ राजा तो एक बार ही दु:ख देता है; परंतु निराकृत/तिरष्कृत हुए गुरु भव-भव में दु:ख देते हैं।

भावार्थ : गुरुओं का अनादर करने से पाप का महा-बंध होता है; उससे जीव नरकादि में महा/घोर दु:ख पाता है।।४३/१०६२।।

अब, इस पद्य द्वारा व्रत-भंग की भयंकरता सोदाहरण निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **भक्षयित्वा विषं घोरं वरं प्राणा विसर्जिता:।**

न कदाचिद्व्रतं भग्नं गृहीत्वा सूरिसाक्षिकम्।।४४/१०६३।।

घोर विष खाकर प्राणों का उत्सर्जन श्रेष्ठ है।

पर गुरु साक्षि में ले व्रत कभी भंग नहीं करें।।४४/१०६३।।

शब्दश: अर्थ : भक्षयित्वा=खाकर; विषं=विष को; घोरं=हलाहल-सा तीव्र को; वरं=श्रेष्ठ; प्राणा:=प्राण/देह; विसर्जिता:=छोड़ देना; न=नहीं; कदाचित्=कभी; व्रतं=व्रत को; भग्नं=भंग करना; गृहीत्वा=लेकर; सूरि-साक्षिकं=आचार्य की साक्षीवाले को।

अन्वय : घोरं विषं भक्षयित्वा प्राणा: विसर्जिता: वरं सूरि-साक्षिकं व्रतं गृहीत्वा कदाचित् भग्नं वरं न।

वचनिका : भयानक विष का भक्षणकर प्राण/देह छोड़ देना, श्रेष्ठ है; परंतु आचार्य की साक्षी पूर्वक व्रत को ग्रहणकर भंग करना, कभी श्रेष्ठ नहीं है।

भावार्थ : मरण हो तो हो; परंतु आँकड़ी/प्रतिज्ञा भंग करना, योग्य नहीं है।।४४/१०६३।।

अब, इस पद्य द्वारा यह बताते हैं कि शील-रहित प्राणी अशोभनीय है—

अनुष्टुभ् : **वसनैर्भूषणैर्हीन: सकलैरपि शोभते।**

शीलेन बुधपूज्येन न पुनर्वर्जितो जन:।।४५/१०६४।।

सभी वस्त्रों आभूषण से विरहित भी शोभता।
परंतु विज्ञ-पूज्य शील से रहित नहिं शोभता।।४५/१०६४।।

शब्दश: अर्थ : वसनै:=वस्त्रों से; भूषणै:=आभरणों से; हीन:=रहित; सकलै:=संपूर्ण; अपि=भी; शोभते=शोभा देता है; शीलेन=शील से; बुध-पूज्येन=ज्ञानिओं द्वारा पूज्य से; न=नहीं; पुन:=फिर/परंतु; वर्जित:=रहित; जन:=प्राणी।

अन्वय : सकलै: वसनै: भूषणै: अपि हीन: जन: शोभते पुन: बुध-पूज्येन शीलेन वर्जित: जन: न शोभते।

वचनिका : सभी वस्त्रों और आभूषणों से भी रहित प्राणी सुशोभित होता है; परंतु पंडितों द्वारा पूज्य शील से रहित प्राणी सुशोभित नहीं होता है।।४५/१०६४।।

अब, इस पद्य द्वारा शील की विशेषताएं वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **सहजं भूषणं शीलं शीलं मण्डनमुत्तमम्।**
पाथेयं पुष्कलं शीलं शीलं रक्षणमूर्जितम्।।४६/१०६५।।
सहज आभूषण शील उत्तम मंडन शील है।
शील बहुत पाथेय महा रक्षण शील है।।४६/१०६५।।

शब्दश: अर्थ : सहजं=स्वभावरूप; भूषणं=आभरण; शीलं=शील; शीलं=शील; मण्डनं=शृंगार; उत्तमं=श्रेष्ठ; पाथेयं=मार्ग हेतु भोजन; पुष्कलं=बहुत; शीलं=शील; शीलं=शील; रक्षणं=रक्षा करनेवाला; ऊर्जितं=बल-शाली।

अन्वय : शीलं सहजं भूषणं शीलं उत्तमं मण्डनं शीलं पुष्कलं पाथेयं शीलं ऊर्जितं रक्षणम्।

वचनिका : शील, स्वभावरूप आभूषण है; शील, उत्तम मंडन/शृंगार है; शील, भरपूर वटसारी/कलेवा/नाश्ता है; शील, बल-शाली सुंदर रक्षक है; यह शील ही जीवों की रक्षा करता है।।४६/१०६५।।

अब, इस पद्य द्वारा शील का माहात्म्य प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : *__शीलेन रक्षितो जीवो न केनाप्यभिभूयते।__
महाह्रदनिमग्नस्य किं करोति दवानल:?।।४७/१०६६।।
शील-रक्षित प्राणी नहिं किसी से भी तिरष्कृत।
महा-सर में डूबे का क्या कर सके दवानल?।।४७/१०६६।।

** यह पद्य मूल प्रति में ४७वें क्रमांक पर है और वचनिका की प्रति में ४९वें क्रमांक पर है।*

शब्दश: अर्थ : शीलेन=शील द्वारा; रक्षित:=रक्षा किया गया; जीव:=प्राणी; न=नहीं; केन=किससे; अपि=भी; अभिभूयते=अपमानित होता है; महा-ह्रद-निमग्नस्य=विशाल सरोवर में डूबे हुए का; किं=क्या; करोति=करता है; दव+अनल:=दावाग्नि।

अन्वय : शीलेन रक्षित: जीव: केन अपि अभिभूयते न महा-ह्रद-निमग्नस्य दव-अनल: किं करोति?

वचनिका : जिस प्राणी की शील द्वारा रक्षा की जाती है, वह किसी से भी तिरष्कार को प्राप्त नहीं होता है। विशाल सरोवर में डूबे हुए व्यक्ति का दावाग्नि क्या कर सकती है? कुछ नहीं।।४७/१०६६।।

अब, इस पद्य द्वारा शील से रहित और सहित का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **बान्धवा: सुहृद: सर्वे नि:शीलस्य पराङ्मुखा:।**
शत्रवोऽपि दुराराध्या: सम्मुखा: सन्ति शीलिन:।।४८/१०६७।।
शील-रहित के बांधव मित्रादि सब परांमुखी।
शील-सहित के दुर्जय शत्रु भी हों संमुखी।।४८/१०६७।।

शब्दश: अर्थ : बान्धवा:=बंधु-जन; सुहृद:=मित्र-जन; सर्वे=सभी; नि:शीलस्य=शील-रहित का; पराङ्मुखा:=विमुख; शत्रव:=शत्रु; अपि=भी; दु:+आराध्या:=अत्यधिक श्रम पूर्वक वश में होनेवाले; सम्मुखा:=अपने अनुकूल; सन्ति=हो जाते हैं; शीलिन:=शीलवान का।

अन्वय : नि:शीलस्य सर्वे बान्धवा: सुहृद: पराङ्मुखा: शीलिन: दु:-आराध्या: शत्रव: अपि सम्मुखा: सन्ति।

वचनिका : शील-रहित व्यक्ति के सभी बांधव, मित्र आदि परांमुख/प्रतिकूल हो जाते हैं और शीलवान के कष्ट से आराधे जानेवाले/अनुकूल होनेवाले शत्रु भी सम्मुख सहायक हो जाते हैं।।४८/१०६७।।

अब, इस पद्य द्वारा शील की सर्व हित-कारिता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **शीलतो न परो बन्धु: शीलतो न पर: सुहृत्।**
शीलतो न परा माता शीलतो न पर: पिता।।४९/१०६८।।
शील से श्रेष्ठ नहिं बंधु शील से श्रेष्ठ मित्र नहिं।
शील से श्रेष्ठ नहीं माता शील से श्रेष्ठ पिता नहीं।।४९/१०६८।।

शब्दश: अर्थ : शीलत:=शील से; न=नहीं; पर:=श्रेष्ठ/अन्य; बन्धु:=परिवार-कुटुंबी-जन;

शीलतः=शील से; न=नहीं; परः=श्रेष्ठ/अन्य; सुहृत्=मित्र; शीलतः=शील से; न=नहीं; परा=श्रेष्ठ/अन्य; माता=जननी; शीलतः=शील से; न=नहीं; परः=श्रेष्ठ/अन्य; पिता=जनक।

अन्वय : प्रत्येक चरण के न को, उसके अंत में लेना है; शेष सब अन्वय में है।

वचनिका : शील के सिवाय और बंधु नहीं है, शील के सिवाय और मित्र नहीं है, शील के सिवाय और माता नहीं है, शील के सिवाय और पिता नहीं है।

भावार्थ : शील-सिवाय जीव का हित-कारी अन्य नहीं है।।४९/१०६८।।

अब, इस पद्य द्वारा शील की उपकारकता उद्घोषित है—

अनुष्टुभ् : **उपकारो न शीलस्य कर्तुमन्येन शक्यते।**
कल्प-द्रुम-फलं दत्ते परः कुत्र महीरुहः?।।५०/१०६९।।

शील-सम उपकार कोई करने में समर्थ नहिं।
अन्य कल्पतरु फल दें दूसरे तरु दें नहीं।।५०/१०६९।।

शब्दशः अर्थ : उपकारः=भलाई; न=नहीं; शीलस्य=शील का; कर्तुं=करने के लिए; अन्येन =दूसरे द्वारा; शक्यते=संभव है; कल्प-द्रुम-फलं=कल्प-वृक्ष के फल को; दत्ते=देता है; परः=दूसरा; कुत्र=कहाँ; महीरुहः=वृक्ष।

अन्वय : शीलस्य उपकारः अन्येन कर्तुं न शक्यते कल्प-द्रुम-फलं परः महीरुहः कुत्र दत्ते?

वचनिका : शील के समान उपकार करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है। कल्प-वृक्ष, जैसे फल देता है; अन्य वृक्ष, वैसे फल कहाँ दे सकते हैं? नहीं देते हैं।।५०/१०६९।।

अब, इस पद्य द्वारा यह बताते हैं कि शीलवान सर्वत्र सुखी है—

अनुष्टुभ् : **तापेऽपि सुखितः शीली शीलमोची पुनर्जनः।**
चित्रं जनाङ्गुलिच्छाये स्थितोऽपि परितप्यते।।५१/१०७०।।

शीलवान सुखी ताप में शील विन प्राणी सदा।
नर-अंगुलि छाया में बैठा आश्चर्य तपित रहा।।५१/१०७०।।

शब्दशः अर्थ : तापे=गर्मी में; अपि=भी; सुखितः=सुख-युक्त; शीली=शीलवान; शील-मोची=शील को छोड़नेवाला; पुनः=फिर/परंतु; जनः=प्राणी; चित्रं=आश्चर्य; जन+ अङ्गुलिच्छायः=व्यक्तिओं की अंगुली की छाया में; स्थितः=बैठा; अपि=भी; परितप्यते= संतप्त रहता है।

अन्वय : चित्रं!! शीली तापे अपि सुखितः पुनः शील-मोची जनः... शेष अन्वयरूप है।

वचनिका : आचार्य कहते हैं कि बड़ा आश्चर्य है! देखो तो!! शीलवान जीव, ताप/गर्मी की

धूप में भी सुखी है; परंतु शील को छोड़ देनेवाला प्राणी मनुष्यों की अंगुली की छाया में बैठा भी संतप्त हो रहा है।।५१/१०७०।।

अब, इस पद्य द्वारा शीलवान का माहात्म्य प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **कदाचन न केनापि सुशीलः परिभूयते।**
न तिरष्क्रियते यो हि श्लाघ्यते तस्य जीवितम्।।५२/१०७१।।

शीलवान किसी से भी चलायमान नहिं हो सके।
अपमानित भी नहीं होता उसका जीवन प्रशंस्य है।।५२/१०७१।।

शब्दशः अर्थ : कदाचन=कभी; न=नहीं; केन=किसी से; अपि=भी; सुशीलः=सुशील-संपन्न; परिभूयते=चलायमान/डाँवाडोल किया जाता है; न=नहीं; तिरष्क्रियते=अपमानित किया जाता है; यः=जो; हि=वास्तव में; श्लाघ्यते=प्रशंसनीय है; तस्य=उसका; जीवितं=जीवन।

अन्वय : हि यः सुशीलः केन अपि कदाचन परिभूयते न तिरष्क्रियते तस्य जीवितं श्लाघ्यते।

वचनिका : जो सुशील प्राणी कभी भी किसी से चलायमान नहीं किया जा सकता है; अपमानित नहीं किया जा सकता है; वास्तव में उसका जीवन प्रशंसनीय है।।५२/१०७१।।

अब, इस पद्य द्वारा विवेक-शीलता का ज्ञान कराते हैं—

अनुष्टुभ् : **भङ्गस्थानपरित्यागी व्रतं पालयतेऽमलम्।**
तस्करैर्लुट्यते कुत्र दूरतोऽपि पलायितः।।५३/१०७२।।

भंग-स्थान का त्यागी निर्मल व्रत को पालता।
चौरों से कैसे लुटता दूर से जो भागता?।।५३/१०७२।।

शब्दशः अर्थ : भङ्ग-स्थान-परित्यागी=व्रत-खंडित होने के स्थान को छोड़ देनेवाला; व्रतं=व्रत को; पालयते=पालता है; अमलं=निर्दोष; तस्करैः=चौरों द्वारा; लुट्यते=लुट सकता है; कुत्र=कैसे; दूरतः=दूर से; अपि=भी; पलायितः=भाग जानेवाला।

अन्वय : भङ्ग-स्थान-परित्यागी अमलं व्रतं पालयते दूरतः अपि पलायितः तस्करैः कुत्र लुट्यते?

वचनिका : जिस स्थान पर शील-भंग की संभावना हो, उस स्थान का त्याग करनेवाला व्यक्ति, निर्मल व्रत का पालन करता है। दूर से ही भाग जानेवाला व्यक्ति, चौरों से कैसे लुट सकता है? नहीं लुटता है।

भावार्थ : जैसे—चौरों को दूर से ही छोड़ देनेवाला व्यक्ति लुटता नहीं है; उसीप्रकार व्रत-भंग के कारणभूत स्थानादि का जो त्याग करता है, उसके व्रत निर्दोष पलते हैं।।५३/१०७२।।

इसप्रकार शील का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, शील-भंग के कारणभूत द्यूतादि का निषेध सैंतालीस पद्यों द्वारा करते हैं।

उनमें से पहले नौ पद्यों द्वारा द्यूत का निषेध वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा सोदाहरण द्यूत-त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **नानानर्थकरं द्यूतं मोक्तव्यं शीलशालिना।**
शीलं हि नाश्यते तेन गरलेनेव जीवितम्।।५४/१०७३।।

बहु अनर्थ-कारक द्यूत शील-शोभित छोड़ दें।
जहर से जीवन-वत् शील उससे नाशते।।५४/१०७३।।

शब्दश: अर्थ : नाना+अनर्थ-करं=अनेक प्रकार के अनर्थों को करनेवाले को; द्यूतं=जुआ को; मोक्तव्यं=छोड़ देना चाहिए; शील-शालिना=शील से शोभित द्वारा; शीलं=शील को; हि=वास्तव में; नाश्यते=नष्ट कराता है; तेन=उससे; गरलेन=विष-सेवन द्वारा; इव=समान; जीवितं=जीवन को।

अन्वय : गरलेन जीवितं इव हि तेन शीलं नाश्यते (अत:) शील-शालिना नाना-अनर्थ-करं द्यूतं मोक्तव्यम्।

वचनिका : जैसे—विष-भक्षण से जीवन नष्ट किया जाता है; उसीप्रकार वास्तव में उस द्यूत द्वारा शील नष्ट किया जाता है; अत: शील से शोभित व्यक्ति द्वारा अनेक-अनेक अनर्थों का करनेवाला जुआ, त्यागना योग्य है।।५४/१०७३।।

अब, इस पद्य द्वारा जुआ के बंधु-जन वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **विषाद: कलहो राटि: कोपो मान: श्रमो भ्रम:।**
पैशून्यं मत्सर: शोक: सर्वे द्यूतस्य बान्धवा:।।५५/१०७४।।

विषाद कलह राड क्रोध मद खेद संशय।
पिशुनता मत्सर शोक ये सभी द्यूत बंधु-जन।।५५/१०७४।।

शब्दश: अर्थ : विषाद:=निराशा; कलह:=झगड़ा; राटि:=राड/चिल्लाहट; कोप:=क्रोध; मान: =घमंड; श्रम:=खेद; भ्रम:=संशय; पैशून्यं=चुगल-खोरी; मत्सर:=ईर्ष्या; शोक:=दु:ख; सर्वे =सभी; द्यूतस्य=जुआ का; बान्धवा:=कुटुंबी-जन।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वयरूप है।

वचनिका : निराशा, झगड़ा, चिल्लाहट, क्रोध, घमंड, खेद, संशय, चुगल-खोरी, ईर्ष्या, दु:ख —ये सभी, जुआ के बांधव/कुटुंबी-जन हैं।

भावार्थ : जहाँ जुआ होता है, वहाँ ये सभी कुभाव अवश्य होते हैं।।५५/१०७४।।

अब, इस पद्य द्वारा जुआ का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ्: **दु:खानि तेन जन्यन्ते जलानीवाम्बुवाहिना।**
व्रतानि तेन धूयन्ते रजान्सीव चरण्युना।।५६/१०७५।।

मेघों से जल-वत् द्यूत से उत्पन्न दु:ख हैं।
वायु से रज-वत् उससे उड़ जाते व्रत सभी हैं।।५६/१०७५।।

शब्दश: अर्थ : दु:खानि=कष्ट; तेन=उस द्यूत से; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; जलानि=जल; इव=समान; अम्बु-वाहिना=बादलों द्वारा; व्रतानि=सभी व्रत; तेन=उससे; धूयन्ते=उड़ाए जाते हैं; रजान्सि=धूल; इव=समान; चरण्युना=वायु द्वारा।

अन्वय : अम्बु-वाहिना जलानि इव तेन दु:खानि जन्यन्ते चरण्युना रजान्सि इव तेन व्रतानि धूयन्ते।

वचनिका : जैसे—बादलों से जल उत्पन्न होता है; उसीप्रकार उस जुआ से दु:ख उत्पन्न होता है और जैसे—वायु से धूल उड़ाई जाती है; उसीप्रकार उस जुआ से व्रत उड़ा दिए जाते हैं।

भावार्थ : जुआ से अनेकों दु:ख होते हैं और व्रतों का लेश भी नहीं रहता है।।५६/१०७५।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण जुआ का परिणाम प्ररूपित है—

अनुष्टुभ्: **न श्रियस्तत्र तिष्ठन्ते द्यूतं यत्र प्रवर्तते।**
न वृक्षजातयस्तत्र विद्यन्ते यत्र पावका:।।५७/१०७६।।

जहाँ जुआ प्रवृत्ति है वहाँ लक्ष्मी नहीं रहें।
जहाँ अग्नि है वृक्ष जातिआँ नहिं वहाँ रहें।।५७/१०७६।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; श्रिय:=लक्ष्मी; तत्र=वहाँ; तिष्ठन्ते=रहती हैं; द्यूतं=जुआ; यत्र=जहाँ; प्रवर्तते=प्रवृत्ति करता है; न=नहीं; वृक्ष-जातय:=वृक्षों की जातिआँ; तत्र=वहाँ; विद्यन्ते=रहती हैं; यत्र=जहाँ; पावका:=अग्नि।

अन्वय : यत्र पावका: विद्यन्ते तत्र वृक्ष-जातय: न विद्यन्ते यत्र द्यूतं प्रवर्तते तत्र श्रिय: न तिष्ठन्ते।

वचनिका : जैसे—जहाँ अग्नि होती है, वहाँ वृक्षों की जाति उत्पन्न नहीं होती है; उसीप्रकार जहाँ जुआ प्रवर्तता है, वहाँ लक्ष्मी नहीं रहती है।।५७/१०७६।।

अब, इस पद्य द्वारा जुआरी की निर्लज्जता निरूपित है—

अनुष्टुभ्: **मातुरप्युत्तरीयं यो हरते जन-पूजितम्।**
अकर्तव्यं परं तस्य कुर्वत: कीदृशी त्रपा?।।५८/१०७७।।

जो हरे माँ का जन-पूज्य उत्तरीय भि कैसे हो?।
नहीं करणीय कार्यों में लज्जा रंच भि उसे हो।।५८/१०७७।।

शब्दश: अर्थ : मातु:=माता का; अपि=भी; उत्तरीयं=ऊपर पहने जानेवाले वस्त्र को; य:= जो; हरते=हरण करता है; जन-पूजितं=मनुष्यों से पूज्य; अकर्तव्यं=नहीं करने-योग्य को; परं=दूसरे को; तस्य=उसका; कुर्वत:=करते हुए का; कीदृशी=कैसी; त्रपा=लज्जा।

अन्वय : य: मातु: जन-पूजितं उत्तरीयं हरते तस्य परं अकर्तव्यं कुर्वत: त्रपा कीदृशी?

वचनिका : जुआ खेलनेवाला जो व्यक्ति माता का लोक-मान्य उत्तरीय/ऊपर पहने जानेवाले वस्त्र का भी हरण कर लेता है; उसे अन्य नहीं करने-योग्य कार्यों को करते हुए लज्जा कैसी?

भावार्थ : जुआ खेलनेवाले को कोई भी अकार्य करने में लज्जा नहीं होती है—ऐसा जानना।।५८/१०७७।।

अब, इस पद्य द्वारा जुआरी की उपलब्धिआँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सम्पदं सकलां हित्वा स गृह्णाति महाऽऽपदम्।**
स्व-कुलं मलिनीकृत्य वितनोति च दुर्यशः।।५९/१०७८।।
सभी संपत्तिआँ तजकर लेता महा विपत्तिआँ।
अपने कुल को मैलाकर अपयश को विस्तारता।।५९/१०७८।।

शब्दश: अर्थ : सम्पदं=संपत्ति को; सकलां=संपूर्ण को; हित्वा=छोड़कर; स:=वह; गृह्णाति= ग्रहण करता है; महा+आपदं=बड़ी विपत्तिओं को; स्व-कुलं=अपने कुल को; मलिनी-कृत्य=मलिन/कलंकितकर; वितनोति=विस्तार करता है; च=और; दु:-यश:=अपयश।

अन्वय : स: सकलां सम्पदं हित्वा महा-आपदं गृह्णाति च स्व-कुलं मलिनी-कृत्य दु:-यश: वितनोति।

वचनिका : जुआ खेलनेवाला वह व्यक्ति समस्त संपदाओं का त्यागकर बड़ी आपत्तिओं को ग्रहण करता है और अपने कुल को मलिन/कलंकितकर अपयश का विस्तार करता है।।५९/१०७८।।

अब, इस पद्य द्वारा जुआरिओं का पारस्परिक व्यवहार सोदाहरण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **नारकैरपरै: क्रुद्धैर्नारकस्येव मस्तके।**
निखन्य कितवैस्तस्य दुर्ज्वालो ज्वाल्यतेऽनल:।।६०/१०७९।।
दूसरे क्रुद्ध नारकी ज्यों नारकी के शीश पर।
थाप आग जला दुखकर जुआरी त्यों दु:खकर।।६०/१०७९।।

शब्दश: अर्थ : नारकै:=नारकिओं द्वारा; अपरै:=दूसरे द्वारा; क्रुद्धै:=क्रोधित द्वारा; नारकस्य= नारकी का; मस्तके=मस्तक पर; निखन्य=थापकर; कितवै:=धूर्त जुआरिओं द्वारा; तस्य=

उसका; दुर्ज्वाल:=भयंकर/दु:ख-कारी ज्वालावाली; ज्वाल्यते=जलाई जाती है; अनल: =आग।

अन्वय : अपरै: क्रुद्धै: नारकै: नारकस्य इव कितवै: तस्य मस्तके निखन्य दुर्ज्वाल: अनल: ज्वाल्यते।

वचनिका : जैसे–अन्य क्रोधायमान नारकिओं द्वारा नारकी के मस्तक पर थापकर दु:ख-कारी ज्वालाओंवाली आग जलाई जाती है; उसीप्रकार जुआरिओं द्वारा जुआरी के शिर पर आग जलाई जाती है।।६०/१०७९।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुन: स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **कर्कशं दुश्श्रवं वाक्यं जल्पन्तो वञ्चिता: परे।**
कुर्वन्ति द्यूतकारस्य कर्ण-नासादि-कर्तनम्।।६१/१०८०।।
अन्य ठगाए ज्वारी कर्कश दुश्श्रव वाक्य के।
बोलते जुआरी के कान नाकादि काटते।।६१/१०८०।।

शब्दश: अर्थ : कर्कशं=कठोर को; दु:-श्रवं=कानों को दु:ख-दाई को; वाक्यं=वाक्य को; जल्पन्त:=बोलते हुए; वञ्चिता:=ठगाए गए; परे=दूसरे; कुर्वन्ति=करते हैं; द्यूतकारस्य=जुआरी का; कर्ण-नासा+आदि-कर्तनं=कान, नाक आदि काटना।

अन्वय : वञ्चिता: परे कर्कशं दुश्श्रवं वाक्यं जल्पन्त: द्यूतकारस्य कर्ण-नासा-आदि-कर्तनं कुर्वन्ति।

वचनिका : धन से ठगाए गए वे अन्य द्यूतकार, कठोर, कानों को दु:ख-दाई वचन बोलते हुए जुआरी के कान, नासिका आदि अंगों को काटते हैं।।६१/१०८०।।

अब, इस पद्य द्वारा मार्ग-दर्शन प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **विज्ञायेति महा-दोषं द्यूतं दीव्यन्ति नोत्तमा:।**
जानाना: पावकोष्णत्वं प्रविशन्ति कथं बुधा:?।।६२/१०८१।।
यों महा दोष जान द्यूत उत्तम जन नहिं खेलते।
आग की उष्णता जानें कैसे विज्ञ प्रवेश करें?।।६२/१०८१।।

शब्दश: अर्थ : विज्ञाय=जानकर; इति=इसप्रकार; महा-दोषं=बड़े दोषवाले; द्यूतं=जुआ को; दीव्यन्ति=खेलते हैं; न=नहीं; उत्तमा:=श्रेष्ठ मनुष्य; जानाना:=जानते हुए; पावक+उष्णत्वं= आग की उष्णता को; प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं; कथं=कैसे; बुधा:=ज्ञानी।

अन्वय : इति द्यूतं महा-दोषं विज्ञाय उत्तमा: न दीव्यन्ति पावक-उष्णत्वं जानाना: बुधा: कथं प्रविशन्ति?

वचनिका : इसप्रकार जुआ को महा-दोषरूप जानकर उत्तम-पुरुष उसे नहीं खेलते हैं। अग्नि की उष्णता को जानते हुए ज्ञानी-जन उसमें कैसे प्रवेश करते हैं? अपितु नहीं करते हैं।।६२/१०८१।।

इसप्रकार द्यूत का निषेधक-प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, वेश्या-वृत्ति का निषेध चौदह पद्यों द्वारा वर्णित है।

उसमें सर्व-प्रथम चार पद्यों द्वारा वेश्या की प्रवृत्ति बताकर उसका निषेध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **वितनोति दृशो रागं या वात्येव रजोमयी।**
विध्वन्सयति या लोकं शर्वरीव तमोमयी।।६३/१०८२।।
या स्वीकरोति सर्वस्वं चौरीवार्थ-परायणा।
छलेन या निगृह्णाति शाकिनीवामिषप्रिया।।६४/१०८३।।
वह्निज्वालेव या स्पृष्टा सन्तापयति सर्वत:।
शुनीव कुरुते चाटु दानतो याऽति-कश्मला।।६५/१०८४।।
विमोहयति या चित्तं मदिरेव निषेविता।
सा हेया दूरतो वेश्या शीलालङ्कार-धारिणा।।६६/१०८५।।

धूल-युक्त वायु-वत् नयन में राग विस्तरे।
अंधकार-युत रात्रि-वत् जो जग विध्वंसित करे।।६३/१०८२।।
धन में तत्पर चौरों वत् जो सर्वस्व ग्रहण करे।
मांस-प्रिय शाकिनि-सम जो छल से ग्रहण करे।।६४/१०८३।।
स्पर्शित अग्नि-ज्वाला-वत् संतप्त करे सभी।
धन दे पापिनि कुत्ती-वत् अति ही चाटुकारिकी।।६५/१०८४।।
सेवित मदिरा-वत् मन को मोहित करती जो सदा।
शील-भूषण-धारी को दूर से हेय वेश्या।।६६/१०८५।।

शब्दश: अर्थ : वितनोति=विस्तार करती है; दृश:=नेत्र का; रागं=राग/लालिमा को; या=जो; वात्या=वायु से; इव=समान; रज:-मयी=धूल से भरी; विध्वन्सयति=नष्ट करती है; या=जो; लोकं=लोक को; शर्वरी=रात्रि; इव=समान; तम:-मयी=अंधकार से परिपूर्ण।

या=जो; स्वीकरोति=स्वीकार करती है; सर्वस्वं=संपूर्ण धन को; चौरी=चोरी करनेवाला चोर; इव=समान; अर्थ-परायणा=धन में संलग्न; छलेन=छल से; या=जो; नि-गृह्णाति=निगल जाती है; शाकिनी=राक्षसी; इव=समान; आमिष-प्रिया=मांस की लोलुपी।

वह्नि-ज्वाला=आग की लपटें; इव=समान; या=जो; स्पृष्टा=स्पर्शित/छुई हुई;

सन्तापयति=संतप्त करती है; सर्वत:=सब ओर से; शुनि=कुत्ती; इव=समान; कुरुते=करती है; चाटु=खुशामद को; दानत:=देने से; या=जो; अति-कश्मला=बहुत अधिक पापों से युक्त। विमोहयति=मोहित करती है; या=जो; चित्तं=मन को; मदिरा=शराब; इव=समान; निषेविता=सेवन की गई; सा=वह; हेया=छोड़ने-योग्य; दूरत:=दूर से; वेश्या=वेश्या; शील +अलङ्कार-धारिणा=शीलरूपी आभूषण को धारण करनेवाले द्वारा।

अन्वय : या रज:-मयी वात्या इव दृश: रागं वितनोति या तम:-मयी शर्वरी इव लोकं विध्वन्सयति। अर्थ-परायणा चौरी इव या सर्वस्वं स्वीकरोति आमिष-प्रिया शाकिनी इव या छलेन निगृह्णाति। स्पृष्टा या वह्नि-ज्वाला इव सर्वत: सन्तापयति अति-कश्मला या दानत: शुनी इव चाटुकुरुते। मदिरा इव निषेविता या चित्तं विमोहयति सा वेश्या शील-अलङ्कार-धारिणा दूरत: हेया।

वचनिका : जैसे—धूल-सहित वायु नेत्रों में राग/लालिमा बड़ाती है; उसीप्रकार जो नेत्रों में राग को बड़ाती है; अंधकारमई रात्रि के समान जो लोक का विध्वंस करती है; धन में तत्पर चोरी करनेवाले के समान जो, संपूर्ण धन को ग्रहण करती है; मांस-प्रिय शाकिनी के समान जो छल से मनुष्य को विशेषरूप से निगल जाती है।

स्पर्श की गई जो अग्नि की ज्वाला के समान सब ओर से संताप उत्पन्न करती है; अत्यंत पापिनी जो धन को देने पर कुत्ती के समान चाटुकारिता/खुशामद विस्तृत करती है; मदिरा के समान सेवन की गई जो चित्त को विशेष मोहित करती है, वह वेश्या; शीलरूपी आभूषण के धारक पुरुष द्वारा दूर से ही त्याग करनी योग्य है।।६३-६६/१०८२-१०८५।।

व्यभिचारी के क्या-क्या नहीं होता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **सत्यं शीलं शमं शौचं संयमं नियमं दमम्।**
प्रविशन्ति बहिर्मुक्त्वा विटाः पण्याङ्गनागृहे।।६७/१०८६।।

सत्य शौच शम शील संयम नियम दम सभी।
छोड़ बाहर वेश्या घर प्रविष्ट हो व्यभिचारि ही।।६७/१०८६।।

शब्दश: अर्थ : सत्यं=सत्य/यथार्थता को; शौचं=पवित्रता को; शमं=समता को; शीलं=शील/स्वभाव को; संयमं=संयम को; नियमं=नियम को; यमं=यम को; प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं; बहि:=बाहर; मुक्त्वा=छोड़कर; विटा:=व्यभिचारी; पण्याङ्गना-गृहे=वेश्या के घर में।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है — बहि: मुक्त्वा विटा: पण्याङ्गना-गृहे प्रविशन्ति।

वचनिका : सत्य, शौच, शम, शील, संयम, नियम, दम इत्यादि धर्म के सभी अंगों को बाहर छोड़कर व्यभिचारी, वेश्या के घर में प्रवेश करते हैं।

भावार्थ : वेश्या के घर में प्रवेश करते ही संपूर्ण धर्म का नाश हो जाता है।।६७/१०८६।।

अब, इस पद्य द्वारा वेश्या से उपलब्धिआँ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तपो व्रतं यशो विद्या कुलीनत्वं दमो दया।**
छेद्यन्ते वेश्यया सद्यः कुठार्येवाखिला लताः।।६८/१०८७।।

कुल्हाड़ी लता-सम शीघ्र वेश्या काटे तप व्रत।
यश विद्या दया दम शील कुलीनता धर्मादि सब।।६८/१०८७।।

शब्दशः अर्थ : तपः=तप; व्रतं=व्रत; यशः=ख्याति; विद्या=ज्ञान; कुलीनत्वं=कुलीनता; दमः=दमन; दया=करुणा; छिद्यन्ते=छेदे जाते हैं; वेश्यया=वेश्या के द्वारा; सद्यः=शीघ्र; कुठारी=कुल्हाड़ी; इव=समान; अखिलाः=सभी; लताः=बेलें।

अन्वय : कुठारी अखिलाः लताः इव वेश्यया तपः व्रतं यशः विद्या कुलीनत्वं दमः दया अखिलाः सद्यः छिद्यन्ते।

वचनिका : जैसे—कुल्हाड़ी सभी लताओं को शीघ्र छेदती है; उसीप्रकार वेश्या द्वारा तप, व्रत, यश, विद्या, कुलीनपना, इंद्रियों का दमन, दया आदि सभी शीघ्र छेदे जाते हैं।।६८/१०८७।।

वेश्या-प्रियवाले को क्या-क्या प्रिय नहीं है? अब, इस पद्य द्वारा उन्हें बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **जननी जनको भ्राता तनयस्तनया स्वसा।**
न सन्ति बल्लभास्तस्य दारिका यस्य बल्लभाः।।६९/१०८८।।

जिसको वेश्या प्यारी उसे माता पिता सुत।
सुता भाई बहिन आदि प्यारे होते नहीं सब।।६९/१०८८।।

शब्दशः अर्थ : जननी=माता; जनकः=पिता; भ्राता=भाई; तनयः=वेटा; तनया=वेटी; श्वसा=बहिन; न=नहीं; सन्ति=हैं; बल्लभाः=प्रिय; तस्य=उसका; दारिका=वेश्या; यस्य=जिसका; बल्लभा=प्रिय।

अन्वय : यस्य दारिका बल्लभा तस्य जननी... श्वसा बल्लभाः न सन्ति।

वचनिका : जिस पुरुष को वेश्या प्यारी है; उस पुरुष को माता, पिता, भाई, पुत्र, पुत्री, बहिन आदि प्यारे नहीं हैं।।६९/१०८८।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि वेश्या-सेवी को गुरुओं के वचन नहीं रुचते हैं—

अनुष्टुभ् : **न तस्मै रोचते सेव्यं गुरूणां वचनं हितम्।**
सशर्करमिव क्षीरं पित्ताकुलित-चेतसे।।७०/१०८९।।

वेश्या-सेवी को गुरु के हितकर सेव्य भी वचन।
नहीं रुचें चित्ताकुल को शक्कर-युक्त दुग्ध-वत्।।७०/१०८९।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; तस्मै=उसके लिए; रोचते=अच्छा लगता है; सेव्यं=सेवन करने-योग्य; गुरूणां=गुरुओं के; वचनं=वचन; हितं=कल्याण-कारक; सशर्करं=शक्कर-सहित; इव=समान; क्षीरं=दुग्ध; पित्त+आकुलित-चेतसे=पित्त से व्याकुल चित्त वाले के लिए।
अन्वय : पित्त-आकुलित-चेतसे सशर्करं क्षीरं इव तस्मै गुरूणां सेव्यं हितं वचनं न रोचते।
वचनिका : जैसे—पित्त से आकुलित चित्तवाले को मिश्री-सहित दूध रुचता नहीं है; इसी प्रकार वेश्या-सेवी को गुरुओं के सेवन करने-योग्य, हितरूप वचन रुचते नहीं हैं।
भावार्थ : वेश्यासक्त को गुरु-वचन नहीं सुहाते हैं।।७०/१०८९।।

अब, इस पद्य द्वारा विडंबना प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **वेश्यावक्त्रगतां निन्द्यां लालां पिबति योऽधमः।**
शुचित्वं मन्यते स्वस्य काऽपरातो विडम्बना।।७१/१०९०।।

वेश्या मुख में प्राप्त निंद्य लार पिए अधम।
माने स्वयं की शुचिता विडंबना क्या अन्य वह?।।७१/१०९०।।

शब्दशः अर्थ : वेश्या-वक्त्र-गतां=वेश्या के मुख में गई को; निन्द्यां=निंदनीय; लालां=लार को; पिबति=पीता है; यः=जो; अधमः=नीच पुरुष; शुचित्वं=शुचिता को; मन्यते=मानता है; स्वस्य=अपना; का=कौन; अपरा=दूसरा; अतः=उससे; विडम्बना=धोखेबाजी।
अन्वय : यः अधमः वेश्या-वक्र-गतां निन्द्यां लालां पिबति स्वस्य शुचित्वं मन्यते अतः अपरा का विडम्बना?
वचनिका : जो अधम पुरुष वेश्या के मुख में प्राप्त, निंदनीय लार को पीता है और स्वयं की पवित्रता मानता है; उससे अन्य क्या विडंबना है?।।७१/१०९०।।

वेश्या-सेवी के मदिरा-मांस का त्याग नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ्: **यो वेश्यावदनं निन्स्ते मूढो मद्यादिवासितम्।**
मद्य-मान्स-परित्यागव्रतं तस्य कुतस्तनम्।।७२/१०९१।।

जो मूढ मद्यादि-वासित वेश्या-मुख चुंबन करे।
मद्य-मांस-परित्याग व्रत कैसे होता उसे?।।७२/१०९१।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; वेश्या-वदनं=वेश्या के मुख को; निन्स्ते=चुंबन करता है; मूढ:=मूर्ख; मद्य-मान्स-परित्याग-व्रतं=मदिरा, मांस के त्याग का व्रत; तस्य=उसका; कुतस्तनं=कैसा।

अन्वय : य: मूढः मद्य-आदि-वासितं वेश्या-वदनं निन्स्ते तस्य मद्य-मान्स-परित्याग-व्रतं कुतस्तनम्?

वचनिका : जो मूढ, मदिरा आदि से वासित वेश्या के मुख का चुंबन करता है; उसका मदिरा, मांस के त्यागरूप व्रत कैसे हो सकता है?।।७२/१०९१।।

वेश्या-सेवी के पवित्रता रंच-मात्र नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **वदनं जघनं यस्या नीच-लोक-मलाविलम्।**
गणिकां सेवमानस्य तां शौचं वद कीदृशम्।।७३/१०९२।।

जिसका मुख जंघा नीच लोगों के मल से मलिन।
उस वेश्या-सेवी के शुचिता कैसी कहो अब?।।७३/१०९२।।

शब्दश: अर्थ : वदनं=मुख; जघनं=जंघा; यस्या:=जिसकी; नीच-लोक-मल+आविलं= नीच लोगों के मल से मलिन; गणिकां=वेश्या को; सेवमानस्य=सेवन करनेवाले का; तां=उसे; शौचं=पवित्रता; वद=कहो; कीदृशं=कैसी।

अन्वय : यस्या: वदनं जघनं नीच-लोक-मल-आविलं तां गणिकां सेवमानस्य शौचं कीदृशं? वद।

वचनिका : जिस वेश्या का मुख और जंघा नीच लोगों के मल से मलिन है; उस गणिका का सेवन करनेवाले पुरुष के पवित्रता कैसी? किसी भी प्रकार से पवित्रता नहीं है।।७३/१०९२।।

अब, इस पद्य द्वारा वेश्या की चेष्टाएँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **या परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते।**
परं निषेवते लुब्धा परमाह्वयते दृशा।।७४/१०९३।।

उर में अन्य को धारे बोले अन्य साथ जो।
लोभी अन्य सेवे नेत्र से बुलाती अन्य को।।७४/१०९३।।

शब्दश: अर्थ : या=जो; परं=दूसरे को; हृदये=मन में; धत्ते=धारण करती है; परेण=अन्य से; सह=साथ; भाषते=बोलती है; परं=अन्य को; निषेवते=सेवन करती है; लुब्धा=लोभी; परं=अन्य को; आह्वयते=बुलाती है; दृशा=नेत्र द्वारा।

अन्वय : या लुब्धा परं हृदये धत्ते परेण सह भाषते परं निषेवते दृशा परं आह्वयते।

वचनिका : जो लोभी वेश्या मन में अन्य पुरुष को धारण करती है, अन्य के साथ बोलती है,

अन्य का सेवन करती है और नेत्रों द्वारा अन्य को बुलाती है।।७४/१०९३।।

अब, इस पद्य द्वारा यह निरूपित है कि वेश्या धन-रहित को छोड़ देती है—

अनुष्टुभ् : **सरलोऽपि सदक्षोऽपि कुलीनोऽपि महानपि।**
ययेक्षुरिव निस्सार: सुपर्वापि विमुच्यते।।७५/१०९४।।

सरल चतुर कुलीनी भी महान सुंदर अवयवी।
निस्सार गन्ने सम छोड़े है धन से रहित यदी।।७५/१०९४।।

शब्दश: अर्थ : सरल:=मायाचार-रहित; अपि=भी; स-दक्ष:=निपुण; अपि=भी; कुलीन:= अच्छे उच्च कुलवाला; अपि=भी; महान्=बड़ा; अपि=भी; यया=जिसके द्वारा; इक्षु:=गन्ना; इव=समान; नि:-सार:=सार/रस/धन-रहित; सु-पर्वा=सुंदर अंगोंवाला; अपि=भी; विमुच्यते=छोड़ दिया जाता है।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है – सुपर्वा अपि निस्सार: इक्षु: इव यया विमुच्यते।

वचनिका : जिस वेश्या के द्वारा मायाचार-रहित सरल भी, चतुर भी, कुलीन भी, बड़ा भी, सुपर्वा अर्थात् सुंदर अंगों-सहित भी यदि धन-रहित है तो गन्ने के समान त्याग दिया जाता है।

भावार्थ : जैसे—सीधा, भला, कुलीन अर्थात् पृथ्वी में लीन/गड़ा हुआ, बड़ा, सुपर्वा=भली मुठोर/गाँठोंवाला सांठा/गन्ना भी सार/रस से रहित होने पर त्याग दिया जाता है; उसीप्रकार वेश्या द्वारा निस्सार/धन-रहित पुरुष त्याग दिया जाता है।।७५/१०९४।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण वेश्या से बचने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **न सा सेव्या त्रिधा वेश्या शील-रत्नं यियासता।**
जानानो न हि हिन्स्रत्वं व्याघ्रीं स्पृशति कश्चन।।७६/१०९५।।

शील-रत्न इच्छुक को वेश्या त्रेधा न सेव्य है।
जान व्याघ्रि की हिंसकता कौन छूता है उसे?।।७६/१०९५।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; सा=वह; सेव्या=सेवन करने-योग्य; त्रिधा=तीन प्रकार से; वेश्या =वेश्या; शील-रत्नं=शीलरूपी रत्न को; यियासता=चाहनेवाले के द्वारा; जानान:=जानता हुआ; न=नहीं; हि=वास्तव में; हिन्स्रत्वं=हिंसकपना; व्याघ्रीं=व्याघ्री को; स्पृशति=छूता है; कश्चन=कौन।

अन्वय : शील-रत्नं यियासता सा वेश्या त्रिधा सेव्या न हि हिन्स्रत्वं जानान: कश्चन व्याघ्रीं न स्पृशति।

वचनिका : शील-रत्न के इच्छुक पुरुष द्वारा वह वेश्या मन, वचन, काय से सेवन करने-

योग्य नहीं है। हिंसकपने को जानता हुआ कोई भी व्यक्ति व्याघ्री का स्पर्श नहीं करता है।।७६/१०९५।।

इसप्रकार वेश्या-सेवन के निषेध का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे पंद्रह पद्यों द्वारा परस्त्री-सेवन का निषेध करते हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा पर-स्त्री को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **तिरश्ची मानुषी देवी निर्जीवा च नितम्बिनी।**
परकीया न भोक्तव्या शील-रत्नवता त्रिधा।।७७/१०९६।।

तिर्यंची मानुषी देवी अचेतन पर-स्त्रिआँ।
शील-रत्नवाले को भोग्य कोई नहीं त्रिधा।।७७/१०९६।।

शब्दश: अर्थ : तिरश्ची=तिर्यंचनी; मानुषी=मनुष्यनी; देवी=देवांगना; नि:-जीवा=अचेतन; नितम्बिनी=स्त्री; परकीया=दूसरों की; न=नहीं; भोक्तव्या=भोगने-योग्य; शील-रत्नवता= शील-रत्नवाले द्वारा; त्रिधा=तीन प्रकार से।

अन्वय : तिरश्ची मानुषी देवी च निर्जीवा परकीया नितम्बिनी शील-रत्नवता त्रिधा न भोक्तव्या।

वचनिका : तिर्यंचनी, मनुष्यनी, देवी—ये तो चेतन और काष्ठ, पाषाणादि की अचेतन—ये चार प्रकार की पर-स्त्री हैं। शील-रत्न-सहित व्यक्ति द्वारा ये मन, वचन, काय से सेवन-योग्य नहीं हैं।।७७/१०९६।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण पर-स्त्री की नाशकता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **जीवितं हरते रामा परकीया निषेविता।**
प्लोषते सर्पिणी दुष्टा स्पृष्टा दृष्टिविषा न किम्?।।७८/१०९७।।

सेवी गई पर-स्त्री प्राण हरती नियम ही।
दृष्टि-विष दुष्टा नागिन क्या स्पर्शी नहिं जलाती?।।७८/१०९७।।

शब्दश: अर्थ : जीवितं=प्राणों को; हरते=हरण करती है; रामा=स्त्री; परकीया=दूसरों की; निषेविता=सेवन की गई; प्लोषते=जलाती है; सर्पिणी=नागिन; दुष्टा=क्रूर; स्पृष्टा=स्पर्श की गई; दृष्टि-विष=देखने से ही विष चढ़ानेवाली; न=नहीं; किं=क्या।

अन्वय : निषेविता परकीया रामा जीवितं हरते दृष्टि-विषा दुष्टा सर्पिणी स्पृष्टा किं न प्लोषते?

वचनिका : सेवन की गई पर-स्त्री प्राणों को हरती है। देखने से ही विष चढ़ानेवाली दृष्टि-विष, दुष्ट सर्पिणी स्पर्श की गई क्या नहीं जलाती है? जलाती ही है।।७८/१०९७।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-नारी-सेवन का परिणाम प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **यच्चेह लौकिकं दु:खं पर-नारी-निषेवने।**
तत्प्रसूनं मतं प्राज्ञैर्नारकं दारुणं फलम्।।७९/१०९८।।
पर-स्त्री-सेवन में जो लौकिक दुख हैं यहाँ।
वे हैं फूल नरकों के दारुण दुख फल हैं कहा।।७९/१०९८।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; च=और; इह=यहाँ; लौकिकं=लोक संबंधी; दु:खं=कष्ट; पर-नारी-निषेवने=पर-स्त्री का सेवन करने में; तत्=वह; प्रसूनं=पुष्प; मतं=माना है; प्राज्ञै:=ज्ञानिओं द्वारा; नारकं=नरक संबंधी; दारुणं=भयानक; फलं=फल।

अन्वय : पर-नारी-निषेवने यत् इह लौकिकं दु:खं तत् प्रसूनं च नारकं दारुणं दु:खं फलं प्राज्ञै: मतम्।

वचनिका : पर-नारी-सेवन में जो इस लोक संबंधी दु:ख हैं; वे उसके फूल हैं और नरक संबंधी दु:ख उसके फल हैं—ऐसा पंडितों द्वारा माना गया है।।७९/१०९८।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री की चाह की निरर्थकता वर्णित है—

अनुष्टुभ्: **स्वजनै: रक्ष्यमाणायास्तस्या लाभोऽतिदुष्कर:।**
तापस्तु चिन्त्यमानायां सर्वाङ्गीणो निरन्तर:।।८०/१०९९।।
परिजनों से रक्षित उस का मिलना अति कठिन है।
सतत चिंतन से संपूर्ण तन में ताप प्रकट रहे।।८०/१०९९।।

शब्दश: अर्थ : स्व-जनै:=अपने व्यक्तिओं द्वारा; रक्षमाणाया:=रक्षा की गई; तस्या:=उसका; लाभ:=प्राप्त होना; अति-दुष्कर:=बहुत कठिन; ताप:=संताप; तु=और; चिन्त्यमानायां=चिंतन की गई; सर्व+अङ्गीण:=सभी अंगों/समस्त शरीर में; निरन्तर:=सतत।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में ही है। शेष इसप्रकार है—तु निरन्तर: चिन्त्यमानायां सर्वाङ्गीण: ताप:।

वचनिका : स्व-जनों द्वारा रक्षा की गई उस पर-स्त्री का लाभ होना अति दुष्कर है; परंतु उसका निरंतर चिंतन करने पर सभी अंगों/संपूर्ण शरीर में संताप उत्पन्न होता है।।८०/१०९९।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि पर-स्त्री-सेवन में सुख नहीं है—

अनुष्टुभ् : **प्राप्यापि कष्ट-कष्टेन तां देशे यत्र तत्र वा।**
किं सुखं लभते भीत: सेवमानस्त्वरान्वित:?।।८१/११००।।
जहाँ तहाँ स्थल में बड़े कष्ट से प्राप्त भी।
डरते शीघ्र सेवन से क्या सुख मिलता है कभी?।।८१/११००।।

शब्दशः अर्थ : प्राप्य=प्राप्तकर; अपि=भी; कष्ट-कष्टेन=महा-कष्ट से; तां=उसे; देशे=क्षेत्र में; यत्र=जहाँ; तत्र=वहाँ; वा=कदाचित्; किं=क्या; सुखं=सुख को; लभते=पाता है; भीतः=डरा हुआ; सेवमानः=सेवन करता हुआ; त्वरा=शीघ्रता/आतुरता; अन्वितः=सहित।

अन्वय : वा यत्र तत्र देशे कष्ट-कष्टेन तां प्राप्य अपि भीतः त्वरा अन्वितः सेवमानः किं सुखं लभते?

वचनिका : कदाचित् जिस-किसी क्षेत्र में महा-कष्ट पूर्वक उस पर-स्त्री को प्राप्त कर भी भय-भीत रह आतुरता-सहित सेवन करता हुआ भी क्या सुख पाता है? कुछ भी सुख नहीं पाता है।।८१/११००।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **या हिनस्ति स्वकं कान्तं सा जारं न कथं खला?**
विडाली याऽत्ति पुत्रं स्वं सा किं मुञ्चति मूषिकाम्?।।८२/११०१।।
जो दुष्टा निज पति मारे यार को कैसे नहीं?
विडाली निज सुत खाती मूषिका क्या छोड़ती?।।८२/११०१।।

शब्दशः अर्थ : या=जो; हिनस्ति=मारती है; स्वकं=अपने; कान्तं=पति को; सा=वह; जारं=यार को; न=नहीं; कथं=कैसे; खला=दुष्टा; विडाली=विलाई; या=जो; अत्ति=खाती है; पुत्रं=वेटे को; स्वं=अपने; सा=वह; किं=क्या; मुञ्चति=छोड़ती है; मूषिकां=चुहिया को।

अन्वय : या खला स्वकं कान्तं हिनस्ति सा जारं कथं न? या विडाली स्वं पुत्रं अत्ति सा किं मूषिकां मुञ्चति?

वचनिका : जो दुष्ट स्त्री अपने पति को मार डालती है, वह यार को कैसे नहीं मारेगी? जो विडाली/विलाई अपने पुत्र को खा जाती है, वह क्या मूषिका को छोड़ती है? उसे तो खाती ही है।।८२/११०१।।

अब, इस पद्य द्वारा परस्त्री-सेवन की उपलब्धि वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यावद्दर्शं कुचेतस्काः किं वृण्वन्ति पराङ्गनाम्?**
न पापतः परो लाभः कदाचित्तत्र विद्यते।।८३/११०२।।
यों समझ पर-नारी को दुश्चित्ती क्या भोगते?
उसमें पाप से बड़कर कभी लाभ न अन्य है।।८३/११०२।।

शब्दशः अर्थ : यावत्=जब; दर्शं=दिखते हुए; कुचेतस्काः=खोटे चित्तवाले; किं=क्या; वृण्वन्ति=भोगते हैं; पर+अङ्गनां=पर-नारी को; न=नहीं; पापतः=पाप से; परः=दूसरा;

लाभ:=लाभ; कदाचित्=कभी; तत्र=उसमें; विद्यते=है।

अन्वय : यावत् दर्शं पर-अङ्गनां कुचेतस्का: किं वृण्वन्ति? तत्र कदाचित् पापत: पर: लाभ: न विद्यते।

वचनिका : दिखती हुई ऐसी पर-स्त्री को खोटे चित्तवाले पुरुष क्या/क्यों भोगते हैं? क्योंकि पर-स्त्री-सेवन में पाप के अतिरिक्त और लाभ नहीं है।।८३/११०२।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री-सेवन में सुख का अभाव सहेतुक वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **या स्वं मुञ्चति भर्तारं विश्वासस्तत्र कीदृश:?**
को विश्वासमृते स्नेह: किं सुखं स्नेहतो विना?।।८४/११०३।।

जो निज पति को छोड़े वहाँ विश्वास कैसे हो?
विश्वास विन प्रीति क्या प्रीति विन सुख कैसे हो?।।८४/११०३।।

शब्दश: अर्थ : या=जो; स्वं=अपने; मुञ्चति=छोड़ती है; भर्तारं=पति को; विश्वास:=विश्वास/प्रतीति; तत्र=उसमें; कीदृश:=कैसा; क:=कौन; विश्वासं=विश्वास को; ऋते=विना; स्नेह:=प्रीति; किं=क्या; सुखं=सुख; स्नेहत:=स्नेह से; विना=रहित।

अन्वय : या स्वं भर्तारं मुञ्चति तत्र विश्वास: कीदृश:? विश्वासं ऋते स्नेह: क:? स्नेहत: विना सुखं किम्?

वचनिका : जो स्त्री अपने पति को छोड़ देती है, उसमें विश्वास कैसा? विश्वास के विना स्नेह/प्रीति क्या? स्नेह के विना सुख क्या?।।८४/११०३।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री-सेवी के बांधव वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **वधो बन्धो धन-भ्रन्शस्ताप: शोक: कुलक्षय:।**
आयास: कलहो मृत्यु: पारदारिक-बान्धवा:।।८५/११०४।।

वध बंधन धन-नाश ताप शोक रु कुल-क्षय।
खेद-खिन्न कलह मृत्यु परस्त्रि-सेवि बांधव।।८५/११०४।।

शब्दश: अर्थ : वध:=घात; बन्ध:=बाँधा जाना; धन-भ्रन्श:=धन का नाश; ताप:=संताप; शोक:=दु:ख; कुल-क्षय:=कुल का विनाश; आयास:=खेद-खिन्नता; कलह:=झगड़ा; मृत्यु:=मरण; पारदारिक-बान्धवा:=पर-स्त्री-सेवी के बंधु-जन।

अन्वय : पूर्ण पद्य अन्वय में है।

वचनिका : वध अर्थात् घात, बंध अर्थात् बंधन में पड़ना, धन का नाश, संताप, शोक, कुल का क्षय, खेद, झगड़ा, मरण—पर-स्त्री सेवी के ये बांधव हैं।

भावार्थ : पर-स्त्री सेवन करनेवाले के वध, बंधनादि सभी होते हैं।।८५/११०४।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री-सेवी को होनेवाले लाभ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **लिङ्गच्छेदं खरारोपं कुलालकुसुमार्चनम्।**
जन-निन्दामभोग्यत्वं लभते पारदारिक:।।८६/११०५।।

लिंग छेदन गधारूढ छाणा कंडादि ताड़ना।
लोक-निंदा अभोगत्व पर-स्त्री-सेवी पा सदा।।८६/११०५।।

शब्दश: अर्थ : लिङ्ग-छेदं=लिंग को काटना; खर+आरोपं=गधे पर चड़ाना; कुलाल-कुसुम+अर्चनं=कुंभकार के फूल से पूजना/छाणे-कंडे आदि से मारना; जन-निन्दां=लोगों में निंदा को; अभोगत्वं=अभोगता को; लभते=प्राप्त करता है; पारदारिक:=पर-स्त्री-सेवी।

अन्वय : 'पारदारिक:' को प्रारंभ में लेने से संपूर्ण पद्य अन्वयरूप हो जाता है।

वचनिका : पर-स्त्री का सेवन करनेवाला पुरुष, लिंग को छेदना, गधे पर बिठाना; छाणा, कंडा आदि से मारना; लोक-निंदा, भोग-रहितपना इत्यादि प्राप्त करता है।।८६/११०५।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री-सेवन के दुष्परिणाम प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **लब्ध्वा विडम्बनां गुर्वीमत्र प्राप्त: स पञ्चताम्।**
श्वभ्रे यद्दु:खमाप्नोति कस्तद्वर्णयितुं क्षम:।।८७/११०६।।

बड़ी विडंबना पा वह यहाँ मर पाता नरक।
वहाँ जो दु:ख पाता है कहने कौन सक्षम?।।८७/११०६।।

शब्दश: अर्थ : लब्ध्वा=प्राप्तकर; विडम्बनां=विडंबना को; गुर्वी=बड़ी; अत्र=यहाँ; प्राप्त: =प्राप्त होता है; स:=वह; पञ्चतां=मरण को; श्वभ्रे=नरक में; यत्=जो; दु:खं=दु:ख को; आप्नोति=प्राप्त करता है; क:=कौन; तत्=उसका; वर्णयितुं=वर्णन करने के लिए; क्षम:= समर्थ।

अन्वय : स: अत्र गुर्वीं विडम्बनां लब्ध्वा पञ्चतां प्राप्त: श्वभ्रे यत् दु:खं आप्नोति तत् वर्णयितुं क: क्षम:?

वचनिका : पर-स्त्री-सेवन करनेवाला वह, इस-लोक में बड़ी विडंबना को पाकर मरण को प्राप्त हो नरक में जो दु:ख प्राप्त करता है; उनका वर्णन करने में कौन समर्थ है?।।८७/११०६।।

पर-स्त्री-सेवन से बचना, पुरुषार्थिओं का काम है; यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **एकान्ते यौवन-ध्वान्ते नारीं नेदीयसीं सतीम्।**
दृष्ट्वा क्षुभ्यति धीरोऽपि का वार्ता कातरे नरे?।।८८/११०७।।

एकांत में यौवन-तम में निकटतर सती स्त्रि को।
देख धीर भि हों क्षोभित कायर नर में क्या कहो?।।८८/११०७।।

शब्दश: अर्थ : एकान्ते=सुनसान में; यौवन-ध्वान्ते=यौवनरूपी अंधकार में; नारीं=महिला को; नेदीयसी=अति निकटतर; सतीं=शीलवती को; दृष्ट्वा=देखकर; क्षुभ्यति=क्षुब्ध हो जाता है; धीर:=धैर्य-शाली; अपि=भी; का=क्या; वार्ता=कथा; कातरे=कायर में; नरे=पुरुष में।

अन्वय : एकान्ते यौवन-ध्वान्ते नेदीयसी सतीं नारीं दृष्ट्वा धीर: अपि क्षुभ्यति कातरे नरे का वार्ता?

वचनिका : एकांत में यौवनरूपी अंधकार में अत्यधिक निकटवर्ती या वृद्धा शीलवती नारी को देखकर धीर पुरुष भी क्षोभ को प्राप्त हो जाता है; तब कायर-पुरुष में क्या वार्ता? वह तो क्षुब्ध होता ही होता है।।८८/११०७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा पर-स्त्री के साथ संपर्क की भयंकरता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ्: **जल्पनं हसनं नर्म क्रीडा वक्त्रावलोकनम्।**
आसनं गमनं स्थानं वर्णनं भिन्न-भाषणम्।।८९/११०८।।
नार्या परिचयं सार्धं कुर्वाण: परकीयया।
वृद्धोऽपि दूष्यते प्रायस्तरुणो न कथं पुन: ?।।९०/११०९।।

बोलना हसना परिहास खेलना मुख देखना।
बैठना जाना रुकना वर्णन एकांत बोलना।।८९/११०८।।
इत्यादि परिचय करता पर नारी साथ वृद्ध भी।
प्राय: दूषित हो जाता तब तरुण कैसे नहीं?।।९०/११०९।।

शब्दश: अर्थ : जल्पनं=बोलना; हसनं=हसना; नर्म=परिहास/मजाक करना; अथवा कर्म=काम करना; क्रीडा=खेलना; वक्त्र+अवलोकनं=मुख देखना; अथवा वक्र+अवलोकनं=तिरछी नजर से देखना; आसनं=बैठना; गमनं=जाना; स्थानं=खड़े होना; वर्णनं=वर्णन करना; भिन्न-भाषणं=एकांत में बोलना।

नार्या=नारी से; परिचयं=परिचय को; सार्धं=साथ; कुर्वाण:=करता हुआ; परकीयया= दूसरे की से; वृद्ध:=बूढा; अपि=भी; दूष्यते=दूषित हो जाता है; प्राय:=अधिकतर; तरुण: =अपरिपक्व जवान; न=नहीं; कथं=कैसे; पुन:=फिर।

अन्वय : पहला पद्य अन्वय में है। दूसरे का वह इसप्रकार है—परकीयया नार्या सार्धं परिचयं कुर्वाण: वृद्ध: अपि प्राय: दूष्यते पुन: तरुण: कथं न?

वचनिका : बोलना, हसना, परिहास/मजाक करना अथवा कार्य करना, खेलना, मुख देखना अथवा तिरछी नजर से देखना, बैठना, जाना, खड़े रहना, वर्णन करना, एकांत में बोलना,

इत्यादि रूप में पर की स्त्री के साथ परिचय करता हुआ वृद्ध पुरुष भी प्राय: दूषित हो जाता है; तब फिर तरुण पुरुष दूषित कैसे नहीं हो? होता ही है।।८९-९०/११०८-११०९।।

अब, इस पद्य द्वारा पर-स्त्री संबंधी मार्ग-दर्शन प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **विबुद्ध्येति महा-दोषं पर-रामा मनीषिभिः।**
विवर्ज्या दूरतः सद्भिर्भुजगीव भयङ्करा।।९१/१११०।।

इस प्रकार महा-दोष जान पर-नारी तजें।
भय-कारी भुजगी-वत् विद्वान सज्जन दूर से।।९१/१११०।।

शब्दशः अर्थ : विबुद्ध्य=विशेषरूप से जानकर; इति=इसप्रकार; महा-दोषं=अत्यधिक दोष को; पर-रामा=पर-स्त्री; मनीषिभिः=बुद्धिमानों द्वारा; विवर्ज्या=छोड़कर; दूरतः=दूर से; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; भुजगी=सर्पिणी; इव=समान; भयङ्करा=भय को करनेवाली।

अन्वय : इति महा-दोषं विबुद्ध्य मनीषिभिः सद्भिः भयङ्करा भुजगी इव पर-रामा दूरतः विवर्ज्या।

वचनिका : इसप्रकार महा-दोष को जानकर बुद्धिमान सत्पुरुषों द्वारा भयंकर सर्पिणी के समान पर-स्त्री दूर से त्याग करनी योग्य है।।९१/१११०।।

इसप्रकार पर-स्त्री-सेवन-निषेधवाला प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे नौ पद्यों द्वारा शिकार का निषेध करते हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उसके त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **नामापि कुरुते यस्या गृहीतं गुरु-कल्मषम्।**
मृगया सा त्रिधा हेया भव-दुःख-विभीरुणा।।९२/११११।।

जिसका नाम लेना भी घोर पाप करे सदा।
भव दुख से डरे द्वारा वह मृगया त्याज्य त्रय-विधा।।९२/११११।।

शब्दशः अर्थ : नामा=नाम; अपि=भी; कुरुते=करता है; यस्याः=जिसकी; गृहीतं=लेना; गुरु-कल्मषं=घोर पाप को; मृगया=शिकार खेलना; सा=वह; त्रि-धा=तीन प्रकार से; हेया =त्याग करने-योग्य; भव-दुःख-विभीरुणा=संसार के दुःख से डरे हुए द्वारा।

अन्वय : यस्याः नामा गृहीतं अपि गुरु-कल्मषं कुरुते सा मृगया भव-दुःख-विभीरुणा त्रिधा हेया।

वचनिका : जिसका नाम लेना भी घोर पाप करता है, वह शिकार खेलना, संसार-दुःख से भय-भीत व्यक्ति द्वारा मन, वचन, काय से त्याग करना योग्य है।।९२/११११।।

अब, इस पद्य द्वारा शिकार खेलनेवाले की सर्वाधिक निर्दयता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **त्रस्यन्ति सर्वदा दीनाश्चलतः पर्णतोऽपि ये।**
हिन्स्यन्ते तेऽपि यैर्जीवास्तेभ्यः के निर्घृणाः परे।।९३/१११२।।
दीन जीव सदा डरते हिलते पत्ते से भि जो।
मारते जो उन्हें उनसे अधिक निर्दय कौन हो?।।९३/१११२।।

शब्दशः अर्थ : त्रस्यन्ति=भय-भीत हो दुःखी रहते हैं; सर्वदा=निरंतर; दीनाः=अभागे; चलतः=हिलते हुए; पर्णतः=पत्ते से; अपि=भी; ये=जो; हिन्स्यन्ते=मारते हैं; ते=वे; अपि =भी; यैः=जिनके द्वारा; जीवाः=प्राणी; तेभ्यः=उनसे; के=कौन; निर्घृणाः=निर्दय; परे=दूसरे।

अन्वय : ये दीनाः जीवाः चलतः पर्णतः अपि सर्वदा त्रस्यन्ति ते अपि यैः हिन्स्यन्ते तेभ्यः निर्घृणा परे के?

वचनिका : जो दीन जीव, हिलते पत्ते से भी सदा काल भय-भीत हो दुःखी रहते हैं; वे मृगादि भी जिन शिकारिओं द्वारा मारे जाते हैं; उनसे निर्दय दूसरे कौन हैं?।।९३/१११२।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि शिकार-खेलनेवाला सबसे बड़ा पापी है—

अनुष्टुभ् : **निरागसः पराधीनाः नश्यन्तो भयविह्वलाः।**
कुरङ्गा यैर्निहन्यन्ते पापिष्ठा न परे ततः।।९४/१११३।।
निरपराध पराधीन भय-व्याकुल हो भागते।
हिरणों की हिंसा करते उनसे पापी न दूसरे।।९४/१११३।।

शब्दशः अर्थ : निः+आगसः=अपराध से रहित; पर+अधीनाः=दूसरों के अधीन; नश्यन्तः= नष्ट होते/भागते हुए; भय-विह्वलाः=भय से व्याकुल; कुरङ्गाः=हिरण; यैः=जिनके द्वारा; निहन्यन्ते=मारे जाते हैं; पापिष्ठाः=पाप-संयुक्त; न=नहीं; परे=दूसरे; ततः=उनसे।

अन्वय : निः-आगसः पर-अधीनाः भय-विह्वलाः नश्यन्तः कुरङ्गाः यैः निहन्यन्ते ततः पापिष्ठाः परे न।

वचनिका : अपराध-रहित, पराधीन, भय से व्याकुल, नाश को प्राप्त होते, भागते हिरण, जिनके द्वारा मारे जाते हैं; उनसे बड़ा पापी और दूसरा नहीं है।।९४/१११३।।

अब, इस पद्य द्वारा उन्हें व्याघ्र के समान बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **गृह्णन्तोऽपि तृणं दन्तैर्देहिनो मारयन्ति ये।**
व्याघ्रेभ्यस्ते दुराचारा विशिष्यन्ते कथं खलाः?।।९५/१११४।।
दाँतों से तृण लेते भी प्राणिओं को मारते।
दुष्ट दुराचारी उनको कैसे व्याघ्र-पृथक् कहें?।।९५/१११४।।

शब्दश: अर्थ : गृह्णन्त:=ग्रहण करते हुए; तृण=घास को; दन्त:=दाँतों से; देहिन:=प्राणी; मारयन्ति=मारते हैं; ये=जो; व्याघ्रेभ्य:=व्याघ्रों से; ते=वे; दुराचारा:=खोटा आचरण करनेवाले; विशिष्यन्ते=विशेषता को प्राप्त हैं; कथं=कैसे; खला:=दुष्ट।

अन्वय : दन्तैः तृणं गृह्णन्त: देहिन: अपि ये मारयन्ते दुराचारा: दुष्टा: ते व्याघ्रेभ्य: कथं विशिष्यन्ते?

वचनिका : दाँतों से तृण ग्रहण करनेवाले मृगादि जीवों को भी जो मारते हैं; दुराचारी दुष्ट वे जीव, व्याघ्रों से पृथक् कैसे हो सकते हैं?

भावार्थ : व्याघ्र भी मृगादि को मारते हैं और शिकारी भी मारते हैं; अत: दोनों समान ही हैं।।९४/१११४।।

अब, इस पद्य द्वारा घात्य-घातक में समानता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **ये मारयन्ति निस्त्रिन्शा ये मार्यन्ते च विह्वला:।**
तेषां परस्परं नास्ति विशेषं तत्क्षणं विना।।९६/१११५।।
मारते हैं निर्दय जो मारे जाते व्याकुली।
परस्पर नहीं अंतर उनके उस क्षण विना ही।।९६/१११५।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; मारयन्ति=मारते हैं; निस्त्रिन्शा:=निर्दयी; ये=जो; मार्यन्ते=मारे जाते हैं; च=और; विह्वला:=व्याकुल; तेषां=उनके; परस्परं=आपस में; न+अस्ति=नहीं है; विशेष:=अंतर; तत्क्षणं=उस समय को; विना=छोड़कर।

अन्वय : ये निस्त्रिन्शा: मारयन्ति च ये विह्वला: मार्यन्ते तेषां परस्परं तत्क्षणं विना विशेष: नास्ति।

वचनिका : जो निर्दयी, मारते हैं और जो व्याकुली, मारे जाते हैं; उनके परस्पर उस समय के अतिरिक्त अंतर नहीं है।

भावार्थ : वर्तमान समय में तो मारनेवालों और मारे जानेवालों में अधिकता-हीनतारूप अंतर है; परंतु आगे नरकादि में परस्पर मारते हैं; अत: वहाँ हीनाधिक नहीं हैं।।९६/१११५।।

अन्य के मांस से अपना मांस पुष्ट करनेवाले कैसे हैं? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **स्वमान्सं परमान्सैर्ये पोषयन्ति दुराशया:।**
स्वमान्समेव खाद्यन्ते हठतो नारकैरिमे।।९७/१११६।।
अपने मांस को पोषें दुराशयी पर-मांस से।
बलात् नारकिओं द्वारा अपना मांस हि खाएं वे।।९७/१११६।।

शब्दश: अर्थ : स्व-मान्सं=अपने मांस को; पर-मान्सै:=दूसरों के मांस द्वारा; ये=जो; पोषयन्ति=पुष्ट करते हैं; दु:+आशया:=खोटे आशयवाले; स्व-मान्सं=अपने मांस को; एव =ही; खाद्यन्ते=खाते हैं; हठत:=बल पूर्वक; नारकै:=नारकिओं द्वारा; इमे=ये।

अन्वय : ये दु:-आशया: पर-मान्सै: स्व-मान्सं पोषयन्ति इमे नारकै: हठत: स्व-मान्सं एव खाद्यन्ते।

वचनिका : जो दुष्ट-चित्ती पर-जीवों के मांस द्वारा अपना मांस पुष्ट करते हैं; ये नारकिओं द्वारा हठ पूर्वक खिलाए गए अपने मांस को ही खाते हैं।।९७/१११६।।

अब, इस पद्य द्वारा मांस-भक्षण का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **स्वल्पायुर्विकलो रोगी विचक्षुर्वधिर: खल:।**
वामन: पामन: षण्ढो जायते स भवे भवे।।९८/१११७।।

अल्पायु विकल रोगी अंधा बहरा दुष्ट हो।
बौना, कुष्ठी नपुंसक भी वह भवों में अनेकों।।९८/१११७।।

शब्दश: अर्थ : स्वल्प+आयु:=कम आयुवाला; विकल:=कम अंगोंवाला; रोगी=अस्वस्थ; विचक्षु:=अंधा; वधिर:=बहरा; खल:=दुष्ट; वामन:=बौना; पामन:=कुष्ट-रोगी; षण्ढ:= नपुंसक; जायते=उत्पन्न होता है; स:=वह; भवे-भवे=प्रत्येक भव में।

अन्वय : 'स:' को प्रारंभ में और 'जायते' को अंत में रखने से पद्य अन्वयरूप हो जाता है।

वचनिका : वह मांस-भक्षी अल्पायु, विकलांगी, रोगी, अंधा, बहरा, दुष्ट, बौना, कुष्ट-रोगी, नपुंसक अनेक भवों में होता है।।९८/१११७।।

अब, इस पद्य द्वारा हिंसा का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **दु:खानि यानि दृश्यन्ते दु:सहानि जगत्त्रये।**
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिमर्दनकारिणा।।९९/१११८।।

तीन लोक में जितने दु:सह दुख दिखते सदा।
प्राणिओं के घातक को वे सभी मिलते सदा।।९९/१११८।।

शब्दश: अर्थ : दु:खानि=दु:ख; यानि=जो; दृश्यन्ते=दिखाई देते हैं; दुस्सहानि=असहनीय; जगत्-त्रये=तीन लोक में; सर्वाणि=सब; तानि=वे; लभ्यन्ते=प्राप्त किए जाते हैं; प्राणि-मर्दन-कारिणा=प्राणिओं का मर्दन करनेवाले द्वारा।

अन्वय : जगत्-त्रये यानि दु:सहानि दु:खानि दृश्यन्ते तानि सर्वाणि प्राणि-मर्दन-कारिणा लभ्यन्ते।

वचनिका : तीन लोक में जो दु:सह दु:ख दिखाई देते हैं; वे सभी दु:ख, प्राणिओं की हिंसा करनेवाले द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।।९९/१११८।।

अब, इस पद्य द्वारा शिकार-त्याग की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **इति दोषवती मत्त्वा मृगया हित-काङ्क्षिणा।**
नानानर्थकरी त्याज्या राक्षसीव विभीषणा।।१००/१११९।।

अनर्थ-कारी भय-कारी मृगया दोष यों समझ।
राक्षसी-सम तज ही दें सभी हित के इच्छुक।।१००/१११९।।

शब्दशः अर्थ : इति=इसप्रकार; दोषवती=दोष-युक्त; मत्त्वा=मानकर; मृगया=शिकार-खेलना; हित-काङ्क्षिणा=हित चाहनेवाले द्वारा; नाना-अनर्थ-कारी=अनेक प्रकार से बुरा करनेवाली; त्याज्या=छोड़ने-योग्य; राक्षसी=राक्षसी; इव=समान; विभीषणा=भय-कारी।

अन्वय : इति दोषवती मत्त्वा हित-काङ्क्षिणा नाना-अनर्थ-करी विभीषणा राक्षसी इव मृगया त्याज्या।

वचनिका : इसप्रकार दोष-सहित जान-मानकर हित के वांक्षक व्यक्ति द्वारा अनेक अनर्थों को करनेवाली, भय-कारी राक्षसी के समान शिकार का त्याग करना योग्य है।।१००/१११९।।

इसप्रकार शिकार-निषेध का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे सोलह पद्यों द्वारा मौन का माहात्म्य वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा मौन पूर्वक भोजन करना प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **भोजनं कुर्वता कार्यं मौनं शीलवता सता।**
सन्तोषित्वमिवानिन्द्यं भैक्ष्यशुद्धिविधायिना।।१०१/११२०।।

भिक्षाशुद्धि-विधायक को अनिंदित संतोष-सम।
शीलवान को करना भोजन करते मौन नित।।१०१/११२०।।

शब्दशः अर्थ : भोजनं=भोजन को; कुर्वता=करते हुए; कार्यं=करने-योग्य है; मौनं=मौन को; शीलवता=शीलवान द्वारा; सदा=नित्य; सन्तोषित्वं=संतोषिता को; इव=समान; अनिन्द्यं=निंदा के अयोग्य/प्रशंसनीय; भैक्ष्य-शुद्धि-विधायिना=भिक्षा-शुद्धि का आचरण करनेवाले द्वारा।

अन्वय : भैक्ष्य-शुद्धि-विधायिना अनिन्द्यं सन्तोषित्वं इव भोजनं कुर्वता शीलवता सदा मौनं कार्यम्।

वचनिका : जैसे—भिक्षा-शुद्धि का आचरण करनेवाले मुनि के द्वारा अनिंद्य संतोषीपना करना, योग्य है; उसीप्रकार भोजन करते हुए शीलवान सत्पुरुषों द्वारा मौन करना, योग्य है।।१०१/११२०।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन की प्रशंसनीयता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **सर्वदा शस्यते जोषं भोजने तु विशेषत:।**
रसायनं सदा श्रेष्ठं सरोगित्वे पुनर्न किम्?।।१०२/११२१।।

प्रशंसनीय नित मौन भोजन में विशेष ही।
रसायन सदा उत्तम सरोगिता में क्यों नहीं?।।१०२/११२१।।

शब्दश: अर्थ : सर्वदा=निरंतर; शस्यते=प्रशंसा-योग्य है; जोषं=मौन; भोजने=भोजन में; तु=तो; विशेषत:=विशेषरूप से; रसायनं=पोषक पदार्थ; सदा=सतत; श्रेष्ठं=उत्तम; स-रोगित्वे=रोग से सहित दशा में; पुन:=फिर/और; न=नहीं; किं=क्या।

अन्वय : जोषं सर्वदा शस्यते भोजने तु विशेषत: शस्यते; रसायनं सदा श्रेष्ठं पुन: सरोगित्वे किं न?

वचनिका : मौन सदा काल सराहनीय है और भोजन में तो विशेष सराहनीय है। पुष्टि-दायक पदार्थमय रसायन सदा उत्तम है; तब फिर रोग-सहित दशा में क्यों नहीं? है ही।।१०२/११२१।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन की उपलब्धिआँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सन्तोषो भाव्यते तेन वैराग्यं तेन दृश्यते।**
संयम: पोष्यते तेन मौनं येन विधीयते।।१०३/११२२।।

जिसने मौन लिया उसने भावना संतोष की।
वैराग्य उसने देखा संयम पोषक है वही।।१०३/११२२।।

शब्दश: अर्थ : सन्तोष:=संतोष; भाव्यते=भाया गया है; तेन=उसके द्वारा; वैराग्यं=विरागता; तेन=उसके द्वारा; दृश्यते=देखी गई है; संयम:=संयम; पोष्यते=पुष्ट किया गया है; तेन=उसके द्वारा; मौनं=मौन; येन=जिसके द्वारा; विधीयते=किया गया है।

अन्वय : येन मौनं विधीयते तेन सन्तोष: भाव्यते तेन वैराग्यं दृश्यते तेन संयम: पोष्यते।

वचनिका : जिसने मौन धारण किया; उसने संतोष भाया है, वैराग्य देखा है और संयम पुष्ट किया है।।१०३/११२२।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन के लाभ बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **वाचोव्यापारतो दोषा ये भवन्ति दुरुत्तरा:।**
ते सर्वेऽपि निवार्यन्ते मौनव्रतविधायिना।।१०४/११२३।।

वचन व्यापार से दु:सह दोष जो होते सभी।
मौन-व्रत धारक द्वारा रोके गए वे सभी।।१०४/११२३।।

शब्दश: अर्थ : वाच:=वचन का; व्यापारत:=व्यापार से; दोषा:=बुराइआँ; ये=जो; भवन्ति=होती हैं; दु:-उत्तरा:=कठिनाई से पार होनेवालीं; ते=वे; सर्वे=सब; अपि=भी; निवार्यन्ते=दूर की जाती हैं; मौन-व्रत-विधायिना=मौन व्रत के धारक द्वारा।

अन्वय : वच: व्यापारत: ये दुरुत्तरा: दोषा: भवन्ति ते सर्वे अपि मौन-व्रत-विधायिना निवार्यन्ते।

वचनिका : वचन के व्यापार से जो दु:ख से पार होनेवाले दोष होते हैं; वे सभी मौन-व्रत के धारक व्यक्ति द्वारा निवारण किए जाते हैं।।१०४/११२३।।

मौन के गुण-वर्णन की असमर्थता अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सागारोऽपि जनो येन प्राप्यते यति-संयमम्।**
मौनस्य तस्य शक्यन्ते केन वर्णयितुं गुणा:।।१०५/११२४।।

जिससे पाता है श्रावक जन भी यति-संयम सदा।
उस मौन के गुण-वर्णन करने की सामर्थ्य क्या?।।१०५/११२४।।

शब्दश: अर्थ : स+आगार:=गृहस्थ; अपि=भी; जन:=व्यक्ति; येन=जिससे; प्राप्यते=प्राप्त कर लेता है; यति-संयमं=मुनि के संयम को; मौनस्य=मौन का; तस्य=उसका; शक्यन्ते=समर्थ हैं; केन=किसके द्वारा; वर्णयितुं=वर्णन करने के लिए; गुणा:=विशेषताएं।

अन्वय : येन सागार: जन: अपि यति-संयमं प्राप्यते तस्य मौनस्य गुणा: केन वर्णयितुं शक्यन्ते?

वचनिका : जिस मौन-व्रत द्वारा गृहस्थ व्यक्ति भी मुनि के संयम को प्राप्त हो जाता है; उस मौन के गुण किसके द्वारा वर्णन करने के लिए समर्थ हो सकते हैं? किसी के द्वारा भी नहीं।।१०५/११२४।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन की उपयोगिता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **जोषेण विशतो रोध: कल्मषस्य विधीयते।**
बलिष्ठेन महिष्ठेन सलिलस्येव सेतुना।।१०६/११२५।।

दृढ बड़े सेतु द्वारा जल के रोध-वत् रुकें।
प्रवेश करते पाप धारण किए मौन से।।१०६/११२५।।

शब्दश: अर्थ : जोषेण=मौन से; विशत:=प्रवेश करते हुए; रोध:=रुकना; कल्मषस्य=पाप का; विधीयते=किया जाता है; बलिष्ठेन=सुदृढ द्वारा; महिष्ठेन=विशाल द्वारा; सलिलस्य=जल का; इव=समान; सेतुना=बाँध द्वारा।

अन्वय : बलिष्ठेन महिष्ठेन सेतुना सलिलस्य रोध: इव जोषेण विशत: कल्मषस्य रोध: विधीयते।

वचनिका : जैसे—सुदृढ और बड़े सेतु/बाँध द्वारा जल रोका जाता है; उसीप्रकार प्रवेश करते

पाप का निरोध, मौन द्वारा किया जाता है।।१०६/११२५।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन हेतु सावधानिआँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **हुङ्काराङ्गुलि-खात्कार-भ्रूमूर्ध-चलनादिभिः।**
मौनं विदधता सञ्ज्ञा विधातव्या न गृद्धये।।१०७/११२६।।

हुंकार अंगुलि खंकार भृकुटी मस्तक हिलाना।
आदि से गृद्धि हेतु मौनी की नहिं चेष्टा।।१०७/११२६।।

शब्दशः अर्थ : हुङ्कार+अङ्गुलि-खात्कार-भ्रू-मूर्ध-चलन+आदिभिः=हुंकार करना, अंगुली उठाना, खंकार करना, भृकुटी चलाना, मस्तक हिलाना आदि से; मौनं=मौन को; विदधता=धारण करनेवाले द्वारा; सञ्ज्ञा=चेष्टा; विधातव्या=करना चाहिए; न=नहीं; गृद्धये=आसक्ति के लिए।

अन्वय : मौनं विदधता गृद्धये हुङ्कार... चलनादिभिः सञ्ज्ञा न विधातव्या।

वचनिका : मौन-धारण करनेवाले व्यक्ति द्वारा गृद्धि/अति-चाह के लिए हुंकार करना, अंगुली उठाना, खंकार करना, भृकुटी चलाना, मस्तक हिलाना इत्यादि द्वारा संज्ञा/चेष्टा/संकेत नहीं करना चाहिए।।१०७/११२६।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन-धारण करने के भेद बता उसे धारण करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **सार्वकालिकमन्यच्च मौनं द्वेधा विधीयते।**
भक्तितः शक्तितो भव्यैर्भवभ्रमणभीरुभिः।।१०८/११२७।।

सार्वकालिक एकदेशी मौन दो प्रकार से।
भव्य भव-भ्रमण-भीत धारें भक्ति शक्ति से।।१०८/११२७।।

शब्दशः अर्थ : सार्व-कालिकं=सभी काल/मरण पर्यंत; अन्यत्=उससे भिन्न असार्वकालिक/कुछ काल पर्यंत; च=और; मौनं=मौन को; द्वेधा=दो प्रकार से; विधीयते=धारण किया जाता है; भक्तितः=भक्ति पूर्वक; शक्तितः=शक्ति के अनुसार; भव्यैः=भव्यों द्वारा; भव-भ्रमण-भीरुभिः=संसार-परिभ्रमण से भीत द्वारा।

अन्वय : भव-भ्रमण-भीरुभिः भव्यैः भक्तितः शक्तितः सार्वकालिकं च अन्यत् द्वेधा मौनं विधीयते।

वचनिका : संसार-भ्रमण से भय-भीत भव्यों द्वारा भक्ति पूर्वक शक्ति के अनुसार सार्व-कालिक अर्थात् मरण पर्यंत और असार्व-कालिक अर्थात् काल की मर्यादा रूप/नियत-कालिक—ऐसे दो प्रकार से मौन धारण किया जाता है।।१०८/११२७।।

अब, इस पद्य द्वारा नियत-कालिक मौन के समापन की विधि प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **भव्येन भक्तित: कृत्वा मौनं नियत-कालिकम्।**
जिनेन्द्र-भवने देया घण्टिका समहोत्सवम्।।१०९/११२८।।

भक्ति पूर्वक नियत-कालिक मौन करके भव्य-जन।
घंटिका जिन-मंदिर में देवें कर महोत्सव।।१०९/११२८।।

शब्दश: अर्थ : भव्येन=भव्य द्वारा; भक्तित:=भक्ति से; कृत्वा=करके; मौनं=मौन को; नियत-कालिकं=काल की मर्यादावाले; जिनेन्द्र-भवने=जिन-मंदिर में; देया=देने-योग्य है; घण्टिका=छोटा घंटा; स-महा-उत्सवं=महा-उत्सव पूर्वक।

अन्वय : भव्येन भक्तित: नियत-कालिकं मौनं कृत्वा जिनेन्द्र-भवने स-महा-उत्सवं घण्टिका देया।

वचनिका : भव्य-जीव द्वारा भक्ति से काल की मर्यादारूप मौन करके जिन-मंदिर में महोत्सव पूर्वक यथा-शक्ति घंटिका देने-योग्य है।

भावार्थ : मौन-व्रत जब पूर्ण हो, तब उद्यापन करे; उस समय जिन-मंदिर में घंटा चड़ाए—ऐसा जानना।।१०९/११२८।।

अब, इस पद्य द्वारा सार्व-कालिक मौन संबंधी निर्देश प्रस्तुत हैं—

अनुष्टुभ् : **न सार्व-कालिके मौने निर्वाह-व्यतिरेकत:।**
***उद्योतनं परं प्राज्ञै: किञ्चनापि विधीयते।।११०/११२९।।**

मौन सार्व-कालिक में निर्वाह को छोड़कर।
अन्य कुछ भी न उद्योतन विज्ञों द्वारा है उचित।।११०/११२९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; सार्व-कालिके=जीवन पर्यंत में; मौने=मौन में; निर्वाह-व्यतिरेकत:= निर्वाह करने के अतिरिक्त; उद्योतनं=प्रकट करना/उद्यापनं=उत्कृष्टरूप से पालन करना; परं= दूसरा; प्राज्ञै:=विशेष ज्ञानिओं द्वारा; किञ्चन=कुछ; अपि=भी; विधीयते=किया जाता है।

अन्वय : सार्व-कालिके मौने निर्वाह-व्यतिरेकत: परं किञ्चन अपि उद्योतनं/उद्यापनं प्राज्ञै: न विधीयते।

वचनिका : यावज्जीवन वाले सार्व-कालिक मौन में निर्वाह के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उद्योतन पंडितों द्वारा नहीं किया जाता है।।११०/११२९।।

** उद्यापनं —इति पाठान्तरम्।*

मौन कहाँ-कहाँ धारण किया जाता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये विशेषत:।**
मौनी न पीड्यते पापै: सन्नद्ध: सायकैरिव।।१११/११३०।।

आवश्यक मल-क्षेपण विशिष्ट पाप कार्य में।
बख्तर-बद्ध वाणों-वत् मौनी पीड़ित न पाप से।।१११/११३०।।

शब्दश: अर्थ : आवश्यके=षट् आवश्यक क्रियाओं में; मल-क्षेपे=मल के क्षेपण में; पाप-कार्ये=पाप कार्य में; विशेषत:=मैथुनादि विशिष्ट में; मौनी=मौन-धारण करनेवाला; न=नहीं; पीड्यते=पीड़ित होता है; पापै:=पापों से; सन्नद्ध:=बख्तर पहिने हुए योद्धा; सायकै:=वाणों द्वारा; इव=समान।

अन्वय : सन्नद्ध: सायकै: इव आवश्यके मल-क्षेपे विशेषत: पाप-कार्ये मौनी पापै: न पीड्यते।

वचनिका : जैसे—बख्तर पहिने योद्धा बाणों से पीड़ित नहीं होता है; उसीप्रकार सामायिक आदि आवश्यक क्रिया में, मल के क्षेपण में, मैथुन-सेवन आदि विशिष्ट पाप-कार्य में मौन-धारण करनेवाला जीव, पापों से पीड़ित नहीं होता है; उसे पापों का बंध नहीं होता है।।१११/११३०।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन-व्रत का परिपूर्ण फल पाने-हेतु सावधानी निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **कोपादयो न सङ्क्लेशा मौनव्रतफलार्थिना।**
पुर: पश्चाच्च कर्तव्या: सूद्यते तद्धितै: कृतै:।।११२/११३१।।

मौन-व्रत फल-इच्छुक पहले पीछे नहीं करें।
संक्लेश क्रोधादि नष्ट हो वह इन्हीं से।।११२/११३१।।

शब्दश: अर्थ : कोप+आदय:=क्रोध आदि; न=नहीं; सङ्क्लेशा:=क्लेश-युक्त; मौन-व्रत-फल-अर्थिना=मौन-व्रत के फल को चाहनेवाले द्वारा; पुर:=पहले; पश्चात्=बाद में; च=और; कर्तव्या:=करना चाहिए; सूद्यते=नष्ट हो जाता है; तत्=वह; हि=वास्तव में; तै:=उनसे; कृतै:=किए गए।

अन्वय : मौन-व्रत-फल-अर्थिना पुर: च पश्चात् सङ्क्लेशा: कोप-आदय: न कर्तव्या:, हि कृतै: तै: तत् सूद्यते।

वचनिका : मौन-व्रत का फल चाहनेवाले व्यक्ति द्वारा पहले और बाद में संक्लेशमय क्रोधादि करना, योग्य नहीं है; क्योंकि किए गए उन क्रोधादि से मौन-व्रत नष्ट हो जाता है।

भावार्थ : मौन के पहले और पीछे कषाय नहीं करना। कषाय से मौन-व्रत निष्फल हो जाता है।।११२/११३१।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन की आवश्यकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **वाचंयमः पवित्राणां गुणानां सुख[*]कारिणाम्।**
सर्वेषां जायते स्थानं मणीनामिव नीरधिः।।११३/११३२।।

वचन का संयम पावन सुख-कारी सभी गुणों।
का होता स्थान सागर में ज्यों रत्न हों।।११३/११३२।।

शब्दशः अर्थ : वाचं-यमः=वचन का संयम; पवित्राणां=निर्मलों के; गुणानां=विशेषताओं के; सुख/हित-कारिणां=सुख/हित-कारकों के; सर्वेषां=सभी के; जायते=होता है; स्थानं=स्थल; मणीनां=मणिओं के; इव=समान; नीरधिः=समुद्र।

अन्वय : नीरधिः मणीनां इव वाचं-यमः पवित्राणां सुख/हित-कारिणां सर्वेषां गुणानां स्थानं जायते।

वचनिका : जैसे—समुद्र, रत्नों का स्थान है; उसीप्रकार वचन का संयम, पवित्र, सुख/हित-कारी, सभी गुणों का स्थान होता है।

भावार्थ : वचन का संयम, सभी गुणों का स्थान है—ऐसा जानना।।११३/११३२।।

अब, इस पद्य द्वारा निर्मल मौन का परिणाम प्रतिपादित है—

अनुष्टुभ् : **वाणी मनोरमा तस्य शास्त्रसन्दर्भ-गर्भिता।**
आदेया जायते येन क्रियते मौनमुज्ज्वलम्।।११४/११३३।।

निर्मल मौन किया जिसने हो वाणी उसकी सदा।
मनोरम ग्रहण-योग्य शास्त्र-रचना-युत कहा।।११४/११३३।।

शब्दशः अर्थ : वाणी=वचन; मनः-रमा=मन को रमानेवाली; तस्य=उसका; शास्त्र-सन्दर्भ-गर्भिता=शास्त्र-रचना से सहित; आदेया=ग्रहण करने-योग्य; जायते=होता है; येन=जिसके द्वारा; क्रियते=किया जाता है; मौनं=मौन को; उज्ज्वलं=निर्मल।

अन्वय : येन उज्ज्वलं मौनं क्रियते तस्य वाणी मनोरमा शास्त्र-सन्दर्भ-गर्भिता आदेया जायते।

वचनिका : जिस व्यक्ति द्वारा निर्मल मौन किया जाता है; उसकी वाणी, शास्त्र-रचना से सहित, मन को प्यारी, आदर/ग्रहण करने-योग्य हो जाती है।।११४/११३३।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन का फल बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **पदानि यानि विद्यन्ते वन्दनीयानि कोविदैः।**
सर्वाणि तानि लभ्यन्ते प्राणिना मौनकारिणा।।११५/११३४।।

** हित —इति पाठान्तरम्।*

विद्वानों द्वारा वंदित जो भी पद इस जगत में।
मौन-कारी प्राणी को वे सभी नित प्राप्त हैं।।११५/११३४।।

शब्दश: अर्थ : पदानि=पद/दशाएं; यानि=जो; विद्यन्ते=होते हैं; वन्दनीयानि=पूजनीय; कोविदैः=विद्वानों द्वारा; सर्वाणि=सब, तानि=वे; लभ्यन्ते=प्राप्त किए जाते हैं; प्राणिना=व्यक्ति द्वारा; मौन-कारिणा=मौन करनेवाले द्वारा।

अन्वय : कोविदैः वन्दनीयानि यानि पदानि विद्यन्ते तानि सर्वाणि मौन-कारिणा प्राणिना लभ्यन्ते।

वचनिका : पंडितों द्वारा पूजनीय जो पद हैं; वे सब मौन करनेवाले प्राणी द्वारा प्राप्त किए जाते हैं।।११५/११३४।।

अब, इस पद्य द्वारा मौन की सर्व-फल-दायकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **निर्मलं केवल-ज्ञानं लोकालोकावलोकनम्।**
लीलया लभ्यते येन किं तेनान्यन्न काङ्क्षितम्।।११६/११३५।।

लोकालोक का ज्ञाता पावन केवलज्ञान भी।
सहज ही मिले जिससे उससे अन्य क्या नहीं?।।११६/११३५।।

शब्दश: अर्थ : निः+मलं=निर्दोष; केवलज्ञानं=केवलज्ञान को; लोक+अलोक+अवलोकनं= लोक और अलोक को जाननेवाला; लीलया=सहजता से; लभ्यते=प्राप्त कर लिया जाता है; येन=जिसके द्वारा; किं=क्या; तेन=उसके द्वारा; अन्यत्=दूसरा; न=नहीं; काङ्क्षितं=चाहा गया।

अन्वय : येन लीलया लोक-अलोक-अवलोकनं निर्मलं केवलज्ञानं लभ्यते तेन अन्यत् काङ्क्षितं किं न?

वचनिका : जिससे लीला मात्र में/अत्यंत सहजता पूर्वक लोकालोक को जाननेवाला निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है; उससे अन्य वांक्षित क्या नहीं प्राप्त होगा? सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।।११६/११३५।।

इसप्रकार मौन-व्रत का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे बाईस पद्यों द्वारा उपवास का वर्णन है।

वहाँ सर्व-प्रथम दो पद्यों द्वारा उपयोगिता बताते हुए उपवास करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **रागो निवार्यते येन धर्मो येन विवर्ध्यते।**
पापं निहन्यते येन संयमो येन जन्यते।।११७/११३६।।
अनेक भव-सम्बद्ध-कर्म-कानन-पावकः।
उपवासः स कर्तव्यो नीरागीभूत-चेतसा।।११८/११३७।।

जिससे निवारित राग बड़ता जिससे धर्म है।
पाप मिटते हैं जिससे जिससे संयम जन्म ले।।११७/११३६।।
अनेक भव के बँधे कर्म जंगल को जो आग है।
राग-हीन मन से वह उपवास करणीय है।।११८/११३७।।

शब्दशः अर्थ : राग:=राग भाव; निवार्यते=रोका जाता है; येन=जिससे; धर्म:=धर्म भाव; येन=जिससे; विवर्ध्यते=बड़ता है; पापं=पाप-भाव; निहन्यते=नष्ट होता है; येन=जिससे; संयम:=संयम दशा; येन=जिससे; जन्यते=प्रकट होता है। अनेक-भव-सम्बद्ध-कर्म-कानन-पावक:=अनेक भवों के बँधे हुए कर्मरूपी वन को भस्म करने के लिए अग्नि-समान; उपवास:=उपवास; स:=वह; कर्तव्या=करने-योग्य है; नीरागी-भूत-चेतसा=राग से रहित हुए मन द्वारा।

अन्वय : येन राग: निवार्यते येन धर्म: विवर्ध्यते येन पापं निहन्यते येन संयम: जन्यते; स: अनेक-भव-सम्बद्ध-कर्म-कानन-पावक: उपवास: नीरागी-भूत-चेतसा कर्तव्य:।

वचनिका : जिससे राग रोका जाता है, धर्म बड़ता है, पाप नष्ट होता है, संयम उत्पन्न होता है; वह, अनेक भवों के बँधे हुए कर्मरूपी वन को अग्नि के समान उपवास, राग-रहित हुए चित्तवाले व्यक्ति द्वारा करना योग्य है।।११७-११८/११३६-११३७।।

अब, इस पद्य द्वारा उपवास का लक्षण बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यत:।**
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासो विधीयते।।११९/११३८।।

अपने कार्य से हटतीं सब इंद्रिय जिसमें रहें।
आत्मा के निकट आकर उसे उपवास बुध कहें।।११९/११३८।।

शब्दशः अर्थ : उप+इत्य=निकट आकर; सर्वाणि=सब; निवृत्तानि=हटे हुए; स्व-कार्यत:=अपने काम से; वसन्ति=रहते हैं; यत्र=जिसमें; स:=वह; प्राज्ञै:=विशिष्ट-ज्ञानिओं द्वारा; उपवास:=उपवास; विधीयते=कहा जाता है।

अन्वय : यत्र स्व-कार्यत: निवृत्तानि सर्वाणि अक्षाणि उपेत्य वसन्ति प्राज्ञै: स: उपवास: विधीयते।

वचनिका : जिसमें स्पर्शादि विषयों में प्रवृत्तिरूप अपने-अपने कार्य से हटी हुईं स्पर्शनादि सभी इंद्रियाँ आत्मा के निकट प्राप्त होकर/आकर बसती हैं; विशिष्ट-ज्ञानिओं द्वारा वह उपवास कहा गया है।।११९/११३८।।

अब, इस पद्य द्वारा उपवास के भेद बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **स सार्वकालिको जैनैरेकोऽन्योऽसार्वकालिक:।**
द्विविध: कथ्यते शक्तो हृषीकाश्व-नियन्त्रणे।।१२०/११३९।।

समर्थ इंद्रिय घोड़ों को रोकने उपवास वह।
सार्वकालिक नियत कालिक जैनों ने कहा द्विविध।।१२०/११३९।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह; सार्व-कालिक:=मरण पर्यंत; जैनै:=जैनिओं द्वारा; एक:=एक/पहला; अन्य:=दूसरा; अ-सार्व-कालिक:=नियत समयवाला; द्वि-विध:=दो भेदवाला; कथ्यते=कहा गया है; शक्त:=समर्थ; हृषीक+अश्व-नियन्त्रणे=इंद्रियरूपी घोड़ों को नियंत्रित करने/रोकने में।

अन्वय : हृषीक-अश्व-नियन्त्रणे शक्त: स: एक: सार्व-कालिक: अन्य: अ-सार्व-कालिक: द्विविध: जैनै: कथ्यते।

वचनिका : इंद्रियरूपी घोड़ों को रोकने में समर्थ वह उपवास एक/पहला यावज्जीव धारणारूप सार्व-कालिक और दूसरा काल के प्रमाणरूप अ-सार्व-कालिक—इसप्रकार दो भेदवाला, जैनिओं द्वारा कहा गया है।।१२०/११३९।।

अब, इस पद्य द्वारा उनके स्वामी बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तत्राद्यो म्रियमाणस्य वर्तमानस्य चापर:।**
कालानुसारत: कार्यं क्रियमाणं महाफलम्।।१२१/११४०।।

उनमें मरण निकटवर्ती के पहला वर्तमान का।
दूसरा कालानुसार महाफलमय किया गया।।१२१/११४०।।

शब्दश: अर्थ : तत्र=उनमें से; आद्य:=पहला; म्रियमाणस्य=मरनेवाले का; वर्तमानस्य=वर्तमान का; च=और; अपर:=दूसरा; काल+अनुसारत:=समय के अनुसार से; कार्यं=किया जाता है; क्रियमाणं=किया गया; महा-फलं=विशाल फलरूप।

अन्वय : पद्य अन्वयरूप है।

वचनिका : वहाँ पहला सार्व-कालिक उपवास तो मरण के निकटवर्ती संन्यास धारण करनेवाले के होता है और दूसरा असार्व-कालिक उपवास वर्तमान व्यक्ति के चतुर्दशी आदि पर्व-काल में मर्यादारूप होता है। काल के अनुसार किया गया कार्य महा-फलरूप होता है।।१२१/११४०।।

अब, इस पद्य द्वारा दूसरे के भेद बताकर उसे करने हेतु प्रेरित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **वर्तमानो मतस्त्रेधा स वर्यो मध्यमोऽधम:।**
कर्तव्य: कर्मनाशाय निजशक्त्यनुगूहकै:।।१२२/११४१।।

उत्तम मध्यम अधमरूप नियतकालिक तीन विध।
कर्म-क्षय हेतु करना स्व-शक्ति नहिं छिपाकर।।१२२/११४१।।

शब्दश: अर्थ : वर्तमान:=नियत-कालिक; मत:=माना है; त्रेधा=तीन प्रकारवाला; स:=वह; वर्य:=उत्तम; मध्यम:=मध्यम; अधम:=जघन्य; कर्तव्य:=करना चाहिए; कर्म-नाशाय=कर्मों का नाश करने के लिए; निज-शक्ति+अनुगूहकै:=अपनी शक्ति को नहीं छिपानेवालों द्वारा।

अन्वय : स: वर्तमान: वर्य: मध्यम: अधम: त्रेधा मत:; निज-शक्ति-अनुगूहकै: कर्म-नाशाय कर्तव्य:।

वचनिका : वह काल का नियमरूप वर्तमान उपवास; उत्तम, मध्यम, अधम—इन तीन प्रकारवाला कहा है। अपनी शक्ति को नहीं छिपानेवाले व्यक्तिओं द्वारा वह कर्म-नाश के लिए करना योग्य है।

भावार्थ : शक्ति-अनुसार उपवास, कर्म की निर्जरा के लिए ही करना योग्य है; ख्याति, लाभ, पूजादि के लिए नहीं करना—ऐसा अभिप्राय है।।१२२/११४१।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा उन तीनों का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **चतुर्णां यत्र भुक्तीनां त्यागो वर्यश्चतुर्विध:।**
उपवास: सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मत:।।१२३/११४२।।
भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो[*] गदितोऽधम:।
उपवासस्त्रिधाप्येष: शक्तित्रितय-सूचक:।।१२४/११४३।।

चारों आहारों का त्याग उत्तम चतुर्विध कहा।
मात्र पानी ले उपवास त्रिविध मध्यम जानना।।१२३/११४२।।
दो बेला भोजन त्याग त्रिविध अधम है कहा।
त्रितय शक्ति-सूचक यह त्रिधा उपवास जानना।।१२४/११४३।।

शब्दश: अर्थ : चतुर्णां=चारों का; तत्र-वहाँ; भुक्तीनां=भोजनों के; त्यागे=छोड़ने में; वर्य: =उत्तम; चतुर्विध:=चार प्रकारवाला; उपवास:=उपवास; स-पानीय:=पानी से सहित; त्रिविध:=तीन प्रकारवाला; मध्यम:=मध्यम; मत:=माना है।

भुक्ति-द्वय-परित्यागे=दो प्रकार के अथवा दो बेला भोजन के परित्याग में; त्रि-विध:= तीन प्रकार-युक्त/द्विविध:=दो प्रकारवाला; गदित:=कहा है; अधम:=जघन्य; उपवास:= उपवास; त्रि-धा=तीन प्रकारवाला; अपि=भी; एष:=यह; शक्ति-त्रितय-सूचक:=तीन प्रकार की शक्ति की सूचना देनेवाला।

** द्विविधो —इति पाठान्तरम्।*

अन्वय : तत्र चतुर्णां भुक्तीनां त्यागे चतु: विध: वर्य:, स-पानीय: उपवास: त्रिविध: मध्यम: मत:। भुक्ति-द्वय-परित्यागे त्रिविध:/द्विविध: अधम: गदित:, एष: त्रिधा अपि उपवास: शक्ति-त्रितय-सूचक:।

वचनिका : वहाँ चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, चतुर्विध नामक उत्तम उपवास है। पानी-सहित/मात्र पानी लेकर तीन प्रकार के भोजन का त्याग करना, त्रिविध नामक मध्यम उपवास है। दो बेलाओं में भोजन का त्याग करना त्रिविध नामक अधम; अथवा खाद्य और स्वाद्य—दो प्रकार के आहार का त्याग कर लेह्य और पेय रूप दो प्रकार का आहार ग्रहण करना, द्विविध नामक अधम उपवास है। ये तीन प्रकार के उपवास उत्तम, मध्यम, जघन्य—इन तीन प्रकार की शक्तिओं के सूचक हैं। जिसमें जिस प्रकार की शक्ति है; उसे उसप्रकार का उपवास ग्रहण करना, योग्य है।

भावार्थ : धारणा और पारणा में एक-एक बार भोजन कर चार बेला में चारों प्रकार के आहार का त्याग करना, चतुर्विध नामक उत्तम उपवास है। धारणा और पारणा में एक-एक भुक्ति/एक-एक बार भोजन लेकर उपवास में जल लेना, त्रिविध नामक मध्यम उपवास है। धारणा और पारणा में अनेक बार भोजन कर उपवास के दिन जल लेना, त्रिविध नामक अधम उपवास है।

एक दिन में भोजन की दो बेला होती हैं। उन दोनों में भोजन का त्याग करने से दो भोजन का त्याग हुआ; अत: इसे द्विविध जघन्य उपवास भी कहते हैं—ऐसा जानना।।१२३-१२४/ ११४२-११४३।।

अब, इन आठ पद्यों द्वारा उपवास करने का विधान वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **प्रहर-द्वितये भुक्त्वा समेत्याचार्य-सन्निधिम्।**
वन्दित्वा भक्तित: कृत्वा कायोत्सर्गं यथाक्रमम्।।१२५/११४४।।
पञ्चाङ्ग-प्रणतिं कृत्वा गृहीत्वा सूरि-वाक्यत:।
उपवासं पुन: कृत्वा कायोत्सर्गं विधानत:।।१२६/११४५।।
आचार्यं स्तवत: स्तुत्वा वन्दित्वा गणनायकम्।
दिनद्वयं ततो नेयं स्वाध्यायासक्त-चेतसा।।१२७/११४६।।
विधाय साक्षिणं सूरिं गृहमाण: पटीयसा।
सम्पद्यतेतरामेष व्यवहार इव स्थिर:।।१२८/११४७।।

सर्वभोगोपभोगानां कर्तव्या विरतिस्त्रिधा।
शयितव्यं मही-पृष्ठे प्राषुके कृत-सन्स्तरे।।१२९/११४८।।
विहाय सर्वमारम्भमसंयम-विवर्धकम्।
विरक्त-चेतसा स्थेयं यतिनेव पटीयसा।।१३०/११४९।।
तृतीये वासरे कृत्वा सर्वमावश्यकादिकम्।
भोजयित्वाऽतिथिं भक्त्या भोक्तव्यं गृहमेधिना।।१३१/११५०।।
उपवास: कृतोऽनेन विधानेन विरागिणा।
हिनस्त्येकोऽपि रेपान्सि तमान्सीव दिवाकर:।।१३२/११५१।।

द्वितीय प्रहर में भोजन कर पास जा आचार्य के।
भक्ति से कर वंदन यथोक्त कायोत्सर्ग करे।।१२५/११४४।।
पंचांग नमन कर ले वचन से आचार्य के।
उपवास को पुन: करके कायोत्सर्ग विधान से।।१२६/११४५।।
स्तव से स्तुति कर गण-नायक आचार्य को।
नम स्वाध्याय में आसक्त मन से दो दिन बिता लो।।१२७/११४६।।
निपुण द्वारा सूरी की साक्षी से ग्रहण किया।
व्यवहार-वत् विशेष स्थिर उपवासी स्थिरता।।१२८/११४७।।
सभी भोगोपभोगों का त्रय-विध त्याग उचित करें।
प्राषुक भूतल पर प्राषुक संस्तर पर ही शयन करें।।१२९/११४८।।
असंयम वर्धक सब ही आरंभों को छोड़कर।
मुनि-वत् विरक्त मनवाला स्थिर रहता बुद्धिमान।।१३०/११४९।।
तीसरे दिन में कर सब आवश्यक आदि क्रिया।
गृही भोजन करे अतिथि भक्ति से भोजन करा।।१३१/११५०।।
उपवास किया विधि से विरागी ने एक भी।
सूर्य तम-सम करता नष्ट नियम से सब पाप ही।।१३२/११५१।।

शब्दश: अर्थ : प्रहर-द्वितये=दूसरे प्रहर में; भुक्त्वा=भोजनकर; सं+एति=भली-भाँति जाता है; आचार्य-सन्निधिं=आचार्य के निकट; वन्दित्वा=नमनकर; भक्तित:=भक्ति से; कृत्वा=कर; कायोत्सर्गं=कायोत्सर्ग को; यथा-क्रमं=शास्त्रानुसार। पञ्चाङ्ग-प्रणतिं=पंचांग नमन को; कृत्वा=करके; गृहीत्वा=ग्रहणकर; सूरि-वाक्यत:=आचार्य के वचन से; उपवासं=उपवास को; पुन:=

फिर से; कृत्वा=करके; कायोत्सर्गं=कायोत्सर्ग को; विधानत:=विधान से।

आचार्यं=आचार्य को; स्तवत:=स्तव से; स्तुत्वा=स्तुतिकर; वन्दित्वा=वंदना कर; गण-नायकं=संघ के नायक को; दिन-द्वयं=दो दिन को; तत:=उससे; नेयं=व्यतीत करे; स्वाध्याय+आसक्त-चेतसा=स्वाध्याय में आसक्त मन द्वारा। विधाय=लेकर; साक्षिणं=साक्षी बना; सूरिं=आचार्य को; गृहमाण:=स्वीकार किया; पटीयसा=प्रवीण द्वारा; सम्पद्यतेतरां= विशेषता पूर्वक स्थिरता को प्राप्त होता है; एष:=यह; व्यवहार:=व्यवहार; इव=समान; स्थिर:=निश्चल। सर्व-भोग+उपभोगानां=सभी भोग और उपभोगों के; कर्तव्या=करना चाहिए; विरति:=त्याग; त्रिधा=तीन प्रकार से; शयितव्यं=सोना चाहिए; मही-पृष्ठे=भू-तल पर; प्राषुके=निर्दोष पर; कृत-सन्स्तरे=किए गए संस्तर/संथारे पर।

विहाय=छोड़कर; सर्वं=सभी; आरम्भं=आरंभ को; असंयम-विवर्धकं=असंयम को बड़ानेवाले को; विरक्त-चेतसा=विरक्त मन द्वारा; स्थेयं=स्थिर रहना चाहिए; यतिना=मुनि द्वारा; पटीयसा=प्रवीण द्वारा। तृतीये=तीसरे; वासरे=दिन में; कृत्वा=करके; सर्वं=सभी को; आवश्यक+आदिकं=आवश्यक आदि को; भोजयित्वा=भोजन करा; अतिथिं=साधक को; भक्त्या=भक्ति से; भोक्तव्यं=भोजन करना चाहिए; गृहमेधिना=गृहस्थ द्वारा।

उपवास:=उपवास; कृत:=किया गया; अनेन=इस; विधानेन=विधान द्वारा; विरागिणा= विरागी द्वारा; हिनस्ति=नष्ट किया जाता है; एक:=एक; अपि=भी; रेपान्सि=पाप; तमान्सि= अंधकार; इव=समान; दिवाकर:=सूर्य।

अन्वय : प्रहर-द्वितये भुक्त्वा आचार्य-सन्निधिं समेत्य भक्तित: वन्दित्वा यथा-क्रमं कायोत्सर्गं कृत्वा पञ्चाङ्ग-प्रणतिं कृत्वा सूरि-वाक्यत: उपवासं गृहीत्वा पुन: विधानत: कायोत्सर्गं कृत्वा गण-नायकं आचार्यं स्तवत: स्तुत्वा वन्दित्वा तत: स्वाध्याय-आसक्त-चेतसा दिन-द्वयं नेयम्। व्यवहार: स्थिर: इव पटीयसा सूरिं साक्षिणं विधाय गृहमाण: एष: सम्पद्यतेतराम्।

सर्व-भोग-उपभोगानां विरति: त्रिधा कर्तव्या कृतसन्स्तरे प्राषुके मही-पृष्ठे शयितव्यम्।

असंयम-विवर्धकं सर्वं आरम्भं विहाय पटीयसा विरक्त-चेतसा यतिना इव स्थेयम्।

तृतीये वासरे सर्वं आवश्क-आदिकं कृत्वा अतिथिं भक्त्या भोजयित्वा गृहमेधिना भोक्तव्यम्। विरागिणा अनेन विधानेन कृत: एक: अपि उपवास: दिनकर: तमान्सि इव रेपान्सि हिनस्ति।

वचनिका : धारणा के दिन दूसरे प्रहर में भोजनकर आचार्य के निकट जाकर भक्ति से वंदना कर आगम के अनुसार कायोत्सर्गकर पंचांग नमनकर आचार्य के वचन से उपवास को ग्रहण कर पुन: विधान से कायोत्सर्गकर गण-नायक आचार्य की स्तवन से स्तुतिकर, वंदनाकर

उसके बाद स्वाध्याय में आसक्त मन द्वारा दो दिन अर्थात् सोलह प्रहर व्यतीत करना, योग्य है; भाव यह है कि सोलह प्रहर स्वाध्याय में लीन रहे।

जैसे—बड़ों को साक्षी बनाकर किया गया व्यवहार कार्य, स्थिर होता है; उसीप्रकार बुद्धिमान द्वारा आचार्य की साक्षी पूर्वक धारण किया उपवास, अतिशयरूप से स्थिर निश्चल रहता है। उपवास में मन, वचन, काय से सभी भोग और उपभोगों का त्याग करना योग्य है और तृणादि द्वारा किए गए संस्तरवाले प्राषुक भूमि-तल पर सोना योग्य है।

असंयम को बड़ानेवाले सभी आरंभों को छोड़कर मुनि के समान विरक्त-चित्त हो बुद्धिमान द्वारा स्थित होना योग्य है। तीसरे दिन सभी आवश्यक क्रियाएं करके अतिथि को भक्ति से भोजन कराके श्रावक द्वारा भोजन करना योग्य है। जैसे—सूर्य अंधकार का नाश कर देता है; उसीप्रकार इस विधान से विरागी पुरुष द्वारा किया गया एक भी उपवास, पाप को नष्ट कर देता है।।१२५-१३२/११४४-११५१।।

अब, इस पद्य द्वारा उपवास की सामर्थ्य प्रदर्शित है—

अनुष्टुभ् : **उपवासं विना शक्तो न परः स्मर-मर्दने।**
सिंहेनैव विदार्यन्ते सिन्धुरा मदमन्थराः।।१३३/११५२।।

काम-मर्दन में उपवास विना अन्य नहीं समर्थ।
सिंह से हि विदारित हों मदोन्मत्त सभी गज।।१३३/११५२।।

शब्दशः अर्थ : उपवासं=उपवास को; विना=छोड़कर; शक्तः=समर्थ; न=नहीं; परः=दूसरा; स्मर-मर्दने=काम का नाश करने में; सिंहेन=सिंह द्वारा; इव=समान; विदार्यन्ते=विदारित किए जाते हैं; सिन्धुराः=हाथी; मद-मन्थराः=मदोन्मत्त।

अन्वय : मद-मन्थराः सिन्धुराः सिंहेन विदार्यन्ते इव उपवासं विना स्मर-मर्दने परः न शक्तः।

वचनिका : जैसे—मदोन्मत्त हाथी, सिंह द्वारा विदारित किए जाते हैं; उसीप्रकार उपवास के विना काम को नष्ट करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है।।१३३/११५२।।

उपवास से पाप नष्ट होने को अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

अनुष्टुभ् : **उपवासेन सन्तप्ते क्षिप्रं नश्यति पातकम्।**
ग्रीष्मार्काध्यासिते तोयं कियत्तिष्ठति भूतले*।।१३४/११५३।।

उपवास से संतप्त में अघ शीघ्र नष्ट है।
ग्रीष्म रवि व्याप्त भूतल पर जल कब तक रह सके?।।१३४/११५३।।

शब्दशः अर्थ : उपवासेन=उपवास द्वारा; सन्तप्ते=प्रतापवान होने पर; क्षिप्रं=शीघ्र; नश्यति=नष्ट

** पल्वले —इति पाठान्तरम्।*

हो जाता है; पातकं=पाप; ग्रीष्म+अर्क+अध्यासिते=ग्रीष्म-कालीन सूर्य से व्याप्त पर; तोयं =जल; कियत्=कितना; तिष्ठति=रहता है; भूतले/पल्वले=पृथ्वी तल पर।

अन्वय : उपवासेन सन्तप्ते पातकं क्षिप्रं नश्यति ग्रीष्म-अर्क-अध्यासिते भूतले/पल्वले तोयं कियत् तिष्ठति?

वचनिका : उपवास से प्रतापवान हुए व्यक्ति में पाप शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। ग्रीष्म-कालीन सूर्य से व्याप्त पृथ्वी-तल पर जल कितना/कब तक रह सकता है? शीघ्र ही सूख जाता है।।१३४/११५३।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: अन्य प्रकार से उपवास के भेद प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **नित्यो नैमित्तिकश्चेति द्वेधाऽसौ कथितो बुधैः।**
प्रोषधे स मतो नित्यो बहुधाऽन्यो व्यवस्थितः।।१३५/११५४।।

नित्य नैमित्तिक दो भेद विज्ञों ने उसके कहे।
प्रोषध में माना नित्य अन्य के बहु भेद हैं।।१३५/११५४।।

शब्दशः अर्थ : नित्यः=नित्य/सदा; नैमित्तिकः=किसी कारण-वश होनेवाला; च=और; इति=इसप्रकार; द्वेधा=दो प्रकारवाला; असौ=वह; कथितः=कहा गया है; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; प्रोषधे=प्रोषध में; सः=वह; मतः=माना है; नित्यः=नित्य; बहुधा=अनेक प्रकारवाला; अन्यः=दूसरा; व्यवस्थितः=व्यवस्थित है।

अन्वय : असौ नित्यः च नैमित्तिकः इति द्वेधा बुधैः कथितः सः प्रोषधे नित्यः मतः अन्यः बहुधा व्यवस्थितः।

वचनिका : वह उपवास नित्य और नैमित्तिक—इसप्रकार दो भेदवाला है—ऐसा ज्ञानिओं ने कहा है। अष्टमी-चतुर्दशी पर्वरूप प्रोषध में वह नित्य कहा है और दूसरा नैमित्तिक अनेक प्रकार व्यवस्थित है।।१३५/११५४।।

अब, इस पद्य द्वारा नैमित्तिक उपवास को स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **उपवासाः विधीयन्ते ये पञ्चम्यादि-गोचराः।**
उक्ता नैमित्तिकाः सर्वे ते कर्म-क्षपणक्षमाः।।१३६/११५५।।

प्रचलित पंचमी आदि में उपवास जो करें।
कर्म-क्षय-सक्षम वे सब नैमित्तिक कहे गए।।१३६/११५५।।

शब्दशः अर्थ : उपवासाः=उपवास; विधीयन्ते=किए जाते हैं; ये=जो; पञ्चमी+आदि-गोचराः=पंचमी आदि तिथिओं के प्रचलित; उक्ताः=कहे हैं; नैमित्तिकाः=नैमित्तिक; सर्वे=सब; ते=वे; कर्म-क्षपण-क्षमाः=कर्म का क्षय करने में समर्थ।

अन्वय : पंचमी-आदि-गोचरा: ये उपवासा: विधीयन्ते कर्म-क्षपण-क्षमा: ते सर्वे नैमित्तिका: उक्ता:।

वचनिका : पंचमी आदि में जो उपवास किए जाते हैं; कर्मों का नाश करने में समर्थ वे सभी नैमित्तिक कहे हैं।।१३६/११५५।।

अब, इस पद्य द्वारा उपवास का फल प्ररूपित है—

नर्कुटक :

गुरुतर-कर्मजाल-सलिलं भव-भक्ष-करं,
बहुपरिणाम-मेघ-निवह-प्रभवं[1] प्रसभम्।
क्षपयति सर्वमुग्र-मुपवास-पयोज-पति-
र्विरचित-सम्वृते[2] र्निखिल-देहितडागतते:।।१३७/११५६।।

बहुत बड़ा कर्म-जाल जल भव तरु करे,
बहुत परिणाम बादलों से उत्पन्न है।
सभी संसारी सर समूह में भरे रचे,
संवर के सर्व उग्र उपवास रवि सोख ले।।१३७/११५६।।

शब्दश: अर्थ : गुरु-तर-कर्म-जाल-सलिलं=बहुत बड़े कर्म-जालरूपी जल को; भव-वृक्ष-करं=संसाररूपी वृक्ष को करनेवाले; बहु-परिणाम-मेघ-निवह-प्रभवं/प्रसवं=अनेक प्रकार के परिणामरूपी बादलों के समूह से उत्पन्न; प्रसभं=बहुत अधिक वेगवाले को; क्षपयति=नष्टकर/सुखा देता है; सर्वं=सबको; उग्रं=प्रतापवान; उपवास-पयोज-पति:=उपवासरूपी सूर्य; विरचित-सम्वृते:/सम्वृति:=संवर को रचनेवाले का; निखिल-देहि-तडाग-तते:=सभी संसारिओंरूपी तालाबों की पंक्तिओं में भरे।

अन्वय : निखिल-देहि-तडाग-तते: भव-वृक्ष-करं बहु-परिणाम-मेघ-निवह-प्रभवं/प्रसवं प्रसभं सर्वं गुरु-तर-कर्म-जाल-सलिलं विरचित-सम्वृते:/सम्वृति: उग्रं उपवास-पयोजपति: क्षपयति।

वचनिका : सभी संसारी प्राणिओंरूपी तालाबों की पंक्ति में भरे हुए, संसाररूपी वृक्ष को उत्पन्न करनेवाले, अनेक प्रकार के रागादि भावोंरूपी मेघों के समूह से उत्पन्न, बहुत वेगवाले, बहुत अधिक ज्ञानावरणादि कर्मों के जालरूपी समस्त जल को संवर की रचना-युक्त का उपवासरूपी उग्र सूर्य, बल पूर्वक सुखा देता है।

भावार्थ : संवर-सहित उपवास से कर्मों की निर्जरा अधिक होती है—ऐसा जानना।।१३७/११५६।।

---

१. प्रसवं; २. सम्वृति —इति पाठान्तरम्।

अब, इस पद्य द्वारा उपवास का फल कहने में असमर्थता प्ररूपित है—

नर्कुटक : **जनयति यद्विधूय विपदं रभसोपचितिं[१],**
घटयति सम्पदं त्रिदश-मानववर्गमताम्[२]।
विधिविहितस्य तस्य पुरुषः श्रुतकेवलिनो,
वदति फलंन कोऽप्यनशनस्य परो भुवने।।१३८/११५७।।

वेग से एकत्रित विपत्तिओं को नष्टकर,
सुर नर-समूह मानित संपत्ति को करे सतत।
विधि पूर्वक कृत उस उपवास का फल,
श्रुतकेवलि विना जग में कह सके कौन?।।१३८/११५७।।

शब्दशः अर्थ : जनयति=उत्पन्न करता है; यत्=जो; विधूय=नष्टकर; विपदं=विपदा को; रभसा=वेग से; उपचितिं=एकत्रित हुई को/अपचितिं=विघटित को; घटयति=घटित करता है; सम्पदं=संपदा को; त्रिदश-मानव-वर्ग-मतां/नुतां=देव, मनुष्यों के समूह से मान्य/पूजित को; विधि-विहितस्य=विधि पूर्वक किए का; तस्य=उसका; पुरुषः=व्यक्ति; श्रुत-केवलिनः=श्रुत-केवली से; वदति=कहता है; फलं=फल को; न=नहीं; कः=कौन; अपि=भी; अन्+अशनस्य=उपवास का; परः=दूसरा; भुवने=लोक में।

अन्वय : यत् रभसा उपचितिं/अपचितिं विपदं विधूय जनयति त्रिदश-मानव-वर्ग-मतां/नुतां सम्पदं घटयति विधि-विहितस्य तस्य अनशनस्य फलं श्रुत-केवलिनः परः कः अपि पुरुषः भुवने न वदति।

वचनिका : जो उपवास, वेग से एकत्रित/विघटित विपदा को नष्टकर बल पूर्वक देव और मनुष्यों के समूह से मान्य/पूजित संपदा को रचता है; विधि पूर्वक किए गए उस उपवास के फल को श्रुत-केवली के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुरुष लोक में नहीं कह सकता है।।१३८/११५७।।

अब, इस पद्य द्वारा समापनरूप में चारों व्रतों के पालन का फल प्ररूपित है—

नर्कुटक : **रचयति यस्त्रिधा व्रतमिदं महितं महिते-**
रमित-गतिश्चतुर्विधमनन्य-मनाः पुरुषः।
भवशतसञ्चितं कलिलमेष निहत्य घनं*
शिवपदमेति शाश्वतमपास्त-समस्तमलम्।।१३९/११५८।।

---

*१. रभसाऽपचितिं; २. नुताम्; * पुनः—इति पाठान्तरम्।*

महा पुरुषों से पूज्य चतुर्विध इस व्रत को,
अमितगति एकाग्रमनी त्रिधा धारण करे।
सैकड़ों भव संचित सघन पाप नाश वह,
शाश्वत निर्मल मोक्ष पद प्राप्त करे।।१३९/११५८।।

शब्दश: अर्थ : रचयति=धारण करता है; य:=जो; त्रिधा=तीन प्रकार से; व्रतं=व्रत को; इदं =इस; महितं=पूजित; महितै:=महा-पुरुषों द्वारा; अमित-गति:=असीम ज्ञानवाला; चतु: विधं=चार प्रकारवाले; अनन्य-मना:=एकाग्र मनवाला; पुरुष:=पुरुष; भव-शत-सञ्चितं= सैकड़ों भवों से एकत्रित को; कलिलं=पाप को; एष:=यह; निहत्य=नष्टकर; घनं=दृढ को/ पुन:=फिर; शिव-पदं=मोक्ष पद को; एति=प्राप्त होता है; शाश्वतं=स्थाई; अपास्त-समस्त-मलं=सभी मलों से रहित को।

अन्वय : अमितगति: अनन्य-मना: य: पुरुष: महितै: महितं चतु:-विधं इदं व्रतं त्रेधा रचयति पुन: एष: भव-शत-सञ्चितं घनं कलिलं निहत्य शाश्वतं अपास्त-समस्त-मलं शिव पदं एति।

वचनिका : अपार ज्ञानवाला, एकाग्र मन-युक्त जो पुरुष, महा-पुरुषों से पूजित, चार प्रकारवाले इस व्रत को मन, वचन, कायरूप तीन प्रकार से करता है; यह सैकड़ों/अनेकों भवों से संचित, सघन पाप को नष्टकर, शाश्वत, समस्त कर्म-मल से रहित/निर्मल शिव-पद को प्राप्त होता है।।१३९/११५८।।

दोहा : **मन वच काय विसुद्ध करि जो धारै व्रत सुद्ध।**
नासि कर्म-मल, मोक्छ-पद पावै सो अविरुद्ध।।

अर्थ : मन, वचन, काय को विशुद्ध करके जो शुद्ध व्रत धारण करता है; वह कर्म-मल का नाश करके अविरुद्ध मोक्ष-पद को प्राप्त होता है।

इसप्रकार श्री अमितगति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में द्वादश परिच्छेद समाप्त हुआ।।१२।।

त्रयोदश परिच्छेद

यहाँ सर्व-प्रथम इन दो पद्यों द्वारा उत्तम श्रावक को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **शशाङ्कामलसम्यक्त्वो व्रताभरणभूषितः।**
शीलरत्न-महाखानिः पवित्र-गुण-सागरः।।१/११५९।।
ऋजु- भूत- मनोबुद्धिर्गुरु-शुश्रूषणोद्यतः।
जिन-प्रवचनाभिज्ञः श्रावकः सप्तधोत्तमः।।२/११६०।।

शशि-सम शुद्ध सम्यक्त्व व्रत आभूषण सुशोभित।
शीलमणि की बड़ी खान पावन गुण का सागर।।१/११५९।।
सरल मन बुद्धि-युक्त गुरु-सेवा में उद्यमी।
जिन-प्रवचन ज्ञाता उत्तम श्रावक सात भेद ही।।२/११६०।।

शब्दशः अर्थ : शशाङ्क+अमल-सम्यक्त्वः=चंद्रमा के समान निर्मल सम्यक्त्ववाला; व्रत+आभरण-भूषितः=व्रतरूपी आभूषण से सुशोभित; शील-रत्न-महा-खानिः=शीलरूपी रत्नों की विशाल खदान; पवित्र-गुण-सागरः=पवित्र गुणों का समुद्र।

ऋजुभूत-मनः-बुद्धिः=सरल मन और बुद्धिवाला; गुरु-शुश्रूषण+उद्यतः=गुरु की सेवा हेतु प्रयत्न-शील; जिन-प्रवचन+अभिज्ञः=जिनदेव के प्रवचन को जाननेवाला; श्रावकः=साधक गृहस्थ; सप्त-धा=सात प्रकारवाला; उत्तमः=सर्व-श्रेष्ठ।

अन्वय : 'उत्तमः श्रावकः सप्तधा'—अंत में इतने परिवर्तन पूर्वक शेष सभी अन्वयरूप है।

वचनिका : चंद्रमा के समान निर्मल/शंका आदि दोषों से रहित सम्यक्त्व का धारक, व्रतरूपी आभूषणों से शोभित, शीलरूपी रत्नों को उत्पन्न करनेवाली विशाल खदान, निर्मल गुणों का समुद्र; सरल मन और बुद्धिवाला, गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने में प्रयत्न-शील, जिन-प्रवचन को जाननेवाला, उत्तम श्रावक सात भेदवाला जानना।।१-२/११५९-११६०।।

अब, सम्यग्दर्शन के रहने-योग्य भाव-भूमि इन तीन पद्यों द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **निसर्गज-रुचौ जन्तावेकान्तरुचिराजिते।**
असहाये महाप्राज्ञे सदायतन सेवके।।३/११६१।।
कृतानायतन-त्यागे परदृष्ट्यविमोहिते।
शासनासादनाहीने जिन-शासनबृंहके।।४/११६२।।
सोपानं सिद्धिसौधस्य कल्मषक्षपणक्षमम्।
ज्ञान-चारित्रयोर्हेतुः स्थिरं तिष्ठति दर्शनम्।।५/११६३।।

निसर्गज प्रतीति में आत्म में दृढ रुचियुत।
सहाय-विन महा ज्ञानी आयतन-सेवी सतत।।३/११६१।।
अनायतन का त्यागी अन्य-मत नहिं विमोहित।
शासन विराधना-विरहित जिन-शासन की वृद्धि युत।।४/११६२।।
मोक्ष-महल-सोपान कर्म-नाश समर्थ है।
ज्ञान-चारित्र का कारण दर्शन स्थिर इन रहे।।५/११६३।।

शब्दश: अर्थ : निसर्गज-रुचौ=स्वभाव से उत्पन्न रुचि में; जन्तौ=प्राणी में; एकान्त-रुचि-राजिते=दृढ रुचि से शोभित में; असहाये=सहायता से रहित में; महा-प्राज्ञे=महा ज्ञानवान में; सदा+आयतन-सेवके=आयतन की सतत सेवा करनेवाले में।

कृत+अनायतन-त्यागे=अनायतन का त्याग करनेवाले में; पर-दृष्टि+अविमोहिते=अन्य -मतिओं पर आकर्षित नहीं होनेवाले में; शासन+आसादना-हीने=जिन-शासन की विराधना से रहित में; जिन-शासन-बृंहके=जिन-शासन की वृद्धि करनेवाले में।

सोपानं=सीड़ी; सिद्धि-सौधस्य=मोक्ष-महल का; कल्मष-क्षपण-क्षमं=कर्मों का क्षय करने में समर्थ; ज्ञान-चारित्रयो:=ज्ञान और चारित्र का; हेतु:=कारण; स्थिरं=निश्चल; तिष्ठति=रहता है; दर्शनं=सम्यग्दर्शन।

अन्वय : प्रारंभिक दो पद्य अन्वय में ही हैं। तीसरे में थोड़ा-सा परिवर्तन करना है; जो इस प्रकार है—सिद्धि-सौधस्य सोपानं कल्मष... हेतु: दर्शनं स्थिरं तिष्ठति।

वचनिका : तत्त्वों की स्वभाव-जनित श्रद्धावान, आत्म-प्रतीति पर एकांत दृढ रुचि से विराजमान/निश्चय प्रतीति से शोभित, अन्य की सहायता से रहित/दृढ आत्म-विश्वासी, महा बुद्धिमान, अरहंतादिरूप उत्तम धर्म-स्थानों के सदा सेवक, कुदेवादिरूप अनायतनों के त्यागी, मिथ्या-मतिओं से विमोहित नहीं होनेवाले, जिन-शासन की विराधना से रहित, जिन-शासन को बड़ानेवाले में; मोक्षरूपी महल के लिए सीड़ी-समान, कर्मों का क्षय करने में समर्थ, ज्ञान और चारित्र का कारणभूत सम्यग्दर्शन स्थिर/निश्चल रहता है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान और चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नाम पाते हैं—ऐसा जानना।।३-५/११६१-११६३।।

सम्यग्दर्शन कब नष्ट नहीं होता है? यह अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **न निरस्यति सम्यक्त्वं जिन-शासन-भावित:।**
गृहीतं वह्नि-सन्तप्तो लोह-पिण्ड इवोदकम्।।६/११६४।।

जिन-शासन-भावित का प्रकट समकित नष्ट नहिं।
आग-संतप्त लोहा-पिंड-वत् जल को छोड़े नहीं।।६/११६४।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; निरस्यति=नष्ट होता है; सम्यक्त्वं=सम्यक्त्व; जिन-शासन-भावितः=जिन-शासन की भावना करनेवाले का; गृहीतं=ग्रहण हुआ; वह्नि-सन्तप्तः=अग्नि से तपा हुआ; लोह-पिण्डः=लोहे का पिंड; इव=समान; उदकं=जल को।

अन्वय : वह्नि-सन्तप्तः लोह-पिण्डः उदकं इव जिन-शासन-भावितः गृहीतं सम्यक्त्वं न निरस्यति।

वचनिका : जैसे—अग्नि से संतप्त लोह-पिंड, जल को नहीं छोड़ता है; उसीप्रकार जिन-शासन की भली-भाँति भावना करनेवाले व्यक्ति का ग्रहण किया सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता है।।६/११६४।।

अब, इस पद्य द्वारा सम्यक्त्वी की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपः सुविनयं परम्।**
करोति परम-श्रद्धस्तितीर्षुर्भव-वारिधिम्।।७/११६५।।
भवोदधि तिरने का इच्छुक दृढ श्रद्धान-युत।
दर्शन ज्ञान चारित्र तप की करता विनय।।७/११६५।।

शब्दशः अर्थ : दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपः=दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की; सुविनयं=भली-भाँति विनय को; परं=उत्कृष्ट को; करोति=करता है; परम-श्रद्धः=उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त; तितीर्षुः=पार करने की इच्छावाला; भव-वारिधिं=संसार-सागर को।

अन्वय : भव-वारिधिं तितीर्षुः परम-श्रद्धः दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपः परं सुविनयं करोति।

वचनिका : संसार-सागर को पार करने की इच्छावाला, उत्कृष्ट श्रद्धावान दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की भली-भाँति उत्कृष्ट विनय करता है।।७/११६५।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा दर्शन-विनय की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **जिनेशानां विमुक्तानामाचार्याणां विपश्चिताम्।**
साधूनां जिन-चैत्यानां जिन-राद्धान्त-वेदिनाम्।।८/११६६।।
कर्तव्या महती भक्तिः सपर्या गुण-कीर्तनम्।
अपवाद-तिरष्कारः सम्भ्रमः शुभ-दृष्टिता*।।९/११६७।।
अरहंतों सिद्धों की आचार्यों उपाध्याय की।
साधुओं जिन-बिंबों की जिन-सिद्धांत विज्ञ की।।८/११६६।।

** शुभदृष्टिभिः —इति पाठान्तरम्।*

करनी बड़ी भक्ति पूजा गुण गाना हटा।
शुभ दृष्टि से अपवाद संभ्रम अवमानना।।९/११६७।।

शब्दश: अर्थ : जिन+ईशानां=अरहंतों के; विमुक्तानां=सिद्धों के; आचार्याणां=आचार्यों के; विपश्चितां=उपाध्यायों के; साधूनां=साधुओं के; जिन-चैत्यानां=जिन-प्रतिमाओं की; जिन-राद्धान्त-वेदिनां=जिन-सिद्धांतों को जाननेवालों के।

कर्तव्या=करना चाहिए; महती=बड़ी; भक्ति:=भक्ति; सपर्या=पूजा; गुण-कीर्तनं=गुण-गाना; अपवाद-तिरष्कार:=अपवाद का तिरष्कार कर देना अथवा निंदा, अपमान को दूर करना; सम्भ्रम:=भ्रम को दूर करना; शुभ-दृष्टिता=कल्याणमय दृष्टिपना प्रकट करना/शुभ-दृष्टिभि:=शुभ दृष्टि द्वारा।

अन्वय : पहला पद्य अन्वय में है। दूसरे का इसप्रकार है—शुभ-दृष्टिभि: अपवाद-तिरष्कार: सम्भ्रमा शुभ-दृष्टिता महती भक्ति: सपर्या गुणकीर्तनं कर्तव्या।

वचनिका : कल्याणमय दृष्टि द्वारा जिन-देव अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु परमेष्ठिओं की; जिन-प्रतिमाओं, जिनागम के ज्ञाताओं की अपवाद, तिरष्कार, संभ्रम आदि को दूरकर शुभ-दृष्टि-संपन्नतामय बड़ी भक्ति, पूजन, गुणों का वर्णन करना, कर्तव्य है।।८-९/११६६-११६७।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञान-विनय की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **आगमाध्ययनं कार्यं कृतकालादिशुद्धिना।**
विनयारूढ-चित्तेन बहुमान-विधायिना।।१०/११६८।।

बहुत सम्मान दे करके कालादि शुद्धि सभी।
अति विनय पूर्वक आगम अध्ययन करणीय ही।।१०/११६८।।

शब्दश: अर्थ : आगम+अध्ययनं=आगम/शास्त्रों के अध्ययन को; कार्यं=करना योग्य है; कृत-काल+आदि-शुद्धिना=समय आदि की शुद्धि करनेवाले द्वारा; विनय+आरूढ-चित्तेन=विनय-संपन्न मन द्वारा; बहुमान-विधायिना=बहुत सम्मान करनेवाले द्वारा।

अन्वय : विनय-आरूढ-चित्तेन बहुमान-विधायिना कृत-काल-आदि-शुद्धिना आगम-अध्ययनं कार्यम्।

वचनिका : विनय से युक्त मनवाले और बहुत सम्मान करनेवाले को कालादि की शुद्धता पूर्वक आगम का अध्ययन करना योग्य है।

भावार्थ : कालादि की शुद्धता करके विनय-सहित बहुमान से जिनवाणी का अभ्यास करना योग्य है।।१०/११६८।।

ज्ञान-विनय की शेष रहीं प्रवृत्तिआँ अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **कुर्वताऽवग्रहं योग्यं सूरि-निह्नव-मोचिना।**
परमां कुर्वता शुद्धिं व्यञ्जनार्थद्वयस्थिताम्।।११/११६९।।

प्रतिज्ञा लेकर योग्य गुरु नाम छिपा नहीं।
शब्द अर्थ दोनों की कर उत्कृष्ट शुद्धि ही।।११/११६९।।

शब्दशः अर्थ : कुर्वता=करते हुए द्वारा; अवग्रहं=प्रतिज्ञा को; योग्यं=उचित को; सूरि-निह्नव-मोचिना=आचार्यों के निह्नव को छोड़नेवाले द्वारा/गुरु का नाम नहीं छिपानेवाला; परमां=उत्कृष्ट; कुर्वता=करते हुए द्वारा; शुद्धिं=शुद्धि को; व्यञ्जन+अर्थ-द्वय-स्थितां=शब्द, अर्थ और दोनों में स्थित को।

अन्वय : योग्यं अवग्रहं कुर्वता सूरि-निह्नव-मोचिना व्यञ्जन-अर्थ-द्वय स्थितां परमां शुद्धिं कुर्वता।

वचनिका : योग्य अवग्रह अर्थात् प्रतिज्ञा करने से, आचार्य का नाम नहीं छिपाने से, व्यंजन-शुद्धि, अर्थ-शुद्धि और व्यंजन-अर्थ—दोनों में उत्कृष्ट शुद्धि को करने से ज्ञान की विनय होती है।।११/११६९।।

अब, इस पद्य द्वारा चारित्र-विनय की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **संयमे संयमाधारे संयम-प्रतिपादिनि।**
आदरं कुर्वतो ज्ञेयश्चारित्रविनयः परः।।१२/११७०।।

संयम संयम-आधार संयम के उपदेश में।
आदर करनेवाले के चारित्र विनय श्रेष्ठ है।।१२/११७०।।

शब्दशः अर्थ : संयमे=संयम में; संयम+आधारे=संयम के आधार में; संयम-प्रतिपादिनि=संयम के उपदेश में; आदरं=सम्मान को; कुर्वतः=करते हुए का; ज्ञेयः=जानना चाहिए; चारित्र-विनयः=चारित्र-विनय; परः=श्रेष्ठ।

अन्वय : शेष यथावत् रख 'कुर्वतः परः चारित्र-विनयः ज्ञेयः'—इतना परिवर्तन करना है।

वचनिका : संयम, संयम के आधार मुनि आदि, संयम के उपदेश में आदर करनेवाले व्यक्ति के उत्कृष्ट चारित्र-विनय जानना योग्य है।।१२/११७०।।

अब, इस पद्य द्वारा तप-विनय की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **महा-तपःस्थिते साधौ तपः कार्ये ससंयमे।**
भक्तिमात्यन्तिकीं प्राहुस्तपसो विनयं बुधाः।।१३/११७१।।

महा तप स्थित साधु संयम-युक्त तपस्या।
में अत्यंत भक्ति को ज्ञानी तप विनय कहा।।१३/११७१।।

शब्दश: अर्थ : महा-तप:-स्थिते=महा/दुष्कर तप को तपनेवाले; साधौ=साधु में; तप:-कार्ये=तप के कार्य में; स-संयमे=संयम-सहित में; भक्तिं=भक्ति को; आत्यन्तिकीं=अत्यधिक को; प्राहु:=कहते हैं; तपस:=तप का; विनयं=विनय को; बुधा:=ज्ञानी।

अन्वय : महा-तप: स्थिते साधौ ससंयमे तप:-कार्ये आत्यन्तिकीं भक्तिं बुधा: तपस: विनयं प्राहु:।

वचनिका : महा-तप में लीन साधु में; संयम-सहित तप-कार्य में अत्यधिक भक्ति को ज्ञानी तप की विनय कहते हैं।।१३/११७१।।

अब, इस पद्य द्वारा इन चारों की सामर्थ्य प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सम्यक्त्वचरणज्ञानतपान्सीमानि जन्मिनाम्।**
निस्तारण-समर्थानि दु:खोर्मेर्भव-नीरधे:।।१४/११७२।।

दु:ख लहरों से व्याप्त भव-सागर से तारने।
में समर्थ समकित ज्ञान चारित्र तप जीव के।।१४/११७२।।

शब्दश: अर्थ : सम्यक्त्व-चरण-ज्ञान-तपान्सि=सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप; इमानि=ये; जन्मिनां=संसारिओं के; निस्तारण-समर्थानि=तारने में समर्थ; दु:ख+उर्मे: =दु:खरूपी लहरोंवाले; भव-नीरधे:=संसाररूपी सागर से।

अन्वय : इमानि सम्यक्त्व-चरण-ज्ञान-तपान्सि दु:ख उर्मे: भव-नीरधे: जन्मिनां निस्तारण-समर्थानि।

वचनिका : ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप, दु:खरूपी लहरों से व्याप्त संसार-सागर से प्राणिओं को तारने में समर्थ हैं।।१४/११७२।।

अब, इस पद्य द्वारा इनके पोषण का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **चतुरङ्ग*मिदं साधो: पोष्यमाणमहर्निशम्।**
सिद्धिं साधयते सद्य: प्रार्थितां नृपतेरिव।।१५/११७३।।

राजा पोषित सेना-सम सतत पोषित चार ये।
शीघ्र साधु को देते मोक्ष-सुख को साध के।।१५/११७३।।

शब्दश: अर्थ : चतु:+अङ्गं/विधं=चार भेदवाला; इदं=यह; साधो:=साधु का; पोषमाण:=

** चतुर्विध —इति पाठान्तरम्।*

पोषण किया गया; अह:-निशं=दिन-रात; सिद्धिं=मोक्ष को; साधयते=साधता है; सद्य:= शीघ्र; प्रार्थितां=पुष्टकर प्रार्थना किए गए; नृपते:=राजा का; इव=समान।

अन्वय : नृपते: प्रार्थितां इव अह:-निशं पोष्यमाणं इदं चतु:-अङ्गं/विधं साधो: सिद्धिं साधयते।

वचनिका : जैसे—राजा की पुष्ट की गई चतुरंग सेना वांक्षित-सिद्धि को साधती है; उसी प्रकार मुनिराज का निरंतर पुष्ट किया गया चार भेदरूप आचरण शीघ्र ही वांक्षित मोक्ष को साधता है।।१५/११७३।।

इन चार के बिना मोक्ष को साधने की मूर्खता सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **सिसाधयिषते सिद्धिं चतुरङ्गमृतेऽत्र य:।**
स पोतेन विना मूढस्तितीर्षति पयोनिधिम्।।१६/११७४।।
इन चार विना सिद्धि को जो चाहे साधना।
जहाज विन वह मूढ सागर चाहे तैरना।।१६/११७४।।

शब्दश: अर्थ : सिसाधयिषते=सिद्ध करना चाहता है; सिद्धिं=मोक्ष को; चतु:+अङ्गं=चार भेद को; ऋते=विना; अत्र=यहाँ; य:=जो; स:=वह; पोतेन=जहाज से; विना=रहित; मूढ:=मूर्ख; तितीर्षति=तिरना चाहता है; पयोनिधिं=सागर को।

अन्वय : अत्र य: चतु:-अङ्गं ऋते सिद्धिं सिसाधयिषते स: मूढ: पोतेन विना पयोनिधिं तितीर्षति।

वचनिका : यहाँ जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप—इन चार कारण-विना मोक्ष को साधना चाहता है; वह मूढ, जहाज के विना समुद्र को तिरना चाहता है।।१६/११७४।।

अब, इस पद्य द्वारा इन चारों की सामर्थ्य प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **लोकद्वयेऽपि सौख्यानि दृश्यन्ते यानि कानिचित्।**
जन्यन्ते तानि सर्वाणि चतुरङ्गेण देहिन:।।१७/११७५।।
दोनों लोक में जो कुछ सुख दिखते हैं जीव के।
वे सभी इन चारों से ही निश्चित जन्मे हुए।।१७/११७५।।

शब्दश: अर्थ : लोक-द्वये=दोनों लोक में; अपि=भी; सौख्यानि=सुख; दृश्यन्ते=देखे जाते हैं; यानि=जो; कानिचित्=कुछ; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; तानि=वे; सर्वाणि=सभी; चतु:+ अङ्गेण=चार भेद द्वारा; देहिन:=जीव का।

अन्वय : लोक-द्वये अपि यानि कानिचित् सौख्यानि दृश्यन्ते तानि सर्वाणि देहिन: चतु:- अङ्गेण जन्यन्ते।

वचनिका : वास्तव में इस-लोक और पर-लोक में भी जो कुछ सुख दिखाई देते हैं; वे सभी जीव के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप चतुरंग से उत्पन्न हुए हैं।।१७/११७५।।

अब, इस पद्य द्वारा इन चार की माता के साथ तुलना करते हैं—

अनुष्टुभ् : **निरस्यति रजः सर्वं ज्ञेयं* सूचयते हितम्।**
मातेव कुरुते किं न चतुरङ्ग-निषेवणा।।१८/११७६।।

दूर करे सब धूल सब हित को सूचित करे।
माता-वत् इन चारों का सेवन भी क्या नहीं करे?।।१८/११७६।।

शब्दशः अर्थ : निरस्यति=दूर करता है; रजः=धूल/पाप; सर्वं=सभी को; ज्ञेयं=जानना चाहिए/न्यायं=उचित मानना चाहिए; सूचयते=बताता है; हितं=हित को; माता+इव=माता के समान; कुरुते=करता है; किं=क्या; न=नहीं; चतुः+अङ्ग-निषेवणा=चार अंगों का परिपूर्ण सेवन।

अन्वय : माता-इव सर्वं रजः निरस्यति हितं सूचयते चतुः-अङ्ग-निषेवणा किं न कुरुते? (इति) ज्ञेयम्/न्यायम्।

वचनिका : माता के समान सभी रज अर्थात् पाप को दूर करता है और हित को बताता है—इसप्रकार दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप का सेवन क्या नहीं करता है? सभी हित करता है—ऐसा जानना चाहिए/उचित मानना चाहिए।।१८/११७६।।

इन्हें छोड़कर अन्य क्रिया करनेवालों की मूर्खता अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **चतुरङ्गमपाकृत्य कुर्वते कर्म ये परम्।**
कल्पद्रुममपाकृत्य ते भजन्ति विषद्रुमम्।।१९/११७७।।

जो ये चार तज करके अन्य कर्म क्रिया करें।
कल्पवृक्ष तजकर वे विष-तरु का सेवन करें।।१९/११७७।।

शब्दशः अर्थ : चतुः+अङ्गं=चार भेदों को; अपाकृत्य=छोड़कर; कुर्वते=करते हैं; कर्म=क्रिया को; ये=जो; परं=अन्य को; कल्प-द्रुमं=कल्प-वृक्ष को; अपाकृत्य=छोड़कर; ते=वे; भजन्ति=सेवन करते हैं; विष-द्रुमं=विष-वृक्ष को।

अन्वय : ये चतुः-अङ्गं अपाकृत्य परं कर्म कुर्वते ते कल्प-द्रुमं अपाकृत्य विष-द्रुमं भजन्ति।

वचनिका : जो व्यक्ति दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप—इन चार कारणों का त्यागकर अन्य क्रिया-

** न्यायं —इति पाठान्तरम्।*

कर्म करते हैं; वे कल्प-वृक्ष को छोड़कर विष-वृक्ष का सेवन करते हैं।।१९/११७७।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण इन चार की सुख-दान में अद्वितीयता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **चतुरङ्गं सुखं दत्ते यत्तत्कर्म परं कथम्।**
यत्करोति सुहृत्कार्यं तन्न बैरी कदाचन।।२०/११७८।।

ये चार जो सुख देते दें कैसे अन्य कर्म वह?
मित्र करता जो कार्य करे कैसे रिपु वह?।।२०/११७८।।

शब्दश: अर्थ : चतु:+अङ्गं=चार भेद; सुखं=सुख को; दत्ते=देता है; यत्=जो; तत्=वह; कर्म=क्रिया; परं=दूसरा; कथं=कैसे; यत्=जो; करोति=करता है; सुहृत्=मित्र; कार्यं=काम को; तत्=वह; न=नहीं; बैरी=शत्रु; कदाचन=कभी।

अन्वय : चतु: अङ्गं यत् सुखं दत्ते तत् परं कर्म कथं दत्ते? सुहृत् यत् कार्यं करोति तत् बैरी कदाचन न।

वचनिका : सम्यग्दर्शन, ज्ञानादि चार कारण जो सुख देते हैं, वह सुख अन्य कर्म कैसे दे सकता है? मित्र जो कार्य करता है, वह बैरी कभी नहीं करता है।।२०/११७८।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय करने-योग्य पात्र प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **ये सन्ति साधवो *धन्याश्चतुरङ्गविभूषणा:।**
विधेयो विनयस्तेषां मनोवाक्कायकर्मभि:।।२१/११७९।।

दर्शनादि चतु: भेद भूषित साधु धन्य हैं।
मन वचन तन कर्मों से उनकी विनय विधेय है।।२१/११७९।।

शब्दश: अर्थ : ये=जो; सन्ति=हैं; साधव:=साधु; धन्या:=धन्य/अन्ये=अन्य; चतु:+अङ्ग-विभूषणा:=चार भेदों से विभूषित; विधेय:=करने-योग्य है; विनय:=विनय; तेषां=उनके; मन:-वाक्-काय-कर्मभि:=मन, वचन, काय की क्रियाओं द्वारा।

अन्वय : ये चतु:-अङ्ग-विभूषणा: धन्या:/अन्ये साधव: सन्ति तेषां विनय: मन:-वाक्-काय-कर्मभि: विधेय:।

वचनिका : जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप—इन चार अंगों से विभूषित धन्य/अन्य साधु हैं; उनकी विनय मन, वचन, काय की क्रियाओं द्वारा करना योग्य है।।२१/११७९।।

अब, इस पद्य द्वारा उन साधुओं के गुण-चिंतन की उपयोगिता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **गुणानामनवद्यानां तदीयानामनारतम्।**
चिन्तनीयं पटीयोभिरुपबृंहणकारणम्।।२२/११८०।।

** अन्ये —इति पाठान्तरम्।*

निर्मल गुणों का उनके सतत चिंतन योग्य है।
विद्वानों द्वारा वह धर्म-वृद्धि हेतु है।।२२/११८०।।

शब्दशः अर्थ : गुणानां=गुणों/विशेषताओं के; अनवद्यानां=निर्दोषों के; तदीयानां=उनके; अनारतं=निरंतर; चिन्तनीयं=चिंतन करने के योग्य; पटीयोभिः=प्रवीणों द्वारा; उपबृंहण-कारणं=धर्म-बड़ाने के कारण को।

अन्वय : पटीयोभिः तदीयानां अनवद्यानां गुणानां अनारतं उपबृंहण-कारणं चिन्तनीयम्।

वचनिका : बुद्धिमानों द्वारा उन साधुओं के निर्मल गुणों का निरंतर धर्म-बड़ाने में कारणभूत चिंतन करना चाहिए।।२२/११८०।।

अब, इस पद्य द्वारा साधुओं की मानसिक विनय की प्रक्रिया प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **ध्यायतो योगिनां पथ्यमपथ्य-प्रतिषेधनम्।**
मानसो विनयः साधोर्जायते *सिद्धिसाधकः।।२३/११८१।।

हितकर-अहित-निषेधकमय योगी जन के ध्यान से।
साधु की सिद्धि-साधक मनो विनय हुई उसे।।२३/११८१।।

शब्दशः अर्थ : ध्यायतः=ध्यान करने से; योगिनां=योगिओं के; पथ्यं=हित करनेवाले; अपथ्य-प्रतिषेधनं=अहित का निषेध करनेवाले; मानसः=मन संबंधी; विनयः=विनय; साधोः=साधु का; जायते=होता है; सिद्धि/शुद्धि-साधकः=मोक्ष/शुद्धि को सिद्ध करनेवाला।

अन्वय : योगिनां पथ्यं अपथ्य-प्रतिषेधनं ध्यायतः साधोः सिद्धि/शुद्धि-साधकः मानसः विनयः जायते।

वचनिका : योगीश्वरों के हितरूप और अहित के निषेधक कार्य का ध्यान करने से साधु की मोक्ष/शुद्धि की साधक मानसिक-विनय होती है।।२३/११८१।।

अब, इस पद्य द्वारा अनिष्ट-चिंतन का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यश्चिन्तयति साधूनामनिष्टं दुष्मानसः।**
सर्वानिष्टखनिर्मूढो जायते स भवे भवे।।२४/११८२।।

दुष्ट-चित्ती जो साधु का अनिष्ट विचारता।
सभी अनिष्ट की खान मूढ वह होता सदा।।२४/११८२।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; चिन्तयति=सोचता है; साधूनां=साधुओं के; अनिष्टं=अहित को; दुष्ट-मानसः=दुष्ट मनवाला; सर्व+अनिष्ट-खनिः=सब अहितों की खदान; मूढः=मूर्ख; जायते=होता है; सः=वह; भवे-भवे=प्रत्येक भव में/अनेकों भव में।

** शुद्धि —इति पाठान्तरम्।*

अन्वय : दुष्ट-मानस: य: साधूनां अनिष्टं चिन्तयति स: मूढः भवे भवे सर्व-अनिष्ट-खनि: जायते।
वचनिका : दुष्ट मनवाला जो साधुओं का अहित सोचता है; वह मूर्ख प्रत्येक भव में सब अनिष्टों की खदान होता है।।२४/११८२।।

अब, इस पद्य द्वारा यतिओं के दूषण-चिंतक का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **दुर्भगो विकलो मूर्खो निर्विवेको नपुन्सक:।**
नीचकर्मकरो नीचो याति दूषणचिन्तक:।।२५/११८३।।

मुनि-दोषों का चिंतक होता दुर्भग नपुंसक।
विवेक-विन विकल मूर्ख नीच नीच-कार्य-कर।।२५/११८३।।

शब्दश: अर्थ : दु:-भग:=असुंदर/अभागा; विकल:=कम अंगोंवाला; मूर्ख:=बुद्धि-हीन; नि:-विवेक:=विवेक से रहित; नपुन्सक:=हींजड़ा; नीच-कर्म-कर:=नीच कार्य करनेवाला; नीच:=नीच; याति=होता है; दूषण-चिन्तक:=दोषों का चिंतन करनेवाला।
अन्वय : दूषण-चिन्तक: दुर्भग:.... नीच: याति।
वचनिका : यति के दोषों का चिंतन करनेवाला व्यक्ति दुर्भग, विकलांग, मूर्ख, विवेक-रहित, नपुंसक, नीच कर्म करनेवाला, नीच होता है।।२५/११८३।।

अब, इस पद्य द्वारा मार्ग-दर्शन प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **विज्ञायेति महाप्राज्ञा: संयतानामरेफसाम्।**
सञ्चिन्तयन्ति नानिष्टं त्रिविधेन कदाचन।।२६/११८४।।

ऐसा जान महा बुद्धिमान चिंतन नहीं करें।
पाप-रहित मुनिओं के अनिष्ट का त्रयरूप से।।२६/११८४।।

शब्दश: अर्थ : विज्ञाय=जानकर; इति=इसप्रकार; महा-प्राज्ञा:=विशाल-बुद्धिवाले; संयतानां =मुनिओं के; अरेपसां=पाप-रहित के; सञ्चिन्तयन्ति=सोचते हैं; न=नहीं; अनिष्टं= अहित को; त्रिविधेन=तीन प्रकार से; कदाचन=कभी।
अन्वय : इति विज्ञाय महा-प्राज्ञा: अरेपसां संयतानां अनिष्टं त्रि-विधेन कदाचन न सञ्चिन्तयति।
वचनिका : ऐसा जानकर विशाल बुद्धिवाले, पाप-रहित मुनिराजों का अनिष्ट, मन, वचन, काय द्वारा कभी नहीं सोचते हैं।।२६/११८४।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा वचन संबंधी विनय प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **श्रवणीयमनाक्षेपं सपर्याप्रति-पादकम्।**
अनवज्ञापरं तथ्यं मधुरं हृदयङ्गमम्।।२७/११८५।।

वचनं वदत: पथ्यं राग-द्वेषाद्यनाविलम्।
वाचिको विनयोऽवाचि वचनीयनिखर्वक:।।२८/११८६।।

सुनने-योग्य विना संशय पूजा का प्रतिपादक।
अनिंदामय सत्यार्थ मधुर हृदय-रुचिकर।।२७/११८५।।
राग-द्वेषादि-विरहित हित-कारक वचन बोलते।
वचन-दोष हुए दूर वाचिक विनय कहें उसे।।२८/११८६।।

शब्दश: अर्थ : श्रवणीयं=सुनने-योग्य; अन्+आक्षेपं=आक्षेप/आरोप से रहित; सपर्या-प्रतिपादकं=पूजन का प्रतिपादन करनेवाले; अन्+अवज्ञा-परं=निंदा नहीं करनेवाले; तथ्यं=सत्यार्थ; मधुरं=कर्ण-प्रिय; हृदयङ्गमं=मन-मोहक।

वचनं=वचन को; वदत:=बोलते हुए; पथ्यं=हितरूप; राग-द्वेष+आदि+अन्+आविलं=राग-द्वेष आदि की मलिनता से रहित; वाचिक:=वचन संबंधी; विनय:=विनय; अवाचि=कहा है; वचनीय-नि-खर्वक:=वचन संबंधी दोषों को दूर करनेवाला।

अन्वय : पहला पद्य अन्वयरूप है। दूसरे का वह इसप्रकार है—पथ्यं राग-द्वेष-आदि अनाविलं वचनं वदत: वचनीय-निखर्वक: वाचिक: विनय: अवाचि।

वचनिका : सुनने-योग्य, संदेह-रहित, पूजा को उत्पन्न करनेवाले, अनिंदा में तत्पर, सत्यार्थ, मन-मोहक, राग-द्वेष आदि से मलिन नहीं होनेवाले, हितमय वचन बोलते हुए व्यक्ति के वचन संबंधी दोषों को दूर करनेवाली, वाचिक विनय कही गई है।।२७-२८/११८५-११८६।।

अब, इस पद्य द्वारा श्रावक के अयोग्य वचन वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **अभ्याख्यान-तिरष्कार-कारकं गुणदूषकम्।**
न वाच्यं वचनं भक्तैस्तपोधनविनिन्दिकम्।।२९/११८७।।

अभ्याख्यान अनादर कर गुण में दूषण-दा वचन।
मुनि-निंदक नहीं बोलें वाणी सदा भक्त-गण।।२९/११८७।।

शब्दश: अर्थ : अभ्याख्यान-तिरष्कार-कारकं=दोषों को प्रकट करनेवाले, अनादर करनेवाले; गुण-दूषकं=गुणों में दोष लगानेवाले; न=नहीं; वाच्यं=कहने-योग्य; वचनं=वचन को; भक्तै:=भक्तों द्वारा; तपोधन-विनिन्दकं=मुनि की विशिष्ट निंदा करनेवाले।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है; शेष इसप्रकार है—तपोधन-विनिन्दकं वचनं भक्तै: न वाच्यम्।

वचनिका : साधुओं के दोष प्रकट करनेवाले, अपमान करनेवाले, गुणों में दोष लगानेवाले, साधुओं की निंदा करनेवाले वचन, भक्त-श्रावकों द्वारा बोलना, योग्य नहीं है।।२९/११८७।।

अब, इस पद्य द्वारा साधुओं के दूषण कहने का दुष्परिणाम प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **वदन्ति दूषणं दीना ये साधूनामनेनसाम्।**
ते भवन्ति दुराचारा दूष्या जन्मनि जन्मनि।।३०/११८८।।
दीन जो कहते दूषण पाप-विरहित साधु के।
दुराचारी वे होते दूषण-युत भव-भवों में।।३०/११८८।।

शब्दश: अर्थ : वदन्ति=कहते हैं; दूषणं=दोष को; दीना:=अज्ञानी; ये=जो; साधूनां=साधुओं के; अन्+एनसां=पापों से रहित के; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; दु:+आचारा:=बुरे आचरणवाले; दूष्या:=दोषों-युक्त; जन्मनि=भव में; जन्मनि=भव में/अनेकों भवों पर्यंत।

अन्वय : ये दीना: अनेनसां साधूनां दूषणं वदन्ति ते दुराचारा: जन्मनि जन्मनि दूष्या: भवन्ति।

वचनिका : जो अज्ञानी, पाप-रहित साधुओं के दोष कहते हैं; वे दुराचारी जन्म-जन्म में दोषों से युक्त होते हैं।।३०/११८८।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही विस्तार से कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **अनादेयगिरो गर्ह्या: क्लेशिन: शोकिनो जडा:।**
यति-निन्दा-परा: सन्ति जन्म-द्वितय-दूषिता:।।३१/११८९।।
मुनि-निंदा-लीन दोनों भव में होते जड़ शोक-युत।
अनादेय वाणीमय निंदित क्लेश-दोष-युत।।३१/११८९।।

शब्दश: अर्थ : अन्+आदेय-गिर:=अपमानित वाणीमय; गर्ह्या:=निंदनीय; क्लेशिना:=क्लेश-सहित; शोकिन:=शोक-संपन्न; जडा:=अज्ञानी; यति-निन्दा-परा:=साधुओं की निंदा में लीन रहनेवाले; सन्ति=हैं; जन्म-द्वितय-दूषिता:=दोनों भवों में दूषित।

अन्वय : यति-निन्दा-परा: जन्म-द्वितय-दूषिता: अनादेय-गिर: गर्ह्या: क्लेशिन: शोकिन: जडा: सन्ति।

वचनिका : साधुओं की निंदा में लीन व्यक्ति, इस-भव और पर-भव में दोष-युक्त, तिरष्कृत वाणीवाले, निंदनीय, क्लेश-सहित, शोकवान, अज्ञानी होते हैं।।३१/११८९।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा सहेतुक साधुओं की निंदा-प्रशंसा का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **किं चित्रमपरं तस्माद्यदौदासीन्य-चेतसाम्।**
वन्दका वन्दितास्तेषां निन्दका: सन्ति निन्दिता:।।३२/११९०।।

यादृश: क्रियते भाव: फलं तत्रास्ति तादृशम्।
यादृशं चर्च्यते रूपं तादृशं दृश्यतेऽब्दके।।३३/११९१।।

उदासीन मनवालों का वंदक वंदित हो तथा।
निंदक निंदित हो जाता इसमें है आश्चर्य क्या?।।३२/११९०।।
जैसे भाव किए जाते वैसा ही फल प्राप्त है।
जैसा रूप किया जाता वैसा दर्पण में दिखे।।३३/११९१।।

शब्दश: अर्थ : किं=क्या; चित्रं=आश्चर्य; अपरं=दूसरा; तस्मात्=उस कारण; औदासीन्य-चेतसां=उदासीनता-युक्त मनवालों के; वन्दका:=वंदना करनेवाला; वन्दिता:=पूजनीय; तेषां=उनके; निन्दका:=निंदा करनेवाले; सन्ति=हैं; निन्दिता:=निंदनीय।

यादृश:=जैसा; क्रियते=किया जाता है; भाव:=परिणाम; फलं=फल; तत्र=वहाँ; अस्ति=है; तादृशं=उसप्रकार; यादृशं=जैसा; चर्च्यते=बनाया जाता है; रूपं=आकार; तादृशं=उसप्रकार; दृश्यते=दिखाई देता है; अब्दके=दर्पण में।

अन्वय : औदासीन्य-चेतसां तेषां वन्दका: वन्दिता: निन्दका: निन्दिता: सन्ति तस्मात् अपरं चित्रं किं? यादृश: भाव: क्रियते तत्र तादृशं फलं अस्ति यादृशं रूपं चर्च्यते अब्दके तादृशं दृश्यते।

वचनिका : उदासीन चित्तवाले उन साधुओं की वंदना करनेवाले, सभी से वंदनीय और निंदा करनेवाले, निंदनीय हो जाते हैं—उससे अन्य आश्चर्य क्या है? कुछ भी नहीं।

जैसे—जैसा रूप/आकार बनाया जाता है, दर्पण में उसप्रकार दिखाई देता है; उसीप्रकार जैसा भाव किया जाता है, वहाँ उसप्रकार का फल मिलता है।

भावार्थ : जैसे—दर्पण तो निर्मल/स्वच्छ है। उसके सामने जैसा आकार हो, उस प्रकार दिखाई देता है; उसीप्रकार साधु तो वीतराग हैं। उनके प्रति भक्तिरूप या द्वेषरूप जैसा परिणाम करते हैं; उसप्रकार ही शुभ या अशुभ फल प्राप्त होता है—ऐसा जानना।।३२-३३/११९०-११९१।।

अब, इस पद्य द्वारा इस संदर्भ में मार्ग-दर्शन देते हैं—

अनुष्टुभ् : **व्रतिनां निन्दकं वाक्यं विबुद्ध्येति न सर्वदा।**
मनो-वाक्काय-योगेन वक्तव्यं हितमिच्छता।।३४/११९२।।

ऐसा जान हित-इच्छुक मन वचन काय योग से।
व्रतिओं के निंदक वाक्य रंच-मात्र नहीं कहें।।३४/११९२।।

शब्दश: अर्थ : व्रतिनां=व्रतिओं के; निन्दकं=निंदा करनेवाले; वाक्यं=वाक्य को; विबुद्ध्य

=भली-भाँति जानकर; इति=इसप्रकार; न=नहीं; सर्वदा=निरंतर; मन:-वाक्-काय-योगेन=मन, वचन, शरीर के योग से; वक्तव्यं=कहना चाहिए; हितं=कल्याण को; इच्छता =चाहनेवाले द्वारा।

अन्वय : इति विबुद्ध्य हितं इच्छता व्रतिनां निन्दकं वाक्यं मन:-वाक्-काय-योगेन सर्वदा न वक्तव्यम्।

वचनिका : इसप्रकार साधुओं की निंदा में महा-पाप को भली-भाँति जानकर हित के इच्छुक जीव द्वारा व्रतिओं के निंदक वाक्य मन, वचन, काय के योग से सदा काल ही कहना योग्य नहीं है।।३४/११९२।।

आगे छब्बीस पद्यों द्वारा विनय की विशेषता से वर्णन प्रस्तुत है।

उनमें से यहाँ सर्व-प्रथम अब, इस पद्य द्वारा मुनिओं की विनय-विधि वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अभ्युत्थानासनत्यागप्रणिपाताञ्जुलिक्रिया।**
आयाते संयते कार्या यात्यनु-व्रजनं पुन:।।३५/११९३।।

संयमी के आने पर उठना आसन छोड़ना।
हाथ जोड़ नमन जाते पीछे गमन करें सदा।।३५/११९३।।

शब्दश: अर्थ : अभ्युत्थान-आसन-त्याग-प्रणिपात-अञ्जुलि-क्रिया=उठना, आसन को छोड़ना, नमन करना, अंजुलि-क्रिया/हाथ जोड़ना; आयाते=आने पर; संयते=मुनि के; कार्या=करना योग्य है; याति=जाने पर; अनु-व्रजनं=पीछे गमन करना; पुन:=फिर/और।

अन्वय : संयते आयाते अभ्युत्थान.... क्रिया पुन: याति अनुव्रजनं कार्या।

वचनिका : संयमी मुनि का आगमन होने पर उठना, आसन का त्याग करना, नमन करना, अंजुलि-क्रिया अर्थात् हाथ जोड़ना—ये क्रिया करनी योग्य हैं और संयमी के गमन करते समय उनके पीछे चलना योग्य है।।३५/११९३।।

अब, इस पद्य द्वारा ऐसा नहीं करनेवाले की निकृष्टता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **आयातं ये तपोराशिं विलोक्यापि न कुर्वते।**
अभ्युत्थानासनत्यागो नैभ्य: सन्त्यधमा: परे।।३६/११९४।।

तप-समूह मुनि आते देख भी जो नहीं करे।
उठना आसन त्याग उनसे नीच न दूसरे।।३६/११९४।।

शब्दश: अर्थ : आयातं=आते हुए को; ये=जो; तप:-राशिं=तप के समूह/मुनि को; विलोक्य=देखकर; अपि=भी; न=नहीं; कुर्वते=करते हैं; अभ्युत्थान+आसन-त्याग:=उठना,

आसन का त्याग; न=नहीं; एभ्य:=उनसे; सन्ति=हैं; अधमा:=नीच; परे=दूसरे।

अन्वय : आयातं तप:-राशिं विलोक्य अपि ये अभ्युत्थान-आसन-त्याग: न कुर्वते एभ्य: अधमा: परे न सन्ति।

वचनिका : आते हुए तप के समूह मुनिराज को देखकर भी जो उठना, आसन का त्यागरूप विनय नहीं करते हैं; उनसे अधम और दूसरे नहीं हैं।।३६/११९४।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय-शील व्यक्ति की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **यत्र यत्र विलोक्यन्ते संयतायत-मानसा:।**
तत्र तत्र प्रणन्तव्या: विनयोद्यत-मानसै:।।३७/११९५।।

यत्न-शील मनवाले मुनि दिखते जहाँ-तहाँ।
विनय में उद्यत-चित्ती नमन करता वहाँ-वहाँ।।३७/११९५।।

शब्दश: अर्थ : यत्र-यत्र=जहाँ-जहाँ; विलोक्यन्ते=देखते हैं; संयत+आयत-मानसा:=यत्न-सहित मनवाले संयमी मुनि; तत्र-तत्र=वहाँ-वहाँ; प्रणन्तव्या:=नमन करना योग्य है; विनय+उद्यत-मानसै:=विनय में उद्यमी मनवाले द्वारा।

अन्वय : संयत-आयत-मानसा: यत्र-यत्र विलोक्यन्ते विनय-उद्यत-मानसै: तत्र-तत्र प्रणन्तव्या:।

वचनिका : यत्न-सहित मनवाले संयमी मुनि जहाँ-जहाँ दिखाई देते हैं; विनय में उद्यमी मनवाले व्यक्ति द्वारा (उन्हें) वहाँ-वहाँ नमन करना योग्य है।।३७/११९५।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय में विवेक वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **शैयोपवेशन-स्थान-गमनादीनि सर्वदा।**
विधातव्यानि नीचानि संयताराधनापरै:।।३८/११९६।।

मुनिओं के आराधन लीन द्वारा सर्वदा।
नीचे बैठना सोना स्थिर गमनादि क्रिया।।३८/११९६।।

शब्दश: अर्थ : शैया+उपवेशन-स्थान-गमन+आदीनि=सोना, बैठना, खड़े होना, गमन करना आदि; सर्वदा=निरंतर; विधातव्यानि=करना चाहिए; नीचानि=उनसे नीचे स्थान पर; संयत+आराधना-परै:=मुनि की आराधना में संलग्न द्वारा।

अन्वय : संयत-आराधना-परै: शैया-उप...... आदीनि सर्वदा नीचानि विधातव्यानि।

वचनिका : संयमी की आराधना में संलग्न व्यक्ति द्वारा सोने की शैया, बैठना, खड़े रहना, गमन करना इत्यादि सदा-काल नीचे करना योग्य है।

भावार्थ : जहाँ महंत पुरुष विराजमान हैं; उस स्थान से नीचे स्थान पर शैयादि करना; ऊँचे स्थान पर नहीं करना—ऐसा जानना।।३८/११९६।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय-शील की मनोवृत्ति निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **पुण्यवन्तो वयं येषामाज्ञां यच्छन्ति योगिनः।**
मन्यमानैरिति प्राज्ञैः कर्तव्यं यति-भाषितम्।।३९/११९७।।

हम पुण्यवान हैं योगी आज्ञा करते हैं जिन्हें।
ऐसा मानते विद्वान यति-भाषित सभी करें।।३९/११९७।।

शब्दशः अर्थ : पुण्यवन्तः=पुण्य के उदयवाले; वयं=हम; येषां=जिनके; आज्ञां=आदेश को; यच्छन्ति=देते हैं; योगिनः=योगी; मन्यमानैः=माननेवाले; इति=इसप्रकार; प्राज्ञैः=बुद्धिमानों द्वारा; कर्तव्यं=करने-योग्य; यति-भाषितं=यतिओं द्वारा कहे गए को।

अन्वय : वयं पुण्यवन्तः येषां योगिनः आज्ञां यच्छन्ति इति मन्यमानैः प्राज्ञैः यति-भाषितं कर्तव्यम्।

वचनिका : हम पुण्यवान हैं, जिनको योगीश्वर आज्ञा देते हैं—ऐसा माननेवाले विद्वानों द्वारा यतिओं का कहा हुआ करना, योग्य है।

भावार्थ : यतीश्वर जो आज्ञा करते हैं वह, बुद्धिमानों को करना, योग्य है। उन्हें अपने मन में ऐसा मानना चाहिए कि हम धन्य हैं जिन पर गुरु की आज्ञा हुई है। इसप्रकार आज्ञा पाकर हर्षित होना—ऐसा जानना।।३९/११९७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा मुनि के निकट नहीं करने-योग्य कार्य वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **निष्ठीवनमवष्टम्भं जृम्भणं गात्र-भञ्जनम्।**
असत्य-भाषणं नर्म हास्य-पाद-प्रसारणम्।।४०/११९८।।
अभ्याख्यानं करस्फोटं करेण करताडनम्।
विकारमङ्ग-सन्स्कारं वर्जयेद्यति-सन्निधौ।।४१/११९९।।

थूँकना आश्रय लेना जँभाई अंग तोड़ना।
झूठ कहना कुत्सित हास्य पैरों को पसारना।।४०/११९८।।
गुप्त कहना वजे चुटकी ताड़ना हाथ हाथ से।
अंग विकृत-शृंगार गुरु-निकट सदा तजें।।४१/११९९।।

शब्दशः अर्थ : निष्ठीवनं=थूकना; अवष्टम्भं=दीवाल आदि का सहारा लेना; जृम्भणं=जँभाई

लेना; गात्र-भञ्जनं=शरीर के अंगों को चटकाना; असत्य-भाषणं=झूठ बोलना; नर्म-हास्य-पाद-प्रसारणं=अश्लील हँसी, पैरों को फैलाना।

अभ्याख्यानं=गुप्त प्रकट करना; कर-स्फोटं=चुटकी वजाना; करेण=हाथ से; कर-ताडनं=हाथ को ताड़ना; विकारं=मुखादि विकृत करना; अङ्ग-सन्स्कारं=अंगों का संस्कार/शृंगार करना; वर्जयेत्=छोड़ दे; यति-सन्निधौ=मुनि के समीप में।

अन्वय : अंतिम चरण में यति-सन्निधौ वर्जयेत्—ऐसा परिवर्तन करना है। शेष यथावत् है।

वचनिका : 'यतिओं के निकट विनयवान जिन कार्यों को नहीं करें; यहाँ उन्हें बताते हैं—थूकें नहीं, आश्रय लेकर प्रमाद-सहित नहीं बैठें, जँभाई नहीं लें, अंग नहीं तोड़ें/हाथादि चटकाए नहीं, असत्य नहीं बोलें, अश्लील रागरूप हास्य नहीं करें, पैर नहीं फैलाएं, लज्जा की कारणभूत गुप्त बात प्रकट नहीं करें; हाथ से चुटकी नहीं बजाएँ, हाथ को हाथ से नहीं ताड़े/ताली नहीं बजाएँ, मुख आदि की विकाररूप चेष्टा नहीं करें, अंगों को सँवारे नहीं/शृंगार नहीं करें इत्यादि इसीप्रकार का और भी प्रमादरूप आचरण, महंत पुरुषों के निकट करना, योग्य नहीं है।।४०-४१/११९८-११९९।।

अब, इस पद्य द्वारा वंदना की अयोग्य प्रवृत्तिआँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **उच्चस्थानस्थितैः कार्या वन्दना न तपस्विनः।**
न गतिं वामतः कृत्वा विनीतैर्न च पृष्ठतः।।४२/१२००।।

ऊँचे स्थल स्थित हो मुनि को वंदन नहिं करें।
विनयी को नहीं करना बाएं से जा पीछे से।।४२/१२००।।

शब्दशः अर्थ : उच्च-स्थान-स्थितैः=ऊँचे स्थल पर बैठे हुए द्वारा; कार्या=करने-योग्य; वन्दना=नमन आदि; न=नहीं; तपस्विनः=मुनि का; न=नहीं; गतिं=गति को; वामतः=बाएं से; कृत्वा=करके; विनीतैः=विनयवानों द्वारा; न=नहीं; च=और; पृष्ठतः=पीछे से।

अन्वय : उच्च-स्थान-स्थितैः विनीतैः तपस्विनः वन्दना न कार्या वामतः गतिं कृत्वा वन्दना न कार्या च पृष्ठतः वन्दना न कार्या।

वचनिका : ऊँचे स्थान पर बैठकर, बाईं ओर से गमनकर और पीछे से विनयवान को तपस्विओं की वंदना करना, योग्य नहीं है।

भावार्थ : मुनिओं के दक्षिणी/दाहिनी ओर से प्रदक्षिणारूप गमनकर वंदना करना चाहिए; बाईं ओर से जाकर और पीछे से वंदना नहीं करना चाहिए।।४२/१२००।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रत्यक्ष और परोक्ष विनय वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **त्रिधेति विनयोऽध्यक्ष: करणीयो मनीषिभि:।**
परोक्षेऽपि स साधूनामाज्ञा-करण-लक्षण:।।४३/१२०१।।
ज्ञानिओं द्वारा करणीय तीन से प्रत्यक्ष विनय।
साधुओं की आज्ञा-पालन करना परोक्ष में विनय।।४३/१२०१।।

शब्दश: अर्थ : त्रिधा=तीन प्रकार से; विनय:=विनय; अध्यक्ष:=प्रत्यक्ष; करणीय:=करने-योग्य; मनीषिभि:=बुद्धिमानों द्वारा; परोक्षे=परोक्ष में; अपि=भी; स:=वह; साधूनां=साधुओं के; आज्ञा-करण-लक्षण:=आज्ञा-पालन करना लक्षणवाला।

अन्वय : इति मनीषिभि: त्रिधा अध्यक्ष: विनय: करणीय: परोक्षे साधूनां आज्ञा-करण-लक्षण: अपि स: करणीय:।

वचनिका : इसप्रकार बुद्धिमानों द्वारा मन, वचन, कायरूप तीन भेदवाली प्रत्यक्ष विनय करना योग्य है। मुनिओं के परोक्ष होने पर उनकी आज्ञा का पालन करना लक्षणवाली परोक्ष विनय करना, योग्य है।।४३/१२०१।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय के पात्र प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सङ्घे चतुर्विधे भक्त्या रत्न-त्रितय-राजिते।**
विधातव्यो यथायोग्यं विनयो नयकोविदै:।।४४/१२०२।।
चतुर्विध संघ रत्नत्रय से शोभित में भक्ति से।
नीति निपुणों द्वारा यथोचित विनय योग्य है।।४४/१२०२।।

शब्दश: अर्थ : सङ्घे=संघ में; चतु:-विधे=चार प्रकारवाले; भक्त्या=भक्ति से; रत्न-त्रितय-राजिते=रत्नत्रय से शोभित में; विधातव्य:=करना चाहिए; यथा-योग्यं=भूमिकानुसार यथोचित; विनय:=विनय; नय-कोविदै:=नीति में निपुणों द्वारा।

अन्वय : नय-कोविदै: रत्न-त्रितय-राजिते चतु:-विधे सङ्घे यथा-योग्यं भक्त्या विनय: विधातव्य:।

वचनिका : नीति में निपुण व्यक्तिओं द्वारा रत्नत्रय से शोभित मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चार प्रकारवाले संघ में यथा-योग्य भक्ति से विनय करना चाहिए।।४४/१२०२।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय का महत्त्व प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **विनयेन विहीनस्य व्रत-शील-पुरस्सरा:।**
निष्फला: सन्ति निश्शेषा गुणा गुणवतां मता:।।४५/१२०३।।

गुणवान विनय-विरहित के व्रत शीलादि प्रमुख।
संपूर्ण गुण निष्फल हैं यों ज्ञानी द्वारा कथित।।४५/१२०३।।

शब्दश: अर्थ : विनयेन=विनय से; विहीनस्य=रहित का; व्रत-शील-पुरस्सरा:=व्रत, शील प्रमुख; निष्फला:=फल-रहित/व्यर्थ; सन्ति=हैं; निश्शेषा:=संपूर्ण; गुणा:=गुण/विशेषताएं; गुणवतां=गुणवानों के; मता:=मानना है।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वय में है। शेष इसप्रकार है—निश्शेषा: गुणा: निष्फला: सन्ति (इति) गुणवतां मता:।

वचनिका : विनय से विरहित के व्रत, शील प्रमुख सभी गुण निष्फल हैं—ऐसा गुणवानों का मानना है।।४५/१२०३।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी महत्ता को सोदाहरण पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **विनश्यन्ति समस्तानि व्रतानि विनयं विना।**
सरोरुहाणि तिष्ठन्ति सलिलेन विना कुत: ?।।४६/१२०४।।

सभी व्रत हो जाते नष्ट विनय के अभाव में।
कमल कैसे रह सकते नीर के अभाव में?।।४६/१२०४।।

शब्दश: अर्थ : विनश्यन्ति=नष्ट हो जाते हैं; समस्तानि=सभी; व्रतानि=व्रत; विनयं=विनय को; विना=रहित; सरोरुहाणि=कमल; तिष्ठन्ति=रहते हैं; सलिलेन=जल से; विना=रहित; कुत:=कैसे?

अन्वय : विनयं विना समस्तानि व्रतानि विनश्यन्ति सलिलेन विना सरोरुहाणि कुत: तिष्ठन्ति?

वचनिका : विनय के अभाव में सभी व्रत नष्ट हो जाते हैं। जल के विना कमल कैसे रह सकते हैं?।।४६/१२०४।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय की कार्य-क्षमता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **निर्वृत्तिस्तरसा वश्या विनयेन विधीयते।**
आत्मनीनसुखाधारा सौभाग्येनेव कामिनी।।४७/१२०५।।

सौभाग्य से स्त्री-सम स्वयं को सुख-आश्रयी।
मुक्ति शीघ्र ही वश में विनय से की जाति ही।।४७/१२०५।।

शब्दश: अर्थ : निर्वृत्ति:=मोक्ष; तरसा=वेग से; वश्या=वश में; विनयेन=विनय द्वारा; विधीयते=की जाती है; आत्मनीन-सुख+आधारा=आत्मा के सुख का आधारभूत; सौभाग्येन= सौभाग्य द्वारा; इव=समान; कामिनी=स्त्री।

अन्वय : सौभाग्येन कामिनी इव विनयेन आत्मनीन-सुख-आधारा निर्वृत्तिः तरसा वश्या विधीयते।

वचनिका : जैसे—सौभाग्य से स्त्री वश में की जाती है; उसीप्रकार विनय से आत्मा के हितरूप सुख की आधारभूत मुक्ति-दशा वेग पूर्वक शीघ्र ही अवश्य वश में की जाती है।।४७/१२०५।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय से होनेवाले लाभ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपो-ज्ञानानि देहिना।**
अवाप्यन्ते विनीतेन यशान्सीव विपश्चिता।।४८/१२०६।।

विद्वान द्वारा यश के सम विनयी प्राणी प्राप्त हैं।
सम्यग्दर्शन-चारित्र-ज्ञान-तप आदि नित्य ये।।४८/१२०६।।

शब्दशः अर्थ : सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपः-ज्ञानानि=सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप, सम्यग्ज्ञान; देहिना=प्राणी द्वारा; अवाप्यन्ते=प्राप्त किए जाते हैं; विनीतेन=विनयवान द्वारा; यशान्सि=यश; इव=समान; विपश्चिता=विद्वान द्वारा।

अन्वय : विपश्चिता यशान्सि इव विनीतेन देहिना सम्यग्दर्शन-चारित्र-तपः-ज्ञानानि अवाप्यन्ते।

वचनिका : जैसे—विद्वान को यश प्राप्त होता है; उसीप्रकार विनयवान व्यक्ति को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप प्राप्त हो जाते हैं।।४८/१२०६।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय की सामर्थ्य वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **तस्य कल्पद्रुमो भृत्यस्तस्य चिन्तामणिः करे।**
तस्य सन्निहितो यक्षो विनयो यस्य निर्मलः।।४९/१२०७।।

जिसके निर्मल विनय उसका कल्प-तरु सेवक सदा।
चिंतामणि है कर में यक्ष की भी निकटता।।४९/१२०७।।

शब्दशः अर्थ : तस्य=उसका; कल्प-द्रुमः=कल्पवृक्ष; भृत्यः=सेवक; तस्य=उसका; चिन्ता-मणि=चिंतित को देनेवाला रत्न; करे=हाथ में; तस्य=उसका; सन्निहितः=निकटवर्ती; यक्षः =सभी कार्य करनेवाला देव; विनयः=नम्रता; यस्य=जिसका; निर्मलः=निर्दोष।

अन्वय : यस्य विनयः निर्मलः तस्य कल्प-द्रुमः भृत्यः तस्य करे चिन्तामणिः यक्षः तस्य सन्निहितः।

वचनिका : जिस व्यक्ति का विनय निर्दोष है; उसका कल्प-वृक्ष सेवक है; उसके हाथ में चिंतामणि है; सभी कार्यों को करनेवाला यक्ष, उसका निकटवर्ती है।

भावार्थ : विनयरूप शुभ-भावों के कारण पुण्य-बंध होता है। उसके उदय में कल्प-वृक्षादि सभी पदार्थ सुख-दाई होकर परिणमित होते हैं।।४९/१२०७।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय का प्रदेय बताकर उसे करने की प्रेरणा देते हैं—

अनुष्टुभ् : **आराध्यन्तेऽखिला येन त्रिदशाः सपुरन्दराः।**
सङ्घस्याराधने तस्य विनीतस्यास्ति कः श्रमः?।।५०/१२०८।।
जिससे इंद्र-युत सब सुर हो जाते आराध्य हैं।
संघ-आराधन में श्रम क्या उस विनयवान के?।।५०/१२०८।।

शब्दशः अर्थ : आराध्यन्ते=आराधना के योग्य हो जाते हैं; अखिलाः=सभी; येन=जिससे; त्रिदशाः=देव; स-पुरन्दराः=इन्द्र-सहित; सङ्घस्य=संघ का; आराधने=आराधना करने में; तस्य=उसका; विनीतस्य=विनयवान का; अस्ति=है; कः=कौन/क्या; श्रमः=खेद।

अन्वय : येन स-पुरन्दराः अखिलाः त्रिदशाः आराध्यन्ते तस्य विनीतस्य सङ्घस्य आराधने श्रमः कः?

वचनिका : जिस विनय से इंद्र-सहित सभी देव आराधना के योग्य हो जाते हैं/इसकी आराधना करने लगते हैं; उस विनयवान को संघ की आराधना में श्रम क्या है?

भावार्थ : जिस विनय-भावना द्वारा इंद्रादि देव चरणों की सेवा करने लगते हैं; उस विनयवान को संघ की विनय करने में क्या खेद है? लाभ ही है।।५०/१२०८।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय के लाभ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **क्रोध-मानादयो दोषाश्छिद्यन्ते येन बैर-दाः।**
न बैरिणो विनीतस्य तस्य सन्ति कथञ्चन।।५१/१२०९।।
बैर-दा क्रोध मानादि दोष जिससे नष्ट हैं।
उस विनयी के बैरी नहिं किसी भी प्रकार से।।५१/१२०९।।

शब्दशः अर्थ : क्रोध-मान+आदयः=क्रोध, मान आदि; दोषाः=दोष/विकार; छिद्यन्ते=नष्ट हो जाते हैं; येन=जिससे; बैर-दाः=बैर देनेवाले; न=नहीं; बैरिणः=बैरी; विनीतस्य=विनयवान का; तस्य=उसका; सन्ति=हैं; कथञ्चन=किसी प्रकार भी।

अन्वय : येन बैरदाः क्रोध-मान-आदयः दोषाः छिद्यन्ते तस्य विनीतस्य कथञ्चन बैरिणः न सन्ति।

वचनिका : जिस विनय से बैर-भाव को देनेवाले क्रोध, मानादि भाव नष्ट हो जाते हैं; उस विनय भाववाले के किसी भी प्रकार से शत्रु नहीं होते हैं।

भावार्थ : विनयवान से कोई बैर नहीं रखता है।।५१/१२०९।।

अब, इस पद्य द्वारा विनयवान का कार्य प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **काल-त्रयेऽपि ये लोके विद्यन्ते परमेष्ठिनः।**
तेन विनीतेन निश्शेषाः पूजिता वन्दिताः स्तुताः।।५२/१२१०।।

लोक में जो त्रय-कालिक परमेष्ठी विद्यमान हैं।
वे सभी विनयी द्वारा पूजित वंदित स्तुत्य हैं।।५२/१२१०।।

शब्दशः अर्थ : काल-त्रये=तीन काल में; अपि=भी; ये=जो; लोके=जगत में; विद्यन्ते=विद्यमान हैं; परमेष्ठिनः=परमेष्ठी; ते=वे; विनीतेन=विनयवान द्वारा; निश्शेषाः=सभी; पूजिताः=पूजे जाते हैं; वन्दिताः=नमन किए जाते हैं; स्तुताः=स्तुति किए जाते हैं।

अन्वय : लोके काल-त्रये अपि ये परमेष्ठिनः विद्यन्ते ते निश्शेषाः विनीतेन तेन....स्तुताः।

वचनिका : लोक में भूत, वर्तमान, भविष्यरूप तीन कालों में भी अरहंतादि जो परमेष्ठी विद्यमान हैं; वे सभी, विनयवान द्वारा पूजे, वंदे और वचन-गोचर किए जाते हैं।

भावार्थ : जिसके विनय है, उसके सभी परमेष्ठिओं की भक्ति है।।५२/१२१०।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय का विस्तार करने का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **गर्वा निखर्व्यते तेन जन्यते गुरु-गौरवम्।**
आर्जवं दर्श्यते स्वस्य प्रश्रयं* वितनोति यः।।५३/१२११।।

जो विनय विस्तारे उसने मान मिटा दिया।
गुरु गौरव प्रकटाया अपना आर्जव दिखा दिया।।५३/१२११।।

शब्दशः अर्थ : गर्वः=घमंड; निखर्व्यते=नष्ट किया जाता है; तेन=उससे; जन्यते=प्रकट किया जाता है; गुरु-गौरवं=गुरु के प्रति सम्मान; आर्जवं=सरलता; दर्श्यते=दिखाया जाता है; स्वस्य=अपना; प्रश्रयं/विनयं=विनय को; वितनोति=विस्तृत करता है; यः=जो।

अन्वय : यः प्रश्रयं/विनयं वितनोति तेन गर्वः निखर्व्यते गुरु-गौरवं जन्यते स्वस्य आर्जवं दर्श्यते।

वचनिका : जो व्यक्ति विनय का विस्तार करता है; उसने अपनी मान-कषाय नष्ट की है, गुरु के गौरव को/गुरु के प्रति सम्मान को प्रकट किया है और अपना सरल-भाव दर्शाया है।।५३/१२११।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय का लौकिक लाभ प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **विनीतस्यामला कीर्तिर्बभ्रमीति मही-तले।**
सुखयन्ती जनं सेव्या कान्तिः शीतरुचेरिव।।५४/१२१२।।

** विनयं —इति पाठान्तरम्।*

शशि-सम कांति सेवन-योग्य सुखी करती लोक को।
विनयी की निर्मल कीर्ति फैले भू-तल व्याप्त हो।।५४/१२१२।।

शब्दश: अर्थ : विनीतस्य=विनयवान का; अमला=निर्दोष; कीर्तिः=कीर्ति; बभ्रमीति=विशेषरूप से घूमता है; महीतले=पृथ्वी-तल पर; सुखयन्ती=सुखी करती हुई; जनं=प्राणी को; सेव्या =सेवन-योग्य; कान्तिः=प्रभा; शीत-रुचेः=चंद्रमा का; इव=समान।

अन्वय : विनीतस्य सेव्या अमला कीर्तिः शीत-रुचेः कान्तिः इव जनं सुखयन्ती महीतले बभ्रमीति।

वचनिका : विनयवान व्यक्ति की सेवन करने-योग्य निर्मल कीर्ति, चंद्रमा की कांति के समान प्राणी को सुखी करती हुई पृथ्वी-तल पर अतिशयता पूर्वक घूमती है, सकल जगत में फैल जाती है।।५४/१२१२।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय की हेतुता प्रसिद्ध करते हैं—

अनुष्टुभ् : **विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः।**
विनयः कारणं प्रीतेर्विनयः कारणं मतेः।।५५/१२१३।।

विनय मुक्ति का कारण लक्ष्मी का कारण विनय।
विनय प्रीति का कारण बुद्धि का कारण विनय।।५५/१२१३।।

शब्दश: अर्थ : विनयः=नम्रता; कारणं=साधन; मुक्तेः=मोक्ष का; विनयः=मृदुता; कारणं=हेतु; श्रियः=लक्ष्मी का; विनयः=कोमलता; कारणं=साधन; प्रीतेः=प्रीति/स्नेह का; विनयः=विनय; कारणं=हेतु; मतेः=बुद्धि का।

अन्वय : विनयः मुक्तेः कारणं विनयः श्रियः कारणं विनयः प्रीतेः कारणं विनयः मतेः कारणं।

वचनिका : विनय, मोक्ष का कारण है; विनय, लक्ष्मी का कारण है; विनय, प्रीति/स्नेह का कारण है; विनय, बुद्धि का कारण है।।५५/१२१३।।

अब, इस पद्य द्वारा विनय की आवश्यकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **विनयेन विना पुन्सो न सन्ति गुण-सम्पदः।**
न वीजेन विना क्वापि जायन्ते सस्य-जातयः।।५६/१२१४।।

बीज-विन धान्य की जाति कहीं भी होती नहीं।
विनय के विना प्राणी के गुण-संपत्ति नहीं।।५६/१२१४।।

शब्दश: अर्थ : विनयेन=विनय से; विना=रहित; पुन्सः=व्यक्ति का; न=नहीं; सन्ति=हैं; गुण-सम्पदः=गुणरूपी संपदा; न=नहीं; वीजेन=बीज से; विना=रहित; क्व=कहाँ; अपि=भी; जायन्ते=उत्पन्न होते हैं; सस्य-जातयः=धान्य की जातिआँ।

अन्वय : (यथा) वीजेन विना क्व अपि सस्य-जातय: न जायन्ते (तथा) विनयेन विना पुन्स: गुण-सम्पद: न सन्ति।

वचनिका : जैसे—बीज के विना कहीं भी धान्य की जातिआँ उत्पन्न नहीं होती हैं; उसीप्रकार विनय के विना व्यक्ति के गुणों की संपदा नहीं होती है।।५६/१२१४।।

विनय-विना लक्ष्मी की प्राप्ति सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं य: प्रार्थयति दुर्मना:।**
स मूल्येन विनानूनं रत्नं स्वीकर्तुमिच्छति।।५७/१२१५।।
विनय के विना लक्ष्मी जो दुश्चित्ती चाहता।
वह मूल्य विना निश्चित रत्न लेना चाहता।।५७/१२१५।।

शब्दश: अर्थ : प्रश्रयेण=विनय से; विना=रहित; लक्ष्मीं=संपत्ति को; य:=जो; प्रार्थयति=चाहता है; दुर्मना:=दुष्ट मनवाला; स:=वह; मूल्येन=मूल्य से; विना=रहित; अनूनं=वास्तव में; रत्नं=रत्न को; स्वीकर्तुं=स्वीकार करने के लिए; इच्छति=चाहता है।

अन्वय : य: दुर्मना: प्रश्रयेण विना लक्ष्मीं प्रार्थयति स: अनूनं मूल्येन विना रत्नं स्वीकर्तुं इच्छति।

वचनिका : जो दुष्ट-चित्ती व्यक्ति विनय के विना लक्ष्मी को चाहता है; वह वास्तव में मूल्य के विना रत्न को स्वीकार करना चाहता है।।५७/१२१५।।

किसके विना किसका महत्त्व नहीं है? यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **का सम्पदविनीतस्य का मैत्री चल-चेतस:?**
का तपस्या विशीलस्य का कीर्ति: कोपवर्तिन:?।।५८/१२१६।।
अविनयी का वैभव क्या चंचल-चित्त क्या मित्रता?
शील-विन की तपस्या क्या क्रोध-युत की कीर्ति क्या?।।५८/१२१६।।

शब्दश: अर्थ : का=क्या; सम्पत्=संपत्ति; अविनीतस्य=अविनयी का; का=क्या; मैत्री=मित्रता; चल-चेतस:=अस्थिर चित्तवाले का; का=क्या; तपस्या=तपश्चर्या; विशीलस्य=शील-रहित का; का=क्या; कीर्ति:=ख्याति; कोपवर्तिन:=क्रोधी का।

अन्वय : अविनीतस्य सम्पत् का चल-चेतस: मैत्री का वि-शीलस्य तपस्या का कोपवर्तिन: कीर्ति: का?

वचनिका : विनय-रहित व्यक्ति का वैभव क्या? अस्थिर चित्तवाले की मित्रता क्या? शील-रहित व्यक्ति की तपस्या क्या? क्रोधी व्यक्ति की कीर्ति क्या? अविनय आदि विकारों के रहते सम्पत्ति आदि का कुछ भी लाभ नहीं है।।५८/१२१६।।

'यहाँ नहीं तो वहाँ नहीं' इसे अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न शठस्येह यस्यास्ति तस्यामुत्र कथं सुखम्?**
न कच्छे कर्कटी यस्य गृहे तस्य कुतस्तनी।।५९/१२१७।।

जिस शठ के यहाँ सुख नहिं पर-भव में कैसे उसे?
जिसके कच्छ ककड़ी नहिं हो घर में कैसे उसे?।।५९/१२१७।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; शठस्य=मायावी का; इह=यहाँ; यस्य=जिसका; अस्ति=है; तस्य =उसका; अमुत्र=पर-भव में; कथं=कैसे; सुखं=सुख; न=नहीं; कच्छे=बाड़ी/क्यारी में; कर्कटी=ककड़ी; यस्य=जिसका; गृहे=घर में; तस्य=उसका; कुतस्तनी=कैसे।

अन्वय : यस्य शठस्य इह सुखं न तस्य अमुत्र सुखं कथं? यस्य कच्छे कर्कटी न तस्य गृहे कुतस्तनी?

वचनिका : जिस व्यक्ति को इस-लोक में संतोषरूपी सुख नहीं है, उसे पर-लोक में वह कैसे होगा? जिसकी बाड़ी में ककड़ी नहीं है, उसके घर में वह कैसे हो सकती है? नहीं होगी।।५९/१२१७।।

अब, इस पद्य द्वारा समापन-परक मार्ग-दर्शन प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **लाभालाभौ विबुद्ध्येति भो विनीताविनीतयो:।**
विनीतेन सदा भाव्यं विमुच्याविनयं त्रिधा।।६०/१२१८।।

यों जान अविनय-विनय हानि लाभ मन वच काय से।
अविनय छोड़कर वर्तो त्रिधा ही नित विनय से।।६०/१२१८।।

शब्दश: अर्थ : लाभालाभौ=लाभ और हानि को; विबुद्ध्य=भली-भाँति जानकर; इति= इसप्रकार; भो=संबोधन-वाचक/हे सुखार्थी!; विनीत+अविनीतयो:=विनय और अविनय-युक्त भावों के; विनीतेन=विनय से; सदा=निरंतर; भाव्यं=होना योग्य है; विमुच्य=छोड़कर; अविनयं=अविनय को; त्रिधा=तीन प्रकार से।

अन्वय : इति विनीत-अविनीतयो: लाभ-अलाभौ विबुद्ध्य भो! अविनयं त्रिधा विमुच्य सदा त्रिधा विनीतेन भाव्यम्।

वचनिका : इसप्रकार विनयवान और विनय-रहित के लाभ और हानि जानकर हे शिष्य! मन, वचन, काय से अविनय का त्यागकर विनय-सहित होना योग्य है।।६०/१२१८।।

इसप्रकार विनय का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे चौदह पद्यों द्वारा वैयावृत्त्य वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा यह निरूपित है कि वैयावृत्ति किनकी और क्यों करनी चाहिए? —

अनुष्टुभ् : **कृतान्तैरिव दुर्वारैः पीडितानां परीषहैः।**
वैयावृत्त्यं विधातव्यं मुमुक्षूणां विमुक्तये।।६१/१२१९।।

यम-वत् अति अनिवार परिषहों से पीड़ित।
मुमुक्षुओं की शिव हेतु करने-योग्य वैयावृत्त्य।।६१/१२१९।।

शब्दशः अर्थ : कृत+अन्तैः=यम/मृत्यु से; इव=समान; दुर्वारैः=कठिनाई से दूर होनेवाले; पीडितानां=कष्ट-युक्त; परीषहैः=परिषहों/संकटों से; वैयावृत्त्यं=टहल-चाकरी करना; विधातव्यं =करना चाहिए; मुमुक्षूणां=मोक्ष के इच्छुकों के; विमुक्तये=मोक्ष के लिए।

अन्वय : कृतान्तैः इव दुर्वारैः परीषहैः पीडितानां मुमुक्षूणां विमुक्तये वैयावृत्त्यं विधातव्यम्।

वचनिका : यम के समान कष्ट से दूर होनेवाले रोगादि परिषहों से पीड़ित मोक्ष के अभिलाषी आचार्य आदि की मुक्ति के लिए टहल-चाकरीरूप वैयावृत्त्य करना, योग्य है।

भावार्थ : लौकिक कार्य की वांक्षा-रहित, मात्र मुक्ति के लिए वैयावृत्त्य करना चाहिए।।६१/१२१९।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्ति के अवसर प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **दुर्भिक्षे मरके रोगे चौर-राजाद्युपद्रुते।**
कर्मक्षयाय कर्तव्या व्यावृतिर्व्रतवर्तिनाम्।।६२/१२२०।।

दुर्भिक्ष मारी रोग उपद्रव-चौर राजादि।
में कर्म-क्षय हेतु वैयावृत्ति व्रती की।।६२/१२२०।।

शब्दशः अर्थ : दुर्भिक्षे=दुर्भिक्ष में; मरके=मरी में; रोगे=रोग में; चौर-राजा+आदि+उपद्रुते= चौर, राजा आदि द्वारा किए गए उपद्रव में; कर्म-क्षयाय=कर्मों का क्षय करने के लिए; कर्तव्या=करना चाहिए; व्यावृतिः=वैयावृत्ति; व्रत-वर्तिनां=व्रतिओं की।

अन्वय : पूर्वार्ध अन्वयरूप है; शेष इसप्रकार है — कर्म-क्षयाय व्रत-वर्तिनां व्यावृत्तिः कर्तव्या।

वचनिका : दुर्भिक्ष, मरी, रोग में; चौर, राजा आदि द्वारा किए गए उपद्रव में कर्मों का क्षय करने के लिए व्रतिओं की टहल-चाकरीरूप वैयावृत्ति करना योग्य है।।६२/१२२०।।

वैयावृत्ति किनकी, कैसे और कौन करे? इन्हें अब, इन दो पद्यों द्वारा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आचार्येऽध्यापके वृद्धे गण-रक्षे प्रवर्तके।**
शैक्ष्ये तपोधने सङ्घे गणे ग्लाने दशस्वपि।।६३/१२२१।।

प्राषुकैरौषधैर्योग्यैर्मनसा वपुषा गिरा।
विधेया व्यावृतिः सद्भिर्भवभ्रान्तिं जिहासुभिः।।६४/१२२२।।

आचार्य उपाध्याय वृद्ध गण-रक्षक प्रवर्तकी।
शैक्ष्य तपोधन संघ गण ग्लान इन सब दशों की।।६३/१२२१।।
उचित प्राषुक औषध से मन वचन काय वृत्ति से।
वैयावृत्ति करना भव-भ्रमण क्षय हेतु से।।६४/१२२२।।

शब्दशः अर्थ : आचार्ये=आचार्य में; अध्यापके=उपाध्याय में; वृद्धे=दीर्घ-कालीन-दीक्षित वृद्ध में; गण-रक्षे=गण-रक्षक में; प्रवर्तके=संघ की प्रवृत्ति करानेवाले प्रवर्तक में; शैक्ष्ये=शास्त्रों को सीखने में लगे शैक्ष्य में; तपोधने=महोपवासादि करनेवाले तपस्वी में; सङ्घे=चतुर्विध संघ में; गणे=बड़े मुनिओं के शिष्यरूप गण में; ग्लाने=रोगादि से क्लेशरूप शरीर-युक्त ग्लान में; दशसु=दशों में; अपि=भी।

प्राषुकैः=प्राषुक से; औषधेः=औषधि से; योग्यैः=योग्य से; मनसा=मन द्वारा; वपुषा=शरीर द्वारा; गिरा=वाणी द्वारा; विधेया=करने-योग्य है; व्यावृत्तिः=वैयावृत्त्य; सद्भिः=सज्जनों द्वारा; भव-भ्रान्ति-जिहासुभिः=भव-भ्रमण का त्याग करने के इच्छुक द्वारा।

अन्वय : प्रथम पद्य अन्वय में ही है; द्वितीय का वह इसप्रकार है—भव-भ्रान्ति-जिहासुभिः सद्भिः योग्यैः प्राषुकैः औषधेः मनसा गिरा वपुषा व्यावृत्तिः विधेया।

वचनिका : व्रतों का आचरण करने और करानेवाले आचार्य; शास्त्रों का अध्ययन करानेवाले उपाध्याय, बहुत काल से दीक्षित वृद्ध, गण की रक्षा करनेवाले गण-रक्ष, संघ की प्रवृत्ति करानेवाले प्रवर्तक; शास्त्रों के सीखने में लगे शैक्ष्य, महोपवासादि करनेवाले तपस्वी, चार प्रकार के मुनिओं का समूह संघ, बड़े मुनिओं के शिष्यरूप गण, रोगादि द्वारा क्लेशरूप शरीरवाले ग्लान—इन दश प्रकारवाले मुनिओं में/की; संसार-परिभ्रमण का त्याग करने के वांक्षक सत्पुरुषों द्वारा व्रतिओं के लेने-योग्य प्राषुक औषधि द्वारा; मन, वचन, काय द्वारा टहल-चाकरीमय वैयावृत्त्य करने-योग्य है।।६३-६४/१२२१-१२२२।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत संदर्भ से अधर्मी की पहिचान बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **तपोभिर्दुष्करै रोगैः पीड्यमानं तपोधनम्।**
यो दृष्ट्वोपेक्षते शक्तो निधर्मा न ततः परः।।६५/१२२३।।

दुष्कर तपों से रोगों से पीड़ित मुनि देख जो।
शक्ति-युत उपेक्षक हो नहिं उस-सा अधर्मि हो।।६५/१२३।।

शब्दश: अर्थ : तपोभि:=तपों द्वारा; दुष्करै:=कठिनता से होनेवाले द्वारा; रोगै:=रोगों द्वारा; पीड्यमानं=पीड़ित; तप:-धनं=मुनि को; य:=जो; दृष्ट्वा=देखकर; उपेक्षते=उपेक्षा करता है; शक्त:=सामर्थ्य-युत; निधर्मा=अधर्मी; न=नहीं; तत:=उससे; पर:=दूसरा।
अन्वय : दुष्करै: तपोभि: रोगै: पीड्यमानं तपोधनं दृष्ट्वा शक्त: य: उपेक्षते तत: पर: निधर्मा न।
वचनिका : कठिनता पूर्वक किए जानेवाले तपों द्वारा रोगों से पीड़ित साधु को देखकर सामर्थ्य -संपन्न होने पर भी जो उनकी उपेक्षा करता है, उपचारादि नहीं करता है; उसके अतिरिक्त अधर्मी अन्य नहीं है।।६५/१२२३।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्त्यकरण का माहात्म्य प्रस्तुत है

अनुष्टुभ् : **गृहस्थोऽपि यतिर्ज्ञेयो वैयावृत्त्य-परायण:।**
वैयावृत्त्यविनिर्मुक्तो न गृहस्थो न संयत:।।६६/१२२४।।
वैयावृत्त्य में लीन गृही भी मुनि-सम समझ।
वैयावृत्त्य-रहित ना ही गृहस्थ ना ही संयत।।६६/१२२४।।

शब्दश: अर्थ : गृहस्थ:=घर-वसानेवाला; अपि=भी; यति:=मुनि-समान; ज्ञेय:=जानना चाहिए; वैयावृत्त्य-परायण:=वैयावृत्य में लगा हुआ; वैयावृत्त्य-विनि:-मुक्त:=वैयावृत्त्य करने से पूर्णतया रहित; न=नहीं; गृहस्थ:=घर-बसानेवाला; न=नहीं; संयत:=मुनि।
अन्वय : वैयावृत्त्य-परायण: गृहस्थ:.... शेष यथावत्।
वचनिका : वैयावृत्त्य में संलग्न गृहस्थ भी यति के समान जानना। वैयावृत्त्य से रहित व्यक्ति न तो गृहस्थ है और न ही मुनि है।।६६/१२२४।।

अब, इस पद्य द्वारा इसे ही पुन: पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **वैयावृत्त्य-पर: प्राणी पूज्यते संयतैरपि।**
लभते न कुत: पूजामुपकार-परायण:?।।६७/१२२५।।
वैयावृत्त्य-कारक जीव संयतों से भि पूज्य है।
उपकार करनेवाला कैसे नहिं पूजा लहे?।।६७/१२२५।।

शब्दश: अर्थ : वैयावृत्त्य-पर:=वैयावृत्त्य करने में संलग्न; प्राणी=संसारी; पूज्यते=सम्मान पाता है; संयतै:=मुनिओं द्वारा; अपि=भी; लभते=पाता है; न=नहीं; कुत:=कैसे; पूजां=पूजा को; उपकार-परायण:=उपकार करनेवाला।
अन्वय : वैयावृत्त्यपर: प्राणी संयतै: अपि पूज्यते उपकार-परायण: पूजां कुत: न लभते?
वचनिका : वैयावृत्त्य में संलग्न जीव, संयमिओं द्वारा भी पूज्य/सम्मानित होता है। उपकार करनेवाला व्यक्ति किससे पूजा को प्राप्त नहीं होता है? सभी से होता ही है।।६७/१२२५।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्ति का महत्त्व प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **संयमो दर्शनं ज्ञानं स्वाध्यायो विनयो नय:।**
सर्वेऽपि तेन दीयन्ते वैयावृत्त्यं तनोति य:।।६८/१२२६।।

संयम दर्शन सुज्ञान स्वाध्याय नीति विनय।
वैयावृत्ति जो करता देता ये सब ही सतत।।६८/१२२६।।

शब्दश: अर्थ : संयम:=संयम/सम्यक्चारित्र; दर्शनं=सम्यग्दर्शन; ज्ञानं=सम्यग्ज्ञानं; स्वाध्याय:= स्वाध्याय; विनय:=विनय; नय:=नीति; सर्वे=सब; अपि=भी; तेन=उससे; दीयन्ते=दिए गए हैं; वैयावृत्त्यं=सेवा-शुश्रूषा को; तनोति=करता है; य:=जो।

अन्वय : य: वैयावृत्त्यं तनोति तेन संयम: दर्शनं ज्ञानं स्वाध्याय: विनय: नय: सर्वे अपि दीयन्ते।

वचनिका : जो व्यक्ति वैयावृत्त्य करता है; उसके द्वारा संयम, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, स्वाध्याय, विनय, नीति—ये सभी दिए जाते हैं।

भावार्थ : वैयावृत्त्य करने से व्रती स्वस्थ होता है, उससे संयमादि निर्विघ्न साधता है; अत: जिसने व्रतिओं की टहल-चाकरी की; उसने संयमादि सभी दिए—ऐसा कहा है।।६८/१२२६।।

अब, इस पद्य द्वारा पुन: उसे ही पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **निर्वृत्तिर्दीयते येन तेन धर्मो विधाप्यते।**
आगमोऽध्याप्यते तेन क्रियते तेन वा न किम्?।।६९/१२२७।।

जिसने दी निर्वृत्ति कराया उसने धर्म।
पढ़ाया आगम उसने उसने क्या नहिं किया वर?।।६९/१२२७।।

शब्दश: अर्थ : निर्वृत्ति:=अनुकूलता; दीयते=दी जाती है; येन=जिसके द्वारा; तेन=उसके द्वारा; धर्म:=धर्म; विधाप्यते=कराया गया है; आगम:=शास्त्र; अध्याप्यते=पढ़ाया गया है; तेन=उसके द्वारा; क्रियते=किया गया है; तेन=उसके द्वारा; वा=अन्य दूसरा; न=नहीं; किं=क्या।

अन्वय : येन निर्वृत्ति: दीयते तेन धर्म: विधाप्यते तेन आगम: अध्याप्यते वा तेन किं न क्रियते?

वचनिका : जिस व्यक्ति द्वारा धर्मात्मा जीवों को अनुकूलता दी गई है, उसने उससे धर्म कराया है, उसे आगम पढ़ाया है; अथवा उसके द्वारा कौन-सा उत्तम कार्य नहीं किया गया है? सभी किया है।

भावार्थ : धर्मात्मा जब निराकुल होता है, तब धर्म-साधन करता है, शास्त्राध्ययन करता है, अन्य भी धर्म-कार्य करता है; अत: जिसने उस धर्मात्मा को निराकुल किया, उसने धर्मादि

सभी उत्तम कार्य किए—ऐसा कहा है।।६९/१२२७।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्त्य करनेवाले का पुन: माहात्म्य प्रदर्शित है—

अनुष्टुभ् : **समाधिर्विहितस्तेन जिनाज्ञा तेन पालिता।**
धर्मो विस्तारितस्तेन तीर्थं तेन प्रवर्तितम्।।७०/१२२८।।

समाधि की है उसने पाला जिन-आदेश भी।
धर्म फैलाया उसने की है धर्म प्रवृत्ति भी।।७०/१२२८।।

शब्दश: अर्थ : समाधि:=समता; विहित:=की गई है; तेन=उसके द्वारा; जिन+आज्ञा=जिनेंद्र भगवान की आज्ञा; तेन=उसके द्वारा; पालिता=पाली गई; धर्म:=धर्म; विस्तारित:=फैलाया गया; तेन=उसके द्वारा; तीर्थं=तीर्थ; तेन=उसके द्वारा; प्रवर्तितं=प्रवर्तित किया/चलाया गया।

अन्वय : तेन समाधि: विहित: तेन जिन-आज्ञा पालित: तेन धर्म: विस्तारित: तेन तीर्थं प्रवर्तितम्।

वचनिका : जो वैयावृत्ति करता है, उसने शुभ-ध्यानरूप समाधि की है, जिनराज की आज्ञा पाली है, धर्म फैलाया है और सम्यक् रत्नत्रयरूप तीर्थ की प्रवृत्ति की है।।७०/१२२८।।

अब, इस पद्य द्वारा उसका विशिष्ट माहात्म्य प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **दुष्प्रापं तीर्थकर्तृत्वं त्रैलोक्य-क्षोभण-क्षमम्।**
प्राप्यते व्यावृतेर्यस्या तस्या: किं न परं फलम्?।।७१/१२२९।।

त्रैलोक्य-क्षोभ-कर-सक्षम दुष्प्राप्य तीर्थकरपना।
पाते जिस वैयावृत्ति से फल उत्तम नहीं क्या?।।७१/१२२९।।

शब्दश: अर्थ : दुष्प्रापं=कठिनाई से प्राप्त होने-योग्य; तीर्थ-कर्तृत्वं=तीर्थ-कर्तापना; त्रैलोक्य-क्षोभण-क्षमं=तीन लोक को क्षुब्ध करने में समर्थ; प्राप्यते=प्राप्त हो जाता है; व्यावृते:=वैयावृत्ति का; यस्या:=जिसकी; तस्या:=उसकी; किं=क्या; न=नहीं; परं=उत्तम; फलं=फल।

अन्वय : यस्या: व्यावृत्ते: फलं त्रैलोक्य-क्षोभण-क्षमं दुष्प्रापं तीर्थ-कर्तृत्वं प्राप्यते तस्या: फलं परं किं न?

वचनिका : जिस वैयावृत्त्य भावना का फल; जिसके प्रभाव से इंद्रादि के आसन-कंपनादि क्षोभ-उत्पन्न होता है इत्यादि रूप में तीन-लोक में क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ, कठिनाई से प्राप्त होनेवाला तीर्थंकरपना प्राप्त हो जाता है, उसका और फल क्या नहीं प्राप्त हो? सभी कुछ प्राप्त होता है।।७१/१२२९।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक वैयावृत्त्य का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **परस्यापोह्यते दु:खं सदा येनोपकुर्वता।**
सम्पद्यते कथं तस्य क्व कार्यं कारणं विना।।७२/१२३०।।

जिस उपकारकी ने नित मिटाया पर दु:ख सब।
उसे कैसे हों दु:ख? कार्य नहिं कारण-रहित।।७२/१२३०।।

शब्दश: अर्थ : परस्य=दूसरे का; अपोह्यते=नष्ट किया जाता है; दु:खं=कष्ट; सदा=नित्य; येन=जिसके द्वारा; उपकुर्वता=उपकार करनेवाले के द्वारा; सम्पद्यते=प्राप्त होता है; कथं= कैसे; तस्य=उसका; क्व=कहाँ; कार्यं=कार्य; कारणं=हेतु को; विना=छोड़।

अन्वय : येन उपकुर्वता सदा परस्य दु:खं अपोह्यते तस्य दु:खं कथं सम्पद्यते? कारणं विना कार्यं क्व?

वचनिका : जिस परोपकार करनेवाले व्यक्ति द्वारा निरंतर दूसरों का दु:ख दूर किया जाता है, उसे दु:ख कैसे हो सकता है? कारण के विना कार्य कहाँ हो सकता है?

भावार्थ : दु:ख का कारण अशुभ-भाव है। परोपकारी के अशुभ-भाव नहीं है, तब वह दुखी कैसे हो सकता है? ऐसा जानना।।७२/१२३०।।

अब, इस पद्य द्वारा वैयावृत्य-कारक की लौकिक उपलब्धिआँ वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **सेव्यो दीर्घायुरादेयो नीरोगो निरुपद्रव:।**
वदान्य: सुन्दरो दक्षो जायते स प्रियम्वद:।।७३/१२३१।।

सेवनीय दीर्घायु आदरणीय निरोग वह।
हो निर्बाध प्रियवादी सुंदर चतुर श्रेष्ठ सब।।७३/१२३१।।

शब्दश: अर्थ : सेव्य=सेवन करने-योग्य; दीर्घ+आयु:=लम्बी आयुवाला; आदेय:=आदर करने-योग्य; नीरोग:=रोग-रहित; नि:-उपद्रव:=बाधा-रहित; वदान्य:=सर्व-श्रेष्ठ; सुन्दर:= सुंदर; दक्ष:=चतुर; जायते=होता है; स:=वह; प्रियम्वद:=प्रिय बोलनेवाला।

अन्वय : स: सेव्यो....प्रियं-वद: जायते।

वचनिका : वैयावृत्त्य करनेवाला वह सेवन करने-योग्य, दीर्घायु, आदरणीय, उपद्रव-रहित, सर्व-श्रेष्ठ, सुंदर, प्रवीण और प्रिय-वादी होता है।।७३/१२३१।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी लोकोत्तर उपलब्धियाँ प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **स धार्मिक: स सद्दृष्टि: स विवेकी स: कोविद:।**
स तपस्वी स चारित्री व्यावृत्तिं विदधाति य:।।७४/१२३२।।

जो करे वैयावृत्त्य वह धार्मिक सद्दृष्टि है।
विवेकी सच्चारित्री तपस्वी ज्ञानवान है।।७४/१२३२।।

शब्दश: अर्थ : स:=वह; धार्मिक:=धर्म-संपन्न; स:=वह; सद्दृष्टि:=सम्यग्दृष्टि; स:=वह;

विवेकी=विवेकवान; स:=वह; कोविद:=ज्ञानवान; स:=वह; तपस्वी=तपश्चर्या-संपन्न; स:=वह; चारित्री=चारित्र-धारक; व्यावृतिं=वैयावृत्त्य को; विदधाति=करता है; य:=जो।

अन्वय : य: व्यावृत्तिं विदधाति स: धार्मिक: ..... चारित्री।

वचनिका : जो वैयावृत्त्य करता है; वह धर्मात्मा, सम्यग्दृष्टि, विवेकी, विद्वान, तपस्वी, चारित्रवान है।

भावार्थ : वैयावृत्त्य होने पर धर्म के सभी अंग प्रकट हो जाते हैं; अत: इस वैयावृत्त्य तप को सभी तपों का सारभूत कहा है।।७४/१२३२।।

इसप्रकार वैयावृत्त्य तप का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे छह पद्यों द्वारा प्रायश्चित्त तप वर्णित है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा, प्रायश्चित्त किनसे और क्यों लिया जाता है? यह स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **आश्रित्य भक्तित: सूरिं रत्न-त्रितय-भूषितम्।**
प्रायश्चित्तं विधातव्यं गृहीत्वा व्रत-शुद्धये।।७५/१२३३।।

रत्नत्रय-शोभित सूरी को भक्ति से पा व्रतों।
की शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त ले आचरण करो।।७५/१२३३।।

शब्दश: अर्थ : आश्रित्य=आश्रय लेकर; भक्तित:=भक्ति से; सूरिं=आचार्य को; रत्नत्रितय-भूषितं=सम्यक् रत्नत्रय से शोभित को; प्रायश्चित्तं=प्रायश्चित्त को; विधातव्यं=आचरण करना चाहिए; गृहीत्वा=ग्रहणकर; व्रत-शुद्धये=व्रत की शुद्धि के लिए।

अन्वय : रत्न-त्रितय-भूषितं सूरिं भक्तित: आश्रित्य व्रत-शुद्धये प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विधातव्यम्।

वचनिका : सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी रत्नत्रय से सुशोभित को भक्ति से प्राप्तकर व्रतों की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त ग्रहणकर उसरूप आचरण करना योग्य है।।७५/१२३३।।

निर्दोष गुरु ही दोष दूर करने में समर्थ हैं; यह सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **न सदोष: क्षम: कर्तुं दोषाणां व्यपनोदनम्।**
कर्दमाक्तं कथं वास: कर्दमेन विशोध्यते।।७६/१२३४।।

दोष नष्ट करने में सदोषी समर्थ नहीं।
कीचड़ लिप्त वस्त्र कैसे शुद्ध हो कीचड़ से ही?।।७६/१२३४।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; स-दोष:=दोष-सहित; क्षम:=समर्थ; कर्तुं=करने के लिए; दोषाणां= दोषों के; व्यपनोदनं=निराकरण; कर्दम+अक्तं=कीचड़ से लिप्त को; कथं=कैसे; वास:=वस्त्र

को; कर्दमेन=कीचड़ द्वारा; विशोध्यते=शुद्ध किया जा सकता है।

अन्वय : स-दोष: दोषाणां व्यपनोदनं कर्तुं क्षम: न; कर्दम-अक्तं वास: कर्दमेन कथं विशोध्यते?

वचनिका : दोष-सहित व्यक्ति दोष दूर करने के लिए समर्थ नहीं हैं; कीचड़ से लिप्त वस्त्र कीचड़ द्वारा कैसे शुद्ध हो सकता है?

भावार्थ : निर्दोष-गुरु ही दोष दूर करके अन्य को शुद्ध करते हैं। दोष-सहित गुरु द्वारा दोष दूर नहीं हो सकते हैं।।७६/१२३४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुन: अन्य प्रकार से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **दोषमालोचितं ज्ञानी सूरिरीशो व्यपोहितुम्।**
अज्ञानेन न वैद्येन व्याधि: क्वापि चिकित्स्यते।।७७/१२३५।।

कहे दोष मिटाने में सक्षम ज्ञानी सूरि ही।
अज्ञानी वैद्य द्वारा रोग की चिकित्सा कहीं नहीं।।७७/१२३५।।

शब्दश: अर्थ : दोषं=दोष को; आलोचितं=आलोचना करनेवाले को; ज्ञानी=सम्यग्ज्ञानी; सूरि:=आचार्य; ईश:=समर्थ; व्यपोहितुं=दूर करने के लिए; अज्ञानेन=सम्यग्ज्ञान-रहित द्वारा; न=नहीं; वैद्येन=वैद्य द्वारा; व्याधि:=रोग; क्व=कहीं; अपि=भी; चिकित्स्यते=उपचार किया जाता है।

अन्वय : आलोचितं दोषं ज्ञानी सूरि: व्यपोहितुं ईश:; अज्ञानेन वैद्येन क्व अपि व्याधि: न चिकित्स्यते।

वचनिका : आलोचित अर्थात् शिष्य द्वारा कहे गए दोष को ज्ञानवान आचार्य दूर करने में समर्थ हैं। अज्ञानी वैद्य द्वारा रोग का उपचार कहीं भी नहीं होता है। रोग का ज्ञाता ही उसका उपचार कर सकता है।।७७/१२३५।।

प्रायश्चित्त किनसे लेना चाहिए? यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आलोच्यर्जुस्वभावेन ज्ञानिने संयतात्मने।**
तदीयवाक्यत: कार्यं प्रायश्चित्तं मनीषिणा।।७८/१२३६।।

संयमी ज्ञानी यति को सरल-भाव से बताकर।
उनके वाक्य से मतिमान को करना प्रायश्चित्त।।७८/१२३६।।

शब्दश: अर्थ : आलोच्य=आलोचनाकर; ऋजु-स्वभावेन=सरल स्वभाव द्वारा; ज्ञानिने= ज्ञानी के लिए; संयत+आत्मने=संयत आत्मावाले के लिए; तदीय-वाक्यत:=उनके वाक्य से; कार्यं=करना योग्य है; प्रायश्चित्तं=प्रायश्चित्त; मनीषिणा=बुद्धिमान द्वारा।

अन्वय : संयत-आत्मने ज्ञानिने ऋजु-स्वभावेन आलोच्य मनीषिणा तदीय-वाक्यत: प्रायश्चित्तं कार्यम्।

वचनिका : संयम-सहित आत्मा/स्वरूप-संपन्न ज्ञानवान आचार्य के लिए सरल-स्वभाव से अपने दोषों को कहकर बुद्धिमान को प्रायश्चित्त करना योग्य है।।७८/१२३६।।

आलोचना किस प्रकार करनी? यह अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **प्राञ्जलीभूय कर्तव्य: सूरेरालोचनस्त्रिधा।**
विपाके दु:खदं कार्यं वक्र-भावेन निर्मितम्।।७९/१२३७।।

आलोचना त्रिधा करना सरल हो आचार्य से।
कुटिलता से किया कार्य दुखद होता विपाक में।।७९/१२३७।।

शब्दश: अर्थ : प्राञ्जलीभूय=सरल होकर; कर्तव्य:=करना चाहिए; सूरे:=आचार्य से; आलोचन:=आलोचना; त्रिधा=तीन प्रकार से; विपाके=विपाक/विशेषरूप से पकते/फल देते समय; दु:खदं=दु:ख देनेवाला; कार्यं=कार्य; वक्र-भावेन=कुटिल भाव से; निर्मितं=किया गया।

अन्वय : त्रिधा प्राञ्जलीभूय सूरे: आलोचन: कर्तव्य: वक्र-भावेन निर्मितं कार्यं विपाके दु:खदम्।

वचनिका : मन, वचन, काय—इन तीनों से सरल होकर आचार्य से आलोचना करना योग्य है; क्योंकि कुटिल-भाव से किया गया कार्य विपाक में दु:ख-दाई होता है।

भावार्थ : अपने दोषों को गुरु से कहना, आलोचना है। उसे तीनों योगों की सरलता पूर्वक करना चाहिए। कुटिलता पूर्वक करने पर वह दु:ख-दाई हो जाती है।।७९/१२३७।।

अब, इस पद्य द्वारा प्रायश्चित्त की आवश्यकता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **फलाय जायते पुन्सो न चारित्रमशोधितम्।**
मलग्रस्तानि शस्यानि कीदृशं कुर्वते फलम्।।८०/१२३८।।

अशोधित चारित्र नहीं फल हेतु जीव को।
मलिनता-युत धान्यों से उत्तम फल कैसे कहो?।।८०/१२३८।।

शब्दश: अर्थ : फलाय=फल के लिए; जायते=होता है; पुन्स:=व्यक्ति का; न=नहीं; चारित्रं=चारित्र; अशोधितं=विना शोधा हुआ; मल-ग्रस्तानि=कूड़ा आदि मल से युक्त; शस्यानि=धान्य; कीदृशं=कैसा; कुर्वते=करता है; फलं=फल को।

अन्वय : अशोधितं चारित्रं पुन्स: फलाय न जायते मल-ग्रस्तानि शस्यानि कीदृशं फलं कुर्वते?

वचनिका : विना शोधा हुआ/दोष-युक्त चारित्र व्यक्ति के फल के लिए नहीं होता है। कूड़ा

आदि मल से सहित धान्य कैसा फल उत्पन्न करता है? उत्पन्न नहीं करता है।।८०/१२३८।।

इसप्रकार प्रायश्चित्त का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे तेरह पद्यों द्वारा स्वाध्याय नामक तप वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा स्वाध्याय करने का कारण और भेद प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **वाचना-पृच्छनाऽऽम्नायाऽनुप्रेक्षा धर्म-देशना।**
स्वाध्याय: पञ्चधा कृत्य: पञ्चमीं गतिमिच्छता।।८१/१२३९।।

मोक्ष-इच्छुक को करना स्वाध्याय वाचना पृच्छना।
आम्नाय अनुप्रेक्षा धर्मोपदेश पंचधा।।८१/१२३९।।

शब्दश: अर्थ : वाचना=शास्त्रों को विधिवत् पढ़ना-पढ़ाना; पृच्छना=प्रश्न करना; आम्नाय= पाठ को घोकना/याद करना; अनुप्रेक्षा=बारंबार चिंतन करना; धर्म-देशना=धर्म का उपदेश देना; स्वाध्याय:=स्वाध्याय नामक तप; पञ्चधा=पाँच प्रकार से; कृत्य:=करने-योग्य है; पञ्चमीं=पाँचवीं; गतिं=गति को/सिद्ध दशा को; इच्छता=चाहनेवाले द्वारा।

अन्वय : पञ्चमीं गतिं इच्छता स्वाध्याय: वाचना-पृच्छना-अनुप्रेक्षा-आम्नाय-धर्म-देशना पञ्च-धा कृत्य:।

वचनिका : पाँचवीं गतिरूप सिद्ध अवस्था की इच्छा करनेवाले व्यक्ति द्वारा पाँच प्रकार से स्वाध्याय करना योग्य है। स्व अर्थात् स्वयं आत्मा को, अध्यायरूप पढ़ना; अथवा सु अर्थात् भली-भाँति शास्त्र का अध्ययन करना, वाचनादि करना, स्वाध्याय है। वह पाँच प्रकार से निम्नलिखितरूप में किया जाता है—

१. **वाचना :** निर्दोष ग्रंथ, अर्थ, उभय—इन्हें भव्य-जीवों को देना, सिखाना, वाचना है।

२. **पृच्छना :** संशय को दूर करने के लिए, निर्बाध निश्चय को पुष्ट करने के लिए ग्रंथ, अर्थ, उभय का प्रश्न करना, पृच्छना है। अपनी उच्चता के लिए, अन्य को ठगने के लिए, नीचा दिखाने के लिए, अन्य का हास्य करने के लिए इत्यादि खोटे आशय से पूछना, पृच्छना नामक तप नहीं है।

३. **अनुप्रेक्षा :** जिस पदार्थ का स्वरूप जान लिया है, उसका मन में बारंबार विचार करना, अनुप्रेक्षा है।

४. **आम्नाय :** पाठ का शुद्ध घोकना/याद करना, आम्नाय है।

५. **धर्मोपदेश :** धर्म-कथा आदि का स्वयं अंगीकार, उपदेश देना, धर्मोपदेश है।

इसप्रकार स्वाध्याय के पंच प्रकार जानना।।८१/१२३९।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय का महत्त्व प्ररूपित है—

उपजाति : **तपोऽन्तरानन्तर-भेद-भिन्ने तपोविधौ किञ्चन पाप-हारि।**

स्वाध्यायतुल्यं न विलोक्यतेऽन्यत् हृषीकदोषप्रशमप्रवीणम्।।८२/१२४०।।

अंतरंग बहिरंग तपोविधि में स्वाध्याय-सम अन्य नहीं है कोई।

नित पापहारी इंद्रिय-दोष प्रशमन प्रवीण दिखता न कोई।।८२/१२४०।।

शब्दश: अर्थ : तप:-अन्तर+अनन्तर-भेद-भिन्ने=तप के अंतरंग और बहिरंग भेद से भिन्न में; तप:-विधौ=तप की विधि में; किञ्चन=कोई; पाप-हारि=पाप का हरण करनेवाला; स्वाध्याय-तुल्यं=स्वाध्याय के समान; न=नहीं; विलोक्यते=दिखाई देता है; अन्यत्=दूसरा; हृषीक-दोष-प्रशम-प्रवीणं=इंद्रियों के दोष को दबाने में निपुण।

अन्वय : तप:-अन्तर-अनन्तर-भेद-भिन्ने तप:-विधौ हृषीक-दोष-प्रशम-प्रवीणं स्वाध्याय-तुल्यं किञ्चन अन्यत् न विलोक्यते।

वचनिका : अंतरंग और बहिरंग भेद से भिन्न बारह प्रकार के तप के विधान में; इंद्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों में राग-द्वेष करनेरूप दोष का उपशम करने में निपुण स्वाध्याय तप के समान पाप का हरण करनेवाला अन्य कोई दिखाई नहीं देता है।।८२/१२४०।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय की सामर्थ्य प्रस्तुत है—

उपजाति : **स्वाध्यायमत्यस्य चलस्वभावं न मानसं मन्त्रयितुं समर्थ:।**

शक्नोति नोन्मूलयितुं प्रवृद्धं तम: परो भास्करमन्तरेण।।८३/१२४१।।

बड़े हुए तम को नष्ट करने रवि के विना अन्य समर्थ नहिं है।

अस्थिर-स्वभावी मन रोकने में स्वाध्याय-विन अन्य समर्थ नहीं है।।८३/१२४१।।

शब्दश: अर्थ : स्वाध्यायं=स्वाध्याय को; अत्यस्य=छोड़कर; चल-स्वभावं=अस्थिर-स्वभाववाले; न=नहीं; मानसं=मन को; मन्त्रयितुं=रोकने के लिए; समर्थ:=सक्षम; शक्नोति= समर्थ होता है; न=नहीं; उन्मूलयितुं=समाप्त करने के लिए; प्रवृद्धं=बहुत बड़े हुए/घने; तम:=अन्धकार को; पर:=दूसरा; भास्करं=सूर्य; अन्तरेण=विना।

अन्वय : (यथा) प्रवृद्धं तम: उन्मूलयितुं भास्करं अन्तरेण पर: न शक्नोति (तथा) चल-स्वभावं मन्त्रयितुं स्वाध्यायं अत्यस्य पर: समर्थ: न।

वचनिका : जैसे—वृद्धि को प्राप्त घने अंधकार को नष्ट करने के लिए सूर्य के विना अन्य समर्थ नहीं है; उसीप्रकार चंचल-स्वभाववाले मन को रोकने के लिए स्वाध्याय के विना अन्य कोई समर्थ नहीं है।।८३/१२४१।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय का प्रभुत्व प्रदर्शित है—

शालिनीं : **यः स्वाध्यायः पापहानिं विधत्ते कृत्वैकाग्र्यं नोपवासः क्षमस्ताम्।**
शक्तः कर्तुं सम्वृतानां[1] न कार्यं लोके दृष्टोऽसम्वृतो[2] दुष्ट-चेष्टः।।८४/१२४२।।

जो स्वाध्याय पाप का नाश करता कर ऐकाग्र्य नहीं सक्षम है अनशन।
जग में दिखता संवृतों के जो कार्य नहिं सक्षम है दुष्ट-चेष्टी असंवृत।।८४/१२४२।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; स्वाध्यायः=स्वाध्याय; पाप-हानिं=पाप की हानि को; विधत्ते=करता है; कृत्वा=करके; ऐकाग्र्यं=एकाग्रता को; न=नहीं; उपवासः=अनशन; क्षमः=समर्थ है; तां=उसे; शक्तः=समर्थ; कर्तुं=करने के लिए; सम्वृतानां=संवर-सहित के/संयतानां=संयतों के; न=नहीं; कार्यं=कार्य को; लोके=जगत में; दृष्टः=देखा जाता है; असम्वृतः=संवर से रहित/असंयतः=संयम से रहित; दुष्ट-चेष्टः=बुरी चेष्टावाला।

अन्वय : ऐकाग्र्यं कृत्वा स्वाध्यायः यः पाप-हानिं विधत्ते तां उपवासः क्षमः न, लोके दृष्टः सम्वृतानां/संयतानां कार्यं कर्तुं दुष्ट-चेष्टः असम्वृतः/असंयतः शक्तः न।

वचनिका : एकाग्रता करके स्वाध्याय नामक तप, पाप की जो हानि करता है, उसे करने में उपवास समर्थ नहीं है। लोक में देखा जाता है कि संवर-रहित/असंयत दुष्ट-चेष्टावाला व्यक्ति, संवर-सहित/संयत जीवों के करने-योग्य कार्य को करने के लिए समर्थ नहीं होता है।

भावार्थ : स्वाध्याय में संवर होता है, उससे कर्मों की निर्जरा होती है। स्वाध्याय के विना मात्र उपवास ही करे और संवर-रहित दुष्ट-चेष्टा में प्रवर्ते; उसके पाप की निर्जरा नहीं होती है।।८४/१२४२।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय की स्व-पर-उपकारकता स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **विज्ञातनिश्शेष-पदार्थजातः कर्मास्रवद्वार-पिधानकारी।**
भूत्वा विधत्ते स्वपरोपकारं स्वाध्यायवर्ती बुधपूजनीयः।।८५/१२४३।।

विज्ञों से पूज्य स्वाध्यायवान संपूर्ण ज्ञेयों को जान करता।
कर्मों के आने के द्वार बंद यों स्व-पर-उपकारक सदा होता।।८५/१२४३।।

शब्दशः अर्थ : विज्ञात-निश्शेष-पदार्थ-जातं=संपूर्ण पदार्थों के समूह को जाननेवाला; कर्म +आस्रव-द्वार-पिधान-कारी=कर्मों के आने के द्वारों को बंद कर देनेवाला; भूत्वा=होकर; विधत्ते=करता है; स्व-पर+उपकारं=अपने और दूसरे के उपकार को; स्वाध्याय-वर्ती= स्वाध्याय में प्रवर्तनेवाला; बुध-पूजनीयः=ज्ञानिओं से पूज्य।

१. संयतानां; २. असंयतो —इति पाठान्तरम्।

अन्वय : प्रारंभिक दो चरण अन्वय में हैं; शेष का वह इसप्रकार है—भूत्वा बुध-पूजनीय: स्वाध्यायवर्ती स्व-पर-उपकारं विधत्ते।

वचनिका : श्रुत-ज्ञान के बल से सकल पदार्थों को जाननेवाला और कर्मों के आने के द्वाररूप मिथ्यात्वादि को रोकनेवाला होकर पंडितों द्वारा पूज्य वह स्वाध्याय में प्रवृत्ति करनेवाला व्यक्ति, अपना और दूसरों का उपकार करता है।।८५/१२४३।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय की कर्म-निर्जरकता प्ररूपित है—

उपजाति : **यद्बुद्धतत्त्वो विधुनोति सद्यो विध्वन्सिताशेषहृषीकदोष:।**
तपोविधानैर्भव-कोटिलक्षैर्नूनं तदज्ञो न धुनोति कर्म।।८६/१२४४।।

जो तत्त्व-ज्ञाता सब अक्ष-दोष-नाशक सदा करता कर्म-नष्ट।
नहिं कर सके अज्ञ अनेक भव में तप-विधि द्वारा कर्मों को नष्ट।।८६/१२४४।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; बुद्ध-तत्त्व:=तत्त्व को जाननेवाला; विधुनोति=नष्ट करता है; सद्य: =शीघ्र; विध्वन्सित+अशेष-हृषीक-दोष:=इंद्रियों के सभी दोषों को नष्ट करनेवाला; तप:-विधानै:=तप के आचरण द्वारा; भव-कोटि-लक्षै:=लाखों-करोड़ों भवों द्वारा; नूनं=वास्तव में; तत्=वह; अज्ञ:=अज्ञानी; न=नहीं; धुनोति=नष्ट करता है; कर्म=कर्म को।

अन्वय : बुद्ध-तत्त्व: विध्वन्सित-अशेष-हृषीक-दोष: सद्य: यत् कर्म विधुनोति, नूनं तत् कर्म अज्ञ: भव-कोटि-लक्षै: तप:-विधानै: न धुनोति।

वचनिका : वस्तु के स्वरूप को जाननेवाला, सभी इंद्रियों के दोषों को नष्ट करनेवाला व्यक्ति शीघ्र ही जिस कर्म की निर्जरा करता है; वास्तव में उस कर्म को अज्ञानी अनेकानेक जन्मों में तप के आचरण द्वारा भी नष्ट नहीं कर पाता है।

भावार्थ : जो निर्जरा होती है, वह श्रुत-ज्ञान के अभ्यास से व्यक्त हुई विशुद्धि के द्वारा होती है; मात्र काय-क्लेश से विशेष निर्जरा नहीं होती है; अत: ज्ञानाभ्यास ही मुख्य है—ऐसा जानना।।८६/१२४४।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि स्वाध्याय ही योग है—

उपजाति : **निरस्त-सर्वाक्ष-कषाय-वृत्तिर्विधीयते येन शरीरि-वर्ग:।**
प्ररूढजन्माङ्कुरशोषपूषा स्वाध्यायतोऽन्योस्ति ततो न योग:।।८७/१२४५।।

जिससे सभी अक्ष-कषाय-वृत्ति मिट जाती जीवों की सूर्य-सम है।
बड़ते भवांकुर को नष्ट करने स्वाध्याय से योग पृथक् नहीं है।।८७/१२४५।।

शब्दश: अर्थ : निरस्त-सर्व+अक्ष-कषाय-वृत्ति:=सभी इंद्रियों और कषायोंरूप परिणति

को नष्ट करनेवाला; विधीयते=किया गया; येन=जिसके द्वारा; शरीरि-वर्ग:=प्राणिओं का समूह; प्ररूढ-जन्म+अङ्कुर-शोष-पूषा=बड़े हुए संसाररूपी अंकुर को सुखाने के लिए सूर्य के समान; स्वाध्यायत:=स्वाध्याय से; अन्य:=पृथक्; अस्ति=है; तत:=उससे; न=नहीं; योग:=योग।

अन्वय : येन शरीरि-वर्ग: निरस्त-सर्व-अक्ष-कषाय-वृत्ति: विधीयते, प्ररूढ-जन्म-अङ्कुर-शोष-पूषा तत: स्वाध्यायत: अन्य: योग: न अस्ति।

वचनिका : जिसके द्वारा प्राणिओं का समूह सभी इंद्रियों और कषायों की परिणति से रहित किया गया है; विस्तार को प्राप्त संसाररूपी अंकुर को सुखाने के लिए सूर्य के समान उस स्वाध्याय से पृथक् योग नहीं है।

भावार्थ : श्रुत के अभ्यास से ही ध्यान होता है। ज्ञान के विना ध्यान नहीं होता है।।८७/१२४५।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि ज्ञान सभी गुणों का मूल है—

उपजाति : **गुणा: पवित्रा: शमसंयमाद्या विबोधहीना: क्षणतश्चलन्ति।**
कालं कियन्तं दलपुष्पपूर्णास्तिष्ठन्ति वृक्षा: क्षतमूलबन्धा:।।८८/१२४६।।

संयम शमादि पावन सभी गुण होते चलित क्षण में ज्ञान-विरहित।
हो पुष्प-पत्रों युत वृक्ष कब तक टिक पाएगा जड़-बंधन-विनष्ट?।।८८/१२४६।।

शब्दश: अर्थ : गुणा:=गुण; पवित्रा:=निर्दोष; शम-संयम+आद्या:=शम-भाव, संयम-भाव आदि; विबोध-हीना:=ज्ञान से रहित; क्षणत:=क्षण-मात्र से; चलन्ति=विचलित हो जाते हैं; कालं=समय; कियन्तं=कितना; दल-पुष्प-पूर्णा:=पत्रों और फूलों से भरे हुए; तिष्ठन्ति=ठहरते हैं; वृक्षा:=पेड़; क्षत-मूल-बन्धा:=जड़ के बंधन के नाशवाले।

अन्वय : विबोध-हीना: शम-संयम-आद्या: पवित्रा: गुणा: क्षणत: चलन्ति, क्षत-मूल-बन्धा: दल-पुष्प-पूर्णा: वृक्षा: कियन्तं कालं तिष्ठन्ति?

वचनिका : ज्ञान से रहित कषायों की मंदतारूप शम-भाव, संयम-भाव इत्यादि पवित्र गुण क्षण-मात्र में चलायमान हो जाते हैं। नष्ट हुए जड़ के बंधनवाले, पत्र-पुष्पों से परिपूर्ण वृक्ष कितने काल तक टिक सकते हैं? कुछ भी नहीं टिक सकते हैं।

भावार्थ : सभी गुणों का मूल ज्ञान है। ज्ञान-विना अन्य गुण नहीं होते हैं—ऐसा जानना।।८८/१२४६।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय की आवश्यकता प्ररूपित है—

उपजाति :**जानात्यकृत्यं न जनो न कृत्यं जैनेश्वरं वाक्यमबुद्ध्यमानः।**
करोत्यकृत्यं विजहाति कृत्यं ततस्ततो गच्छति दुःखमुग्रम्।।८९/१२४७।।

जाने नहीं जिनवाणी नहीं वह जाने अकृत्य करणीय भी नहिं।
करता अकृत्य तज कृत्य उससे पाता अधिक तीव्र महान दुख ही।।८९/१२४७।।

शब्दशः अर्थ : जानाति=जानता है; अकृत्यं=नहीं करने-योग्य को; न=नहीं; जनः=प्राणी; न=नहीं; कृत्यं=करने-योग्य को; जैनेश्वरं=जिनेंद्र भगवान को; वाक्यं=वाणी को; अबुद्ध्यमानः =नहीं जाननेवाला; करोति=करता है; अकृत्यं=नहीं करने-योग्य को; विजहाति=छोड़ता है; कृत्यं=करने-योग्य को; ततः=उससे; ततः=उस कारण; गच्छति=जाता है; दुःखं=कष्ट को; उग्रं=तीव्र को।

अन्वय : जैनेश्वरं वाक्यं अवबुद्ध्यमानः जनः अकृत्यं न जानाति कृत्यं न जानाति, ततः अकृत्यं करोति कृत्यं विजहाति, ततः उग्रं दुःखं गच्छति।

वचनिका : जिनराज के वचनों को नहीं जाननेवाला जीव, नहीं करने-योग्य और करने-योग्य को नहीं जानता है; उससे हिंसादि अकार्य को करता है और वैराग्यादि कार्य को नहीं करता है; उस कारण तीव्र दुःख को प्राप्त होता है।।८९/१२४७।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय करने की पात्रता निरूपित है—

उपजाति : **अनात्मनीनं परिहर्तु-कामा ग्रहीतु-कामाः पुनरात्मनीनम्।**
पठन्ति शश्वज्जिननाथवाक्यं समस्तकल्याणविधायि सन्तः।।९०/१२४८।।

अपने अहितकर के त्याग-इच्छुक नित आत्म-हितकर के ग्रहण इच्छुक।
पढ़ते सदा सब कल्याण-कारक जिननाथ-वाणी नित सभी सज्जन।।९०/१२४८।।

शब्दशः अर्थ : अनात्मनीनं=अपना अहित करनेवाले भाव को; परिहर्तु-कामाः=छोड़ने के इच्छुक; ग्रहीतु-कामाः=ग्रहण करने के इच्छुक; पुनः=फिर/और; आत्मनीनं=अपना हित करनेवाले भाव को; पठन्ति=पढ़ते हैं; शश्वत्-निरंतर; जिन-नाथ-वाक्यं=जिनेंद्र भगवान के वाक्य को; समस्त-कल्याण-विधायि=सभी प्रकार का कल्याण करनेवाले; सन्तः=सज्जन।

अन्वय : अनात्मनीनं परिहर्तु-कामाः पुनः आत्मनीनं ग्रहीतुकामाः सन्तः समस्त-कल्याण-विधायि जिन-नाथ-वाक्यं शश्वत् पठन्ति।

वचनिका : अपना अहित करनेवाले मिथ्यात्वादि भाव को दूर करने के वांक्षक और अपने लिए हित-कारी सम्यक्त्वादि भाव को ग्रहण करने के वांक्षक संत पुरुष, समस्त कल्याण करनेवाले जिनराज के वचन को निरंतर पढ़ते हैं।।९०/१२४८।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वाध्याय नहीं करनेवाले की मूर्खता सोदाहरण प्रस्तुत है—

उपजाति :**सुखाय ये सूत्रमपास्य जैनं मूढाः श्रयन्ते वचनं परेषाम्।**

तापच्छिदे ते परिमुच्य* तोयं भजन्ति कल्पक्षयकालवह्निम्।।९१/१२४९।।

जिन-सूत्र तज सुख हेतु जो अज्ञ अन्यों के वचनों का करें सेवन।

वे ताप-नाशन हेतु तजें जल कल्प-क्षयी अग्नि करें सेवन।।९१/१२४९।।

शब्दशः अर्थ : सुखाय=सुख के लिए; ये=जो; सूत्रं=सूत्र/शास्त्र को; अपास्य=छोड़कर; जैनं=जिनेंद्र-देव द्वारा प्ररूपित; मूढाः=अज्ञानी; श्रयन्ते=आश्रय लेते हैं; वचनं=वचन को; परेषां=दूसरे मिथ्यादृष्टिओं के; तापच्छिदे=उष्णता नष्ट करने के लिए; ते=वे; परिमुच्य=छोड़कर/परिहृत्य=समाप्तकर; तोयं=जल को; भजन्ति=सेवन करते हैं; कल्प-क्षय-काल-वह्निं=कल्प को नष्ट करनेवाली प्रलय-कालीन अग्नि को।

अन्वय : ये मूढाः सुखाय जैनं सूत्रं अपास्य परेषां वचनं श्रयन्ते, ते तापच्छिदे तोयं परिमुच्य/परिहृत्य कल्प-क्षय-काल-वह्निं भजन्ति।

वचनिका : जो मूढ सुख के लिए जिनराज के वचन का त्यागकर अन्य मिथ्यादृष्टिओं के वचन का सेवन करते हैं; वे संताप को दूर करने के लिए जल को छोड़कर प्रलय-कालीन अग्नि का सेवन करते हैं।।९१/१२४९।।

अब, इस पद्य द्वारा वास्तविक अमृत और विष प्ररूपित है—

उपजाति :**विहाय वाक्यं जिन-चन्द्र-दृष्टं परं न पीयूषमिहास्ति किञ्चित्।**

मिथ्यादृशां वाक्यमपास्य नूनं पश्यामि नो किञ्चन कालकूटम्।।९२/१२५०।।

जिनेंद्र-भाषित वाक्यों से अन्य अमृत यहाँ कुछ भी नहीं दिखता।

मिथ्यादृशी के वाक्यों से अन्य कालकूट निश्चित कुछ नहीं दिखता।।९२/१२५०।।

शब्दशः अर्थ : विहाय=छोड़कर; वाक्यं=वाक्य को; जिन-चन्द्र-दृष्टं=जिनेंद्र-देव द्वारा कहे गए; परं=दूसरा; न=नहीं; पीयूषं=अमृत को; इह=यहाँ; अस्ति=है; किञ्चित्=कोई; मिथ्यादृशां=मिथ्या-दृष्टिओं के; वाक्यं=वाक्य को; अपास्य=छोड़कर; नूनं=वास्तव में; पश्यामि=देखता हूँ; नो=नहीं; किञ्चन=कोई; काल-कूटं=हालाहल-विष को।

अन्वय : नूनं इह जिन-चन्द्र-दृष्टं वाक्यं विहाय परं किञ्चित् पीयूषं न अस्ति, मिथ्यादृशां वाक्यं अपास्य किञ्चन काल-कूटं नो पश्यामि।

वचनिका : वास्तव में इस लोक में जिनराज द्वारा कहे वाक्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी

** परिहृत्य —इति पाठान्तरम्।*

अमृत नहीं है और मिथ्या-दृष्टिओं के वाक्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी काल-कूट-विष मैं नहीं देखता हूँ।।९२/१२५०।।

अब, इस पद्य द्वारा जिनागम-अभ्यास की सार्थकता निरूपित है—

उपजाति : **विधीयते येन समस्तमिष्टं कल्प-द्रुमेणेव महा-फलेन।**
आवर्ज्यतां विश्वजनीनवृत्तिं मुक्त्वा परं कर्म जिनागमोऽसौ।।९३/१२५१।।

महा फलद कल्प-तरु-समान जिससे सभी इष्ट हि किए जाते।
वह जैन-शास्त्र सब लोक हितमय वृत्ति सिवा सब ही कार्य तजते।।९३/१२५१।।

शब्दश: अर्थ : विधीयते=किया जाता है; येन=जिसके द्वारा; समस्तं=सभी; इष्टं=चाहे गए को; कल्प-द्रुमेण=कल्प-वृक्ष द्वारा; इव=समान; महा-फलेन=विशाल फलवाले द्वारा; आवर्ज्यतां=त्याग करो; विश्व-जनीन-वृत्तिं=सर्व लोक के कल्याणरूप परिणति को; मुक्त्वा=छोड़कर; परं=दूसरे; कर्म=कार्य को; जिनागम:=जैन-शास्त्र; असौ=यह।

अन्वय : महा-फलेन कल्प-द्रुमेण इव येन समस्तं इष्टं विधीयते असौ जिनागम: विश्व-जनीन-वृत्तिं मुक्त्वा परं कर्म आवर्ज्यताम्।

वचनिका : महा-फल-सहित कल्प-वृक्ष के समान जिसके द्वारा सभी मनोवांक्षित किए जाते हैं—ऐसा यह जिनागम सभी लोक के हितरूप परिणति के अतिरिक्त अन्य कार्य का वर्जन करें।

भावार्थ : जिन-वचन के अभ्यास से हमें लौकिक कार्य की वांक्षा नहीं हो; स्व-पर के उपकाररूप परिणति हो।।९३/१२५१।।

इसप्रकार स्वाध्याय नामक तप का वर्णन समाप्त हुआ।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य तपों की सूचना देते हैं—

उपजाति : **परेऽपि ये सन्ति तपो-विशेषा जिनेन्द्र-चन्द्रोदित-सूत्रदृष्टा:।**
स्वशक्तितस्ते निखिला विधेया: विधानत: कर्म-निकर्तनाय।।९४/१२५२।।

हैं अन्य भी जो तप के विशेष जिनेंद्र-भाषित आगम बताए।
निज शक्ति से वे करणीय सब ही नित कर्म-निर्जर हेतु विधि से।।९४/१२५२।।

शब्दश: अर्थ : परे=दूसरे; अपि=भी; ये=जो; सन्ति=हैं; तप:-विशेषा:=तप के भेद; जिनेन्द्र-चन्द्र+उदित-सूत्र-दृष्टा:=जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे गए आगम में आए; स्व-शक्तित:=अपनी शक्ति से; ते=वे; निखिला:=सभी; विधेया:=करने-योग्य हैं; विधानत:=विधि पूर्वक; कर्म-निकर्तनाय=कर्मों की निर्जरा के लिए।

अन्वय : जिनेन्द्र-चन्द्र-उदित-सूत्र-दृष्टा: ये परे अपि तप:-विशेषा: सन्ति, ते निखिला: कर्म-निकर्तनाय स्व-शक्तित: विधानत: विधेया:।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान द्वारा कहे गए सूत्र/शास्त्र में आए जो अन्य भी तप के भेद हैं; वे सभी कर्मों की निर्जरा के लिए अपनी शक्ति के अनुसार विधि पूर्वक करने-योग्य हैं।।९४/१२५२।।

अब, इस पद्य द्वारा संतोष की विशेषताएं वर्णित हैं—

शालिनी : **सौख्यं स्वस्थं दीयते येन नित्यं रागावेशश्छिद्यते येन सद्य:।**
येनानन्दो जन्यते याचनीयस्तं सन्तोषं कुर्वते केन भव्या:।।९५/१२५३।।

जिससे मिलता स्वस्थ सौख्य सदा ही जिससे छिदता राग आवेश जल्दी।
जिससे वांक्षा योग्य आनंद प्रकटे वह संतोष कौन भविजन करे नहिं?।।९५/१२५३।।

शब्दश: अर्थ : सौख्यं=सुख-संपन्न को; स्वस्थं=निराकुल को; दीयते=दिया जाता है; येन=जिसके द्वारा; नित्यं=सदा; राग+आवेश:=राग की तीव्रता; छिद्यते=छिद जाती है; येन=जिसके द्वारा; सद्य:=शीघ्र; येन=जिसके द्वारा; आनन्द:=आनंद; जन्यते=प्रकट होता है; याचनीय:=वांक्षा-योग्य; तं=उसे; सन्तोषं=संतोष को; कुर्वते=करता है; के=कौन; न=नहीं; भव्या:=भव्य जीव।

अन्वय : येन नित्यं स्वस्थं सौख्यं दीयते येन सद्य: राग-आवेश: छिद्यते येन याचनीय: आनन्द: जन्यते तं सन्तोषं के भव्या: न कुर्वते?

वचनिका : जिससे नित्य निराकुल सुख दिया जाता है, राग का उदय शीघ्र छेदा जाता है, वांक्षा-योग्य मुक्ति-पद का आनंद उत्पन्न होता है; उस संतोष को कौन भव्य नहीं करें? सभी करते हैं।

भावार्थ : तप का मुख्य लक्षण इच्छा का निरोध, सभी तपों में विद्यमान है। इच्छा का निरोध और संतोष एक ही है; अत: संतोष, सभी तपों में प्रधान है। यही परम तप है—ऐसा जानना।।९५/१२५३।।

अब, इस पद्य द्वारा संतोष की सामर्थ्य वर्णित है—

शालिनी : **नेष्टं दातुं कोऽप्युपाय: समर्थ: सौख्यं नृणामस्ति सन्तोषतोऽन्य:।**
अम्भोजानां क: प्रबोधं विधातुं शक्तो हित्वा भानुमन्तं न दृष्ट:।।९६।।१२५४।।

संतुष्टि-विन अन्य कोई उपाय नहीं समर्थ मनुज को इष्ट सुख दे।
विकसित करने नीरजों को समर्थ रवि विन अन्य कौन दिखता जगत में?।।९६/१२५४।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; इष्टं=वांक्षित को; दातुं=देने के लिए; क:=कौन; अपि=भी;

उपाय:=साधन; समर्थ:=सक्षम; सौख्यं=सौख्य को; नृणां=मनुष्यों के; अस्ति=है; सन्तोषत:= संतोष से; अन्य:=दूसरा; अम्भोजानां=कमलों के; क:=कौन; प्रबोधं=विकसित; विधातुं=करने के लिए; शक्त:=समर्थ; हित्वा=छोड़कर; भानुमन्तं=सूर्य को; हि=वास्तव में; दृष्ट:=देखा जाता है।

अन्वय : नृणां इष्टं सौख्यं दातुं सन्तोषत: अन्य: क: अपि उपाय: समर्थ: न, अम्भोजानां प्रबोधं विधातुं भानुमन्तं हित्वा हि क: शक्त: दृष्ट:?

वचनिका : मनुष्यों को वांक्षित सुख देने के लिए संतोष के सिवाय अन्य कोई भी उपाय नहीं है। लोक में कमलों को प्रफुल्लित करने के लिए सूर्य के सिवाय वास्तव में अन्य कोई समर्थ दिखाई नहीं देता है। संतोष के विना सुख नहीं होता है।।९६/१२५४।।

अब, इस पद्य द्वारा संतोष की सुख-करता को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति :**विमुच्य सन्तोषमपास्त-बुद्धि: सुखाय य: काङ्क्षति कञ्चनान्यम्।**
द्रारिद्र्य-हानाय स कल्पवृक्षं निरस्य गृह्णाति विषद्रुमं हि।।९७/१२५५।।

संतोष तज कंचन आदि चाहे जो मूढ सुख हेतु वह करे नित।
दारिद्र्य नाशन हेतु कलप-तरु तज ग्रहण करता विष-तरु निरंतर।।९७/१२५५।।

शब्दश: अर्थ : विमुच्य=छोड़कर; सन्तोषं=संतुष्टि को; अपास्त-बुद्धि:=बुद्धि-रहित; सुखाय= सुख के लिए; य:=जो; काङ्क्षति=चाहता है; कञ्चन+अन्यं=अन्य कुछ अथवा स्वर्ण को; दारिद्र्य-हानाय=दरिद्रता नष्ट करने के लिए; स:=वह; कल्प-वृक्षं=कल्प-तरु को; निरस्य= छोड़कर; गृह्णाति=ग्रहण करता है; विष-द्रुमं=विष-वृक्ष को; हि=वास्तव में।

अन्वय : य: अपास्त-बुद्धि: सुखाय सन्तोषं विमुच्य कञ्चन-अन्यं काङ्क्षति हि स: दारिद्र्य-हानाय कल्पवृक्षं निरस्य विषद्रुमं गृह्णाति।

वचनिका : जो अज्ञानी सुख के लिए संतोष का त्यागकर स्वर्ण आदि सामग्री अथवा काम-भोगादि की इच्छा करता है; वह दरिद्रता का नाश करने के लिए कल्प-वृक्ष का त्यागकर विष-वृक्ष को ग्रहण करता है।।९७/१२५५।।

अब, इस पद्य द्वारा सुखार्थी का कर्तव्य वर्णित है—

स्वागता : **क्रोध-लोभ-मद-मत्सर-शोका धर्महानिपटव: परिहार्या:।**
व्याधयो न सुखघातपटिष्ठा: पोषयन्ति कृतिन: सुखकाङ्क्षा:।।९८/१२५६।।

धर्म-नष्ट-कर-प्रवीण क्रोध लोभ शोक मद मत्सर त्याज्य।
भाग्यवान सुख-वांक्षक पोषें नहीं सौख्य-घातक पटु रोग।।९८/१२५६।।

शब्दश: अर्थ : क्रोध-लोभ-मद-मत्सर-शोका:=क्रोध, लोभ, घमंड, ईर्ष्या, दु:ख; धर्म-हानि-पटव:=धर्म की हानि करने में प्रवीण; परिहार्या:=त्याग देना चाहिए; व्याधय:=रोग; न=नहीं; सुख-घात-पटिष्ठा:=सुख का घात करने में प्रवीण; पोषयन्ति=पुष्ट करते हैं; कृतिन: =भाग्य-शाली; सुख-काङ्क्षा:=सुख के इच्छुक।

अन्वय : प्रारंभिक दो चरण अन्वयरूप हैं। शेष का वह इसप्रकार है—सुख-काङ्क्षा: कृतिन: सुख-घात-पटिष्ठा: व्याधय: न पोषयन्ति।

वचनिका : धर्म की हानि करने में प्रवीण क्रोध, लोभ, मान, मत्सर, शोक इत्यादि भाव, त्याग करने-योग्य हैं; क्योंकि सुख के वांक्षक, भाग्यवान व्यक्ति सुख का नाश करने में प्रवीण रोगों को पुष्ट नहीं करते हैं।

भावार्थ : क्रोधादि भाव आकुलतामय हैं; अत: सुख के घातक हैं। वे त्याग करने-योग्य हैं और संतोष, सुखमय है; सुखार्थिओं के लिए वही सेवन करने-योग्य है।।९८/१२५६।।

अब, इस पद्य द्वारा मोक्ष हेतु करने-योग्य भावना प्ररूपित हैं—

उपजाति : **सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा-परत्वम्।**
माध्यस्थ्य-भावो विपरीत-दृष्टौ सदा विधेयो विदुषा शिवाय।।९९/१२५७।।

जीवों में मैत्री गुणिओं में हर्ष नित दीन दुखिओं पर दया भाव।
माध्यस्थ्य भाव विपरीत दृष्टि पर करें ज्ञानी शिव हेतु नित्य।।९९/१२५७।।

शब्दश: अर्थ : सत्त्वेषु=प्राणिओं पर; मैत्री=मित्रता का भाव; गुणिषु=गुणवानों में; प्रमोदं= हर्ष का भाव; क्लिष्टेषु=दुखिओं पर; जीवेषु=जीवों पर; कृपा-परत्वं=करुणा का भाव; माध्यस्थ्य-भाव:=मध्यस्थता का भाव; विपरीत-दृष्टौ=विपरीत श्रद्धावाले में; सदा=निरंतर; विधेय:=करना चाहिए; विदुषा=विद्वान द्वारा; शिवाय=कल्याण/मोक्ष के लिए।

अन्वय : प्रारंभिक दो चरण अन्वय में हैं। शेष का वह इसप्रकार है—विपरीत-दृष्टौ माध्यस्थ्य-भाव: विदुषा शिवाय सदा विधेय:।

वचनिका : एकेंद्रियादि सभी जीवों में मैत्री-भाव अर्थात् कोई भी जीव दु:खी नहीं हो—ऐसी भावना; सम्यग्दर्शनादि गुण-सहित व्यक्तिओं में अति हर्ष-भाव; रोगादि कष्टों से सहित जीवों पर करुणा का भाव और विपरीत श्रद्धावाले जीवों पर माध्यस्थ्य-भाव अर्थात् विपरीत व्यक्ति को देखकर विचार करना कि यह उपदेश देने-योग्य नहीं है; इस पर राग-द्वेष किसलिए करना?—ये चार प्रकार की भावना, ज्ञानी जीव द्वारा मोक्ष के लिए सदा करने-योग्य हैं।।९९/१२५७।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुन: स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **अनश्वरश्री–प्रतिबन्धकेषु प्रभूत–दोषोपचितेषु नित्यम्।**

विरागभाव: सुधिया विधेयो भवाङ्गभोगेषु विनश्वरेषु।।१००/१२५८।।

शाश्वत श्री प्रतिबंधक सदा ही अनेक दोषों से युक्त नश्वर।

भव देह भोगों में करें ज्ञानी समता–मई नित वैराग्य भाव।।१००/१२५८।।

शब्दश: अर्थ : अनश्वर–श्री–प्रतिबन्धकेषु=अविनाशी लक्ष्मी को रोकनेवालों में; प्रभूत–दोष+उपचितेषु=प्रकट हुए अनेक दोषों से युक्त में; नित्यं=सदा; विराग–भाव:=रागादि–रहित सहज ज्ञाता–दृष्टा–भाव; सुधिया=ज्ञानी द्वारा; विधेय:=करने–योग्य है; भव+अङ्ग+भोगेषु =संसार, शरीर और भोगों में; विनश्वरेषु=नष्ट होनेवालों में।

अन्वय : सुधिया अनश्वर–श्री–प्रतिबन्धकेषु प्रभूत–दोष–उपचितेषु विनश्वरेषु भव–अङ्ग–भोगेषु नित्यं विराग–भाव: विधेय:।

वचनिका : ज्ञानी जीव द्वारा अविनाशी लक्ष्मी को रोकनेवाले, प्रकट हुए अनेक दोषों से युक्त, क्षणिक संसार, शरीर और भोगों में सदा वैराग्य–भाव करने–योग्य है।।१००/१२५८।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म–धारण करने का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **श्रावक–धर्मं भजति विशिष्टं योऽनघ–चित्तोऽमितगति–दृष्टम्।**

गच्छति सौख्यं विगलित–कष्टं स क्षपयित्वा सकलमनिष्टम्।।१०१/१२५९।।

अमितगति प्रतिपादित श्रावक धर्म विशिष्ट जो निर्दोषी।

धारे सकल अनिष्ट नष्ट विन–कष्ट सौख्य को पाता वह ही।।१०१/१२५९।।

शब्दश: अर्थ : श्रावक–धर्मं=गृहस्थ के धर्म को; भजति=सेवन करता है; विशिष्टं=अन्य धर्मों से पृथक् को; य:=जो; अनघ–चित्त:=पाप–रहित मनवाला; अमित–गति–दृष्टं=अनंत ज्ञानवाले भगवान या अमितगति आचार्य द्वारा दिखाए गए; गच्छति=जाता है; सौख्यं=सौख्य को; विगलित–कष्टं=कष्ट से रहित को; स:=वह; क्षपयित्वा=नष्टकर; सकलं=सभी; अनिष्टं= अनिष्ट को।

अन्वय : अनघ–चित्त: य: अमित–गति–दृष्टं विशिष्टं श्रावक–धर्मं भजति स: सकलं अनिष्टं क्षपयित्वा विगलित–कष्टं सौख्यं गच्छति।

वचनिका : पाप–रहित मनवाला जो व्यक्ति अनंत–ज्ञान–संपन्न भगवान या अमितगति आचार्य द्वारा प्ररूपित विशिष्ट श्रावक–धर्म को धारण करता है; वह सभी अनिष्टों को नष्टकर कष्ट से रहित सौख्यरूप मोक्ष को प्राप्त होता है।।१०१/१२५९।।

सवैया : **श्रावक धर्म कह्यो जिनराज यथाविधि ताहि अखंडित धारै,**
सौ अति निर्मल चित्त सुधी भव कष्ट अनिष्ट समूह निवारै।
स्वर्गनि के सुख भोगि तथा नर होय महाव्रत भाव सँहारै,
आतम ध्याय विभाव नसाय महा सुख–सागर धाम सिधारै।।

अर्थ : जिनराज द्वारा कहे गए श्रावक–धर्म को जो विधि पूर्वक अखंडरूप से धारण करता है; अति पवित्र मनवाला, ज्ञानी वह, संसार के कष्ट और अनिष्ट के समूह का निवारणकर, स्वर्गों के सुख भोगकर, मनुष्य होकर, महा–व्रतरूप भाव को सँहालकर, आत्मा का ध्यानकर, विभाव को नष्टकर महा–सुख–सागर के धाम/मोक्ष–दशा को प्राप्त होता है।

इसप्रकार श्री अमित–गति आचार्य–विरचित श्रावकाचार में तेरहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।१३।।

चतुर्दश परिच्छेद

इस परिच्छेद में ब्यासी पद्यों द्वारा बारह अनुप्रेक्षा/भावना वर्णित हैं।

उनमें से सर्व-प्रथम छह पद्यों द्वारा अनित्य भावना प्ररूपित है।

वहाँ इस पद्य द्वारा यौवन, जीवन और धन की अनित्यता निरूपित है—

स्वागता : **यौवनं नग-नदी-स्पदोपमं शारदाम्बुद-विलास-जीवितम्।**

स्वप्नलब्धधनविभ्रमं धनं स्थावरं किमपि नास्ति तत्त्वत:।।१/१२६०।।

यौवन पर्वत नदि-वत् बहता जीवन शरद-मेघ-वत् मिटता।

स्वप्न प्राप्त-धन-वत् असत्य धन वास्तव में कुछ भी स्थिर ना।।१/१२६०।।

शब्दश: अर्थ : यौवनं=जवानी; नग-नदी-स्पद+उपमं=पर्वत से निकली नदी के प्रवाह के समान; शारद+अम्बुद-विलास-जीवितं=शरद-कालीन मेघ के विलास-सम जीवन; स्वप्न-लब्ध-धन-विभ्रमं=स्वप्न में प्राप्त हुए धन के समान विभ्रम/असत्यरूप; धनं=संपत्ति; स्थावरं=स्थिर; किं=क्या/कुछ; अपि=भी; न+अस्ति=नहीं है; तत्त्वत:=वास्तव में।

अन्वय : प्रारंभिक तीन चरण अन्वयरूप हैं। शेष इसप्रकार है—तत्त्वत: किं अपि स्थावरं न अस्ति।

वचनिका : यौवन तो पर्वत की प्रवाहित नदी के समान निरंतर चला जा रहा है; जीवन, शरद -कालीन मेघ के विलास-समान क्षण-मात्र में विलीन हो जाता है; स्वप्न में प्राप्त धन के विभ्रम-समान धन, झूँठा है; वास्तव में कुछ भी स्थिर नहीं है।।१/१२६०।।

कोई भी संयोग बाधा-रहित नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

स्वागता : **विग्रहा गद-भुजङ्ग-मालया: सङ्गमा विगम-दोष-दूषिता:।**

सम्पदोऽपि विपदाकटाक्षिता नास्ति किञ्चिदनुपद्रवं स्फुटम्।।२/१२६१।।

तन रोगों मय सर्प-निवास वियोग दोष से दूषित संगम।

विपदा देखी सर्व संपदा कुछ भी बाधा विना नहीं पर।।२/१२६१।।

शब्दश: अर्थ : विग्रहा:=शरीर; गद-भुजङ्ग-मालया:=रोगरूपी सर्पों का घर; सङ्गमा:=संयोग; विगम-दोष-दूषिता:=वियोगरूपी दोष से दूषित; सम्पद:=अनुकूलता; अपि=भी; विपदा-कटाक्षिता=विपत्तिरूपी तिरछी दृष्टि से देखी गई; न+अस्ति=नहीं है; किञ्चित्=कुछ; अन्+उपद्रवं=बाधा-रहित; स्फुटं=प्रकटरूप में।

अन्वय : प्रारंभिक तीन चरण अन्वयरूप हैं। शेष इसप्रकार है—स्फुटं किञ्चित् अन-उपद्रवं न-अस्ति।

वचनिका : शरीर तो रोगरूपी सर्पों का घर है; मिलाप/संयोग, वियोगरूपी दोषों से दूषित हैं; संपदा, विपदा द्वारा देखी गई/सहित है; प्रकटरूप में कोई भी पर-वस्तु उपद्रव-रहित नहीं है।।२/१२६१।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य संयोगों की अस्थिरता प्ररूपित है—

स्वागता : **प्रीतिकीर्तिमतिकान्तिभूतयः याकशासनशरासनस्थिराः।**
अध्वनीनपथ-सङ्गसङ्गमाः सन्ति मित्रपितृपुत्र-बान्धवाः।।३/१२६२।।

प्रीति कीर्ति मति कांति विभूति इंद्र-धनुष-सम अस्थिर नित ही।
मित्र पिता सुत बंधु आदि हैं पथ पंथी-जन-संगम-सम ही।।३/१२६२।।

शब्दशः अर्थ : प्रीति-कीर्ति-मति-कान्ति-भूतयः=प्रेम, यश, बुद्धि, तेज, वैभव; याक-शासन-शर+आसन+अस्थिराः=इंद्र के बाण के आसन/धनुष-वत् क्षणिक; अध्वनीन-पथि-सङ्ग-सङ्गमाः=मार्ग पर चलनेवाले पथिक-जनों के संयोग-सम; सन्ति=हैं; मित्र-पितृ-पुत्र-बान्धवाः=मित्र, पिता, पुत्र, कुटुंबी।

अन्वय : प्रारंभिक दो चरण अन्वयरूप हैं। शेष का वह इसप्रकार है—मित्र-पितृ-पुत्र-बान्धवाः अध्वनीन-पथि-सङ्ग-सङ्गमाः सन्ति।

वचनिका : प्रीति, कीर्ति, बुद्धि, कांति, संपत्ति—ये सभी इंद्र-धनुष के समान अस्थिर हैं। मित्र, पिता, पुत्र, बांधव—ये सभी, मार्ग में पथिक-जनों के संयोग-समान हैं; सभी शीघ्र ही विछुड़ जाते हैं।।३/१२६२।।

अब, इस पद्य द्वारा स्थाई और साथ जानेवाली वस्तुएं वर्णित हैं—

स्वागता : **मोक्षमेकमपहाय कृत्रिमं नास्ति वस्तु किमपीह शाश्वतम्।**
किञ्चनापि सहगामि नात्मनो ज्ञानदर्शनमपास्य पावनम्।।४/१२६३।।

यहाँ की हुई वस्तु में से इक मोक्ष छोड़ शाश्वत नहीं कोई।
पावन दर्शन ज्ञान छोड़कर आतम साथ जाए नहीं कोई।।४/१२६३।।

शब्दशः अर्थ : मोक्षं=सिद्ध-दशा को; एकं=एक को; अपहाय=छोड़कर; कृत्रिमं=नया प्रकट हुआ; न+अस्ति=नहीं है; वस्तु=पदार्थ; किं=कोई; अपि=भी; इह=यहाँ; शाश्वतं=स्थाई; किञ्चन=कुछ; अपि=भी; सह-गामि=साथ जानेवाला; न=नहीं; आत्मनः=आत्मा का; ज्ञान-दर्शनं=ज्ञान, दर्शन को; अपास्य=छोड़कर; पावनं=पवित्र को।

अन्वय : इह एकं मोक्षं अपहाय किं अपि कृत्रिमं वस्तु शाश्वतं न अस्ति; पावनं ज्ञान-दर्शनं अपास्य आत्मनः सहगामि किञ्चन अपि न।

वचनिका : इस लोक में एक मोक्ष को छोड़कर अन्य कुछ भी नई प्रकट हुई वस्तु नित्य नहीं है; पवित्र ज्ञान-दर्शन को छोड़कर आत्मा के साथ जानेवाला और कुछ भी नहीं है। ज्ञान-दर्शन सदा साथ रहते हैं; शरीरादि तो वहाँ के वहाँ ही रह जाते हैं।।४/१२६३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण मरण की अनिवार्यता प्ररूपित है—

स्वागता : **सन्ति ते त्रिभुवने न देहिनो ये न यान्ति समवर्ति-मन्दिरम्।**
शक्रचापखचिता हि कुत्र ते ये भजन्ति* न विनाशमम्बुदाः?।।५/१२६४।।
तीन लोक में जितने प्राणी वे सब मरण प्राप्त ही करते।
इंद्र-धनुष से सहित मेघ सब निश्चित ही विनष्ट हो जाते।।५/१२६४।।

शब्दशः अर्थ : सन्ति=हैं; ते=वे; त्रिभुवने=तीन-लोक में; न=नहीं; देहिनः=प्राण-धारी; ये=जो; न=नहीं; यान्ति=जाते हैं; सम-वर्ति-मन्दिरं=समानतावाले घर/मरण को; शक्र-चाप-खचिताः=इंद्र के धनुष से सहित; हि=वास्तव में; कुत्र=कहाँ; ते=वे; ये=जो; भजन्ति =प्राप्त होते हैं/व्रजन्ति=जाते हैं; न=नहीं; विनाशं=क्षय को; अम्बुदाः=बादल।

अन्वय : त्रिभुवने ते देहिनः न सन्ति ये सम-वर्ति-मन्दिरं न यान्ति हि शक्र-चाप-खचिताः ये अम्बुदाः ते कुत्र विनाशं न भजन्ति/व्रजन्ति?

वचनिका : तीन लोक में वे शरीर-धारी नहीं हैं, जो यम के मंदिर/मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं, सभी का मरण होता है; इंद्र-धनुष से रचे हुए जो बादल हैं, वे कहाँ विनाश को प्राप्त नहीं होते हैं? सभी, सर्वत्र नष्ट होते ही हैं।।५/१२६४।।

शरीरादि को टिकाने में कोई समर्थ नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

स्वागता : **देह-पञ्जरमपास्य जर्जरं यत्र तीर्थ-पतयोऽपि-पूजिताः।**
यान्ति पूर्णसमये शिवास्पदं तत्र के जगति नात्र गत्त्वराः?।।६/१२६५।।
आयु पूर्ण पर त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर जर्जर पंजर तन।
तज जाते सिद्धालय तब फिर अन्य कौन नहिं जाएं परभव?।।६/१२६५।।

शब्दशः अर्थ : देह-पञ्जरं=शरीररूपी पींजरा को; अपास्य=छोड़कर; जर्जरं=जीर्ण को; यत्र =जहाँ; तीर्थ-पतयः=तीर्थंकर; अति-पूजिताः=तीन लोक में पूज्य; यान्ति=जाते हैं; पूर्ण-समये=आयु पूर्ण होने पर; शिव+आस्पदं=मोक्ष-स्थान को; तत्र=वहाँ; के=कौन; जगति= लोक में; न=नहीं; अत्र=यहाँ; गत्त्वराः=जानेवाले।

अन्वय : यत्र अति-पूजिताः तीर्थ-पतयः पूर्ण-समये जर्जरं देह-पञ्जरं अपास्य शिव-आस्पदं

** व्रजन्ति —इति पाठान्तरम्।*

यान्ति, जगति अत्र तत्र न गत्त्वरा:?

वचनिका : जिस संसार में अत्यंत पूजनीक तीर्थंकर-देव भी आयु पूर्ण होने पर जर्जर देहरूपी पींजरा का त्यागकर सिद्धालय को पधारते हैं; तब फिर इस जगत में अन्य कौन जानेवाले नहीं हैं? सभी पर-लोक में जाते हैं।।६/१२६५।।

इसप्रकार अनित्य-भावना का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे छह पद्यों द्वारा अशरण-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा सोदाहरण अशरणता वर्णित है—

स्वागता : **यं करोति पुरतो यमराजा भक्षणाय भुवने क्षुधितात्मा।**
कानने मृगमिव द्विपबैरी तस्य नास्ति शरणं भुवि कोऽपि।।७/१२६६।।

अति भूखा यमराज लोक में भक्षण हेतु करता आगे।
वन में शेर हिरण-वत् उसको शरण नहीं है कोई जग में।।७/१२६६।।

शब्दश: अर्थ : यं=जिसे; करोति=करता है; पुरत:=आगे; यमराजा=मृत्यु; भक्षणाय=भक्षण करने के लिए; भुवने=लोक में; क्षुधित+आत्मा=भूख से सहित स्वरूपवाला; कानने=घोर जंगल में; मृगं=हिरण को; इव=समान; द्विप-बैरी=हाथी का शत्रु/सिंह; तस्य=उसका; न+अस्ति=नहीं है; शरणं=सहारा; भुवि=लोक में; क:=कोई; अपि=भी।

अन्वय : भुवने क्षुधित-आत्मा यमराजा भक्षणाय यं पुरत: करोति कानने मृगं द्विप-बैरी इव भुवि तस्य क: अपि शरणं न अस्ति।

वचनिका : लोक में क्षुधा-सहित स्वरूपवाला यमराज भक्षण के लिए जिसे आगे कर लेता है; घनघोर जंगल में मृग को सिंह के समान लोक में उसे कोई भी शरण नहीं है।।७/१२६६।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही विशेष पुष्ट करते हैं—

स्वागता : **अन्तकेन यदि विग्रहभाज: स्वीकृतस्य समपत्स्यत् पातात्।**
रक्षित: सुर-वैरैरमरिष्यन्नो तदा सुर-वधू-निकुरम्ब:।।८/१२६७।।

काल-गृहीत जीव का रक्षण मृत्यु से यदि हो जाता तो।
इंद्रों से रक्षित सुर-वधुओं के समूह का मरण नहीं हो।।८/१२६७।।

शब्दश: अर्थ : अन्तकेन=मृत्यु द्वारा; यदि=यदि; विग्रह-भाज:=शरीर-धारी का; स्वीकृतस्य= ग्रहण किए का; समपत्स्यत्=रक्षण हो जाता; पातात्=मरण से; रक्षित:=रक्षा किए गए; सुर-वरै:=देवों में श्रेष्ठ/इंद्रों द्वारा; अमरिष्यत्=मरता; नो=नहीं; तदा=तब; सुर-वधू-निकुरम्ब:=देवांगनाओं का समूह।

अन्वय : अन्तकेन स्वीकृतस्य विग्रह-भाज: यदि पातात् समपत्स्यत् तदा सुर-वरैः रक्षितः सुर-वधू-निकुरम्ब: नो अमरिष्यत्।

वचनिका : मृत्यु द्वारा ग्रहण किए गए प्राणी की यदि मरण से रक्षा हो जाती तो इंद्रादि देवों द्वारा रक्षित देवांगनाओं का समूह नहीं मरता।

भावार्थ : यदि मरण से रक्षा हो सकती होती तो इंद्र अपनी देवांगनाओं को नहीं मरने देते; अत: मरण होते जीव को कोई शरण नहीं है।।८/१२६७।।

अब, इस पद्य द्वारा मृत्यु की अपराजेयता वर्णित है—

स्वागता : **यं निहन्तुममरा न समर्था हन्यते न स परैः समवर्ती।**
यो द्विपैर्न समदैरपि भग्नो भज्यते हि शशकैर्न स वृक्ष:।।९/१२६८।।

जिसे मारने सक्षम नहिं सुर अन्य जीव कैसे मारे यम?
नष्ट नहिं कर सकें मतवाले गज तरु को कैसे नाशे शश?।।९/१२६८।।

शब्दश: अर्थ : यं=जिसे; निहन्तुं=मारने के लिए; अमरा:=देवगण; न=नहीं; समर्था:=सक्षम; हन्यते=मारा जा सकता है; न=नहीं; स:=वह; परैः=दूसरों द्वारा; समवर्ती=यम/मरण; य:=जो; द्विपैः=हाथिओं द्वारा; न=नहीं; समदैः=मदोन्मत्त द्वारा; अपि=भी; भग्न:=नष्ट हुआ; भज्यते=नष्ट हो सकता है; हि=वास्तव में; शशकैः=खरगोशों द्वारा; न=नहीं; स:=वह; वृक्ष:=पेड़।

अन्वय : अमरा: यं निहन्तुं समर्था: न स: समवर्ती परैः न हन्यते, हि समदैः द्विपैः अपि य: न भग्न: स: वृक्ष: शशकैः न भज्यते।

वचनिका : देव भी जिसे मारने के लिए समर्थ नहीं है, वह यमराज/मृत्यु अन्य जीवों द्वारा कैसे मारा जा सकता है? अर्थात् इंद्रादि देव भी मरण को नहीं रोक पाते हैं, तब अन्य की क्या कथा? वास्तव में मदोन्मत्त हाथिओं द्वारा भी जो नष्ट नहीं होता है, वह वृक्ष खरगोशों द्वारा कैसे नष्ट किया जा सकता है?।।९/१२६८।।

अब, इस पद्य द्वारा मृत्यु की अनिवार्यता उद्घोषित है—

स्वागता : **स्यन्दन-द्विप-पदाति-तुरङ्गैर्मन्त्र-तन्त्र-जप-पूजन-होमैः।**
शक्यते न स खलु रक्षितुमङ्गी जीवितव्यपगमे म्रियमाण:।।१०/१२६९।।

रथ हाथी प्यादे अश्वादि मंत्र तंत्र जप पूजन होम।
आयु-क्षय में मरते प्राणी की रक्षा में नहीं समर्थ।।१०/१२६९।।

शब्दश: अर्थ : स्यन्दन-द्विप-पदाति-तुरङ्गैः=रथ, हाथी, प्यादे, घोड़ों द्वारा; मन्त्र-तन्त्र-

जप-पूजन-होमैः=मंत्र, तंत्र, जाप, पूजा, होम द्वारा; शक्यते=समर्थ है; न=नहीं; खलु=वास्तव में; रक्षितुं=रक्षा करने के लिए; अङ्गी=प्राणी; जीवित-व्यपगमे=आयु के क्षय में; म्रियमाणः= मारता हुआ।

अन्वय : जीवित-व्यपगमे म्रियमाणः अङ्गी रक्षितुं खलु स्यन्दन-द्विप-पदाति-तुरङ्गैः मन्त्र-तन्त्र-जप-पूजन-होमैः न शक्यते।

वचनिका : आयु-समाप्त होने पर मरता हुआ जीव रखने के लिए वास्तव में रथ, हाथी, प्यादे, घोड़े, मंत्र, तंत्र, जप, पूजन, होम आदि कोई भी समर्थ नहीं होते हैं।।१०/१२६९।।

अब, इस पद्य द्वारा यमराज की अविनाशिता प्रस्तुत है—

स्वागता : **ये धरन्ति धरणीं सह शैलैर्ये क्षिपन्ति सकलं ग्रहचक्रम्।**
ते भवन्ति भुवने न स कश्चिद्यो निहन्ति तरसा यमराजम्।।११/१२७०।।

शैल सहित भू के धारक हैं जग में सब ग्रह चक्र के क्षेपक।
नहीं परंतु कोई ऐसा जो मारे यमराज सुशीघ्र।।११/१२७०।।

शब्दशः अर्थ : ये=जो; धरन्ति=धारण करते हैं; धरणीं=पृथ्वी को; सह=साथ; शैलैः=पर्वतों से; ये=जो; क्षिपन्ति=फेकते हैं; सकलं=सभी को; ग्रह-चक्रं=ग्रह-समूह को; ते=वे; भवन्ति=होते हैं; भुवने=लोक में; न=नहीं; सः=वह; कश्चित्=कोई; यः=जो; निहन्ति= मारता है; तरसा=वेग से; यमराजं=यमराज/मृत्यु को।

अन्वय : ये शैलैः सह धरणीं धरन्ति ये सकलं ग्रह-चक्रं क्षिपन्ति ते भुवने भवन्ति, सः कश्चित् न यः तरसा यमराजं निहन्ति।

वचनिका : जो जीव समस्त पर्वतों-सहित पृथ्वी को धारण करते हैं, संपूर्ण ग्रह-समूह को फेक देते हैं-वे व्यक्ति तो लोक में हैं; परंतु ऐसा वह कोई व्यक्ति नहीं है, जो वेग से यमराज का नाश करता है।।११/१२७०।।

मरण से बचानेवाला कोई नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

स्वागता : **यो हिनस्ति रभसेन बलिष्ठानिन्द्र-चन्द्र-रवि-केशव-रामान्।**
रक्षको भवति कश्चन मृत्योर्निघ्नतो भवभृतो न ततोऽत्र।।१२/१२७१।।

जो बल-शाली शक्र शशि रवि केशव बलभद्रों को मारे।
वेग पूर्वक यहाँ कोई नहिं रक्षक उस तन-नाशि मृत्यु से।।१२/१२७१।।

शब्दशः अर्थ : यः=जो; निहन्ति=मारता है; रभसेन=वेग से; बलिष्ठान्=बल-शाली; इन्द्र-चन्द्र-रवि-केशव-रामान्=इंद्र, चंद्रमा, सूर्य, नारायण, बलभद्र को; रक्षकः=रक्षा करनेवाला;

भवति=होता है; कश्चन=कोई; मृत्यो:=मृत्यु से; निघ्नत:=मारनेवाले; भव-भृत:=संसारिओं को; न=नहीं; तत:=उससे; अत्र=यहाँ।

अन्वय : य: बलिष्ठान् इन्द्र-चन्द्र-रवि-केशव-रामान् रभसेन निहन्ति अत्र भव-भृत: निघ्नत: तत: मृत्यो: रक्षक: कश्चन न भवति।

वचनिका : जो यमराज बलवान इंद्र, चंद्र, सूर्य, नारायण, बलभद्र को वेग पूर्वक मारता है; इस लोक में जीवों का नाश करनेवाले उस यम से बचानेवाला कोई नहीं है।

भावार्थ : अन्य-मती यम को देव मानते हैं—वह तो मिथ्या है; परंतु आयु पूर्ण हो जाने पर कोई रखने में समर्थ नहीं है। सम्यग्दर्शनादि और अरहंतादि शरण हैं; क्योंकि वस्तु का स्वरूप समझने से मरण का भय नहीं रहता है और सिद्ध-पद प्राप्त होने के बाद मरण होता नहीं है। इसप्रकार अन्य कोई शरण नहीं है; स्वयं के लिए स्वयं ही शरण है।।१२/१२७१।।

इसप्रकार अशरण भावना समाप्त हुई।

आगे सात पद्यों द्वारा संसार भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा संसारी-जीव की नर्तकता को स्पष्ट करते हैं—

विपिन-तिलक/ **चित्रजीवाकुलायां तनूभागिना कुर्वता चेष्टितं सर्वदा मोहिना।**
झूलना : **गृह्णता मुञ्चता विग्रहं सन्सृतौ नर्तकेनेव रङ्गक्षितौ भ्रम्यते।।१३/१२७२।।**

विविध जीवों मई रंगभूमी-समी भव में तन को ग्रहण और तजते हुए।
देह-धारी करे चेष्टा मोह से नर्तक-वत् यहाँ नित्य भ्रमते हुए।।१३/१२७२।।

शब्दश: अर्थ : चित्र-जीव+आकुलायां=अनेक प्रकार के जीवों से भरी हुई; तनू-भागिना= शरीर-धारी द्वारा; कुर्वता=करते हुए; चेष्टितं=चेष्टा/परिणाम को; सर्वदा=निरंतर; मोहिना=मोही द्वारा; गृह्णता=ग्रहण करते हुए; मुञ्चता=छोड़ते हुए; विग्रहं=शरीर को; सन्सृतौ:=संसार में; नर्तकेन=नट/नृत्य करनेवाले द्वारा; इव=समान; रङ्ग-क्षितौ=रंग-भूमि पर; भ्रम्यते=घूमा जाता है।

अन्वय : चित्र-जीव-आकुलायां सन्सृतौ रङ्ग-क्षितौ नर्तकेन इव मोहिना तनू-भागिना सर्वदा विग्रहं गृह्णता मुञ्चता चेष्टितं कुर्वता भ्रम्यते।

वचनिका : एकेंद्रिय आदि अनेक प्रकार के जीवों से भरी हुई संसाररूपी रंग-भूमी में नाच करनेवाले नट के समान इस मोही प्राणी द्वारा सतत शरीर को ग्रहण करते, छोड़ते हुए अनेक चेष्टा करते हुए यहाँ-वहाँ भटका जा रहा है अर्थात् यह जीव चार गति, चौरासी लाख योनिओं में मोह-वश सदा भटकता फिर रहा है।।१३/१२७२।।

अब, इस पद्य द्वारा उसकी विविध चेष्टाएं वर्णित हैं—

द्रुतविलंबित : **श्वसति रोदिति सीदति खिद्यते स्वपिति रुष्यति तुष्यति ताम्यति।**
लिखति दीव्यति सीथति नृत्यति भ्रमति जन्मवने कलिलाकुल:।।१४/१२७३।।

पाप-आकुलि मन ले श्वास को रोता पीड़ित खेदित सोता है।
रुष्ट तुष्ट संतापित हो लिखे खेल नाच भव-वन में भ्रमता है।।१४/१२७३।।

शब्दश: अर्थ : श्वसिति=श्वास लेता है; रोदिति=रोता है; सीदति=पीड़ित होता है; खिद्यते =खेद-खिन्न होता है; स्वपिति=सोता है; रुष्यति=रुष्ट होता है; तुष्यति=राग करता है; ताम्यति=तप्तायमान है; लिखति=लिखता है; दीव्यति=क्रीड़ा करता है; सीथति=व्यवहार करता है; नृत्यति=नृत्य करता है; भ्रमति=घूमता है; जन्म-वने=संसार-वन में; कलिल+ आकुल:=पाप से आकुल।

अन्वय : कलिल-आकुल: जनम-वने श्वसति ..... भ्रमति।

वचनिका : पाप-कर्म से व्याकुल यह जीव संसार-वन में उच्छ्वास लेता है, रोता है, पीड़ित होता है, खेद-खिन्न होता है, सोता है, रोष करता है, राग करता है, तप्तायमान है, लिखता है, क्रीड़ा करता है, व्यवहार करता है, नृत्य करता है—इत्यादि अनेक प्रकार से चेष्टा करता हुआ घूमता है।।१४/१२७३।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव की परिवर्तन-शील विविध दशाएं वर्णित हैं—

स्वागता : **जनकस्तनयस्तनयो जनको जननी गृहिणी गृहिणी जननी।**
भगिनी दुहिता दुहिता भगिनी भवतीति बताङ्गिगणोऽनेकश:।।१५/१२७४।।

पिता पुत्र हो पुत्र पिता हो माता पत्नी पत्नी माता।
बहिन सुता हो सुता बहिन हो हा यह प्राणी अनेक होता।।१५/१२७४।।

शब्दश: अर्थ : जनक:=पिता; तनय:=वेटा; तनय:=वेटा; जनक:=पिता; जननी=माता; गृहिणी=पत्नी; गृहिणी=पत्नी; जननी=माता; भगिनी=बहिन; दुहिता=पुत्री; दुहिता=पुत्री; भगिनी=बहिन; भवति=होता है; इति=इसप्रकार; बत=हाय; अङ्गि-गण:=प्राणी-समूह; अनेकश:=अनेक बार।

अन्वय : बत! अङ्गि-गण: अनेकश: जनक:.....भवति इति।

वचनिका : बड़े खेद की बात है कि यह जीव-समूह पिता, पुत्र हो जाता है; पुत्र, पिता हो जाता है; माता, पत्नी हो जाती है; पत्नी, माता हो जाती है; बहिन, वेटी हो जाती है; वेटी बहिन हो जाती है इत्यादि प्रकार से अनेक बार हो जाता है।।१५/१२७४।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार की दशा पर खेद व्यक्त करते हैं—

द्रुतविलम्बित : **कलिलजालवश: स्वयमात्मनो भवति यत्र सुतो निजमातरि।**

किमपरं बत तत्र निगद्यते विविधदु:खखनौ जननार्णवे।।१६/१२७५।।

भवोदधि में पाप-समूह-वश स्वयं अपना सुत स्व मात से।

हाय अधिक कहें क्या अन्य को वहाँ बहुविध दु:ख खदान में।।१६/१२७५।।

शब्दश: अर्थ : कलिल-जाल-वश:=पाप के समूह-वश; स्वयं=आप; आत्मन:=अपना; भवति=होता है; यत्र=जहाँ; सुत:=पुत्र; निज-मातरि=अपनी माता के गर्भ में; किं=क्या; अपरं=दूसरे को; बत=हाय; तत्र=उसमें; निगद्यते=कहा जाता है; विविध-दु:ख-खनौ=अनेक प्रकार के दु:खों की खदान में; जनन+आर्णवे=संसार-सागर में।

अन्वय : विविध-दु:ख-खनौ जनन-आर्णवे यत्र कलिल-जाल-वश: निज-मातरि स्वयं आत्मन: सुत: भवति बत तत्र अपरं किं निगद्यते?

वचनिका : अनेक प्रकार के दु:खों को उत्पन्न करने की खदान इस संसार-सागर में जहाँ पाप के समूह-वश अपनी माता के गर्भ में स्वयं स्वयं का सुत हो जाता है; बड़े खेद की बात है!! उस संसार में और व्यवस्था क्या कहिएगा?।।१६/१२७५।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार की सतत दु:ख-करता प्ररूपित है—

द्रुतविलम्बित : **किमपि वेत्ति शिशुर्न हिताहितं विरह*दु:खमुपैति युवा परम्।**

विकलतां भजते स्थविरस्तरां भवति शर्म कदा बत सन्सृतौ।।१७/१२७६।।

शिशु हिताहित कुछ भी नहिं समझ युवा उत्कट काम से नित दुखी।

वृद्ध अतिशय शक्ति-रहित है हाय! सुख संसार में कब कहीं?।।१७/१२७६।।

शब्दश: अर्थ : किं=क्या/कुछ; अपि=भी; वेत्ति=जानता है; शिशु:=बालक; न=नहीं; हित+अहितं=हित और अहित को; विरह/विविध-दु:खं=काम-वासना के अनेकों दु:ख को; उपैति=प्राप्त होता है; युवा=जवान; परं=अत्यधिक; विकलतां=शक्ति-हीनता को; भजते=प्राप्त होता है; स्थविर:=वृद्ध; तरां=विशेष; भवति=होता है; शर्म=सुख; कदा=कब; बत=खेद है; सन्सृतौ=संसार में।

अन्वय : शिशु: किं अपि हित-अहितं न वेत्ति युवा परं विरह/विविध-दु:खं उपैति स्थविर: तरां विकलतां भजते बत! सन्सृतौ कदा शर्म भवति।

वचनिका : अहो! संसार में सुख कब होता है? बालक, कुछ भी हित-अहित को नहीं

** विविध —इति पाठान्तरम्।*

जानता है; जवान, काम के तीव्र दु:ख को प्राप्त होता है; वृद्ध, विशेषरूप में विकलता को प्राप्त है, शक्ति-रहित हो जाता है, इच्छाएं बड़ जाती हैं—इसप्रकार यहाँ किसी भी अवस्था में सुख नहीं है, दु:ख ही है।।१७/१२७६।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार में नवीन संबंधों का अभाव वर्णित है—

उपजाति : **न सोऽस्ति सम्बन्धविधिर्जगत्त्रये समं समस्तैरपि देहधारिभि:।**
अवापि यो न भ्रमता भवार्णवे शरीरिणा कर्मनियन्त्रितात्मना।।१८/१२७७।।

नित घूमते भव-सागर में कर्मों से बँधे जीव ने क्या नहीं पाए।
त्रय-लोकवर्ती सब जीव-साथ संबंध सब ही नहिं शेष कुछ है।।१८/१२७७।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; स:=वह; अस्ति=है; सम्बन्ध-विधि:=संबंध की पद्धति; जगत्-त्रये=तीन-लोक में; समं=साथ; समस्तै:=सभी से; अपि=भी; देह-धारिभि:=शरीर-धारी प्राणी से; अवापि=पाया है; य:=जो; न=नहीं; भ्रमता=घूमते हुए; भव+आर्णवे=संसार-समुद्र में; शरीरिणा=प्राणी द्वारा; कर्म-नियन्त्रित+आत्मना=कर्मों से बँधे हुए जीव द्वारा।

अन्वय : जगत्-त्रये स: सम्बन्ध-विधि: न अस्ति य: भव+आर्णवे भ्रमता कर्म-नियन्त्रित+आत्मना शरीरिणा न अवापि।

वचनिका : तीन-लोक में वह संबंध का विधान नहीं है, जो संसार-सागर में घूमते हुए कर्मों से बँधे हुए आत्मावाले शरीर-धारी जीव द्वारा समस्त देह-धारी प्राणिओं के साथ अनेक बार प्राप्त नहीं किए गए हैं।।१८/१२७७।।

अब, इस पद्य द्वारा संसार की सर्वांगीण दु:खरूपता स्पष्ट करते हैं—

झूलना : **यत्र चित्रैर्विवर्तै: परावर्त्यते कर्मणानारतं भ्रम्यमाणो जन:।**
दुस्सहं दुर्वचं मानसं कायिकं तत्र दु:खं न किं सन्सृतावश्नुते।।१९/१२७८।।

कर्म से नित भ्रमाया है प्राणी जहाँ विविध पर्यायों की पलटन में नित ही वहाँ।
दुर्वचन मन शरीर के दु:सह दु:ख नहिं पाया संसार में है कौन-सा?।।१९/१२७८।।

शब्दश: अर्थ : यत्र=जहाँ; चित्रै:=अनेक प्रकार से; विवर्तै:=पर्यायों से; परावर्त्यते=परिवर्तन करता है; कर्मणा=कर्म द्वारा; अनारतं=निरंतर; भ्रम्यमाण:=भ्रमाया हुआ; जन:=प्राणी; दुस्सहं=अति कठिनता से सहे जानेवाले; दुर्वचं=खोटे वचन; मानसं=मन संबंधी; कायिकं =शरीर संबंधी; तत्र=वहाँ; दु:खं=दु:ख को; न=नहीं; किं=क्या; सन्सृतौ=संसार में; अश्नुते=प्राप्त होता है।

अन्वय : यत्र सन्सृतौ कर्मणा अनारतं भ्रम्यमाण: जन: चित्रै: विवर्तै: परावर्त्यते तत्र दुर्वचं मानसं कायिकं दु:सहं दु:खं किं न अश्नुते?

वचनिका : जिस संसार-सागर में कर्म द्वारा निरंतर भ्रमाया हुआ प्राणी नाना प्रकार की पर्यायों द्वारा उलट-पलट किया जाता है; उस संसार में दुर्वचन, मन, शरीर संबंधी दु:सह दु:ख को क्या नहीं भोगता है? भोगता ही है। संसार का ऐसा स्वरूप जानकर मोक्ष का प्रयत्न करना चाहिए।।१९/१२७८।।

इसप्रकार संसार-भावना समाप्त हुई।

अब, छह पद्यों द्वारा एकत्व भावना वर्णित है।

उसमें सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि दूसरों के लिए किए गए पापों का फल दुर्गति में यह जीव अकेले ही भोगता है—

द्रुतविलम्बित : **देहबान्धवनिमित्तमङ्गिना पापकर्म विविधं विधीयते।**

एककेन बृहति विषह्यते नारकीं गतिमुपेयुषा व्यथा।।२०/१२७९।।

तन बांधव हेतु यह प्राणी करता विविध पाप कर्मों को।

एकाकी पा नरक गति को उससे सहता बहु कष्टों को।।२०/१२७९।।

शब्दश: अर्थ : देह-बान्धव-निमित्तं=शरीर और बंधु-जनों के लिए; अङ्गिना=प्राणी द्वारा; पाप-कर्म=हिंसादिमय कार्य; विविधं=अनेक प्रकारवाले; विधीयते=किए जाते हैं; एककेन=अकेले से; बृहति=फल-स्वरूप; विषह्यते=सहता है; नारकीं=नरक संबंधी; गतिं=गति को; उपेयुषा=प्राप्त हुआ; व्यथा=कष्ट।

अन्वय : अङ्गिना देह-बान्धव-निमित्तं विविधं पाप-कर्म विधीयते बृहति नारकीं गतिं उपेयुषा एककेन व्यथा विषह्यते।

वचनिका : इस जीव द्वारा शरीर और बंधु-जनों के पोषण के लिए अनेक प्रकार के पाप-कर्म किए जाते हैं। उसके फल-स्वरूप नरक-गति को प्राप्त हुआ एकाकी अकेला आप ही पीड़ा को सहता है; शरीर, बंधु आदि कोई भी इकट्ठे नहीं होते हैं।।२०/१२७९।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्रस्तुत है कि स्त्री भी शरण नहीं है—

द्रुतविलम्बित : **पद्म-पत्रनयना मनोरमा: कारयन्ति दुरितं दुरुत्तरम्।**

दुर्गतिं विकटदु:खसङ्कटामेककस्य शरणं न गच्छत:।।२१/१२८०।।

कमल पत्र नयनी मनोरमा पत्नी दुस्तर पाप कराती।

महा दु:ख से व्याप्त दुर्गति जाते एकाकी शरण नहीं।।२१/१२८०।।

शब्दश: अर्थ : पद्म-पत्र-नयना:=कमल के पत्र-सम नेत्रवालीं; मनोरमा:=मन को रमानेवालीं; कारयन्ति=कराती हैं; दुरितं=पाप को; दुरुत्तरं=कठिनाई से नष्ट होनेवाले; दुर्गतिं=खोटी गति

को; विकट-दुःख-सङ्कटां=घोर दुःखों से व्याप्त को; एककस्य=अकेले का; शरणं=सहारा; न=नहीं; गच्छतः=जाते हुए का।

अन्वय : पद्म-पत्र-नयनाः मनोरमाः दुरुत्तरं दुरितं कारयन्ति विकट-दुःख-सङ्कटां दुर्गतिं गच्छतः एककस्य शरणं न।

वचनिका : कमल के पत्र-समान नेत्रोंवालीं, मन को रमानेवालीं स्त्रियाँ दुस्तर पाप कराती हैं; परंतु घोर दुःखों से व्याप्त दुर्गति को जाते हुए अकेले को कोई शरण नहीं है।।२१/१२८०।।

अब इस पद्य द्वारा मात्र पूर्व-बद्ध-कर्म की सुख-दुःख-कारकता वर्णित है—

द्रुतविलम्बित : **मातृ-तात-सुत-दार-बान्धवाः सर्वदा मम मुधेति तप्यते।**
कर्म पूर्वमपहाय विद्यते नात्र कोऽपि सुख-दुःख-कारकः।।२२/१२८१।।

मात पिता सुत पत्नी बंधु मेरे मान मूढ नित खेदित।
पूर्व कर्म विन कोई भी नहीं सुख-दुःख-कारक यहाँ विराजित।।२२/१२८१।।

शब्दशः अर्थ : मातृ-तात-सुत-दार-बान्धवाः=माता, पिता, पुत्र, पत्नी, कुटुंबी; सर्वदा= निरंतर; मम=मेरे; मुधा=मूर्ख; इति=इसप्रकार; तप्यते=खेद-खिन्न होता है; कर्म= ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म को; पूर्वं=पहले बँधे हुए को; अपहाय=छोड़कर; विद्यते=होता है; न=नहीं; अत्र=यहाँ; कः=कौन/कोई; अपि=भी; सुख-दुःख-कारकः=सुख-दुःख को करनेवाला।

अन्वय : मातृ-तात-सुत-दार-बान्धवाः सर्वदा मम इति मुधा तप्यते अत्र पूर्वं कर्म अपहाय कः अपि सुख-दुःख-कारकः न विद्यते।

वचनिका : माता, पिता, पुत्र, पत्नी, बांधव—ये सदा मेरे हैं—ऐसा मानकर मूढ खेद करता है; परंतु इस-लोक में पूर्व कर्म के विना सुख-दुःख को करनेवाला कोई भी नहीं है।।२२/१२८१।।

इस-लोक में भी कोई किसी का कुछ भी करने में समर्थ नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

द्रुतविलम्बित : **वेदनां गतवतः स्व-कर्मजामत्र यो न विदधाति किञ्चन।**
किं करिष्यति परत्र यत्नतो देहजादि-निवहः स पालितः।।२३/१२८२।।

अपने कर्मोदय से आए कष्टादि का करें न कुछ भी।
यहाँ यत्न पालित सुत-गण तब पर-भव में क्या करेंगे कुछ भी?।।२३/१२८२।।

शब्दशः अर्थ : वेदनां=कष्ट को; गतवतः=प्राप्त हुए का; स्व-कर्मजां=अपने कर्म के उदय में

उत्पन्न हुए; अत्र=यहाँ; य:=जो; न=नहीं; विदधाति=धारण करता है; किञ्चन=कुछ; किं=क्या; करिष्यति=करेगा; परत्र=पर-भव में; यत्नत:=प्रयास से; देहज+आदि-निवह:= पुत्र आदि का समूह; स:=वह; पालित:=पाला गया।

अन्वय : यत्नत: पालित: य: देहज-आदि-निवह: अत्र स्व-कर्मजां वेदनां गतवत: किञ्चन न विदधाति स: परत्र किं करिष्यति?

वचनिका : प्रयत्न पूर्वक पाला गया पुत्रादि का जो समूह यहाँ अपने कर्मोदय से उत्पन्न हुई रोगादि की वेदना को प्राप्त हुए प्राणी का कुछ भी नहीं कर पाता है; वह पर-लोक में क्या कर सकेगा? कुछ भी नहीं।।२३/१२८२।।

यह जीव प्रत्येक परिस्थिति में अकेला ही है; यह अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

द्रुतविलम्बित : **एकको भ्रमति जन्मकानने यातिनिर्वृतिनिवासमेकक:।**
एकक: श्रयति दु:खमेकक: शर्म याति न परोऽस्य विद्यते।।२४/१२८३।।

भव-वन में फिरता एकाकी मोक्ष-धाम जाता एकाकी।
दु:ख भोगता एकाकी सुख अन्य कोइ नहिं पा एकाकी।।२४/१२८३।।

शब्दश: अर्थ : एकक:=अकेला; भ्रमति=घूमता है; जन्म-कानने=संसाररूपी भयंकर जंगल में; याति=जाता है; निर्वृति-निवासं=मोक्ष-धाम को; एकक:=अकेला; एकक:=अकेला; श्रयति=भोगता है; दु:खं=दु:ख को; एकक:=अकेला; शर्म=सुख को; याति=प्राप्त होता है; न=नहीं; पर:=दूसरा; अस्य=इसका; विद्यते=है।

अन्वय : जन्म-कानने एकक: भ्रमति निर्वृति-निवासं एकक: याति दु:खं एकक: श्रयति शर्म एकक: याति अस्य पर: न विद्यते।

वचनिका : यह जीव संसाररूपी भयंकर वन में अकेला घूमता है, मोक्ष-धाम को अकेला जाता है, दु:ख को अकेला भोगता है, सुख को अकेला प्राप्त होता है; इसका कोई दूसरा साथ नहीं है।।२४/१२८३।।

अब, इस पद्य द्वारा इसका साथी प्ररूपित है—

द्रुतविलम्बित : **जन्म-मृत्यु-रति-कीर्ति-सम्पदामेकको भवति भाजनं सदा।**
नास्ति कोऽपि सचिव: शरीरिणो द्रव्यमुक्तिमपहाय तत्त्वत:।।२५/१२८४।।

जन्म मरण प्रीति यश वैभव को एकाकी प्राप्त करे नित।
द्रव्य-मुक्ति को छोड़ तत्त्वत: प्राणी का कोई भी साथि न।।२५/१२८४।।

शब्दश: अर्थ : जन्म-मृत्यु-रति-कीर्ति-सम्पदां=जन्म, मरण, प्रीति, यश, वैभव को;

एकक:=अकेला; भवति=होता है; भाजनं=पात्र; सदा=निरंतर; न+अस्ति=नहीं है; क:=कोई; अपि=भी; सचिव:=साथी; शरीरिण:=प्राणी का; द्रव्य-मुक्तिं=द्रव्य की मुक्त दशा अथवा परिपूर्ण मुक्ति को; अपहाय=छोड़कर; तत्त्वत:=यथार्थरूप से।

अन्वय : जन्म-मृत्यु-रति-कीर्ति-सम्पदां भाजनं सदा एकक: भवति तत्त्वत: द्रव्य-मुक्तिं अपहाय शरीरिण: सचिव: क: अपि न अस्ति।

वचनिका : जन्म, मरण, प्रीति, यश, संपत्ति का पात्र सदा अकेला ही है अर्थात् जन्मादि को अकेला ही पाता है। वास्तव में परिपूर्ण मोक्ष अवस्था के विना अन्य कोई भी जीव का साथ नहीं है।।२५/१२८४।।

इसप्रकार एकत्व-भावना का वर्णन समाप्त हुआ।

आगे सात पद्यों द्वारा अन्यत्व-भावना निरूपित है।

वहाँ इस पद्य द्वारा सहेतुक आत्मा से शरीर की पृथक्ता प्ररूपित है—

उपजाति : **अनादिरात्माऽनिधन: सचेतनो विधायक: कर्मफलस्य भोजक:।**
हिताहितादान-विमोक्ष-कोविदस्तत: शरीरं विपरीतमात्मन:।।२६/१२८५।।

आत्मा अनादि अविनाशी चेतन-युत कर्म-कर्ता फल-भोक्ता भी।
हित ग्रहे ज्ञाता छोड़े अहित यों आतम से विपरीत शरीर नित ही।।२६/१२८५।।

शब्दश: अर्थ : अनादि:=प्रारंभ से रहित; आत्मा=स्वयं आप; अनिधन:=अंत से रहित; सचेतन:=चेतन-युक्त; विधायक:=करनेवाला; कर्म-फलस्य=कर्म के फल का; भोजक:=भोग करनेवाला; हित+आदान+अहित-विमोक्ष-कोविद:=हित को ग्रहण करनेवाला, अहित का त्याग करनेवाला ज्ञान-स्वरूप; तत:=इसलिए; शरीरं=देह; विपरीतं=पृथक्; आत्मन:=आत्मा से।

अन्वय : अंतिम चरण में 'आत्मन: शरीरं विपरीतं'—मात्र इतना ही परिवर्तन है।

वचनिका : आत्मा अनादि, अनंत, चेतन-सहित, कर्ता, कर्म-फल का भोक्ता, हित को ग्रहण करनेवाला, अहित का त्याग करनेवाला, ज्ञान-स्वरूप है; अत: इस आत्मा से शरीर विपरीत है।

भावार्थ : शरीर, नवीन उत्पन्न हुआ है, विनाशीक और जड़ है; अत: कर्मों का कर्ता-भोक्ता नहीं है; वह हित का ग्रहण और अहित का त्याग नहीं कर सकता है—इसप्रकार आत्मा और शरीर का लक्षण पृथक्-पृथक् है; एक नहीं है।।२६/१२८५।।

यहाँ इस जीव की अन्य कोई वस्तु नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

उपजाति : **सदापि यो यत्न-शतै: प्रपाल्यते न यत्र कायोऽपि निज: स देहिन:।**
पर: स्वकीयं किमु तत्र विद्यते प्रवर्तते यत्र ममेति मोहित:।।२७/१२८६।।

नित सैकड़ों यत्नों से प्रपालित निज तन जहाँ है नहिं जीव का तब।
पर अन्य इसका हो सके अपना कैसे 'ये मेरा' यह मोह वर्तित?।।२७/१२८६।।

शब्दश: अर्थ : सदा=निरंतर; अपि=भी; य:=जो; यत्न-शतै:=सैकड़ों प्रयासों से; प्रपाल्यते=पाला जाता है; न=नहीं; यत्र=जहाँ; काय:=शरीर; अपि=भी; निज:=अपना; स:=वह; देहिन:=प्राणी का; पर:=दूसरा; स्वकीयं=अपना; किमु=क्या; तत्र=वहाँ; विद्यते=है; प्रवर्तते=प्रवृत्ति करता है; यत्र=जहाँ; मम=मेरा; इति=इसप्रकार; मोहित:=मोह-युक्त।

अन्वय : यत्र य: काय: यत्न-शतै: सदा अपि प्रपाल्यते स: अपि देहिन: निज: न तत्र पर: स्वकीयं किमु विद्यते यत्र मोहित: 'मम इति' प्रवर्तते।

वचनिका : जिस संसार में जो शरीर सैकड़ों उपायों द्वारा सदा ही पाला जाता है, वह शरीर भी प्राणी का अपना नहीं है; तब फिर वहाँ अन्य वस्तु अपनी कैसे हो सकती है? जिसमें मोहित हुआ 'यह मेरी है'—इसप्रकार प्रवर्तता है।।२७/१२८६।।

अब, इस पद्य द्वारा मोह की प्रवृत्ति प्ररूपित है—

उपजाति : **विमुच्य जन्तोरुपयोगमञ्जसा न दर्शन-ज्ञानमयं निजं परम्।**
परत्र सर्वत्र ममेति शेमुषी प्रवर्तते मोह-पिशाच-निर्मिता।।२८/१२८७।।

इस जीव का दर्शन-ज्ञानमय इस उपयोग विन अन्य नहीं स्वकीय।
पर सभी मेरे यह बुद्धि वर्ते अज्ञानमय मोह-पिशाच-निर्मित।।२८/१२८७।।

शब्दश: अर्थ : विमुच्य=छोड़कर; जन्तो:=प्राणी का; उपयोगं=चेतना-अनुविधायी परिणाम; अञ्जसा=वास्तव में; न=नहीं; दर्शन-ज्ञान-मयं=दर्शन-ज्ञान-मय; निजं=अपना; परं=अन्य; परत्र=पर में; सर्वत्र=सभी में; मम=मेरा; इति=इसप्रकार; शेमुषी=बुद्धि; प्रवर्तते=वर्तती है; मोह-पिशाच-निर्मिता=मोहरूपी पिशाच द्वारा रची गई।

अन्वय : अञ्जसा जन्तो: दर्शन-ज्ञानमयं उपयोगं विमुच्य परं निजं न सर्वत्र परत्र मम इति शेमुषी मोह-पिशाच-निर्मिता प्रवर्तते।

वचनिका : वास्तव में जीव के दर्शन-ज्ञानमय उपयोग को छोड़कर अन्य पर-पदार्थ अपना नहीं है। सभी पर-पदार्थों में 'यह मेरा है'—ऐसी बुद्धि मोहरूपी पिशाच से रची गई प्रवर्तती है।।२८/१२८७।।

अब, इस पद्य द्वारा यह प्ररूपित है कि सभी पर-पदार्थ दु:ख में ही निमित्त होते हैं—

उपजाति : **भवन्ति ये कार्मणयोगसम्भवा: परेऽत्र भावा वपुरात्मजादय:।**

विहाय ते दु:खपरम्परां परां परं न किञ्चिद्विपरीतमीशते।।२९/१२८८।।

यहाँ हैं जो कर्मोदय से व्यक्त शरीर सुत आदि पर पदार्थ।

वे दु:ख पद्धति को छोड़ अन्य विपरीत कुछ करने नहिं समर्थ।।२९/१२८८।।

शब्दश: अर्थ : भवन्ति=होते हैं; ये=जो; कार्मण-योग-सम्भवा:=कर्मों के संयोग से उत्पन्न; परे=दूसरे; अत्र=यहाँ; भावा:=पदार्थ; वपु:+आत्मज+आदय:=शरीर, पुत्र आदि; विहाय=छोड़कर; ते=वे; दु:ख-परम्परां=दु:ख की पद्धति को; परां=उत्कृष्ट को; परं=अन्य; न=नहीं; किञ्चित्=कुछ; विपरीतं=उल्टा; ईशते=समर्थ है।

अन्वय : अत्र कार्मण-योग-सम्भवा: वपु: आत्मज-आदय: ये परे भावा: भवन्ति ते परां दु:ख-परम्परां विहाय परं किञ्चित् विपरीतं न ईशते।

वचनिका : इस-लोक में कर्मों के संयोग से उत्पन्न शरीर, पुत्रादि जो पर-पदार्थ हैं; वे मात्र दु:ख की उत्कृष्ट परंपरा के अतिरिक्त अन्य कुछ दु:ख से विपरीत सुख करने में समर्थ नहीं हैं।

भावार्थ : शरीरादि पर-पदार्थों में अपनेपन की बुद्धि दु:ख ही की कारण है, सुख की कारण नहीं है।।२९/१२८८।।

अब, इस पद्य द्वारा पर में अपनत्व आदि के त्याग की प्रेरणा देते हैं —

उपजाति : **अनात्मनीना भवदु:खहेतवो विनश्वरा: कर्मभवा यतोऽखिला:।**

ततो न बाह्येषु विशुद्ध-बुद्धयो ममेति बुद्धिं मनसाऽपि कुर्वते।।३०/१२८९।।

हैं कर्म से व्यक्त अपने से भिन्न भव-दु:ख हेतु नश्वर सभी पर।

इससे नहीं इनमें मेरेपन की बुद्धि करें विज्ञ कभी भि किंचित्।।३०/१२८९।।

शब्दश: अर्थ : अन्+आत्मनीना:=अपने से पृथक्; भव-दु:ख-हेतव:=संसार-दु:ख के कारण; विनश्वरा:=नष्ट होनेवाले; कर्म-भावा:=कर्मों से होनेवाले; यत:=क्योंकि; अखिला:=सभी; तत:=इसलिए; न=नहीं; बाह्येषु=बाहर में; विशुद्ध-बुद्धय:=पवित्र बुद्धिवाले; मम=मेरा; इति=इसप्रकार; बुद्धिं=बुद्धि/भाव को; मनसा=मन द्वारा; अपि=भी; कुर्वते=करते हैं।

अन्वय : यत: कर्म-भवा: अखिला: अन्-आत्मनीना: भव-दु:ख-हेतव: विनश्वरा: तत: विशुद्ध-बुद्धय: बाह्येषु मनसा अपि 'मम इति' बुद्धिं न कुर्वते।

वचनिका : क्योंकि कर्म से हुए, स्वयं से भिन्न सभी पर-पदार्थ अपने लिए अहितकर, सांसारिक दु:ख के कारण, विनाशीक हैं; अत: पवित्र बुद्धिवाले उन बाह्य पर-पदार्थों में मन से भी 'ये मेरे हैं'—ऐसी बुद्धि नहीं करते हैं।।३०/१२८९।।

कोई भी पर-पदार्थ, अपना नहीं है; यह अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

उपजाति : **न विद्यते यत्र कलेवरं निजं स्वकीय-बुद्ध्या मनसि व्यवस्थितम्।**

तदीय-सम्बन्ध-भवा: सुतादय: परे कथं तत्र निजा निगद्यताम्।।३१/१२९०।।

निज बुद्धि से मन में बिठाया तन भी नहीं होता अपना जहाँ जब।

उससे हुए सुत आदि सभी पर कैसे कहो अपने हो सकें तब?।।३१/१२९०।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; विद्यते=होता है; यत्र=जहाँ; कलेवरं=शरीर; निजं=अपना; स्वकीय-बुद्ध्या=अपनी बुद्धि से; मनसि=मन में; व्यवस्थितं=बिठाया गया; तदीय-सम्बन्ध-भवा:=उसके संबंध से हुए; सुत+आदय:=पुत्र आदि; परे=दूसरे; कथं=कैसे; तत्र=वहाँ; निजा:=अपने; निगद्यतां=कहिए।

अन्वय : यत्र स्वकीय-बुद्ध्या मनसि व्यवस्थितं कलेवरं निजं न विद्यते तत्र तदीय-सम्बन्ध-भवा: परे सुत-आदय: निजा: कथं निगद्यताम्?

वचनिका : जहाँ अपनी बुद्धि द्वारा मन में बिठाया शरीर, अपना नहीं है; वहाँ उसके संबंध से हुए, अपने से भिन्न दूसरे पुत्र आदि अपने कैसे हो सकते हैं? यह कहो। वे कभी भी अपने नहीं हो सकते हैं।।३१/१२९०।।

अब, इस पद्य द्वारा पर में ममत्व-बुद्धि का फल बताकर उसके त्याग की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **करोति बाह्येषु ममेति शेमुषीं परेष्वयं यावदनर्थकारिणीम्।**

न निर्गमस्तावदमुष्य सन्सृतेरिति त्रिधा सा विदुषा विमुच्यताम्।।३२/१२९१।।

जब तक करे बाह्य पदार्थ पर में अनर्थकारी 'ये मेरे' बुद्धि।

तब तक नहीं भव से निकल सकता इससे तजें विज्ञ त्रिधा हि बुद्धि।।३२/१२९१।।

शब्दश: अर्थ : करोति=करता है; बाह्येषु=बाहर में; मम=मेरा; इति=इसप्रकार की; शेमुषीं=बुद्धि को; परेषु=पर में; अयं=यह; यावत्=जब तक; अनर्थ-कारिणीं=अनर्थ करनेवाली को; न=नहीं; निर्गम:=निकलना होता है; तावत्=तब तक; अमुष्य=इस प्राणी का; सन्सृते:=संसार से; इति=इसप्रकार समझकर; त्रिधा=तीन प्रकार से; सा=वह बुद्धि; विदुषा=विद्वान द्वारा; विमुच्यतां=छोड़ने-योग्य है।

अन्वय : यावत् बाह्येषु परेषु मम इति अनर्थ-कारिणीं शेमुषीं अयं करोति तावत् अमुष्य सन्सृते: निर्गम: न इति विदुषा सा त्रिधा विमुच्यताम्।

वचनिका : जब तक बाह्य पर-पदार्थों में 'ये मेरे हैं'—इस अनर्थ-कारी बुद्धि को यह जीव

करता है; तब तक उसका संसार से निकलना नहीं होता है; अत: विद्वान द्वारा वह मन, वचन, काय से त्याग करने-योग्य है।।३२/१२९१।।

इसप्रकार अन्यत्व-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे आठ पद्यों द्वारा अशुचित्व-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा शरीर की महा अपवित्रता वर्णित है—

उपजाति :**क्षणादमेध्या: शुचयोऽपि भावा: सन्सर्ग-मात्रेण भवन्ति यस्य।**
शरीरत: सन्तति-पूति-गन्धेस्तत: परं किञ्चन नास्त्यशौक्ष्यम्।।३३/१२९२।।

पावन पदार्थ क्षण में अपावन होते हैं जिसके संसर्ग से ही।
दुर्गंधरूप उस तन से अन्य कुछ भी अपावन नहिं यहाँ नित ही।।३३/१२९२।।

शब्दश: अर्थ : क्षणात्=क्षण-मात्र से; अमेध्या:=अपवित्र; शुचय:=पवित्र; अपि=भी; भावा: =पदार्थ; सन्सर्ग-मात्रेण=संपर्क-मात्र से; भवन्ति=होते हैं; यस्य=जिसका; शरीरत:=देह से; सन्तति-पूति-गन्धे:=निरंतर दुर्गंधि-संपन्न से; तत:=उससे; परं=दूसरा; किञ्चन=कोई; न+अस्ति=नहीं है; अशौक्ष्यं=अपवित्र।

अन्वय : शुचय: भावा: अपि यस्य सन्सर्ग-मात्रेण क्षणात् अमेध्या: भवन्ति सन्तति-पूति-गन्धे: तत: शरीरत: परं किञ्चन अशौक्ष्यं न अस्ति।

वचनिका : पवित्र पदार्थ भी जिसके संसर्ग-मात्र से क्षण-भर में अपवित्र हो जाते हैं; निरंतर दुर्गंधरूप उस शरीर से दूसरा कुछ भी अपवित्र नहीं है।।३३/१२९२।।

अब, इस पद्य द्वारा शरीर की सर्वांग अशुचिता वर्णित है—

उपजाति :**बहु-प्रकाराशुचि-राशि-पूर्णे शुक्रासृजाते शुचिता क्व काये।**
अमेध्य-पूर्ण: किममेध्य-कुम्भो दृष्टो हि मेध्यत्वमुपाददान:।।३४/१२९३।।

रज वीर्य से जन्मे विविध अशुचि मय वस्तु पूर्ण तन में कहाँ है?
शुचिता मलिन से परिपूर्ण मैला घट क्या शुचि-धारक दिखे जग में।।३४/१२९३।।

शब्दश: अर्थ : बहु-प्रकार-अशुचि-राशि-पूर्णे=अनेक प्रकार के अपवित्र पदार्थों से भरे में; शुक्र+असृ-जाते=वीर्य और रुधिर से उत्पन्न हुए में; शुचिता=पवित्रता; क्व=कहाँ; काये=शरीर में; अमेध्य-पूर्ण:=मलिनता से भरा हुआ; किं=क्या; अमेध्य-कुम्भ:=मलिन घड़ा; दृष्ट:=देखा है; हि=वास्तव में; मेध्यत्वं=पवित्रता को; उप+आददान:=धारण किए हुए।

अन्वय : बहु .... जाते काये शुचिता क्व? हि अमेध्य-पूर्ण: अमेध्य-कुम्भ: मेध्यत्वं उप-आददान: किं दृष्ट:?

वचनिका : विष्टा आदि अनेक प्रकार की अपवित्र वस्तुओं से भरे, वीर्य और रुधिर से उत्पन्न हुए इस शरीर में पवित्रता कहाँ? कहीं नहीं। वास्तव में विष्टा आदि मलिनता से भरा मलिन घड़ा पवित्रता को धारण करता हुआ क्या देखा है? नहीं।।३४/१२९३।।

देह के संबंध में अज्ञानी और ज्ञानी के विचार अब, इस पद्य द्वारा वर्णित हैं—

उपजाति : **मज्जास्थिमेदोमल-मान्सखानिं विगर्हणीयं कृमिजालगेहम्।**
देहं दधानः शुचिताभिमानं मूर्खो विधत्ते न विशुद्ध-बुद्धिः।।३५/१२९४।।

मल मेद मांस मज्जास्थि खान कृमि जाल-गृह निंदन-योग्य तन को।
धारण किए मूर्ख पवित्र मानें ज्ञानी सदा मानें भिन्न तन को।।३५/१२९४।।

शब्दशः अर्थ : मज्जा+अस्थि-मेदः-मल-मान्स-खानिं=मज्जा, हड्डी, मेद, विष्टादि मल, मांस को उत्पन्न करनेवाली खदान को; विगर्हणीयं=निंदा के योग्य को; कृमि-जाल-गेहं= कीड़ों के समूह के घर को; देहं=शरीर को; दधानः=धारण किए हुए; शुचिता+अभिमानं= पवित्रता के घमंड को; मूर्खः=अज्ञानी; विधत्ते=धारण करता है; न=नहीं; विशुद्ध-बुद्धिः= पवित्र बुद्धिवाला ज्ञानी।

अन्वय : मज्जा .... दधानः मूर्खः शुचिता-अभिमानं विधत्ते विशुद्ध-बुद्धिः न।

वचनिका : मज्जा, हड्डी, मेद, विष्टादि मल, मांस आदि को उत्पन्न करनेवाली खदान; निंदा के योग्य, कीड़ों के समूह के घरमय देह को धारण करता हुआ मूर्ख पवित्रता के अभिमान को धारण करता है। पवित्र बुद्धिवाला ज्ञानी उसे धारण नहीं करता है।।३५/१२९४।।

अब, इस पद्य द्वारा जल से शरीर की पवित्रता को सोदाहरण स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **स्रवन्नवस्रोतृ-विचित्र-गूथं यो वारिणा शोधयते शरीरम्।**
अह्नाय दुग्धेन निघृष्य मन्ये विशुद्धमङ्गारमसौ विधत्ते।।३६/१२९५।।

नव द्वार से बहुविध मल बहाते तन को करे शुद्ध जो नीर द्वारा।
यह दूध से घिसकर कोयला को सुविशुद्ध करता है शीघ्र लगता।।३६/१२९५।।

शब्दशः अर्थ : स्रवन्-नव-स्रोतृ-विचित्र-गूथं=नौ द्वारों से अनेक प्रकार के मल को बहाते हुए को; यः=जो; वारिणा=जल द्वारा; शोधयते=शुद्ध करता है; शरीरं=शरीर को; अह्नाय= शीघ्र; दुग्धेन=दूध से; निघृष्टा=घिसकर; मन्ये=मानता हूँ; विशुद्धं=स्वच्छ; अङ्गारं=कोयले को; असौ=यह; विधत्ते=करता है।

अन्वय : स्रवन्-स्रोतृ-विचित्र-गूथं शरीरं यः वारिणा शोधयते असौ अङ्गारं दुग्धेन निघृष्य अह्नाय विशुद्धं विधत्ते (इति अहं) मन्ये।

वचनिका : नौ द्वारों से अनेक प्रकार के मल को बहानेवाले शरीर को जो जल से पवित्र करता है; मैं ऐसा मानता हूँ कि यह कोयला को दूध से घिसकर शीघ्र विशुद्ध कर रहा है।।३६/१२९५।।

अब, इस पद्य द्वारा जल की विशेषताएँ वर्णित हैं—

उपजाति : **न हन्यते तेन जलेन पापं विवर्ध्यते येन विवर्ध्य रागम्।**
यद्यस्य वर्ण*प्रभवे समर्थं तत्तस्य दृष्टं न विनाशकारि।।३७/१२९६।।

रागादि बड़ हिंसा पाप बड़ता जिस जल से उससे नहिं पाप नष्ट।
जिसका वरण प्रकटाने में सक्षम उसका नहीं दिखता वह विनाशक।।३७/१२९६।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; हन्यते=नष्ट करता है; तेन=उससे; जलेन=जल से; पापं=पाप को; विवर्ध्यते=बड़ाया जाता है; येन=जिससे; विवर्ध्य=बड़ाकर; रागं=राग को; यत्=जो; यस्य =जिसका; वर्ण/जन्म-प्रभवे=वर्ण/जन्म की उत्पत्ति में; समर्थं=सक्षम है; तत्=वह; तस्य= उसका; दृष्टं=देखा जाता है; न=नहीं; विनाश-कारि=नष्ट करनेवाला।

अन्वय : येन जलेन रागं विवर्ध्य पापं विवर्ध्यते तेन पापं न हन्यते यत् यस्य वर्ण/जन्म-प्रभवे समर्थं तत् तस्य विनाश-कारि न दृष्टम्।

वचनिका : जिस जल के द्वारा रागादि भाव बड़ाकर हिंसादि पाप बड़ाए जाते हैं; उस जल से वे पाप नष्ट नहीं होते हैं। जो जिस वस्तु का वर्ण/जन्म उत्पन्न करने में समर्थ है, वह उसका विनाश करनेवाला नहीं देखा जाता है।।३७/१२९६।।

पाप-नाशन में जल की व्यर्थता अब, इस पद्य द्वारा वर्णित है—

उपजाति : **विनाश्यते चेत्सलिलेन पापं धर्मस्तदानीं क्रियते किमर्थम्।**
आरोहणं कोऽपि करोति वृक्षे फले हि हस्तेन न लभ्यमाने।।३८/१२९७।।

जल से यदि होते पाप नष्ट तब धर्म किस हेतु किया जाए?
जब हाथ से फल पाना न शक्य तब ही तरु पर कोई हैं चड़ते।।३८/१२९७।।

शब्दश: अर्थ : विनाश्यते=नष्ट किया जाता है; चेत्=यदि; सलिलेन=जल से; पापं=पाप को; धर्म:=धर्म; तदानीं=उस समय/तब; क्रियते=किया जाता है; किं+अर्थं=किसलिए; आरोहणं =चड़ने को; क:=कोई; अपि=भी; करोति=करता है; वृक्षे=वृक्ष पर; फले=फल में; हि=वास्तव में; हस्तेन=हाथ द्वारा; न=नहीं; लभ्यमाने=प्राप्त करने में।

अन्वय : चेत् सलिलेन पापं विनाश्यते तदानीं धर्म: किं अर्थं क्रियते? हि हस्तेन फले न लभ्यमाने क: अपि वृक्षे आरोहणं करोति।

** जन्म —इति पाठान्तरम्।*

वचनिका : यदि जल से पाप नष्ट हो जाते हैं तो तपश्चरणादि धर्म किसलिए किया जाता है? हाथ से ही फल प्राप्त हो जाने पर कोई भी वृक्ष पर नहीं चड़ता है। जब फल को नीचे से ही हाथ से तोड़ना संभव नहीं होता है; तब ही कोई वृक्ष पर चड़ता है।।३८/१२९७।।

अब, इस पद्य द्वारा जल से शरीर-शुद्धि की असंभवता सोदाहरण प्रस्तुत है—

उपजाति : **माघेन तीव्रः क्रियते शशाङ्को ग्रीष्मेण भानुर्यदि नाम शीतः।**

देहस्तदानीं पयसा विशुद्धो विधीयते दुर्वच-गूथ-यूथः।।३९/१२९८।।

हो माघ से शशि यदि तप्त होता रवि ग्रीष्म से शीतल किया जाता।

तब निंदनीय विष्टादि मल का भंडार तन जल से शुद्ध होता।।३९/१२९८।।

शब्दशः अर्थ : माघेन=माघ मास से; तीव्रः=तप्त; क्रियते=किया जाता है; शशाङ्कः=चंद्रमा; ग्रीष्मेण=गर्मी से/ग्रीष्म ऋतु से; भानुः=सूर्य; यदि नाम=यदि हो जाए; शीत=ठंडा; देहः=शरीर; तदानीं=तब; पयसा=जल से; विशुद्धः=पवित्र; विधीयते=किया जा सकता है; दुः-वच-गूथ-यूथः=निंदनीय विष्टादि मल का समूह।

अन्वय : यदि नाम माघेन शशाङ्कः तीव्रः क्रियते ग्रीष्मेण भानुः शीतः क्रियते तदानीं पयसा दुः-वच-गूथ-यूथः देहः विशुद्धः विधीयते।

वचनिका : यदि माघ मास से चंद्रमा तप्त किया जाए, ग्रीष्म ऋतु से सूर्य शीतल किया जाए; तब जल द्वारा, निंदनीय, विष्टादि मल का पुंज शरीर विशुद्ध किया जा सकता है।।३९/१२९८।।

अब, इस पद्य द्वारा शुद्धि का यथार्थ साधन प्ररूपित है—

उपजाति : **सज्ज्ञानसम्यक्त्वचरित्रतोयैर्विगाह्यमानैर्मनसाऽपि जीवः।**

विशोध्यमानस्तरसा पवित्रैर्नाशुद्धिमभ्येति भवान्तरेऽपि।।४०/१२९९।।

मन से भी अवगाहित शुद्ध ज्ञान समकित चरित्र पावन सलिल से।

प्राणी विशुद्ध अति शीघ्र नहिं फिर होता अपावन जन्मांतरों में।।४०/१२९९।।

शब्दशः अर्थ : सज्ज्ञान-सम्यक्त्व-चरित्र-तोयैः=सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्ररूपी जल द्वारा; विगाह्यमानैः=अवगाहित करनेवाले द्वारा; मनसा=मन से; अपि=भी; जीवः=जीव; विशोध्यमानः=शुद्ध किया गया; तरसा=अति शीघ्र; पवित्रैः=पावन द्वारा; न=नहीं; अशुद्धिं=अपावनता को; अभ्येति=प्राप्त होता है; भव+अन्तरे=अन्य भव में; अपि=भी।

अन्वय : मनसा अपि विगाह्यमानैः पवित्रैः स-ज्ञान-सम्यक्त्व-चारित्र-तोयैः तरसा विशोध्यमानः जीवः भव-अन्तरे अपि अशुद्धिं न अभ्येति।

वचनिका : मन से भी अवगाहित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूपी पवित्र जल द्वारा

शीघ्र निर्मल किया गया जीव जन्मांतर में भी अशुद्धता को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : जलादि पर-द्रव्यों से तो मिथ्यादृष्टि शुद्धता मानता है; परंतु वह तो मिथ्या है; क्योंकि जीव तो सम्यग्दर्शनादि आत्म-परिणामों से ही शुद्ध होता है।।४०/१२९९।।

इसप्रकार अशुचित्व-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे सात पद्यों द्वारा आस्रव-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा आस्रव का स्वरूप और फल वर्णित है—

वसंत-तिलका : **रन्ध्रैरिवाम्बु-विततैरुदधौ तरण्डे, जीवे मनोवचन-काय-विकल्प-जालैः।**
जन्मार्णवे विशति कर्म विचित्ररूपं, सद्यो निमज्जनविधायि सुदुर्निवारम्।।४१/१३००।।

विस्तृत सछिद्र जल से नौका उदधि-वत् मन वचन तन कृत विकल्प समूह से भी।
दुर्वार बहुविध डुबानेवाले कर्म आते हैं शीघ्र भवदधि में जीव में भी।।४१/१३००।।

शब्दशः अर्थ : रन्ध्रैः=छिद्रों द्वारा; इव=समान; अम्बु-विततैः=विस्तृत जल द्वारा; उदधौ=समुद्र में; तरण्डे=नाव में; जीवे=जीव में; मनः-वचन-काय-विकल्प-जालैः=मन, वचन, शरीर संबंधी विकल्पों के समूह द्वारा; जन्म+आर्णवे=संसार-सागर में; विशति=प्रवेश करता है; कर्म=ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म; विचित्र-रूपं=अनेक भेद-प्रभेदवाला; सद्यः=शीघ्र; निमज्जन-विधायि=डुबानेवाला; सु-दुः-निवारं=अति कष्ट पूर्वक दूर किया जानेवाला।

अन्वय : उदधौ तरण्डे रन्ध्रैः अम्बु-विततैः इव जन्म-आर्णवे जीवे मनः-वचन-काय-विकल्प-जालैः विचित्ररूपं सु-दुः-निवारं सद्यः निमज्जन-विधायि कर्म विशति।

वचनिका : जैसे—समुद्र में नौका में विस्तृत छिद्रों द्वारा जल प्रवेश करता है; उसीप्रकार संसार-समुद्र में जीव में मन, वचन, शरीर संबंधी विकल्पों के समूह द्वारा अनेक-अनेक प्रकार-युक्त, अति कष्ट पूर्वक रुकनेवाला; शीघ्र डुबानेवाला कर्म प्रवेश करता है।।४१/१३००।।

अब, इस पद्य द्वारा आए हुए कर्म का फल प्ररूपित है—

वसंत-तिलका : **चित्रेण कर्म-पवनेन नियोज्यमानः, प्राणिप्लवो बहुविधाऽसुखभाण्डपूर्णः।**
सन्सार-सागरमसारमलभ्य-पारं, भूरि-भ्रमं भ्रमति कालमनन्त-मानम्।।४२/१३०१।।

बहुविध करम अनिल प्रेरित विविध दुखमय, वस्तु से पूर्ण प्राणी नौका समान।
भटके अलभ्य-पारी बहु भँवर-युक्त, निस्सार भव उदधि में हि अनंत काल।।४२/१३०१।।

शब्दशः अर्थ : चित्रेण=अनेक भेदवाले द्वारा; कर्म-पवनेन=कर्मरूपी वायु द्वारा; नियोज्यमानः= प्रेरित हुआ; प्राणि-प्लवः=संसारी जीवरूपी पोत/जहाज; बहु-विधः=अनेक प्रकारवाले;

असुख-भाण्ड-पूर्ण:=दु:खरूपी बर्तन आदि वस्तुओं से भरा हुआ; सन्सार-सागरं=संसाररूपी समुद्र को; असारं=सार/आत्म-हित-रहित; अलभ्य-पारं=किनारा प्राप्त नहीं होने-योग्य; भूरि-भ्रमं=अनेकों भँवरोंवाले; भ्रमति=भटकता है; कालं=समय पर्यंत; अनन्तमानं=अंत से रहित/दीर्घ-काल।

अन्वय : चित्रेण कर्म-पवनेन नियोज्यमान: बहु-विध: असुख-भाण्ड-पूर्ण: प्राणी-प्लव: असारं अलभ्य-पारं भूमि-भ्रमं सन्सार-सागरं अनन्तमानं कालं भ्रमति।

वचनिका : तीव्र, मंद आदि भेदों-सहित अनेक प्रकारवाले कर्मरूपी पवन द्वारा प्रेरित हुआ, अनेक प्रकार के दु:खरूपी बर्तन आदि सामग्री से भरा हुआ यह जीवरूपी जहाज, आत्म-हित से रहित असार, नहीं पाने-योग्य पार/किनारेवाले, बहुत भँवरों से सहित इस संसार-समुद्र में अनंत काल पर्यंत भटकता रहता है।।४२/१३०१।।

अब, इस पद्य द्वारा बंध का फल प्ररूपित है—

वसंत-तिलका : **कर्मादधाति यदयं भविन: कषाय:, सन्सारदु:खमविधाय न तद्व्युपैति।**
यद्बन्धनं हि विदधाति विपक्ष-वर्गस्तन्नाम कस्य विरचय्य सुखं प्रयाति।।४३/१३०२।।

जो यह कषाय कर्मों को बाँधती है संसार-दु:ख दे ही वह नष्ट होता।
जो शत्रु-वर्ग बंधन देता किसी को, वह किसे सौख्य रचता दुख दे हि जाता।।४३/१३०२।।

शब्दश: अर्थ : कर्म=ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म को; आदधाति=बाँधता है; यत्=जो; अयं=यह; भविन:=जीव का; कषाय:=स्वयं को कष्ट-कर विकृत-भाव; सन्सार-दु:खं=सांसारिक दु:ख को; अविधाय=नहीं देकर; न=नहीं; तत्=वह; व्युपैति=नष्ट होता है; यत्=जो; बन्धनं=बंधन को; हि=वास्तव में; विदधाति=बाँधता है; विपक्ष-वर्ग:=शत्रु-समूह; तत्-नाम=वह; कस्य=किसका; विरचय्य=रचकर; सुखं=सुख को; प्रयाति=जाता है।

अन्वय : यत् अयं कषाय: भविन: कर्म आदधाति तत् सन्सार-दु:खं अविधाय व्युपैति न, हि विपक्ष-वर्ग: यत् बन्धनं विदधाति तत् नाम कस्य सुखं विरचय्य प्रयाति।

वचनिका : जो यह कषाय भाव जीव को कर्म-बंध करता है, वह कर्म-बंध, दु:ख दिए विना नष्ट नहीं होता है। वास्तव में बैरिओं का समूह जो बंधन बाँधता है; वह बंध किसे सुख करके जाता है? दु:ख करके ही जाता है।

भावार्थ : कषाय द्वारा बाँधे गए कर्म का छूटना महा कठिन है; अत: आस्रव का मुख्य कारणभूत कषाय करना, योग्य नहीं है।।४३/१३०२।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी फल को और स्पष्ट करते हैं—

वसंत-तिलका : **भेदाः सुखासुखविधानविधौ समर्था ये कर्मणो विविधबन्धरसा भवन्ति।**

जन्तोः शुभाशुभ-मनःपरिणाम-जन्यास्तैर्भ्रम्यते भववने चिरमेष भीमे*।।४४/१३०३।।

इस जीव के शुभ अशुभ परिणाम प्रकटे, सक्षम विविध सुख दुखों की करण विधि में।

जो कर्म के विविध रस अनुभाग उनसे, चिर भयकरी भव-विपिन में जीव भटके।।४४/१३०३।।

शब्दशः अर्थ : भेदाः=प्रकार; सुख+असुख-विधान-विधौ=सुख, दुःख को करने की विधि में; समर्थाः=सक्षम; ये=जो; कर्मणः=कर्म का; विविध-बन्ध-रसाः=बंध के अनेक प्रकारवाले अनुभाग; भवन्ति=होते हैं; जन्तोः=प्राणी का; शुभ+अशुभ-मनः-परिणाम-जन्याः=मन संबंधी शुभाशुभ भावों से व्यक्त हुए; तैः=उनसे; भ्रम्यते=भटकता है; भव-वने=संसाररूपी वन में; चिरं=दीर्घ काल; एषः=यह; भीमे=भयंकर/जीवः=जीव।

अन्वय : जन्तोः शुभ-अशुभ-मनः-परिणामः-जन्याः सुख-असुख-विधान-विधौ समर्थाः कर्मणः ये विविध-बन्ध-रसाः भेदाः भवन्ति तैः एषः भीमे भव-वने/जीवः चिरं भ्रम्यते।

वचनिका : जीव के मन संबंधी अनेक प्रकार के शुभाशुभ भावों से उत्पन्न, सुख-दुःख को करने की विधि में समर्थ, कर्म के जो अनेक प्रकार के रसरूप अनुभाग-बंधमय भेद होते हैं; उनसे यह जीव भयंकर संसार-वन में बहुत काल पर्यंत भटकता-फिरता है।

भावार्थ : कर्मों का तीव्र-मंद अनुभाग, तीव्र-मंद कषाय से होता है; उससे जीव नरकादि पर्यायों में भटकता है।।४४/१३०३।।

स्वरूप-स्थिर नहीं रह पाने की स्थिति में अब, इस पद्य द्वारा मार्ग-दर्शन प्रस्तुत है—

वसंत-तिलका : **गृह्णाति कर्मसुखदं शुभयोगवृत्त्या, दुःखप्रदायि तु यतोऽशुभयोगवृत्त्या।**

आद्या सुखार्थिभिरतः सततं विधेया, हेया परा प्रचुर-कष्ट-निदान-भूता।।४५/१३०४।।

शुभयोग परिणती से शुभ-कर्म बँधता, दुख-दाइ इससे विरुद्ध अशुभ से बँधता।

सुख-वांक्षकी को सदा शुभ योग रखना, बहु कष्ट-कारण अशुभ उपयोग तजना।।४५/१३०४।।

शब्दशः अर्थ : गृह्णाति=ग्रहण करता है; कर्म=द्रव्य-कर्म को; सुख-दं=सुख देनेवाले को; शुभ-योग-वृत्त्या=शुभ-योगरूप परिणति से; दुःख-प्रदायि=दुःख देनेवाला; तु=और/वास्तव में; यतः=क्योंकि; अशुभ-योग-वृत्त्या=अशुभ-योगरूप परिणति से; आद्या=पहली; सुख+अर्थिभिः=सुख-चाहनेवालों के द्वारा; अतः=इसलिए; सततं=सदा; विधेया=करने-योग्य है; हेया=छोड़ने-योग्य है; परा=दूसरी; प्रचुर-कष्ट-निधान-भूता=अत्यधिक कष्टों के भंडार की कारणभूत।

* *जीवः —इति पाठान्तरम्।*

अन्वय : यत: शुभ-योग-वृत्त्या सुखदं कर्म गृह्णाति तु अशुभ-योग-वृत्त्या दु:ख-प्रदायि कर्म गृह्णाति; अत: सुख-अर्थिभि: सततं आद्या विधेया प्रचुर-कष्ट-निधान-भूता परा हेया।

वचनिका : क्योंकि शुभ-योग की परिणति द्वारा जीव सुख-दायक कर्म का ग्रहण करता है और अशुभ-योग की परिणति द्वारा दु:ख-दायक कर्म का ग्रहण करता है; अत: सुख के इच्छुक जीव द्वारा आदि की शुभ-परिणति निरंतर करने-योग्य है और प्रचुर दु:ख के निधान-समान अशुभ-योग की परिणति त्याग करने-योग्य है।।४५/१३०४।।

कर्मों में विविधता की कारण कषाय अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

वसंत-तिलका : **एकप्रकारमपि योगवशादुपेतं, कुर्वन्ति कर्म विविधं विविधा: कषाया:।**
एकस्वभावमुपगम्य जलं धनेभ्य:, प्राप्य प्रदेशमुपयाति न किं विभेदम्?।।४६/१३०५।।

एक हि प्रकार के योग से आए कर्म, बहु-विध करें कषायें हैं विविधता युत।
घन से गिरा जल सदा ही एकरूप, निंबादि क्षेत्र पाकर हो विविधरूप।।४६/१३०५।।

शब्दश: अर्थ : एक-प्रकारं=एक प्रकार को; अपि=भी; योग-वशात्=योग के वश से; उपेतं=प्राप्त; कुर्वन्ति=करते हैं; कर्म=द्रव्य-कर्म को; विविधं=अनेक प्रकारवाला; विविधा:= अनेक प्रकारवालीं; कषाया:=कषायें; एक-स्वभावं=एक स्वभाव को; उपगम्य=प्राप्तकर; जलं=जल को; घनेभ्य:=बादलों से; प्राप्य=प्राप्तकर; प्रदेशं=स्थल को; उपयाति=हो जाता है; न=नहीं; किं=क्या; विभेदं=अनेक भेदवाला।

अन्वय : योग-वशात् उपेतं एक-प्रकारं अपि कर्म विविधा: कषाया: विविधं कुर्वन्ति; घनेभ्य: एक-स्वभावं उपगम्य जलं प्रदेशं प्राप्य किं विभेदं न उपयाति?

वचनिका : योगों के वश से एक प्रकार ग्रहण किया भी कर्म, कषायें अनेक प्रकार करती हैं; अर्थात् योग-द्वार से जो समय-प्रबद्ध ग्रहण होता है, वह तो एक प्रकार ही है; परंतु कषाय जैसी तीव्र-मंद होती है; उसीप्रकार वे विविधरूपों में तीव्र-मंद शक्तिवाले हो जाते हैं। जैसे- मेघों से एक-स्वभाव को प्राप्त जल, निंब/नीम आदि प्रदेशों को प्राप्तकर क्या विचित्र भेद को प्राप्त नहीं हो जाता है? होता ही है।।४६/१३०३।।

अब, इस पद्य द्वारा आस्रव के कारण प्ररूपित हैं—

उपजाति : **मिथ्यात्व-दौर्वृत्त्य-कषाय-योग-प्रमाद-दोषा विविधप्रकारा:।**
कर्मास्रवा: सन्ति शरीरभाजां जलास्रवा वा सरसां प्रवाहा:।।४७/१३०६।।

जल आस्रव सर में प्रवाही-वत् प्राणी के कर्मास्रव हैं मिथ्यात्व।
अविरत कषाय योग प्रमाद दोष ये सभी बहुविध बहु भेद-युक्त।।४७/१३०६।।

शब्दश: अर्थ : मिथ्यात्व-दौर्वृत्त्य-कषाय-योग-प्रमाद-दोषा:=मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग, प्रमादरूप दोष; विविध-प्रकारा:=अनेक प्रकार के भेदवाले; कर्म+आस्रवा:=कर्म के आस्रव; सन्ति=हैं; शरीर-भाजां=प्राणिओं के; जल+आस्रवा:=जल का आना; वा=जैसे; सरसां=तालाबों के; प्रवाहा:=प्रवाह/बहाव।

अन्वय : सरसां जल-आस्रवा: प्रवाहा: वा शरीर-भाजां विविध-प्रकारा: मिथ्यात्व-दौर्वृत्त्य -कषाय-योग-प्रमाद-दोषा: कर्म-आस्रवा: सन्ति।

वचनिका : जैसे—तालाबों के जल के आस्रव के कारण, प्रवाह हैं; उसीप्रकार प्राणिओं के अनेक प्रकारवाले मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योगमय दोष, कर्मों के आने के कारण हैं।

भावार्थ : मिथ्यात्वादि भाव, बंध के कारण हैं; अत: इनका त्याग करना—यह तात्पर्य है।।४७/१३०६।।

इसप्रकार आस्रव-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे सात पद्यों द्वारा संवर-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा संवर के कारण प्ररूपित हैं—

स्वागता : **सम्वरणं तरसा दुरितानामास्रव-रोध-करेषु नरेषु।**
आगमनस्य कृते हि निरोधे कुत्र विशन्ति जलानि सरस्सु।।४८/१३०७।।

आस्रव-रोध-करी जीवों में मिथ्यात्वादि का संवर हो।
आने का निरोध होने पर सर में जल प्रविष्ट कैसे हो?।।४८/१३०७।।

शब्दश: अर्थ : सम्वरणं=रुक जाना; तरसा=शीघ्र; दुरितानां=मिथ्यात्वादि के; आस्रव-रोध-करेषु=आस्रव को रोकनेवालों में; नरेषु=प्राणिओं में; आगमनस्य=आने का; कृते=करने पर; हि=निश्चितरूप में; निरोधे=रोकने पर; कुत्र=कहाँ; विशन्ति=प्रवेश करते हैं; जलानि= जल; सरस्सु=तालाबों में।

अन्वय : आस्रव-रोध-करेषु नरेषु दुरितानां तरसा सम्वरणं हि आगमनस्य निरोधे कृते सरस्सु जलानि कुत्र विशन्ति?

वचनिका : आस्रवों का रोध करनेवाले अर्थात् मिथ्यात्वादि आस्रवों को सम्यक्त्वादि भावों द्वारा रोकनेवाले व्यक्तिओं में कर्मों का शीघ्र संवरण/रुकना हो जाता है। वास्तव में आने का द्वार रोके जाने पर सरोवरों में जल कहाँ से प्रविष्ट हो सकता है? कहीं से भी नहीं।।४८/१३०७।।

अब, इस पद्य द्वारा संवर की कर्म-विनाशकता सोदाहरण प्ररूपित है—

स्वागता : **नश्यति कर्म कदाचन जन्तोः सम्वरेण विना न गृहीतम्।**

शुष्यति कुत्र जलं हि तडागे सङ्गमने बहुधाऽभिनवस्य?।।४९/१३०८।।

संवर विना नहीं मिटते हैं स्वीकृत कर्म जीव के रंच।

नवीन जल आते तलाब में कहाँ हो सके सूखा रंच?।।४९/१३०८।।

शब्दशः अर्थ : नश्यति=नष्ट होता है; कर्म=द्रव्य-कर्म; कदाचन=कभी; जन्तोः=प्राणी का; सम्वरेण=संवर/रुकने से; विना=रहित; न=नहीं; गृहीतं=ग्रहण हुआ; शुष्यति=सूखता है; कुत्र=कहाँ; जलं=जल; हि=वास्तव में; तडागे=तालाब में; सङ्गमने=आने पर; बहुधा=अनेक प्रकार से; अभिनवस्य=नवीन का।

अन्वय : जन्तोः गृहीतं कर्म सम्वरेण विना कदाचन न नश्यति हि तडागे बहुधा अभिनवस्य सङ्गमने जलं कुत्र शुष्यति?

वचनिका : जीव का ग्रहण किया कर्म, संवर के विना कभी नष्ट नहीं होता है। सरोवर में अनेक प्रकार से नवीन जल आता होने पर जल कहाँ सूख सकता है? नहीं सूख सकता है— ऐसा जानना।।४९/१३०८।।

अब, इस पद्य द्वारा नवीन कर्म रुकने के कारण प्रस्तुत हैं—

स्वागता : **योग-निरोधकरस्य सुदृष्टेरस्त-कषाय-रिपोर्विरतस्य।**

यत्नपरस्य नरस्य समस्तं सम्वृतिमृच्छति नूतनमेनः।।५०/१३०९।।

योग-निरोध-करी सुद् दृष्टि कषाय-अरि-विरहित विरति के।

यत्नाचारी प्राणी के सब नूतन कर्म नियम से रुकते।।५०/१३०९।।

शब्दशः अर्थ : योग-निरोध-करस्य=योगों को रोकनेवाले का; सु-दृष्टेः=सम्यग्दृष्टि का; अस्त-कषाय-रिपोः=कषायरूपी शत्रु से रहित का; विरतस्य=विरत का; यत्न-परस्य= यत्नाचारी का; नरस्य=व्यक्ति का; समस्तं=संपूर्ण; सम्वृतिं=संवरण/रुकने को; ऋच्छति=प्राप्त होता है; नूतनं=नवीन; एनः=कर्म।

अन्वय : योग.... समस्तं नूतनं एनः सम्वृतिं ऋच्छति।

वचनिका : मन-वचन-काय को रोकनेवाले, सम्यग्दृष्टि, कषायरूपी शत्रु के नाशक, हिंसादि से विरत, यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले व्यक्ति के सभी नवीन कर्म रुकते हैं।

भावार्थ : मिथ्यात्वादि के प्रतिपक्षी सम्यक्त्वादि भावों से संवर होता है।।५०/१३०९।।

अब, इस पद्य द्वारा द्रव्य-संवर का पात्र प्ररूपित है—

स्वागता : **धर्म-धरस्य परीषह-जेतुर्वृत्तवत: समितस्य सुगुप्ते:।**

आगमवासितमानसवृत्ते: सङ्गतिरस्ति न कर्मरजोभि:।।५१/१३१०।।

धर्म-धारकी परिषह-जेता चारित्री समितीमय गुप्ति।

मय आगमिक मनो-वृत्ति के कर्म-धूल से नहीं संगति।।५१/१३१०।।

शब्दश: अर्थ : धर्म-धरस्य=धर्म को धारण करनेवाले का; परीषह-जेतु:=परिषह जीतनेवाले का; वृत्तवत:=चारित्रवान का; समितस्य=समिति-पालक का; सु-गुप्ते:=भली-भाँति गुप्तिवान का; आगम-वासित-मानस-वृत्ते:=आगमानुसार मन की वृत्तिवाले का; सङ्गति:=संबंध; अस्ति=है; न=नहीं; कर्म-रजोभि:=कर्मरूपी धूल से।

अन्वय : धर्म.....सङ्गति: कर्म-रजोभि: न अस्ति।

वचनिका : उत्तम-क्षमादि दश लक्षणवाले धर्म को धरनेवाले, क्षुधादि परिषहों को जीतनेवाले, सामायिक आदि चारित्र के धारक, यत्नाचाररूप समितिओं से युक्त, भली-भाँति योगों के निग्रहरूप गुप्ति-संपन्न, आगमानुसार चित्त-वृत्तिवाले की संगति कर्मरूपी रज से नहीं होती है।

भावार्थ : इनके होने पर द्रव्य-संवर होता है—ऐसा जानना।।५१/१३०१०।।

अब, इस पद्य द्वारा पाप नहीं आनेवाले भाव प्ररूपित हैं—

स्वागता : **दर्शनबोधचरित्र-तपोभिश्चेतसि कल्मषमेति न जुष्टे*।**

शूरतरै: पुरुषै: कृत-रक्षे शत्रु-बलं विशति क्व पुरे हि।।५२/१३११।।

दर्शन ज्ञान चरित्र तप सहित मन में कल्मष नहिं आ पाता।

शूर-वीर नर-रक्षित पुर में शत्रु-बल प्रवेश नहिं पाता।।५२/१३११।।

शब्दश: अर्थ : दर्शन-बोध-चरित्र-तपोभि:=दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप से; चेतसि=मन में; कल्मषं=पाप; एति=आता है; न=नहीं; जुष्टे=सहित में/तुष्टे=संतुष्ट में; शूर-तरै:=शूर-वीर से; पुरुषै:=व्यक्ति से; कृत-रक्षे=रक्षा किए जा रहे में; शत्रु-बलं=शत्रु की सेना; विशति=प्रवेश करती है; क्व=कहाँ; पुरे=नगर में; हि=वास्तव में।

अन्वय : दर्शन......तपोभि: जुष्टे/तुष्टे चेतसि कल्मषं न एति; शूर-तरै: पुरुषै: कृत-रक्षे पुरे हि शत्रु-बलं क्व विशति?

वचनिका : सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप से सहित चित्त में पाप-कर्म प्राप्त नहीं होता है। शूर-वीर पुरुषों द्वारा रक्षित नगर में वास्तव में शत्रु की सेना कहाँ प्रवेश करती है? नहीं करती है।।५२/१३११।।

** तुष्टे—इति पाठान्तरम्।*

रंच-मात्र भी कर्म नहीं आने की पात्रता सोदाहरण अब, इस पद्य द्वारा प्ररूपित है—

स्वागता : **पातकमास्रवति स्थिररूपं सम्भृतिमात्मवतां न यतीनाम्।**

वर्मधरान्न नरान् रणरङ्गे क्वापि भिनत्ति शिलीमुखजालम्?।।५३/१३१२।।

स्थिर पूर्ण आत्ममय यतिओं के नहिं कर्म आस्रवित होता।

वक्तर-धारक को रण-भू में बाण-समूह भि कहाँ भेदता?।।५३/१३१२।।

शब्दशः अर्थ : पातकं=पतन करनेवाला कर्म; आस्रवति=आता है; स्थिर-रूपं=शाश्वत; सम्भृतिं=परिपूर्ण; आत्म-वतां=आत्मामय हुए के; न=नहीं; यतीनां=यतिओं के; वर्म-धरान्=वक्तर धारण करनेवालों को; न=नहीं; नरान्=पुरुषों को; रण-रङ्गे=रण-भूमि में; क्व=कहाँ; अपि=भी; भिनत्ति=भेदता है; शिली-मुख-जालं=बाण के समूह को।

अन्वय : स्थिर-रूपं सम्भृतिं आत्मवतां यतीनां पातकं न आस्रवति वर्म-धरान् नरान् रण-रङ्गे शिली-मुख-जालं क्व अपि न भिनत्ति।

वचनिका : स्थिररूप परिपूर्ण आत्मा का अनुभव करनेवाले आत्म-ज्ञानी यतीश्वरों को कर्म का आस्रव नहीं होता है। वक्तर-धारण किए पुरुषों को रण-भूमि में बाणों का समूह कहीं भी नहीं भेद पाता है।।५३/१३१२।।

अब, इस पद्य द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की पात्रता वर्णित है—

स्वागता : **काम-कषाय-हृषीक-निरोधं यो विदधाति परैरसुसाध्यम्।**

केवललोक-विलोकित-लोको याति स मुक्तिपुरीं* दुरवापाम्।।५४/१३१३।।

अन्यों को दुस्साध्य कषाय-इंद्रिय-काम निरोध करे जो।

लोकालोक विज्ञ सकला वह जाता ध्रुव दुस्साध्य मोक्ष को।।५४/१३१३।।

शब्दशः अर्थ : काम-कषाय-हृषीक-निरोधं=विषय-वासना, कषाय, इंद्रिय के निरोध को; यः=जो; विदधाति=करता है; परैः=दूसरों द्वारा; असुसाध्यं=कठिनता से साधने-योग्य; केवल-लोक-विलोकित-लोकः=केवल-ज्ञानरूप प्रकाश द्वारा लोक देखनेवाला; याति=जाता है; सः=वह; मुक्ति-पुरीं=मोक्षरूपी नगर को; दुरवापां=कठिनाई से प्राप्त होनेवाले/ अनपायां=अविनाशी को।

अन्वय : यः परैः असुसाध्यं काम-कषाय-हृषीक-निरोधं विदधाति केवल-लोक-विलोकित-लोकः सः दुरवापां/अनपायां मुक्ति-पुरीं याति।

वचनिका : जो अन्य व्यक्तिओं द्वारा दुः-साध्य काम, कषाय, इंद्रियों का निरोध करता है;

** पुरीमनपायाम् —इति पाठान्तरम्।*

केवलज्ञानरूपी प्रकाश द्वारा लोकालोक को देखनेवाला वह, अनंत पुरुषार्थ से प्राप्त होनेवाली/अविनाशी मोक्ष-पुरी को प्राप्त होता है।।५४/१३१३।

इसप्रकार संवर-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे छह पद्यों द्वारा निर्जरा-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा निर्जरा का महत्त्व प्ररूपित है—

उपजाति : **दृढीकृतो याति न कर्म-पर्वत: शरीरिणां निर्जरया विना क्षयम्।**
न धान्यपुञ्ज: प्रलयं प्रपद्यते व्ययं विना क्वापि विवर्धितश्चिरम्।।५५।।१३१४।।

सु निर्जरा विन क्षय नहीं होते देही के दृढ-कृत ये कर्म पर्वत।
व्यय के विना नष्ट नहीं हों धान्य भंडार कैसे भी दीर्घ वर्धित।।५५/१३१४।।

शब्दश: अर्थ : दृढीकृत:=दृढ किया गया; याति=प्राप्त होता है; न=नहीं; कर्म-पर्वत:=कर्मरूपी पर्वत; शरीरिणां=प्राणिओं के; निर्जरया=निर्जरा से; विना=रहित; क्षयं=विनाश को; न=नहीं; धान्य-पुञ्ज:=धान्य का समूह; प्रलयं=विनाश को; प्रपद्यते=प्राप्त होता है; व्ययं=खर्च को; विना=रहित; क्व=कहाँ; अपि=भी; विवर्धित:=बड़ा हुआ; चिरं=दीर्घ-काल को।

अन्वय : शरीरिणां दृढीकृत: कर्म-पर्वत: निर्जरया विना क्षयं न याति चिरं विवर्धित: धान्य-पुञ्ज: क्व अपि व्ययं विना प्रलयं न प्रपद्यते।

वचनिका : प्राणिओं के दृढ किए गए कर्मरूपी पर्वत निर्जरा के विना क्षय को प्राप्त नहीं होते हैं। दीर्घ-काल से वृद्धि को प्राप्त धान्य का समूह कहीं भी खर्च किए विना नाश को प्राप्त नहीं होता है।

भावार्थ : कर्म जितनी मात्रा में बँधता है, उतना ही उदय में आकर खिर जाता है; परंतु इससे अनादि-काल का संचयरूप कर्म नष्ट नहीं होता है। जब तपश्चरणादि से अनेक काल के बँधे कर्म एक काल में खिर जाते हैं, तब कर्म का नाश होता है; अत: तपश्चरणादि में प्रवर्तना योग्य है-यह तात्पर्य है।।५५/१३१४।।

अब, इस पद्य द्वारा निर्जरा का स्वरूप और भेद वर्णित है—

उपजाति : **निरन्तरानेक-भवार्जितस्य या पुरातनस्य क्षतिरेक-देशत:।**
विपाकजापाकजभेदतो द्विधा यतीश्वरास्तां निगदन्ति निर्जराम्।।५६/१३१५।।

सदा पुराने बहु भवों अर्जित कर्मों की आंशिक क्षति निर्जरा है।
सविपाक अविपाक से दो प्रकारी यतीश कहते वह निर्जरा है।।५६/१३१५।।

शब्दश: अर्थ : निरन्तर+अनेक-भव+अर्जितस्य=सतत अनेक भवों में इकट्ठे हुए का;

या=जो; पुरातनस्य=पहले का; क्षति:=हानि; एक-देशत:=एक देश से/आंशिक; विपाकज +अपाकज-भेदत:=सविपाक और अविपाक के भेद से; द्विधा=दो प्रकारवाली; यति+ईश्वरा: =यतिओं के स्वामी भगवान; तां=उसे; निगदन्ति=कहते हैं; निर्जरां=निर्जरा को।

अन्वय : पुरातनस्य निरन्तर-अनेक-भव-अर्जितस्य एक-देशत: या क्षति: (सा निर्जरा) तां निर्जरां विपाकज-अपाकज-भेदत: द्विधा यति-ईश्वरा: निगदन्ति।

वचनिका : पहले निरंतर अनेक भवों में उपार्जित कर्म की एक-देश/आंशिक जो हानि है, वह निर्जरा है। उस निर्जरा को सविपाक और अविपाक के भेद से दो प्रकार-युक्त, यतीश्वर भगवान कहते हैं।।५६/१३१५।।

अब, इस पद्य द्वारा उन दो भेदों का स्वरूप प्रस्तुत है—

उपजाति : **अनेहसा या कलिलस्य निर्जरा विपाकजां तां कथयन्ति सूरय:।**
अपाकजां तां भवदु:खखर्विणीं विधीयते या तपसा गरीयसा।।५७/१३१६।।

स्व समय पर कर्मों की जो निर्जरा विपाकजा कहते उसे सूरी।
जो उग्र तप से भव-दु:ख-नाशक अविपाकजा वह जिनवर बताई।।५७/१३१६।।

शब्दश: अर्थ : अन्+एहसा=समय से; या=जो; कलिलस्य=कर्म की; निर्जरा=निर्जरा; विपाकजां=विपाकजा को; तां=उसे; कथयन्ति=कहते हैं; सूरय:=आचार्य; अपाकजां= अपाकजा को; तां=उसे; भव-दु:ख-खर्विणीं=सांसारिक दु:खों का नाश करनेवाली को; विधीयते=की जाती है; या=जो; तपसा=तप द्वारा; गरीयसा=महान द्वारा।

अन्वय : या अनेहसा कलिलस्य निर्जरा तां सूरय: विपाकजां कथयन्ति या गरीयसा तपसा विधीयते तां भव-दु:ख-खर्विणीं अपाकजाम्।

वचनिका : जो अपनी स्थिति पूर्णकर उदय आकर कर्म की निर्जरा होती है; उसे आचार्य, विपाकजा/सविपाक निर्जरा कहते हैं। जो उग्र तपश्चरण द्वारा की जाती है, उसे संसार के दु:ख का नाश करनेवाली अपाकजा/अविपाक निर्जरा कहते हैं।।५७/१३१६।।

अब, इस पद्य द्वारा इन दोनों निर्जराओं का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **विपाकजायामुदितस्य कर्मणो मता परस्यामखिलस्य विच्युति:।**
यतो द्वितीयाऽत्र ततो विधानत: सदा विधेया कुशलेन निर्जरा।।५८/१३१७।।

विपाकजा में हो उदित की ही अविपाकजा में सब ही कर्म की।
हो हानि इससे सब विधि पूर्वक अविपाकजा नित करणीय है ही।।५८/१३१७।।

शब्दश: अर्थ : विपाकजायां=सविपाक में; उदितस्य=उदय में आए का; कर्मण:=कर्म का;

मता=मानी है; परस्यां=दूसरे में; अखिलस्य=संपूर्ण का; विच्युति:=अभाव होता है; यत:= क्योंकि; द्वितीया=दूसरी; अत्र=यहाँ; तत:=उससे; विधानत:=विधान से; सदा=निरंतर; विधेया=करना चाहिए; कुशलेन=प्रवीण द्वारा; निर्जरा=निर्जरा।

अन्वय : यत: विपाकजायां उदितस्य कर्मण: विच्युति: परस्यां अखिलस्य कर्मण: विच्युति: मता तत: अत्र कुशलेन सदा विधानत: द्वितीया निर्जरा विधेया।

वचनिका : क्योंकि सविपाकजा निर्जरा में तो उदय को प्राप्त हुआ कर्म निर्जरित होता है; परंतु दूसरे विपाकजा निर्जरा में उदय आए और उदय नहीं आए सभी कर्म निर्जरित होते हैं; अत: प्रवीण व्यक्ति द्वारा सदा तपश्चरणादि विधान से दूसरी अविपाक निर्जरा करनी योग्य है।।५८/१३१७।।

अब, इस पद्य द्वारा संवर पूर्वक तपश्चरण का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **तपोभिरुग्रै: सति सम्वरे रजो निषूद्यमानं सकलं पलायते।**
निरास्रवं वारि विवस्वदन्शुभिर्न शोष्यमाणं सरसोऽवतिष्ठते।।५९/१३१८।।

संवर-सहित उग्र तपों से कर्म नाशित सभी हट जाते सदा को।
आस्रव-रहित सर का जल रवि की किरणों से शीघ्र शोषित सदा को।।५९/१३१८।।

शब्दश: अर्थ : तपोभि:=अनेक तपों द्वारा; उग्रै:=घोर द्वारा; सति=होने पर; सम्वरे=संवर में; रज:=द्रव्य-कर्म; निषूद्यमानं=नष्ट होनेवाले; सकलं=सभी; पलायते=चले जाते हैं; नि: +आस्रवं=आस्रव से रहित; वारि=जल; विवस्वत्+अन्शुभि:=सूर्य की किरणों द्वारा; न= नहीं; शोष्यमाणं=सुखाया गया; सरस:=तालाब का; अवतिष्ठते=रहता है।

अन्वय : सम्वरे सति उग्रै: तपोभि: निषूद्यमानं सकलं रज: पलायते; नि:-आस्रवं सरस: वारि विवस्वत्-अन्शुभि: शुष्यमाण: न अवतिष्ठते।

वचनिका : आगामी कर्मों का संवर होने पर उग्र तपश्चरण द्वारा नष्ट हुआ संपूर्ण कर्म चला जाता है। नवीन जल के आगमन से रहित सरोवर का जल सूर्य की किरणों द्वारा सुखाया हुआ नहीं रहता है—ऐसा जानना।।५९/१३१८।।

अब, इस पद्य द्वारा तपश्चरण का फल वर्णित है—

उपजाति : **परेण जीवस्तपसा प्रतापितो विनिर्मलत्वं रभसा प्रपद्यते।**
सुवर्णशैलस्य मलोऽवतिष्ठते प्रताप्यमानस्य कृशानुना कथम्।।६०/१३१९।।

उत्कृष्ट तप से तापित शरीरी अति-शीघ्र निर्मलता प्राप्त करता।
प्रतप्त कंचन-पाषाण का मल अग्नि से कैसे अवशेष रहता?।।६०/१३१९।।

शब्दश: अर्थ : परेण=उत्कृष्ट द्वारा; जीव:=प्राणी; तपसा=तप द्वारा; प्रतापित:=तपाया हुआ;

विनिर्मलत्वं=विशिष्ट निर्मलता को; रभसा=अति शीघ्र; प्रपद्यते=प्राप्त होता है; सुवर्ण - शैलस्य=स्वर्ण-पाषाण का; मल:=किट्ट-कालिमारूप गंदापन; अवतिष्ठते=रहता है; प्रताप्यमानस्य=ताप दिए गए का; कृशानुना=अग्नि द्वारा; कथं=कैसे?

अन्वय : परेण तपसा प्रतापित: जीव: रभसा विनिर्मलत्वं प्रपद्यते; कृशानुना प्रताप्यमानस्य सुवर्ण-शैलस्य मल: कथं अवतिष्ठते?

वचनिका : उत्कृष्ट तप द्वारा तपाया हुआ जीव अति शीघ्र विशिष्ट निर्मलता को प्राप्त हो जाता है। अग्नि से तपाए हुए स्वर्ण की गंदगी कैसे रह सकती है? नहीं रह सकती है।

भावार्थ : सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि से जीव का जब मलिन-भाव मिटता है, तब सिद्ध-पद प्राप्त होता है; अत: सम्यग्दर्शनादि, आराधना-योग्य हैं।।६०/१३१९।।

इसप्रकार निर्जरा-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे आठ पद्यों द्वारा लोक-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा लोक का स्वरूप वर्णित है—

स्वागता : **व्योममध्यगमकृत्रिमं स्थिरं लोकमङ्गिनिवहेन सङ्कुलम्।**
सप्तरज्जुघनसम्मितं जिना वर्णयन्ति पवमानवेष्टितम्।।६१/१३२०।।

नभ के मध्य अकृत्रिम स्थिर लोक जीव-राशि-परिपूर्ण।
सात राजु घन विस्तृत कहते जिन त्रय वात-वलय से वेष्टित।।६१/१३२०।।

शब्दश: अर्थ : व्योम-मध्यगं=आकाश के मध्य को प्राप्त; अकृत्रिमं=किसी के द्वारा नहीं बनाया गया; स्थिरं=अनादि-अनंत; लोकं=लोक; अङ्गि-निवहेन=प्राणी के समूह से; सङ्कुलं=भरा हुआ; सप्त-रज्जु-घन-सम्मितं=सात राजू के घन/तीन सौ तेतालीस राजू प्रमाण; जिना:=जिनेंद्र भगवान; वर्णयन्ति=कहते हैं; पवमान-वेष्टितं=वात-वलयों से घिरा हुआ।

अन्वय : जिना: व्योम-मध्यगं अकृत्रिमं स्थिरं अङ्गि-निवहेन सङ्कुलं सप्त-रज्जु-घन-सम्मितं पवमान-वेष्टितं लोकं वर्णयन्ति।

वचनिका : जिनेंद्र भगवान, अनंतानंत आकाश के मध्य को प्राप्त, किसी के द्वारा नहीं बनाए गए, शाश्वत, जीवों के समूह से भरे हुए, सात राजू के घन/तीन सौ तैतालीस घन राजू-प्रमाण, वात-वलयों से वेष्टित को लोक कहते हैं।।६१/१३२०।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव की स्थिति प्ररूपित है—

स्वागता : **जन्म-मृत्यु-कलितेन जन्तुना कर्मबैरि-वश-वर्तिना सता।**
यो न तत्र बहुशो विगाहितो विद्यते न विषय: स कश्चन।।६२/१३२१।।

कर्म-रिपु के वशवर्ती सत् जन्म-मृत्यु-युत प्राणी द्वारा।
ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहाँ अनेकों बार नहिं रहा।।६२/१३२१।।

शब्दश: अर्थ : जन्म-मृत्यु-कलितेन=जन्म और मरण से सहित द्वारा; जन्तुना=प्राणी द्वारा; कर्म-बैरि-वश-वर्तिना=कर्मरूपी शत्रु के अधीन प्रवृत्ति करनेवाले द्वारा; सता=अस्तित्व-संपन्न द्वारा; य:=जो; न=नहीं; तत्र=वहाँ; बहुश:=अनेकों बार; विगाहित:=अवगाहित किया/रहा; विद्यते=है; न=नहीं; विषय:=क्षेत्र; स:=वह; कश्चन=कोई।

अन्वय : तत्र जन्म-मृत्यु-कलितेन कर्म-बैरि-वश-वर्तिना सता जन्तुना स: कश्चन विषय: न विद्यते य: बहुश: न विगाहित:।

वचनिका : वहाँ लोक में जन्म-मरण से व्याप्त, कर्मरूपी शत्रु के अधीन प्रवृत्ति करनेवाले; अस्तित्वरूप इस जीव द्वारा वह कोई स्थान नहीं है; जो अनेकों बार अवगाहित नहीं है।

भावार्थ : तीन सौ तैतालीस घन राजू में ऐसा क्षेत्र नहीं है; जहाँ यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ है और मरा नहीं है—वैराग्य के लिए ऐसा विचार करना चाहिए।।६२/१३२१।।

अब, इस पद्य द्वारा कर्म का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **भूरिशोऽत्र सुख-दु:ख-दायिनी: भूति*जाति-गति-योनि-सम्पद:।**
मन्त्रितो विविधकर्मशृङ्खलै: का न निर्विशति चेतनश्चिरम्।।६३/१३२२।।

विविध कर्म बेड़ी से जकड़ा अनेकश: सुख-दु:ख-दायिनी।
भूति जाति गति योनि संपदा पाता क्या नहिं चिर से प्राणी।।६३/१३२२।।

शब्दश: अर्थ : भूरिश:=अनेक बार; अत्र=यहाँ; सुख-दु:ख-दायिनी:=सुख और दु:ख को देनेवाली; भूति/मूर्ति-जाति-गति-योनि-सम्पदा:=वैभव/मूर्ति, जाति, गति, योनि, संपदा; मन्त्रित:=बँधा हुआ; विविध-कर्म-शृङ्खलै:=अनेक प्रकार के कर्मरूपी साँकलों से; का:=कौन/क्या; न=नहीं; निर्विशति=प्राप्त होता है; चेतन:=प्राणी; चिरं=दीर्घ-काल पर्यंत।

अन्वय : अत्र विविध-कर्म-शृङ्खलै: मन्त्रित: चेतन: चिरं भूरिश: सुख-दु:ख-दायिनी: का: भूति/मूर्ति-जाति-गति-योनि-सम्पदा: न निर्विशति।

वचनिका : इस लोक में अनेक प्रकार के कर्मरूपी साँकलों से बँधे इस जीव को दीर्घ-काल पर्यंत बारंबार सुख-दु:ख की देनेवाली कौन-सी विभूति/मूर्ति, जाति, देवादि गति, योनि, संपदा प्राप्त नहीं हुई है? सभी प्राप्त हुई हैं।

भावार्थ : इस-लोक में इस जीव को सुख-दु:ख के कारण अनेक बार प्राप्त हुए हैं; अत: उनमें

** मूर्ति —इति पाठान्तरम्।*

हर्ष-विषाद करना वृथा है—ऐसा विचार करना।।६३/१३२२।।

अब, इस पद्य द्वारा मोही जीवों की प्रवृत्ति निरूपित है—

स्वागता : **बान्धवो भवति शात्रवोऽपि वा कोऽत्र कस्य निजकार्यवर्जित:।**
बन्धुरेष मम शत्रुरेष वा शेमुषीमिति करोति मोहित:।।६४/१३२३।।

यहाँ छोड़ निज कार्य कौन किसका बंधु या शत्रु होता?
यह बंधु यह मेरा शत्रु मोहित ऐसी बुद्धि करता।।६४/१३२३।।

शब्दश: अर्थ : बान्धवा:=बंधु-समूह/कुटुंबीजन; भवति=होती है; शात्रव:=शत्रु-समूह; अपि=भी; वा=या; क:=कौन; अत्र=यहाँ; कस्य=किसका; निज-कार्य-वर्जित:=अपने कार्य छोड़कर; बन्धु:=मित्र; एष:=यह; मम=मेरा; शत्रु:=बुरा करनेवाला; एष:=यह; वा=या; शेमुषीं=बुद्धि को; इति=इसप्रकार; करोति=करता है; मोहित:=मोह-युक्त जीव।

अन्वय : अत्र निज-कार्य-वर्जित: क: कस्य बान्धव: भवति वा शात्रव: अपि? मोहित: एष: मम बन्धु: वा एष: शत्रु: इति शेमुषीं करोति।

वचनिका : इस-लोक में अपने कार्य के विना कौन किसका भाई-बंधु या शत्रु होता है? कोई भी नहीं। मोही जीव, यह मेरा भाई है या यह मेरा शत्रु है—ऐसी बुद्धि करता है। यह बुद्धि, मिथ्या है—ऐसा जानना।।६४/१३२३।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव की प्रवृत्ति का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **देव-मर्त्य-पशु-नारकेष्वयं दु:ख-जाल-कलितेष्वनारतम्।**
काम-कोप-मद-लोभ-वासितो वर्तते भव-विपर्ययाकुल:।।६५/१३२४।।

दु:ख-समूह-सहित नारक पशु देव मनुज में यह नित वर्ते।
काम क्रोध मद लोभ लिप्त विपरीत भाव से आकुल भव में।।६५/१३२४।।

शब्दश: अर्थ : देव-मर्त्य-पशु-नारकेषु=देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकिओं में; अयं=यह; दु:ख-जाल-कलितेषु=दु:खों के समूह से परिपूर्ण में; अनारतं=निरंतर; काम-कोप-मद-लोभ-वासित:=विषय-वासना, क्रोध, घमंड, लोभ में आसक्त; वर्तते=वर्त रहा है; भव-विपर्यय+आकुल:=संसार में विपरीतता से आकुल/पीड़ित।

अन्वय : भव-विपर्यय-आकुल: काम-कोप-मद-लोभ-वासित: अयं अनारतं दु:ख-जाल-कलितेषु देव-मर्त्य-पशु-नारकेषु वर्तते।

वचनिका : संसार में विपरीत बुद्धि से व्याकुल; काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विभावों में आसक्त यह जीव निरंतर दु:खों के समूह से परिपूर्ण देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी पर्यायों में वर्त रहा है।

भावार्थ : संसार में तो कोई इष्ट-अनिष्ट वस्तु नहीं है; परंतु यह किसी को इष्ट मानता है, किसी को अनिष्ट मानता है; अत: दु:खी रहता है।।६५/१३२४।।

अब, इस पद्य द्वारा कर्मोदय का भोक्ता जीव वर्णित है—

स्वागता : **जन्मवर्तिनिवहो वियोज्यते योज्यते स्वकृतकर्मभि: पुन:।**
शुष्क-पत्र-निकर:* परस्परं मारुतैरिव विभीम-वृत्तिभि:।।६६/१३२५।।

अपने किए कर्म से प्राणी-वर्ग विछुड़ता मिलता रहता।
उग्र वेग-युत वायु द्वारा सूखा पत्र-वर्ग-वत् फिरता।।६६/१३२५।।

शब्दश: अर्थ : जन्म-वर्ति-निवह:=संसारी जीवों का समूह; वियोज्यते=वियुक्त/पृथक् होता है; योज्यते=मिलता है; स्व-कृत-कर्मभि:=अपने किए गए कर्मों द्वारा; पुन:=फिर/और; शुष्क-पत्र-निकर:/निवह:=सूखे पत्तों का समूह; परस्परं=आपस में; मारुतै:=वायु द्वारा; इव=समान; विभीम-वृत्तिभि:=उग्र वेगवाली द्वारा।

अन्वय : विभीम-वृत्तिभि: मारुतै: शुष्क-पत्र-निकर:/निवह: इव स्व-कृत-कर्मभि: जन्म-वर्ति-निवह: परस्परं वियोज्यते पुन: योज्यते।

वचनिका : जैसे—उग्र वेग-सहित पवन द्वारा सूखे पत्तों का समूह कहीं मिलाया जाता है, कहीं पृथक् किया जाता है; उसीप्रकार स्वयं किए गए कर्मों द्वारा संसारी जीवों का समूह परस्पर में कहीं वियोगरूप किया जाता है और कहीं संयोगरूप किया जाता है।

भावार्थ : संयोग-वियोग का कारण अपने कर्म का उदय है; कोई पर-वस्तु नहीं—ऐसा विचार करना।।६६/१३२५।।

अब, इस पद्य द्वारा भोग-आकांक्षा का स्वरूप और फल प्ररूपित है—

स्वागता : **एष वेष्टयति भोगकाङ्क्षया कोशकार इव लालया स्वयम्।**
कर्मवीज-भवया विनिन्द्यया घोर-मृत्यु-भयदान-दक्षया।।६७/१३२६।।

रेशम-कीड़ा लार-सम स्वयं कर्म-बीज उत्पन्न विनिंदित।
जन्म-मरण-भय देने दक्ष भोग-लालसा से यह वेष्टित।।६७/१३२६।।

शब्दश: अर्थ : एष:=यह; वेष्टयति=घिर जाता है; भोग-काङ्क्षया=भोगों की चाह से; कोश-कार:=रेशम का कीड़ा; इव=समान; लालया=लार से; स्वयं=आप आपको; कर्म-वीज-भवया=कर्मरूपी बीज से उत्पन्न हुई से; विनिन्द्यया=महा निंदा के योग्य से; घोर-मृत्यु-भय-दान-दक्षया=अनेकों बार मरण का भय देने में प्रवीण से।

** निवह: —इति पाठान्तरम्।*

अन्वय : लालया कोशकार: इव कर्म-वीज-भवया विनिन्द्यया घोर-मृत्यु-भय-दान-दक्षया भोग-काङ्क्षया स्वयं एष: वेष्ट्यति।

वचनिका : जैसे—कोश-कार/कुसेरा/रेशम का कीड़ा अपनी लार द्वारा स्वयं को ही बाँध लेता है; उसीप्रकार कर्मरूपी बीज से उत्पन्न हुई अर्थात् मोहोदय जनित; स्वभावरूप नहीं; विशेषरूप से निंदा-योग्य, भयानक मृत्यु को देने में प्रवीण अर्थात् अनंत बार मरण करानेवाली भोगों की वांक्षा से यह जीव स्वयं आप ही आपको बाँधता है।।६७/१३२६।।

अब, इस पद्य द्वारा लोक-चिंतन का फल प्रस्तुत है—

स्वागता : **चेतसीति सततं वितन्वतो लोक-रूपमुपजायते परा।**
राक्षसीत इव सन्सृते: स्फुटं धर्मकर्मजननी विरक्तता।।६८/१३२७।।
मन में लोक-स्वरूप सोच से राक्षसी-सम भव से भीत।
धर्म कर्म उत्पादक उत्तम विरक्तता विस्तृत हो नित्य।।६८/१३२७।।

शब्दश: अर्थ : चेतसि=मन में; इति=इसप्रकार; सततं=निरंतर; वितन्वत:=विचार करनेवाले के; लोक-रूपं=लोक के स्वरूप को; उपजायते=प्रकट होता है; परा=उत्कृष्ट; राक्षसीत:= राक्षसी से; इव=समान; सन्सृते:=संसार से; स्फुटं=प्रकटरूप में; धर्म-कर्म-जननी=धर्म संबंधी कर्म को उत्पन्न करनेवाली; विरक्तता=उदासीनता।

अन्वय : इति लोकरूपं सततं चेतसि वितन्वत: सन्सृते: राक्षसीत इव स्फुटं धर्म-कर्म-जननी परा विरक्तता उपजायते।

वचनिका : इसप्रकार लोक का स्वरूप मन में विचार करनेवाले के संसार से राक्षसी के समान भय उत्पन्न हो स्पष्टरूप में धर्म-संबंधी कार्यों को जन्म देनेवाली, संसार से परम उदासीनता प्रकट हो जाती है।।६/१३२७।।

इसप्रकार लोक-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे छह पद्यों द्वारा बोधि-दुर्लभ-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा उत्तरोत्तर दुर्लभताएं प्ररूपित हैं—

स्वागता : **देशजातिकुलरूपकल्पता जीवितव्यबलवीर्यसम्पद:।**
देशनाग्रहणबुद्धिधारणा: सन्ति देहिनिवहस्य दुर्लभा:।।६९/१३२८।।
देश जाति कुल रूप स्वस्थता दीर्घायु बल वीर्य संपदा।
देशना समझ-बुद्धि धारणा दुर्लभ प्राणी गण को पाना।।६९/१३२८।।

शब्दश: अर्थ : देश-जाति-कुल-रूप-कल्पता=मोक्ष होने-योग्य उत्तम देश, जाति, कुल, रूप,

निरोगता; जीवितव्य-बल-वीर्य-सम्पद:=दीर्घ-आयु, शारीरिक-बल, आत्मिक-वीर्य, संपत्ति; देशना-ग्रहण-बुद्धि-धारणा:=जिनागम का उपदेश, उसे समझने की बुद्धि, धारणा; सन्ति=हैं; देहि-निवहस्य=प्राणिओं के समूह का; दुर्लभा:=कठिनता से प्राप्त होनेवालीं।

अन्वय : देश.... धारणा: देहि-निवहस्य दुर्लभा: सन्ति।

वचनिका : मुक्ति होने-योग्य भरतादि क्षेत्र, क्षत्रिय आदि जाति, कुल, सुंदर-रूप, निरोगता, दीर्घ-आयु, शारीरिक-बल, आत्मिक-वीर्य, संपदा, जिनवाणी का उपदेश, उसे समझने की बुद्धि, समझकर धारणा में रखना—ये वस्तुएं जीवों के समूह को पाना दुर्लभ हैं; बड़े भाग्य के उदय से मिलती हैं।।६९/१३२८।।

अब, इस पद्य द्वारा रत्नत्रय की महा दुर्लभता सोदाहरण प्रस्तुत है—

स्वागता : **हन्त! तासु सुख-दान-कोविदा ज्ञान-दर्शनचरित्रसङ्गति:।**

लभ्यते तनुमताऽतिकृच्छ्रत: कामिनीष्विव कृतज्ञता सती।।७०/१३२९।।

उनमें भी सुख-दान-प्रवीण दर्शन-ज्ञान-चरित्र एकता।

पाना प्राणी को अति दुर्लभ यथा स्त्रिओं में कृतज्ञता।।७०/१३२९।।

शब्दश: अर्थ : हन्त!=हाय/खेद है; तासु=उनमें; सुख-दान-कोविदा=सुख देने में प्रवीण; ज्ञान-दर्शन-चरित्र-सङ्गति:=सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता; लभ्यते=प्राप्त की जाती है; तनुमता=प्राणी द्वारा; अति-कृच्छ्रत:=अति कष्ट से; कामिनीषु=स्त्रिओं में; इव=समान; कृतज्ञता=किए हुए को जाननापना; सती=होना।

अन्वय : कामिनीषु कृतज्ञता सती इव हन्त! तासु.....सङ्गति: तनुमता अति-कृच्छ्रत: लभ्यते।

वचनिका : जैसे—स्त्रिओं में कृतज्ञता का होना अति दुर्लभ है; उसीप्रकार आचार्य खेद व्यक्त करते हुए कहते हैं कि उन पूर्वोक्त सामग्रिओं में भी सुख-देने में प्रवीण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता जीव द्वारा अति कष्ट से प्राप्त की जाती है। इसप्रकार पूर्वोक्त सामग्रिओं में बोधि की प्राप्ति महा दुर्लभ है।।७०/१३२९।।

अब, इस पद्य द्वारा नष्ट हुई बोधि की पुन: प्राप्ति की महा दुर्लभता सोदाहरण प्रस्तुत है—

स्वागता : **साधुलोकमहिता प्रमादतो बोधिरत्र यदि जातु नश्यति।**

प्राप्यते न भविना तदा पुनर्नीरधाविव मनोरमो मणि:।।७१/१३३०।।

साधु पुरुषों-पूजित बोधि यदि प्रमाद से नष्ट हो गई।

तो भवि द्वारा पाना दुर्लभ जैसे सागर-गत सुंदर मणि।।७१/१३३०।।

शब्दश: अर्थ : साधु-लोक-महिता=सज्जन व्यक्तिओं द्वारा पूजित; प्रमादत:=प्रमाद/असावधानी से; बोधि:=सम्यक् रत्नत्रय; अत्र=यहाँ; यदि=यदि; जातु=कदाचित्; नश्यति= नष्ट हो जाता है; प्राप्यते=प्राप्त किया जाता है; न=नहीं; भविना=प्राणी द्वारा; तदा=तब; पुन:=फिर से; नीरधौ=समुद्र में; इव=समान; मनोरम:=सुंदर; मणि:=रत्न।

अन्वय : नीरधौ मनोरम: मणि: इव अत्र साधु-लोक-महिता बोधि: यदि जातु प्रमादत: नश्यति तदा पुन: भविना न प्राप्यते।

वचनिका : जैसे—समुद्र में गई सुंदर मणि का पुन: प्राप्त होना अति कठिन है; उसीप्रकार इस लोक में साधु पुरुषों द्वारा पूजित सम्यक् रत्नत्रयरूप बोधि यदि कदाचित् प्रमाद से नष्ट हो जाती है, तो पुन: प्राणी द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है। इसप्रकार बोधि का पाना, महा-दुर्लभ है।।७१/१३३०।।

अब, इस पद्य द्वारा सुख हेतु धनार्जन की मूर्खता सोदाहरण प्ररूपित है—

स्वागता : **हन्त! बोधिमपहाय शर्मणे योऽधमो वितनुते धनार्जनम्।**
जीविताय विषवल्लरीं स्फुटं सेवतेऽमृतलतामपास्य स:।।७२/१३३१।।

जो अधम सुख हेतु बोधि छोड़ धनार्जन में लगता है।
वह जीवन हेतु तज अमृत बेल विष लता को खाता है।।७२/१३३१।।

शब्दश: अर्थ : हन्त! हाय/खेद है; बोधिं=सम्यक्-रत्नत्रय की एकता को; अपहाय=छोड़कर; शर्मणे=सुख के लिए; य:=जो; अधम:=निष्कृष्ट; वितनुते=विस्तृत करता है; धन+अर्जनं=धन का संग्रह करने को; जीविताय=जीवन के लिए; विष-वल्लरीं=विष-बेल को; स्फुटं=प्रकटपने; सेवते=सेवन करता है; अमृत-लतां=अमर-बेल को; अपास्य=छोड़कर; स:=वह।

अन्वय : हन्त! य: अधम: शर्मणे बोधिं अपहाय धन-अर्जनं वितनुते स: जीविताय अमृत-लतां अपास्य स्फुटं विष-वल्लरीं सेवते।

वचनिका : अहो! बड़े खेद की बात है!! जो अधम पुरुष सुख के लिए सम्यक्त्वादि की प्राप्तिरूप बोधि को छोड़कर धन का उपार्जन करता है; वह जीने के लिए अमृत-बेल को छोड़कर प्रकटपने विष-बेलि का सेवन करता है।।७२/१३२९।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म को छोड़ने का फल सोदाहरण वर्णित है—

स्वागता : **योऽत्र धर्ममुपलभ्य मुञ्चते क्लेशमेष लभतेऽतिदारुणम्।**
यो निधानमनघं व्यपोहते खिद्यते स नितरां किमद्भुतम्।।७३/१३३२।।

पाकर धर्म छोड़ता जग में यह पाता अति दारुण कष्ट।
जो निर्दोष निधान छोड़ता सदा खेद पाता क्या अद्भुत?।।७३/१३३२।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; अत्र=यहाँ; धर्मं=धर्म को; उपलभ्य=पाकर; मुञ्चते=छोड़ता है; क्लेशं=कष्ट को; एष:=यह; लभते=प्राप्त करता है; अति-दारुणं=महा भयानक को; य:= जो; निधानं=भंडार को; अनघं=निर्दोष को; व्यपोहते=छोड़ता है; खिद्यते=खेद-खिन्न होता है; स:=वह; नितरां=सतत; किं=क्या; अद्भुतं=आश्चर्य।

अन्वय : अत्र य: धर्मं उपलभ्य मुञ्चते एष: अति-दारुणं क्लेशं लभते; य: अनघं निधानं व्यपोहते स: नितरां खिद्यते अद्भुतं किम्?

वचनिका : इस लोक में जो व्यक्ति धर्म को पाकर छोड़ता है, यह अति भयानक क्लेश को पाता है। जो निर्मल भंडार को छोड़ता है, वह अत्यंत खेद-खिन्न होता ही है; इसमें आश्चर्य क्या है?।।७३/१३३२।।

अब, इस पद्य द्वारा कर्तव्य-बोध निरूपित है—

स्वागता : **मुञ्चता जनन-मृत्यु-यातनां गृह्णता च शिवतातिमुत्तमाम्।**
शाश्वती मतिमता विधीयते बोधिरद्रिपतिचूलिका स्थिरा।।७४/१३३३।।

जन्म मरण वेदना छोड़ता उत्तम शिव संतति को लेता।
बोधि मेरु चूलिका शाश्वती स्थिर बुद्धिमान नित करता।।७४/१३३३।।

शब्दश: अर्थ : मुञ्चता=छोड़ते हुए; जनन-मृत्यु-यातनां=जन्म-मरण के कष्ट को; गृह्णता= ग्रहण करते हुए; च=और; शिव-तातिं=कल्याण की परंपरा को; उत्तमां=उत्कृष्ट; शाश्वती= अविनाशी; मतिमता=बुद्धिमान द्वारा; विधीयते=किया जाता है; बोधि:=सम्यक् रत्नत्रय की एकता; अद्रि-पति-चूलिका=सुमेरु पर्वत की चूलिका; स्थिरा=स्थिर।

अन्वय : जनन-मृत्यु-यातनां मुञ्चता च उत्तमां शिवतातिं गृह्णता मतिमता बोधि: अद्रि-पति-चूलिका शाश्वती स्थिरा विधीयते।

वचनिका : जन्म-मरण की तीव्र वेदना को छोड़ता हुआ और उत्कृष्ट कल्याण की परंपरा को ग्रहण करता हुआ बुद्धिमान व्यक्ति, सम्यग्दर्शनादि की एकतारूप बोधि, सुमेरु की चूलिका-समान शाश्वत स्थिर करता है।

भावार्थ : जो जीव दु:ख का त्यागकर सुखी होना चाहता है; वह सम्यग्दर्शनादि को दृढ रखे—यह तात्पर्य है।।७४/१३३३।।

इसप्रकार बोध-दुर्लभ-भावना का प्रकरण समाप्त हुआ।
आगे सात पद्यों द्वारा धर्म-भावना वर्णित है।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा धर्म का स्वरूप और फल प्ररूपित है—

पुष्पिताग्रा : **निरुपम-निरवद्य-शर्म-मूलं हितमभिपूजितमस्त-सर्व-दोषम्।**

भजति जिननिवेदितं स धर्मं भवति जन: सुखभाजनं सदा य:।।७५/१३३४।।

निरुपम निरवद्य सौख्य मूल हितमय सब वंदित पूर्ण निर्दोष।

जिन भाषित वह धर्म जो भजे होता सुख-भाजन जीव निरंतर।।७५/१३३४।।

शब्दश: अर्थ : निरुपम-नि:-अवद्य-शर्म-मूलं=उपमा-रहित, पाप-रहित, सुख के मूल को; हितं=कल्याणमय को; अभिपूजितं=सभी से वंदित को; अस्त-सर्व-दोषं=सभी दोषों से पूर्णतया रहित को; भजति=भजता है; जिन-निवेदितं=जिन-देव द्वारा बताए गए को; स:=वह; धर्मं=धर्म को; भवति=होता है; जन:=प्राणी; सुख-भाजनं=सुख के पात्र को; सदा=निरंतर; य:=जो।

अन्वय : य: जिन-निवेदितं निरुपम-निरवद्य-शर्म-मूलं हितं अभिपूजितं अस्त-सर्व-दोषं धर्मं भजति स: जन: सदा-सुख-भाजनं भवति।

वचनिका : जो जिन-भाषित, उपमा-रहित, पाप-रहित, सुख का मूल, सभी से पूजित; पूर्व-अपर विरुद्ध आदि दोषों से रहित धर्म का सेवन करता है; वह प्राणी सदा सुख का भाजन होता है।।७५/१३३४।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म का फल बताकर उसे करने की प्रेरणा देते हैं—

पुष्पिताग्रा : **व्यपनयति भवं दुरन्त-दु:खं वितरति मुक्ति-पदं निरामयं य:।**

भवति कृतधिया त्रिधा विधेय: सकलसमीहितसाधन: स: धर्म:।।७६/१३३५।।

नष्ट करे भव के दुरंत दुख करे निरामय मुक्ति पद जो।

त्रिधा करें पूर्णधीवाले सकल वांक्षित साधन युत धर्म को।।७६/१३३५।।

शब्दश: अर्थ : व्यपनयति=नष्ट करता है; भवं=सांसारिक; दुरन्त-दु:खं=कठिनता से समाप्त होनेवाले दु:ख को; वितरति=देता है; मुक्ति-पदं=मोक्ष-पद को; नि:-आमयं=रोगों/दोषों से रहित; य:=जो; भवति=होता है; कृत-धिया=पूर्ण बुद्धि द्वारा; त्रिधा=तीन प्रकार से; विधेय:=करने-योग्य है; सकल-सम्+ईहित-साधन:=सभी इच्छाओं को भली-भाँति पूर्ण करने का साधन; स:=वह; धर्म:=धर्म।

अन्वय : य: भवं दुरन्त-दु:खं व्यपनयति नि:-आमयं मुक्ति-पदं वितरति सकल-सं-ईहित-साधन: स: धर्म: कृत-धिया भवति त्रिधा विधेय:।

वचनिका : समस्त इष्ट पदार्थ मिलने का कारण होने से संपूर्ण वांक्षित वस्तु का साधन,

कठिनाई से नष्ट होनेवाले सांसारिक दुःख को नष्ट करनेवाला, निर्दोष मुक्ति-पद को देनेवाला वह धर्म, पूर्ण बुद्धिवाले प्राणी द्वारा मन, वचन, काय से करने-योग्य है।।७६/१३३५।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म नहीं करनेवाले को सोदाहरण संबोधित करते हैं—

पुष्पिताग्रा :**मनुजभवमवाप्य यो न धर्मं विषयसुखाकुलितः करोति पथ्यम्।**
मणि-कनक-नगं समेत्य मन्ये पिपतिषति स्फुटमेष जीवितार्थी।।७७/१३३६।।

विषय-सुख व्याकुली मनुज भव पाकर हित-कारी धर्म को यदि नहीं करता।
मानूँ वह मणि-स्वर्ण-गिरि पा जीवन हेतु प्रकट ही उससे गिरना चाहता।।७७/१३३६।।

शब्दशः अर्थ : मनुज-भवं=मनुष्य भव को; अवाप्य=प्राप्तकर; यः=जो; न=नहीं; धर्मं= धर्म को; विषय-सुख+आकुलितः=विषय-सुख से व्याकुल; करोति=करता है; पथ्यं=हित-कारक को; मणि-कनक-नगं=रत्न-स्वर्ण के पर्वत को; सं+एत्य=भली-भाँति प्राप्तकर; मन्ये=मानता हूँ; पिपतिषति=गिरना चाहता है; स्फुटं=प्रकटरूप में; एषः=यह; जीवित+अर्थी =जीने का इच्छुक।

अन्वय : मनुज-भवं अवाप्य विषय-सुख-आकुलितः यः पथ्यं धर्मं न करोति (अहं) मन्ये एषः मणि-कनक-नगं सं-एत्य स्फुटं जीवित-अर्थी पिपतिषति।

वचनिका : मनुष्य जन्म को पाकर विषयों के सुख में आकुलित जो जीव हितरूप धर्म को नहीं करता है; मैं ऐसा मानता हूँ कि यह रत्न-स्वर्ण के पर्वत को प्राप्त होकर प्रकटरूप से जीवन के लिए गिरने की इच्छा करता है। मनुष्य-भव पाकर तो धर्म करना ही योग्य है।।७७/१३३६।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म को छोड़नेवाले की मूर्खता सोदाहरण प्ररूपित है—

पुष्पिताग्रा : **कलुषयति कुधीर्निरस्त-धर्मा भव-शतमेक-भवस्य कारणं यः।**
अभिलषितफलानि दातुमीशं त्यजति तृणार्थितया स कल्पवृक्षम्।।७८/१३३७।।

जो कुबुद्धि तज धर्म एक-भव-हेतु कलुषित करे बहुत भव।
इच्छित फल देने में सक्षम कल्प-तरु तजता वह तृण-इच्छुक।।७८/१३३७।।

शब्दशः अर्थ : कलुषयति=मलिन करता है; कुधीः=खोटी बुद्धिवाला; निरस्त-धर्मा=धर्म का त्याग करनेवाला; भव-शतं=सैकड़ों भव को; एक-भवस्य=एक भव का; कारणं=हेतु को; यः=जो; अभिलषित-फलानि=वांक्षित फलों को; दातुं=देने के लिए; ईशं=समर्थ को; त्यजति=छोड़ता है; तृण+अर्थितया=तृण पाने की इच्छा से; सः=वह; कल्प-वृक्षं=कल्प-तरु को।

अन्वय : निरस्त-धर्मा यः कुधीः एक-भवस्य कारणं भव-शतं कलुषयति सः तृण-अर्थितया

अभिलषित-फलानि दातुं ईशं कल्प-वृक्षं त्यजति।

वचनिका : धर्म का त्याग करनेवाला जो कुबुद्धि एक भव के लिए अनेक भव बिगाड़ता है; वह तृण की इच्छा से वांक्षित फलों को देने में समर्थ कल्प-वृक्ष का त्याग करता है।

भावार्थ : जो एक भव संबंधी किंचित् विषय-सुख के लिए धर्म छोड़ता है; वह निगोदादि पर्यायों में अनेक बार घूमता है; अत: अनेक भव बिगाड़ना कहा है—ऐसा जानना।।७८/१३३७।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म का स्वरूप और धारण नहीं करने का फल निरूपित है—

पुष्पिताग्रा : **शम-यम-नियम-व्रताभिरामं चरति न यो जिन-धर्ममस्त-दोषम्।**

भव-मरण-निपीडितो दुरात्मा भ्रमति चिरं भव-कानने स भीमे।।७९/१३३८।।

शम यम नियम व्रतों से सुंदर दोष-रहित जिनधर्म जो नहिं आचरता।

जन्म मरण पीड़ित दुरात्मा वह भयंकर भव-वन में चिर भटकता।।७९/१३३८।।

शब्दश: अर्थ : शम-यम-नियम-व्रत+अभिरामं=शम/समता, यावज्जीवन-त्याग, समय-सीमा में त्याग, अहिंसादि व्रतों से सुंदर को; चरति=आचरण करता है; न=नहीं; य:=जो; जिन-धर्मं=जिन-देव द्वारा दर्शित धर्म को; अस्त-दोषं=दोष-रहित को; भव-मरण-निपीडित:=जन्म-मरण से दु:खी; दु:+आत्मा=अपराधी आत्मा; भ्रमति=भटकता है; चिरं=दीर्घ-काल तक; भव-कानने=संसाररूपी जंगल में; स:=वह; भीमे=भयानक में।

अन्वय : य: अस्त-दोषं शम-यम-नियम-व्रत-अभिरामं जिन-धर्मं न चरति; भव-मरण-निपीडित: स: दु:-आत्मा भीमे भव-कानने चिरं भ्रमति।

वचनिका : जो प्राणी, हिंसादि दोषों से रहित, कषाय के अभावरूप शम-भाव, यावज्जीवन त्यागरूप यम, काल की मर्यादारूप नियम, अहिंसादि व्रतों से सुंदर, जिन-धर्म का आचरण नहीं करता है; जन्म-मरण से दु:खी वह दुरात्मा भयानक संसार-वन में दीर्घ-काल पर्यंत भटकता रहता है।।७९/१३३८।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म-सेवन की प्रेरणा देते हैं—

पुष्पिताग्रा : **विगलितकलिलेन येन युक्तो भवति नरो भुवनस्य पूजनीय:।**

शुचिवचनमन:शरीरवृत्त्या भजति बुधो न कथं तमत्र धर्मम्?।।८०/१३३९।।

पाप-रहित जिस धर्म से सहित प्राणी हो जाता लोक का पूज्य।

यहाँ उसे पावन मन वच तन द्वारा कैसे नहीं सेवन करते बुध?।।८०/१३३९।।

शब्दश: अर्थ : विगलित-कलिलेन=पाप-रहित से; येन=जिससे; युक्त:=सहित; भवति=हो जाता है; नर:=मनुष्य; भुवनस्य=लोक का; पूजनीय:=पूज्य; शुचि-वचन-मन:-शरीर-

वृत्या=पवित्र वचन, मन और तन की वृत्ति द्वारा; भजति=सेवन करता है; बुध:=ज्ञानी; न=नहीं; कथं=कैसे; तं=उसे; अत्र=यहाँ; धर्मं=धर्म को।

अन्वय : येन विगलित-कलिलेन युक्त: नर: भुवनस्य पूजनीय: भवति, अत्र तं धर्मं शुचि-वचन-मन:-शरीर-वृत्त्या बुध: कथं न भजति?

वचनिका : पाप-रहित जिस धर्म से सहित प्राणी, लोक का पूजनीय हो जाता है; यहाँ उस धर्म को पवित्र मन, वचन, काय की परिणति द्वारा ज्ञानी कैसे नहीं सेवन करता है? करता ही है।।८०-१३३९।।

अब, इस पद्य द्वारा दश-लक्षण धर्म का फल प्ररूपित है—

शार्दूल-विक्रीडित : **क्षान्तिर्मार्दवमार्जवं निगदितं सत्यं शुचित्वं तप-**
स्त्यागोऽकिञ्चनता मुमुक्षु-पतिभिर्ब्रम्ह-व्रतं संयम:।
धर्मस्येति जिनोदितस्य दशधा निर्दूषणं लक्षणं,
कुर्वाणो भवयन्त्रणा-विरहितो मुक्त्यङ्गनां श्लिष्यति।।८१/१३४०।।

क्षांति मार्दव और आर्जव कहे सत्य शौच तप त्याग भी,
आकिंचन ब्रम्हचर्य संयम दशों निर्दोष लक्षणमयी।
जिनवर वर्णित धर्म का मुनिवरों द्वारा चरित अनुचरी,
हो भव-बंधन-रहित शीघ्र होता शिव-लक्ष्मी तन्मयी।।८१/१३४०।।

शब्दश: अर्थ : क्षान्ति:=क्षमा; मार्दवं=मृदुता; आर्जवं=ऋजुता/सरलता; निगदितं=कहा गया; सत्यं=सत्य; शुचित्वं=शुचिता; तप:=तप; त्याग:=त्याग; अकिञ्चनता=आकिंचन्य; मुमुक्षु-पतिभि:=मुमुक्षु के स्वामी मुनीश्वरों द्वारा; ब्रम्हव्रतं=ब्रम्हचर्य; संयम:=संयम; धर्मस्य=धर्म का; जिन+उदितस्य=जिन-देव द्वारा कहे का; दशधा=दश प्रकारवाला; नि:-दूषणं=दोषों से रहित; लक्षणं=चिन्ह-युक्त; कुर्वाण:=करता हुआ; भव-यन्त्रणा-विरहित:=सांसारिक बंधन से रहित हुआ; मुक्त्यङ्गनां=मुक्तिरूपी स्त्री को; श्लिष्यति= आलिंगित करता है।

अन्वय : क्षान्ति:.......अकिञ्चनता ब्रम्हव्रतं संयम: दशधा नि:-दूषणं लक्षणं इति जिन-उदितस्य धर्मस्य मुमुक्षु-पतिभि: कुर्वाण: ..... श्लिष्यति।

वचनिका : क्रोध कषाय के अभावरूप क्षमा, मान के अभावरूप मार्दव, माया के अभावरूप आर्जव, सत्य, लोभ के अभावरूप शुचिता, अनशनादि तप, शक्ति के अनुसार त्याग, निष्परिग्रहता, ब्रम्हचर्य और संयम ये दश प्रकारवाले निर्दोष लक्षण, धर्म के हैं।

इसप्रकार जिन-देव द्वारा प्ररूपित, मुनीश्वरों द्वारा किए गए धर्म का जो आचरण करता है; संसार-बंधन से रहित हुआ वह मुक्तिरूपी स्त्री का आलिंगन करता है/सिद्ध-दशा प्राप्त करता है।।८१/१३४०।।

इसप्रकार धर्मानुप्रेक्षा का प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे इस अधिकार का संकोच करते हुए सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा अनुप्रेक्षा-चिंतन का फल प्ररूपित है—

शालिनी : **योऽनुप्रेक्षा द्वादशापीति नित्यं भव्यो भक्त्या ध्यायति ध्यानशील:।**

हेयादेयाशेष-तत्त्वावबोधी सिद्धिं सद्यो याति स ध्वस्त-कर्मा।।८२।।१३४१।।

भक्ति से जो भव्य ध्यान-शील ध्याता नित ये बारह भावना यों समझकर।

कर्म-ध्वंसक हेय आदेय सब ही तत्त्व-ज्ञाता पाए सिद्धि को शीघ्र।।८२/१३४१।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; अनुप्रेक्षा=भावना; द्वादशा=बारह; अपि=भी; इति=इसप्रकार; नित्यं=सतत; भव्य:=मोक्ष-प्राप्ति के योग्य; भक्त्या=भक्ति से; ध्यायति=ध्याता है; ध्यान-शील:=ध्यान करने के स्वभाववाला; हेय+आदेय+अशेष-तत्त्व+अवबोधी=हेय और उपादेयरूप सभी तत्त्वों को जाननेवाला; सिद्धिं=मोक्ष को; सद्य:=शीघ्र; याति=जाता है; स:=वह; ध्वस्त-कर्मा=कर्मों को नष्ट करनेवाला।

अन्वय : य: ध्यान-शील: भव्य: इति द्वादशा अनुप्रेक्षा अपि भक्त्या नित्यं ध्यायति, हेय-आदेय-अशेष-तत्त्व-अवबोधी ध्वस्त-कर्मा स: सद्य: सिद्धिं याति।

वचनिका : जो ध्यान-शील भव्य इसप्रकार से बारह अनुप्रेक्षा भी भक्ति पूर्वक नित्य ध्याता है, विचार करता है; हेय और उपादेय—सभी तत्त्वों को जाननेवाला, कर्मों को नष्ट करनेवाला वह शीघ्र सिद्ध-पद को प्राप्त होता है।

भावार्थ : जो बारह अनुप्रेक्षा भाता है, वह मुक्ति को प्राप्त होता है—ऐसा भावना का फल दिखाया है।।८२/१३४१।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा जिन-देव के वचनों का स्वरूप और उन्हें हृदयंगम करने का फल प्ररूपित है—

विद्युन्माला :**सूचिततत्त्वं ध्वस्तकुतत्त्वं भवभयविदलन-दम-यमकथनम्।**

यो हृदि धत्ते पापनिवृत्ते शुचिरुचिरुचिरं जिनपतिवचनम्।।८३/१३४२।।

केवललोकालोकितलोकोऽमितगतियतिपतिसुरपतिमहिताम्।

याति स सिद्धिं पावनशुद्धिं सकलित-कलिमल-गुणमणिसहिताम्।।८४/१३४३।।

तत्त्व बताते नशें कुतत्त्व भव-भय-नाशक दम यम कहते।
पावन सुंदर रुचिमय जिनवर वचन पाप-विन उर में धरते।।८३/१३४२।।
वह सकलज्ञ मोक्ष को जाता अमितगति यतिवर इंद्रों से।
पूजित पावन शुद्ध पाप-मल-रहित सहित समकित आदि से।।८४/१३४३।।

शब्दश: अर्थ : सूचित-तत्त्वं=तत्त्वों को बतानेवाले को; ध्वस्त-कुतत्त्वं=तत्त्व संबंधी मिथ्या मान्यताओं को नष्ट करनेवाले को; भव-भय-विदलन-दम-यम-कथनं=संसार के भय को नष्ट करनेवाले, इंद्रिय-दमन और संयम का कथन करनेवाले को; य:=जो; हृदि=हृदय में; धत्ते=धारण करता है; पाप-निवृत्ते=पाप से रहित में; शुचि-रुचि-रुचिरं=पवित्र, रुचि-कारी, सुंदर को; जिन-पति-वचनं=जिनेंद्र भगवान के वचन को।

केवल-लोक+आलोकित-लोक:=केवल-ज्ञानरूपी प्रकाश से लोक को जाननेवाला; अमित-गति-यति-पति-सुर-पति-महितां=अमाप महिमावाले आचार्यों, इंद्रों से पूजित को; याति=जाता है; स:=वह; सिद्धिं=मोक्ष को; पावन-शुद्धिं=पवित्र शुद्धि को; सकलित-कलि-मल-गुण-मणि-सहितां=पापरूपी मल को नष्ट करनेवाले, सम्यक्त्वादि गुण-रत्नों से सहित को।

अन्वय : य: सूचित...... कथनं शुचि-रुचि-रुचिरं जिन-पति-वचनं पाप-निवृत्ते हृदि धत्ते।

केवल-लोक-आलोकित-लोक: स: अमित-गति: यति-पति-सुर-पति-महितां पावन-शुद्धिं सकलित-कलि-मल-गुण-मणि-सहितां सिद्धिं याति।

वचनिका : जो पुरुष; वस्तु के स्वरूप को बतानेवाले, कुतत्त्वरूप मिथ्या अभिप्रायों को नष्ट करनेवाले, संसार के भय को समाप्त करनेवाले, इंद्रियों के दमन और संयम का कथन करनेवाले, पवित्र, रुचि-कारी, सुंदर जिन-वचन को पाप-रहित हृदय में धारण करता है; केवल-ज्ञान-दर्शनरूपी प्रकाश से लोक को देखनेवाला वह, अमाप महिमा-संपन्न गणधरादि और देवेंद्रों से पूजित, रागादि दोषों से रहित अत्यंत पवित्र, पापरूपी मल से पूर्णतया रहित, सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नों से सहित मोक्ष-दशा को प्राप्त होता है।।८३-८४/१३४२-१३४३।।

सवैया इकतीसा : **जग है अनित्य तामैं सरन न वस्तु कोय, तातैं दुखरासि भव-वास कौं निहारिए।**
एक चित् चिन्ह सदा भिन्न पर-द्रव्यनि तैं, असुचि सरीर में न आपा बुद्धि धारिए।
रागादिक भाव करै कर्म कौ बढाव तातैं, संवर स्वरूप होय कर्म बंध डारिए।
तीन लोक माँहि जिनधर्म एक दुर्लभ है, तातैं जिनधर्म कौं न छिनहू बिसारिए।।

दोहा : **ऐसैं द्वादश भावना भाखी अमितगतीस।**
जो भावै सो सुख लहै कर्म महागिरि पीस।।

अर्थ : इस जगत का संपूर्ण परिणमन अनित्य है (अनित्य), इसमें कोई अन्य वस्तु शरण नहीं है (अशरण), अत: संसार में रहने को दु:ख का समूह ही देखना चाहिए (संसार), मैं एक चैतन्य चिन्ह/लक्षणवाला हूँ (एकत्व), सदा ही पर-द्रव्यों से भिन्न हूँ (अन्यत्व), इस अपवित्र शरीर में अपनत्व बुद्धि नहीं करना चाहिए (अशुचित्व), रागादि भाव करने से कर्म आकर बड़ते हैं (आस्रव), अत: संवर-स्वरूप होकर (संवर) कर्म-बंध को नष्ट कीजिए (निर्जरा), तीन-लोक में (लोक), जिन-धर्म/सम्यक्-रत्नत्रय की एकता को प्राप्त करना दुर्लभ है (बोधि -दुर्लभ), अत: इस जिन-धर्म को एक क्षण के लिए भी भूलना नहीं चाहिए (धर्म भावना)।

इसप्रकार अमितगति मुनिराज ने ये बारह भावनाएँ कही हैं। जो इन्हें भाता है, वह कर्मरूपी विशाल पर्वत को नष्टकर सुख प्राप्त करता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में चौदहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।१४।।

पञ्चदश परिच्छेद

इसमें सर्व-प्रथम चार पद्यों द्वारा ध्यान की आवश्यकता सहेतुक सोदाहरण प्ररूपित है —

अनुष्टुभ् : **नियम्य करण-ग्रामं व्रत-शील-गुणादृतैः*।**
सर्वो विधीयते भव्यैर्विधिरेष विमुक्तये।।१/१३४४।।
न सा सम्पद्यते जन्तोः सर्वकर्मक्षयं विना।
रजोप-हारिणी वृष्टि-र्बलाहक-मिवोर्जिता।।२/१३४५।।
समस्त-कर्म-विश्लेषो ध्यानेनैव विधीयते।
न भास्करं विनाऽन्येन हन्यते शार्वरं तमः।।३/१३४६।।
यत्न कार्यो बुधैर्ध्याने कर्मभ्यो मोक्षकाङ्क्षिभिः।
रोगेभ्यो दुःख-कारिभ्यो व्याधितैरिव भैषजम्।।४/१३४७।।

व्रत शील गुण आदर युत भव्य अक्ष समूह को।
रोक शिव हेतु करते व्रतादि सब विधि को।।१/१३४४।।
धूल उपशामकी वृष्टि मेघ विन ज्यों हो नहीं।
जीव के सकल कर्मों के क्षय-विन त्यों मुक्ति नहीं।।२/१३४५।।
सकल कर्मों का क्षय हो ध्यान से ही जीव के।
सूर्य-विना रात्रि-तम नष्ट हो नहिं अन्य से।।३/१३४६।।
विज्ञ कर्म-मोक्षार्थी यत्न करते ध्यान में।
दुःख-कारी रोगों से पीड़ित-वत् औषधि में।।४/१३४७।।

शब्दशः अर्थ : नियम्य=रोककर; करण-ग्रामं=इंद्रियों के समूह को; व्रत-शील-गुण+आदृतैः/आवृतैः= व्रत, शील और गुणों में आदरवान से/आवृतवान द्वारा; सर्वः=सब; विधीयते=की जाती है; भव्यैः=मोक्ष जाने-योग्य द्वारा; विधिः=व्रतादि आचरण; एषः=यह; विमुक्तये=मोक्ष के लिए।

न=नहीं; सा=वह; सम्पद्यते=होता है; जन्तोः=प्राणी का; सर्व-कर्म-क्षयं=सभी कर्मों का क्षय; विना=रहित; रजः+अपहारिणी=धूल को नष्ट करनेवाली; वृष्टिः=वर्षा; बलाहकं=मेघ; इव=समान; ऊर्जिता=मूसलाधार।

समस्त-कर्म-विश्लेषः=सभी कर्मों का क्षय; ध्यानेन=ध्यान से; एव=ही; विधीयते=

** वृतैः —इति पाठान्तरम्।*

किया जाता है; न=नहीं; भास्करं=सूर्य को; विना=रहित; अन्येन=दूसरे द्वारा; हन्यते=नष्ट होता है; शार्वरं=रात्रि-संबंधी; तम:=अंधकार।

यत्न:=प्रयास; कार्य:=करना चाहिए; बुधै:=ज्ञानिओं द्वारा; ध्याने=ध्यान में; कर्मभ्य:=कर्मों से; मोक्ष-काङ्क्षिभि:=मुक्ति के इच्छुकों द्वारा; रोगेभ्य:=रोगों से; दु:ख-कारिभ्य:=दु:ख करनेवालों से; व्याधितै:=रोगिओं से; भैषजं=औषध को।

अन्वय : व्रत-शील-गुण-आदृतै:/आवृतै: भव्यै: करण-ग्रामं नियम्य विमुक्तये एष: सर्व: विधि: विधीयते। रज:-अपहारिणी ऊर्जिता वृष्टि: बलाहकं इव सर्व-कर्म-क्षयं विना जन्तो: सा (मुक्ति:) न सम्पद्यते। समस्त..... विधीयते शार्वरं तम: भास्करं विना अन्येन न हन्यते। दु:ख-कारिभ्य: रोगेभ्य: व्याधितै: भैषजं इव कर्मभ्य: मोक्ष-काङ्क्षिभि: बुधै: ध्याने यत्न: कार्य:।

वचनिका : व्रत, शील, गुणों में आदरवान भव्यों द्वारा इंद्रियों के समूह को रोककर मोक्ष हेतु यह सभी विधि की जाती है। जैसे—धूल को नष्ट करनेवाली मूसलाधार वर्षा मेघों के विना नहीं होती है; उसीप्रकार संपूर्ण कर्मों के क्षय-विना प्राणी की वह मुक्ति नहीं होती है।

जैसे—रात्रि संबंधी अंधकार सूर्य के विना अन्य से नष्ट नहीं होता है; उसीप्रकार सभी कर्मों का क्षय ध्यान से ही किया जाता है। जैसे—दु:ख-कारक रोगों से ग्रसित रोगिओं द्वारा औषध के लिए प्रयत्न करना, योग्य है; उसीप्रकार कर्मों से मोक्ष के इच्छुक ज्ञानिओं द्वारा ध्यान में प्रयत्न करना, योग्य है।।१-४/१३४४-१३४७।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान का सामान्य लक्षण और स्वामी प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **आद्य-त्रि-संहतै: साधैरान्तर्मौहूतिकं परम्।**
वस्तुन्येकत्र चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानमुदीर्यते।।५/१३४८।।

आद्य त्रि संहनन-साधक का अंतर्मुहूर्त वर।
एक वस्तु में स्थिरता मन की ध्यान जिन-कथित।।५/१३४८।।

शब्दश: अर्थ : आद्य-त्रि-संहतै:=प्रारंभ के तीन संहननवालों द्वारा; साधै:=साधनेवालों द्वारा; आन्तर्मौहूर्तिकं=अंतर्मुहूर्त पर्यंत; परं=उत्कृष्ट; वस्तुनि=वस्तु में; एकत्र=एक ही; चित्तस्य=मन का; स्थैर्यं=स्थिरता को; ध्यानं=ध्यान; उदीर्यते=कहा है।

अन्वय : आद्य-त्रि-संहतै: साधै: एकत्र वस्तुनि परं आन्तर्मौहूतिकं चित्तस्य स्थैर्यं ध्यानं उदीर्यते।

वचनिका : प्रारंभ के बज्र-वृषभ-नाराच, बज्र-नाराच, नाराच—इन तीन संहननवाले ध्यान

की साधना करनेवाले पुरुषों द्वारा एक वस्तु में उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त पर्यंत मन की स्थिरता को ध्यान कहते हैं।।५/१३४८।।

अब, इस पद्य द्वारा अन्य जीवों के ध्यान का काल निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **तदन्येषां यथा-शक्ति मनोरोध-विधायिनाम्।**
एकद्वित्रिचतुः - पञ्चषडादि - क्षण - गोचरम्।।६/१३४९।।

मन निरोधक अन्यों के यथा-शक्ति हि एक दो।
तीन चार पाँच छह आदि क्षण-गोचर वह ध्यान हो।।६/१३४९।।

शब्दशः अर्थ : तत्=वह/ध्यान; अन्येषां=अन्यों के; यथा-शक्ति=सामर्थ्य के अनुसार; मनः-रोध-विधायिनां=मन को रोकनेवालों के; एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्+आदि-क्षण-गोचरं=एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षण-गोचर।

अन्वय : मनः-रोध-विधायिनां अन्येषां तत् (ध्यानं) यथा-शक्ति-एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-आदि-क्षण-गोचरम्।

वचनिका : मन को रोकनेवाले अन्य साधकों के वह ध्यान अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि क्षणों के गोचर हैं।

भावार्थ : उत्कृष्ट ध्यान तो उत्तम संहननवालों के अंतर्मुहूर्त का है। अन्यों के यथा-शक्ति एक, दो आदि क्षण भी ध्यान होता है—ऐसा जानना।।६/१३४९।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान हेतु जानने-योग्य चार बिंदु वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **साधकः साधनं साध्यं फलं चेति चतुष्टयम्।**
विबोद्धव्यं विधानेन बुधैः सिद्धिं विवित्सुभिः।।७/१३५०।।

मोक्ष इच्छुक ज्ञानी को साधक साधन साध्य फल।
विधान पूर्वक ज्ञातव्य ध्यान हेतु चार यह।।७/१३५०।।

शब्दशः अर्थ : साधकः=साधना करनेवाला; साधनं=कारण; साध्यं=साधने-योग्य; फलं=परिणाम; च=और; इति=इसप्रकार; चतुष्टयं=चार का समूह; विबोद्धव्यं=जानने-योग्य है; विधानेन=विधान द्वारा; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा; सिद्धिं=मोक्ष को; विवित्सुभिः=चाहनेवालों द्वारा।

अन्वय : सिद्धिं विवित्सुभिः बुधैः विधानेन साधकः साधनं साध्यं च फलं इति चतुष्टयं विबोद्धव्यम्।

वचनिका : मोक्ष को जानने या प्राप्त करने के वांक्षक ज्ञानिओं द्वारा साधना करनेवाला साधक; जिससे साधना करता है, वह साधन; जो साधने-योग्य है, वह साध्य और साधना का

फल—ये चार बिंदु विधान-सहित जानने-योग्य हैं।।७/१३५०।।

अब, इस पद्य द्वारा वे चारों ही प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **सन्सारी साधको भव्य: साधनं ध्यानमुज्ज्वलम्।**
निर्वाणं कथ्यते साध्यं फलं सौख्यमनश्वरम्।।८/१३५१।।

साधक भव्य संसारी साधन निर्मल ध्यान है।
साध्य निर्वाण फल उसका कहा अक्षय सौख्य है।।८/१३५१।।

शब्दश: अर्थ : सन्सारी=विकारों-सहित जीव; साधक:=साधना करनेवाला; भव्य:=मोक्ष जाने-योग्य; साधनं=कारण; ध्यानं=ध्यान; उज्ज्वलं=निर्मल; निर्वाणं=मोक्ष को; कथ्यते= कहा है; साध्यं=साधने-योग्य; फलं=परिणाम; सौख्यं=निराकुल दशा; अ-नश्वरं=अविनाशी।

अन्वय : सन्सारी भव्य: साधक: उज्ज्वलं ध्यानं साधनं निर्वाणं साध्यं अनश्वरं सौख्यं फलं कथ्यते।

वचनिका : संसारी भव्य-जीव साधनेवाला, साधक; निर्मल ध्यान, साधन; मोक्ष, साधने-योग्य साध्य और अविनाशी सुख, ध्यान का फल है—ऐसा जानना।।८/१३५१।।

आगे सात पद्यों द्वारा ध्यान के भेद वर्णित हैं।

वहाँ सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा भेदों के नाम और फल प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **आर्तं रौद्रं मतं* धर्म्यं शुक्लं चेति चतुर्विधम्।**
ध्यानं ध्यानवतां मान्यैर्भवनिर्वाणकारणम्।।९/१३५२।।

आर्त रौद्र तथा धर्म्य शुक्ल ये चार भेद हैं।
ध्यान ध्यानवानों को भव-शिव हेतु मान्य हैं।।९/१३५२।।

शब्दश: अर्थ : आर्तं=आर्त; रौद्रं=रौद्र; मतं=माना है/तथा=और; धर्म्यं=धर्म्य; शुक्लं=शुक्ल; च=और; इति=इसप्रकार; चतु:-विधं=चार प्रकारवाला; ध्यानं=ध्यान; ध्यानवतां=ध्यानवान के; मान्यै:=मानने-योग्यों द्वारा; भव-निर्वाण-कारणं=संसार और मोक्ष के कारण।

अन्वय : आर्तं रौद्रं तथा धर्म्यं च शुक्लं इति भव-निर्वाण-कारणं चतु:-विधं ध्यानं ध्यानवतां मान्यै: मतम्।

वचनिका : आर्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल—इसप्रकार संसार और मोक्ष का कारणभूत ध्यान चार भेदवाला; ध्यानवान मुनीश्वरों द्वारा मानने-योग्य गणधरादि द्वारा माना गया है।।९/१३५२।।

** तथा —इति पाठान्तरम्।*

कौन किसका कारण है? यह बताते हुए अब, इस पद्य द्वारा उनमें हेय-उपादेय का विभाजन करते हैं—

अनुष्टुभ् : **सन्सार-कारणं पूर्वं परं निर्वृत्ति-कारणम्।**
इत्याद्यं द्वितयं त्याज्यमादेयमपरं बुधैः।।१०/१३५३।।

पहले दो भव के कारण शेष दो शिव हेतु हैं।
अतः पहले दो त्याज्य शेष ज्ञानी-ग्राह्य हैं।।१०/१३५३।।

शब्दशः अर्थ : सन्सार-कारणं=भव के हेतु; पूर्वं=पहले के दो; परं=आगे के दो; निर्वृत्ति-कारणं=मोक्ष के कारण; इति=इसप्रकार; आद्यं=पहलेवाले; द्वितयं=दो; त्याज्यं=छोड़ने-योग्य; आदेयं=ग्रहण करने-योग्य; अपरं=शेष दो; बुधैः=ज्ञानिओं द्वारा।

अन्वय : पूर्वं सन्सार-कारणं परं निर्वृत्ति-कारणं इति बुधैः आद्यं द्वितयं त्याज्यं अपरं आदेयम्।

वचनिका : पहले आर्त और रौद्र, संसार के कारण तथा पीछेवाले धर्म्य और शुक्ल, मोक्ष के कारण हैं—इस कारण ज्ञानिओं द्वारा आदि के दो—आर्त और रौद्र, त्याग करने-योग्य हैं और शेष धर्म्य और शुक्ल, ग्रहण करने-योग्य हैं।।१०/१३५३।।

अब, इस पद्य द्वारा आर्त-ध्यान के भेद और फल प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **प्रिययोगाऽप्रियायोगपीडालक्ष्मीविचिन्तनम्।**
आर्तं चतुर्विधं ज्ञेयं तिर्यग्गति-निबन्धनम्।।११/१३५४।।

इष्ट योग अयोग अप्रिय पीड़ा लक्ष्मी चिंतन।
आर्त चार भेद जानो तिर्यंच-गति निबंधन।।११/१३५४।।

शब्दशः अर्थ : प्रिय-योग-अप्रिय-अयोग-पीडा-लक्ष्मी-विचिन्तनं=इष्ट का योग बना रहे, अनिष्ट का वियोग रहे, रोगादि की पीड़ा और लक्ष्मी की अभिलाषारूप बारंबार विशिष्ट चिंतन; आर्तं=आर्त-ध्यान; चतुः-विधं=चार भेदवाला; ज्ञेयं=जानना चाहिए; तिर्यक्-गति-निबन्धनं=तिर्यंच-गति का कारण।

अन्वय : प्रिय....... चिन्तनं चतुः-विधं तिर्यक्-गति-निबन्धनं आर्तं ज्ञेयम्।

वचनिका : मिली हुई इष्ट-वस्तु के संभावित वियोग का चिंतन, वियुक्त अनिष्ट-वस्तु के संभावित संयोग का चिंतन, रोगादि के कष्ट का चिंतन, लक्ष्मी की अभिलाषारूप चिंतन—इसप्रकार चार भेदवाला, तिर्यंच-गति का कारण, आर्त-ध्यान जानना चाहिए।।११/१३५४।।

अब, इस पद्य द्वारा रौद्र-ध्यान के भेद और फल वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **रौद्रं हिन्सानृत-स्तेय-भोगरक्षण-चिन्तनम्।**
ज्ञेयं चतुर्विधं शक्तं श्वभ्र-भूमि-प्रवेशने।।१२/१३५५।।

रौद्र हिंसा झूठ स्तेय भोग रक्षण चिंतन।
जानो चार भेदों युत नारक-गति निबंधन।।१२/१३५५।।

शब्दश: अर्थ : रौद्रं=रुद्रता-युक्त ध्यान; हिन्सा+अनृत-स्तेय-भोग-रक्षण-चिन्तनं=हिंसा, असत्य, चोरी और विषयों की रक्षा का चिंतन; ज्ञेयं=जानना चाहिए; चतु:-विधं=चार भेदवाला; शक्तं=समर्थ; श्वभ्र-भूमि-प्रवेशने=नरक की भूमि में प्रवेश कराने में।

अन्वय : हिन्सा....... चिन्तनं चतु:-विधं श्वभ्र-भूमि-प्रवेशने शक्तं रौद्रं ज्ञेयम्।

वचनिका : हिंसा, असत्य, चोरी, विषयों की रक्षा संबंधी हर्षरूप चिंतन चार भेदवाला, नरक-भूमि में प्रवेश कराने में समर्थ, रौद्र-ध्यान जानना चाहिए।।१२/१३५५।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म्य-ध्यान के भेद और फल प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **आज्ञापायविपाकानां चिन्तनं लोकसन्स्थिते:।**
चतुर्धाऽभिहितं धर्म्यं निमित्तं नाक-शर्मण:।।१३/१३५६।।
आज्ञापाय विपाकों का लोकाकार-चिंतवन।
चार भेदमई धर्म्य स्वर्ग सौख्य-निबंधन।।१३/१३५६।।

शब्दश: अर्थ : आज्ञा+अपाय-विपाकानां=आज्ञा, दु:ख के नाश, कर्मों के उदय के; चिन्तनं=चिंतन; लोक-सन्स्थिते:=लोक के आकार का; चतु:धा=चार प्रकारवाला; अभिहितं =कहा है; धर्म्यं=धर्म्य-ध्यान; निमित्तं=कारण; नाक-शर्मण:=स्वर्ग के सुख का।

अन्वय : आज्ञा-अपाय-विपाकानां लोक-सन्स्थिते: चिन्तनं चतु:-धा नाक-शर्मण: निमित्तं धर्म्यं अभिहितम्।

वचनिका : सर्वज्ञ-वीतराग की आज्ञा, संसार-दु:ख के नाश, कर्मों के उदय और लोक के आकार का चिंतन—इसप्रकार चार भेदवाला, स्वर्ग-सुख का कारण, धर्म्य-ध्यान कहा है।।१३/१३५६।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा शुक्ल-ध्यान के भेद और फल वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **शुक्लं पृथक्त्व-वीतर्क-वीचारं प्रथमं मतम्।**
जिनैरेकत्व-वीतर्काऽवीचारं च द्वितीयकम्।।१४/१३५७।।
अन्यत्सूक्ष्म-क्रियं तुर्यं समुच्छिन्न-क्रियं मतम्।
इत्थं चतुर्विधं शुक्लं सिद्धि-सौध-प्रवेशकम्।।१५/१३५८।।
पृथक्त्व वितर्क वीचार पहला शुक्लध्यान है।
एकत्व वितर्क अवीचार दूसरा जिन कहा है।।१४/१३५७।।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती समुच्छिन्न क्रिया कहा।
शुक्लध्यान चतुः भेद मोक्ष महल प्रवेश का।।१५/१३५८।।

शब्दशः अर्थ : शुक्लं=शुक्लध्यान; पृथक्त्ववीतर्कवीचारं=पृथक्त्व वितर्क वीचार; प्रथमं=पहला; मतं=माना है; जिनैः=जिनेंद्र भगवान द्वारा; एकत्व-वीतर्क+अवीचारं=एकत्व वितर्क अवीचार; च=और; द्वितीयकं=दूसरा।

अन्यत्=अगला/तीसरा; सूक्ष्म-क्रियं=सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती; तुर्यं=चौथा; समुच्छिन्न-क्रियं=व्युपरत क्रिया निर्वृत्ति; मतं=माना है; इत्थं=इसप्रकार; चतुः-विधं=चार प्रकारवाला; शुक्लं=शुक्लध्यान; सिद्धि-सौध-प्रवेशकं=मोक्षरूपी महल में प्रवेश करानेवाला।

अन्वय : जिनैः पृथक्त्व-वीतर्क-वीचारं प्रथमं च एकत्व-वीतर्क-अवीचारं द्वितीयकं मतम्। सूक्ष्म-क्रियं अन्यत् सं-उच्छिन्न-क्रियं तुर्यं इत्थं चतुः विधं सिद्धि-सौध-प्रवेशकं शुक्लं मतम्।

वचनिका : जिन-देव द्वारा पृथक्त्व-वितर्क-वीचार पहला शुक्ल-ध्यान कहा है। पृथक्त्व=भिन्न-भिन्नपना, वितर्क=श्रुत, वीचार=अर्थ-शब्द और योग का पलटना; अर्थात् जिसमें भिन्न-भिन्न रूप से श्रुत, अर्थ, शब्द, योग का परिवर्तन होता है, वह पृथक्त्व-वितर्क-वीचार है।

जिसमें श्रुत का एकरूप ही चिंतन होता है, परिवर्तन नहीं होता है, वह एकत्व-वितर्क-अवीचार नामक दूसरा शुक्ल-ध्यान है। जिसमें योगों की क्रिया सूक्ष्म हो गई है, वह सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाती नामक तीसरा शुक्ल-ध्यान है। जिसमें योगों की क्रिया नष्ट हो गई है, वह समुच्छिन्न-क्रिया अथवा व्युपरत-क्रिया-निर्वृत्ति नामक चौथा शुक्ल-ध्यान है।

चार भेदवाले ये शुक्ल-ध्यान मुक्ति-महल में प्रवेश करानेवाले कहे हैं।।१४-१५/१३५७-१३५८।।

अब, इस पद्य द्वारा आर्त और रौद्र-ध्यान के स्वामी वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **आर्तं तनूमतां ध्यानं प्रमत्तान्त-गुणाश्रितम्।**
संयतासंयतान्तानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्तते।।१६/१३५९।।

प्रमत्त संयत गुण तक आर्त होता जीव के।
संयतासंयत पर्यंत रौद्र ध्यान भी हो सके।।१६/१३५९।।

शब्दशः अर्थ : आर्तं=कष्ट संबंधी; तनूमतां=प्राणिओं के; ध्यानं=एकाग्रता; प्रमत्त+अन्त-गुण+आश्रितं=प्रमत्त-संयत पर्यंत गुणस्थान के आश्रित; संयत+असंयत+अन्तानां=संयतासंयत पर्यंतों के; रौद्रं=रुद्रता संबंधी; ध्यानं=एकाग्रता; प्रवर्तते=होता रहता है।

अन्वय : तनूमतां प्रमत्त-अन्त-गुण-आश्रितं आर्त-ध्यानं संयत-असंयत-अन्तानां रौद्रं ध्यानं प्रवर्तते।

वचनिका : जीवों के प्रमत्त-संयत नामक छठवें गुणस्थान पर्यंत आर्त-ध्यान और संयतासंयत नामक पाँचवें गुणस्थान पर्यंत रौद्र-ध्यान हो सकता है।।१६/१३५९।।

अब, इस पद्य द्वारा धर्म्य-ध्यान के स्वामी प्ररूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **अनपेतस्य धर्मस्य धर्मतो दश-भेदतः।**
चतुर्थः पञ्चमः षष्ठः सप्तमश्च प्रवर्तकः।।१७/१३६०।।

दश भेद-युत भावों से सहित धर्म का प्रवर्तक।
चौथे पाँचवेँ छठवेँ सातवेँ गुणस्थान तक।।१७/१३६०।।

शब्दशः अर्थ : अन्-अपेतस्य=सहित का; धर्मस्य=धर्म का; धर्मतः=धर्म से; दश-भेदतः =दश भेद से; चतुर्थः=चौथा; पञ्चमः=पाँचवाँ; षष्ठः=छठवाँ; सप्तमः=सातवाँ; च=और; प्रवर्तकः=प्रवृत्ति करनेवाला।

अन्वय : दश-भेदतः धर्मतः अन्-अपेतस्य धर्मस्य प्रवर्तकः चतुर्थः पञ्चमः षष्ठः च सप्तमः।

वचनिका : आज्ञा आदि दश प्रकारवाले धर्मरूप स्वभाव से सहित धर्म्य-ध्यान की प्रवृत्ति करने/ध्यानेवाला चौथे, पाँचवें, छठवें, सातवें गुणस्थानवर्ती जीव जानना।

भावार्थ : यद्यपि चतुर्थादि गुणस्थानों में उत्तरोत्तर परिणामों की निर्मलता या वस्तु-विचार में लीनता अधिक-अधिक है; तथापि सामान्य से सभी को एक धर्म्य-ध्यान ही कहा है।।१७/१३६०।।

अब, इस पद्य द्वारा शुक्ल-ध्यान की विशेषताएं और स्वामी निरूपित हैं—

अनुष्टुभ् : **समर्थं निर्मलीकर्तुं शुक्लं रत्नशिखास्थिरम्।**
अपूर्व-करणादीनां मुमुक्षूणां प्रवर्तते।।१८/१३६१।।

पावन करने में सक्षम रत्न-ज्योति शिखा-सुथिर।
अपूर्व करणादि-युत मोक्षेच्छु के हों सतत।।१८/१३६१।।

शब्दशः अर्थ : समर्थं=सक्षम; निर्मली-कर्तुं=पवित्र करने के लिए; शुक्लं=शुक्ल-ध्यान; रत्न-शिखा-स्थिरं=रत्न की ज्योति की शिखा के समान निष्कंप; अपूर्व-करण+आदीनां= अपूर्व-करण आदि के; मुमुक्षूणां=मोक्षार्थिओं के; प्रवर्तते=होता है।

अन्वय : निर्मली-कर्तुं समर्थं रत्न-शिखा-स्थिरं शुक्लं अपूर्व-करण-आदीनां मुमुक्षूणां प्रवर्तते।

वचनिका : निर्मल करने में समर्थ, पवनादि से नहीं हिलनेवाली रत्नों की शिखा के समान

रागादि से नहीं हिलनेवाला शुक्ल-ध्यान, अपूर्व-करण आदि सात गुणस्थानवाले मोक्ष के इच्छुक जीवों के होता है।।१८/१३६१।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान का फल सोदाहरण प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **अह्नायोद्धूयते सर्वं कर्म ध्यानेन सञ्चितम्।**
वृद्धं समीरणेनेव बलाहक-कदम्बकम्।।१९/१३६२।।

संचित हुआ सब कर्म ध्यान से शीघ्र नष्ट हो।
वर्धित मेघों का समुदाय पवन द्वारा विनष्ट ज्यों।।१९/१३६२।।

शब्दश: अर्थ : अह्नाय=शीघ्र; उद्धूयते=उड़ा दिया जाता है; सर्वं=सब; कर्म=ज्ञानावरणादि कर्म; ध्यानेन=ध्यान द्वारा; सञ्चितं=एकत्रित; वृद्धं=बड़ा हुआ; समीरणेन=वायु द्वारा; इव= समान; बलाहक-कदम्बकं=मेघों का समूह।

अन्वय : वृद्धं बलाहक-कदम्बकं समीरणेन इव सञ्चितं सर्वं कर्म ध्यानेन अह्नाय उद्धूयते।

वचनिका : जैसे—बड़ा हुआ बादलों का समूह पवन द्वारा उड़ा दिया जाता है; उसीप्रकार संचित हुआ सभी कर्म ध्यान द्वारा शीघ्र नष्ट हो जाता है।।१९/१३६२।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान का कार्य प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **ध्यान-द्वयेन पूर्वेण जन्यन्ते कर्म-पर्वता:।**
बज्रेणेव विभिद्यन्ते परेण सहसा पुन:।।२०/१३६३।।

आर्त-रौद्र-ध्यानों से कर्म-पर्वत जन्मते।
बज्र-वत् नष्ट हो जाते सहसा दोनों शेष से।।२०/१३६३।।

शब्दश: अर्थ : ध्यान-द्वयेन=दोनों ध्यान द्वारा; पूर्वेण=प्रारंभिक द्वारा; जन्यन्ते=उत्पन्न होते हैं; कर्म-पर्वता:=कर्मरूपी पर्वत; बज्रेण=बज्र द्वारा; इव=समान; विभिद्यन्ते=नष्ट हो जाते हैं; परेण=शेष रहे द्वारा; सहसा=शीघ्र; पुन:=फिर/और।

अन्वय : पूर्वेण ध्यान-द्वयेन कर्म-पर्वता: जन्यन्ते पुन: परेण बज्रेण इव सहसा विभिद्यन्ते।

वचनिका : प्रारंभिक दो—आर्त और रौद्र-ध्यान द्वारा कर्मरूपी पर्वत उत्पन्न होते हैं और अंतिम दो—धर्म्य और शुक्ल-ध्यान द्वारा बज्र के समान वे शीघ्र नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : आर्त-रौद्र-ध्यान से कर्म बँधते हैं और धर्म्य-शुक्ल-ध्यान से वे नष्ट होते हैं—ऐसा जानना।।२०/१३६३।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण ध्यान से ही कर्मों का विनाश वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **यो ध्यानेन विना मूढ: कर्मच्छेदं चिकीर्षति।**
कुलिशेन विना शैलं स्फुटमेष विभित्सति।।२१/१३६४।।

ध्यान-विन जो अज्ञ कर्म-छेदन चाहता।
प्रकट यह बज्र-विन पर्वत का भेदन चाहता।।२१/१३६४।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; ध्यानेन=ध्यान से; विना=रहित; मूढः=मूर्ख; कर्मच्छेदं=कर्म के विनाश को; चिकीर्षति=चाहता है; कुलिशेन=बज्र से; विना=रहित; शैलं=पर्वत को; स्फुटं=प्रकट; एष:=यह; विभित्सति=तोड़ना चाहता है।

अन्वय : य: मूढः ध्यानेन विना कर्मच्छेदं चिकीर्षति एष: स्फुटं कुलिशेन विना शैलं विभित्सति।

वचनिका : जो मूढ ध्यान के विना कर्मों का नाश करना चाहता है; यह प्रकट बज्र के विना पर्वत का छेदन करना चाहता है।।२१/१३६४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुन: पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **ध्यानेन निर्मलेनाऽऽशु हन्यते कर्म-सञ्चय:।**
हुताशनकणेनापि स्नुष्यते* किं न काननम्?।।२२/१३६५।।
पावन ध्यान से शीघ्र कर्म-संचय नष्ट हो।
अग्नि-कणिका से भी क्या कानन नहिं भस्म हो?।।२२/१३६५।।

शब्दश: अर्थ : ध्यानेन=ध्यान द्वारा; निर्मलेन=पवित्र द्वारा; आशु=शीघ्र; हन्यते=नष्ट होता है; कर्म-सञ्चय:=कर्मों का समूह; हुत+अशन-कणेन=अग्नि के कण से; अपि=भी; स्नुष्यते/प्लुष्यते=भस्म हो जाता है; किं=क्या; न=नहीं; काननं=विशाल वन।

अन्वय : निर्मलेन ध्यानेन कर्म-सञ्चय: आशु हन्यते हुताशन-कणेन अपि किं काननं न स्नुष्यते/प्लुष्यते?

वचनिका : निर्मल ध्यान द्वारा कर्मों का समूह शीघ्र नष्ट हो जाता है। अग्नि के कण द्वारा भी क्या विशाल वन भस्म नहीं हो जाता है? होता ही है।।२२/१३६५।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान हेतु जानने-योग्य विषय वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं विधि: फलम्।**
विधेयानि प्रसिद्ध्यन्ति सामग्रीतो विना न हि।।२३/१३६६।।
ध्यान-इच्छुक है ध्याता ध्येय विधि अरु फल समझ।
सामग्री विना सिद्धि नहीं हो कृत-कार्य सत्।।२३/१३६६।।

शब्दश: अर्थ : ध्यानं=ध्यान को; विधित्सता=करने का इच्छुक; ज्ञेयं=जानना चाहिए; ध्याता=ध्यान करनेवाला; ध्येय=ध्यान करने-योग्य वस्तु; विधि:=पद्धति; फलं=परिणाम;

** प्लुष्यते —इति पाठान्तरम्।*

विधेयानि=किए जानेवाले; प्रसिद्ध्यन्ति=विशेष सिद्ध होते हैं; सामग्रीत:=सामग्री से; विना=रहित; न=नहीं; हि=वास्तव में।

अन्वय : ध्यानं विधित्सता ध्याता ध्येयं विधि: फलं ज्ञेयं हि सामग्रीत: विना विधेयानि न प्रसिद्धन्ति।

वचनिका : ध्यान करने का इच्छुक, ध्यान करनेवाला, ध्याता; ध्यान करने-योग्य वस्तु, ध्येय; ध्यान के विधानरूप विधि, ध्यान का फल जानने-योग्य है। वास्तव में सामग्री के विना किए जानेवाले कार्य की प्रकृष्ट सिद्धि नहीं होती है। ध्याता आदि का स्वरूप समझे तो ध्यान की सिद्धि होती है।।२३/१३६६।।

अब, इन छह पद्यों द्वारा ध्याता का स्वरूप स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् :

निसर्ग-मार्दवोपेतो निष्कषायो जितेन्द्रिय:।
निर्ममो निरहङ्कार: पराजित-परीषह:।।२४/१३६७।।
हेयोपादेय-तत्त्वज्ञो लोकाचार-पराङ्मुख:।
विरक्त: काम-भोगेषु भव-भ्रमण-भीलुक:।।२५/१३६८।।
लाभेऽलाभे सुखे दु:खे शत्रौ मित्रे प्रियेऽप्रिये।
मानापमानयोस्तुल्यो मृत्यु-जीवितयोरपि।।२६/१३६९।।
निरालस्यो निरुद्वेगो जितनिद्रो जितासन:।
सर्व-व्रत-कृताभ्यास: सन्तुष्टो निष्परिग्रह:।।२७/१३७०।।
सम्यक्त्वालङ्कृत: शान्तो रम्यारम्यनिरुत्सुक:।
निर्भयो भाक्तिक: श्राद्धो वीरो वैराङ्गिकोऽशठ:।।२८/१३७१।।
निर्निदानो निरापेक्षो विभङ्क्तुर्देह-पञ्जरम्।
भव्य: प्रशस्यते ध्याता यियासु: पदमव्ययम्।।२९।।१३७२।।

स्वाभाविक कोमलता-युत निष्कषाय जितेंद्रिय।
ममता-विन निर्मान परीषह-विजयी सतत।।२४/१३६७।।
हेयोपादेय-तत्त्वज्ञ लौकिक व्यवहार से विमुख।
काम-भोगों में वैरागी भव-भ्रमण से भीत-युत।।२५/१३६८।।
हानि-लाभ सुख-दु:ख शत्रु-मित्र अनिष्ट-प्रिय।
जन्म-मरण मानापमान में सम वृत्ति चित्त युत।।२६/१३६९।।
आलस रहित अनुत्तेजित निद्रा-जयी जितासनी।
सभी व्रतों का अभ्यासी संतोषी अपरिग्रही।।२७/१३७०।।

सम्यक्त्व-शोभित शांत रम्यारम्य अनुत्सुकी।
निर्भय भक्त श्रद्धावान वीर विज्ञ विराग भी।।२८/१३७१।।
निदान-विन अपेक्षा-विन अशरीरी की वांक्षकी।
अक्षय-पद-लाभार्थी भव्य ध्याता प्रशस्य ही।।२९/१३७२।।

शब्दश: अर्थ : निसर्ग-मार्दव+उपेत:=स्वभाव से ही कोमलता-सहित; नि:-कषाय:=कषाय की तीव्रता से रहित; जितेन्द्रिय:=इंद्रियों का विजेता; नि:-मम:=पर-पदार्थों में ममकार-रहित; नि:-अहङ्कार:=घमंड-रहित; पराजित-परीषह:=क्षुधादि परिषहों को जीतनेवाला।

हेय+उपादेय-तत्त्वज्ञ:=छोड़ने-योग्य और ग्रहण करने-योग्य तत्त्वों को जाननेवाला; लोक+आचार-पराङ्मुख:=लौकिक-व्यावहारिक कार्यों से विमुख रहनेवाला; विरक्त:-काम - भोगेषु=विषय-भोगों में उदास; भव-भ्रमण-भीलुक:=संसार के परिभ्रमण से भय-भीत।

लाभे=लाभ में; अलाभे=हानि में; सुखे=अनुकूलता में; दु:खे=प्रतिकूलता में; शत्रौ=शत्रु में; मित्रे=मित्र में; प्रिये=इष्ट में; अप्रिये=अनिष्ट में; मान+अपमानयो:=सम्मान-तिरष्कार में; तुल्य:=समान; मृत्यु-जीवितयो:=मरण-जीवन में।

नि:+आलस्य:=आलस से रहित; नि:+उद्वेग:=उत्तेजना से रहित; जित-निद्र:=नींद को जीतनेवाला; जित+आसन:=आसन-बाँधने में हलन-चलन से रहित/स्थिर आसनवाला; सर्व-व्रत-कृत+अभ्यास:=अहिंसादि सभी व्रतों का अभ्यास करनेवाला; सन्तुष्ट:=संतोष-सहित प्रसन्न-चित्त; नि:-परिग्रह:=परिग्रह-रहित।

सम्यक्त्व+अलङ्कृत:=सम्यक्त्व से शोभित; शान्त:=शांत-परिणामी; रम्य+अरम्य-नि:+उत्सुक:=मन को अच्छे लगनेवाले और अच्छे नहीं लगनेवाले पदार्थों में उत्साह से रहित; नि:-भय:=भय से रहित; भाक्तिक:=भक्ति-संपन्न/भक्त; श्राद्ध:=श्रद्धावान; वीर:=कर्म-बैरी को जीतने के लिए सुभट; वै:+अङ्गिक:=वैराग्य वृत्ति-संपन्न; अशठ:=विद्वान।

नि:-निदान:=आगामी चाह से रहित; नि:+आ+अपेक्ष:=अपेक्षाओं से रहित; विभङ्क्षु:-देह-पञ्जरं=शरीररूपी पिंजरे का भेदन करने का इच्छुक; भव्य:=मोक्ष जाने की योग्यतावाला; प्रशस्यते=प्रशंसा के योग्य है; ध्याता=ध्यान करनेवाला; यियासु:=जाने/प्राप्त करने का इच्छुक; पदं=दशा को; अव्ययं=अक्षय को।

अन्वय : तीसरे/२६वें छंद में 'तुल्य:' को अंत में लेना है। अंतिम छठवें/२९वें छंद में अंत में 'ध्याता प्रशस्यते' लेना है। शेष यथावत् अन्वय में है।

वचनिका : स्वभाव से ही कोमल परिणाम-युक्त, कषाय की तीव्रता से रहित, इंद्रियों को

जीतनेवाला; पर-द्रव्यों में ममकार/ये मेरे हैं—ऐसी बुद्धि से रहित, पर-पदार्थ मैं ही हूँ—ऐसी बुद्धिरूपी अहंकार से रहित, क्षुधादि परिषहों को जीतनेवाला; त्यागने-योग्य और ग्रहण करने-योग्य तत्त्वों का ज्ञाता, लौकिक-व्यवहार निभाने से विमुख, काम-भोगों में विरक्त, संसार-भ्रमण से भय-भीत; लाभ-हानि, सुख-दु:ख, शत्रु-मित्र, प्रिय-अप्रिय, मान-अपमान, मरण-जीवन में समान-वृत्ति अर्थात् सभी को ज्ञेयरूप में मात्र समान भाव से जाननेवाला, उनमें इष्ट-अनिष्ट बुद्धि नहीं करनेवाला; आलस से रहित, उद्वेग-रहित, निद्रा-विजयी, आसन-विजयी, अहिंसादि सभी व्रतों का अभ्यास करनेवाला, संतोष-सहित प्रसन्न-चित्ती, परिग्रह से रहित; सम्यग्दर्शन से शोभित, शांत-परिणामी, मनोरम-अमनोरम पदार्थों में उत्साह-रहित; निर्भय, देव-गुरु-धर्म में भक्ति-युत, श्रद्धावान, कर्म-बैरी को जीतने के लिए सुभट, वैरागी, ज्ञानी; आगामी वांक्षा-रहित, किसी से कोई अपेक्षा नहीं रखनेवाला, शरीररूपी पिँजरे को भेदने का इच्छुक, भव्य, अविनाशी स्थान को जाने का इच्छुक ध्याता प्रशंसा के योग्य है।।२४-२९/१३६७/१३७२।।

इसप्रकार ध्याता का स्वरूप-प्रतिपादक प्रकरण समाप्त हुआ।

आगे सत्ताईस पद्यों द्वारा ध्येय का प्रतिपादन है।

उनमें से सर्व-प्रथम इस पद्य द्वारा ध्येय के भेद वर्णित हैं—

अनुष्टुभ् : **ध्येयं पदस्थ-पिण्डस्थ-रूपस्थारूपभेदत:।**
ध्यानस्यालम्बनं प्राज्ञैश्चतुर्विधमुदाहृतम्।।३०/१३७३।।

पदस्थ पिंडस्थ रूपस्थ रूपातीत भेद से।
विज्ञ चार कहे भेद ध्यान-आश्रय ध्येय के।।३०/१३७३।।

शब्दश: अर्थ : ध्येयं=ध्यान का विषय; पदस्थ-पिण्डस्थ-रूपस्थ-अरूप-भेदत:=पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, रूपातीत भेद से; ध्यानस्य=ध्यान का; आलम्बनं=आश्रय; प्राज्ञै:=ज्ञानिओं द्वारा; चतु:-विधं=चार प्रकार; उदाहृतं=कहा है।

अन्वय : ध्यानस्य आलम्बनं ध्येयं पदस्थ-पिण्डस्थ-रूपस्थ-अरूप-भेदत: चतु: विधं प्राज्ञै: उदाहृतम्।

वचनिका : ध्यान के आलंबन अर्थात् ध्यान में चिंतन-योग्य ध्येय पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ, अरूप/रूपातीत—इन भेदों से चार प्रकारवाला; ज्ञानिओं द्वारा कहा गया है।।३०/१३७३।।

अब, इस पद्य द्वारा पदस्थ का स्वरूप प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **यानि पञ्च-नमस्कार-पदादीनि मनीषिणा।**
पदस्थं ध्यातुकामेन तानि ध्येयानि तत्त्वत:।।३१/१३७४।।

पंच नमस्कार पद आदि जो हैं वे पदस्थ के।
ध्यान-इच्छुक ज्ञानी से वास्तव में ध्येय हैं।।३१/१३७४।।

शब्दश: अर्थ : यानि=जो; पञ्च-नमस्कार-पद+आदीनि=पंच नमस्कार पद आदि; मनीषिणा=बुद्धिमान द्वारा; पदस्थं=पदस्थ को; ध्यातु-कामेन=ध्याने के इच्छुक द्वारा; तानि=वे; ध्येयानि=ध्यान के योग्य हैं; तत्त्वत:=वास्तव में।

अन्वय : यानि पञ्च-नमस्कार-पद-आदीनि तानि पदस्थं ध्यातु-कामेन मनीषिणा तत्त्वत: ध्येयानि।

वचनिका : पंच नमस्कार पद आदि अक्षरों के समूहरूप जो पद हैं; वे पदस्थ को ध्याने के इच्छुक बुद्धिमान द्वारा वास्तव में ध्याने-योग्य हैं।

भावार्थ : पदस्थ में पंच नमस्कार-मंत्र आदि पदों का ध्यान होता है।।३१/१३७४।।

अब, सत्रह पद्यों द्वारा मंत्रों का विधान कहते हैं—

अनुष्टुभ् : **मरुत्सखशिखो वर्णो भूतान्त: शशिशेखर:।**
आद्यलघ्वादिको ज्ञात्वा ध्यातु: पापं निषूदते।।३२/१३७५।।
स्थितोऽसि आ उ सा मन्त्रश्चतुष्पत्रे कुशेशये।
ध्यायमान: प्रयत्नेन कर्मोन्मूलयतेऽखिलम्।।३३/१३७६।।
तन्नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितम्।
गुरुप्रसादतो बुद्ध्वो चिन्तनीयं कुशेशयम्।।३४/१३७७।।
***अयुयवित्यमी वर्णा: स्थिता: पद्मे चतुर्दले।**
विश्राणयन्ति पञ्चापि सम्यग्ज्ञानानि चिन्तिता:।।३५/१३७८।।
स्थित- पञ्च- नमस्कार- रत्नत्रय-पदैर्दलै:।
अष्टभि: कलिते पद्मे स्वर-केसर-राजिते।।३६/१३७९।।
स्थितोऽर्हमित्ययं मन्त्रो ध्यायमानो विधानत:।
ददाति चिन्तितां लक्ष्मीं कल्पवृक्ष इवोर्जिताम्।।३७/१३८०।।

आर्या : **हसतीं कारस्तोम: सोऽहं मध्यस्थितो विगतमूर्धा।**
पार्श्वप्रणवचतुष्को ध्येयो द्विप्रान्तकृतमाय:।।३८।।१३८१।।

अनुष्टुभ् : **सहस्रा द्वादश प्रोक्ता जप-होम-विचक्षणै:।**
ॐ जोगेत्यादि-मन्त्रस्य तद्भागो दशम: पुन:।।३९/१३८२।।

ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा। अयं मन्त्र:, जाप्यं द्वादशसहस्रं १२०००, होम: द्वादशशतं/१२००।

** अ इ उ म उ —इति पाठान्तरम्।*

अनुष्टुभ् : चक्रस्योपरि जापेन जाती–पुष्पैर्मनोरमैः।
विद्या सूचयते सम्यक् स्वप्ने सर्वं शुभाशुभम्।।४०/१३८३।।
ॐ ह्रीं कारद्वयान्तस्थो हङ्कारो रेफभूषितः।
ध्यातव्योऽष्टदले पद्मे कल्मष–क्षपण–क्षमः।।४१/१३८४।।
सप्ताक्षरं महा–मन्त्रं ॐ ह्रीं कार–पदानतम्।
विदिग्दलगतं तत्र स्वाहान्तं विनिवेशयेत्।।४२/१३८५।।
दिशिस्वाहान्तमों ह्रीं हँ[१] नमो ह्रीं[२] हँ पदोत्तमम्।
तत्र स्वाहान्तमों ह्रीं हँ कर्णिकायां विनिक्षिपेत्[३]।।४३/१३८६।।
तत्पद्मं त्रिगुणी–भूतं माया–बीजेन वेष्टयेत्।
विचिन्तयेच्छुचीभूतः स्वेष्ट–कृत्य–प्रसिद्धये।।४४/१३८७।।
पद्मस्योपरि यत्नेन हेयोपादेय–लब्धये।
मन्त्रेणानेन कर्तव्यो जपः पूर्व–विधानतः।।४५/१३८८।।

[४]ॐ ह्रीं हँ नमो हँ णमो अरहंताणं ह्रीं नमः इति मूलमन्त्रः। जाप्य १००००, होमः १०००।

सव्येनाप्रतिचक्रेण फडिति प्रत्येकमक्षरम्।
कोणषट्के विचक्राय स्वाहा बाह्येऽपसव्यतः।।४६/१३८९।।
निविश्य विधिना दक्षो मध्ये तस्य निवेशयेत्।
भूतान्तं विन्दुसंयुक्तं चिन्तयेच्च विशुद्धधीः।।४७/१३९०।।
विधाय वलयं बाह्ये तस्य मध्ये विधानतः।
णमो जिणाणमित्याद्यैः पूरयेत्प्रणवादिकैः।।४८/१३९१।।

१. ॐ णमो जिणाणं; २. ॐ णमो परमोधिजिणाणं; ३. ॐ णमो सव्वोधिजिणाणं; ४. ॐ णमो अणंतोधिजिणाणं; ५. ॐ णमो कोट्ठबुद्धीणं; ६. ॐ णमो वीजबुद्धीणं; ७. ॐ णमो पादानुसारीणं; ८. ॐ णमो सम्भिन्नसोदराणं; ९. ॐ णमो उज्जुमदीणं; १०. ॐ णमो विउलमदीणं; ११. ॐ णमो दसपुव्वीणं; १२. ॐ णमो चोद्दसपुव्वीणं; १३. ॐ णमो अट्ठंगणिमित्तकुसलाणं; १४. ॐ णमो विगुव्वणइट्ठिपत्ताणं; १५. ॐ णमो विज्जाहराणं;

---

१. हु। २. ह्रौ। ३. दूसरी संस्कृत प्रति में यह पद्य इसप्रकार है—
दिशि स्वाहान्तमों ह्रीं ह्राँ नमो ह्रीँ हँ पदोत्तमम्।
तत्र स्वाहा नमो ह्रीँ हँ कर्णिकायां विनिक्षिपेत्।।
४. ॐ ह्रीँ णमो अरहंताणं नमः।

१६. ॐ णमो चारणाणं; १७. ॐ णमो पण्णसमणाणं; १८. ॐ णमो आगासगामीणं; ॐ ज्रौं झ्रौं श्री–ह्री–धृति–कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्मी स्वाहा इति पदैर्वलयं पूरयेत्। एवं पञ्चनमस्कारेण पञ्चाङ्गुलिन्यस्तेन सकली क्रियते; ॐ णमो अरहंताणं ह्रां स्वाहा अङ्गुष्ठे; ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीँ स्वाहा तर्जन्यां, ॐ णमो आयरियाणं ह्रूं स्वाहा मध्यमायां; ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौँ स्वाहा अनामिकायां, ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः स्वाहा कनिष्ठिकायां; एवं वारत्रयमङ्गुलीषु विन्यस्य मस्तकस्योपरि पूर्वदक्षिणापरोत्तरेषु विन्यस्य जपं कुर्यात्।

अग्नि–शिखा र चंद्र विंदु–युत ह आदि भी।
अर्हँ समझ ध्याता होते पाप नष्ट ही।।३२/१३७५।।
कमल चार पत्रों में स्थित अ सि आ उ सा।
प्रयत्न पूर्वक ध्याता के सब कर्मों का क्षय सदा।।३३/१३७६।।
उसकी नाभि उर मुख में ललाट मस्तक में रहे।
कमल को गुरु–माध्यम से समझ चिंतन योग्य है।।३४/१३७७।।
चार दल कमल–स्थित अ इ उ ए र्ह वर्ण।
चिंतित पाँच सम्यग्ज्ञान पाने के होते करण।।३५/१३७८।।
पंच नवकार रत्नत्रय पद स्थित दल आठ से।
सहित केशर पर शोभित स्वर संयुक्त पद्म में।।३६/१३७९।।
स्थित अर्हं यह मंत्र विधि पूर्वक ध्याया हुआ।
कल्प–तरु–वत् भव्य चिंतित लक्ष्मी दे सदा।।३७/१३८०।।
ह ईकार युत सोऽहं (वह मैं) मध्य स्थित मूर्धा–रहित।
पार्श्व पर चार प्रणव ध्येय प्रांत में दो माया रख।।३८/१३८१।।
ॐ जोग... इत्यादि मंत्र का बारह हजार जप।
होम बारह सौ करना कहते हैं प्रवीण जन।।३९/१३८२।।
सुंदर जाती पुष्पों से चक्र ऊपर जाप से।
विद्या सब शुभाशुभ को स्वप्न में सूचित करे।।४०/१३८३।।
ॐ ह्रीँ दोनों के अंतस्थ रेफ–भूषित अहंकार।
अष्ट दल पद्म में ध्याने–योग्य करता पाप क्षय।।४१/१३८४।।
सप्ताक्षरी महा मंत्र ॐ ह्रीँकार पद सहित।
विदिशाओं के पत्रों पर स्वाहांत रखना उचित।।४२/१३८५।।

दिशा में आदि ॐ स्वाहा अंत ह्रीँ हूँ ह्रौं ह्रः।
ऊ ह्रीँ अर्हं स्वाहा कर्णिका में रख सदा।।४३/१३८६।।
तिगुनी भूत माया बीज से वेष्टित वह कमल।
अपनी इष्ट-सिद्धि को चिंतन करो पवित्र बन।।४४/१३८७।।
हेयोपादेय पाने को पद्म ऊपर यत्न से।
इस मंत्र से जप करना पहले कहे विधान से।।४५/१३८८।।
बाएं से षट् कोनों में अप्रतिचक्रेण फट्।
लिख अंदर विचक्राय स्वाहा बाहर दक्षिण।।४६/१३८९।।
विधि से रख उसके मध्य ह बिंदु रेफ युक्त को।
रखकर विशुद्ध-धी दक्ष उसका चिंतवन करो।।४७/१३९०।।
वलय बना बाहर में उसके मध्य विधान से।
णमो जिणाणं इत्यादि प्रणवादि से भरे।।४८/१३९१।।

शब्दश: अर्थ : मरुत्-सुख-शिख:=अग्नि की शिखा; वर्ण:=रेफ अक्षर; भूत+अन्त:=भूतों में अंतिम अक्षर ह; शशि-शेखर:=चंद्र-बिंदु; आद्य-लघु+आदिक:=पहला लघु आदि अ अक्षर; ज्ञात्वा=जानकर; ध्यातु:=ध्यान करनेवाले का; पापं=पाप; निषूदते=नष्ट हो जाता है।

स्थित:=स्थित/विराजमान; अ-सि-आ-उ-सा मन्त्र:=पंच-परमेष्ठी वाचक मंत्र; चतु:-पत्रे=चार पत्र में; कुशेशये=कमल में; ध्यायमान:=ध्याया गया; प्रयत्नेन=प्रयत्न पूर्वक; कर्म+उन्मूलयते=कर्मों को नष्ट करता है; अखिलं=सभी को।

तत्=उसके; नाभौ=नाभि में; हृदये=हृदय में; वक्त्रे=मुख में; ललाटे=ललाट में; मस्तके=मस्तक में; स्थितं=रहनेवाले को; गुरु-प्रसादत:=गुरु के प्रसाद से; बुद्ध्वा=जानकर; चिन्तनीयं=चिंतन करना चाहिए; कुशेशयं=कमल को।

अ-इ-उ-य-उ-इति=अ, इ, उ, य, उ—इसप्रकार; अमी=ये; वर्णा:=अक्षर; स्थिता:=रखे गए; पद्मे=कमल में; चतु:-दले=चार पत्तेवाले में; विश्राणयन्ति=प्राप्त होते हैं; पञ्च=पाँच; अपि=भी; सम्यग्ज्ञानानि=सम्यग्ज्ञान; चिन्तिता:=चाहे हुए।

स्थित-पञ्च-नमस्कार-रत्नत्रय-पदै:=पंच नमस्कार और रत्नत्रय स्थित पदों से; दलै:=पत्तों से; अष्टभि:=आठों से; कलिते=सहित में; पद्मे=कमल में; स्वर-केशर-राजिते=स्वररूपी केशर से सुशोभित में।

स्थित:=विराजमान किया; अर्हं=अर्हं नामक; इति=ऐसा; अयं=यह; मन्त्र:=मंत्र;

ध्यायमान:=ध्याया हुआ; विधानत:=विधि पूर्वक; ददाति=देता है; चिन्तितां=इच्छित को; लक्ष्मीं=वैभव को; कल्प-वृक्ष:=कल्प-तरु; इव=समान; ऊर्जितां=दिव्य को।

ह-सत्-ईंकारस्तोम:=ईंकार-सहित विद्यमान हकार का समूह; स:+अहं=वह मैं; मध्य-स्थित:=बीच में स्थित; विगत-मूर्धा=ऊपरी भाग से रहित; पार्श्व-प्रणव-चतुष्क:= किनारों पर चार प्रणव/ॐ-सहित; ध्येय:=ध्याने-योग्य; द्वि-प्र+अन्त-कृत-माय:=दो बार प्रकृष्टरूप से माया का अंत करनेवाले द्वारा।

सहस्रा=हजार; द्वादश=बारह; प्रोक्ता:=कहा है; जप-होम-विचक्षणै:=जप और होम में प्रवीणों द्वारा; ॐ जोग+इत्यादि-मन्त्रस्य=‘ॐ जोग’ इत्यादि मंत्र का; तद्भाग:=उसका अंश; दशम:=दशवाँ; पुन:=फिर/और।

‘ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा।’—यह मंत्र है। इसका बारह हजार जाप और बारह सौ होम करने-योग्य है।

चक्रस्य=चक्र का; उपरि=ऊपर; जापेन=जाप से; जाती-पुष्पै:=जाती के पुष्पों द्वारा; मन:-रमै:=मन को रमानेवाले द्वारा; विद्या=ज्ञान; सूचयते=सूचित होता है; सम्यक्=भली-भाँति; स्वप्ने=स्वप्न में; सर्वं=सभी; शुभ+अशुभं=शुभ और अशुभ को।

ॐ ह्रींकार-द्वय+अन्तस्थ:=दोनों के अंत में स्थित-सहित ॐ और ह्रीं; हंकार:= हंकार; रेफ-भूषित:=रेफ से सुशोभित; ध्यातव्य:=ध्याने-योग्य; अष्ट-दले=आठ दलवाले में; पद्मे=कमल में; कल्मष-क्षपण-क्षम:=पाप का क्षय करने में समर्थ।

सप्त+अक्षरं=सात अक्षरवाला; महा-मन्त्रं=विशाल मंत्र; ॐ-ह्रीँ-कार-पद+आनतं =ॐकार, ह्रींकार पद से सहित; विदिक्-दल-गतं=विदिशाओंवाले पत्र; तत्र=वहाँ; स्वाहान्तं=‘स्वाहान्तं’—यह बीजाक्षर; विनिवेशयेत्=स्थापित करना चाहिए।

दिशि=दिशा में; स्वाहान्तमों ह्रीँ हँ नमो ह्रीँ हँ पद+उत्तमं=ये उत्तम पद; तत्र=वहाँ; स्वाहान्तमों ह्रीँ हँ=ये बीजाक्षर; कर्णिकायां=गाँठ में; विनिक्षिपेत्=रखना चाहिए।

तत्=उस; पद्मं=कमल को; त्रिगुणीभूत-माया-वीजेन=तीन गुने हुए माया बीज से; वेष्टयेत्=वेष्टित करना चाहिए; विचिन्तयेत्=चिंतन करना चाहिए; शुचीभूत:=पवित्र हो; स्व+इष्ट-कृत्य-प्रसिद्धये=अपने इच्छित करने-योग्य की प्रसिद्धि के लिए।

पद्मस्य=कमल का; उपरि=ऊपर; यत्नेन=प्रयास पूर्वक; हेय+उपादेय-लब्धये=हेय और उपादेय की प्राप्ति के लिए; मन्त्रेण=मंत्र द्वारा; अनेन=इस द्वारा; कर्तव्य:=करना चाहिए; जप:=जप; पूर्व-विधानत:=पहले कही हुई विधि से।

'ॐ ह्रीँ हँ नम: हँ णमो अरहंताणं ह्रीं नम:'—यह मूल मंत्र है। इसका जाप, दश हजार और होम, एक हजार करने-योग्य है।

सव्येन=बाएं से; अप्रतिचक्रेण फट्=इन अक्षरोंवाले बीजाक्षर; इति=इसप्रकार; प्रत्येक=पृथक् एक को; अक्षरं=अक्षर को; कोण-षट्के=छह कोनों में; विचक्राय स्वाहा=इन अक्षरोंवाले बीजाक्षर स्वाहा; बाह्ये=बाहर में; अपसव्यत:=दाहिने से।

निवेश्य=रखकर; विधिना=विधि पूर्वक; दक्ष:=प्रवीण; मध्ये=मध्य में; तस्य=उसका; निवेशयेत्=स्थापित करे; भूत+अन्तं=भूतांत को; विन्दु-संयुक्तं=विंदु से सहित को; चिन्तयेत्= चिंतन करे; च=और; विशुद्ध-धी:=विशुद्ध बुद्धिवाला।

विधाय=बनाकर; वलयं=गोलाकार को; बाह्ये=बाहर में; तस्य=उसका; मध्ये=बीच में; विधानत:=विधि पूर्वक; णमो जिणाणं-इति=जिनेंद्र भगवान को नमस्कार—इसप्रकार; आद्यै:=प्रारंभिक से; पूरयेत्=भर दे; प्रणव+आदिकै:=प्रणव आदि से।

१. ॐ णमो जिणाणं=ॐ जिनेंद्र भगवान को नमन है।
२. ॐ णमो परमोधि-जिणाणं=ॐ परमावधि जिन के लिए नमन है।
३. ॐ णमो सव्वोधि-जिणाणं=ॐ सर्वावधि जिन के लिए नमन है।
४. ॐ णमो अणंतोधि-जिणाणं=ॐ अनंतावधि जिन के लिए नमन है।
५. ॐ णमो कोट्ठबुद्धीणं=ॐ कोष्ठ-बुद्धिओं के लिए नमन है।
६. ॐ णमो वीज-बुद्धीणं=ॐ बीज-बुद्धिओं के लिए नमन है।
७. ॐ णमो पादानुसारीणं=ॐ पादानुसारिओं के लिए नमन है।
८. ॐ णमो संभिन्न-सोदराणं=ॐ संभिन्न संश्रोतृत्व के लिए नमन है।
९. ॐ णमो उज्जुमदीणं=ॐ ऋजुमति मन:पर्यय-ज्ञानिओं के लिए नमन है।
१०. ॐ णमो विउलमदीणं=विपुलमति मन:पर्यय-ज्ञानिओं के लिए नमन है।
११. ॐ णमो दसपुव्वीणं=ॐ दशपूर्विओं के लिए नमन है।
१२. ॐ णमो चोद्दस-पुव्वीणं=ॐ चौदह पूर्विओं के लिए नमन है।
१३. ॐ णमो अट्ठंगणिमित्त-कुसलाणं=ॐ अष्टांग-निमित्त-कुशलों के लिए नमन है।
१४. ॐ णमो विगुव्वण-इड्ढि-पत्ताणं=ॐ वैगूर्वण/विक्रिया ऋद्धि को प्राप्तवालों के लिए नमन है।
१५. ॐ णमो विज्जाहराणं=ॐ विद्या-धारण करनेवालों के लिए नमन है।
१६. ॐ णमो चारणाणं=ॐ चारण ऋद्धि-धारिओं के लिए नमन है।

१७. ॐ णमो पण्णसमणाणं=ॐ प्रज्ञा-श्रमणों के लिए नमन है।
१८. ॐ णमो आगास-गामीणं=ॐ आकाश-गामिओं के लिए नमन है।
ॐ ज्रौं झ्रौं श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी स्वाहा-इति=इसप्रकार/इन; पदै:=पदों द्वारा; वलयं=वलय को; पूरयेत्=भरे। एवं=इसप्रकार; पञ्च-नमस्कारेण=पंच परमेष्ठी को नमस्कार द्वारा; पञ्च+अङ्गुली-न्यस्तेन=पाँच अंगुलिओं में स्थापन द्वारा; सकली-क्रियते= सकली क्रिया की जाती है। ॐ णमो अरहंताणं ह्राँ स्वाहा अङ्गुष्ठे=अँगूठे में स्थापित कर ॐ अरहंतों को नमस्कार है, ह्राँ स्वाहा; ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीँ स्वाहा तर्जन्यां=तर्जनी में स्थापितकर ॐ सिद्धों को नमस्कार है, ह्रीँ स्वाहा; ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ स्वाहा मध्यमायां= मध्यमा में स्थापितकर ॐ आचार्यों को नमस्कार है, ह्रूँ स्वाहा; ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौँ स्वाहा अनामिकायां=अनामिका में स्थापितकर ॐ उपाध्यायों को नमस्कार है, ह्रौँ स्वाहा; ॐ णमो लोए सव्व-साहूणं ह्र: स्वाहा। कनिष्ठिकायां=कनिष्ठिका में स्थापितकर ॐ लोक में सभी साधुओं को नमस्कार है ह्र: स्वाहा।

एवं=इसप्रकार; वार-त्रयं=तीन बार; अङ्गुलीषु=अंगुलिओं में; विन्यस्य=स्थापित कर; मस्तकस्य=मस्तक का; उपरि=ऊपर; पूर्व-दक्षिण+अपर+उत्तरेषु=पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर में; विन्यस्य=स्थापितकर; जपं=जप को; कुर्यात्=करो।

अन्वय : पहला/४०वाँ पद्य अन्वय में है।

चतु:-पत्रे कुशेशये स्थित: प्रयत्नेन ध्यायमान: अ-सि-आ-उ-सा-मन्त्र: अखिलं कर्म उन्मूलयते। नाभौ हृदये वक्त्रे ललाटे मस्तके स्थितं तत् कुशेशयं गुरु-प्रसादत: बुद्ध्वा चिन्तनीयम्। चतु:-दले पद्मे स्थिता: चिन्तिता: अ-इ-उ-ए इति अमी वर्णा: पञ्च-अपि सम्यग्ज्ञानानि विश्राणयन्ति। अष्टभि: दलै: स्थित-पञ्च-नमस्कार-रत्नत्रय-पदै: कलिते स्वर-केसर-राजिते पद्मे स्थित: विधानत: ध्यायमान: अर्हं इति अयं मन्त्र: कल्प-वृक्ष: इव चिन्तितां ऊर्जितां लक्ष्मीं ददाति। हसतींकारस्तोम: विगत-मूर्धा पार्श्व-प्रणव-चतुष्क: मध्य-स्थित: 'स: अहं' द्विप्रान्तकृत-माय: ध्येय:।

जप-होम-विचक्षणै: 'ॐ जोग...' इत्यादि-मन्त्रस्य द्वादश-सहस्रा पुन: तत् दशम: भाग: प्रोक्ता। मनोरमै: जाती-पुष्पै: चक्रस्य उपरि जापेन विद्या सम्यक्-स्वप्ने सर्वं शुभाशुभं सूचयते। कल्मष-क्षपण-क्षम: रेफ-भूषित: ॐ-ह्रीँकार-द्वय-अन्तस्थ: 'हं' कार: अष्ट-दले पद्मे ध्यातव्य:। स्व-इष्ट-कृत्य-प्रसिद्धये शुचीभूत: ॐ.... वेष्टयेत् सप्त-अक्षरं महा-मन्त्रं विचिन्तयेत्। हेय-उपादेय-लब्धये पूर्व-विधानत: यत्नेन पद्मस्य उपरि अनेन मन्त्रेण जप: कर्तव्य:।

सव्येन अप्रतिचक्रेण फट् इति प्रत्येकं अक्षरं कोणषट्के बाह्ये अपसव्यत: कोण-षट्के विचक्राय स्वाहा। विधिना निविश्य तस्य मध्ये निवेशयेत् च विशुद्ध-धी: दक्ष: विन्दु-संयुक्तं भूत-अन्तं चिन्तयेत्। बाह्ये वलयं विधाय तस्य मध्ये विधानत: 'णमो जिणाणं' इत्याद्यै: प्रणव-आदिकै: पूरयेत्।

वचनिका : यहाँ पर्यंत यह मंत्र-विधान, यंत्र-रचना, क्रिया-विशेष आदि का वर्णन किया। हमें (पंडित भागचंद्रजी को) इसका संपूर्ण यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं हुआ है; अत: हमने उसे नहीं लिखा है। मंत्र-शास्त्र के ज्ञाता, विशेष बुद्धिमान इसका यथार्थ अर्थ समझ लीजिए।

अनुवादिका की ओर से इनका सामान्य अर्थ प्रस्तुत है —

अपने ऊपर अग्नि शिखा-वाचक रेफ या रकार-युक्त सभी का अंतिम वर्ण ह चंद्र विंदु-युक्त पहले लघु अ आदि अक्षर से सहित अर्हं जानकर ध्याने से पाप नष्ट हो जाता है।

कर्णिका-युक्त कमल के चार पत्र पर स्थित, प्रयत्न पूर्वक ध्याया हुआ अ सि आ उ सा मंत्र संपूर्ण कर्मों का उन्मूलन करता है। इसका यंत्राकार इसप्रकार है —

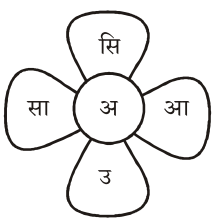

नाभि, हृदय, मुख, ललाट, मस्तक में स्थित उस कमल को गुरु के प्रसाद से जानकर चिंतन करने-योग्य है।

चार पत्रवाले कमल में स्थित चिंतित 'अ, इ, उ, ए' —इसप्रकार ये वर्ण, पाँचों ही सम्यग्ज्ञान प्रदान करते हैं। इसका यंत्राकार इसप्रकार है —

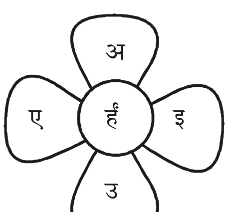

आठ पत्रों में स्थित पंच-नमस्कार और रत्नत्रय-पद से सहित, स्वर-केशर से शोभित अर्थात् कर्णिका के केशर पर सोलह स्वर-युक्त कमल में विराजमान विधि पूर्वक ध्याया हुआ 'अर्हं' —ऐसा यह मंत्र कल्प-वृक्ष के समान चिंतित दिव्य-लक्ष्मी देता है। इसका यंत्राकार इसप्रकार है —

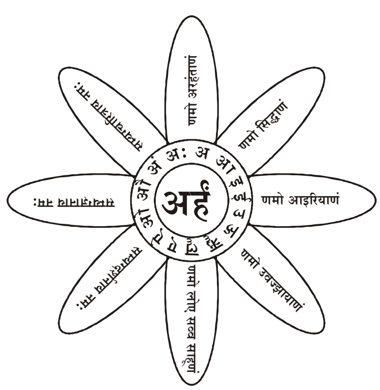

ह पर विद्यमान ईकार का समूह, पार्श्व में चार प्रणव/ ॐ, मध्य-स्थित 'स: ह:' प्रांत भाग में दो माया/ह्रीं से सहित, प्रमाद से रहित हो ध्येय है। इसका यंत्राकार इसप्रकार है —

इसका भाव मुझे समझ में नहीं आया है। इस संदर्भ में 'श्रावकाचार संग्रह भाग एक' में लिखित, अनुवादक-

संपादक 'पण्डित हीरालाल सिद्धान्तालंकार, न्यायतीर्थ' का इस प्रकरण संबंधी विशेषार्थ अत्युपयोगी समझकर यहाँ प्रस्तुत है—

विशेषार्थ : श्री दिगंबराचार्य शुभचंद्रकृत ज्ञानार्णव में तथा श्वेताम्बराचार्य हेमचंद्रकृत योग-शास्त्र में इस श्लोक के अर्थ-परक बहुत कुछ समतावाले श्लोक मिलते हैं, जो कि नीचे टिप्पणी* में दिए गए हैं। इन दोनों में परस्पर बहुत कुछ समानता होने पर भी मध्यवर्ती 'ह्लीं' पद योग-शास्त्र में अधिक मिलता है। मराठी अनुवादवाले प्रस्तुत ग्रंथ में भी इस श्लोक का अर्थ नहीं लिखा है। केवल इतना लिखा है कि इस प्रकार से इस मंत्र का ध्यान करें —

ॐ		ॐ
	ह्रीं सः क्ष्मीं हः ह्रीं	
ॐ		ॐ

ह्रीँ	ॐ	ह्मलीं	ॐ	ह्रीँ
सः				हः
ॐ				ॐ

योग-शास्त्र के गुजराती अनुवाद में लिखा है कि 'ह्रीँ ओँ औं सः ह्मलीँ हं ओँ औं ह्रीं'-इस प्रमाण चिंतवन करे। मुद्रित एवं वि.सं. १८७८ के हस्त-लिखित ऐ.प.दि. जैन सरस्वती भवन के ज्ञानार्णव में 'ह्रीं ॐ ॐ सः ह्रीं हं सः'-ऐसे मंत्र को लिखा है; परंतु 'प्रणवयुगलस्य युग्मं' पद का अर्थ चार ओंकार होता है; अतः तदनुसार 'ह्रीं ॐ ॐ सः हं ॐ ॐ ह्रीं'—ऐसा मंत्र होना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक के प्रथम चरण 'हसतीङ्कारस्तोमः' का स्पष्ट भाव मुझे भी समझ में नहीं आया है। फिर भी यह पद मराठी अनुवाद-सहित मुद्रित चित्र-गत 'क्ष्मीं' या योग-शास्त्र के श्लोक के चतुर्थ चरण-गत ह्मलीं पद-विशेष का द्योतक प्रतीत होता है। मंत्र-शासन/शास्त्र के वेत्ता-जनों से विनम्रता पूर्वक निवेदन है कि वे इसका ठीक भाव समझकर ही मंत्र का जाप करें।

जप और होम में प्रवीण व्यक्तिओं द्वारा 'ॐ जोग्गे...' इत्यादि मंत्र का जाप, बारह हजार और होम, उसका दशवाँ भाग बारह सौ कहा है।

इसका पूर्ण मंत्र इसप्रकार है —

ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारस्से स्वाहा।

मन को रमानेवाले/अति सुंदर जाती/मालती-पुष्पों द्वारा नाभि, हृदय और मस्तक पर

---

* प्रणवयुगलस्य युग्मं पार्श्वे मायायुगं विचिन्तयति।
मूर्धस्थं हंस-पदं कृत्वा व्यस्तं वितन्तद्रात्मा।। ज्ञानार्णव, प्रकरण २८, श्लोक ८९।।
द्विपार्श्व-प्रणवद्वन्द्वं प्रान्तयोर्मायया वृत्तम्।
सोऽहं मध्येऽधिमूर्धानं ह्मलीकारं विचिन्तयेत्।। योग-शास्त्र, प्रकाश ८, श्लोक ६३।।

कमल-चक्र के ऊपर जाप से विद्या सम्यक् स्वप्न में सभी शुभाशुभ सूचित करती है।

पाप के क्षय में समर्थ, रेफ से भूषित 'ॐ ह्रींकार'-इन दोनों के अंतस्थ 'अहं' रेफ-युक्त अर्थात् 'अर्हं'; आठ पत्रवाले कमल पर ध्याने-योग्य है।

अपने इष्ट कार्य की प्रसिद्धि के लिए पवित्र हो ॐ से वेष्टित सात अक्षरवाला महा-मंत्र चिंतन-योग्य है।

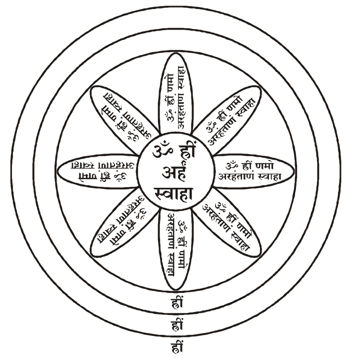

हेय-उपादेय की प्राप्ति के लिए पूर्वोक्त विधि पूर्वक प्रयास से कमल के ऊपर इस मंत्र द्वारा जाप करने-योग्य है।

'ॐ ह्रीं ह्रैं नमो ह्रँ णमो अरहंताणं ह्रीं नमः'-ऐसा मूल-मंत्र है। इसका दश हजार जाप्य और एक हजार होम करना योग्य है।

(छह कोण वाला चक्र बनाकर) भीतरी छह कोणों में बाईं ओर से 'अप्रतिचक्रेण फट्'-इन अक्षरों को लिखे और बाह्य छह कोणों में दाहिनी ओर से 'विचक्राय स्वाहा' विधि से रखकर उसके मध्य में रखे और विशुद्ध-बुद्धिमान प्रवीण रेफ-विंदु-सहित भूतांत/ह का चिंतन करे।

बाह्य में वलय बनाकर उसके मध्य में विधि पूर्वक 'णमो जिणाणं' इत्यादि प्रणव आदि द्वारा उसे पूरित करे।

१. ॐ जिनों को नमन है;
२. ॐ परमावधि जिन के लिए नमन है;
३. ॐ सर्वावधि जिन के लिए नमन है;
४. ॐ अनंतावधि जिन के लिए नमन है;
५. ॐ कोष्ठ-बुद्धिवालों के लिए नमन है;
६. ॐ बीज-बुद्धिवालों के लिए नमन है;
७. ॐ पादानुसारिओं के लिए नमन है;
८. ॐ संभिन्न-श्रोतृताओं के लिए नमन है;
९. ॐ ऋजुमति मनःपर्यय-ज्ञानिओं के लिए नमन है;
१०. ॐ विपुलमति मनःपर्यय-ज्ञानिओं के लिए नमन है;
११. ॐ दश-पूर्विओं के लिए नमन है;
१२. ॐ चौदह-पूर्विओं के लिए नमन है;

१३. ॐ अष्टांग-निमित्त में कुशलों के लिए नमन है;
१४. ॐ वैगूर्वण/विक्रिया ऋद्धि-प्राप्तों के लिए नमन है;
१५. ॐ विद्या-धारकों के लिए नमन है;
१६. ॐ आकाश-गामिओं के लिए नमन है;
१७. ॐ प्रज्ञा-श्रमणों के लिए नमन है;
१८. ॐ आकाश-गामिओं के लिए नमन है।
ॐ ज्रौं झ्रौं श्री-ह्री-धृति-कीर्ति-बुद्धि-लक्ष्मी-स्वाहा—इन पदों द्वारा वलय को पूर्ण करे।

इसप्रकार पाँच अंगुलिओं में स्थापित पंच-नमस्कार द्वारा सकली किया जाता है। अंगुष्ठ में अरहंतों को स्थापितकर ॐ अरहंतों को नमन है, ह्राँ स्वाहा; तर्जनी में सिद्धों को स्थापितकर ॐ सिद्धों को नमन है, ह्रीँ स्वाहा; मध्यमा में आचार्यों को स्थापितकर ॐ आचार्यों को नमन है, ह्रूँ स्वाहा; अनामिका में उपाध्यायों को स्थापितकर ॐ उपाध्यायों को नमन है, ह्रौँ स्वाहा; कनिष्ठिका में साधुओं को स्थापितकर ॐ लोक में स्थित सभी साधुओं के लिए नमन है, ह्रः स्वाहा—इसप्रकार तीन बार अंगुलिओं में स्थापितकर पुनः मस्तक के ऊपर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर में स्थापितकर जप करना योग्य है।

इसका यंत्र कार इसप्रकार है—

गणधर वलय यंत्र

॥३२-४८/१३७५-१३९१॥

अब, इस पद्य द्वारा इन्हें पदस्थ कहने का कारण प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **अभिधेया नमस्कार-पदैर्ये परमेष्ठिनः।**
पदस्थास्ते विधीयन्ते शब्देऽर्थस्य व्यवस्थितेः।।४९/१३९२।।
नमस्कार पदों द्वारा जो परमेष्ठी कथ्य हैं।
शब्द में अर्थ-व्यवस्थिति से वे पदस्थ कहे गए।।४९/१३९२।।

शब्दशः अर्थ : अभिधेयाः=कहने-योग्य; नमस्कार-पदैः=नमस्कार-पदों द्वारा; ये=जो; परमेष्ठिनः=परमेष्ठी; पदस्थाः=पदों में स्थित; ते=वे; विधीयन्ते=कहे जाते हैं; शब्दे=शब्द में; अर्थस्य=अर्थ का; व्यवस्थितेः=व्यवस्थिति होने से।

अन्वय : शब्दे अर्थस्य व्यवस्थितेः नमस्कार-पदैः ये परमेष्ठिनः अभिधेयाः ते पदस्थाः विधीयन्ते।

वचनिका : शब्द में अर्थ की व्यवस्थिति है; अतः नमस्कार-पदों द्वारा जो परमेष्ठी कहने-योग्य हैं; वे पदस्थ कहे जाते हैं।

भावार्थ : शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य-संबंध है; अतः शब्द में अर्थ विद्यमान है। इस हेतु से नमस्कार आदि शब्दों के ध्यान को पदस्थ कहा है।।४९/१३९२।।

इसप्रकार पदस्थ-ध्यान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, चार पद्यों द्वारा पिंडस्थ-ध्यान प्ररूपित है।

वहाँ सर्व-प्रथम तीन पद्यों द्वारा पिंडस्थ के ध्येय अरहंत-परमेष्ठी का स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **अनन्त - दर्शन - ज्ञान - सुख - वीर्यैरलङ्कृतम्।**
प्रातिहार्याष्टकोपेतं नरामर - नमस्कृतम्।।५०/१३९३।।
शुद्ध-स्फटिक-सङ्काश-शरीरमुरु-तेजसम्।
घाति-कर्म-क्षयोत्पन्न-नव-केवल-लब्धिकम्।।५१/१३९४।।
विचित्रातिशयाधारं लब्ध-कल्याण-पञ्चकम्।
स्थिर-धीः साधुरर्हन्तं ध्यायत्येकाग्र-मानसः।।५२/१३९५।।

अनंत दर्शन ज्ञान वीर्य सुख से विभूषित।
नमनकृत सुर-नर से अष्ट प्रातिहार्य युत।।५०/१३९३।।
परमौदारिक तन पावन स्फटिक-वत् तेज-युत।
घाति कर्म-क्षय से व्यक्त नव केवल-लब्धि-युत।।५१/१३९४।।
आश्रय विविध अतिशय के पंच कल्याण प्राप्त उन।
अरहंतों को ध्याता है स्थिर-धी एकाग्र-मन।।५२/१३९५।।

शब्दश: अर्थ : अनन्त-दर्शन-ज्ञान-सुख-वीर्यैः=अनंत/केवल-दर्शन, केवल-ज्ञान, अनंत-सुख, अनंत-वीर्य से; अलङ्कृतं=विभूषित को; प्रातिहार्य+अष्टक+उपेतं=आठ प्रातिहार्य से सहित को; नर+अमर-नमस्कृतं=मनुष्य और देवों द्वारा नमन किए गए को।

शुद्ध-स्फटिक-सङ्काश-शरीरं=निर्मल स्फटिक के समान शरीरवाले को; उरु-तेजसं=तेजस्वी औदारिकवाले को; घाति-कर्म-क्षय+उत्पन्न-नव-केवल-लब्धिकं=घाति कर्म के क्षय की निमित्तता में व्यक्त हुई नौ केवल-लब्धिवाले को।

विचित्र+अतिशय+आधारं=अनेक प्रकार के अतिशयों के आधार को; लब्ध-कल्याण-पञ्चकं=पाँच कल्याणों को प्राप्त को; स्थिर-धीः=स्थिर बुद्धिवाला; साधुः=कल्याण-इच्छुक; अर्हन्तं=अरहंत को; ध्यायति=ध्याता है; एकाग्र-मानसः=एकाग्र मनवाला।

अन्वय : अनन्त..... पञ्चकं अर्हन्तं स्थिर-धीः एकाग्र-मानसः साधुः ध्यायति।

वचनिका : अनंत-दर्शन, अनंत-ज्ञान, अनंत-सुख, अनंत-वीर्य से शोभित; अशोक-वृक्ष, पुष्प-वृष्टि, दिव्य-ध्वनि, चँवर, सिंहासन, भामंडल, देव-दुंदुभी, छत्र—इन आठ प्रातिहार्यों से युक्त; मनुष्य और देवों द्वारा नमन किए गए, निर्मल स्फटिक-मणि के समान तेजस्वी परमौदारिक शरीरवाले; घाति-कर्म के क्षय की निमित्तता में व्यक्त हुईं केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन, क्षायिक-सम्यक्त्व, क्षायिक-चारित्र, क्षायिक-दान, क्षायिक-लाभ, क्षायिक-भोग, क्षायिक-उपभोग, क्षायिक-वीर्यरूप नव केवल-लब्धि-संपन्न; लौकिक प्राणिओं के चित्त को आश्चर्य-चकित करनेवाले अनेक प्रकार के अतिशयों के आधार, पंच-कल्याणों को प्राप्त अरहंत-देव को स्थिर-बुद्धि-संपन्न, एकाग्र-चित्त-युक्त साधु ध्याता है।।५०-५२/१३९३-१३९५।।

अब, इस पद्य द्वारा पिंडस्थ-ध्यान को परिभाषित करते हैं—

अनुष्टुभ् : **पिण्डस्थो ध्यायते यत्र जिनेन्द्रो हृतकल्मषः।**
तत्पिण्डपञ्चकध्वन्सि पिण्डस्थं ध्यानमिष्यते।।५३/१३९६।।
जहाँ पाप-रहित जिनवर पिंड-स्थित ध्येय हैं।
पाँचों पिंड-विध्वंसक वह पिंडस्थ ध्यान है।।५३/१३९६।।

शब्दश: अर्थ : पिण्डस्थः=पिंड/शरीर में स्थित; ध्यायते=ध्याया जाता है; यत्र=जहाँ; जिनेन्द्रः=जिनेंद्र भगवान; हृत-कल्मषः=पापों से रहित; तत्=वह; पिण्ड-पञ्चक-ध्वन्सि=पाँचों शरीरों को नष्ट करनेवाला; पिण्डस्थं=पिंडस्थ; ध्यानं=ध्यान; इष्यते=स्वीकार किया गया है।

अन्वय : यत्र हृत-कल्मषः जिनेन्द्रः पिण्डस्थः ध्यायते, पिण्ड-पञ्चक-ध्वन्सि तत् पिण्डस्थं ध्यानं इष्यते।

वचनिका : जिसमें पापों से रहित जिनेंद्र भगवान पिंड अर्थात् परमौदारिक शरीर में स्थित ध्याए जाते हैं; औदारिक आदि पाँचों शरीरों को नष्ट करनेवाला, सिद्ध-पद को देनेवाला वह पिंडस्थ-ध्यान है।।५३/१३९६।।

इसप्रकार पिंडस्थ-ध्यान का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब, इस एक पद्य द्वारा रूपस्थ-ध्यान वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **प्रतिमायां समारोप्य स्वरूपं परमेष्ठिनः।**
ध्यायतः शुद्धचित्तस्य रूपस्थं ध्यानमिष्यते।।५४/१३९७।।

प्रतिमा में आरोपितकर परमेष्ठी स्वरूप को।
शुद्ध मन ध्यानेवाले को रूपस्थ ध्यान हो।।५४/१३९७।।

शब्दशः अर्थ : प्रतिमायां=प्रतिमा में; सं+आरोप्य=भली-भाँति आरोपितकर; स्वरूपं=स्वरूप को; परमेष्ठिनः=परमेष्ठी का; ध्यायतः=ध्यानेवाले का; शुद्ध-चित्तस्य=पवित्र मन का; रूपस्थं=रूपस्थ; ध्यानं=ध्यान; इष्यते=स्वीकार है।

अन्वय : परमेष्ठिनः स्वरूपं प्रतिमायां सं-आरोप्य ध्यायतः..... इष्यते।

वचनिका : परमेष्ठी का स्वरूप प्रतिमा में भली-भाँति आरोपणकर ध्याते हुए शुद्ध मन का रूपस्थ ध्यान कहा है।।५४/१३९७।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा अरूपस्थ/रूपातीत-ध्यान वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **सिद्धरूपं विमोक्षाय निरस्ताशेष-कल्मषम्।**
जिनरूपमिव ध्येयं स्फटिक-प्रतिबिम्बितम्।।५५/१३९८।।
अरूपं ध्यायति ध्यानं परं सम्वेदनात्मकम्।
सिद्धरूपस्य लाभाय नीरूपस्य निरेनसः।।५६/१३९९।।

स्फटिक प्रतिबिंबित जिनरूप-सम ध्येय सिद्ध को।
सकल कर्म-रहित उत्तम ज्ञानात्मक अरूप को।।५५/१३९८।।
मोक्ष हेतु नीरूप सकल कर्म-रहित सदा।
सिद्धरूप लाभार्थ ध्यान को ध्याता सदा।।५६/१३९९।।

शब्दशः अर्थ : सिद्ध-रूपं=सिद्ध के स्वरूप को; विमोक्षाय=पूर्ण मोक्ष के लिए; निरस्त+अशेष-कल्मषं=समस्त कर्मों से रहित को; जिन-रूपं=जिनेंद्र भगवान के आकार को; इव=समान; ध्येयं=ध्यान के विषय को; स्फटिक-प्रति-बिम्बितं=स्फटिक में प्रति-बिंबित को।

अरूपं=वर्णादि-रहित को; ध्यायति=ध्याता है; ध्यानं=ध्यान को; परं=उत्तम; सम्वेदन+आत्मकं=ज्ञान-स्वरूप को; सिद्ध-रूपस्य=सिद्ध भगवान के स्वरूप का; लाभाय=लाभ के

लिए; नीरूपस्य=वर्णादि-रहित अमूर्तिक का; नि:+एनस:=कर्म से रहित का।

अन्वय : विमोक्षाय नीरूपस्य नि:-एनस: सिद्ध-रूपस्य लाभाय स्फटिक-प्रति-बिम्बितं जिनरूपं इव ध्येयं निरस्त-अशेष-कल्मषं अरूपं परं सम्वेदन-आत्मकं सिद्ध-रूपं ध्यानं ध्यायति।

वचनिका : मोक्ष के लिए, वर्णादि-रहित अमूर्तिक, कर्मों से पूर्णतया रहित सिद्ध-दशा की प्राप्ति के लिए स्फटिक-मणि में प्रति-बिंबित जिनेंद्र भगवान के समान, ध्येय, संपूर्ण कर्मों से रहित, रूप-रहित, उत्कृष्ट, ज्ञान-स्वरूप सिद्ध-रूप को ध्यान में ध्याता है।।५५-५६/ १३९८-१३९९।।

अब, इस पद्य द्वारा आत्मा के भेद और चिंतनीय आत्मा प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **बहिरन्त: परश्चेति त्रेधात्मा परिकीर्तित:।**
प्रथमं द्वितयं हित्वा परात्मानं विचिन्तयेत्।।५७/१४००।।

बहिरात्मा अंत:-आत्मा परमात्मा त्रिधा कहे।
पहला दूसरा तजकर परमात्मा चिंतन करे।।५७/१४००।।

शब्दश: अर्थ : बहि:=बाहर; अन्त:=अंदर; पर:=उत्कृष्ट; च=और; इति=इसप्रकार; त्रेधा=तीन प्रकारवाला; आत्मा=स्वयं जीव; परिकीर्तित:=कहा गया है; प्रथमं=पहले को; द्वितीयं=दूसरे को; हित्वा=छोड़कर; पर+आत्मानं=उत्कृष्ट आत्मा/परमात्मा को; विचिन्तयेत्= चिंतन को।

अन्वय : आत्मा बहि: अन्त: च पर: इति त्रेधा परिकीर्तित: .... विचिन्तयेत्।

वचनिका : आत्मा बहिरात्मा, अंतरात्मा और परात्मा/परमात्मा—इसप्रकार तीन भेदवाला कहा है। उनमें से पहले और दूसरे को छोड़कर परात्मा का चिंतन करो।।५७/१४००।।

अब, इस पद्य द्वारा बहिरात्मा और अंतरात्मा का संक्षिप्त स्वरूप वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **बहिरात्मात्म-विभ्रान्ति: शरीरे मुग्ध-चेतस:।**
या चेतस्यात्मविभ्रान्ति: सोऽन्तरात्माऽविधीयते।।५८/१४०१।।

शरीर में अपनी भ्रांति बहिरात्मा मूढधीमयी।
विकार में अपनी भ्रांति अंतरात्मा समझ वही।।५८/१४०१।।

शब्दश: अर्थ : बहि:+आत्मा=बहिरात्मा; आत्म-विभ्रान्ति:=अपनेपन का भ्रम; शरीरे=देह में; मुग्ध-चेतस:=मूढ-बुद्धिवाले का; या=जो; चेतसि=चिद्विकार में; आत्म-विभ्रान्ति:= अपनेपन का भ्रम; स:=वह; अंत:+आत्मा=अंतरात्मा; विधीयते=कहा जाता है।

अन्वय : मुग्ध:-चेतस: शरीरे या आत्म-विभ्रान्ति: स: बहि:-आत्मा, चेतसि या आत्म-विभ्रान्ति: स: अन्त:-आत्मा विधीयते।

वचनिका : मूढ-बुद्धि की शरीर में जो आत्म-विभ्रांति है, शरीर को अपना मानना है, वह बहिरात्मा है और चैतन्य के विकार रागादि में जो आत्मा की भ्रांति है, रागादि को अपना मानना है, वह अंतरात्मा है।

प्रश्न : अन्य ग्रंथों में मिथ्यादृष्टि को बहिरात्मा और सम्यग्दृष्टि को अंतरात्मा कहा है। यहाँ ऐसा कैसे कहा?

उत्तर : देह में अपनत्व मानना, बहिरात्मा और रागादि में अपनत्व मानना, अंतरात्मा—ये दोनों छोड़ने-योग्य हैं; यहाँ ऐसा कहा है। जहाँ सम्यग्दृष्टि को अंतरात्मा कहा है, वहाँ उसे कथंचित् उपादेय कहा है।—इसप्रकार आशय में विरोध नहीं है; वक्ता की इच्छा से मात्र अर्थ में ही भेद है—ऐसा जानना।।५८/१४०१।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा अज्ञानी और ज्ञानी के स्वरूप को विशेष स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **श्यामो गौर: कृश: स्थूल: काण: कुण्ठोऽबलो बलो।**
वनिता पुरुष: षण्ढो विरूपो रूपवानहम्।।५९/१४०२।।
जात-देहात्म-विभ्रान्तेरेषा भवति कल्पना।
विवेकं पश्यत: पुन्स: न पुनर्देह-देहिनो:।।६०/१४०३।।

श्याम गौर कृश मोटा काना हीन अबल सबल।
नारी नर नपुंसक मैं असुंदर सौंदर्य-युत।।५९/१४०२।।
तन में आत्म-भ्रांति से मान्यता ऐसी हुई।
आत्मा तन का भेद जान यों मानें नहीं।।६०/१४०३।।

शब्दश: अर्थ : श्याम:=साँवला; गौर:=गोरा; कृश:=क्षीण/पतला; स्थूल:=मोटा; काण:=काना; कुण्ड:=हीन; अबल:=निर्बल; बल:=बलवान; वनिता=स्त्री; पुरुष:=नर; षण्ढ:=नपुंसक; विरूप:=असुंदर; रूपवान्=सुंदर; अहं=मैं।

जात-देह+आत्म-विभ्रान्ते:=शरीर में आत्मा की विशेष भ्रांति से व्यक्त हुई; एषा=यह; भवति=होती है; कल्पना=मान्यता; विवेकं=भेद को; पश्यत:=देखते हुए का; पुन्स:=व्यक्ति का; न=नहीं; पुन:=फिर/और; देह-देहिनो:=शरीर और आत्मा का।

अन्वय : जात-देह-आत्म-विभ्रान्ते: अहं श्याम: .... एषा कल्पना भवति, पुन: देह-देहिनो: विवेकं पश्यत: पुन्स: न।

वचनिका : शरीर में आत्मा की विशेष भ्रांति से मैं काला/साँवला, गोरा, पतला, मोटा, काना, हीन, निर्बल, बलवान, स्त्री, पुरुष, नपुंसक, विरूप/असुंदर, रूपवान हूँ—यह मान्यता होती है। वास्तव में काला, गोरा आदि देह के धर्म हैं; आत्मा के नहीं हैं; अत: शरीर को आत्मा माननेवाला मिथ्यादृष्टि ही स्वयं को काला, गोरा आदि मानता है। जो व्यक्ति शरीर और आत्मा का भेद देखता, मानता है; उसे यह मान्यता नहीं होती है।।५९-६०/१४०२-१४०३।।

अब, इस पद्य द्वारा सभी संबंधों की शरीर-सापेक्षता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **शत्रु-मित्र-पितृ-भ्रातृ-मातृ-कान्त-सुतादय:।**
देह-सम्बन्धत: सन्ति न जीवस्य निसर्गजा:।।६१/१४०४।।

देह संबंध से प्राणी के रिपु-मित्र-मात-सुत।
भाई पत्नी पिता आदि हैं नहीं हैं वास्तविक।।६१/१४०४।।

शब्दश: अर्थ : शत्रु-मित्र-पितृ-भ्रातृ-मातृ-कान्ता-सुत+आदय:=शत्रु, मित्र, पिता, भाई, माता, पत्नी, पुत्र आदि; देह-सम्बन्धत:=शरीर के संबंध से; सन्ति=हैं; न=नहीं; जीवस्य=प्राणी का; निसर्गजा:=स्वभाव-जनित।

अन्वय : शत्रु.....आदय: जीवस्य देह-सम्बन्धत: सन्ति, निसर्ग-जा: न सन्ति।

वचनिका : देह का अपकार करनेवाला शत्रु, देह का उपकार करनेवाला मित्र, देह को उत्पन्न करनेवाला पिता; जिससे इस देह की उत्पत्ति हुई है, उसी से जिसकी उत्पत्ति हुई है, वह भाई; देह को उत्पन्न करनेवाली माता, देह को रमानेवाली पत्नी, देह से उत्पन्न हुआ पुत्र इत्यादि जीव के शत्रु आदि सभी देह के संबंध से हैं; स्वभाव-जनित नहीं हैं।।६१/१४०४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही गतिओं की अपेक्षा स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **श्वाभ्रस्तिर्यङ्नरो देवो भवामीति विकल्पना।**
श्वाभ्र-तिर्यङ्नृ*देवाङ्गसङ्गतो न स्वभावत:।।६२/१४०५।।

नारकी तिर्यक् मानव देव हूँ यों विकल्पना।
नारकी तिर्यक् नर देव तन से नहिं निसर्गत:।।६२/१४०५।।

शब्दश: अर्थ : श्वाभ्र:=नारकी; तिर्यक्-नर:=तिर्यंच, मनुष्य; देव:=देव; भवामि=हूँ; इति=इसप्रकार; विकल्पना=मान्यता; श्वाभ्र-तिर्यक्-नृ-देव+अङ्ग-सङ्गत:=नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव शरीर के संग से/नृ-वेष+अङ्ग-लिङ्गत:=मनुष्य के आकारवाले शरीर से चिन्हित से; न=नहीं; स्वभावत:=स्वभाव से।

---

* *नृवेषाङ्गलिङ्गतो —इति पाठान्तरम्।*

अन्वय : श्वाभ्रः .... सङ्गतः/नृ-वेष+अङ्ग+लिङ्गतः स्वभावतः न।

वचनिका : मैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव हूँ—ऐसी विकल्पना/मान्यता नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव के शरीर के संग/मनुष्याकार शरीर से चिन्हित से है; स्वभाव से नहीं है।।६२/१४०५।।

अब, इस पद्य द्वारा वही, शरीर की दशाओं से प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **बालकोऽहं कुमारोऽहं तरुणोऽहमहं जरी।**
एता देहपरिणामजनिताः सन्ति कल्पनाः।।६३/१४०६।।
बालक मैं कुमार तरुण वृद्ध मैं ये कल्पना।
देह-परिणाम से उपजीं आत्मा की नहिं दशा।।६३/१४०६।।

शब्दशः अर्थ : बालकः=बालक; अहं=मैं; कुमारः=कुमार; अहं=मैं; तरुणः=तरुण; अहं=मैं; जरी=वृद्ध; एताः=ये; देह-परिणाम-जनिताः=शरीर के परिणमन से उत्पन्न; सन्ति=हैं; कल्पनाः=मान्यताएं।

अन्वय : अहं बालकः अहं कुमारः अहं तरुणः अहं जरी एताः कल्पनाः देह-परिणाम-जनिताः सन्ति।

वचनिका : मैं बालक, मैं कुमार, मैं तरुण, मैं वृद्ध हूँ—इत्यादि ये मान्यताएं, शरीर के परिणमन से उत्पन्न हुई हैं।।६३/१४०६।।

अब, इसे ही संयोगादि के संबंध में इन दो पद्यों द्वारा बताते हैं—

अनुष्टुभ् : **विदग्धः पण्डितो मूर्खो दरिद्रः सधनोऽधनः।**
कोपनोऽसूयको मूढो द्विष्टस्तुष्टा शठोऽशठः।।६४/१४०७।।
सज्जनो दुर्जनो दीनो लुब्धो मत्तोऽपमानितः।
जात-चित्तात्म-सम्भ्रान्तेरेषा भवति शेमुषी।।६५/१४०८।।
प्रवीण पंडित मूर्ख दरिद्र धनवान निर्धनी।
ईर्ष्यालु क्रोधी मोही द्वेषी रागी अशठ शठी।।६४/१४०७।।
सज्जन दुर्जन दीन आलसी लोभी अपमानी।
चिद्विकारों में अपनेपन से है व्यक्त यह कुधी।।६५/१४०८।।

शब्दशः अर्थ : विदग्धः=प्रवीण; पण्डितः=पंडित; मूर्खः=मूर्ख; दरिद्रः=दरिद्र; स-धनः=धन-सहित; अ-धनः=धन-रहित; कोपनः=क्रोधी; असूयकः=ईर्ष्यालु; मूढः=मोही; द्विष्टः=द्वेषी; तुष्टा=रागी; शठः=अज्ञानी; अशठः=ज्ञानी।

सज्जनः=सज्जन; दुः-जनः=दुर्जन; दीनः=दीन; लुब्धः=लोभी; मत्तः=प्रमादी;

अपमानित:=अपमान-सहित; जात-चित्त+आत्म-सम्भ्रान्ते:=प्रकट हुए रागादि में अपनत्व की भ्रांति से; एषा=यह; भवति=होती है; शेमुषी=बुद्धि।

अन्वय : जात-चित्त-आत्म-सम्भ्रान्ते: (अहं) विदग्ध:.... एषा शेमुषी भवति।

वचनिका : प्रकट हुए रागादि-भावों में अपनत्व की भ्रांति से मैं चतुर, पंडित, मूर्ख, दरिद्री, धनवान, निर्धन, क्रोधी, ईर्ष्या-युक्त, मोही, द्वेषी, रागी, अज्ञानी, ज्ञानी, सज्जन, दुर्जन, दीन, लोभी, प्रमादी, अपमान-सहित हूँ—यह बुद्धि होती है।।६४-६५/१४०७-१४०८।।

अब, इस पद्य द्वारा मिथ्या-सम्यक् बुद्धि का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **देहे यात्ममतिर्जन्तो: सा वर्धयति सन्स्थितिम्।**
आत्मन्यात्ममतिर्या सा सद्यो नयति निर्वृतिम्।।६६/१४०९।।

तन में आत्म-बुद्धि जो बड़ाती संसार वह।
आत्मा में आत्म-बुद्धि जो ले जाती शिव शीघ्र वह।।६६/१४०९।।

शब्दश: अर्थ : देहे=शरीर में; आत्म-मति:=अपनत्वरूप बुद्धि; जन्तो:=प्राणी का; सा=वह; वर्धयति=बड़ाता है; सन्स्थितिं=संसार को; आत्मनि=आत्मा में; आत्म-मति:=अपनत्वरूप बुद्धि; या=जो; सा=वह; सद्य:=शीघ्र; नयति=ले जाता है; निर्वृतिं=मोक्ष को।

अन्वय : जन्तो: देहे या आत्म-मति: सा सन्स्थितिं वर्धयति, आत्मनि या आत्म-मति: सा सद्य: निर्वृतिं नयति।

वचनिका : प्राणी की देह में जो आत्म-बुद्धि है, वह संसार को बड़ाती है और आत्मा में जो आत्म-बुद्धि है, वह शीघ्र मुक्ति को प्राप्त होता है।।६६/१४०९।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव की परिणति का चित्रण है—

अनुष्टुभ् : **यो जागर्त्यात्मन: कार्ये कायकार्यं स मुञ्चति।**
य: स्वपित्यात्मन: कार्ये कायकार्यं करोति स:।।६७/१४१०।।

आत्म-कार्य में जो जगता वह तन-कार्य छोड़ता।
आत्म-कार्य में जो सोता करता कार्य देह का।।६७/१४१०।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; जागर्ति=जागता है; आत्मन:=आत्मा के/अपने; कार्ये=कार्य में; काय-कार्यं=शरीर के कार्य को; स:=वह; मुञ्चति=छोड़ता है; य:=जो; स्वपिति=सोता है; आत्मन:=आत्मा का; कार्ये=कार्य में; काय-कार्यं=शरीर के कार्य को; करोति=करता है; स:=वह।

अन्वय : य: आत्मन: कार्ये जागर्ति स: काय-कार्यं मुञ्चति, य: आत्मन: कार्ये स्वपिति स: काय-कार्यं करोति।

वचनिका : जो व्यक्ति आत्मा के कार्य में जागता है, अपने हित में सावधान है; वह शरीर के कार्य को त्यागता है, शरीर संबंधी क्रिया में उदासीन रहता है। जो व्यक्ति आत्मा के कार्य में सोता है, आत्म-हित में उद्यमी नहीं है; वह शरीर संबंधी क्रिया को करता है।।६७/१४०८।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान की अपात्रता निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **ममेदमहमस्यास्मि स्वामी देहादि-वस्तुनः।**
यावदेषा मतिर्बाह्ये तावद्ध्यानं कुतस्तनम्?।।६८/१४११।।

देहादि पर वस्तु का स्वामी मैं मेरा है यह।
बाह्य में यह धी जब तक तब तक कैसे ध्यान वह?।।६८/१४११।।

शब्दशः अर्थ : मम=मेरा; इदं=यह; अहं=मैं; अस्य=इसका; अस्मि=हूँ; स्वामी=मालिक; देह+आदि-वस्तुनः=शरीर आदि वस्तु का; यावत्=जब तक; एषा=यह; मतिः=बुद्धि; बाह्ये=बाहर में; तावत्=तब तक; ध्यानं=एकाग्रता; कुतस्तनं=कैसे।

अन्वय : यावत् बाह्ये इदं मम अहं अस्य देह-आदि-वस्तुनः स्वामी एषा मतिः तावत् ध्यानं कुतस्तनम्?

वचनिका : जब तक बाह्य पर-पदार्थों में 'यह मेरा है, मैं इस देह आदि वस्तु का स्वामी हूँ'—यह बुद्धि रहती है; तब तक ध्यान कैसे हो?।।६८/१४११।।

अब, इस पद्य द्वारा शुद्ध-ध्यान की पात्रता प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **नाहं कस्यापि मे कश्चिन्न भावोऽस्ति बहिस्तनः।**
यदैषा शेमुषी साधोः शुद्ध-ध्यानं तदा मतम्।।६९/१४१२।।

बाह्य वस्तु नहीं कोई मेरी मैं नहिं किसी का।
जब यह बुद्धि साधु की निर्मल ध्यान तब कहा।।९/१४१२।।

शब्दशः अर्थ : न=नहीं; अहं=मैं; कस्य=किसका; अपि=भी; मे=मेरा; कश्चित्=कोई; न=नहीं; भावः=पदार्थ; अस्ति=है; बहिस्तनः=बाहरवाला; यदा=जब; एषा=यह; शेमुषी=बुद्धि; साधोः=साधु का; शुद्ध-ध्यानं=पवित्र ध्यान; तदा=तब; मतं=माना है।

अन्वय : साधोः यदा कश्चित् बहिस्तनः भावः मे न अहं कस्य अपि न एषा शेमुषी तदा शुद्ध-ध्यानं मतम्।

वचनिका : साधु के जब 'कोई भी बाह्य-पदार्थ मेरा नहीं है, मैं किसी का भी नहीं हूँ'—यह बुद्धि होती है; तब शुद्ध-ध्यान माना है।।६९/१४१२।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी योग्यता को और स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मन्मथ-मत्सराः।**
न यस्य मानसे सन्ति तस्य ध्यानेऽस्ति योग्यता।।७०/१४१३।।

ईर्ष्या काम राग द्वेष क्रोध लोभ मदादि ये।
नहीं हैं जिसके मन में योग्यता वह ध्यान में।।७०/१४१३।।

शब्दशः अर्थ : राग-द्वेष-मद-क्रोध-लोभ-मन्मथ-मत्सराः=राग, द्वेष, घमंड, क्रोध, लोभ, काम/विषय-वासना, ईर्ष्या; न=नहीं; यस्य=जिसका; मानसे=मन में; सन्ति=हैं; तस्य=उसका; ध्याने=ध्यान में; अस्ति=है; योग्यता=पात्रता।

अन्वय : यस्य मानसे राग ...... मत्सराः न सन्ति तस्य ध्याने योग्यता अस्ति।

वचनिका : जिसके मन में राग, द्वेष, मान, क्रोध, लोभ, काम/विषय-वासना, ईर्ष्या भाव नहीं हैं; उसके ध्यान में योग्यता है।।७०/१४१३।।

अब, इस पद्य द्वारा पूर्वोक्त पात्रता का औचित्य सोदाहरण वर्णित है—

अनुष्टुभ् : *__रागद्वेषादिभिः क्षिप्तं मनः स्थैर्यं प्रचाल्यते।__*
काञ्चनस्येव काठिन्यं दीप्यमानैर्हुताशनैः।।७१/१४१४।।

देदीप्यमान अग्नि से स्वर्ण के काठिन्य-सम।
राग द्वेषादि से क्षिप्त मन-स्थिरता हो चपल।।७१/१४१४।।

शब्दशः अर्थ : राग-द्वेष+आदिभिः=राग, द्वेष आदि द्वारा; क्षिप्तं=फेका गया; मनः-स्थैर्यं=मन की स्थिरता को; प्रचाल्यते=चलित कर देता है; काञ्चनस्य=स्वर्ण का; इव=समान; काठिन्यं=कठिनता को; दीप्यमानैः=धधकती हुई द्वारा; हुताशनैः=अग्नि द्वारा।

अन्वय : दीप्यमानैः हुताशनैः काञ्चनस्य काठिन्यं इव राग..... प्रचाल्यते।

सामान्यार्थ : जैसे—देदीप्यमान अग्नि द्वारा स्वर्ण की कठोरता चलायमान हो जाती है; उसी प्रकार राग, द्वेष आदि से आक्षिप्त मन की स्थिरता चलायमान हो जाती है।

तात्पर्य यह है कि मन कितना भी स्थिर हो; परंतु राग, द्वेषादि से चलायमान हो ही जाता है।।७१/१४१४।।

अब, इस पद्य द्वारा उसे ही पुनः सोदाहरण पुष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **विद्यमाने कषायेऽस्ति मनसि स्थिरता कथम्?।**
कल्पान्तपवनैः स्थैर्यं तृणं कुत्र प्रपद्यते?।।७२/१४१५।।

---

* यह पद्य वचनिका की प्रति में नहीं है। संस्कृत की प्रति से लेकर अर्थ लिख दिया है।

मन में कषाय होने पर हो कैसे स्थिरता?
प्रलय-कालिक वायु से हो कहाँ तृण-स्थिरता?।।७२/१४१५।।

शब्दश: अर्थ : विद्यमाने=वर्तमान में व्यक्त; कषाये=कषाय में; अस्ति=है; मनसि=मन में; स्थिरता=निश्चलता; कथं=कैसे; कल्पान्त-पवनै:=प्रलय-कालीन वायु द्वारा; स्थैर्यं=स्थिरता; तृणं=तृण/तिनका; कुत्र=कहाँ; प्रपद्यते=पाता है।

अन्वय : कषाये विद्यमाने मनसि स्थिरता कथं अस्ति, कल्प-अन्त-पवनै: तृणं स्थैर्यं कुत्र प्रपद्यते?

वचनिका : कषाय भाव विद्यमान होने पर मन में स्थिरता कैसे हो सकती है? प्रलय-कालीन वायु द्वारा तृण, स्थिरता कहाँ पा सकता है?।।७२/१४१५।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा सिद्धों का स्वरूप और उनके ध्यान का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **अक्षय्य-केवलालोक-विलोकित-चराचरम्।**
अनन्त - वीर्य - शर्माणममूर्तमनुपद्रवम्।।७३/१४१६।।
निरस्त-कर्म-सम्बन्धं सूक्ष्मं नित्यं निरास्रवम्।
ध्यायत: परमात्मानमात्मन: कर्म-निर्जरा।।७४/१४१७।।

अक्षय केवलज्ञान-दर्शन जानें सकल जग।
अनंत वीर्य आनंद अमूर्त उपद्रव-रहित।।७३/१४१६।।
कर्म संबंध से मुक्त सूक्ष्म नित्य निरास्रवी।
परमात्मा को ध्याने से कर्म-निर्जर आपकी।।७४/१४१७।।

शब्दश: अर्थ : अक्षय्य-केवल+आलोक-विलोकित-चर+अचरं=अविनाशी केवलज्ञान-दर्शन से सकल चर-अचर विश्व को जानने-देखनेवाले को; अनन्त-वीर्य-शर्माणं=अनंत वीर्य और आनंद-संपन्न को; अमूर्तं=वर्णादि से रहित को; अन्+उपद्रवं=रोगादि के उपद्रव से रहित को।

नि:+अस्त-कर्म-सम्बन्धं=कर्मों के संबंध से पूर्णतया रहित को; सूक्ष्मं=छद्मस्थ अगोचर को; नित्यं=स्थाई को; नि:+आस्रवं=आस्रव से रहित को; ध्यायत:=ध्याने से; परं+आत्मानं=उत्कृष्ट आत्मा को; आत्मन:=अपने; कर्म-निर्जरा=कर्म की निर्जरा।

अन्वय : अक्षय्य.......... नि:-आस्रवं परं-आत्मानं ध्यायत: आत्मन: कर्म-निर्जरा।

वचनिका : अविनाशी केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन द्वारा चर-अचर समस्त वस्तुओं को जानने-देखनेवाले, अपने अनंत-स्वरूप से चलायमान नहीं होनेरूप वीर्य और निराकुलतारूप

आनंद-संपन्न, वर्णादि-रहित अमूर्तिक, रोगादि के उपद्रव-रहित, सकल कर्मों के संबंध से पूर्णतया-रहित; मन:-पर्यय-ज्ञान से भी अगोचर, सूक्ष्म, नित्य, रागादि के अभाव के कारण आस्रव से पूर्णतया रहित परमात्मा सिद्ध भगवान का ध्यान करने से अपने कर्मों की निर्जरा होती है।।७३-७४/१४१६-१४१७।।

अब, इस पद्य द्वारा स्वयं के ध्यान से सिद्ध होना सोदाहरण प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **आत्मानमात्मना ध्यायन्नात्मा भवति निर्वृत:।**
घर्षयन्नात्मनाऽत्मानं पावकी भवति द्रुम:।।७५/१४१८।।

स्वयं को स्वयं से ध्याता सिद्ध होता आत्मा।
स्वयं से स्वयं को घिसता वृक्ष अग्नि हो सदा।।७५/१४१८।।

शब्दश: अर्थ : आत्मानं=स्वयं को; आत्मना=स्वयं के द्वारा; ध्यायन्=ध्याता हुआ; आत्मा=स्वयं जीव; भवति=होता है; निर्वृत:=सिद्ध; घर्षयन्=घिसता हुआ; आत्मना=स्वयं के द्वारा; आत्मानं=स्वयं को; पावकी=अग्निरूप; भवति=हो जाता है; द्रुम:=वृक्ष।

अन्वय : आत्मना आत्मनं घर्षयन् द्रुम: पावकी भवति, आत्मना आत्मानं ध्यायन् आत्मा निर्वृत: भवति।

वचनिका : जैसे—वृक्ष से वृक्ष घिसता हुआ अग्नि के भाव को प्राप्त हो जाता है; उसीप्रकार स्वयं द्वारा स्वयं को ध्याता हुआ आत्मा सुखी हो सिद्ध-स्वरूप हो जाता है।।७५/१४१८।।

अब, इस पद्य द्वारा भेद-विज्ञान के अभाव का फल वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **न यो विविक्तमात्मानं देहादिभ्यो विलोकते।**
स मज्जति भवाम्भोधौ लिङ्गस्थोऽपि दुरुत्तरे।।७६/१४१९।।

देहादि से पृथक् आत्मा को नहीं जो देखता।
लिंगस्थ वह भी दुस्तर भव-सागर में डूबता।।७६/१४१९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; य:=जो; विविक्तं=पूर्णतया पृथक् को; आत्मानं=स्वयं को; देह+आदिभ्य:=शरीर आदि से; विलोकते=देखता है; स:=वह; मज्जति=डूबता है; भव+अम्भोधौ=संसार-सागर में; लिङ्ग-स्थ:=मुनि-श्रावक के बाह्य चिन्ह में स्थित; अपि=भी; दु:+उत्तरे=कठिनता से पार होनेवाले।

अन्वय : य: देह-आदिभ्य: आत्मानं विविक्तं न विलोकते, स: लिङ्गस्थ: अपि दुरुत्तरे भव-अम्भोधौ मज्जति।

वचनिका : जो व्यक्ति देहादि पर-द्रव्यों से स्वयं को पूर्णतया पृथक् नहीं देखता है, श्रद्धान नहीं

करता है; वह मुनि-श्रावक के बाह्य-लिंग में स्थित होने पर भी दुस्तर संसार-सागर में डूब जाता है। द्रव्य-लिंगी मुनि-श्रावक भी संसारी ही रहते हैं; तब फिर अन्य जीवों की क्या कथा है?।।७६/१४१९।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा संसार-भ्रमण के कारण प्रस्तुत हैं—

अनुष्टुभ् : **सविज्ञानमविज्ञानं विनश्वरमविनश्वरम्।**
सदानात्मीयमात्मीयं सुखदं दु:खकारणम्।।७७/१४२०।।
अनेकमेकमङ्गादिं मन्यमानो निरस्त-धी:।
जन्म-मृत्यु-जरावर्ते बम्भ्रमीति भवोदधौ।।७८/१४२१।।

ज्ञान-विन को सज्ञान नश्वर को अविनश्वर।
अनात्मीय को अपना दु:ख-कारण को सुखद।।७७/१४२०।।
अनेक अंगादि को एक मानता जो मूढधी।
जन्म जरा मरण-युक्त भव-सागर भ्रमे वही।।७८/१४२१।।

शब्दश: अर्थ : स-विज्ञानं=ज्ञान-सहित को; अ-विज्ञानं=ज्ञान-रहित को; विनश्वरं=नाशवान को; अविनश्वरं=स्थाई को; सदा=सतत; अन्+आत्मीयं=अपने नहीं को; आत्मीयं=अपने/स्वयं को; सुख-दं=सुख देनेवाला; दु:ख-कारणं=दु:ख के कारण को।

अनेकं=अनेक को; एकं=एक को; अङ्ग+आदिं=अंश आदि को; (यहाँ पर्यंत सभी को दोनों ओर से ले लेना; जैसे—ज्ञान-सहित को अज्ञानरूप आदि); मन्यमान:=माननेवाला; नि:-अस्त-धी:=अज्ञानी कुबुद्धि; जन्म-मृत्यु-जरा+आवर्ते=जन्म, मरण, बुढापारूपी भँवरवाले में; बम्भ्रमीति=विशेषरूप से भ्रमण करता है; भव+उदधौ=संसार-सागर में।

अन्वय : बम्भ्रमीति को सबसे अंत में रखना है; शेष सभी यथा-वत् है।

वचनिका : अचेतन पदार्थ को चेतन (चेतन को अचेतन), नाशवान को अविनाशी (अविनाशी को नाशवान), सदा परायों को अपना (अपने को पराया), दु:ख के कारण को सुख-दाई (सुख-दाई को दु:खद), अनेक को एक (एक को अनेक), माननेवाला अज्ञानी जन्म, जरा, मरणरूपी भँवरों से युक्त संसार-समुद्र में विशेषरूप से भ्रमण करता है।।७७-७८/१४२०-१४२१।।

अब, इस पद्य द्वारा मोक्ष का उपाय वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **आत्मनो देहतोऽन्यत्वं चिन्तनीयं मनीषिणा।**
शरीर-भारमोक्षाय सायकस्येव कोशत:।।७९/१४२२।।

अशरीरी दशा पाने कोश से बाण-वत् पृथक्।
बुद्धिमान को चिंतन-योग्य तन आतम पृथक्।।७९/१४२२।।

शब्दश: अर्थ : आत्मन:=आत्मा का; देहत:=शरीर से; अन्यत्वं=पृथक्ता; चिन्तनीयं=विचार करना योग्य है; मनीषिणा=बुद्धिमान द्वारा; शरीर-भार-मोक्षाय=शरीर का भार छोड़ने/अशरीरी दशा पाने हेतु; सायकस्य=बाण का; इव=समान; कोशत:=कोश/तरकश से।

अन्वय : शरीर-भार-मोक्षाय कोशत: सायकस्य इव मनीषिणा देहत: आत्मन: अन्यत्वं चिन्तनीयम्।

वचनिका : शरीर के भार का त्याग करने के लिए, मोक्ष की प्राप्ति के लिए, कोश/तरकश से बाण/तीर के समान, शरीर से आत्मा की भिन्नता चिंतन-योग्य है।।७९/१४२२।।

अब, इस पद्य द्वारा आत्मा और देह में एकत्व और अन्यत्व बुद्धि का फल निरूपित है—

अनुष्टुभ् : **या देहात्मैकता-बुद्धि: सा मज्जयति सन्सृतौ।**
सा प्रापयति निर्वाणं या देहात्म-विभेद-धी:।।८०/१४२३।।

देह आत्मा में एकत्व-धी से भव में डूबते।
देह आत्मा में भिन्नत्व-धी से शिव-सुख प्राप्त है।।८०/१४२३।।

शब्दश: अर्थ : या=जो; देह+आत्म+एकता-बुद्धि:=शरीर और आत्मा में एकपने की बुद्धि/मान्यता; सा=वह; मज्जयति=डुबोती है; सन्सृतौ=संसार में; सा=वह; प्रापयति=प्राप्त कराती है; निर्वाणं=मोक्ष को; या=जो; देह+आत्म-विभेद-धी:=शरीर और आत्मा में भिन्नता की बुद्धि/मान्यता।

अन्वय : या देह-आत्मा-एकता-बुद्धि: सा सन्सृतौ मज्जयति, या देह-आत्म-विभेद-धी: सा निर्वाणं प्रापयति।

वचनिका : देह और आत्मा में जो एकता की बुद्धि है, वह संसार में डुबोती है। शरीर और आत्मा में जो पूर्णतया पृथक्ता की बुद्धि है, वह मोक्ष को प्राप्त कराती है।।८०/१४२३।।

अब, इस एक पद्य द्वारा देह और आत्मा को सर्वथा एक माननेवाले को सोदाहरण संबोधन है—

अनुष्टुभ् : **य: शरीरात्मनोरैक्यं सर्वथा प्रतिपद्यते।**
पृथक्त्वशेमुषी तस्य गूथमाणिक्ययो: कथम्?।।८१/१४२४।।

सर्वथा देह आत्मा में जो एकत्व मानता।
उसकी बुद्धि में कैसे विष्टा माणिक पृथक्ता?।।८१/१४२४।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; शरीर+आत्मनो:=शरीर और आत्मा में; ऐक्यं=एकता को; सर्वथा =पूर्णतया; प्रतिपद्यते=मानता है; पृथक्त्व-शेमुषी=पृथक्ता-युक्त बुद्धि; तस्य=उसका; गूथ-माणिक्ययो:=विष्टा और माणिक्य रत्न में; कथं=कैसे।

अन्वय : य: शरीर-आत्मनो: सर्वथा ऐक्यं प्रतिपद्यते तस्य गूथ-माणिक्ययो: पृथक्त्व-शेमुषी कथम्?

वचनिका : जो देह और आत्मा में सर्वथा एकपना मानता है; उसके विष्टा और माणिक्य-रत्न में भिन्नता की बुद्धि कैसे हो सकती है?

भावार्थ : आत्मा तो रत्न-समान पवित्र है और शरीर विष्टा-समान अपवित्र है। कारण-वश विष्टा में रखे हुए रत्न को जैसे—मूर्ख एक मानता है; उसीप्रकार कर्मोदय के वश शरीर में रहते हुए आत्मा को मिथ्यादृष्टि एक मानता है—ऐसा जानना।।८१/१४२४।।

अब, इस पद्य द्वारा दोनों की भिन्नता को सहेतुक स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **देह-चेतनयोर्भेदो भिन्न-ज्ञानोपलब्धित:।**
सर्वदा विदुषा ज्ञेयश्चक्षु:घ्राणार्थयोरिव।।८२/१४२५।।

पृथक् ज्ञान से प्राप्ति से तन चेतन पृथक् हैं।
नेत्र घ्राण विषय-वत् ये नित ज्ञानी से ज्ञेय हैं।।८२/१४२५।।

शब्दश: अर्थ : देह-चेतनयो:=शरीर और आत्मा में; भेद:=भिन्नता; भिन्न-ज्ञान-उपलब्धित:= पृथक् ज्ञान से ज्ञात होने के कारण; सर्वदा=निरंतर; विदुषा=विद्वान द्वारा; ज्ञेय:=जानने-योग्य है; चक्षु:=नेत्र; घ्राण+अर्थयो:=नासिका के विषय में; इव=समान।

अन्वय : चक्षु-घ्राण-अर्थयो: इव भिन्न-ज्ञान-उपलब्धित: देह-चेतनयो: भेद: विदुषा सर्वदा ज्ञेय:।

वचनिका : जैसे—नेत्र इंद्रिय का विषय, रूप और नासिका इंद्रिय का विषय, गंध, भिन्न-ज्ञान से ज्ञात होता है, अत: भिन्न ही है; उसीप्रकार शरीर और आत्मा, भिन्न-ज्ञान से ज्ञात होते हैं, अत: भिन्न ही हैं—ऐसा ज्ञानी द्वारा सदा जानने-योग्य है।

भावार्थ : जैसे—रूप, नेत्र द्वारा ज्ञात होता है; गंध, नासिका द्वारा ज्ञात होती है। रूप, नासिका द्वारा ज्ञात नहीं होता है; गंध, नेत्र द्वारा ज्ञात नहीं होती है; अत: रूप और गंध भिन्न-भिन्न हैं; उसीप्रकार शरीर तो इंद्रिय-ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है और आत्मा स्व-संवेदन द्वारा ज्ञात होता है। इंद्रिय-ज्ञान द्वारा आत्मा दिखाई नहीं देता है और स्व-संवेदन-ज्ञान द्वारा शरीर ज्ञात नहीं होता है।—इसप्रकार ये पृथक्-पृथक् ज्ञान से ज्ञात होते हैं; अत: पृथक्-

पृथक् हैं।—इसप्रकार अनुमान दिखाया है।।८२/१४२५।।

अब, इस पद्य द्वारा वही पुन: अन्य हेतु से स्पष्ट करते हैं—

अनुष्टुभ् : **न यस्य हानितो हानिर्न वृद्धिर्वृद्धितो भवेत्।**
जीवस्य सह देहेन तेनैकत्वं कुतस्तनम्?।।८३/१४२६।।

जिसकी हानि से हानि वृद्धि से वृद्धि नहीं।
उस देह से एकत्व जीव का कैसे कभी?।।८३/१४२६।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; यस्य=जिसका; हानित:=हानि से; हानि:=कमी; न=नहीं; वृद्धि: =अधिकता; वृद्धित:=वृद्धि से; भवेत्=हो; जीवस्य=जीव का; सह=साथ; देहेन=शरीर से; तेन=उससे; एकत्वं=एकपना; कुतस्तनं=कैसे।

अन्वय : यस्य हानित: हानि: न वृद्धित: वृद्धि: न भवेत् तेन देहेन जीवस्य एकत्वं कुतस्तनम्?

वचनिका : जिस शरीर की हानि से जीव की हानि नहीं और जिस शरीर की वृद्धि से जीव की वृद्धि नहीं होती है; उस शरीर के साथ जीव का एकत्व कैसे हो सकता है?।।८३/१४२६।।

अब, इस पद्य द्वारा सहेतुक सुतादि से भिन्नता वर्णित है—

अनुष्टुभ् : **तत्त्वत: सह देहेन यस्य नानात्वमात्मन:।**
किं देहयोगजैस्तस्य सहैकत्वं सुतादिभि:?।।८४/१४२७।।

वास्तव में तन के साथ जिस आत्मा की पृथक्ता।
उसकी देह-योगज सुत आदि से क्यों एकता?।।८४/१४२७।।

शब्दश: अर्थ : तत्त्वत:=परमार्थ से; सह=साथ; देहेन=शरीर से; यस्य=जिसका; नानात्वं= भिन्नपना; आत्मन:=आत्मा का; किं=क्या; देह-योगजै:=शरीर के संयोग से उत्पन्न हुए से; तस्य=उसका; सह=साथ; एकत्वं=एकपना; सुत+आदिभि:=पुत्र आदि से।

अन्वय : तत्त्वत: यस्य आत्मन: देहेन सह नानात्वं तस्य देह-योगजै: सुत-आदिभि: सह एकत्वं किम्?

वचनिका : परमार्थ से जिस आत्मा का देह के साथ भिन्नपना है; उसका देह के संयोग से उत्पन्न पुत्रादि के साथ एकपना कैसे हो सकता है?।।८४/१४२७।।

अब, इस पद्य द्वारा मोह का फल प्ररूपित है—

अनुष्टुभ् : **ममत्व-धिषणा येषां पुत्र-मित्रादि-गोचरा।**
साऽऽत्मरूपपरिच्छेदछेदिनी मोह-कल्पिता।।८५/१४२८।।

ममत्व बुद्धि है जिनके पुत्र मित्रादि गोचर।
वह आत्म-ज्ञान की नाशक मोह से ही है प्रकट।।८५/१४२८।।

शब्दश: अर्थ : ममत्व-धिषणा=मेरेपन की बुद्धि; येषां=जिनके; पुत्र-मित्र+आदि-गोचरा=पुत्र, मित्र आदि संबंधी; सा=वह; आत्म-रूप-परिच्छेद-छेदिनी=आत्म-ज्ञान को नष्ट करनेवाली; मोह-कल्पिता=मोह से व्यक्त।

अन्वय : येषां पुत्र-मित्र-आदि-गोचरा ममत्व-धिषणा, आत्म-रूप-परिच्छेद-छेदिनी सा मोह-कल्पिता।

वचनिका : जिनके पुत्र, मित्रादि में ममत्व-बुद्धि है; आत्म-ज्ञान को नष्ट करनेवाली वह मोह से व्यक्त हुई है।

भावार्थ : मिथ्यात्व के उदय से यह कल्पना-मात्र है, सत्यार्थ नहीं है।।८५/१४२८।।

अब, इस पद्य द्वारा अज्ञानी-ज्ञानी की निवास-संबंधी मान्यता प्रस्तुत है—

अनुष्टुभ् : **पत्तनं काननं सौधमेषानात्म-धियां मतिः।**
निवासो दृष्ट तत्त्वानामात्मैवास्त्यक्षयोऽमलः।।८६/१४२९।।

नगर महल जंगल में रहता मैं मिथ्यात्व-धी।
अक्षय अमल आत्मा ही है निवास सम्यक्त्व-धी।।८६/१४२९।।

शब्दश: अर्थ : पत्तनं=नगर; काननं=जंगल; सौधं=महल; एषा=यह; न+आत्म-धियां= आत्म-ज्ञान से रहित की; मतिः=बुद्धि/मान्यता; निवासः=रहने का स्थान; दृष्ट-तत्त्वानां=तत्त्वों को देखनेवाले के; आत्मा=स्वयं; एव=ही; अस्ति=है; अक्षयः=अविनाशी; अमलः=पवित्र।

अन्वय : (मम) निवासः पत्तनं काननं सौधं नात्म-धियां एषा मतिः, दृष्ट-तत्त्वानां अक्षयः अमलः आत्मा एव निवासः अस्ति।

वचनिका : मैं नगर, वन, महल में रहता हूँ—आत्म-ज्ञान-रहित मिथ्यादृष्टिओं के यह बुद्धि होती है। तत्त्वों को जाननेवाले सम्यग्दृष्टिओं का अविनाशी, पवित्र आत्मा ही निवास है।।८६/१४२९।।

अब, इस पद्य द्वारा जीव के विकारों का कारण सोदाहरण प्रस्तुत है—

उपजाति : **शुद्धस्य जीवस्य निरस्त-मूर्तेः सर्वे विकाराः परकर्म-जन्याः।**
मेघादि-जन्या इव तिग्मरश्मेर्विनश्वराः सन्ति विभास्वरस्य।।८७/१४३०।।

देदीप्यमान भानु के विनश्वर प्रकाश-हानि मेघादि-जन्य।
त्यों शुद्ध विन-मूर्ति जीव के हैं सब ही विकार पर-कर्मजन्य।।८७/१४३०।।

शब्दश: अर्थ : शुद्धस्य=पवित्र का; जीवस्य=जीव का; निरस्त-मूर्ते:=अमूर्तिक का; सर्वे= संपूर्ण; विकारा:=विकृत परिणमन; पर-कर्म-जन्या:=पर पदार्थरूप कर्म से उत्पन्न; मेघ+आदि-जन्या:=बादल आदि से उत्पन्न; इव=समान; तिग्म-रश्मे:=देदीप्यमान का; विनश्वरा:=नष्ट होनेवाले; सन्ति=हैं; विभास्वरस्य=सूर्य का।

अन्वय : तिग्म-रश्मे: विभास्वरस्य विनश्वरा: मेघ-आदि-जन्या: इव शुद्धस्य निरस्तमूर्ते: जीवस्य सर्वे विकारा: पर-कर्म-जन्या:।

वचनिका : जैसे—देदीप्यमान सूर्य के विनाशीक विकार (कहीं कम प्रकाश, कहीं अधिक प्रकाश इत्यादि) बादलों आदि के निमित्त से होते हैं, स्वभाव-जनित नहीं हैं; उसीप्रकार शुद्ध अमूर्तिक आत्मा के सभी विकार, पर-पदार्थरूप कर्म के उदयादि में उत्पन्न हैं; वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं।।८७/१४३०।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञानी की धनादि संबंधी मान्यता प्ररूपित है—

उपजाति : **दृष्टात्मतत्त्वो द्रविणादिलक्ष्मीं न मन्यते कर्मभवां स्वकीयाम्।**
विपक्षलक्ष्मीं भुवने विवेकी प्रपद्यते चेतसि क: स्वकीयाम्?।।८८/१४३१।।

निज आत्मदर्शी कर्मों से प्रकटी धन आदि लक्ष्मी माने न अपनी।
शत्रु की लक्ष्मी को निज की माने मन में भुवन में कोई विवेकी?।।८८/१४३१।।

शब्दश: अर्थ : दृष्ट+आत्म-तत्त्व:=आत्म-तत्त्व को देखनेवाला; द्रविण+आदि-लक्ष्मीं=धन आदि लक्ष्मी को; न=नहीं; मन्यते=मानता है; कर्म-भवां=कर्म से उत्पन्न हुई को; स्वकीयां= अपनी; विपक्ष-लक्ष्मीं=शत्रु की लक्ष्मी को; भुवने=लोक में; विवेकी=भेद-विज्ञानी; प्रपद्यते=मानता है; चेतसि=मन में; क:=कौन; स्वकीयां=अपनी।

अन्वय : दृष्ट-आत्म-तत्त्व: कर्म-भवां द्रविण-आदि-लक्ष्मीं स्वकीयां न मन्यन्ते, भुवने क: विवेकी विपक्ष-लक्ष्मीं चेतसि स्वकीयां प्रपद्यते?

वचनिका : आत्मा के स्वरूप को देखनेवाला व्यक्ति कर्मोदय से उत्पन्न हुई धन, धान्यादि लक्ष्मी को अपनी नहीं मानता है। लोक में कौन ऐसा विवेकी है जो शत्रु की लक्ष्मी को मन में भी अपनी मानेगा? कोई नहीं।।८८/१४३१।।

अब, इस पद्य में ज्ञानिओं द्वारा मान्य आत्मा का स्वरूप वर्णित है—

स्वागता : **ज्ञान-दर्शनमयं निरामयं मृत्यु-सम्भव-विकार-वर्जितम्।**
आमनन्ति सुधियोऽत्र चेतनं सूक्ष्ममव्ययमपास्तकल्मषम्।।८९/१४३२।।

सुधी मानते यहाँ आत्मा ज्ञान-दर्शनमई निरामय।
जन्म-मृत्यु विकार से रहित कर्म से रहित सूक्ष्म अक्षय।।८९/१४३२।।

शब्दश: अर्थ : ज्ञान-दर्शन-मयं=ज्ञान-दर्शनरूप; नि:+आमयं=रोग-रहित; मृत्यु-सम्भव-विकार-वर्जितं=मरण-जन्म के विकार से रहित; आमनन्ति=मानते हैं; सुधिय:=ज्ञानी; अत्र=यहाँ; चेतनं=आत्मा को; सूक्ष्मं=इंद्रिय-अगोचर; अव्ययं=अविनाशी; अपास्त-कल्मषं=कर्मों से पूर्णतया रहित।

अन्वय : अत्र सुधिय: चेतनं ज्ञान .... कल्मषं आमनन्ति।

वचनिका : यहाँ लोक में पंडित-जन आत्मा को ज्ञान-दर्शनमय, रोग-रहित, जन्म-मरणरूप विकार से रहित, सूक्ष्म, अक्षय और कर्मों से रहित मानते हैं।।८९/१४३२।।

अब, इस पद्य द्वारा शरीर से भिन्न चिंतन का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **विग्रहं कृमिनिकाय-सङ्कुलं दु:खदं हृदि विचिन्तयन्ति ये।**
गुप्ति बद्धमिव ते सचेतनं मोचयन्ति तनु-यन्त्र-मन्त्रितम्।।९०/१४३३।।
जो मन में सोचें शरीर को कृमि-समूह से भरा दुखद ही।
गुप्ति-बद्ध-वत् वे नित खोलें तनू-यंत्र-मंत्रित चेतन ही।।९०/१४३३।।

शब्दश: अर्थ : विग्रहं=शरीर को; कृमि-निकाय-सङ्कुलं=कीड़ों के समूह से भरे हुए को; दु:खदं=दु:ख देनेवाले को; हृदि=हृदय में; विचिन्तयन्ति=सोचते हैं; ये=जो; गुप्ति-बद्धं=गूढ बंधन को; इव=समान; ते=वे; सचेतनं=जीव को; मोचयन्ति=छुड़ाते हैं; तनु-यन्त्र-मन्त्रितं =शरीररूपी यंत्र से कीलित को।

अन्वय : ये हृदि कृमि-निकाय-सङ्कुलं दु:खदं विग्रहं (भिन्नं) विचिन्तयन्ति, ते गुप्ति-बद्धं इव तनु-यन्त्र-मन्त्रितं सचेतनं मोचयन्ति।

वचनिका : जो व्यक्ति हृदय में कीड़ों के समूह से भरे हुए; दु:ख-दाई शरीर को अपने से भिन्न विचारते हैं; वे गुप्ति-बंधन के समान शरीररूपी यंत्र से बँधे हुए आत्मा को छुड़ाते हैं।

भावार्थ : जो शरीर से आत्मा की भिन्नता का विचार करते हैं; उनके कर्म-बंध की निर्जरा होती है।।९०/१४३३।।

अब, इन दो पद्यों द्वारा ध्याता-पुरुष की स्थिति वर्णित है—

उपजाति : **स्थित्वा प्रदेशे विगतोपसर्गे पर्यङ्कबन्धस्थित-पाणिपद्म:।**
नासाग्रसन्स्थापित-दृष्टिपातो मन्दीकृतोच्छ्वासविवृद्धवेग:।।९१/१४३४।।
विधाय वश्यं चपल-स्वभावं मनोमनीषी विजिताक्षवृत्ति:।
विमुक्तये ध्यायति ध्वस्त-दोषं विविक्तमात्मानमनन्यचित्त:।।९२/१४३५।।
उपसर्ग-विरहित स्थल में स्थित पर्यंक आसन पर हाथ रखकर।
नासाग्र पर दृष्टि-पात स्थित उच्छ्वास का बड़ता वेग कम कर।।९१/१४३४।।

चंचल स्वभावी मन वश में लेकर इंद्रिय प्रवृत्ति को जीत विज्ञ।

शिव-सिद्धि हेतु एकाग्र मन-युत ध्याता सुपावन पर-पृथक् आतम।।९२/१४३५।।

शब्दश: अर्थ : स्थित्वा=बैठकर; प्रदेशे=स्थान में; विगत+उपसर्गे=बाधाओं से रहित में; पर्यङ्क-बन्ध-स्थित-पाणि-पद्म:=पर्यंकासन पर हस्त-कमल रख; नासा+अग्र-सन्स्थापित -दृष्टि-पात:=नासिका के अग्र भाग पर दृष्टि-पात को स्थापित करनेवाला; मन्दी-कृत+ उच्छ्वास-विवृद्ध-वेग:=उच्छ्वास के बड़े हुए वेग को मंद करनेवाला।

विधाय=करके; वश्यं=अधीन; चपल-स्वभावं=चंचल स्वभाव-युत को; मन:=मन को; मनीषी=बुद्धिमान; विजित+अक्ष-वृत्ति:=इंद्रियों की परिणति को जीतनेवाला; विमुक्तये=मोक्ष के लिए; ध्यायति=ध्याता है; ध्वस्त-दोषं=दोषों से पूर्णतया रहित को; विविक्तं=पर से पूर्णतया पृथक् को; आत्मानं=आत्मा को; अनन्य-चित्त:=एकाग्र मनवाला।

अन्वय : विगत-उपसर्गे प्रदेशे स्थित्वा.......चपल-स्वभावं मन: वश्यं विधाय विजित-अक्ष-वृत्ति: अनन्य-चित्त: मनीषी विमुक्तये ध्वस्त-दोषं विविक्तं आत्मानं ध्यायति।

वचनिका : दंश-मशक आदि की बाधा से रहित क्षेत्र में बैठकर पर्यंकासन पर हस्त-कमल रखनेवाला, नासिका के अग्र भाग में दृष्टि-पात को स्थापित करनेवाला, वृद्धि को प्राप्त हुए श्वासोच्छ्वास के वेग को मंद करनेवाला, चंचल स्वभाववाले मन को अपने में लेकर इंद्रियों की परिणति को जीतनेवाला, एकाग्र मन-युक्त ज्ञानी मुक्ति के लिए रागादि दोषों से रहित, समस्त पर-पदार्थों से पूर्णतया पृथक् आत्मा को ध्याता है।।९१-९२/१४३४-१४३५।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यानाभ्यास का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **अभ्यस्यतो ध्यानमनन्य-वृत्तेरित्थं विधानेन निरन्तरायम्।**

व्यपैति पापं भवकोटिबद्धं महाशमस्येव कषाय-जालम्।।९३/१४३६।।

एकाग्र-वृत्ति-युत विधि पूर्वक निर्बाध यों ध्यानाभ्यास से ये।

कषाय-भंडार महा शमन-सम सब पाप कोटी भव-बद्ध नशते।।९३/१४३६।।

शब्दश: अर्थ : अभ्यस्यत:=अभ्यास करते हुए का; ध्यानं=ध्यान को; अन्-अन्य-वृत्ते:=एकाग्र वृत्तिवाले का; इत्थं=इसप्रकार; विधानेन=विधि पूर्वक; नि:+अन्तरायं=विघ्न-रहित को; व्यपैति=नष्ट करता है; पापं=पाप को; भव-कोटि-बद्धं=करोड़ों भवों में बँधे हुए को; महा-शमनस्य=महा उपशम-भावी का; इव=समान; कषाय-जालं=कषाय के समूह को।

अन्वय : इत्थं विधानेन नि:-अन्तरायं ध्यानं अभ्यस्यत: अन्-अन्य-वृत्ते: महा-शमस्य कषाय-जालं इव भव-कोटि-बद्धं पापं व्यपैति।

वचनिका : इसप्रकार पूर्वोक्त विधान द्वारा अंतराय-रहित निरंतर ध्यान का अभ्यास करते

हुए पर-परिणति से रहित एकाग्र-वृत्तिवाले के; जैसे—उपशम-भाव से सहित के कषायों का समूह नष्ट हो जाता है; उसीप्रकार करोड़ों भवों के बँधे पाप का नाश हो जाता है।।९३/१४३६।।

अब, इस पद्य द्वारा ज्ञानी के ध्यान का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **ध्यानं पटिष्ठेन विधीयमानं कर्माणि भस्मीकुरुते विशुद्धम्।**

किं प्रेर्यमाण: पवनेन नाग्निश्चितानि सद्यो दहतीन्धनानि?।।९४/१४३७।।

विद्वान द्वारा कृत ध्यान शुद्ध करता सभी कर्म समाप्त नित ही।

क्या पवन से प्रेरित अग्नि शीघ्र संचित सभी ईंधन नहिं जलाती?।।९४/१४३७।।

शब्दश: अर्थ : ध्यानं=ध्यान को; पटिष्ठेन=ज्ञानी द्वारा; विधीयमानं=करनेवाला/किया गया; कर्माणि=सभी कर्म; भस्मी-कुरुते=भस्म करता है; विशुद्धं=पवित्र; किं=क्या; प्रेर्यमाणा:= प्रेरित किया गया; पवनेन=वायु से; न=नहीं; अग्नि:=आग; चितानि=इकट्ठा हुआ; सद्य:= शीघ्र; दहति=जलाती है; इन्धनानि=ईंधन को।

अन्वय : पटिष्ठेन विधीयमानं विशुद्धं ध्यानं कर्माणि भस्मीकुरुते, किं पवनेन प्रेर्यमाणा: अग्नि: चितानि इन्धनानि सद्य: न दहति?

वचनिका : ज्ञानी व्यक्ति द्वारा किया गया निर्मल ध्यान, कर्मों को भस्म कर देता है। पवन से प्रेरित अग्नि एकत्रित ईंधन को क्या शीघ्र ही दग्ध नहीं कर देती है? करती ही है।।९४/१४३७।।

किसके विना क्या नहीं होता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

उपजाति : **त्यागेन हीनस्य कुतोऽस्ति कीर्ति: सत्येन हीनस्य कुतोऽस्ति पूजा?**

न्यायेन हीनस्य कुतोऽस्ति लक्ष्मी ध्यानेन हीनस्य कुतोऽस्ति सिद्धि:।।९५/१४३८।।

है त्याग से शून्य के कीर्ति कैसी कैसे मिले पूजा सत्य-विन को?

हो लक्ष्मी कैसे न्याय-विरहित हो सिद्धि कैसे निज ध्यान विन को?।।९५/१४३८।।

शब्दश: अर्थ : त्यागेन=त्याग से; हीनस्य=रहित का; कुत:=कैसे; अस्ति=है; कीर्ति:=ख्याति; सत्येन=सत्य से; हीनस्य=रहित का; कुत:=कैसे; अस्ति=है; पूजा=बहुमान; न्यायेन=न्याय से; हीनस्य=रहित का; कुत:=कैसे; अस्ति=है; लक्ष्मी=वैभव; ध्यानेन=ध्यान से; हीनस्य= रहित का; कुत:=कैसे; अस्ति=है; सिद्धि:=मोक्ष-दशा।

अन्वय : त्यागेन हीनस्य कीर्ति: कुत: अस्ति? सत्येन हीनस्य पूजा कुत: अस्ति? न्यायेन हीनस्य लक्ष्मी कुत: अस्ति? ध्यानेन हीनस्य सिद्धि: कुत: अस्ति?

वचनिका : दान/त्याग से हीन व्यक्ति की कीर्ति कैसे हो? सत्य से हीन की पूजा कैसे हो? न्याय से हीन को लक्ष्मी कैसे हो? इसीप्रकार (आत्मा के) ध्यान से हीन की सिद्धि कैसे हो?।।९५/१४३८।।

अब, इस पद्य द्वारा सिद्धि हेतु ध्यान की नियामकता स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **तपान्सि रौद्राण्यनिशं विधत्तां शास्त्राण्यधीतामखिलानि नित्यम्।**

धत्तां चरित्राणि निरस्ततन्द्रो न सिध्यति ध्यानमृते तथाऽपि।।९६/१४३९।।

सदा विविध उग्र तपों को धारे संपूर्ण शास्त्रों को नित्य पढ़ ले।

निरालसी रह चारित्र धारे पर ध्यान-विन सिद्धि नहीं ही है।।९६/१४३९।।

शब्दशः अर्थ : तपान्सि=तपों को; रौद्राणि=उग्र को; अनिशं=निरंतर; विधत्तां=धारण करो; शास्त्राणि=शास्त्रों को; अधीतां=पढ़ो; अखिलानि=संपूर्ण; नित्यं=सतत; धत्तां=धारण करो; चारित्राणि=चारित्र को; निरस्त-तन्द्रः=आलस्य-रहित हो; न=नहीं; सिध्यति=सिद्धि होती है; ध्यानं=ध्यान को; ऋते=रहित; तथा=उसप्रकार/तब; अपि=भी।

अन्वय : रौद्राणि तपान्सि अनिशं विधत्तां, अखिलानि शास्त्राणि नित्यं अधीतां, निरस्त-तन्द्रः चारित्राणि धत्तां, तथापि ध्यानं ऋते न सिध्यति।

वचनिका : उग्र तपों को निरंतर धारते हो तो धारो, समस्त शास्त्रों को पढ़ते हो तो पढ़ो, आलस्य-रहित हो चारित्रों का आचरण करते हो तो करो; परंतु ध्यान के विना सिद्धि नहीं होती है। धर्म के सभी अंगों में ध्यान मुख्य है।।९६/१४३९।।

अब, इस पद्य द्वारा सोदाहरण ध्यान का फल प्ररूपित है—

उपजाति : **ध्यानं यदह्नाय ददाति सिद्धिं न तस्य खेदः परशर्मदाने।**

क्षयानलं हन्ति यदभ्र-वृन्दं न तस्य खेदः पर-वह्नि-घाते।।९७/१४४०।।

जो ध्यान देता सिद्धि को शीघ्र अहमिंद्र पद दे तो कष्ट नहिं उसे।

जो मेघ प्रलयानल बुझा देते नहिं कष्ट अन्यानल शांत में उसे।।९७/१४४०।।

शब्दशः अर्थ : ध्यानं=ध्यान; यत्=जो; अह्नाय=शीघ्र; ददाति=देता है; सिद्धिं=मोक्ष को; न=नहीं; तस्य=उसका; खेदः=कष्ट; पर-शर्म-दाने=अहमिंद्र पद देने में; क्षय+अनलं=प्रलय-कालीन अग्नि को; हन्ति=नष्ट करता है; यत्=जो; अभ्र-वृन्दं=मेघों का समूह; न=नहीं; तस्य=उसका; खेदः=कष्ट; पर-वह्नि-घाते=अन्य अग्नि को बुझाने में।

अन्वय : यत् ध्यानं अह्नाय सिद्धिं ददाति तस्य पर-शर्म-दाने खेदः न, यत् अभ्र-वृन्दं क्षय-अनलं हन्ति तस्य पर-वह्नि-घाते खेदः न।

वचनिका : जो ध्यान शीघ्र सिद्ध पद को देता है, उसे अन्य अहमिंद्रादि पद देने में खेद नहीं है। जो मेघ का समूह प्रलय-काल की अग्नि का नाश करता है, उसे अन्य अग्नि बुझाने में खेद नहीं है।।९७/१४४०।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान-तप का माहात्म्य वर्णित है—

उपजाति : **तपोऽन्तरानन्तरभेदभिन्ने तपोविधाने द्विविधे कदाचित्।**
समस्तकर्मक्षपणे समर्थं ध्यानेन शुद्धेन समं न दृष्टम्।।९८/१४४१।।

तप अंतरंग बहिरंग दो विध तप के सभी बारह भेद में से।
संपूर्ण कर्मों के क्षय में सक्षम नहिं अन्य निर्मल सुध्यान सम है।।९८/१४४१।।

शब्दश: अर्थ : तप:=तप; अन्त:+अन्-अन्तर-भेद-भिन्ने=अंतरंग और बहिरंग भेद से भिन्न में; तप:-विधाने=तप के विधान में; द्वि-विधे=दो प्रकारवाले में; कदाचित्=कभी; समस्त-कर्म-क्षपणे=संपूर्ण कर्मों का क्षय करने में; समर्थं=सक्षम; ध्यानेन=ध्यान से; शुद्धेन =पवित्र से; समं=समान; न=नहीं; दृष्टं=देखा है।

अन्वय : तप: अन्त:-अनन्तर-भेद-भिन्ने द्विविधे तप:-विधाने शुद्धेन ध्यानेन समं समस्त-कर्म-क्षपणे समर्थं कदाचित् न दृष्टम्।

वचनिका : अंतरंग और बहिरंग भेद से भिन्न दो प्रकारवाले तप के विधान में निर्मल ध्यान के समान समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ कोई अन्य नहीं दिखता है।

भावार्थ : अन्य तप तो ध्यान के साधन हैं और ध्यान, मोक्ष का साधन है; अत: यह ध्यान सभी में मुख्य है।।९८/१४४१।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान की सहेतुक प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **ध्यानस्य दृष्टेति फलं विशालं मुमुक्षुणाऽऽलस्यमपास्य कार्यम्।**
कार्ये प्रमाद्यन्ति न शक्तिमन्तो विलोकमाना: फलभूरिलाभम्।।९९/१४४२।।

यों ध्यान का देख विशाल फल नित मोक्षेच्छु को आलस छोड़ करना।
अति फलों युत लाभ विलोक शक्ति-युत कार्य में आलस नहीं करता।।९९/१४४२।।

शब्दश: अर्थ : ध्यानस्य=ध्यान का; दृष्टा=देख; इति=इसप्रकार; फलं=फल को; विशालं= महान को; मुमुक्षुणा=मुमुक्षु द्वारा; आलस्यं=आलस्य को; अपास्य=छोड़कर; कार्यं=करने योग्य है; कार्ये=कार्य में; प्रमाद्यन्ति=आलस करते हैं; न=नहीं; शक्तिमन्त:=सामर्थ्यवान; विलोकमाना:=देखनेवाले; फल-भूरि-लाभं=अधिक फलरूप लाभ को।

अन्वय : इति ध्यानस्य विशालं फलं दृष्टा मुमुक्षुणा आलस्यं अपास्य (ध्यानं) कार्यम्, फल-भूरि-लाभं विलोकमान: शक्तिमन्त: कार्ये न प्रमाद्यन्ति।

वचनिका : इसप्रकार ध्यान का बड़ा फल देखकर मोक्ष के इच्छुक द्वारा आलस्य को छोड़कर ध्यान करना योग्य है। अधिक फलरूप लाभ को देखनेवाले सामर्थ्यवान, कार्य में आलस्य नहीं करते हैं।।९९/१४४२।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान की कार्य-क्षमता प्ररूपित है—

उपजाति : **तपोविधानैर्बहु-जन्मलक्षैर्यो दह्यते सञ्चित-कर्मराशिः।**
क्षणेन स ध्यान-हुताशनेन प्रवर्तमानेन विनिर्मलेन।।१००/१४४३।।

अनेक लाखों जन्मों में तप से जलती है संचित जो कर्म-राशि।
प्रवर्तमान निर्मल ध्यान अग्नि से भस्म होते क्षण में सभी ही।।१००/१४४३।।

शब्दशः अर्थ : तपः-विधानैः=तप के विधानों से; बहु-जन्म-लक्षैः=अनेक लाखों जन्मों से; यः=जो; दह्यते=जलता है; सञ्चित-कर्म-राशिः=एकत्रित कर्मों का समूह; क्षणेन=क्षण-मात्र में; सः=वह; ध्यान-हुत+अशनेन=ध्यानरूपी अग्नि द्वारा; प्रवर्तमानेन=किए जानेवाले द्वारा; विनिर्मलेन=विशेष पवित्र द्वारा।

अन्वय : बहु-जन्म-लक्षैः तपः-विधानैः यः सञ्चित-कर्म-राशिः दह्यते, सः प्रवर्तमानेन विनिर्मलेन ध्यान-हुताशनेन क्षणेन दह्यते।

वचनिका : अनेक लाखों जन्मों में किए गए उपवासादि तपों द्वारा जो संचित कर्मों का समूह जलता है; कर्मों का वह समूह प्रवर्तित विशिष्ट निर्मल ध्यानरूपी अग्नि द्वारा क्षण-मात्र में दग्ध हो जाता है।।१००/१४४३।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान करने की प्रेरणा सहेतुक देते हैं—

उपजाति : **निर्वाणहेतो*भवपातभीतैर्ध्याने प्रयत्नः परमो विधेयः।**
यियासुभिर्मुक्तिपुरीमबाधामुपायहीना न हि साध्यसिद्धिः।।१०१/१४४४।।

भव-पात-भीत मोक्षेच्छु द्वारा निर्बाध शिव हेतु सिद्धि-कारण।
निज ध्यान में तीव्र प्रयत्न करना नहिं साध्य-सिद्धि साधन-विहीन।।१०१/१४४४।।

शब्दशः अर्थ : निर्वाण-हेतोः/हेतौ=मोक्ष के कारण का/में; भव-पात-भीतैः=संसार में गिरने से डरे हुए द्वारा; ध्याने=ध्यान में; प्रयत्नः=प्रयास; परमः=उत्कृष्ट; विधेयः=करने-योग्य है; यियासुभिः=जाने के इच्छुक द्वारा; मुक्ति-पुरीं=मोक्षरूपी नगर को; अबाधां=विघ्न-रहित को; उपाय-हीनाः=उपाय के विना; न=नहीं; हि=वास्तव में; साध्य-सिद्धिः=साध्य की सिद्धि।

अन्वय : भव-पात-भीतैः अबाधां मुक्तिपुरीं यियासुभिः निर्वाण-हेतोः/हेतौ ध्याने परमः प्रयत्नः विधेयः, हि उपाय-हीना साध्य-सिद्धिः न।

** हेतौ —इति पाठान्तरम्।*

वचनिका : संसार में गिरने से भयभीत, बाधा-रहित मुक्ति-पुरी जाने के इच्छुक व्यक्तिओं द्वारा मोक्ष के हेतु से ध्यान में उत्कृष्ट प्रयत्न करना योग्य है; क्योंकि साध्य की सिद्धि, उपाय के विना नहीं होती है और मोक्ष का उपाय ध्यान ही है।।१०१/१४४४।।

अब, इस पद्य द्वारा अशरीरी-दशा-प्राप्ति की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति : **देहात्मनोरात्मवता वियोगो मन: स्थिरीकृत्य तथा विचिन्त्य:।**
हेतुर्भवानर्थ-परम्पराया: स्वप्नेऽपि योगो न यथाऽस्ति भूय:।।१०२/१४४५।।

आत्मज्ञ को तन चेतन पृथक्ता को चित्त-स्थिर कर यों समझना।
जिससे नहीं स्वप्न में पुन: योग भव-दु:ख संतति के हेतु तन का।।१०२/१४४५।।

शब्दश: अर्थ : देह+आत्मनो:=शरीर और आत्मा का; आत्म-वता=आत्म-ज्ञानी द्वारा; वियोग:=पृथक्पना; मन:स्थिरी-कृत्य=मन को स्थिरकर; तथा=उसप्रकार से; विचिन्त्य:= चिंतन करने-योग्य है; हेतु:=कारण; भव+अनर्थ-परम्पराया:=संसार में दु:खों की परंपरा का; स्वप्ने=स्वप्न में; अपि=भी; योग:=संयोग; न=नहीं; यथा=जैसे; अस्ति=है; भूय:=पुन:।

अन्वय : आत्म-वता मन: स्थिरी-कृत्य देह-आत्मनो: वियोग: तथा विचिन्त्य: यथा भव-अनर्थ-परम्पराया: हेतु: योग: स्वप्ने अपि भूय: न अस्ति।

वचनिका : आत्म-ज्ञानी व्यक्ति को चित्त को स्थिर करके देह और आत्मा का वियोग अर्थात् भिन्नपना उसप्रकार से विचारना-योग्य है; जिसप्रकार से संसार के दु:ख की परंपरा के कारणभूत शरीर का संयोग स्वप्न में भी पुन: नहीं होता है।।१०२/१४४५।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान करने की पात्रता प्ररूपित है—

उपजाति : **निरस्त-सर्वेन्द्रिय-कार्यजातो यो देहकार्यं न करोति किञ्चित्।**
स्वात्मीयकायोद्यतचित्तवृत्ति: स ध्यानकार्यं विदधाति धन्य:।।१०३/१४४६।।

सब इंद्रियों का सब कार्य रोका जो देह कार्य करता न कुछ भी।
प्रयत्न-रत आत्मिय कार्य हेतु ध्यान कार्य करता है धन्य वह ही।।१०३/१४४६।।

शब्दश: अर्थ : निरस्त-सर्व-इन्द्रिय-कार्य-जात:=सभी इंद्रियों के कार्य को रोकनेवाला; य: =जो; देह-कार्यं=शरीर के कार्य को; न=नहीं; करोति=करता है; किञ्चित्=कुछ भी; स्व +आत्मीय-कार्य+उद्यत-चित्त-वृत्ति:=अपने आत्मा का कार्य करने में प्रयत्न-शील मनोवृत्तिवाला; स:=वह; ध्यान-कार्यं=ध्यान के कार्य को; विदधाति=करता है; धन्य:=धन्य।

अन्वय : निरस्त..... कार्यं किञ्चित् न करोति, स्वा.....स: धन्य: ध्यान-कार्यं विदधाति।

वचनिका : स्पर्शन आदि सभी इंद्रियों के कार्यों के समूह को नष्ट करनेवाला अर्थात् स्पर्शादि

विषयों में इंद्रियों के राग-सहित परिणमन को रोकनेवाला, अपने आत्मा के कार्य में उद्यम-सहित चित्त की परिणतिवाला वह धन्य व्यक्ति ध्यानरूप कार्य को करता है।।१०३/१४४६।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी पात्रता को विशेष स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **यद्धिण्डमानं जगदन्तराले धर्तुं न शक्यं मनुजामरेन्द्रैः।**
तन्मानसं यो विदधाति वश्यं ध्यानं स धीरो विदधात्यवश्यम्।।१०४/१४४७।।

नरेंद्र-देवेंद्रों के न वश में जग में स्वच्छंद फिरते हुए मन।
को रोक लेता वह धीर ध्यान करने में सक्षम होता अवश्य।।१०४/१४४७।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; हिण्डमानं=स्वच्छंद भटकते हुए को; जगत्+अन्तराले=लोक में सर्वत्र; धर्तुं=धरने/रोकने के लिए; न=नहीं; शक्यं=समर्थ; मनुज+अमर+इन्द्रैः=नरेंद्रों और देवेंद्रों द्वारा; तत्=उस; मानसं=मन को; य:=जो; विदधाति=करता है; वश्यं=अपने अधीन; ध्यानं=ध्यान को; स:=वह; धीर:=धैर्यवान; विदधाति=करता है; अवश्यं=निश्चित ही।

अन्वय : जगत् अन्तराले हिण्डमानं यत् मनुज-अमर-इन्द्रैः धर्तुं शक्यं न तत् मानसं य: वश्यं विदधाति स: धीर: अवश्यं ध्यानं विदधाति।

वचनिका : लोक में स्वच्छंद डोलनेवाला जो नरेंद्रों, देवेंद्रों द्वारा रुकने के लिए समर्थ नहीं है; उस मन को जो अपने वश में कर लेता है, वह धीर निश्चित ही ध्यान को करता है।

भावार्थ : जिसका मन वशीभूत है, वही ध्यान करने को समर्थ है।।१०४/१४४७।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी पात्रता को पुन: स्पष्ट करते हैं—

उपजाति : **वाणैः समं पञ्चभिरुग्रवेगैर्विद्धास्त्रिलोक-स्थित-जीव-वर्गः।**
न मन्मथस्तिष्ठति यस्य चित्ते विनिश्चलस्तिष्ठति तस्य योगः।।१०५/१४४८।।

त्रैलोक्य-स्थित जीवों का वेधक बहु उग्रवेगी पाँचों शरों से।
वह काम जिसके मन में नहीं है सुस्थिर सुध्यान होता उसी के।।१०५/१४४८।।

शब्दश: अर्थ : वाणैः=बाणों द्वारा; समं=एक साथ; पञ्चभि:=पाँचों द्वारा; उग्र-वेगैः=अति तीव्र वेगवाले द्वारा; विद्धः=वेधा है; त्रि-लोक-स्थित-जीव-वर्गः=तीन-लोक में स्थित जीव-समूह; न=नहीं; मन्मथः=काम/विषय-वासना; तिष्ठति=रहता है; यस्य=जिसका; चित्ते=मन में; विनिश्चल:=अति स्थिर; तिष्ठति=होता है; तस्य=उसका; योग:=ध्यान।

अन्वय : त्रि-लोक-स्थित-जीव-वर्ग: उग्र-वेगैः पञ्चभि: वाणैः समं विद्धः मन्मथ: यस्य चित्ते न तिष्ठति तस्य विनिश्चल: योग: तिष्ठति।

वचनिका : तीन-लोक में स्थित जीवों का समूह जिसके अति तीव्र वेगवान पाँचों बाणों से

एक साथ बेधित है, वह काम/विषय-वासना जिसके मन में नहीं है, उसके अति स्थिर ध्यान होता है।।१०५/१४४८।।

अब, इस पद्य द्वारा उसी पात्रता को विशेष स्पष्ट करते हैं—

भुजंग-प्रयात : **न रोषो न तोषो न मोषो न दोषो, न कामो न कम्पो न दामो न लोभ:।**

न मानो न माया न खेदो न मोह:, यदीयेऽस्ति चित्ते तदीयेऽस्ति योग:।।१०६/१४४९।।

नहीं क्रोध नहिं राग नहिं चोर न दोष, नहीं काम नहिं भय न दंभ न लोभ।

नहीं मान माया न खेद न मोह, जिसके हृदय में वही करता योग।।१०६/१४४९।।

शब्दश: अर्थ : न=नहीं; रोष:=क्रोध; न=नहीं; तोष:=राग; न=नहीं; मोष:=चोर; न=नहीं; दोष:=अन्याय आदि दोष; न=नहीं; काम:=विषय-वासना; न=नहीं; कम्प:=भय; न=नहीं; दम्भ:=धोखा देना; न=नहीं; लोभ:=लालसा; न=नहीं; मान:=घमंड; न=नहीं; माया=छल-कपट; न=नहीं; खेद:=शोक; न=नहीं; मोह:=मोह; यदीये=जिसके; अस्ति=है; चित्ते=मन में; तदीये=उसके; अस्ति=है; योग:=ध्यान।

अन्वय : यदीये चित्ते रोष: न तोष: न मोष: न दोष: न काम: न कम्प: न दम्भ: न लोभ: न मान: न माया न खेद: न मोह: न अस्ति, तदीये योग: अस्ति।

वचनिका : जिस व्यक्ति के मन में क्रोध, राग, चौर-वृत्ति, अन्याय आदि दोष, काम, भय, दंभ, लोभ, मान, माया, खेद, मोह नहीं हैं; उस व्यक्ति के ध्यान होता है। जिसके रागादि विकार हैं, उसके ध्यान नहीं होता है।।१०६/१४४९।।

मोक्ष के लिए कौन पुरुषार्थ कर सकता है? इसका उत्तर अब, इस पद्य द्वारा प्रस्तुत है—

उपजाति : **प्रवर्धमानोद्यत-सेवनायां जीवस्य गुप्ताविव मन्यते य:।**

शरीर-कुट्यां वसतिं महात्मा हानाय तस्या यतते स शीघ्रम्।।१०७/१४५०।।

जो जीव-कारागृह-सम समझता अति तीव्र बड़ते दुख परिणति-युत।

शरीर कुट्टी बसती महात्मा वह नाश हेतु करता प्रयत्न।।१०७/१४५०।।

शब्दश: अर्थ : प्रवर्धमान+उद्यत-सेवनायां=बड़नेवाले तीव्र दु:खरूप परिणति में; जीवस्य=प्राणी का; गुप्तौ=कारागृह में; इव=समान; मन्यते=मानता है; य:=जो; शरीर-कुट्यां=शरीररूपी कुट्टी में; वसतिं=निवास-स्थान को; महात्मा=महा-पुरुष; हानाय=नष्ट करने के लिए; तस्या:=उसका; यतते=प्रयत्न करता है; स:=वह; शीघ्रं=जल्दी।

अन्वय : य: जीवस्य गुप्तौ इव प्रवर्धमान-उद्धत-सेवनायां शरीर-कुट्यां वसतिं मन्यते, स: महात्मा तस्या: हानाय शीघ्रं यतते।

वचनिका : जो व्यक्ति प्राणी के कारागृह में निवास के समान बड़नेवाले तीव्र दुःखोंरूपी परिणतिमय शरीररूपी कुट्टी में निवास को मानता है; वह महात्मा उस शरीररूपी कुट्टी को नष्ट करने के लिए शीघ्र ही यत्न करता है। वह मुक्त होने का उपाय करता है—ऐसा जानना।।१०७/१४५०।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्याता की बहिरंग-अंतरंग स्थिति वर्णित है—

उपजाति : **समाधिविध्वंसविधौ पटिष्ठं न जातु लोकव्यवहारपाशम्।**
करोति यो निष्पृहचित्तवृत्तिः प्रवर्तते ध्यानममुष्य शुद्धम्।।१०८/१४५१।।

एकाग्रता नाशन में प्रवीण बंधनमई जग व्यवहार रंच।
जो नहिं करे निर्वांक्षक मनोमय इसके प्रवर्ते वह शुद्ध-ध्यान।।१०८/१४५१।।

शब्दशः अर्थ : समाधि-विध्वन्स-विधौ=एकाग्रता को नष्ट करने के उपाय में; पटिष्ठं=प्रवीण को; न=नहीं; जातु=रंच-मात्र; लोक-व्यवहार-पाशं=लौकिक-व्यवहाररूपी बंधन को; करोति=करता है; यः=जो; निष्पृह-चित्त-वृत्तिः=लालसा से रहित मनवाला; प्रवर्तते=होता है; ध्यानं=ध्यान; अमुष्य=इसके; शुद्धं=पवित्र।

अन्वय : निष्पृह-चित्त-वृत्तिः यः समाधि-विध्वंस-विधौ पटिष्ठं लोक-व्यवहार-पाशं जातु न करोति अमुष्य शुद्धं ध्यानं प्रवर्तते।

वचनिका : मन की वांक्षा-रहित परिणतिवाला जो एकाग्रता को नष्ट करने की विधि में प्रवीण लोक-व्यवहार के पाश को रंच-मात्र नहीं करता है; इसके निर्मल ध्यान प्रवर्तित होता है।।१०८/१४५१।।

अब, इस पद्य द्वारा आर्त-रौद्र-ध्यान परिभाषित हैं—

उपजाति : **विधीयते ध्यानमवेक्षमाणैर्यद्धूत-बोधैरिह लोक-कार्यम्।**
रौद्रं तदार्तं च वदन्ति सन्तः कर्मद्रुमच्छेदन-बद्धकक्षाः।।१०९/१४५२।।

जो मूढ लौकिक कार्यों के इच्छुक द्वारा किया जाता ध्यान जग में।
वह आर्त-रौद्र है कर्म-वृक्ष छेदन में संलग्न सुसंत कहते।।१०९/१४५२।।

शब्दशः अर्थ : विधीयते=किया जाता है; ध्यानं=ध्यान; अवेक्षमाणैः=चाहनेवालों द्वारा; यत्=जो; धूत-बोधैः=अज्ञानिओं द्वारा; इह=यहाँ; लोक-कार्यं=लौकिक कार्य को; रौद्रं=रुद्रतावाला; तत्=वह; आर्तं=दुःखवाला; च=और; वदन्ति=कहते हैं; सन्तः=संत-जन; कर्म-द्रुम-छेदन-बद्ध-कक्षाः=कर्मरूपी वृक्ष का छेदन करने के लिए कमर कसकर तैयार रहनेवाले/सतत प्रयत्न-शील।

अन्वय : इह लोक-कार्यं अवेक्षमाणै: धूत-बोधै: यत् ध्यानं विधीयते, तत् कर्म-द्रुम-छेदन-बद्ध-कक्षा: सन्त: रौद्रं च आर्तं वदन्ति।

वचनिका : इस लोक संबंधी कार्य के इच्छुक अज्ञानिओं द्वारा जो ध्यान किया जाता है; उस ध्यान को कर्मरूपी वृक्ष का छेदन करने के लिए कमर कसकर प्रयत्न करनेवाले संत-जन, रौद्र और आर्त-ध्यान कहते हैं।।१०९/१४५२।।

मोक्ष-कारक ध्यान, सांसारिक सुख हेतु नहीं करना; यह इस पद्य द्वारा अब, सोदाहरण प्ररूपित है—

उपजाति : **सान्सारिकं सौख्यमवाप्तुकामैर्ध्यानं विधेयं न विमोक्ष-कारि।**
न कर्षणं सस्यविधायि लोके पलाललाभाय करोति कोऽपि।।११०/१४५३।।

संसार सुख प्राप्ति भावना से करना नहीं ध्यान विमुक्ति-कारक।
पलाल हेतु जग में न कोई खेती करे धान्योत्पत्ति-कारक।।११०/१४५३।।

शब्दश: अर्थ : सान्सारिकं=संसार-संबंधी; सौख्यं=सुख को; अवाप्तु-कामै:=प्राप्त करने की इच्छावाले द्वारा; ध्यानं=ध्यान को; विधेयं=करना योग्य है; न=नहीं; विमोक्ष-कारि=मोक्ष को करनेवाला; न=नहीं; कर्षणं=कृषी/खेती को; सस्य-विधायि=धान्य को उत्पन्न करनेवाली; लोके=जगत में; पलाल-लाभाय=पलाल की प्राप्ति के लिए; करोति=करता है; क:=कौन/कोई; अपि=भी।

अन्वय : विमोक्ष-कारि ध्यानं सान्सारिकं सौख्यं अवाप्तु-कामै: न विधेयं, लोके क: अपि सस्य-विधायि कर्षणं पलाल-लाभाय न करोति।

वचनिका : मोक्ष को करनेवाले ध्यान को संसार के सुख को पाने की वांक्षा से करना, योग्य नहीं है। लोक में कोई भी धान्य को उत्पन्न करनेवाली खेती को पलाल को पाने के लिए नहीं करता है।

भावार्थ : धान्य के लिए जो खेती करेगा, उसे पलाल तो स्वयमेव मिलेगा ही; उसीप्रकार मोक्ष के लिए जो ध्यान करता है, उसे संसार-सुख तो जब तक शुभ-राग है, तब तक स्वयमेव होता है। जो विषय-सुख की वांक्षा करता है, वह तो उससे उल्टा रौद्र-ध्यान करता है; अत: संसार-सुख की वांक्षा-सहित ध्यान करना, उचित नहीं है।।११०/१४५३।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यानाभ्यास की प्रेरणा देते हैं—

उपजाति :**अभ्यस्यमानं बहुधा स्थिरत्वं यथेति दुर्बोधमपीह शास्त्रम्।**
नूनं तथा ध्यानमपीति मत्वा ध्यानं सदाऽभ्यस्यतु मोक्तुकाम:।।१११/१४५४।।

अभ्यास करने से ज्यों कठिन भी हो शास्त्र का ज्ञान सरल सुथिर भी।
यों मान अभ्यास करो निरंतर मोक्षार्थी निश्चित सद्ध्यान का भी।।१११/१४५४।।

शब्दश: अर्थ : अभ्यस्यमानं=अभ्यास किया गया; बहुधा=अनेक प्रकार से; स्थिरत्वं=स्थिरता को; यथा=जैसे; एति=प्राप्त हो जाता है; दु:-बोधं=कठिन ज्ञानवाला; अपि=भी; इह=यहाँ; शास्त्रं=ग्रंथ; नूनं=निश्चित; तथा=उसीप्रकार; ध्यानं=ध्यान; अपि=भी; इति=इसप्रकार; मत्वा=मानकर; ध्यानं=ध्यान को; सदा=निरंतर; अभ्यस्यतु=अभ्यास करो; मोक्तु-काम:= मोक्ष की इच्छा करनेवाला।

अन्वय : यथा इह दुर्बोधं शास्त्रं अपि बहुधा अभ्यस्यमानं स्थिरत्वं एति तथा ध्यानं अपि इति मत्वा मोक्तु-काम: नूनं सदा ध्यानं अभ्यस्यतु।

वचनिका : जैसे—इस लोक में अति कठिनता से ज्ञात होनेवाला शास्त्र भी अनेक प्रकार से अभ्यास किया गया स्थिरता को प्राप्त होता है; उसीप्रकार ध्यान का अभ्यास करने से भी मोक्ष को प्राप्त हो जाता है—ऐसा मानकर मुक्त होने के इच्छुक वास्तव में सदा ध्यान का अभ्यास करो।।१११/१४५४।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान का फल वर्णित है—

उपजाति : **अवाप्य मानुष्यमिदं सुदुर्लभं करोति यो ध्यानमनन्यमानस:।**
भनक्ति सन्सारदुरन्तपञ्जरं स्फुटं स सद्यो गुरुदु:ख-मन्दिरम्।।११२/१४५५।।

यह महा दुर्लभ मानुष्य पाकर एकाग्र-चित्ती जो ध्यान करता।
वह घोर दु:खों के घर दुरंत संसार-पिंजर को शीघ्र नशता।।११२/१४५५।।

शब्दश: अर्थ : अवाप्य=प्राप्तकर; मानुष्यं=मनुष्यता को; इदं=इस; सुदुर्लभं=अति-दुर्लभ को; करोति=करता है; य:=जो; ध्यानं=ध्यान को; अन्+अन्य-मानस:=एकाग्र मनवाला; भनक्ति=भेदन कर देता है; सन्सार-दुरन्त-पञ्जरं=कठिनता से नष्ट होनेवाले संसाररूपी पिंजरे को; स्फुटं=प्रकटपने; स:=वह; सद्य:=शीघ्र; गुरु-दु:ख-मन्दिरं=घोर दु:खों के घर को।

अन्वय : इदं सुदुर्लभं मानुष्यं अवाप्य अनन्य-मानस: य: ध्यानं करोति स: गुरु-दु:ख-मन्दिरं सन्सार-दुरन्त-पञ्जरं स्फुटं सद्य: भनक्ति।

वचनिका : इस महा-दुर्लभ मनुष्यता को प्राप्तकर एकाग्र-मनवाला जो ध्यान करता है; वह घोर दु:खों के घर, कठिनता से नष्ट होनेवाले संसाररूपी पिंजरे को प्रकटपने शीघ्र नष्ट कर देता है।।११२/१४५५।।

अब, इस पद्य द्वारा धन्यवाद की पात्रता प्ररूपित है—

स्वागता : **यो जिनदृष्टं शम-यम-सहितं ध्यानमपाकृतसकलविकार:।**
ध्यायति धन्यो मुनिजन-महितं चित्त-निवेशित-परमविचार:।।११३/१४५६।।

मन में आत्म-विचारक धन्य सकल विकार हटा जो ध्याता।
मुनि-जन पूजित जिनवर दर्शित शम-यम सहित ध्यान वह वरता।।११३/१४५६।।

शब्दश: अर्थ : य:=जो; जिन-दृष्टं=जिनवर द्वारा बताए गए को; शम-यम-सहितं=कषायों के अभावरूप शम और जीवन पर्यंत पाप-क्रिया के त्यागरूप यम-भाव से सहित को; ध्यानं= ध्यान को; अपाकृत-सकल-विकार:=रागादि संपूर्ण विकारों को दूर करनेवाला; ध्यायति=ध्याता है; धन्य:=धन्य; मुनि-जन-महितं=मुनि-जनों द्वारा पूजित को; चित्त-निवेशित-परम-विचार:=चित्त में प्रकट हुए उत्कृष्ट विचारवाला।

अन्वय : अपाकृत-सकल-विकार: चित्त-निवेशित-परम-विचार: य: जिन-दृष्टं शम-यम-सहितं मुनि-जन-महितं ध्यानं ध्यायति (स:) धन्य:।

वचनिका : रागादि संपूर्ण विकारों को दूर करनेवाला, चित्त में प्रकट हुए परम-विचार अर्थात् आत्मा के विचारवाला जो जिनेंद्र भगवान द्वारा दर्शित, कषायों के अभावरूप शम-भाव और जीवन पर्यंत पाप-क्रिया के त्यागरूप यम-भाव से सहित, मुनि-जनों द्वारा पूजित ध्यान को ध्याता है, वह धन्य है।।११३/१४५६।।

अब, इस पद्य द्वारा ध्यान का फल प्ररूपित है—

स्वागता : **नाकि-निकायस्तुत-पद-कमलो दीर्णदुरुत्तर-भवभय-दु:खाम्।**
याति स भव्योऽमितगतिरनघां मुक्तिमनश्वरनिरुपमसौख्याम्।।११४/१४५७।।

देव समूह पूज्य पद पंकज अमित-गति वह भव्य सुदुस्तर।
भव-भय-दुख नाशक अविनश्वर पाता अनुपम शिव सुख निर्मल।।११४/१४५७।।

शब्दश: अर्थ : नाकि-निकाय-स्तुत-पद-कमल:=देवों के समूह से स्तुत चरण-कमलवाला; दीर्ण-दुरुत्तर-भव-भय-दु:खां=कठिनाई से पार पानेवाले सांसारिक भय संबंधी दु:खों को नष्ट करनेवाले को; याति=जाता है; स:=वह; भव्य:=मोक्ष होने की योग्यतावाला; अमित-गति:=असीम-ज्ञानवाला; अनघां=निर्दोष को; मुक्तिं=मोक्ष को; अनश्वर-निरुपम-सौख्यां= अविनाशी अनुपम सौख्य को।

अन्वय : नाकि-निकाय-स्तुत-पद-कमल: अमित-गति: स: भव्य: दीर्ण-दुरुत्तर-भव-भय-दु:खां अनघां अनश्वर-निरुपम-सौख्यं मुक्तिं याति।

वचनिका : देवों के समूह से स्तुत चरण-कमलवाला, असीम ज्ञान-संपन्न वह भव्य, कठिनाई

से पार होनेवाले सांसारिक भय संबंधी दु:ख को नष्ट करनेवाले, निर्दोष, अविनाशी, अनुपम सुख-संपन्न मोक्ष को प्राप्त होता है।

भावार्थ : ऐसे ध्यान का फल मोक्ष अवस्था की व्यक्तता है।।११४/१४५७।।

सवैया इकतीसा : **ध्यान स्वरूप कह्यो जिनराज व्रतादि समाज समेत विचारै,**
चित्त बसै परमारथ में सब राग विरोध विकार विडारै।
सो सुर पूजित पाद-सरोज अनंत गुणातम रूप निहारै,
मत्त रहै सुख वारिधि में नहिं जन्म भवावलि में फिर धारै।।

अर्थ : जिनेंद्र भगवान द्वारा प्ररूपित ध्यान के स्वरूप का व्रतादि समूह से सहित विचारकर परमार्थ में लगा हुआ जिसका मन राग-द्वेष आदि संपूर्ण विकारों को नष्ट कर देता है; देवों से पूजित चरण-कमलवाला वह अनंत गुणात्मक स्वरूप को निहारता हुआ सुख-सागर में मत्त, तृप्त रहता है; जन्मादि की भवावलि को फिर धारण नहीं करता है।

इसप्रकार श्री अमित-गति आचार्य-विरचित श्रावकाचार में पंद्रहवाँ परिच्छेद समाप्त हुआ।।१५।।

मूल-ग्रन्थ-कर्तुः प्रशस्तिः — मूल-ग्रंथ-कर्ता की प्रशस्ति

अब, आचार्यश्री अमितगति अपने गुरु की परंपरा कहते हैं—

उपजाति : **अभूत्समो यस्य न तेजसेनः स शुद्धबोधोऽजनि देवसेनः।**
मुनीश्वरो निर्जित-कामसेनः पादारविन्द-प्रणतेन्द्रसेनः।।१।।

जिनके समान सूर्य-प्रभा नहीं है मुनिओं के स्वामी हैं काम-विजयी।
सब देव गण पूजित पाद-पद्म देवसेन प्रकटे सद्ज्ञानधारी।।१।।

शब्दशः अर्थ : अभूत्=हुए; समः=समान; यस्य=जिसका; न=नहीं; तेजसेनः=प्रभा से सूर्य; सः=वह; शुद्ध-बोधः=शुद्ध-ज्ञान; अजनि=प्रकट हुआ; देवसेनः=देवसेन; मुनि+ईश्वरः= मुनिओं के ईश्वर आचार्य; निर्जित-काम-सेनः=काम की सेना को जीतनेवाला; पाद+अरविन्द -प्रणत+इन्द्र-सेनः=चरण-कमलों में नमन करते हुए देवों के समूहवाला/देवों द्वारा पूजित।

अन्वय : यस्य समः तेजसेनः न, निर्जित-काम-सेनः, पाद-अरविन्द-प्रणत-इन्द्र-सेनः शुद्ध-बोधः सः देवसेनः मुनि-ईश्वरः अजनि अभूत्।

वचनिका : जिनके समान सूर्य का तेज नहीं है ऐसे काम-विजयी, देवों के समूह से पूजित चरण-कमलवाले, शुद्ध/सम्यग्ज्ञान-संपन्न वे देवसेन नामक आचार्य प्रकट हुए हैं।।१।।

वसंत-तिलका : **दोषान्धकार-परिमर्दनबद्धकक्षो, भूतस्ततोऽमितगतिर्भुवनप्रकाशः।**
तिग्मद्युतेरिव दिनः कमलावबोधी, मार्गप्रबोधनपरो बुधपूजनीयः।।२।।

दोषांधकार हरने अति यत्न-शील, लोक-प्रकाशक रवि कमलावबोधक।
शिवमार्ग नित्य दर्शक बुध पूजनीय, उनसे हुए अमितगति नामक मुनींद्र।।२।।

शब्दशः अर्थ : दोष+अन्धकार-परिमर्दन-बद्ध-कक्षः=मिथ्यात्व आदि दोषरूपी अंधकार का नाश करने में कमर बाँधनेवाले/सतत प्रयत्न-शील; भूतः=हुए; ततः=उससे; अमितगतिः= अमितगति नामक; भुवन-प्रकाशः=लोक को प्रकाशित करनेवाला; तिग्म-द्युतेः=सूर्य से; इव=समान; दिनः=दिवस; कमल+अवबोधी=कमलों को प्रफुल्लित करनेवाला; मार्ग-प्रबोधन-परः=मार्ग को प्रकट करने में संलग्न; बुध-पूजनीयः=ज्ञानिओं द्वारा पूज्य।

अन्वय : ततः दोषान्धकार........अमितगतिः भूतः।

वचनिका : उन देवसेन आचार्य के शिष्य, मिथ्यात्वादि दोषरूपी अंधकार का नाश करने के लिए कमर बाँधनेवाले/सतत प्रयत्न-शील, लोक को प्रकाशित करनेवाले; जैसे—सूर्य से दिन हो जाता है, कमल प्रफुल्लित हो जाते हैं और मार्ग दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार कमला अर्थात् लक्ष्मी को प्रफुल्लित करनेवाले, मोक्ष-मार्ग को प्रकट करनेवाले, विद्वानों द्वारा पूज्य अमितगति नामक आचार्य हुए हैं।।२।।

उपजाति : **विद्वत्समूहार्चितचित्रशिष्यः श्रीनेमिषेणोऽजनि तस्य शिष्यः।**
श्रीमाथुरानूकनभः-शशाङ्कः सदा विधूताऽऽर्हत-तत्त्व-शङ्कः।।३।।

उनके सुशिष्य श्री नेमिषेण विज्ञों से पूजित बहु शिष्य-युक्त।
नभ-चंद्र-वत् माथुर-संघ के वे प्रकटे विनाशक जिन-तत्त्व-संशय।।३।।

शब्दशः अर्थ : विद्वत-समूह+अर्चित-चित्र-शिष्यः=विद्वानों के समूह से पूजित अनेकों शिष्योंवाला; श्रीनेमिषेणः=नेमिषेण नामक आचार्य; अजनि=प्रकट हुआ; तस्य=उसका; शिष्यः=शिष्य; श्री-माथुर+अनूक-नभ-शशाङ्कः=श्री माथुर नामक संघरूपी आकाश में चंद्रमा-समान; सदा=सतत; विधूत+आर्हत-तत्त्व-शङ्कः=अरहंत-भाषित तत्त्वों में की गई शंकाओं का निराकरण करनेवाला।

अन्वय : तस्य शिष्यः विद्वत्समूह......शङ्कः श्री नेमिषेणः अजनि।

वचनिका : उन अमितगति आचार्य के विद्वानों के समूह से पूजित अनेकों शिष्यवाले, श्री माथुर संघरूपी आकाश में चमकनेवाले चंद्रमा के समान, अरहंत-भाषित तत्त्वों में अन्य के द्वारा प्रकट की गई शंकाओं का सदा विनाश करनेवाले श्री नेमिषेण हुए।।३।।

स्वागता : **माधवसेनोऽजनि महनीयः संयत-नाथो जगति जनीयः।**
जीवनराशेरिव मणिराशी रम्यतमोऽतोऽखिलतिमिराशी।।४।।

संयत नाथ पूज्य-जग जीवों के हितकारी सुंदरतम मणि।
राशि-सम सब तिमिर-विनाशक माधवसेन शिष्य प्रकटे मुनि।।४।।

शब्दशः अर्थ : माधवसेनः=माधवसेन नामक शिष्य; अजनि=प्रकट हुए; महनीयः=पूज्य; संयत-नाथः=मुनिओं के स्वामी आचार्य; जगति=लोक में; जनीयः=हित-कारक; जीवन-राशेः=प्राणी-समूह के; इव=समान; मणि-राशी=मणिओं का समूह; रम्यतमः=अति सुंदर; अतः=उससे; अखिल-तिमि-राशी=समस्त अंधकार-समूह।

अन्वय : अतः जगति महनीयः संयत-नाथः जीवन-राशेः जनीयः रम्यतमः मणि-राशी इव अखिल-तिमि-राशी माधवसेनः अजनि।

वचनिका : उनसे जगत में पूजनीय, मुनिओं के नाथ आचार्य, प्राणी-समूह के हित-कारक, अति सुंदर मणि-समूह के समान मिथ्या-भावरूप समस्त अंधकार का नाश करनेवाले माधवसेन प्रकट हुए।।४।।

द्रुतविलम्बित : **विजित-नाकि-निकायमवज्ञया जयति यो मदनं पुरु-विक्रमम्।**
त्यजति मां किमयं परनाशधीरिति कषाय-गणो विगतो यतः।।५।।

देवगण विजियी बलवानमय काम को अपमानित कर विजित।

यह मुझे कैसे छोड़े अतः नाश-धी-युत भगतीं कषाय सब।।५।।

शब्दश: अर्थ : विजित-नाकि-निकायं=देवों के समूह को जीतनेवाले को; अवज्ञया=तिरष्कार से; जयति=जीत लेता है; यः=जो; मदनं=काम को; पुरु-विक्रमं=महा-बल-शाली को; त्यजति=छोड़ता है; मां=मुझे; किं=क्या; अयं=यह; पर-नाश-धी:=अन्य को नष्ट करने की बुद्धिवाला; कषाय-गण:=कषायों का समूह; विगत:=चला गया; यत:=क्योंकि।

अन्वय : यत: विजित-नाकि-निकायं पुरु-विक्रमं मदनं अवज्ञया य: जयति अयं किं मां त्यजति इति पर-नाश-धी: कषाय-गण: विगत:।

वचनिका : क्योंकि देवों के समूह को जीतनेवाले महा-बल-शाली काम को अवज्ञा से इन्होंने जीत लिया है; तब ये मुझे कैसे छोड़ेगें? —ऐसा विचारकर उन माधवसेन आचार्य से अन्य का नाश करने की बुद्धिवाला कषाय-समूह भाग जाता है।

भावार्थ : जिनका काम-विकार नष्ट हो जाता है, उनके क्रोधादि कषायें भी नष्ट हो जाती हैं। पर-द्रव्यों की वांक्षा-सहित जीवों को कषायें कष्ट देती हैं—ऐसा जानना।।५।।

वसंत-तिलका : **तस्मादजायत नयादिव साधु-वाद:, शिष्टार्चितोऽमितगतिर्जगति प्रतीत:।**

विज्ञात-लौकिकहिताहित-कृत्यवृत्तेराचार्यवर्य-पदवीं दधत: पवित्राम्।।६।।

नय से सुसत्य वाणी-वत् उनसे उपजे, जग में प्रतीतियुत शिष्य प्रपूज्य लौकिक।

हित-अहित कार्य-वृत्ति विज्ञात से ही, आचार्यवर्य पद-धर से अमितगति यह।।६।।

शब्दश: अर्थ : तस्मात्=उससे; अजायत=उत्पन्न हुए; नयात्=नय/न्याय से; इव=समान; साधु-वाद:=सत्य वचन; शिष्ट+अर्चित:=शिष्यों से पूजित; अमितगति:=अमितगति नामक; जगति=लोक में; प्रतीत:=प्रतीतिरूप; विज्ञात-लौकिक-हित+अहित-कृत्य-वृत्ते:=लोक संबंधी हित-अहितमय कार्यों की वृत्ति को जानते होने से; आचार्य-वर्य-पदवीं=आचार्य-श्रेष्ठ की पदवी को; दधत:=धारण करनेवाले; पवित्रां=निर्मल को।

अन्वय : नयात् साधुवाद: इव विज्ञात-लौकिक-हित-अहित-कृत्य-वृत्ते: पवित्रां आचार्य-वर्य-पदवीं दधत: तस्मात् शिष्ट-अर्चित: जगति प्रतीत: अमितगति: अजायत।

वचनिका : जैसे न्याय से सत्य वाणी प्रकट होती है; उसीप्रकार लोक संबंधी हिताहित कार्य की प्रवृत्ति को जाननेवाले, पवित्र श्रेष्ठ आचार्य पदवी को धारण करनेवाले उन माधवसेन आचार्य से शिष्यों द्वारा पूज्य, लोक में प्रतीतिरूप अमितगति प्रकट हुए।।६।।

उपजाति : **अयं तडित्वानिव वर्षणं घनो रजोपहारी-धिषणा-परिष्कृत:।**

उपासकाचारमिमं महा-मना: परोपकाराय महोन्नतोऽकृत:।।७।।

विजली–सहित वर्षण–मेघ–वत् यह रज दूर–कारी बुद्धि से युक्त।
महा–मना पर–उपकार हेतु उपासकाचार किया अत्युच्च।।७।।

शब्दश: अर्थ : अयं=यह; तडित्–वान्=विजली–सहित; इव=समान; वर्षणं=वर्षा; घन:= मेघ; रज:+अपहारी=धूल को समाप्त करनेवाली; धिषणा–परिष्कृत:=परिष्कृत बुद्धिवाला/ सम्यग्ज्ञानी; उपासकाचारं=उपासकाचार नामक को; इमं=इसको; महा–मना:=विशाल मनवाला/उदार; पर+उपकाराय=दूसरों के उपकार हेतु; महा+उन्नत:=अत्यधिक उच्च; अकृत:=किया।

अन्वय : तडित्वान् महा उन्नत: रज:–अपहारी घन: पर–उपकाराय वर्षणं अकृत: इव धिषणा–परिष्कृत: महा–मना: महा–उन्नत: रज:–अपहारी अयं (अमितगति:) पर–उपकाराय इमं उपासकाचारं अकृत:।

वचनिका : जैसे—मेघ वर्षा करता है; उसीप्रकार इन अमितगति आचार्य ने इस उपासकाचार शास्त्र को किया है। मेघ, विजली–सहित है; आचार्य, परिष्कृत बुद्धि–संपन्न हैं। मेघ, धूल का हरण करता है; आचार्य, पापरूपी धूल का हरण करते हैं। मेघ, लोक का उपकार करने–हेतु बरसता है; आचार्य ने भी परोपकार हेतु शास्त्र रचा है। मेघ, ऊपर होने से बहुत ऊँचे हैं; आचार्य भी ज्ञानादि गुणों से अति उच्च हैं; इत्यादि विशेषताओं–संपन्न महा–मना आचार्य ने इस ग्रंथ को रचा है।।७।।

उपजाति : **यदत्र सिद्धान्तविरोधि–भाषितं विशोध्य सद्ग्राह्यमिमं मनीषिभि:।**
पलालमत्यस्य न सारकाङ्क्षिभि: किमत्र शालि: परिगृह्यते जनै:।।८।।

इसमें यदि कुछ आगम–विरोधी हो कथन तो शोध ग्रहें सुसत् विद।
पलाल तज तंदुल ग्रहण करते क्या नहिं यहाँ सारेच्छुक मनुष्य?।।८।।

शब्दश: अर्थ : यत्=जो; अत्र=यहाँ; सिद्धान्त–विरोधि–भाषितं=सिद्धांत से विरुद्ध कहा गया हो; विशोध्य=शोधकर; सत्–ग्राह्यं=सत्/शुद्ध ग्रहण करना योग्य है; इमं=यह; मनीषिभि: =बुद्धिमानों द्वारा; पलालं=पलाल को; अत्यस्य=छोड़कर; न=नहीं; सार–काङ्क्षिभि:=सार के इच्छुकों द्वारा; किं=क्या; अत्र=यहाँ; शालि:=चावल; परिगृह्यते=ग्रहण किया जाता है; जनै:=मनुष्यों द्वारा।

अन्वय : अत्र यत् सिद्धान्त–विरोधि–भाषितं मनीषिभि: विशोध्य इमं सद्–ग्राह्यं, किं अत्र सार–काङ्क्षिभि: जनै: पलालं अत्यस्य शालि: न परिगृह्यते?

वचनिका : इस शास्त्र में यदि कुछ सिद्धांत–विरुद्ध कहा गया हो तो बुद्धिमानों द्वारा शोधकर शुद्ध ग्रहण करना योग्य है। क्या यहाँ लोक में सार के इच्छुक मनुष्यों द्वारा पलाल को छोड़कर

चावल ग्रहण नहीं किया जाता है? किया ही जाता है।।८।।

शार्दूल-विक्रीड़ित : **यावत्तिष्ठति शासनं जिनपते: पापापहारोद्यतं,**
यावद्ध्वन्सयते हिमेतररुचिर्विश्वं तमः शार्वरम्।
यावद्धारयते महीध्र-खचितं वातत्रयी विष्टपं,
तावच्छास्त्रमिदं करोतु विदुषामभ्यस्यमानं मुदम्।।९।।

जब तक पाप-विनाश में प्रयत-रत शासन रहे जिनों का,
जब तक ध्वंस करे रवि निशा के संपूर्ण अंधकार का।
जब तक धारें वलय वायु तीनों गिरि से खचित लोक को,
नित अभ्यास किया करे तभी तक आनंद यह विज्ञ को।।९।।

शब्दशः अर्थ : यावत्=जब तक; तिष्ठति=रहता है; शासनं=शासन; जिनपते:=जिनेंद्र भगवान का; पाप+अपहार+उद्यतं=पाप को हरने में उद्यमी; यावत्=जब तक; ध्वन्सयते=नष्ट करता है; हिम+इतर-रुचि:=सूर्य; विश्वं=संपूर्ण को; तमः=अंधकार को; शार्वरं=रात्रि-संबंधी; यावत्=जब तक; धारयते=धारण करता है; महीध्र-खचितं=पर्वतों से जड़े हुए को; वात-त्रयी=तीनों वात-वलय; विष्टपं=लोक को; तावत्=तब तक; शास्त्रं=ग्रंथ; इदं=यह; करोतु=करे; विदुषां=विद्वानों के; अभ्यस्यमानं=अभ्यास किया गया; मुदं=आनंद को।

अन्वय : यावत् जिन-पते: पाप-अपहार-उद्यतं शासनं तिष्ठति, यावत् हिम-इतर-रुचि: शार्वरं विश्वं तम: ध्वन्सयते, यावत् वात-त्रयी महीध्र-खचितं विष्टपं धारयते, तावत् अभ्यस्यमानं इदं शास्त्रं विदुषां मुदं करोतु।

वचनिका : जब तक जिनराज का पाप को हरने में उद्यमी शासन/मत स्थित है; जब तक सूर्य रात्रि संबंधी सकल अंधकार का विनाश करता है; जब तक तीनों वात-वलय पर्वतों से जड़ित लोक को धारण किए हैं; तब तक अभ्यास किया गया, यह श्रावकाचार शास्त्र, विद्वानों को आनंदित करे—इसप्रकार आचार्य ने आशीर्वाद दिया है।।९।।

इसप्रकार मूल-ग्रंथ-कर्ता की प्रशस्ति समाप्त हुई।

वचनिकाकार की प्रशस्ति

(सवैया इकतीसा)

रागादिक हानि जहाँ वर्ते वर्धमानरूप, तातैं ग्यानजनित प्रमोद बड़वारी है।
सहित प्रमाद त्रस हिंसा आदि पाप मैल, धोय धोय अधिक विसुद्धता सँभारी है।।
ऐसै दर्सनादि थान एकादस स्रावक के, तामैं एक भी जो नर धारै दृगधारी है।।
साधु पद चाह जाकै नाँही उर भोग-दाह, 'भागचंद' ताकी बार-बार बलिहारी है।।१।।

अर्थ : रागादि की कमी जहाँ उत्तरोत्तर बड़ती होने से ज्ञान से प्रकट होनेवाला प्रमोद/आनंद वृद्धि-गत हो रहा है; प्रमाद से सहित त्रस-हिंसा आदि पापरूप मलिनता को धो-धोकर अधिक-अधिक विशुद्धता सुरक्षित की जाती है—ऐसे दर्शन प्रतिमा आदि ग्यारह स्थान, श्रावक के होते हैं। उनमें से जो सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक को भी धारण करता है, साधु पद के इच्छुक उसके मन में भोगों की दाह नहीं होती है; उससे प्रभावित होकर भागचंद कवि उस पर निछावर हो उसकी बारंबार प्रशंसा करते हैं।।१।।

(छप्पय)

गोपाचल के निकट सिंधिया नृपति कटकवर,
जैनी जन बहु बसैं जहाँ जिन भक्ति भारभर।
तिनमें तेरापंथ गोट्ठि राजत विसिट्ठ अति,
पार्स्वनाथ जिन धाम रच्यौ जिन सुभ उतंग अति।
तहँ देस वचनिकामय भली 'भागचंद' रचना करिय।
जयवंत होउ सतसंग यह जा प्रसाद बुधि विस्तरिय।।२।।

अर्थ : गोपाचल पर्वत के समीप सिंधिया राजा की छावनी है। उसमें जिनेंद्र भगवान के भक्ति-भाव से भरपूर अनेकों जैनी जन रहते हैं। उनमें तेरापंथ गोष्ठी विशेषरूप से अति सुशोभित है। उन्होंने अति उच्च, पवित्र पार्श्वनाथ जिन-मंदिर बनवाया है। वहाँ 'भागचंद' ने यह हित-कारक देशभाषा/ब्रजभाषा में वचनिका की है। जिसके प्रसाद/सांनिध्य से मेरी बुद्धि विस्तृत/विशेष विकसित हुई है, वह सत्संग जयवंत वर्तो।।२।।

(दोहा)

सब्द अर्थ जो न्यून तहँ सोधहु सुधी सुजान।
मोहि अल्प-स्रुत जानिकैं हँसहु न स्वगुण पिछान।।३।।

अर्थ : इसमें यदि कहीं शब्द, अर्थ की कमी रह गई हो तो बुद्धिमान-जन भली-भाँति जानकर उसे शुद्ध कर लें। अपने गुणों की पहिचान करते हुए मुझे अल्प-श्रुत/कम बुद्धिवाला जानकर हास्य/हँसी नहीं करें।।३।।

साधर्मिन की प्रेरणा वा जिन-स्रुत अनुराग।
उभय हेतु वस मैं लिख्यौ किमपि अर्थ हिय त्याग।।४।।

अर्थ : हृदय का अन्य कुछ भी प्रयोजन त्यागकर साधर्मी-जनों की प्रेरणा और जिन-वाणी के प्रति अनुराग—इन दो कारणों के वश हो इसे मैंने लिखा है।।४।।

(छप्पय)

भजूँ देव सर्वग्य अग्यजन भ्रम तम नासक,
ध्याऊँ सिद्ध समूह ध्यान जिस स्व-पर-प्रकासक।
आचारज मुनिराज तने पद-वारिज वंदूँ,
उपाध्याय गुण गाय पाप-तरु-मूल-निकंदूँ।
पुनि सर्व साधु यह लोक में तहँ नित प्रति चितवन करूँ।
यह मंगल उत्तम सरण लखि बार-बार जिन चित धरूँ।।५।।

अर्थ : अज्ञानी प्राणिओं के भ्रमरूपी अंधकार को नष्ट करनेवाले सर्वज्ञ अरहंत-देव का मैं भजन करता हूँ; स्व-पर के प्रकाशक ध्यानमय सिद्ध-समूह का मैं ध्यान करता हूँ; आचार्य मुनिराज के चरण-कमलों की मैं वंदना करता हूँ; उपाध्याय के गुणों को गाकर पापरूपी वृक्ष के मूल को मैं उखाड़कर फेंक दूँ; लोक में विराजमान सभी साधुओं का मैं चिंतन करता हूँ।

इन्हें मंगल, उत्तम और शरणभूत समझकर इन पंच परमेष्ठियों को बारंबार मैं अपने मन में धारण करता हूँ।।५।।

(दोहा)

संवत्सर उगणीस सौ द्वादस ऊपरि धार।
अष्टाह्निका आसाढ की पूर्ण वचनिका सार।।६।।

अर्थ : विक्रम संवत् उन्नीस सौ बारह की आषाढ मास की अष्टाह्निका की पूर्णिमा को यह सारभूत वचनिका पूर्ण हुई।

इसप्रकार आचार्यश्री अमितगति कृत श्रावकाचार की वचनिका समाप्त हुई।